मुहावरा-मीमांसा

डॉक्टर ओम्प्रकाश गुप्त

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना
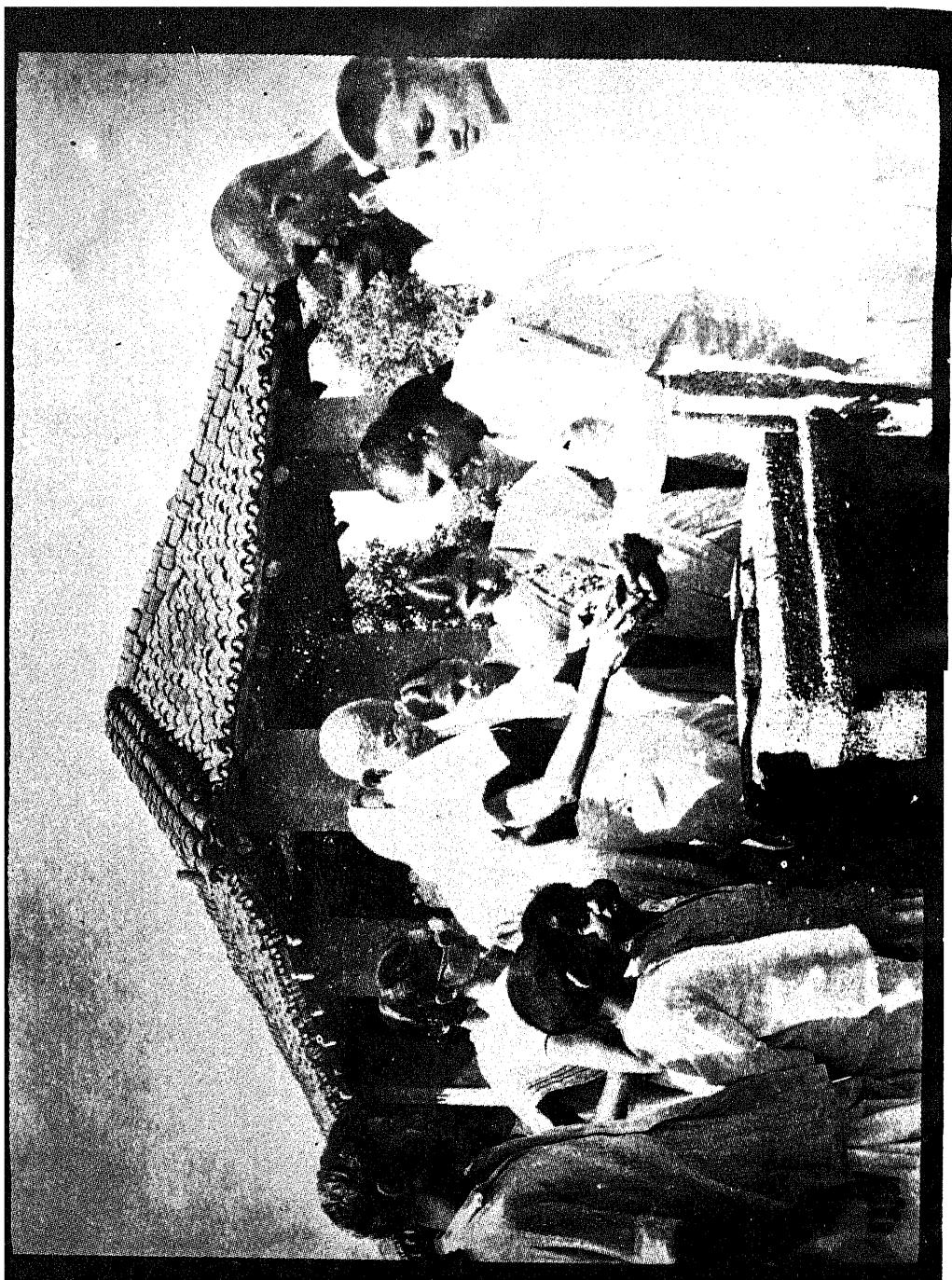
अर्पण

बापू ! आप नहीं हैं, ऐसा मुझे विश्वास नहीं होता। मैं तो प्रायः नित्य ही आपके दर्शन करता हूँ। आपकी हँसी, आपका विनोद, आपका प्रेम, आपका प्रोत्साहन सभी कुछ तो है, फिर कैसे मान लें कि आप नहीं हैं। हम जानते हैं आप अमर हैं, आपने कभी का मृत्यु को जीत लिया है, आपकी इस आँख-मिचौनी को हम सत्य माननेवाले नहीं हैं।

नोआखाली में आपने कहा था—"बनारस में रहकर भी तो तुम मेरा ही काम कर रहे हो......मैं तुमसे एक बड़ा काम लेनेवाला हूँ।" आपके पुण्य आशीर्वाद से आज आपका यह कार्य समाप्त हो गया है। आप ही की प्रेरणा और प्रोत्साहन से प्राप्त आपकी इस चीज को आप ही को समर्पित करते हुए इसलिए आज मुझे अपार हर्ष और अत्यन्त गौरव का अनुभव हो रहा है।

बापू ! इस समर्पण का मुख्य उद्देश्य अपने समय का यथावत् हिसाब देना और आगे के लिए काम माँगना ही है। मुझे विश्वास है, आप जहाँ कहीं भी होंगे, वहीं से 'करो या मरो' के इस बीज-मंत्र को सिद्ध करने के लिए बराबर हमें प्रेरित और प्रोत्साहित करते रहेंगे।

बापू के चरणों में प्रणाम।

आपका आज्ञाकारी

ओम्

वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रंथ 'मुहावरा-मीमांसा' को हिन्दी-जगत् के सम्मुख उपस्थित करते हुए मुझे हर्ष हो रहा है। हिन्दी के मुहावरों पर, इस ग्रंथ के पहले, कुछ पुस्तकें अवश्य प्रकाशित हो चुकी हैं; किंतु इस ग्रंथ के लेखक ने प्राचीनकालीन संस्कृत, पालि एवं प्राकृत भाषाओं तथा फारसी-उर्दू के मुहावरों का समावेश करते हुए हिन्दी के मुहावरों पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विवेचन करने का जैसा प्रयास किया है, पहले किसी लेखक ने वैसा नहीं किया था। इसलिए यह ग्रंथ एक विशेष महत्त्व रखता है।

यह ग्रंथ लेखक ने महानिबंध (थीसिस) के रूप में हिन्दू-विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया था, जिसके परीक्षक थे स्वर्गीय आचार्य केशवप्रसाद मिश्र तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी। उन दोनों विद्वानों ने उस महानिबंध पर जो अभिमत व्यक्त किये थे, उन्हें मैं हिन्दी-अनुवाद-सहित इस पुस्तक में अन्यत्र दे रहा हूँ। वे अभिमत ही ग्रंथ का बहुत-कुछ परिचय दे सकेंगे!

ग्रंथ के मननशील लेखक डॉ० ओम्प्रकाश गुप्त गांधी-विचारधारा के पोषक हैं। सौभाग्य से उन्हें पूज्य बापू का सान्निध्य और स्नेह भी प्राप्त हो चुका है। उसके निर्देशन-स्वरूप यह ग्रंथ उन्हीं की पावनस्मृति में समर्पित किया गया है। श्रद्धास्पद विनोबाजी ने अपनी प्रस्तावना में और श्रीकाका कालेलकर ने अपनी छोटी-सी भूमिका में ग्रंथ और ग्रंथकार के विषय में जो कुछ लिखा है, वह पुस्तक की महत्ता प्रकट करने के लिए पर्याप्त है।

कई कारणों से इस पुस्तक के प्रकाशित होने में विलंब हुआ, जिसके लिए मुझे खेद है। लेखक ने इस पुस्तक के प्रणयन में जो श्रम किया है, आशा है, सुधी-समाज उसका मूल्य आँकेगा और यह ग्रंथ हिन्दी-साहित्य के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्त्ति करने में समर्थ हो सकेगा।

वैद्यनाथ पाण्डेय
संचालक

वसंतोत्सव, १८८१ शकाब्द

प्राक्कथन

कैकेयी ने दशरथ से किसी मौके पर एक वरदान का वचन हासिल कर लिया था। दशरथ को वह वरदान भिन्न परिस्थिति में पूरा करना पड़ा। श्रीओमप्रकाश और मेरे बीच वही किस्सा दुहराया जा रहा है। 'मुहावरा-मीमांसा' नामक एक प्रबंध उन्होंने डाक्टरेट के लिए लिख रखा था। उसके लिए प्रस्तावना लिखने का वादा उन्होंने मुझसे कराया था। यह बात १६४८ की है, जब भूदान-यात्रा भविष्य के गर्भ में थी। अब वह वादा मुझे पूरा करना पड़ रहा है। इन दिनों जिस प्रकार का कार्य-क्रम दिन भर का मेरा रहता है, उसमें ऐसी पुस्तक को समुचित न्याय देने के लिए समय दे सकूँगा, ऐसी हालत नहीं। और प्रस्तावना लिखने के लिए भी मुहलत भी थोड़ी ही मिली है, तो वचन-मुक्ति के लिए लिख रहा हूँ। ओमप्रकाशजी का मेरा स्नेह-सम्बन्ध इतना निकट का है कि बदली हुई परिस्थिति में वादा पूरा करने का मैं इनकार करता, तो भी वे मान जाते। लेकिन रामायण की मेरी भक्ति मुझे वैसा करने नहीं देती।

'मुहावरा-मीमांसा' नाम ही एक मुहावरेदार नाम है, जो गांधी-युग की याद दिलाता है। अरबी-संस्कृत का इतना सुन्दर मिश्रण अपने ग्रंथ के नाम में ही करने का जिसने साहस किया, वह शख्स गांधीजी का साथी रहा होगा, यह अनुमान सहज ही कोई कर लेगा।

'मीमांसा' जैसा भारी शब्द साधारण चर्चा के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता। मीमांसा में विषय की गंभीर चर्चा अपेक्षित होती है। और, यह ग्रंथ देख कर मुझे जाहिर करने में खुशी होती है कि यह प्रबंध उस शब्द को चरितार्थ करता है। ओमप्रकाशजी ने इसमें बहुत मिहनत की है। अपना पूरा दिल उन्होंने इस काम में लगाया है। इसमें मुझे आश्चर्य नहीं; क्योंकि ओमप्रकाशजी का वह स्वभाव ही है। वे कोई काम करते हैं तो पूरे दिल से करते हैं, नहीं तो काम करते ही नहीं।

मुझे हिन्दी भाषा के साहित्य का इतना परिचय नहीं कि मैं कोई निश्चित अभिप्राय दे सकूँ। लेकिन जहाँ तक जानता हूँ, शायद इतनी विस्तृत और गहरी चर्चा हिन्दी में न हुई हो। मुहावरों की तलाश में ग्रंथकार ऋग्वेद तक पहुँच गया है, जिसके कारण इस ग्रंथ को पूर्णता का आभास प्राप्त हुआ है। 'आभास' इसलिए कहा कि ऐसे चलते विषय की कभी पूर्णता हो नहीं सकती,

न पूर्णता का दावा ग्रंथकार ने किया है। पर मेहनत करने में ग्रंथकार ने कसर न रखी, यह बात मुक्तकंठ से कोई भी कबूल करेगा। इसी अर्थ में मैंने 'आभास' शब्द का प्रयोग किया।

इतने परिश्रमपूर्वक लिखे गये इस प्रबंध का रसग्रहण हिन्दी विद्वान् अवश्य करेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। हिन्दी अब सिर्फ एक प्रांत-भाषा नहीं रही है। यह भारत में सब को बोली बनने जा रही है। ऐसे मौके पर यह पुस्तक राष्ट्रभाषा का गौरव बढ़ानेवाली साबित होगी। मैं इसके लिए ओमप्रकाशजी को धन्यवाद देता हूँ।

10 . 3 . '60

भूमिका

ओमप्रकाश जी मेरे पुराने साथी हैं। हमलोग वर्धा में थे तब अिन्होंने मेरे साथ काम किया है। तभी से हिन्दी के मुहावरों के बारे में वे सोचते थे और चर्चा करते थे। मुझे भी अिस विषय में दिलचस्पी होने के कारण हम घंटों तक विचार-विनिमय करते थे। लेकिन तब भी मुझे यह ख्याल नहीं था कि ओमप्रकाश जी मुहावरे की मीमांसा में अितनी गहराअी तक अुतर जायेंगे और अितने विशाल क्षेत्र तक अपनी गवेषणा को पहुँचा देंगे। मुहावरा-मीमांसा में जहाँ-जहाँ खोल के देखा, न केवल संतोष हुआ, किन्तु नयी-नयी चीज पाने का आनंद भी मिला। काश कि मेरे पास समय होता। पूरी किताब ध्यान से पढ़ लेता और अुससे लाभ अुठाता। ओमप्रकाश जी हिंदी-जगत् की कृतज्ञता के अधिकारी हैं।

नयी दिल्ली
१२-३-६०

काका कालेलकर

सम्मतियाँ

I have read the thesis 'Muhavra Mimansa' with care and interest submitted by Shri Omprakash Gupta, M. A., for the degree of Doctor of Letters of the Banaras Hindu University.

The thesis is a thought sementic study of Hindi Idioms. What is an Idiom ? What are its distinctive features ? How does it take shape ? Why and how human psychology is involved in its formations and appropriate use ? Why does it not suffer any change in form or order ? What are its significations ? Why it is so charming and an essential requisite for beautifying a direct and effective style ?

These are some of the many questions elaborately tackled and dealt with here in his thesis. Inspite of the existence of some sketchy works and introductions on the subject in Hindi the work of Shri Omprakash Gupta has taken the lead in the field of scientific study of Hindi idioms. The author has left no stone unturned in the quest of idioms and he has freely drawn upon Persian, Urdu and English books.

The candidate has become so enamoured of idioms that the style of the thesis is itself idiomatic and fortunately oftner appropriate, but to some extent it has been responsible for its prolixity. On the whole the work is a serious and extensive attempt in the unexplored field and is worth of degree. I therefore recommend award of D. Litt. to the candidate.

Late PANDIT KESHAVA PRASAD MISHRA

बनारस-हिन्दू-विश्वविद्यालय के 'डाक्टर आफ लेटर्स' के लिए प्रस्तुत श्री ओमूप्रकाश गुप्त, एम्० ए० के 'मुहावरा-मीमांसा' नामक महाप्रबन्ध को मैंने सावधानी एवं मनोयोग के साथ पढ़ा है।

यह महाप्रबन्ध हिन्दी-मुहावरों का एक विचार-संयोजक अध्ययन है। मुहावरा क्या है ? इसकी अपनी विशेषताएँ क्या हैं ? यह किस प्रकार स्वरूप धारण करता है ? इसके निर्माण एवं ठीक-ठीक प्रयोग में किस प्रकार मानव-मनोविज्ञान संयुक्त है ? स्वरूप एवं क्रम में कोई भी परिवर्त्तन इसे क्यों असह्य है ? इसके

रहस्य क्या हैं? यह क्यों मनमोहक एवं स्पष्ट और प्रभावशाली शैली के सौन्दर्य-वर्द्धन का आवश्यक तत्त्व है?

अनेक प्रश्नों में, ये ही कुछ प्रश्न हैं, जिनपर इस महाप्रबन्ध में विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है।

उक्त विषय पर यद्यपि कुछ प्रारम्भिक कार्य एवं भूमिकाएँ हिन्दी में वर्त्तमान हैं, तथापि हिन्दी-मुहावरों के वैज्ञानिक अध्ययन में श्री ओमप्रकाश गुप्त अग्रगण्य हैं। लेखक ने मुहावरों की खोज में कुछ भी उठा नहीं रखा है और इस कार्य के लिए इन्होंने फारसी, उर्दू और अँगरेजी पुस्तकों का सहारा लिया है।

लेखक को मुहावरे इतने प्रिय हैं कि महाप्रबन्ध की शैली ही मुहावरेदार हो गई है और सौभाग्यवश कई स्थानों पर उनका उचित प्रयोग हुआ है, किन्तु कुछ अंशों तक यही इसके विस्तार का कारण बन गया है। कुल मिलाकर यह एक गहन कार्य और एक उपेक्षित क्षेत्र में विस्तृत प्रयास है तथा उपाधि के योग्य है। इसी कारण मैं डी० लिट्० की उपाधि के लिए इनका नाम अभिस्तावित करता हूँ।

स्व० पं० केशवप्रसाद मिश्र

One cannot however, but be impressed by the labour which the candidate has brought to bear upon his subject. His work is far elaborate than the works of his predecessors in Hindi and is certainly an improvement upon them. He has tried to discuss many new topics, hitherto unnoticed by previous works in Hindi.

The candidate's labour in the collection of Vedic and Classical Sanskrit idioms is impressive. He is right in emphasizing that the Hindi forms of the same idioms are not translations but only results of the natural linguistic change and growth of the same.

His discussion on the History of idioms is very interesting and stimulating. His endeavour in this wise is certainly commendable. His expositions of the translation of idioms

from one language to another and of the change in their structure in the same language is highly informative. He has assuredly broken some ground. The thesis evinces the candidate's capacity for critical examinations and balanced judgment.

Dr. HAZARI PRASAD DWIVEDI

लेखक ने अपने विषय पर कितना श्रम किया है, यह देखकर उससे प्रभावित हुए विना नहीं रहा जाता। हिन्दी में उसके पूर्ववर्त्ती लेखकों के कार्यों से यह अत्यधिक विस्तृत और निश्चय ही उनका विकसित रूप है। उसने अनेक ऐसे नये विषयों के विवेचन का प्रयास किया है, जो इसके पूर्व की हिन्दी रचनाओं में छोड़ दिये गये हैं।

वैदिक एवं प्राचीन संस्कृत मुहावरों की खोज में लेखक का श्रम प्रभावित करनेवाला है। इस विषय पर उसने ठीक ही बल दिया है कि उन मुहावरों के हिन्दी-रूप उनके अनुवाद न होकर भाषागत स्वाभाविक परिवर्त्तन एवं उनके विकास के परिणाम हैं।

मुहावरों के इतिहास पर उसका विवेचन मनोरंजक एवं विचारोत्तेजक है। इस क्षेत्र में उसका प्रयास निश्चय ही प्रशंसनीय है। एक भाषा से दूसरी भाषा में अनूदित मुहावरों और उस भाषा में उसके स्वरूप-परिवर्त्तन का उसके द्वारा प्रस्तुत विवरण अत्यन्त ही ज्ञानवर्द्धक है। उसने निश्चय ही कुछ मान्यताएँ बदली हैं। यह महाप्रबन्ध लेखक के आलोचनात्मक परीक्षण एवं उसकी संतुलित निष्कर्ष की क्षमता सिद्ध करता है।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

आमुख

"मुहावरे हमारी बोल-चाल में जीवन और स्फूर्ति की चमकती हुई छोटी-छोटी चिनगारियाँ हैं। वे, हमारे भोजन को पौष्टिक और स्वास्थ्यकर बनानेवाले उन तत्त्वों के समान हैं, जिन्हें हम जीवन-तत्त्व कहते हैं।"[1]

मुहावरों में सचमुच ऐसी ही विलक्षण प्रतिभा होती है। "उनसे वंचित भाषा", जैसा स्मिथ स्वयं लिखता है, "जबतक कि गिबन अथवा जॉन्सन की तरह दूसरे साधनों से इनकी कमी को पूरा न किया जाय, शीघ्र ही निस्तेज, नीरस और निष्प्राण हो जाती है।" सम्भवतः इसीलिए वह किसी भाषा में मुहावरों के बिलकुल न होने से विदेशी मुहावरों के मिश्रण को ही अच्छा समझता है। मुहावरों की इतनी महिमा सुनकर भला किसके मुँह में पानी न आयेगा, कौन उनकी ओर आकर्षित न होगा। फिर हम पर तो व्यंग्य, वक्रोक्ति और मुहावरों का यह अनूठापन एक प्रकार से बहुत पहिले ही अपना रंग जमा चुका था। हमारे मित्र प्रायः हमें व्यंग्य और मुहावरों में बोलने का उलाहना दिया करते थे।

सन् १६३६ ई० में एम्० ए० पास करने के पश्चात् जब श्रद्धेय पंडित केशवप्रसादजी मिश्र से मैंने उनकी देख-रेख में रिसर्च करने की अपनी इच्छा प्रकट की, तो भाषा-विज्ञान की ओर मेरा विशेष झुकाव देखकर उन्होंने हिन्दी-मुहावरों की उत्पत्ति और विकास की दृष्टि से उनकी प्रवृत्तियों का विशद विश्लेषण करने का मुझे आदेश दिया। इस ओर मेरी प्रवृत्ति तो थी ही, अब प्रेम और चाह भी हो गई, और सन् १६४० के आते-आते काफी व्यवस्थित रूप से मेरा काम चल पड़ा।

उद्देश्य : बहुत ही कम ऐसे व्यक्ति होंगे, जो तुरन्त इस बात से सहमत न हो जायँ कि बुद्धि और ज्ञान के क्षेत्र में संगृहीत संसार का अपूर्व कोष महान् ग्रन्थों में ही विशेष रूप से संचित और सुरक्षित रहता है, और खास तौर से इन्हीं ग्रन्थों की महती सहायता से उसका एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक आदान-प्रदान हुआ करता है। मैं अपने इस प्रबन्ध में इससे सर्वथा भिन्न दृष्टि-कोण पाठकों के सामने रखकर अपने इस कथन की सत्यता को समझने के लिए उन्हें प्रेरित करूँगा कि जैसा प्रायः अधिकांश लोग सोचते और समझते हैं, केवल पुस्तकों अथवा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले मौखिक वक्तव्यों में ही नहीं, वरन् स्वतन्त्र रूप से व्यक्त शब्द और वाक्यांशों (मुहावरों) में भी बहुधा राजनीतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक सत्यों के असीम सागर गागर में भरे पड़े रहते हैं। आदमी के व्यावहारिक आविष्कारों और खोजों के लेखे-जोखे से तो कहीं अधिक लाभदायक और कल्याणकारी उसके विचारों, आदर्शों और अनुभूति-क्षेत्रों का ब्योरा ही है। कोई भी इतिहास इतना महत्त्वपूर्ण और मनोहारी नहीं होता, जितना मानव-स्वभाव और उसकी मनोवृत्तियों का होता है। मुहावरों के अध्ययन से हमें, भले ही वह सहायक प्रणाली-मात्र क्यों न हो, एक ऐसा पथ मिल जाता है, जो इस इतिहास की स्पष्ट व्याख्या करने और उसे कुछ और अधिक साफ तौर से खोलकर रखने के हमारे उद्देश्य की पूर्ति में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। संक्षेप में, मुहावरों को वे किसी भी भाषा के क्यों न हों,

---

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० २०६।

सूत्र-रूप में प्रचारित, अथवा प्रचलित मनोविज्ञान-शास्त्र का अमूल्य और अक्षय रत्नाकर ही समझना चाहिए।

स्वर्गीय सी० एफ० एण्ड्रूज ने एक जगह कहा है—"किसी भाषा को सीखने से पहिले उसके मुहावरों का अध्ययन करना आवश्यक है।" उनका यह कथन उनकी अपनी अनुभूतियों का ब्योरा-मात्र है, वास्तव में मुहावरे ही भाषा के स्तम्भ होते हैं। वे, उनका प्रयोग करनेवाले अपढ़ देहातियों से ही नहीं, वरन् उच्च कोटि के शिष्ट पंडितों से भी अधिक गम्भीर होते हैं। उनमें जहाँ एक ओर बिजली की तरह किसी तथ्य को सर्वत्र फैलाने की सामर्थ्य होती है, वहाँ दूसरी ओर प्राचीन ज्ञान और विज्ञान के स्मारक-चिह्नों को सुरक्षित और सजीव रखने की भी अपूर्व क्षमता होती है। उनमें कभी-कभी युग-युगान्तरों के ऐसे सत्य छिपे हुए मिलते हैं, जो उस समय के लोगों के लिए तो दीवार पर लिखी हुई बात-जैसे स्पष्ट थे, किन्तु आज समय की तीव्र गति के साथ हमारी आँखों से ओझल होकर विस्मृति के गर्त्त में ऐसे विलीन हो गये हैं कि हम उनकी कल्पना भी नहीं कर सकते। सारनाथ, हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो के भूमिसात् खंडहरों को देखकर कौन कह सकता था कि उनके विशाल गर्भ में पुरातन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के ऐसे स्वयंसिद्ध सत्य छिपे हुए हैं, जो एक दिन मैक्समूलर-जैसे प्रकांड पंडित के, वेदों को अधिक-से-अधिक १२००, १००० ई० पू० अर्थात् लगभग ३००० वर्ष प्राचीन सिद्ध करने-वाले अति खोजपूर्ण कथन की कमर तोड़ देंगे। इसी प्रकार भाषा के क्षेत्र में फैले हुए असंख्य सारनाथ, हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो की जिस दिन खुदाई होगी, कौन कह सकता है कि उस दिन ऐसे ही कितने और सिद्ध साधकों को विवश होकर अपने ही हाथों अपनी सिद्धियों की गर्दन न तोड़नी पड़ेगी। उस दिन के आने में अब देर नहीं है, देर है तो केवल 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ' के इस स्वर्ण-सिद्धान्त को अपने जीवन से सिद्ध करने की। यदि उनके (मुहावरों के) अस्तित्व की ओर ध्यान देकर कोई सचमुच कार्य-कारणानुसंधायक बुद्धि से उनका अध्ययन करे, तो इसमें सन्देह नहीं कि कितनी ही अति महत्त्वपूर्ण रहस्य की बातें संसार के लिए 'हस्तामलकवत्' स्पष्ट हो जायँ।

किसी भी शब्द पर, उसकी ध्वनि अथवा उसके अर्थ और समय-समय पर उसमें होते रहनेवाले परिवर्त्तन, मोटे रूप में इन दो दृष्टियों से ही हम विचार करते हैं। ध्वनि और ध्वनि-विकार की दृष्टि से अवश्य इस दिशा में कुछ काम हुआ है; किन्तु अर्थ और उसमें होनेवाले परिवर्त्तनों के आधार पर तो अभी इस क्षेत्र में किसीने कलम ही नहीं उठाई है, उठा भी नहीं सकते थे; क्योंकि अव्वल तो इसमें आवश्यक उपादानों (Data) का अभी तक कोई समुचित संग्रह ही उपलब्ध नहीं है; दूसरे, जो कुछ इधर-उधर बिखरी हुई चीजें मिलती भी हैं, वे इतनी संदिग्ध और अप्रमाणित हैं कि उनके सहारे छोड़ी हुई नैया कहाँ डूब जायगी, नहीं कह सकते। मैं इसलिए प्रस्तुत विषय को अपनी ओर से काफी दिलचस्प और सर्वसाधारण के लिए अति सुगम और बोधगम्य बनाकर आपलोगों से सानुरोध अपील करूँगा कि आप अपने नित्यप्रति के जीवन में जिन शब्दों और मुहावरों का या तो स्वयं प्रयोग करते हैं, अथवा दूसरों को प्रयोग करते हुए सुनते हैं, उन सबका अच्छी तरह से अध्ययन करें, भले ही वे उच्च कोटि के आध्यात्मिक तत्त्वों से सम्बन्धित हों, या बाजार, हाट, दूकान, खेल-तमाशों, खेती-बारी इत्यादि के अति साधारण व्यापारों में काम आते हों। जो लोग अपनी जाति, समाज और राष्ट्र को समुन्नत देखना चाहते हैं अथवा जिनमें अपने देशवासियों को शिक्षित, स्वतंत्र और स्वदेशाभिमानी बनाने की थोड़ी-बहुत भी अन्तःप्रेरणा बाकी है, उसका यह प्रथम कर्त्तव्य है कि उनकी अपनी भाषा में जो ज्ञान और विज्ञान के अक्षय भाण्डार छिपे हुए पड़े हैं, उन्हें प्रकाश में लायें; साथ ही समय की गति के अनुसार दूसरी चीजों की तरह ही भाषा में भी जो भ्रष्टता और गन्दगी भर गई है, उसे निकालकर भाषा को फिर से

शुद्ध और सर्वोपयोगी बनायें। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें जो कुछ भ्रामक दुर्बोध अथवा अस्पष्ट है, उसे सरल, बोधगम्य और स्पष्ट बनाने का प्रयत्न करें। शब्द और मुहावरों के इस प्रकार के अध्ययन से, मुझे विश्वास है, आपको आशातीत लाभ होगा।

अब अन्त में, पाठकों की जानकारी के लिए संक्षेप में यह बता देना कि खोज का यह कार्य कहाँ-कहाँ और किन किन-किन महानुभावों की देख-रेख, सहायता, सुझाव और प्रोत्साहन से हुआ, मैं आवश्यक समझता हूँ। मुहावरों का वास्तविक वृहत् कोष, उनके अर्थ, उनमें होते रहनेवाले परिवर्त्तनों और विशिष्ट प्रयोगों की सच्ची प्रयोगशाला तो बातचीत है, इसलिए मुझे यह कहने का अधिकार है कि जहाँ और जितना ही मैं घूमता-फिरता था, उतना ही अधिक मेरा काम होता था, मेरी डायरी भरती थी। हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी-नागरी-प्रचारणी सभा तथा बनारस और फैजाबाद की जेलों एवं सेवाग्राम के अनेक छोटे-बड़े पुस्तकालयों से मुहावरों के संग्रह आदि में मुझे मदद तो मिली; किन्तु यह मदद मैसूर और ट्रांसवाल की हीरे की खानों से प्राप्त सन्दूकों में बन्द छोटे-बड़े जातीय-विजातीय और बेडौल हीरों की खिचड़ी से अधिक नहीं थी। थीसिस में हीरे होते हैं और होने ही चाहिए, लेकिन उसे गोदाम बनाकर नहीं, वरन् एक जगत्-प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रदर्शनी के शो-केस में रखे हुए सुव्यवस्थित सुन्दर सजातीय और सुगढ़ प्रदर्शनीय पदार्थ के रूप में, कोष से लिये हुए मुहावरों को शो-केस का हीरा बनाने के लिए जनता किस प्रकार उनका प्रयोग और उपयोग करती है, इस खराद[1] पर उतारना अनिवार्य है। अतएव इसका क्षेत्र दो बूढ़ियों की घरेलू लड़ाई से लेकर दो उच्च कोटि के दार्शनिकों के गवेषणापूर्ण तत्त्व-चिन्तन तक हो सकता है।

खान से जौहरी के शो-केस तक आने में जिस प्रकार हीरों को कितने ही विज्ञान-विशारद विशिष्ट पारखियों और सिद्धहस्त कलाकारों के हाथों में होकर गुजरना पड़ता है, उसी प्रकार थीसिस लिखने के लिए भी कितने ही साहित्य-मर्मज्ञों, व्यवहार-कुशल समीक्षकों और प्रियजनों की सहायता, सम्मति और प्रोत्साहन की आवश्यकता पड़ती है। श्रद्धेय पंडित केशवप्रसाद मिश्र, स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा हिन्दी-विभाग के अन्य सभी अध्यापकों ने तो मेरी सहायता की ही है, श्रद्धेय डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी मेरी पूरी थीसिस को अच्छी तरह से देखकर अपने अति सुन्दर सुझावों के द्वारा मेरा मार्ग-दर्शन किया है। सन् १९४२ से ४४ तक दो बार जेल में रखकर थीसिस की दृष्टि से तो हमारी तत्कालीन आततायी सरकार ने भी मेरे साथ उपकार ही किया है। सेवाग्राम, पूना और दिल्ली में तो था ही, ज्वालामुखी के महाभयंकर मुँह में बैठे श्रीरामपुर (नोआखाली), बिहार और दिल्ली में भी (जब-जब मैं गया) प्रातःस्मरणीय श्रद्धेय बापूजी ने समय-समय पर जो सुझाव मेरी थीसिस के लिए दिये हैं, उसके लिए मैं धन्यवाद नहीं दे सकता; क्योंकि वह तो इस रूप में पिता का पुत्र को विषम-से-विषम परिस्थिति में भी, मानसिक सन्तुलन कायम रखने का एक आदेश था। पूज्य काका कालेलकरजी ने भी काफी प्रोत्साहन दिया है। सेवाग्राम से बनारस बुलाकर थीसिस पूरी कराने का बहुत अधिक श्रेय तो सर सर्वपल्ली राधाकृष्णनन् को ही है, किन्तु और कितनी ही प्रकार से सहायता करनेवाले दूसरे मित्र एवं प्रियजनों का भी मैं कुछ कम आभारी नहीं हूँ। श्रद्धेय पंडित केशवप्रसादजी मिश्र तथा आचार्य पद्मनारायणजी आचार्य एवं अन्य गुरुजनों को धन्यवाद देना मुझे धृष्टता-सा लगता है, आखिर उन्हीं का तो काम मैं कर रहा हूँ, अथवा वे ही तो यह काम कर रहे हैं, मैं तो केवल एक निमित्त हूँ। धन्यवाद तो उस परम पिता परमेश्वर को है, जिसने इतने कुशल हाथों में मुझे सौंपा है।

१. 'खरात' अरबी शब्द है। फारसीवालों ने इसे 'खराद' कर दिया है।—ले०

अब अन्त में मुहावरा-मीमांसा-रूप इस मंगल मूर्त्ति में अपनी अनमोल विचार-चिन्तामणि के द्वारा शरदिन्दुसुन्दररुचि वाग्देवी की प्राण-प्रतिष्ठा करके इसे सर्वथा मंगलमय बनानेवाले सन्त-शिरोमणि आचार्य विनोबा का स्मरण-मोह भी हमसे छूटता नहीं है। धन्यवाद देने का न तो मुझमें साहस ही है और न उस शब्द में ही इतनी योग्यता है, जो मेरे प्रति उनके असीम प्रेम को व्यक्त कर सके। अतएव उनका शुभ स्मरण ही इस शुभ कार्य का सुन्दर मंगलाचरण है।

—*लेखक*

प्रस्तावना

मुहावरों के विवेचन और विश्लेषण में उतरने के पहिले उनके संक्षिप्त इतिहास पर एक उड़ती हुई निगाह डाल लेना आवश्यक है। हमारे यहाँ के विद्वानों ने इस विषय में अबतक जो कुछ लिखा है, वह बहुत थोड़ा तो है ही, एकांगी भी है। उन्होंने, 'कहउँ नाम बड़ राम ते, निज विचार अनुसार' भक्त कवि गोस्वामी तुलसीदासजी की इस उक्ति से प्रभावित होकर कदाचित् नामी की ओर विशेष ध्यान न देकर 'मुहावरा' नाम का थोड़ा-बहुत इतिहास एकत्र करके ही सन्तोष मान लिया है। बेर, बादाम, अंगूर की तरह 'मुहावरा' भी एक जातिवाचक संज्ञा है। प्रत्येक भाषा में एक प्रकार के कुछ विशिष्ट प्रयोगों की जाति को मुहावरा कहते हैं। बेर, बादाम, अंगूर अथवा अन्य जातिवाचक संज्ञाओं की तरह 'मुहावरा' नाम भी उससे अभिप्रेत मनोभावों को एक विशेष प्रकार से व्यक्त अथवा इंगित करने को विशिष्ट शैली के विकास को बहुत बाद में दिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस नाम का भी अपना इतिहास है और काफी रोचक इतिहास है, किन्तु नामी को छोड़कर केवल नाम से काम तो नहीं चल सकता, पेड़ा का नाम सुनकर प्रसन्नता तो होती है, किन्तु तुष्टि या तृप्ति नहीं, तुष्टि और तृप्ति तो वास्तव में पेड़ा खाने पर ही होती है। मुहावरों का इतिहास लिखने से पूर्व, इसलिए, 'मुहावरा' जातिवाचक संज्ञा और 'मुहावरों' की जाति में क्या अन्तर है, उसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है। 'मुहावरों' से हमारा अभिप्राय, जैसा 'मुहावरा क्या है' के अन्तर्गत पहिले अध्याय में विशेष रूप से कहा गया है, किसी भाषा, विभाषा अथवा बोली में प्रयुक्त विशिष्ट शैली है; किन्तु 'मुहावरा' उस शैली-विशेष का बोध कराने के लिए दी हुई संज्ञा को कहते हैं। एक का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है, दूसरे का भाषा-विज्ञान से। एक प्रकृति-दत्त है, दूसरा प्राणिकृत। 'मुहावरा' शब्द का इतिहास खोजने के लिए हमें सबसे पहिले वह किस भाषा का है, यह देखना होगा और फिर कैसे उसके अर्थ में परिवर्त्तन होते-होते अन्त में इतने व्यापक रूप में उसका प्रयोग होने लगा तथा अन्य भाषाओं में उसी अर्थ में किन शब्दों का प्रयोग होता है इत्यादि पर भी विचार करना होगा। किन्तु 'मुहावरों' का सम्बन्ध चूँकि मनोविज्ञान से ही अधिक है, इसलिए उनका इतिहास खोजने के लिए हमें भाषा से भी आगे बढ़कर मानव-इतिहास खोजना पड़ेगा। मुहावरों का इतिहास प्रायः सब भाषाओं का एक-सा ही है।

किसी भाषा के मुहावरे उसके प्राचीनतम साहित्य से भी पुराने होते हैं। भाषा की उत्पत्ति और विकास का इतिहास लिखा जा सकता है, किन्तु मुहावरे कब और कैसे बने, यह बताना टेढ़ी खीर है। वास्तव में मुहावरों का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना स्वयं वाणी का। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार नारद मुनि के प्रश्न का उत्तर देते हुए सनत्कुमार ने जो कुछ कहा है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि मानव-जीवन में वाणी का महत्त्व वही है, जो साक्षात् ब्रह्म का। इतना ही नहीं, बल्कि उसका (वाणी का) इतिहास भी ब्रह्म की तरह अनादि है।

ब्रह्मर्षि सनत्कुमार ने वाक्-ब्रह्म की उपासना करने का आदेश दिया है, और आदेश भी चौदहों विद्याओं में पारंगत नारद मुनि को। उपनिषद् के इस महावाक्य से चाहे और कोई ध्वनि निकले या

न निकले, कम-से-कम यह तो दिन की तरह स्पष्ट हो जाता है कि मानव-जीवन में वाणी का वही महत्त्व है, जो साक्षात् ब्रह्म का। इतना ही नहीं, उसका (वाणी का) इतिहास भी ब्रह्म की तरह अनादि है। सचमुच है भी ऐसा ही, यदि वाणी न होती, तो सत्य और असत्य, धर्म और अधर्म, साधु और असाधु, मित्र और अमित्र तथा सुखद और दुःखद किसी भी बात का पता न चलता। इतना ही नहीं, बल्कि पिता और पुत्र, पति और पत्नी तथा भाई-भाई में प्रेम का यह सम्बन्ध ही न हो पाता। सब लोग जानवरों की तरह अपने ही तक अपना संसार सीमित करके रहा करते। हमारे प्राचीन ऋषि और मुनि कदाचित् इसीलिए किसी भी विषय पर लेखनी उठाने के पूर्व देवताओं की स्तुति कर लेते थे। 'श्रीगणेश करना', 'स्तुति अथवा मंगलाचरण लिखना' अथवा 'बिस्मिल्लाह करना' इत्यादि मुहावरे उसी प्राचीन सभ्य भावना के प्रतीक मालूम होते हैं। वास्तव में ईश्वर ने जितनी शक्तियाँ मनुष्य को दी हैं, उन सबमें 'वाक्-शक्ति' से बढ़कर दिव्य और गूढ़ शक्ति और कोई नहीं है। ईश्वर की यह एक ऐसी अनमोल देन है, जिसने मनुष्य को पशुवर्ग से इतना ऊँचा उठा दिया है, जिसने मनुष्य-मनुष्य में प्रेम का सम्बन्ध स्थापित करके आज उन्हें सभ्यता के शिखर पर खड़ा कर दिया है। इसलिए वाक्-शक्ति ही मनुष्य को मनुष्य बनानेवाली आदिशक्ति है।

वाक्-शक्ति वास्तव में यदि मनुष्य की आदिशक्ति है, तो कहना चाहिए कि मुहावरे उस आदिशक्ति के आदि व्यक्त रूप हैं। फिर, चूँकि मुहावरों का सम्बन्ध, जैसा पीछे बताया गया है, मनोविज्ञान से भी अधिक है, इसलिए मुहावरों का इतिहास ढूँढने के लिए हमें साहित्य और भाषा से भी बहुत पहिले वाणी का और, कहना न होगा कि, वाणी से भी पहिले मनुष्य की मनोवृत्तियों तथा मनोविज्ञान का इतिहास खोजना पड़ेगा। मनोविज्ञान के आचार्य एच० जे० वाट ने मन का शारीरिक क्रियाओं से सम्बन्ध बताते हुए लिखा है—"मन और शरीर दोनों एक साथ बँधे हुए हैं......बाह्य पदार्थों के निरीक्षण से विचारों का पोषण होता है और विचार, भावना तथा संकल्प उसके बदले में हाव-भाव या वाक्-शैली के रूप में शरीर पर प्रभाव डालते हैं।" ("...Mind and body, as we know them are bound together...observation of external objects gives food for thought and thought, feeling and will in their turn affect the body by the movement and expressions they evoke.") भाषाविज्ञान-विशारद आचार्य ग्रिम (Gremm) ने भी एक स्थान पर कहा है—"चूँकि शब्द जो भाषा के मूल हैं, उनका उद्गम मनुष्य की आदि बौद्धिक स्वतंत्रता से है, इसलिए उनपर मानव-स्वभाव के इतिहास की पर्याप्त छाप है।" अतएव मानव-स्वभाव की भाषा, संकेतों अथवा अस्पष्ट ध्वनियों में व्यक्त विशिष्ट भौतिक रूप को मुहावरा मानकर यदि यह कहा जाय कि दोनों के इतिहास में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, तो हमें विश्वास है कि इससे दोनों के अध्ययन और अध्यापन में सुविधा ही होगी, असुविधा नहीं। हमें तो आश्चर्य होता है कि हमारा पुरातत्त्व-विभाग प्राचीन शिलालेखों और, ताम्र या ताल-पत्रों को पढ़ने और पढ़वाने में जितनी माथा-पच्ची करता है, जितना समय और रुपया बर्बाद करता है, उसका एक अंश भी मुहावरों की खोज और उनके वैज्ञानिक विश्लेषण पर क्यों नहीं व्यय करता। जब प्राचीन शिलालेखों के आधार पर तत्कालीन सभ्यता, और सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का इतिहास खड़ा किया जा सकता है, तब शब्दों और मुहावरों के द्वारा मानव-इतिहास का तो और भी सुगमता और सरलता से पता चलाया जा सकता है। फिर, शब्द और मुहावरे तो संगीत, काव्य, चित्रकारी अथवा अन्य ललित कलाओं की तरह किसी विशेष समाज, समूह, संघ या व्यक्ति की चीज़ भी नहीं हैं, वे तो मानव-मात्र की सम्मिलित सम्पत्ति हैं। सभी ने उनके उद्भव और विकास में योग दिया है, सभी की यादगार उनके अक्षर-सम्प्रदाय में अंकित है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में न तो मानव-इतिहास की खोज करना अथवा उसपर कुछ लिखना ही हमारा ध्येय है, और न मुहावरों के इतिवृत्तात्मक इतिहास का संग्रह और संकलन। प्रबन्ध की भूमिका के इस अति संकुचित और सीमित क्षेत्र में विकास और वृद्धि की दृष्टि से मुहावरों की प्रकृति और प्रवृत्ति पर हमारे अति संक्षेप में थोड़ा-सा प्रकाश डालने से यदि जिज्ञासु अन्वेषकों के मन में मुहावरों का विस्तृत इतिहास खोजने की थोड़ी-बहुत भी प्रेरणा उत्पन्न हो जाती है, तो हम इसे अपने कार्य की सिद्धि ही मानेंगे।

किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा राष्ट्र के क्रमिक विकास और वृद्धि का विवरण ही इतिहास कहलाता है। अतएव मुहावरों का इतिहास जानने के लिए हमें उनके क्रमिक विकास और वृद्धि ज्ञान का होना आवश्यक है। "मुहावरे ही", जैसा किसी विद्वान् ने कहा है, "भाषा की नींव के पत्थर हैं, जिनपर उसका भव्य भवन आजतक रुका हुआ है और मुहावरे ही उसकी टूट-फूट को ठीक करते हुए गर्मी, सर्दी और बरसात के प्रकोप से अबतक उसकी रक्षा करते चले आ रहे हैं, संक्षेप में ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।" भाषा के विकास और वृद्धि से इसलिए मुहावरों के विकास और वृद्धि का अध्ययन करने में काफी सहायता मिल सकती है।

मैलिनोवस्की ने ट्रोबरियण्ड (Trobriande) द्वीप-निवासी आदिवासियों की भाषा का खूब गहराई के साथ अध्ययन करके जो अनुभव प्राप्त किया है, उससे भाषा के मूल रूप का बहुत-कुछ पता चल जाता है। इसी आधार पर स्टुअर्ट चेज़ ने लिखा है—"हम कभी-कभी सोचते हैं कि शब्दों के द्वारा विचारों की अभिव्यक्ति ही भाषा का आदि रूप है। यह मानने पर कि मैलिनोवस्की ने जो प्रयोग किये हैं, वे ठीक हैं, ऐसा लगता है कि विपरीत क्रम ही सत्य के अधिक निकट है। भाषा की वृद्धि के अनुसार उसपर विचार या भावना का उतना प्रभाव नहीं पड़ा है, जितना विचार पर भाषा के स्वीकृत ढाँचे का। अधिक उन्नत ज्ञान और कल्पनाओं में आदि-जंगली जातियों के सत्त्वों और स्वतःसिद्ध कल्पनाओं आदि की गहरी छाप है। अब भी यह विश्वास किया जाता है कि शब्द में जादू का-सा असर रहता है···।" किसी भाषा के मुहावरों को देखने से तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि उनमें आदिम जातियों के रहन-सहन और विश्वास एवं कल्पनाओं की गहरी छाप रहती है।

भाषा का, चूँकि ऐसा कोई इतिहास अभी नहीं लिखा गया है, जिसमें उसके आदि रूप से लेकर अबतक का, ऐतिहासिक दृष्टि से, यथार्थ विवरण और पूरा वर्णन मिल सके। इसलिए मैलिनोवस्की इत्यादि जिन विद्वानों ने देश-देशान्तर में बिखरी हुई आदिम जातियों की भाषाओं का अध्ययन करके भाषा के आदि रूप के सम्बन्ध में जो खोजें की हैं, उन्हीं के आधार पर भाषा की उत्पत्ति के सिद्धान्त स्थिर किये जा सकते हैं, और किये गये हैं। भूमिका के इस अति संकुचित क्षेत्र में चूँकि भाषा या मुहावरों के इतिहास की ओर केवल संकेत ही किया जा सकता है, इसलिए अब हम सिद्धान्तों की मीमांसा न करके सीधे अपने विषय पर आ जाते हैं।

ऋग्वेद से पहिले भाषा का क्या रूप था, इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। हाँ, ऋग्वेद की व्यवस्थित और सुसंस्कृत भाषा को देखने से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भाषा का जन्म ऋग्वेद से बहुत पहले हो चुका था। स्टुअर्ट चेज़ ने जैसा लिखा है कि 'भाषा के स्वीकृत ढाँचों का विचारों पर प्रभाव पड़ता है', इससे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मुहावरों का जन्म उस समय हो चुका था। 'भाषा के स्वीकृत ढाँचे' का अर्थ मुहावरा ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त फिर जादू का-सा प्रभाव डालने की शक्ति भी तो मुहावरों में ही होती है, सब प्रकार के साधारण प्रयोगों में नहीं। उस समय की भाषा के प्रत्यक्ष उदाहरण भले ही अप्राप्य हों; किन्तु उस समय भी लोग अपने भावों को एक-दूसरे पर व्यक्त करते थे, उनकी भी कोई भाषा थी, इसमें

सन्देह नहीं हो सकता। उस समय का मनुष्य आज के जैसा सभ्य और संस्कृत नहीं था, उसके व्यापार और व्यवहार भी बहुत संकुचित थे, उसका अधिकांश समय जंगली जानवरों के शिकार करने तथा शीत, प्रबल वायु और अतिवृष्टि के प्रकोप से बचने के उपाय ढूँढ़ने में ही व्यतीत होता था, आत्मा और परमात्मा के तात्त्विक विवेचन के लिए उसके पास अवकाश ही नहीं था, फिर उस समय कोई संगठित समाज भी ऐसा नहीं था, जिसके द्वारा एक पीढ़ी के मुहावरे आगे की पीढ़ियों तक बराबर चलते रहते।

भाषा के सबसे पहले नमूने हमें ऋग्वेद में मिलते हैं। ऋग्वेद-काल की सभ्यता बहुत ऊँची थी, शिक्षण-कार्य भी उस समय बड़े व्यवस्थित ढंग से चलता था। लोग सामाजिक जीवन के आदर्श को समझ गये थे, साथ-साथ रहते थे, साथ-साथ खेती-बारी करते थे और यज्ञ-याग इत्यादि भी साथ-साथ। इसलिए साहित्य के आधार पर मुहावरों का थोड़ा-बहुत इतिहास ऋग्वेद के समय से ही लिखा जा सकता है। पाँचवें अध्याय में 'जन्म-भाषा और मुहावरों' के प्रसंग में, जैसा आगे दिखाया गया है, ऋग्वेद-काल के बाद से हमारे साहित्य में मुहावरों की शृंखला कभी नहीं टूटी।

भाषा-तत्त्व किसी एक व्यक्ति के नहीं, वरन् समाज के मनोविज्ञान की वस्तु है। अतएव उसके बदलने में सैकड़ों बरस लग जाते हैं। फिर, मुहावरों पर तो लोक-स्वीकृति की मुहर लगनी होती है, इसलिए उनके बदलने में तो और भी अधिक समय लगता है। यही कारण है कि अन्य राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक उलट-फेरों की तरह भाषा और खास तौर से मुहावरा-सम्बन्धी उलट-फेरों का इतिहास उतना स्पष्ट और व्यवस्थित नहीं होता। ऋग्वेद-काल से लेकर अबतक के मुहावरों का अध्ययन करने पर यह तो सिद्ध हो जाता है कि उनमें समय-समय पर काफी उलट-फेर हुए हैं, कितने ही नये मुहावरे बराबर उनमें बढ़ते रहे हैं और कितने ही अप्रचलित होकर लुप्त हो गये हैं, किन्तु कब-कब ये परिवर्त्तन हुए हैं, इसका कोई पता नहीं चलता। मुहावरों के इस अध्ययन से यह भी सिद्ध होता है कि युग की परिवर्त्तनशील परिस्थितियों का भाषा से कहीं अधिक प्रभाव उसके मुहावरों के विकास और वृद्धि पर पड़ता है। इसीलिए मुहावरों को समाज के मानस का दर्पण भी कितने ही विद्वान् मानते हैं।

हमारे यहाँ, राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक, किसी-न-किसी प्रकार के आन्दोलन और उलट-फेर प्रायः सदा ही होते रहे हैं। भाषा और मुहावरों पर उनके सामयिक प्रभाव भी पड़े हैं; किन्तु फिर भी उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति में कभी ऐसा कोई मौलिक परिवर्त्तन नहीं हुआ था, जैसा मुसलमानों के भारतवर्ष में आने के बाद हुआ दिखाई पड़ता है। अतएव अध्ययन की सुगमता के लिए मुहावरों के इतिहास को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—एक तो ऋग्वेद से लेकर मुसलमानों के भारत में आने तक और दूसरे मुसलमानों के आने के बाद से अँगरेजों के जाने के बाद तक। ऋग्वेद से मुसलमानों के आने तक का समय आर्य-सभ्यता और आर्यों के उत्कर्ष का समय था। गीता में वर्णित गुण और कर्म के अनुसार बनी हुई वर्ण-व्यवस्था, अच्छा हो यदि उसे वर्ग-व्यवस्था कहा जाय, इसी काल की देन है। वेद, उपवेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्र इत्यादि असंख्य शास्त्रों की रचना तथा शिक्षा, कला, साहित्य, दर्शन इत्यादि के साथ ही सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी बड़े-बड़े सुधार इस समय में हुए हैं। इन सब परिवर्त्तनों और उलट-फेरों का भाषा पर और भाषा से भी अधिक उसके मुहावरों पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। इसीलिए इस युग की भाषा जैसी परिमार्जित, सुव्यवस्थित और गठी हुई है, उसके मुहावरे भी वैसे ही बँधे हुए हैं। भाषा की वह मुहावरेदारी या लच्छेदारी, जिसे हम आज के सभ्य समाज, आज के सिनेमा, थियेटर और आज के समाज-

सुधारक या राजनीतिज्ञों के मुँह से आज के रंगमंचों पर सुनते हैं, भले ही इस युग की भाषा में देखने को न मिले, किन्तु जैसा मूल प्रबन्ध में आगे चलकर हम बतायेंगे, मुहावरों की कमी इस भाषा में नहीं थी। इस युग के मुहावरे, इसमें सन्देह नहीं, अव्यवस्थित मस्तिष्क की अस्फुट वाक्धारा न होकर विचारशील साहित्यकार, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक और कुशल कलाकारों के परिष्कृत मस्तिष्क से निकले हुए सुसंस्कृत अनुभूति-सूत्र हैं।

मुसलमानों के भारतवर्ष में आने के बाद भारतवर्ष में कितनी ही राजनीतिक उथल-पुथल हुईं, किन्तु राजनीतिक विषमता के इस काल में भी साहित्य की गति-विधि बढ़ती ही रही, रुकी नहीं। मुसलमानों की अपनी भाषा थी, अपनी सभ्यता, संस्कृति और रीति-रिवाज थे, जिसका सदियों तक संघर्ष करते रहने पर भी, हिन्दुओं और हिन्दी पर, जैसा आगे चलकर दिखायेंगे, काफी प्रभाव पड़ा। पहिनने-ओढ़ने और खाने-पीने की चीजों के साथ कितने ही विदेशी शब्द भी हमारी भाषा में आ गये। धीरे-धीरे मुसलमानों का राज्य कायम होने तक हिन्दुओं ने अरबी-फारसी पढ़ना शुरू कर दिया। इधर अरबी और फारसी के मुस्लिम विद्वानों ने भी भारतीय भाषाओं में लिखना आरम्भ कर दिया। ऐसी परिस्थिति में दोनों भाषाओं में पारस्परिक आदान-प्रदान के आधार पर, गहरा सम्बन्ध हो ही जाना चाहिए था। इन दोनों भाषाओं के इस सम्बन्ध का सबसे अधिक प्रभाव, जैसा मौलाना आजाद के कथन से स्पष्ट है, मुहावरों पर ही पड़ा। 'आबे हयात' के पृष्ठ ४१ पर आप लिखते हैं—" एक जबान के मुहावरे को दूसरी जबान में तरजुमा (अनुवाद) करना जायज नहीं, मगर इन दोनों जबानों में ऐसा इत्तिहाद (प्रेम) हो गया है कि यह फर्क भी उठ गया और अपने कार-आमद (उपयोगी) खयालों को अदा (व्यक्त) करने के लिए दिलपजीर (हृदयग्राही) और दिलकश (मनोहर) और दिलपसंद, मुहावरात जो फारसी में देखे गये, उन्हें कभी बजिन्स (वैसे ही) और कभी तरजुमा करके ले लिया गया।"

मुहावरों के अन्तिम काल का अन्तिम चरण लगभग १६वीं शताब्दी से भारतवर्ष में अँगरेजों के आने से शुरू होकर सन् १९४८ में अँगरेजों के जाने तक मान सकते हैं, यह युग भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से क्रांति का युग रहा है। 'सन् ५७ मचाना', 'जलियानवाला बाग बना देना', 'डायर होना,' 'गोलमेज करना' और शायद आखिरी 'सन् ४८ का दमन', 'हैलेटशाही' करना' इत्यादि मुहावरे प्राचीन शिलालेख और ताम्रपत्रों की तरह युग-युगान्तर तक भारत में अँगरेजी-राज्य के कलंक को बताते रहेंगे। इस युग में अँगरेजी के मुहावरे तो हमारी भाषा में आये ही, लैटिन, ग्रीक, फ्रेंच और दूसरी-दूसरी यूरोपीय भाषाओं के भी कितने ही मुहावरे अँगरेजी के द्वारा हमारे यहाँ आकर हमारे बन गये हैं। हमें इस सम्मिश्रण से प्रसन्नता ही है, दुःख या क्रोध नहीं; क्योंकि मनुष्य की वर्त्तमान मानसिक और बौद्धिक परिस्थितियों में राष्ट्रभाषा बनने का दावा करनेवाली कोई भी भाषा बहुत लम्बे समय तक बाह्य प्रभाव से अछूती रह ही नहीं सकती। जीवन की नई परिस्थितियों, नये-नये विचारों और कल्पनाओं तथा साहित्य, कला और विज्ञान के क्षेत्रों में की हुई नई-नई खोजों को व्यक्त करने के लिए नये-नये मुहावरों और शब्द-प्रयोगों की आवश्यकता पड़ेगी ही। जलवायु, इतिहास, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक, जागृति अथवा क्रान्ति और अन्तर-राष्ट्रीय आर्थिक, बौद्धिक अथवा राजनीतिक सम्बन्ध किसी भी राष्ट्र के जीवन में, स्वभाव और विचारों में एक नया उद्बोधन उत्पन्न कर देते हैं, एक नई लहर पैदा कर देते हैं। नये जीवन के नये अनुभवों को व्यक्त करने के लिए प्रचलित मुहावरों में वृद्धि तो हो ही जाती है, कभी-कभी उनके आकार-प्रकार और अर्थ में भी ऐसा परिवर्त्तन करने की आवश्यकता पड़ती है कि आगे चलकर जबतक फिर से उनकी मातृभाषा के द्वारा ही उनका अध्ययन न करें, उन्हें समझना कठिन हो जाता है। 'लिबड़ी बरतना या बरताना' के रूप को

को देखकर 'Livery & batten' के लिए अँगरेजी-मुहावरा-कोष देखनेवाले व्यक्ति कितने होंगे। 'मुहावरा' शब्द की मुहावरेदारी को देखकर कौन कह सकता है कि यह अरबी का वही शब्द है, अरबी कोषकार जिसका एक पंक्ति में 'परस्पर बातचीत और सवाल-जवाब करना, बातचीत—महावराः आपस में कलाम करना, एक-दूसरे को जवाब देना, गुफ्तगू।— (लोगत किश्वरी) इतना-सा अर्थ कर देते हैं। भाषा में भी जैसा हम प्रायः देखते हैं, एक प्रकार का चेतनापूर्ण जीवन है। वह युगों के सतत प्रयास से उत्पन्न होकर इसी प्रकार बढ़ती और विकसित होती रहती है। इसके प्राचीन सार्वलौकिक रूप के मोह से लोहे की कील गाड़कर इसकी वृद्धि और विकास को रोकना तो इसे सदैव के लिए पंगु बनाकर, वृद्धि, विकास और परिवर्त्तन-रूप इसके अस्तित्व की मूल शक्ति का सर्वनाश करना ही है। मुहावरे किसी भी जीवित भाषा के प्राण होते हैं, इसलिए भाषा-योग का कोई भी अभ्यासी सदैव के लिए कुंभक कराके (प्राणों को रोककर) भाषा को लोकोपयोगी नहीं बना सकता। हाँ, बेठन रूप गुफाओं में समाधिस्थ होने के लिए अवश्य अपरिवर्त्तन की यह नीति काम दे सकती है। सौभाग्य की बात है, हमारी भाषा ने आवर्त्तन-परिवर्त्तन के इस युग में सचेत और सतर्क रहकर मुहावरों के अपने कोष को काफी उन्नत किया है।

प्रतिपादित विषय का महत्त्व

किसी राष्ट्रभाषा को समृद्धिशाली और उन्नत बनाने में जन-साधारण के बोलचाल की असंस्कृत और अपरिमार्जित भाषा से आये हुए शब्दों का तो महत्त्व है ही, जिनके इतिहास के विषय में हम थोड़ा-बहुत निश्चित रूप से जानते हैं, किन्तु इसके साथ ही समृद्धि का एक और भी तत्त्व है, जो इससे कहीं अधिक महत्त्व का है। यह तत्त्व भी, यद्यपि इसका पता चलाना कुछ कठिन है, वहीं और उन्हीं शक्तियों से निर्मित होकर थोड़े-बहुत रूप में लगभग उन्हीं साधनों से हमारी साहित्यिक भाषा में प्रवेश करके उसे पुष्ट और परिपक्व बनाता है। भाषा-व्यवसायियों की इस दर्शनी हुण्डी का नाम ही 'मुहावरा' है। इसी मुहावरे में फ्रेंच विद्वानों को दिव्य ज्योति का दर्शन हुआ है। ["...divine spark which glows in all idioms even the most imperfect and uncultivated"] हमें दुःख के साथ मानना पड़ता है कि अभी हमारे विद्वानों ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। इन अनमोल रत्नों की दिव्य ज्योति का अभी उन्हें आभास नहीं मिला है। इस ओर वे आकृष्ट तो हुए हैं, किन्तु एक थोक व्यापारी बनिये के रूप में, कलाकार जौहरी और विशेषज्ञ के रूप में नहीं। उन्होंने जो कुछ भी मुहावरे संचित किये हैं, वे प्रायः पुराने संग्रहों का संकलन-मात्र हैं, भाषा के विस्तृत क्षेत्र से चुन-बीनकर एकत्र किये हुए नहीं। हिन्दी, उर्दू, गुजराती, मराठी, फारसी और अँगरेजी मुहावरों के अबतक जितने भी कोष हमारे देखने में आये हैं, उनमें एक भी ऐसा नहीं है, जिसमें मुहावरों की प्रकृति और प्रवृत्ति का विचार करके उनकी उपयोगिता और उपादेयता पर पूर्णरूप से प्रकाश डाला गया हो।

हिन्दी की हालत तो इस दृष्टि से और भी गई-बीती है। बहुत कम विद्वानों ने इस ओर (हिन्दी-मुहावरों की ओर) ध्यान दिया है। मुहावरों के विशेष अध्ययन के लिए उपलब्ध सहायक ग्रन्थों की तो बात ही छोड़िए, वे तो आज जहाँ तक हमारा अनुभव है, किसी भी उन्नत-से-उन्नत भाषा में प्राप्य नहीं हैं, मुहावरों का ठीक-ठीक अर्थ देखने और प्रयोग समझने के लिए भी हमें निराश होकर हाथ मलते रह जाना पड़ता है। किसी मुहावरे का अर्थ समझना हो, तो कदाचित् थोड़ी-बहुत देर आँख फोड़ने के बाद हिन्दी-शब्द-सागर अथवा किसी ऐसे ही दूसरे शब्द-कोष या 'हिन्दी-मुहावरा-कोष', 'हिन्दी-मुहावरे' अथवा 'मुहावरा-अर्थ-प्रकाश' इत्यादि मुहावरों के किसी संग्रह में उसका अर्थ मिल जाय, लेकिन अगर संयोगवश किसी अर्थ-विशेष को

प्रकट करने के लिए किसी उपयुक्त मुहावरे की आवश्यकता पड़ जाय, तो 'एक चुप सौ को हराये' की उक्ति के सिवा कहीं आश्रय नहीं।

हिन्दी-मुहावरों पर अभी तक किसी ने वैज्ञानिक ढंग पर खोज करके कुछ नहीं लिखा है। 'हिन्दी-मुहावरा-कोष', 'हिन्दी मुहावरे', 'जेबी हिन्दी-मुहावरा-कोष', 'हिन्दी मुहाविरे', 'मुहावरा-अर्थ-प्रकाश', 'लोकोक्तियाँ और मुहावरे' तथा 'मुहावरात और इस्तलाहात', 'उर्दू ईडियम्स', 'मुल्की जबान के मुहावरे', 'उर्दू मुहावरे', 'मुहाविरात निस्वां' नामों से अभी तक इतनी तो किताबें हिन्दी और उर्दू मुहावरों पर निकली हैं, नागरी-प्रचारिणी सभा की पत्रिका में मेरठ-निवासी श्रीरामराजेन्द्र सिंह एम्० ए० का 'व्यापक मुहावरे' के अन्तर्गत मेरठ के आसपास बोले जानेवाले लगभग ३२० मुहावरों का एक संग्रह और हिन्दुस्तानी एकेडेमी (प्रयाग) की तिमाही पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' (अप्रैल १९४०) में भोजपुरी मुहावरों के अन्तर्गत डॉ० उदयनारायण तिवारी का भोजपुरी मुहावरों का एक दूसरा संग्रह प्रकाशित हुआ है। हिन्दी-शब्द-सागर, हिन्दी-विश्व-कोष तथा हिन्दी के छोटे-बड़े दूसरे कोषों में भी मुहावरों का यत्र-तत्र बिखरा हुआ कुछ संग्रह मिल जाता है। मुहावरों के आलोचनात्मक इतिहास पर हिन्दी में कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं है। श्रीरामदहिन मिश्र, श्रीब्रह्मस्वरूप दिनकर शर्मा और श्रीयुत अयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरि-औध' ने क्रमशः 'हिन्दी मुहावरे', 'हिन्दी मुहाविरे' और 'बोलचाल' नाम की अपनी-अपनी पुस्तकों की भूमिका में अवश्य हिन्दी-मुहावरों की गति-विधि का थोड़ा-बहुत परिचय देने का प्रयत्न किया है, किन्तु जैसा हम अभी बतायेंगे, मुहावरों के वैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से वह नितान्त अपूर्ण और अयोग्य है। इसके अतिरिक्त 'मुहावरा' शब्द कहाँ से आया, 'मुहावरे' से क्या अभिप्राय है, मुहावरे और रोजमर्रा में क्या अन्तर है, इत्यादि अलग-अलग खंडों पर हाली साहब ने अपने 'मुकदमा शेरोशायरी' और आजाद साहब ने अपने 'आबे हयात' में भी यत्र-तत्र थोड़ी-बहुत चर्चा की है। हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी में अबतक मुहावरों पर जो कुछ लिखा गया है, यह उसका संक्षिप्त विवरण-मात्र है। उपयोगिता की दृष्टि से इनका विवेचन करने से पूर्व लोगन पीरसल स्मिथ (Logan Pearsall Smith) के 'शब्द और मुहावरे' (Words & Idioms) नाम की अँगरेजी की पुस्तक का नाम ले लेना आवश्यक है। 'मिश्र जी', 'दिनकर' जी और 'हरिऔध' जी - इन तीनों विद्वानों ने सम्भवतः स्मिथ साहब से प्रभावित होकर ही इस विषय पर अपनी लेखनी उठाई है।

हिन्दी-मुहावरों के जितने भी संग्रह अबतक प्रकाशित हुए हैं, उन सबमें 'हिन्दी-मुहावरा-कोष', 'हिन्दी मुहावरे' और 'हिन्दी मुहाविरे', ये ही तीन बड़े ग्रन्थ हैं। 'हिन्दी-मुहावरा-कोष' में प्रायः सभी अन्य मुहावरा-कोषों के संगृहीत मुहावरे आ गये हैं। इसलिए संग्रह की दृष्टि में अन्य पुस्तकों को छोड़कर केवल इसी पर विचार करेंगे। इसमें करीब ८००० मुहावरे हैं। 'हिन्दी-शब्द-सागर' और 'हिन्दी-मुहावरा-कोष' इन दोनों ग्रन्थों को साथ-साथ रखकर हमने इनका मिलान किया है। दोनों में बहुत ही कम अन्तर है। संख्या की दृष्टि से 'शब्दसागर' में कुछ अधिक मुहावरे हैं। ''हिन्दी-मुहावरा-कोष' में कहीं-कहीं कुछ ऐसे मुहावरे भी हैं, जो 'शब्दसागर' में नहीं हैं। संख्या में ऐसे मुहावरे बहुत ही कम हैं। कुल किताब में अधिक-से-अधिक पचास-साठ मुहावरे ऐसे होंगे। संक्षेप में हिन्दी-मुहावरों के किसी भी संग्रहकर्ता ने स्वयं साहित्य को छानकर मुहावरे एकत्र नहीं किये हैं, नये-पुराने बहुत-से संग्रहों को उठाकर अपने ज्ञान की परिधि के अन्दर प्रचलित और अप्रचलित मुहावरों के आधार पर कुछ काट-छाँट और घटा-बढ़ाकर नई बोतलों में पुरानी शराब भर दी है। हिन्दी-मुहावरों के वर्त्तमान संग्रहों को यदि एक-दूसरे की कुछ संशोधित, परिवर्त्तित या परिवर्द्धित आवृत्ति कहा जाय, तो हमें विश्वास है, किसी भी पक्ष के साथ अन्याय न होगा।

इन संग्रहों में सबसे अधिक खटकनेवाली दूसरी बात यह है कि संग्रहकर्त्ताओं ने या तो मुहावरे और लोकोक्ति के अन्तर को भली भाँति समझा नहीं है और यदि समझा है, तो हमें कहना चाहिए, बड़ी असावधानी से काम लिया है। जहाँ-तहाँ मुहावरों के साथ ही लोकोक्तियाँ डालकर दोनों की एक विचित्र खिचड़ी पकाई है। 'खाओ यहाँ तो पानी पीओ वहाँ', 'लाख का घर खाक होना', 'दूध का दूध और पानी का पानी करना'[1] 'चिराग में बत्ती पड़ी लाड़ो मेरी खटोले चढ़ी', 'छींकते गये छींकते आना'[2] इत्यादि में मुहावरेदारी तो है, 'किन्तु शुद्ध मुहावरा नहीं। कहीं-कहीं उदाहरण के रूप में दिया हुआ मुहावरों का प्रयोग बहुत ही बे-ठिकाने है, मुहावरों के भाव वाक्य से स्पष्ट नहीं होते। किसी भी मुहावरे का वाक्य में इस प्रकार प्रयोग होना चाहिए कि परिस्थिति मुहावरे का अर्थ समझने में सहायता करे। 'पेबंद लगाना' एक मुहावरा है, उसके प्रयोग के लिए 'मोहन ने पेबंद लगा दिया' यह उदाहरण पर्याप्त नहीं है। यहाँ केवल प्रयोग के लिए ही प्रयोग नहीं करना है, अर्थ की दृष्टि से प्रयोग करना है। इसी प्रकार, 'पाँव जमीन पर न ठहरना वा रखना', 'दिल का बुखार निकलना', 'बोलबाला होना' तथा 'पाँव धरना' इत्यादि मुहावरों के प्रयोग के लिए क्रमशः 'आजकल उसके पाँव तो जमीन पर पड़ते ही नहीं,' 'कोई दिल का बुखार निकालेगा', 'आजकल उन्हीं के घर का बोलबाला है', 'पाँव धरता हूँ मान जाइए' इत्यादि उदाहरणों में मुहावरों के भाव वाक्यों से स्पष्ट नहीं होते। 'रंग उखड़ जाना' मुहावरे का 'रंग उतरना' अर्थ करके 'धूप लगने से बच्चे के मुँह का रंग उखड़ गया' इस उदाहरण के द्वारा उसका वाक्य में प्रयोग करके तो मिश्रजी ने मुहावरे के साथ ही मुहावरे-दारी को भी पंगु बना दिया है। किसी मुहावरे के अर्थ का ऐसा अनर्थ, भाषा के साथ बलात्कार नहीं तो क्या है। 'रंग उखड़ना' या 'उखड़ जाना', 'रंग जमना या जम जाना' मुहावरे का ठीक उल्टा अर्थ करने के लिए प्रयुक्त होता है। 'रंग जमना या जम जाना' प्रभाव पड़ने या सिक्का जमने के अर्थ में आता है। इसलिए 'रंग उखड़ जाना' प्रभाव नष्ट हो जाने के अर्थ में ही प्रयुक्त हो सकता है। हाँ, 'रंग उतर जाना' मुहावरे के प्रयोग के लिए 'धूप लगने से बच्चे के मुँह का रंग उतर गया.' यह उदाहरण दे सकते हैं। श्रीरामदहिनजी मिश्र के 'हिन्दी मुहावरे' नाम की पुस्तक फिर भी दूसरी पुस्तकों से बहुत अच्छी है। संग्रह की दृष्टि से श्रीब्रह्मस्वरूपजी दिनकर ने अपनी 'हिन्दी मुहाविरे' नाम की हाल में ही छपी हुई पुस्तक में मिश्रजी के बहुत-से दोषों को दूर कर दिया है।

आज जब कि भाषा-विज्ञान के पंडितों ने यह मान लिया है कि शब्द और मुहावरों के रूप के साथ ही उनके अर्थ और प्रयोग में भी प्रायः परिवर्त्तन होते रहते हैं, इतना ही नहीं, बल्कि कब और कैसे यह परिवर्त्तन होते हैं—इसके नियम भी उन्होंने बना दिये हैं। फिर तो यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि मुहावरों का ठीक-ठीक अर्थ और प्रयोग देकर उनका संग्रह निकालने के लिए हम प्राचीन ग्रन्थों की बेठनें खोलने के बजाय खुले आकाश के नीचे खुलकर खुली हुई खिलक़त की खुली-खुली बातें आँख और कान खोलकर देखें-सुनें। मुहावरों के ठीक-ठीक अर्थ और प्रयोग का सच्चा कोष तो सचमुच सर्वसाधारण जनता की घरेलू बातचीत अथवा उनके उद्देश्य से लिखा हुआ स्वर्गीय प्रेमचन्द्र-जैसे जन-साधारण के हृदय-पारखियों का साहित्य है।

आलोचनात्मक विवेचन की दृष्टि से हिन्दी-मुहावरों पर अपने 'मुहावरा-कोषों' की भूमिका में अथवा स्वतन्त्र रूप से जितने भी विद्वानों ने कुछ लिखा है, उस सबका निचोड़ श्रद्धेय 'हरिऔध' जी ने अपनी 'बोलचाल' की भूमिका में दे दिया है। इसलिए मुहावरों के इस पक्ष को

---

१. 'हिन्दी मुहावरे'—रामदहिन मिश्र।

२. 'मुहावरात निस्वाँ'।

लेकर हिन्दी में अबतक कितनी और कैसी खोजें हुई हैं, इसका पूरा पता 'बोलचाल' की भूमिका के 'मुहावरा' शीर्षक से प्रारंभ होनेवाले का अवलोकन करने से हो जायगा। आचार्यवर उपाध्याय जी ने अपने इस निबन्ध में 'मुहावरा' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ-विकास तथा इसके पूर्व मुहावरों के लिए प्रयुक्त होनेवाली विशेष-विशेष संज्ञाओं से लेकर 'संस्कृत भाषा और मुहावरा', 'मुहावरा शब्द की अर्थ-व्यापकता', 'मुहावरों का आविर्भाव', 'मुहावरों का आविर्भाव और मूल-भाषा एवं अन्य भाषा', 'मुहावरों का भावानुवाद और बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव', 'मुहावरे और कहावतें', 'मुहावरों का शाब्दिक न्यूनाधिक्य', 'मुहावरों का शाब्दिक परिवर्त्तन', 'मुहावरों की उपयोगिता' इत्यादि मुहावरों के लगभग सभी पक्षों पर न्यूनाधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। यहाँ मैं जान-बूझकर इस शब्द 'प्रयत्न', का प्रयोग कर रहा हूँ। मुझे विश्वास है, गुरुवर 'हरिऔध'जी स्वयं मेरे इस कथन का समर्थन करेंगे। 'बोलचाल' वास्तव में पद्यबद्ध मुहावरों का एक स्वतन्त्र कोष ही है। 'चोखे चौपदों' की तरह इस ग्रन्थ में भी कविवर ने, अपने ही 'प्रियप्रवास' इत्यादि दूसरे ग्रन्थों के समान शब्द-लालित्य और कोमल-कान्त पदावली की ओर उतना ध्यान नहीं दिया है, जितना मुहावरों के सही अर्थ और उपयुक्त प्रयोग की, साधारण बोलचाल की मुहावरेदार भाषा में गूँथकर भाषा के रहस्य को समझाने की ओर। 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे'—इन दोनों ग्रन्थों की तरह प्रस्तुत पुस्तक की भाषा और मुहावरों के सम्बन्ध में उठनेवाले ऊल-जलूल तर्कों के पहले ही इसके प्रकाशन का उद्देश्य समझाने के लिए मुहावरों की प्रकृति और प्रवृत्ति के बारे में कुछ लिखना आवश्यक ही था। शुद्ध हृदय और सेवा-भाव से छेड़ा हुआ छोटे-से-छोटा काम भी जिस प्रकार आगे चलकर अति महान् और परमोपयोगी सिद्ध होता है, उसी प्रकार 'हरिऔध' जी का यह पवित्र प्रयास जिज्ञासु अन्वेषकों के लिए सदैव चौराहे के संकेत-स्तम्भ का काम करता रहेगा। भूमिका के अति संकुचित क्षेत्र में मुहावरों के भिन्न-भिन्न पक्षों के सम्बन्ध में हिन्दी, उर्दू और अँगरेजी के भिन्न-भिन्न प्रमुख लेखकों का क्या मत है, उसे क्रम से एक जगह सजाकर उन्होंने गागर में सागर भर दिया है। गागर के इस सागर को फिर से सागर महारत्नाकर का रूप देने के लिए भगीरथ के अखंड तप और सतत प्रयत्न की जरूरत है। स्वतन्त्र रूप से मुहावरों का सर्वांगीण अध्ययन करनेवालों को आचार्यवर ने मार्ग दिखा दिया है। जब हिन्दी-मुहावरों पर लेखनी उठानेवाले प्रायः सभी विद्वान् अबतक एक ही पुरानी लकीर को पीटते आ रहे थे, हरिऔधजी ने, भले ही विदेशी यंत्र के द्वारा क्यों न हो, इस क्षेत्र में काफी नई जमीन तोड़ी है।[1] अब और तोड़ने को बाकी ही नहीं है—ऐसा तो उनका दावा भी नहीं है। उनका उद्देश्य तो केवल यह दिखाने का था कि 'नौतोड़ जमीन' में भी फूल उगाये जा सकते हैं। बाकी रही हुई जमीन तोड़कर उसमें सुन्दर क्यारियाँ बनाकर सारे क्षेत्र को अति सुन्दर और सुव्यवस्थित उपवन बनाने का काम उस क्षेत्र में खोज करने अथवा आगे खोज करने की इच्छा रखनेवालों का है। विज्ञान की भाषा में कहें, तो हम कह सकते हैं कि आपने जो कुछ लिखा है, वह एक प्रकार का पूर्वरंग है, जिसकी प्रामाणिकता भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न स्वीकृत तत्त्वों के आधार पर अभी सिद्ध होनी है। दूसरी और आखिरी बात जो हमें आपके इस निबन्ध के विषय में कहनी है, वह यह है कि इस अध्ययन में आपकी दृष्टि मुख्यतया भाषा-विज्ञान की ओर गई है, मनोविज्ञान की ओर नहीं, यद्यपि मुहावरों का मनोविज्ञान से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है।

जैसा हम ऊपर दिखा चुके हैं, बहुत ही कम विद्वानों ने अबतक हिन्दी-मुहावरों पर कार्य किया है। जिन्होंने कुछ किया भी है, वह कुछ बहुत ही प्रचलित मुहावरों को अकारादि क्रम से,

---

१. 'जमीन तोड़ना' मुरादाबाद, बिजनौर और मेरठ की तरफ नई जमीन जोतने के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाला मुहावरा है।—ले०

उनके भावार्थ और कहीं-कहीं वाक्यों में उनके प्रयोग-सहित, सजाया हुआ संकलन अथवा संग्रह-मात्र है। इन संग्रहों की भूमिका के गिने-चुने पृष्ठों में श्रीरामदहिनमिश्र, श्रीब्रह्मस्वरूप दिनकर एवं श्रद्धेय अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अवश्य मुहावरों की साधारण गिति-वधि के बारे में भी कुछ विवेचन कर दिया है। परन्तु प्रबन्ध में हमारा उद्देश्य न तो मुहावरों का संग्रह करके उनके अर्थ और प्रयोग दिखाना है और न केवल भाषा-सम्बन्धी उनकी गति-विधि का वर्णन करना। अतएव इस दृष्टि से अपने इस कार्य को करने के लिए हमें कोरी पटिया पर ही लिखना है।

पृथक् दृष्टिकोण को छोड़ दें, तो कह सकते हैं कि जहाँ तक संग्रह का प्रश्न है, हम अपने पहिले के विद्वानों के कदमों पर ही चले हैं। श्रद्धेय 'हरिऔध' जी एवं लोगन पीयरसल स्मिथ की मुहावरा-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण खोजों से भी हमारे इस कार्य का सम्बन्ध है, परन्तु यह सम्बन्ध एक पथ-निर्देशक और पथिक के सम्बन्ध से अधिक नहीं है। प्रस्तुत प्रबन्ध में हमारा प्रयत्न साधारणतया सभी मुहावरों के और विशेषतया हिन्दी-मुहावरों के, 'मुहावरा' क्या है, उसकी अन्तरात्मा और बाह्य परिधान क्या है, वह क्यों और कैसे जन्म लेता, फैलता और अन्त में सर्वमाननीय बनकर भाषा का एक मुख्य अंग बन जाता है, उसकी मुख्य-मुख्य विशेषताएँ क्या हैं, व्यक्ति उसके भाव और भाषा तथा दूसरों पर पड़नेवाले उसके प्रभाव की दृष्टि से उसकी (मुहावरे की) उपयोगिता, बोली, विभाषा और भाषा का पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनमें मुहावरों का स्थान और लोकोक्ति और मुहावरों का सम्बन्ध इत्यादि-इत्यादि समस्त संभावित पक्षों पर विचार करना है। संक्षेप में, इस प्रबन्ध के द्वारा हमारा अभिप्राय मुहावरों की गति-विधि, प्रकृति और प्रवृत्ति तथा अर्थ और रूप की परिवर्त्तनशीलता के गम्भीर अध्ययन और विशद विवेचन के द्वारा मानव-समाज के इतिहास से इनका (मुहावरों का) सामंजस्य स्थापित करना है।

मुहावरों का क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत है, उनका प्रवाह पवित्र जाह्नवी की नाईं अनन्त और उनकी उपयोगिता कल्पवृक्ष की तरह बहुमुखी है। शेक्सपीयर ने कुल कितने शब्द लिखे हैं, उसके भक्तों ने उन्हें गिनकर रख दिया, कालिदास, भवभूति, तुलसी और सूर ने जो कुछ लिखा है, उसके आँकड़े बताये जा सकते हैं, आदिकवि महर्षि वाल्मीकि की भी सीमा है। आखिर मनुष्य-कृत और ईश्वर-प्रदत्त पदार्थों में यही तो भेद होता है, एक अति ससीम है, तो दूसरा अति असीम। कविता मनुष्य-कृत है, इसलिए ससीम है, कवित्व ईश्वर-प्रदत्त है, इसलिए उसकी कोई सीमा नहीं बाँध सकता। ठीक इसी प्रकार भाषण और भाषा में, भाषण की सीमा होती है, किन्तु भाषा के क्षेत्र में कभी कोई कील नहीं गाड़ सकता। भाषा एक बड़ा महासागर है, महासागर में अधिक गोते लगाने से अधिक रत्न मिल जायें, यह तो सम्भव है, किन्तु एक-एक करके सब मिल जायँ, यह सर्वदा अशक्य और असम्भव रहा है और रहेगा। मुहावरे भाषा-रत्नाकर के अमूल्य रत्न हैं, गिनती करके कोई उनकी निश्चित संख्या नहीं बता सकता। हाँ, आठ हजार की जगह अड़तीस हजार या उससे भी अधिक का संग्रह हो सकता है। इतना ही नहीं, इस संग्रह के आधार पर कुशल पारखी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उनका वर्गीकरण करके रूप और अर्थ की दृष्टि से उनके वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा उनकी सम्पूर्ण गति-विधि और प्रकृति-प्रवृत्ति का संक्षिप्त ब्योरा भी तैयार कर सकते हैं।

भाषा की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में बहुत-से मत हैं। इजिप्ट के राजा सेमेटिकुस[1] (Psammetechus) ने एक नवजात शिशु को लेकर जो प्रयोग किया था, यदि उसी प्रकार के

१. ओरिजिन ऑफ् लैंग्वेज, पृ० ६।

हजारों प्रयोग और किये जायँ, तो भी यही सिद्ध होगा कि नवजात शिशु को भाषा का ज्ञान तो होता है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप में नहीं होता, अनुकरण के आधार पर ही उसकी इस शक्ति का प्रत्यक्षीकरण होता है। मोनबोदो (Monboddo) ने कदाचित् इसी आधार पर भाषा के विकास का क्रम इस प्रकार माना है—१. अस्पष्ट ध्वनियाँ, २. हाव-भाव और शारीरिक चेष्टाएँ, ३. अनुकरण के आधार पर बनी हुई ध्वनियाँ, ४. जातिगत आवश्यकताओं के फलस्वरूप लोक-सम्मति के द्वारा बनी हुई कृत्रिम भाषा। यह भाषा आरम्भ में असंपन्न और दोषपूर्ण थी, किन्तु बाद में, एडेलिंग (Adelung) की उपमा लें, तो जिस प्रकार एक जंगली व्यक्ति की छोटी-सी डोंगी आज आधुनिक राष्ट्रों की तैरती हुई नगरी वन गई है, भाषा भी समृद्ध और संपन्न हो गई है।[1] आज भी हम देखते हैं कि मनुष्य अपने हृदय के उद्गारों अथवा विचारों को प्रायः अस्पष्ट ध्वनियों, हाव-भाव और शारीरिक चेष्टाओं अथवा व्यक्त भाषा के द्वारा ही प्रकट करता है। ऊँ-आँ करना, टीं-टीं करना, आँ-आँ करना इत्यादि मुहावरे पूर्व-संस्कारों के प्रतीक-स्वरूप मानव-मात्र में विद्यमान प्राचीनतम मुहावरों के स्मृति-चिह्न आज भी उतने ही सजीव और सारगर्भित हैं। इसी प्रकार, हाथ मलना, नैन मटकाना, सैन चलाना, आँख मारना, कानों में उँगली देना, कानों पर हाथ रखना, सिर खुजाना या खुजलाना इत्यादि आज की भाषा—राष्ट्रभाषा—में सुरक्षित असंख्य मुहावरे हाव-भाव अथवा शारीरिक चेष्टाओं के द्वारा अपने भावों को व्यक्त करनेवाली भाषा की दूसरी अवस्था की याद दिलाते हैं।

अस्पष्ट ध्वनियों और शारीरिक चेष्टाओं के उपरान्त शब्द-संकेतों का आविर्भाव हुआ। मनुष्य को अपने भावों को व्यक्त करने के लिए भाषा मिल गई, जिसके, संभवतः ऋग्वेद के उत्तर-काल में फिर लिपि (लेखन-कला) मिल जाने के बाद कथित और लिखित दो रूप हो गये, जो आज भी संसार की प्रायः समस्त भाषाओं में स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं। भाषा—बोलचाल की भाषा, जैसा पहिले बताया जा चुका है, ईश्वर-प्रदत्त है, इसलिए असीम है, किन्तु लिपि मनुष्य-कृत होने के कारण ससीम है, अतएव असीम सागर को ससीम गागर में भरने के समान लिपिबद्ध होने पर भाषा की स्वच्छन्दता सीमित हो जाती है। उसके मुहावरे बोलचाल की भाषा के मुहावरों से अधिक परिष्कृत, परिमार्जित और अर्थ तथा प्रयोग की दृष्टि से अत्यधिक व्यापक तो अवश्य हो जाते हैं, किन्तु उनकी लोकप्रियता और लोकतन्त्रवादिता नष्ट होकर उनमें बहुत कुछ पौराणिकता और वंशानुगत परम्पराप्रियता घर कर लेती है। हमारे सुयोग्य भाषाशास्त्री श्रीरामचन्द्र वर्मा ने तो कदाचित् अर्थ और प्रयोग की दृष्टि से इनकी अति रूढ़ रूढ़िवादिता पर रीझकर इनका (मुहावरों का) नाम ही 'रूढ़ि' रख दिया है।

बोलचाल की भाषा साहित्यिक भाषा की तरह देश और काल के बन्धनों से मुक्त नहीं रहती। बोलनेवाले पर वह कहाँ, किससे और कब क्या कह रहा है, इसका पूरा प्रभाव पड़ता है। अतएव उसके मुहावरे प्रायः सामयिक और सीमित होते हैं। वह जिनसे बात कर रहा है, उनके ज्ञान-क्षेत्र से बाहर कहीं अन्यत्र नहीं जाता, संक्षेप में उसके वाचक-शब्द-चयन की सीमा उसके श्रोताओं के ज्ञान की परिधि तक रहती है। वह जहाँ तक सम्भव होता है, उनके जीवन-साधन के अपने उपकरणों का आश्रय लेकर अपने हाव-भाव और विशिष्ट स्वराघात के द्वारा ही अपना काम चलाता है। स्वराघात ही बोलचाल के प्रयोगों का रहस्य है, उसी में उनके अर्थ की विचित्रता निहित रहती है। बोलचाल के प्रयोगों (मुहावरों) की दूसरी विशेषता उनकी बहुरूपता होती है। कभी-कभी तो एक ही मुहावरे के 'मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना' के अनुरूप बहुत-से अर्थ और प्रयोग [illegible]ते हैं। तीर्थ-स्थानों अथवा बड़े-बड़े सम्मेलनों में प्रायः ऐसी खिचड़ी भाषा सुनने को मिल

१. ओरिजिन ऑफ् लैंग्वेज, पृ० १६।

जाती है। मुहावरों की दृष्टि से इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि बोलचाल की भाषा ही साहित्यिक भाषा के मुहावरों का प्रसूतिका-गृह है। यहीं उनका जन्म होता है और यहीं पल-पुसकर वे साहित्यिक भाषा के योग्य, सभ्य और सुसंस्कृत नागरिक बनते हैं। मुहावरों को भाषा के अमूल्य रत्न, जैसा हम मानते हैं, लेकर चलें तो हम कह सकते हैं कि बोलचाल की भाषा ही उन अमूल्य रत्नों की अक्षय खान है, उसमें प्रयुक्त आज के रुक्ष और अपरिमार्जित मुहावरे ही कुशल कलाकार और सिद्ध साहित्यिक जौहरियों के हाथों में पड़कर कल को साहित्य-सुन्दरी के अधरों पर खेलने-वाले उसकी बेसर के बेशकीमती मोती बननेवाले हैं। खान और खान से निकलते हुए रत्नों की अपेक्षा जौहरी की दूकान और उसमें सजाये हुए सुव्यवस्थित, सुन्दर और सुघड़ रत्नों की परीक्षा करके उनकी जाति और गुण का विशिष्ट विश्लेषण करना कहीं अधिक सरल, सुबोध और स्वाभाविक होगा, इस दृष्टि से प्रस्तुत प्रबन्ध में हमने मुहावरों के साहित्यिक पक्ष को लेकर ही उनकी सर्वांगीण गति-विधि पर विचार करने के लिए निम्नलिखित योजना बनाई है।

मुहावरों के अध्ययन की अपनी प्रस्तुत योजना पाठकों के समक्ष रखने से पूर्व हम उनका ध्यान ज्ञान और विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त कुछ ऐसे विशिष्ट और विचित्र प्रयोगों की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं, जो छोटे-बड़े, शिक्षित और अशिक्षित प्रायः सभी की जबान पर न मालूम कब से चढ़े हुए हैं; किन्तु फिर भी आजतक मुहावरा होने का कोई प्रमाण-पत्र उन्हें नहीं मिला है।

१. भावों में कोई परिवर्त्तन न करते हुए केवल भाषा को संक्षिप्त करके किसी सिद्धान्त अथवा मत का प्रतिपादन करने की प्रथा तो हमारे यहाँ प्राचीन काल से चली आ रही है, 'श्रौत-सूत्र', 'गृह्य-सूत्र' और 'धर्मसूत्र' इत्यादि सूत्र-ग्रन्थ इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। किन्तु आजकल व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को संक्षिप्त करके उनके आद्याक्षरों से काम चलाने की प्रथा भी खूब जोरों से चल रही है। जैसे, मो० क० गांधी, का० वि० वि० इत्यादि।

२. एक समय था जबकि अपने व्यक्तिगत गुण, ज्ञान, अभ्यास और साधन की कसौटी पर खरा उतरने पर ही कोई व्यक्ति चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी, याज्ञिक, कौशिक, मौलवी, पीर और खलीफा इत्यादि उपाधियाँ प्राप्त करता था; किन्तु आज वेदों के नाम तो क्या, उनकी संख्या तक न जाननेवाले कितने ही चतुर्वेदी, द्विवेदी हमारे समाज में भरे पड़े हैं। अतएव इन वंशानुगत उपाधियों के अभिधेयार्थ की खोज न करके अर्थ-वैचित्र्य की अति व्यापक परम्परा के आधार पर मुहावरों में ही इनकी गिनती करना अधिक न्याय्य और युक्तिसंगत है।

३. गणित की दृष्टि से सन् १६४८ को एक हजार नौ सौ अड़तालीस कहना चाहिए, किन्तु मुहावरा पड़ गया है सन् उन्नीस सौ अड़तालीस अथवा प्रसंगवश केवल सन् अड़तालीस कहने का। गणित की दृष्टि से इस प्रकार के और भी बहुत-से विलक्षण प्रयोग मिलते हैं।

कवियों ने तो कितने ही स्थानों पर इन संख्याओं के साथ खूब मनमानी की है। कविता में उन्हें यथावत् रखने की कठिनाई को दूर करने के लिए उन्होंने उनके निमित्त सांकेतिक प्रतीक बना लिये हैं। अब यह एक ऐसी परम्परा-सी हो गई है कि कवि लोग कम-से-कम ग्रन्थ का निर्माण-काल तो प्रायः इन्हीं सांकेतिक प्रतीकों के द्वारा व्यक्त करते हैं। जैसे, १६०२ लिखने के लिए एक कवि लिखता है—

२ ० ६ १

कर नभ रस अरु आतमा, संवत फागुन मास।
सुकुल पच्छ तिथि चौथ रवि, जेहि दिन ग्रन्थ प्रकास॥

४. व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ अभिधेयार्थ की दृष्टि से प्रायः निरर्थक होती हैं, नैनसुख नामवाले नेत्र-विहीन पुरुष भी मिलते हैं। कदाचित् इसीलिए तुलसीदास को 'सुग्रीव, और 'शत्रुघ्न' नामों की सार्थकता सिद्ध करने के लिए बार-बार सुकंठ, रिपुदमन, रिपुसूदन, अरिसूदन इत्यदि उनके पर्यायी शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है। 'रवि' नाम से हम एक दुबली-पतली लम्बी-सी लड़की की कल्पना कर लेते हैं, क्यों? रवि शब्द के अभिधेयार्थ के आधार पर नहीं, बल्कि उसके बहुत पहिले से, एक लड़की-विशेष के लिए रूढ़ हो जाने के कारण लक्षण के आधार पर हम उसका अर्थ करते हैं। लाक्षणिक और रूढ़ प्रयोग होते हुए भी अव्यापक होने के कारण ही व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ मुहावरों की श्रेणी में नहीं आतीं, अन्यथा हैं वे भी मुहावरे ही।

५. कितने ही व्यक्तिगत, जातिगत और देशगत ऐसे प्रयोग हैं, जिनका बोलचाल की भाषा में तो खुले आम प्रयोग होता ही है, लिखित भाषा में भी प्रायः उनका प्रयोग होता रहता है। 'भौंगाँव में रहना' या 'शिकारपुर में बसना' इत्यादि देशगत मुहावरे हैं, किन्तु आजकल प्रायः सर्वत्र इनका प्रयोग होता है। जो लोग यह भी नहीं जानते कि भौंगाँव और शिकारपुर नक्शे में हैं कहाँ, वे इन मुहावरों का खूब प्रयोग करते हैं।

६. कुछ पारिवारिक मुहावरे भी होते हैं, जिनका सम्बन्ध किसी परिवार-विशेष से होता है और प्रायः उस परिवार के लोग तथा उनके इष्ट-मित्र ही उनका प्रयोग करते हैं।

७. अब कुछ व्यक्त और अव्यक्त तथा केवल बोलनेवाले की भाव-भंगी और विशिष्ट स्वराघात से ही सम्बन्ध रखनेवाले विलक्षण प्रयोगों को देखिए। कभी-कभी किसी के शब्दों को ज्यों-का-त्यों एक विशेष भाव-भंगी के साथ विशेष ध्वनि से उच्चारण करके उसका अर्थ बदल देते हैं, व्यंग्य में प्रायः ऐसा होता है। किसी लड़की ने कहा—'हम चले जायेंगे', उसे 'तो आप चली जायेंगी' 'कहकर सास के यहाँ चली जायेंगी' ऐसा संकेत करके प्रायः लोग चिढ़ाया करते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि मुहावरों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, जाने-अनजाने न मालूम कितनी बार और कितने मुहावरों का प्रयोग हम नित्य-प्रति करते रहते हैं। सबका लेखा-जोखा रखना सम्भव नहीं है; अतएव प्रस्तुत प्रबन्ध में हम अपने भरसक खड़ीबोली के केन्द्र बिजनौर और मुरादाबाद की ओर बोले जानेवाले प्रमाणित मुहावरों को लेकर ही अपना कार्य आरम्भ करेंगे। अध्ययन की सुगमता के लिए प्रस्तुत विषय को हमने आठ भागों में विभाजित कर दिया है। इस विभाजन में हमारी दृष्टि मुहावरों के अलग-अलग पक्षों को लेकर अलग-अलग अध्यायों के रूप में विचार करने की रही है। प्रस्तुत विषय के प्रस्तावित क्षेत्र या बिन्दु तक पहुँचने के लिए हमारे प्रबन्ध का प्रत्येक अध्याय एक-एक विचार है, इसलिए हमने हरेक भाग को विचार ही कहा है।

भूगर्भ-शास्त्र के किसी विद्वान् पंडित की प्रयोगशाला में यदि आप जायँ, तो आप देखेंगे कि उसमें कहीं ईंट-पत्थरों का ढेर है, तो कहीं राख और चूना पड़ा है, कहीं अलग-अलग बरतनों में मिट्टी रखी है, तो कहीं बहुत-सी बोतलों में बालू भरा हुआ है, कहीं पत्थर पिस रहे हैं, तो कहीं रेत पक रहा है। थोड़ा और आगे बढ़कर पंडितजी के प्रयोग करने की मेज देखें, तो उसकी छटा उनकी प्रयोगशाला से भी निराली आपको लगेगी। अति सुन्दर और सुव्यवस्थित ढंग से

सजी हुई लिखने-पढ़ने की अति आधुनिक सामग्री के स्थान में नये-पुराने भिन्न-भिन्न देश और प्रान्तों की चट्टानों के टुकड़े, छोटे-बड़े खरल और भी इसी प्रकार की दस-बीस वस्तुओं की बोतलें एवं पुड़िये उसपर पड़ी हुई मिलेंगी। सम्भव है, प्रयोगशाला में अपनी मेज पर, आपके शब्दोंमें ईंट-पत्थरों के विचार में भूले हुए बैठे पंडितजी, आपकी कल्पना के पंडितजी से सर्वथा भिन्न, कोई धूल-धानि से खिलवाड़ करनेवाला पागल, लगें। आपने तो पृथ्वी के गर्भ में कहाँ क्या-क्या छिपा हुआ है, इसके रहस्य को एक और एक दो की तरह स्पष्ट करनेवाले उनके अति महत्त्वपूर्ण निबन्ध और लेखों के द्वारा उनके पांडित्य के आधार पर उनके व्यक्तित्व की कोई बड़ी सुन्दर कल्पना कर रखी थी। आपने विश्वकर्मा का नाम सुना है, सौन्दर्य की साक्षात् मूर्त्ति उसके निर्मित नगर और भवनों के मनोहर रूप देखे हैं, किन्तु उन ईंट-पत्थरों के टुकड़ों की ओर आपने कभी ध्यान नहीं दिया है, जिन्हें एकत्र करने में बेचारे ने दिन-रात एक कर दिया था, भूख-प्यास और नींद भी उसे हराम हो गई थीं, पैरों में गट्ठे और हाथों में छाले पड़ गये थे। यदि आप एक दर्शक अथवा पाठक की दृष्टि से न देखकर एक कलाकार की आँखों से देखें, तो ईंट-पत्थरों के इस संचय में ही आपको भूगर्भ-शास्त्र के पंडित विश्वकर्मा की कला दिखाई पड़ेगी। ईंट-पत्थरों के रूप में विद्यमान इन उपादानों के विना पंडितजी के महत्त्वपूर्ण निबन्ध और विश्वकर्मा की मनोरम नगरी खड़ी ही कैसे होती! सुवह से शाम तक पुस्तकालय में बैठकर अच्छे-बुरे सभी प्रकार के मुहावरों को बड़े ध्यान से अपनी कॉपी में टाँकते तथा इक्के, ताँगे और रिक्शावालों से बातचीत करते समय नोटबुक पर हाथ जाते ही स्वयं हमारे साथी हँस दिया करते थे। हमारी दृष्टि ही बहुत-कुछ मुहावरान्वेषी हो गई थी। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, कतिपय पुराणों और कुरान एवं बाइबिल से लेकर नित्य-प्रति के गीतापाठ तक में हम मुहावरे खोजने लगते थे। हमारी गीता में नीली स्याही से लगे रेखा-चिह्नों को देखकर एक भाई ने व्यंग्य करते हुए कहा था कि तुम भगवान् के बहाने अपने 'गाइड' की पूजा करते हो, तुम्हें हर जगह अपनी थीसिस के ही ख्वाब दिखाई पड़ते हैं। वास्तव में बात ऐसी ही है भी, और हम तो यहाँ तक कहते हैं कि ऐसी ही होनी भी चाहिए। जबतक हम अर्जुन की तरह अपने लक्ष्य के साथ एकाकार नहीं हो जाते, हम कदापि उसे लक्ष्य-बिन्दु पर नहीं बेध सकते। हमने अबतक लगभग पैंतीस हजार मुहावरे एकत्र किये हैं। हम जानते हैं कि इस प्रबन्ध में हम ३५ हजार मुहावरों का प्रयोग नहीं करेंगे, कर भी नहीं सकते, किन्तु फिर भी इस प्रबन्ध के लिए इस संग्रह का बड़ा महत्त्व है। हमारा यह अध्ययन विधायक या गांधीजी के शब्दों में रचनात्मक अध्ययन है। हमें भूगर्भशास्त्री की तरह इन वाक्य-खंडों के आधार पर भाषा के गर्भ में कहाँ क्या-क्या छिपा है, उसकी खोज करके उसमें छिपे हुए अमूल्य रत्नों की थाह लेनी है। मुहावरों के संग्रह में हमारी दृष्टि और हमारा प्रयत्न आरम्भ से ही रचनात्मक रहा है। इस संग्रह के आधार पर निर्मित थीसिस-रूप हमारा यह भवन विश्वकर्मा की सुन्दर कृति अथवा तद्रूप होगा, ऐसा कहने की धृष्टता हम नहीं कर सकते। हमारा यह प्रबन्ध पूज्य पंडित मदनमोहन मालवीय के उद्दिष्ट मन्दिर की नींव की तरह यदि हमारे बाद आनेवाले जिज्ञासु अन्वेषकों को उसकी पूर्त्ति के लिए प्रेरित कर सका, तो बस है। सन् १९३९ ई० से आजतक ९ वर्ष काम करके भी हम यह नहीं कह सकते, कहना भी नहीं चाहिए कि मुहावरों के अध्ययन की दृष्टि से हमने जो कुछ लिखा है, वह पूर्ण है। हमारा यह प्रयास तो वास्तव में मुहावरों के सर्वांगीण अध्ययन और वैज्ञानिक विश्लेषण के प्रयास का प्रथम प्रयास है।

कुछ दिन की बात है, हमारे एक रिसर्च-स्कॉलर मित्र ने व्यंग्य करते हुए हमारी मेज को कबाड़ी की दूकान कहा था। वास्तव में बात तो ठीक ही कही गई थी, किन्तु फिर भी अपनी बात बनाने के लिए हमने जवाब में कहा—'मुझे अव्यवस्था ही पसन्द है; क्योंकि एक रिसर्च-

स्कॉलर का काम ही अव्यवस्था में व्यवस्था देखना है, मेरी मेज़ व्यवस्थित हो गई, तो मेरा सब काम ही अव्यवास्थित हो जायगा।' हँसी और व्यंग्य में अनायास मुँह से निकला हुआ यह वाक्य ही आज हमें लगता है, हमारी भूमिका के 'उपादानों और उनके उपयोग की पद्धति' इस अन्तिम प्रश्न का उपयुक्त उत्तर है। कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के संबंध से ही व्यवस्थित या अव्यवस्थित कही जाती है, अन्यथा अव्यवस्था का अपना कोई स्वतन्त्र रूप नहीं है। अतएव प्रस्तुत प्रबन्ध की रचना और उसकी आवश्यकताओं की दृष्टि से हमारा अबतक का इतना बड़ा मुहावरा-संग्रह और धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक एवं साहित्यिक विषयों के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन एक प्रकार का अव्यवस्थित संग्रहालय ही है; संग्रहालय इसलिए भी कि उसमें बहुत-सी अप्राप्य और दुष्प्राप्य सामग्री भी संगृहीत है।

इतना सब कुछ संग्रह करने के उपरान्त प्रबन्ध लिखने के लिए हमारी कार्य-पद्धति क्या होगी, इसका उत्तर देने के लिए हम एक बार फिर अपने पाठकों को भूगर्भ-शास्त्र के आचार्यों की कार्य-पद्धति से परिचित करायेंगे। अपनी प्रयोगशाला में एकत्र भिन्न-भिन्न जाति और गुण के पत्थर, मिट्टी और बालू इत्यादि पदार्थों को हाथ में लेने से पूर्व वे लोग देश-विदेश सब जगह की चट्टानों, मरुस्थलों इत्यादि उपर्युक्त समस्त पदार्थों की जन्मभूमियों का भौगोलिक और ऐतिहासिक दृष्टियों से पूर्ण परिचय प्राप्त करके उनके तत्त्व-विवेचन के लिए एक काल्पनिक रूपरेखा बना लेते हैं। इसके उपरान्त ही वे अपनी प्रयोगशाला में बैठकर प्रस्तुत पदार्थों के सूक्ष्म विश्लेषण और वर्गीकरण के द्वारा अपनी कल्पित रूप-रेखा की जाँच करते हुए अपने पाठकों और विद्यार्थियों के लिए सर्वोपयोगी सिद्धान्त स्थिर करते हैं। ठीक इसी प्रकार, हमने अपने उद्दिष्ट विषय को, जैसा पीछे दिखा चुके हैं, आठ भागों में विभाजित करके मुहावरों की प्रकृति और प्रवृत्ति का, उनके विकास और वृद्धि की दृष्टि से. अध्ययन करने के लिए तत्सम्बन्धी अपने बहुमुखी अध्ययन के आधार पर, एक कल्पित रूपरेखा कायम कर ली है। प्रबन्ध के मुख्य भाग में संगृहीत तत्त्वों के वैज्ञानिक विश्लेषण और वर्गीकरण के द्वारा अपनी पूर्व-कल्पना की सतर्कतापूर्ण परीक्षा करके अब हम मुहावरों के विशेष अध्ययन के लिए आवश्यक सिद्धान्त स्थिर करेंगे। संक्षेप में, अब हमें प्रत्येक वस्तु की जाति, गुण और स्वभाव के क्रम से उसका स्थान नियत करके अपने अव्यवस्थित संग्रहालय को व्यवस्थित प्रबन्ध का रूप देना है।

—ओमप्रकाश गुप्त

संकेत

एल० आर०	...	लैंग्वेज एण्ड रियलिटी
डब्ल्यू० आई०	...	वर्ड्स एण्ड ईडियम्स
अ० हि०	...	अच्छी हिन्दी
अ० भा०	...	अरब और भारत का सम्बन्ध
स० द०	...	साहित्य-दर्पण : पी० बी० काणे की भूमिका
हि० की पु० स०	...	हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता
हि० मु०	...	हिन्दी मुहावरे
व्य०	...	व्याकरण
का० गु०	...	कामताप्रसाद गुरू
फा०	...	फारसी
सं०	...	संस्कृत

विषय-सूची

मुहावरा-मीमांसा

पहला विचार

मुहावरा-परिचय

शरदिन्दुसुन्दररुचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी।
अपहृत्य तमः सन्ततमर्थानखिलान्प्रकाशयतु॥
चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
"वाग्योगादेव"[1] यतः तत्स्वरूपं निरूप्यते॥[2]

अपने इस कार्य की निर्विघ्न पूर्णसिद्धि के लिए हम सर्वप्रथम 'शरदिन्दु सुन्दररुचि वाग्देवी' की आराधना करके आनन्द, कीर्त्ति, ज्ञान और समाज-सेवा-रूपी चारों फलों को सहज-भाव से देनेवाले वाग्योग, अर्थात् मुहावरे के स्वरूप का निरूपण करते हैं।

मुहावरे का महत्त्व—"एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके च काम-धुग्भवति।" 'सुप्रयुक्त शब्द' अकेला ही इस लोक और परलोक दोनों में इच्छित फल को देनेवाला होता है। इस कथन की और भी पुष्टि इस अतिप्राचीन श्लोक से हो जाती है—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे,
शब्दान् यथावद्व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र,
वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥

जो कुशल व्यक्ति (व्यवहारकुशल वक्ता)-विशेष व्यवहार-काल में शब्दों का (शब्द, वाक्यांश, खंडवाक्य, महावाक्य इत्यादि का) ठीक-ठीक प्रयोग करता है; उसे अनन्त जय-प्राप्ति होती है; इसके विरुद्ध वाग्योगविद् (इष्ट प्रयोग अथवा मुहावरों के जाननेवाले) को अपशब्दों से—जो सुप्रयुक्त शब्द नहीं हैं, उनसे—परलोक, दिव्यलोक अथवा हृदयलोक में दोष लगता है। वेद के ऋषियों ने इसी 'सुप्रयुक्त शब्द' को 'वाग्योग' संज्ञा देकर, इसके प्रयोग से क्या लाभ होता है, इसके साथ ही इसके (वाग्योग के) स्थान में अपशब्द—बेमुहावरा शब्द—के प्रयोग से वाग्योग-विद् को जो दोष लगता है, उसे भी स्पष्ट करके मुहावरे के महत्त्व में और भी चार चाँद लगा दिये हैं।

'पाहन पूजे हरि मिलै तो मैं पूजूँ पहाड़'—कबीर की यह उक्ति कर्मकाण्ड के क्षेत्र में जितनी सार्थक है, भाषा के क्षेत्र में भी उतनी ही सारगर्भित और महत्त्वपूर्ण है। भाषा ही वाग्देवी की साकार मूर्त्ति है। किन्तु, मूर्त्तिपूजा से पहले पत्थर और मूर्त्ति में क्या अन्तर है—यह समझ लेना चाहिए। एक कलाकार की कला-भवन में रखी हुई सुन्दर-से-सुन्दर मूर्त्ति भी उस समय तक पत्थर ही रहती है जबतक किसी सिद्ध के द्वारा प्रेम-पूर्वक उसकी प्राण-प्रतिष्ठा करके उसमें अपने इष्टदेव की शक्ति का आह्वान नहीं किया जाता। वाग्देवी की पूजा करनेवाले वाग्योगविदों को इसलिए कबीर की इस चेतावनी से लाभ उठाना चाहिए। वाक्सिद्धि के लिए प्रत्येक साधक को अपनी भाषा में मुहावरा-रूपी उसकी (वाग्देवी की) मूल शक्ति का आह्वान करना अनिवार्य है। व्यवहार-

१. 'वाग्योगादेव' मुहावरों पर घटाने के लिए हमने जोड़ा है।
२. साहित्य-दर्पण : परिच्छेद १, श्लोक १—२।

कुशल व्यक्तियों ने इसीलिए मुहावरों को भाषा का प्राण अथवा उसकी आत्मा कहा है। स्वयं वाग्देवी किसी साधक पर प्रसन्न होकर अपनी मूल शक्ति का निरूपण करते हुए कहती हैं—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुतविश्वदेवैः,
अहं मित्रावरुणो भाविभर्म्यहमिन्द्राग्नीअहमश्विनोभा।
× ×
अहमेवस्वयमिदं वदामि, जुष्टंदेवेभिरुतमानुषेभिः।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम॥
× ×
अहमेव वात इव प्रवाम्यारभवाण भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यै तावती महिना संबभूव।

(८ वागाम्भृणी, आत्मा, त्रिष्टुप २...ऋग्वेद मं० ११, सू० १२५)

मैं रुद्रों के साथ विचरती हूँ, वसुओं के साथ घूमती हूँ, आदित्यों और विश्वदेवों के साथ विहार करती हूँ। मैं मित्र और वरुण दोनों का भरण-पोषण करती हूँ। मैं ही इन्द्र, अग्नि और दोनों अश्विनीकुमारों को पालती हूँ······इत्यादि-इत्यादि।

मैं स्वयं यह कहती हूँ कि कोई ऐसा नहीं जो मेरी सेवा नहीं करता। मैं जिस-जिसको चाहती हूँ, बड़ा बना देती हूँ। किसी को ब्रह्मा (कर्त्ता और कवि), किसी को ऋषि (द्रष्टा) और किसी को मेधावान् (चतुर भावक)······इत्यादि-इत्यादि।

मैं ही वायु के समान वेग से बहा करती हूँ, अखिल भुवनों को छूकर प्राणदान किया करती हूँ। आकाश के उस पार से लेकर पृथ्वी के इस पार तक मैं रहती हूँ। अपनी महिमा से मैं इतनी बड़ी (अर्थात् विविधरूपा) हो गई हूँ।

बृहस्पतिरांगिरस इत्यादि ऋग्वेद के और भी कितने ही स्थलों पर इसके महत्त्व का अति सुन्दर और विशद विवेचन मिलता है। वास्तव में मुहावरों में, एक प्रकार की संजीवनी शक्ति होती है, जो जनाब हाली साहब के शब्दों में 'मुहावरा अगर उम्दा तौर से बाँधा जाय, तो बिला शुबहा (निस्सन्देह) पस्त शेर को बलन्द और बलन्द को बलन्दतर कर देता है।'—निकृष्ट आशय को उत्कृष्ट और उत्कृष्ट को उत्कृष्टतर कर देता है। 'बिहारी सतसई' के दोहों के विषय में कही हुई उस प्रसिद्ध उक्ति में थोड़ा-बहुत हेर-फेर करके यदि यों कहें—

भाषा माँहि मुहावरे, ज्यों नाविक के तीर।
बाहर से छोटे लगें, घाव करें गम्भीर॥

तो मुहावरों के महत्त्व और उनकी शक्ति का पर्याप्त परिचय मिल सकता है। कभी-कभी तो केवल एक शब्द के आकारवाले मुहावरों में भी सृष्टि की रचना और संहार दोनों की शक्ति भरी रहती है। अरबी का एक शब्द 'कुन' है, जिसका अभिधेयार्थ है—'हो जा' या 'हो'; किन्तु मुहावरे के अनुसार इसका अर्थ विना कुछ किये, बात-की-बात में, होठ हिलाने-मात्र से, कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर देना, लिया जाता है। लोगत किश्वरी के पृष्ठ ३६०, प्रथम स्तम्भ में इस शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया है—

"कुन—(अरबी शब्द) सीग़ा अमर का है—बमानी हो जा या हो और इशारा है तरफ़, हुक्म हक़ शुभानहू, जल शानहू के जो जो रोजे अजल में मौजूदाद के पैदा होने के बाब में हुआ था।"

मुसलमानों का विश्वास है कि महाप्रलय के बाद जब सर्वप्रथम सृष्टि की रचना हुई तो अल्लाह पाक ने 'कुन' कहा और सृष्टि की रचना हो गई। इसी प्रकार मुहम्मद गोरी की जेल में पड़े हुए

पृथ्वीराज को चन्दबरदाई के–'मत चूके चौहान' इस छोटे से-वाक्यांश से जो शक्ति मिली, इतिहास के विद्यार्थी अच्छी तरह जानते हैं। इधर चन्द का यह मुहावरा-मन्त्र उसके कान में पड़ा और उधर मुहम्मद गोरी का सिर जमीन पर नाचने लगा। मुहावरों में सचमुच एक अनोखी विद्युत्-शक्ति ओत-प्रोत रहती है। वे जहाँ एक ओर प्रेम से भी कोमल और अमृत से भी मधुर होते हैं, वहाँ दूसरी ओर विष से भी कटु और परमाणु बम से भी कहीं अधिक भयंकर होते हैं। मुहावरों की महिमा का स्मरण करते ही 'प्रसाद' की ये पंक्तियाँ मानो साकार होकर हमारे सामने आ जाती हैं—

> शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
> विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय,
> समन्वय, उसका करे समस्त
> विजयिनी मानवता हो जाय।[1]

जितना ही इन पंक्तियों पर हम विचार करते हैं, हमें लगता है 'प्रसाद' की दिवंगत आत्मा मुहावरों के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए हमें, मुहावरों की शक्ति के निरुपाय होकर व्यस्त और बिकल बिखरे हुए विद्युत्कणों को एकत्र करके, उन्हें व्यवस्थित और संगठित करने का आदेश दे रही है। अतएव एक बार फिर हम अपनी आराध्या वाग्देवी से प्रार्थना करते हैं कि वह हमें स्वर्गीय आचार्य 'प्रसाद' के आदर्श का पालन करने की शक्ति दें। हम एफ्० डब्ल्यू० फरार के शब्दों में 'मुहावरों में जगमगाती हुई दिव्यज्योति को इन पार्थिव चक्षुओं के लिए सुलभ कर सकें।[2]'

उच्चारण और वर्ण-विन्यास

मुहावरे से हमारा क्या अभिप्राय है, उसकी परिभाषा उसकी अर्थ-व्यापकता, रोजमर्रा से उसका सम्बन्ध इत्यादि उसके भिन्न-भिन्न पक्षों पर विचार करने के पूर्व 'मुहावरा' शब्द के लिखित एवं उच्चरित रूप का संक्षिप्त विवेचन करके उसका कोई एक उच्चारण नियत कर लेना अति आवश्यक है। 'मुहावरा' अरबी भाषा का शब्द है। अरबी की अपनी एक विशेष लिपि है। यही अरबी-लिपि कुछ परिवर्त्तनों के साथ फारसी में आई और फिर अरब और फ़ारस से भारतवर्ष का व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होने के उपरान्त कदाचित् कतिपय भारतीयों का इससे परिचय हुआ। यही परिचय, मुसलमानों के यहाँ आकर राज्य-स्थापित कर लेने और राजकाज में प्रायः फारसी का चलन होने के उपरान्त व्यापक अभ्यास में परिवर्त्तित हो गया। हिन्दी भी प्रायः इस लिपि में लिखी जाने लगी। कहना न होगा कि फ़ारसी-लिपि में लिखी हुई हिन्दी का नाम ही बाद में उर्दू हो गया। मुहावरे ने कब इसपर अपनी मुहर लगाई अथवा कब से यह हिन्दी की एक शैली और विभाषा न रहकर उसकी प्रतिद्वन्द्वी बन गई, इसकी चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे। उर्दू आज एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में हमारे सामने है। अरबी-लिपि में लिखी हुई इस भाषा का अरबी और फारसी से गहरा गठबन्धन देखकर ही कदाचित् कुछ विद्वानों ने 'मुहावरा' शब्द को उर्दू शब्द कहकर सन्तोष मान लिया है। यह शब्द अरबी का है या उर्दू का, इस बहस से हमारा कोई मतलब नहीं। हमें तो केवल इतना देखना है कि मूल-भाषा में इसका उच्चारण क्या था। प्रसिद्ध कोषकारों, वैयाकरणों

---

१. कामायिनी, पृष्ठ ४५.

2. "Divine spark which glows in all idioms even the most imperfect and uncultivated."

—The origin of Language, page 20–21 by W. F. Farrar, M. A.

और सुलेखकों ने जो भिन्न-भिन्न ढंग से इसे लिखा है, उसमें दोष उनका नहीं है, दोष तो अरबी-लिपि की खूबियों का है, जो मुहावरे की इतनी गुलाम हो गई है कि अगर आपको मुहावरा नहीं है अथवा जिस शब्द को आप पढ़ रहे हैं, उसके सही उच्चारण का पूर्वज्ञान नहीं है, तो बड़ी आसानी से एक ही शब्द 'इधर' को उधर, अधर, अधुर, उधुर इत्यादि पढ़कर बड़ी नेकनीयती और ईमानदारी के साथ मिनटों में इधर-उधर कर सकते हैं। नागरी-लिपि के विपरीत अरबी-लिपि में (ह्रस्व) मूल स्वर के लिए स्वतन्त्र अक्षर नहीं हैं, कुछ संकेत हैं जो लिखने में प्रायः पढ़नेवालों के मुहावरे पर छोड़ दिये जाते हैं। अरबी-लिपि अत्यन्त दोषपूर्ण है, हम यह मानते हैं; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि 'इधर' को एक बार गलती से—लिपि की गलती से ही सही—'उधर' या 'अधर' पढ़ लिया, तो बाद में कभी यह भूल सुधारी न जाय। 'मुहावरा' शब्द आज 'महाविरा', 'महावरा', 'मुहावरा', 'मुहाविरा', 'मुहव्वरा' और 'मुहावुरा' एवं 'महावुरा' इत्यादि भिन्न-भिन्न ढंगों से लिखा हुआ मिलता है। हम मानते हैं 'मुहावरा' शब्द की इस बेमुहावरा छीछालेदर का बहुत-कुछ कारण अरबी-लिपि में लिखनेवालों की मुहावरेदारी ही है। ह्रस्व (स्वर) के संकेत-चिह्नों की सर्वथा उपेक्षा करके लिखने-पढ़ने का उन्हें मुहावरा है। उन्होंने यदि मीम पर पेश और वाव पर जबर लगाये बिना 'मुहावरा' शब्द लिख दिया तो कोई गुनाह नहीं किया, यह तो उनका रोजमर्रा का मुहावरा है। गुनाह तो वास्तव में उन लोगों का है, जो उनकी मुहावरेदारी को समझे बिना ही उनके शब्द लेकर उन्हें तोड़ते-मरोड़ते हैं। हिन्दी-विद्वानों का यह गुनाह इसलिए और भी गम्भीर है कि वे जानते थे कि 'मुहावरा' शब्द अरबी का है। उन्हें चाहिए था 'मुहावरा' पर कुछ भी लिखने से पूर्व अरबी का कोई भी कोष उठाकर उसके सही उच्चारण का ज्ञान प्राप्त कर लेते। मामूली-से-मामूली उर्दू-कोषों में भी उच्चारण की सुगमता के लिए जेर, जबर और पेश इत्यादि सम्पूर्ण संकेत-चिह्नों की पूरी पाबन्दी की जाती है, फिर अरबी के कोषों की तो बात ही क्या है। विदेशी भाषाओं से लिये हुए शब्दों के केवल मुख-सुख की दृष्टि से किये हुए विकृत उच्चारण किसी हद तक सहन किये जा सकते हैं, अन्यथा विकृत करने का जबतक कोई तर्कपूर्ण कारण नहीं बताया जाता, केवल आलस्य और प्रमाद के लिए ऐसे लेखकों को क्षमा नहीं किया जा सकता। हम जानते हैं, जेर, जबर और पेश इत्यादि की पूरी पाबन्दी होते हुए भी अरबी-लिपि में लिखे हुए कितने ही शब्द पहले से मुहावरा न होने पर ठीक-ठीक नहीं पढ़े जा सकते; किन्तु अरबी के हरेक शब्द में यह दलील काम नहीं दे सकती और फिर 'मुहावरा' शब्द में तो किसी प्रकार की कोई पेचीदगी ही नहीं है, मीम पर पेश और वाव पर जबर होते हुए 'मुहावरा' के सिवा उसका कोई अन्य उच्चारण सम्भव ही नहीं है। पण्डित केशवराम भट्ट ने, पता नहीं, 'वाव' के ऊपर लगे हुए जबर को 'तशदीद' समझकर ही अपने व्याकरण में 'मुहावरा' को 'मुहव्वरा' करके लिखा है या 'वाव' को दबाकर बोलनेवाले किसी जाट के मुँह से सुनकर 'मुहावरा' के 'वाव' का गला दबा दिया है। कुछ भी हो, यह दोष अक्षम्य है। 'मुहावरा' का मुहावरा ही युक्तियुक्त और न्यायपूर्ण उच्चारण है। उसे 'महावरा', 'महाविरा', 'मुहाविरा' अथवा 'मुहाव्वरा' लिखना या पढ़ना अपनी अयोग्यता और अज्ञान के साथ ही हिन्दी और हिन्दी-प्रेमियों पर लगाई हुई असहिष्णुता की तोहमत पर स्वीकृति की मुहर लगा देना है।

मुहावरे के लक्षण

'मुहावरा' अरबी शब्द है। यह 'हौर' शब्द से बना है, गयासुल्लुगात में (पृष्ठ ४४५) इस शब्द के विषय में यह लिखा गया है—

(अ) **"मुहावरा बिज़्ज़म मीम, वक़तेह, वाव्, वायक़, दीगर कलाम क़रदन व पासुख़दादन यक दीगर—अज़ से राह वक़न्ज़ वग़ैर आं।"**

(आ) लोग़ात किश्वरी के पृष्ठ ४३६, स्तम्भ २ में 'शब्द' 'मुहावरा' के 'मीम' पर पेश और 'वाव' पर जबर लगा है। अर्थ भी ग़यासुल्लुग़ात का बिलकुल हिन्दी-अनुवाद ही समझना चाहिए। वह लिखते हैं—मुहावरे का अर्थ है आपस में कलाम (बातचीत) करना, एक-दूसरे को जवाब देना, गुफ़्तगू (बातचीत)।

(इ) 'फरहंग आसफ़िया', जिल्द चहारुम, पृष्ठ ३०३, स्तम्भ १ में 'मुहावरा' के विषय में यह लिखा गया है—

"मुहावरा इस्म मुज़क्कर (संज्ञा, पुल्लिंग), (१) हम कलामी, बाहम गुफ़्तगू, सवाल जवाब (२) इस्तिलाह आम, रोजमर्रा, वह कलमा या कलाम जिसे चन्द सक़ात (विश्वासपात्र) ने लग़वी मानी कि मुनासिबत या ग़ैरमुनासिबत से किसी ख़ास मानी के वास्ते मुख़्तस (रूढ़) कर लिया हो। जैसे 'हैवान' से कुल जानदार मकसूद (अभिप्रेत) है; मगर मुहावरे में ग़ैरज़ीउल-अक़्ल (बुद्धिहीन) पर उसका इतलाक़ (प्रयोग) होता है। और ज़ीउल-अक़्ल (बुद्धिमान) को इन्सान कहते हैं। (३) आदत, चस्का, महारत (कुशलता), मश्क़ (अभ्यास), रब्त,—जैसे मुझे अब इस बात का मुहावरा नहीं रहा।"

(ई) हिन्दी-विश्वकोष में 'मुहावरा' का अर्थ इस प्रकार दिया है—"मुहावरा—संज्ञा पुं० (१) लक्षणा या व्यञ्जना द्वारा सिद्ध वाक्य या प्रयोग, जो किसी एक ही बोली या लिखी जानेवाली भाषा में प्रचलित हो और जिसका अर्थ प्रत्यक्ष से विलक्षण हो। जैसे—'लाठी खाना' (२) अभ्यास, आदत।"

हिन्दी-शब्द-सागर' (पृष्ठ २७६३) में 'हिन्दी-विश्व-कोष' के अर्थ को लेकर ही कुछ विस्तार से समझाने का प्रयत्न किया गया है—

(उ) "मुहावरा संज्ञा पु०—(१) लक्षणा या व्यञ्जना द्वारा सिद्ध वाक्य या प्रयोग जो किसी एक ही बोली अथवा लिखी जानेवाली भाषा में प्रचलित हो और जिसका अर्थ प्रत्यक्ष (अभिधेय) अर्थ से विलक्षण हो। किसी एक भाषा में दिखाई पड़नेवाली असाधारण शब्द-योजना अथवा प्रयोग। जैसे—'लाठी खाना' मुहावरा है; क्योंकि इसमें 'खाना' शब्द अपने साधारण अर्थ में नहीं आया है, लाक्षणिक अर्थ में आया है। लाठी खाने की चीज नहीं है, पर बोल-चाल में 'लाठी खाना' का अर्थ 'लाठी का प्रहार सहना' किया जाता है। इसी प्रकार 'गुलखिलना', 'घर करना', 'चमड़ा खींचना', 'चिकनी-चुपड़ी बातें' आदि मुहावरे के अन्तर्गत हैं। कुछ लोग इसे रोजमर्रा या बोलचाल भी कहते हैं। (२) अभ्यास, आदत, जैसे—आजकल मेरा लिखने का मुहावरा छूट गया।"[1]

हिन्दी, उर्दू और अरबी एवं फ़ारसी के अन्य कोषों में भी मुहावरे का बिल्कुल यही अर्थ मिलता है। अतएव हिन्दी, उर्दू और अरबी-फ़ारसी के उपरान्त अब अँगरेजी वाङ्मय का प्रश्न रह जाता है। आज न केवल हमारे साहित्य पर, वरन् हमारे समस्त जीवन और जीवन के समस्त व्यापारों पर भी अँगरेजों और अँगरेजी की गहरी छाप है। हमारे कितने ही उच्चतम कोटि के अति प्रतिभाशाली समालोचक और साहित्यकार भी जब अँगरेजी में सोचकर हिन्दी में लिखने के आदी हैं, तो अँगरेजी की सर्वथा उपेक्षा करके हम अपने उद्दिष्ट विषय और उसके पाठकों के साथ न्याय नहीं कर सकते। अँगरेजी में मुहावरे के लिए 'इडियम' (Idiom) शब्द का प्रयोग होता है। अँगरेजी में यह शब्द लैटिन और फ्रेंच में होता हुआ ग्रीक-भाषा से आया है। सोलहवीं शताब्दी में ग्रीक

१. बोलचाल की भूमिका, पृष्ठ—११५।

शब्द 'ईडियोमा' (ιδιωμα) से लैटिन में (Idioma) ईडियोमा और लैटिन से फ्रेंच में इडियोटिजमी (Idiotisme) और ईडियोसी (Idiocy) और तदुपरान्त सतरहवीं शताब्दी में फ्रेञ्च से ईडियोटिज्म (Idiotism) के रूप में वही शब्द अँगरेज़ी में आया। व्युत्पत्ति की दृष्टि से चूँकि यह शब्द (Idiotism) मूढ़ता की ओर संकेत करता है, और फिर चूँकि 'ईडियट' (Idiot) शब्द से सम्बन्धित होने के नाते ईडियोसी (Idiocy) की ध्वनि भी इससे निकलती है। अब अँगरेजी में इस शब्द का प्रायः लोप होकर इसके स्थान में सर्वत्र 'ईडियम' (Idiom) का प्रयोग होने लगा है। श्री जी० पी० मार्श ने इन दोनों शब्दों (Idiotism and Idiom) की तुलनात्मक विवेचना करके ईडियम के प्रचलन को और भी सर्वग्राह्य और सर्वव्यापक बना दिया है। इटालियन और स्पेनिश भाषाओं में भी इसी के कुछ विकृत रूप ईडियोमा (Idioma) और ईडियोटिज्मों (Idiotismo) आते हैं। अँगरेजी के आज प्रायः जितने भी छोटे-बड़े कोष उपलब्ध हैं, सबने 'ईडियम' शब्द को ही प्रधानता दी है। इसका अर्थ है बहुत पहले, सतरहवीं शताब्दी में ही, कदाचित् 'ईडियोटिज्म' के स्थान में 'ईडियम' शब्द मुहावरे में आ चुका था। अब अर्थ अथवा लक्षणों की दृष्टि से हम कुछ चुने हुए प्रसिद्ध कोषों को लेकर इस शब्द (Idiom) पर विचार करेंगे—

(अ) ईडियम-(१) शब्दों, व्याकरण-सम्बन्धी रचनाओं, वाक्य-रचनाओं इत्यादि में वर्णन का वह ढङ्ग जो किसी भाषा के लिए विशिष्ट हो, (२) कभी-कभी किसी विशेष भाषा की विचित्रता भी, (३) एक विभाषा (ग्रीक इडियोमा, कोई विचित्र और व्यक्तिगत चीज)।[1]

—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका; वाल्यूम १२, पृष्ठ ७०।

१. 'किसी जाति-विशेष अथवा प्रान्त या समाज-विशेष की भाषा या बोली।

२. किसी भाषा की व्याकरण-सम्बन्धी शैली अथवा वाक्य-विन्यास का विशेष स्वरूप, भाषा का विशेष लक्षण अथवा उसका ढाँचा।
'किसी भाषा के उन साधारण नियमों का समाहार, जो उस भाषा की व्याकरण-सम्बन्धी शैली की विशेषता दिखलाता और दूसरी भाषाओं से उसे अलग करता है।'—जी० पी० मार्श

३ (अ) किसी भाषा के विशेष ढाँचे में ढला वाक्य।
(ब) वह वाक्य जिसकी व्याकरण-सम्बन्धी रचना उसी के लिए विशिष्ट हो और जिसका अर्थ उसकी साधारण शब्द-योजना से न निकल सके।

४. किसी एक लेखक की व्यञ्जना-शैली का विशेष रूप अथवा वाग्वैचित्र्य; जैसे—ब्राउनिंग (Browning) के दुरूह मुहावरे।

५. पुरुष विशेष का स्वभाव-वैचित्र्य।[2]'

--इंटरनेशनल डिक्शनरी : पृ० १०६७ (वेबस्टर)

(ई) 'मुहावरा या ईडियम, लैटिन ईडियोमा, ग्रीक ιδιωμα अपना व्यक्तिगत, विचित्र (१) किसी जाति अथवा देश के लिए विशिष्ट बोलचाल का ढङ्ग। एक विभाषा १५९८। (२) ईडियोटिज्म। (३) वर्णन, रचना और बोलने इत्यादि का वह ढङ्ग

१—Idiom-A form of expression in words, grammatical construction, phraseology etc., which is peculiar to a language, sometimes also a variety of a particular language a dialect (Gr. ιδιωμα, something peculiar and personal).

२. वेबूस्टर साहब का अनुवाद श्री अयोध्यासिंह जी उपाध्याय 'हरिऔध' का किया हुआ है। इसलिए उसे प्रामाणिक समझकर मूल नहीं दिया है। देखें—बोलचाल की भूमिका, पृष्ठ—११४-१५।

जो किसी भाषा के लिए रूढ़ हो; वह व्यवहारसिद्ध वाक्य-रचना की विचित्रता, जो प्रायः अपने व्याकरण और तर्क शास्त्र से भिन्न अर्थ दे। (४) विशिष्ट रूप या गुण, विचित्र स्वभाव, विचित्रता।

"हरेक भाषा में उसके अपने कुछ मुहावरे और लौकिक वाक्यांश होते हैं [1]"—होवेल
—शार्टर आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी, वाल्यूम [1]।

(ए) जे० ई० वारसेस्टर (Worcester) अपनी 'डिक्शनरी आफ द इंगलिश लैंगुएज,' भाग प्रथम के पृष्ठ ७१३ पर लिखते हैं—

"मुहावरा या ईडियम, फ्रेंच ईडियोमी (१) सार्वलौकिक व्याकरण अथवा भाषा के प्रचलित नियमों के व्यवहार से सर्वथा बाहर और किसी एक बोली के स्वभाव से बँधा हुआ बोलने अथवा लिखने का ढङ्ग, किसी भाषा के लिए विशिष्ट वर्णन-शैली। (२) किसी भाषा का विचित्र स्वभाव या रुझान। (३) एक विभाषा अथवा भाषा की विचित्रता।[2]
—ब्रेण्डे (Brande)।

(ऐ) श्री रिचर्डसन् ने अपनी 'न्यू इंगलिश डिक्शनरी', वाल्यूम प्रथम में दे दिया है—"किसी भाषा में बोली का वह विशेष गुण अथवा किसी विशेष भाषा के लिए बोली का वह गुण जो उस भाषा के व्याकरण-सम्बन्धी प्रचलित नियमों से न बाँधा जा सके।"[3]

(ओ) 'इम्पीरियल डिक्शनरी' के पृष्ठ ५५५ पर 'मुहावरा' या ईडियम का कुछ अधिक विस्तार से इस प्रकार विवेचन किया गया है—

मुहावरा या ईडियम : किसी भाषा की विशेष अभिधान-रीति, अभिधान अथवा पद-योजना की विशेषता, कोई वाक्यखंड जिसपर किसी भाषा या लेखक के प्रयोग की छाप हो और उसका भाव ऐसा हो जो व्युत्पत्ति, लक्ष्य अथवा युक्त अर्थ से विलक्षण हो।

---

१. Idiom (ad. L. idioma, Gr. ἰδίωμα own, private, peculiar)

I. The form of speech peculiar to a people or country, b. a dialect 1598.

2. Idiotism. 3. A form of expression, construction, phrase etc. peculiar to a language; a peculiarity of phraseology approved by usage and often having a meaning other than its grammatical or logical one (1628).

Specific form or property, peculiar nature, peculiarity. "Every speech hath certain idioms and customary phrases of its own".—*Howell*

२. Idiom—(Fr. idoime)

1. A mode of speaking or writing foreign from the usages of universal grammar or the general laws of language, and restricted to the genius of some individual tongue; a mode of expression peculiar to a language-*Brande*

2. The peculiar cast or genius of a language,

3. A dialect or variety of language.

३. Idiom may be explained—A peculiar propriety of speech in a particular language or a propriety of speech to a particular language, not reduced within the general rules of the grammar of that language.

२. किसी भाषा का विशेष अथवा विचित्र रुझान।
३. विभाषा, भाषा की विचित्र शैली अथवा भेद।[१]

(औ) **सर जेम्स मरे (Murray) ने अपनी 'न्यू इंगलिश डिक्शनरी' के वाल्यूम ५, पृष्ठ २०-२१ पर अपने पूर्ववर्ती समस्त विद्वानों के मत का निचोड़ देते हुए मुहावरा अथवा ईडियम का इस प्रकार विवेचन किया है—**

"मुहावरा अथवा ईडियम—(१) किसी जाति अथवा देश का विचित्र अथवा अपना निजी स्वाभाविक बोलचाल का ढंग;
अपनी व्यक्तिगत भाषा अथवा बोली;
संकुचित अर्थ में, किसी विशिष्ट प्रदेश अथवा सम्प्रदाय का असाधारण वाग्वैचित्र्य।
(२) किसी भाषा का विशिष्ट लक्षण, गुण अथवा स्वभाव, उसकी स्वाभाविक अथवा विलक्षण अभिधान-रीति;
(३) किसी भाषा के लिए विलक्षण अभिधान-रीति।"[२]
व्याकरण-सम्बन्धी रचना अथवा वाक्य-रचना इत्यादि।

भिन्न-भिन्न कोषकारों के मत जान लेने के उपरान्त इस विषय के विशेषज्ञ श्री एच० डब्ल्यू० फाउलर (Fowler), पंडित रामदहिन मिश्र प्रभृति विद्वानों द्वारा प्रतिपादित मुहावरे के लक्षणों पर भी एक दृष्टि डाल लेना परमावश्यक है।

(अं) **श्री फाउलर अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'माडर्न इंगलिश यूसेज़ेज़' (Modern English Usages) में मुहावरे पर दिये हुए प्रायः समस्त कोषकारों के मत का निचोड़ देकर बड़े सुन्दर ढङ्ग से विधायक आलोचना करते हुए इस प्रकार लिखते हैं—**

"ग्रीक शब्द ईडियोमा (ιδιωμα) का सबसे अधिक निकट सम्बन्धी अनुवाद 'विलक्षणता-प्रकाश' है। वाणी के क्षेत्र में उसका अर्थ, राष्ट्र के लिए राष्ट्रभाषा की विलक्षणता, प्रदेश के लिए प्रादेशिक विभाषा की विलक्षणता, व्यवसायियों के लिए उनके व्यवसाय से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दावली की विलक्षणता इत्यादि-इत्यादि लिया जा सकता है। इस पुस्तक में 'मुहावरा' से हमारा अभिप्राय अभिधान की उस शैली से है, जिसने, आदर्श व्याकरण जैसी यदि कोई वस्तु है तो प्रस्तुत मत को प्रकट करने के लिए उसके नियमों से अनुशासित दूसरी वर्णन शैलियों की तुलना में अपनी एक विशिष्ट धारा स्थापित कर ली है, जो अँगरेज जनता को रुचिकर है और अनुमानतः इसीलिए

---

१. Idiom—(1) A mode of expression peculiar to a language, peculiarity of expression or phraseology, a phrase stamped by the usage of a language or of a writer with a signification other than its grammatical or logical one, (2) The genius or peculiar cast of a language. (3) Dialect, peculiar form or variety of language.

२. Idiom : 1. The form of speech peculiar or proper to a people or country; own language or tongue.
(b) in narrower sense; the variety of a language which is peculiar to a limited district or class of people, dialect.
2. The specific character, property or genius of any language, the manner of expression which is natural or peculiar to it,
3. A form of expression, grammatical construction, phrase etc. peculiar to a language,

उनकी स्वाभाविक विशेषता बन गई है। मुहावरा, ऐसी समस्त वर्णन-शैलियों का समुच्चय है, अतएव स्वाभाविक, ओजस्वी अथवा अविकृत अँगरेजी का समकक्षी है। एक साधारण स्थिति के अँगरेज के लिए जो कुछ बोलना या लिखना स्वाभाविक हो, वही मुहावरा या मुहावरेदारी है—यह कहना या मानना कि व्याकरणशुद्ध अँगरेजी या तो सर्वथा मुहावरेदार है अथवा नितान्त बेमुहावरा है, सत्य से उतना ही दूर हटना होगा जितना यह कहना कि मुहावरेदार अँगरेजी या तो सर्वथा व्याकरणशुद्ध है अथवा नितान्त व्याकरणविरुद्ध। व्याकरण और मुहावरा दो स्वतन्त्र समान वर्ग हैं; किन्तु एक ही प्रसङ्ग में दोनों लागू हो सकते हैं। इसलिए उसके विशिष्ट नमूनों में वे कहीं कहीं मेल खाते हैं और कहीं-कहीं भिन्न रहते हैं। अधिक-से-अधिक इतना कहा जा सकता है कि जो (वर्णन) मुहावरेदार या बामुहावरा है, वह व्याकरणविरुद्ध होने से कहीं अधिक व्याकरणशुद्ध है; किन्तु वैसा भी कह सकते हैं; क्योंकि व्याकरण और मुहावरा प्रायः बेमेल समझे जाते हैं, सच तो यह है कि वे दोनों पृथक् हैं, किन्तु प्रायः मित्र-भाव से रहते हैं।

(अ) **पण्डित रामदहिन मिश्र ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी मुहावरे' में 'मुहावरे' के सम्बन्ध में प्रचलित लगभग सभी मतमतान्तरों को देकर एक प्रकार से पाश्चात्य और प्राच्य कोषकारों तथा अन्य समीक्षकों के तत्सम्बन्धी अध्ययन का सार ले लिया है। उन्होंने मुहावरे के मुख्य-मुख्य बारह लक्षण बताये हैं, जो इस प्रकार हैं–**

१. कितने ठीक-ठीक लेख-शैली वा बोलने के ढङ्ग को मुहावरा मानते हैं, जैसे—जड़ाऊ के तरह-तरह के गहने। यहाँ 'तरह-तरह के जड़ाऊ गहने' लिखना बामुहावरा है।

२. कोई-कोई व्याकरणविरुद्ध होने पर भी सुलेखक के लिखे होने के कारण किसी-किसी शब्द और वाक्य को बामुहावरा बतलाते हैं। जैसे—'उपरोक्त' (उपर्युक्त) 'सराहनीय' (श्लाघनीय, प्रशंसनीय), 'सत्यानाश' (सत्तानाश, सर्वनाश)। हम जब घर गये तब (हमने) लड़के को बीमार देखा।

३. कोई-कोई कहावत को ही मुहावरा कहते हैं, जैसे—'नौ नगद न तेरह उधार', 'नौ की लकड़ी नब्बे खर्च' आदि।

४. कोई-कोई विलक्षण अर्थ प्रकाशित करनेवाले वाक्य को ही मुहावरा कहते हैं। जैसे—'बाल की खाल निकालना', 'दाँतों में तिनका दबाना', 'आठ-आठ आँसू रोना' आदि।

५. कितने भंगी-पूर्वक अर्थ-प्रकाशन के ढंग को ही मुहावरा मानते हैं। जैसे—'फारसी भाषा के कवियों ने इस नई भाषा को शाहजहानी बाजार में अनवस्था में इधर-उधर फिरते देखा। उन्हें इसकी भोली सूरत बहुत पसन्द आई, वह उसे अपने-अपने घर ले गये।'

६. बहुतों ने शब्द या वाक्य को भिन्नार्थ-बोधक होने से ही मुहावरा माना है। जैसे—'आँख' (उससे जब लड़के को बोध होता है) यह अन्याय कबतक चलेगा अर्थात् अन्याय को सदा प्रश्रय नहीं मिलेगा।

७. कोई-कोई आलंकारिक भाषा को ही मुहावरा कहते हैं। जैसे—'वसन्त बरसो पेरे', 'चुनरी चारु चुई-सी पेरे', 'स्वर लहरी आकाश में लहराने लगी', 'नेत्रों के सामने सब नाचने लगते हैं', 'तुम पराये धन पर नाचते हो' आदि।

८. बहुत लोग विचित्र रूप से अर्थ प्रकट करनेवाले वाक्य को मुहावरा कहते हैं। जैसे—'अँगरेजों के राज्य में बाघ-बकरी एक घाट पानी पीते हैं'; अर्थात् बड़ी शान्ति है।

९. कोई-कोई एक खास अर्थ के बोधक वाक्य को मुहावरा कहते हैं। जैसे—'लघुशंका करने जाओ', 'बाह्यभूमि को गया है' आदि।

१०. कोई-कोई एकार्थ में बद्ध क्रिया आदि को मुहावरा कहते हैं। जैसे—'हाथी चिग्घाड़ता है', 'घोड़ा हिनहिनाता है'; क्योंकि अगर इनमें बोलना क्रिया लगावें तो ये बामुहावरा नहीं हो सकते।

११. कोई-कोई प्रचलित शब्द-प्रयोग को ही मुहावरा बतलाते हैं। जैसे—नैहर की जगह 'मैके' और छूछे की जगह 'खाली' आदि।

१२. कोई-कोई किसी विषय पर प्रायः प्रयुक्त होनेवाले शब्द या वाक्य लाने ही को मुहावरा कहते हैं। जैसे—किसी के राज्य-वर्णन में राम-राज्य कह देना आदि।[1]

(क) श्री ब्रह्मस्वरूप शर्मा 'दिनकर' अपनी पुस्तक 'हिन्दी मुहाविरे' में विषय का परिचय कराते हुए लिखते हैं—

"'मुहाविरा' अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है बातचीत करना अथवा प्रश्न का उत्तर देना। १. परन्तु पारिभाषिक हो जाने के कारण मुहाविरों का प्रयोग विलक्षण अर्थ में किया जाता है। 'पानी-पानी होना' यह एक मुहाविरा है। इसके शब्दों का सीधा अर्थ नहीं किया जाता, किन्तु इसका प्रयोग एक विलक्षण अर्थ में किया जाता है, 'लज्जित होना'। २. मुहाविरे का निर्माण किस व्यक्ति-विशेष के द्वारा नहीं होता। अनेक व्यक्तियों के द्वारा बहुत दिनों तक एक वाक्यांश विलक्षण अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण मुहाविरा बन जाता है। ३. वाक्यांश होने के कारण मुहाविरे में उद्देश्य और विधेय का अभाव रहता है।"

(ख) हिन्दी मुहाविरे की भूमिका-स्वरूप 'दो शब्द' लिखते हुए श्रीगयाप्रसादजी शुक्ल, एम्० ए० लिखते हैं।

१. किसी भाषा में दिखाई पड़नेवाली असाधारण शब्द-योजना अथवा प्रयोग मुहाविरा कहलाता है।

२. मुहाविरा वास्तव में लक्षणा या व्यञ्जना द्वारा सिद्ध वह वाक्यांश है, जो किसी एक ही बोली या लिखी जानेवाली भाषा में प्रचलित हो और जिसका अर्थ प्रत्यक्ष (अभिधेय) अर्थ से विलक्षण हो। लाठी खाना एक मुहाविरा है; क्योंकि इसमें 'खाना' शब्द अपने साधारण अर्थ में नहीं आया है। लाठी खाने की चीज नहीं है, पर बोलचाल में 'लाठी खाना' का अर्थ लाठी का प्रहार सहना लिया जाता है। ऐसे प्रयोगों को रोजमर्रा या बोलचाल भी कहते हैं।

(ग) श्रीरामचन्द्र वर्मा चपनी 'अच्छी हिन्दी' में 'क्रियाएँ और मुहावरे' के अन्तर्गत' 'मुहावरा का इस प्रकार विवेचन करते हैं (अच्छी हिन्दी, पृष्ठ १२७)

१. शब्दों और क्रिया-प्रयोगों के योग से कुछ विशिष्ट पद बना लिये जाते हैं, जो मुहावरा कहलाते हैं। अर्थात् 'मुहावरा' उस गठे हुए वाक्यांश को कहते हैं, जिससे कुछ लक्षणात्मक अर्थ निकलता है और जिसकी गठन में किसी प्रकार का अन्तर होने पर वह लक्षणात्मक अर्थ नहीं निकल सकता।

२. शब्दों के लक्षणात्मक प्रयोग ही मुहावरे होते हैं और व्यञ्जनात्मक प्रयोग से जो अर्थ सूचित होता है, उसे 'ध्वनि' कहते हैं। अब इसे आप चाहे मुहावरा कह लीजिए और चाहे और कुछ।

(घ) श्रीउदयनारायण तिवारी ने भोजपुरी मुहावरों पर लिखते समय मुहावरे के दो लक्षण बताये हैं—

---

१. देखिए—हिन्दी मुहावरे, पृष्ठ ७-८, बोलचाल-भूमिका—पृष्ठ १२७, २८, २९

१. हिन्दी-उर्दू में लक्षणा अथवा व्यञ्जना द्वारा सिद्ध वाक्य को ही 'मुहावरा' कहते हैं।
२. 'मुहावरे के अर्थ में अभिधेयार्थ से विलक्षणता होती है।[१]

हिन्दी-उर्दू की तरह अँगरेजी में भी मुहावरों पर कोई विशेष अध्ययन नहीं हुआ है। 'ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी', मेकमार्डी की 'इंगलिश ईडियम्स' तथा लोगन पीयरसल स्मिथ की 'वर्ड्स् एण्ड ईडियम्स' ये तीन पुस्तकें प्रामाणिक समझी जाती हैं। अतएव इन तीनों के मत को यहाँ देकर और फिर हिन्दी-उर्दू में प्रयुक्त इसके अन्य पर्यायवाची नामों की संक्षिप्त आलोचना करते हुए हिन्दी मुहावरों की 'अर्थ-व्यापकता' पर भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार करेंगे।

(च) अपनी पुस्तक 'वर्डस् एण्ड ईडियम्स' के पृष्ठ १६७ पर श्री स्मिथ लिखते हैं—

चूँकि इस शब्द के बहुत-से अर्थ हैं, इसलिए मुझे इसकी उपयोगिता बता देनी चाहिए।

१. कभी-कभी फ्रेंच की तरह अँगरेजी में भी 'मुहावरा' शब्द का अर्थ किसी जाति अथवा राष्ट्र की विलक्षण वाक्-शैली होता है।
२. फ्रेंच शब्द ईडियोटिस्मी (Idiotisme) के स्थान में भी हमलोग 'ईडियम' शब्द का प्रयोग करते हैं, अर्थात् व्युत्पत्तिलभ्य और युक्त अर्थ की दृष्टि से भिन्न अर्थ देते हुए भी जो कहने का ढंग, व्याकरण-सम्बन्धी रचना अथवा वाक्य-रचना किसी भाषा की प्रयोग-सिद्ध विशेषता हो, 'मुहावरा' है।
३. भाषा और जातिगत स्वभाव।
४. व्याकरण अथवा तर्कशास्त्र के नियमों का उल्लंघन करनेवाले वाक्यांश।

(छ) ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी का मत इस प्रकार है—

शब्दों का वह छोटा-सा समूह अथवा संग्रह, जो किसी एक ही भाव को व्यक्त करता हो, अथवा एक इकाई के रूप में किसी वाक्य में प्रवेश करे।[१]

(ज) मेकमार्डी साहब विशिष्ट शब्दों के विचित्र प्रयोगों एवं प्रयोग-सिद्ध विशिष्ट वाक्यांशों अथवा विशिष्ट वाक्पद्धति को ही मुहावरा मानकर चलते हैं। शब्दों के प्रयोग-सिद्ध विलक्षण अर्थ को भी आप मुहावरे में गिनते हैं।

मुहावरा और उसके पर्यायवाची नाम

फ़ारसी, उर्दू, हिन्दी और अंगरेजी के भिन्न-भिन्न कोषों एवं 'मुहावरा' अथवा 'ईडियम' के पंडित, क्या पाश्चात्य और क्या प्राच्य, जितने भी विद्वानों की पुस्तकों के अंश ऊपर हमने उद्धृत किये हैं, उनका सिंहावलोकन करने से इतनी बात तो पहली दृष्टि में ही ज्ञात हो जाती है कि 'अरबी' में इस शब्द (मुहावरा) का जितना परिमित अर्थ है, हिन्दी और उर्दू में उससे कहीं अधिक व्यापक अर्थ में यह शब्द प्रचलित है। अँगरेजी के 'ईडियम' शब्द का अर्थ (जो मुहावरा का पर्यायवाची शब्द बतलाया जाता है) और भी व्यापक है, इधर जब से हिन्दी-मुहावरों की ओर लोगों ने कदम बढ़ाया है, उनके मन में अपनी सनातन शास्त्रोक्त विधि से इसका नामकरण करने की प्रबल इच्छा जाग्रत हो गई है। पण्डित लोगों ने पत्रे उलटने शुरु कर दिये हैं, कुण्डलियाँ बन रही हैं और ऋग्वेद-पर्यन्त ग्रन्थों का उपयुक्त नाम के लिए मंथन हो रहा है। संस्कृत-वाङ्मय में 'मुहावरा' शब्द का पर्यायवाची कोई शब्द नहीं पाया जाता। इसका यह अर्थ तो नहीं ही है कि संस्कृत में मुहावरे थे ही नहीं। जैसा हम आगे इसी प्रसंग में और फिर उससे भी आगे स्वतन्त्र रूप

१. हिन्दुस्तानी, अप्रैल सन् १९४०, पृष्ठ १६७
२. Words and Idioms by Logen Pearsal Smith. P. 168

से एक अध्याय संस्कृत-मुहावरों पर ही लिखकर बतायेंगे कि मुहावरों की तो संस्कृत-वाङ्मय में आदिकाल से ही प्रचुरता थी; किन्तु उन्होंने इनको कोई स्वतन्त्र संज्ञा नहीं दी थी अथवा देने की आवश्यकता नहीं समझी थी, इसके 'क्यों' का भी हम आगे समाधान करेंगे। साहित्य-मन्थन से कुछ-न-कुछ तो मिलता ही, जिज्ञासुओं ने दो-चार शब्द खोजे और 'स्वान्तः सुखाय' ही सही, यत्र-तत्र उनका प्रयोग और प्रचलन भी किया और कराया है। यह दूसरी बात है कि वे शब्द सर्वमान्य नहीं हो सके और इसलिए आगे नहीं बढ़े। पण्डित रामदहिन मिश्र अपने हाल के प्रकाशित 'हिन्दी मुहावरे' नामक ग्रंथ (पृष्ठ ७) में लिखते हैं—

"संस्कृत तथा हिन्दी में इस शब्द के यथार्थ अर्थ का बोधक कोई शब्द नहीं है। प्रयुक्तता, वाग्रीति, वाग्धारा और भाषा-सम्प्रदाय आदि शब्दों को इसके स्थान पर रख सकते हैं। हिन्दी में मुहावरे के बदले विशेषतया 'वाग्धारा' शब्द ही का व्यवहार देखा जाता है।" किन्तु मेरे विचार से 'मुहावरा' शब्द के बदले भाषा-सम्प्रदाय शब्द का लिखना कहीं अच्छा है ; क्योंकि वाग्रीति, वाग्धारा और प्रयुक्तता—इन तीनों शब्दों का अर्थ इससे ठीक-ठीक झलक जाता है और भाषागत अन्यान्य विषयों का आभास भी मिल जाता है । मुहावरे को उर्दू में 'तर्जे कलाम', 'इस्तलाह' और 'रोजमर्रा' भी कहते हैं।

वी० एस्० आप्टे ने अपने 'इंगलिश-संस्कृत कोष' में 'ईडियम' (Idiom) के संस्कृत रूप अथवा संस्कृत-पर्यायवाची शब्दों में 'वाक्-पद्धति', 'वाक्-रीति', 'वाक्व्यवहार', 'वाक्-सम्प्रदाय', और 'विशिष्ट स्वरूप' को लिया है। श्री पराडकर जी भी 'वाक्-सम्प्रदाय' को ही मुहावरे का स्थान देते हैं। श्री काका साहब कालेलकर 'वाक्-प्रचार' का प्रचार कर रहे हैं। 'वाक्-वैचित्र्य' भी कहीं-कहीं इसी अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। आचार्य पद्मनारायण जी ने अपने ग्रन्थ 'भाषा रहस्य' में 'वाग्योग' और 'इष्ट प्रयोग' का प्रयोग किया है। 'वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः' वैदिक मंत्र की इस कड़ी से 'वाग्योग' की प्राचीनता और पवित्रता का भी सबूत मिल जाता है। संक्षेप में, 'मुहावरा' के स्थान में अबतक 'प्रयुक्तता', 'वाग्रीति' 'वाग्धारा', 'भाषा-सम्प्रदाय' 'वाक्रीति', 'वाक्-पद्धति', 'वाग्व्यवहार', 'वाक्-सम्प्रदाय', 'विशिष्ट प्रयोग', 'वाक्-वैचित्र्य', 'वाग्योग' और 'इष्ट प्रयोग' ये बारह नाम हमारे देखने और सुनने में आये हैं। अतएव, अब थोड़े में आलोचनात्मक दृष्टि से इनका विवेचन करके हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि संस्कृत-वाङ्मय में मुहावरों के लिए कोई विशिष्ट नाम अथवा संज्ञा क्यों नहीं रखी गई थी।

'शिव' और 'शव' जिस प्रकार मानव-जीवन के दो पक्ष हैं, उसी प्रकार शब्दों के भी 'शिवरूप' और 'शवरूप' दो पक्ष होते हैं। शिव की पूजा होती है और शव का निष्कासन। जिस प्रकार शिवरहित शव का कोई मूल्य हो तो वह किसी संग्रहालय (अजायबघर) में हो सकता है, उसी प्रकार ऐसे निष्प्राण शब्दों का भी यदि कोई ठौर-ठिकाना सम्भव हो, तो वह किसी एनसाइक्लोपीडिया में ही हो सकता है, व्यवहारकुशल जगत् और उसके प्रयोगसिद्ध व्यवहार में उनकी पूछ नहीं हो सकती। 'शब्द की ध्वनि कान में पड़ते ही उसका भाव प्रतिध्वनित हो जाना चाहिए।'—'The sound must seen an echo to the sense'—Pope। किन्तु यह उसी समय हो सकता है, जब हम यह मानकर शब्द-चयन करें कि 'अपने में ही शब्दों का कोई मूल्य नहीं होता। इस बात को लौके (Locke) ने 'मानव-बोध' (Human Uderstanding) विषयक निबन्ध लिखते हुए बड़ी अच्छी तरह इस प्रकार समझाया है—

"यदि हम इस बात पर ध्यान दें कि हमारे शब्द साधारण इन्द्रियग्राह्य भाव के कितने आश्रित और अधीन हैं, तो अपनी प्रारम्भिक कल्पनाओं और ज्ञान को समझने में हमें कुछ सहायता मिल जाय और यह भी हमें पता चल जाय कि अलौकिक कार्यों अथवा चेष्टाओं के लिए प्रयुक्त होनेवाले वे

शब्द वहाँ से किस प्रकार लौकिक क्षेत्र में चले आते हैं और स्पष्ट लौकिक भावों के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द किस प्रकार गूढ़ अर्थ में, अलौकिक क्षेत्र में पहुँच जाते हैं।[1]

हिन्दी के विद्वानों की 'मुहावरा' के लिए कोई-न-कोई संस्कृत नाम गढ़ देने की इस प्रवृत्ति से हिन्दी का कुछ लाभ हुआ है या नहीं, इसे छोड़ दीजिए, इससे दूसरा एक बड़ा काम तो अवश्य हुआ है। अब संस्कृत में मुहावरा शब्द का पर्यायवाची शब्द खोजा जाने लगा है। सम्भव है, कोई विद्वान् संस्कृत-मुहावरों पर भी लेखनी उठाकर उसके विशाल वाङ्मय की इस कमी को पूरा करने का बीड़ा उठा लें। ऊपर जिन बारह शब्दों का हमने जिक्र किया है, उनका अर्थ देखने के लिए हमने 'अभिधान राजेन्द्रकोष', 'प्राकृत-मागधी-संस्कृत-शब्दकोष', 'शब्द-कल्पद्रुम' और 'अमर-कोष' प्रभृति अनेक कोषों के साथ माथापच्ची की; किन्तु एक 'प्रयुक्तता' शब्द को छोड़कर कोई दूसरा शब्द ही हमें किसी कोष में नहीं मिला। उसके बाद ही अंगरेजी कोषों में मुहावरे (Idiom) के लक्षणों का विशद विवेचन पढ़ा। इसे पढ़ने के बाद हमें विश्वास हो गया कि हमारे हिन्दी-शब्द-प्रेमियों ने स्वयं ही ये सब शब्द गढ़कर भाषा के क्षेत्र में इधर-उधर बिखेर दिये हैं। विद्वानों का यह प्रयत्न उनकी कला और सूझ के लिए अवश्य प्रशंसनीय है, व्यवहार की दृष्टि से भले ही वह (इन्द्र का अर्थ मघवा) बताने की तरह अनुपयुक्त और अबोध सिद्ध हो। 'वाग्रीति', 'वाग्धारा', 'वाक्प्रचार', 'वाक्व्यवहार' इत्यादि ये शब्द अँगरेजी 'Form and mood of expression' को व्यक्त करने के लिए गढ़े हुए शब्द हैं। 'भाषा-सम्प्रदाय', 'वाक्-सम्प्रदाय', 'वाग्वैचित्र्य' इत्यादि दूसरे शब्द भी (Peculiarity of language or peculiarity of speech) केवल अँगरेजी का उल्था मात्र मालूम होते हैं। 'वाग्धारा' शब्द के प्रचलन पर जोर देकर पंडित रामदहिन मिश्र ने अपनी व्यक्तिगत सम्मति ही दी है। हरिऔधजी 'बोलचाल' के पृष्ठ ११६–१७ पर इस शब्द की आलोचना करते हुए लिखते हैं—"जहाँतक मैं जानता हूँ, 'मुहावरे' के अर्थ में वाग्धारा शब्द का प्रयोग हिन्दी में करते पहले-पहल स्वर्गीय पंडित केशवराम भट्ट को देखा जाता है। उन्हीं की देखा-देखी बिहार में कुछ सज्जन मुहावरे के अर्थ में वाग्धारा का प्रयोग करते अब भी पाये जाते हैं; किन्तु उनकी संख्या उंगलियों पर गिनी जा सकती है, अबतक बिहार में उसका व्यापक प्रचार नहीं हुआ। मुहावरा शब्द सुनकर जिस अर्थ की अवगति होती है, वाग्धारा शब्द से नहीं होती। संस्कृत विद्वान् वाग्धारा शब्द सुनकर उसका 'मुहावरा' अर्थ कदापि न करेंगे, उसकी अभिधा-शक्ति से ही काम लेंगे। इसलिए मेरा विचार है कि 'वाग्धारा', 'मुहावरा' का ठीक पर्यायवाची शब्द नहीं है, यही अवस्था प्रयुक्तता, वाग्रीति और भाषा-सम्प्रदाय शब्दों की है। ये शब्द गढ़े हुए, अवास्तव और पूर्णतया उपयुक्त नहीं हैं।" 'हरिऔध' जी के सामने मुहावरे के स्थान में प्रयुक्त होनेवाले ये चार ही शब्द थे। इसलिए उन्होंने केवल चार ही को गिनाया है; परन्तु उनकी यह दलील लागू तो इस प्रकार के चार हजार शब्दों पर भी उसी प्रकार होती है। 'प्रयुक्तता' शब्द कोष में मिलता अवश्य है; किन्तु उसमें वर्णित उसके लक्षणों से यह तनिक भी स्पष्ट नहीं होता कि संस्कृत-वाङ्मय में उसका प्रयोग मुहावरे के अर्थ में भी कभी हुआ था अथवा होता था। 'अभिधान राजेन्द्रकोष' में उसका अर्थ इस प्रकार दिया है—"प्रयुक्तता प्रयुक्त': वि० सं० १. अच्छी तरह जोड़ा हुआ, पूर्णरूप से युक्त; २. अच्छी तरह मिला हुआ, सम्मिलित;

१. "It may lead us a little," says Locke, "towards the original of all our notions and knowledge, if we remark how great a dependence our words have on common sensible ideas are transferred to more abstruce significations and made to stand for ideas that come not under the cognizance of our senses."

३. जिसका खूब प्रयोग किया गया हो, जो खूब काम में लाया गया हो, व्यवहार में आया हुआ। ४. जो किसी काम में लगाया गया हो। यही बात 'वाग्योग' के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। 'वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः' इत्यादि मंत्रों में इस शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है; किन्तु वैदिक परम्परा से जो अर्थ इससे मिला है, वह वर्त्तमान मुहावरे से मेल नहीं खाता। अतएव इन शब्दों के प्रयोग के लिए आग्रह करना नितान्त अतर्कपूर्ण और अति संकुचित मनोवृत्ति का परिचय देना है। अब अन्त में हम श्रीरामचन्द्र वर्मा के 'रूढ़ि' शब्द के प्रस्ताव को उन्हीं के शब्दों में रखकर विचार करेंगे। 'अच्छी हिन्दी' के पृष्ठ १२६ पर वे लिखते हैं—

"तत्त्वतः मुहावरा हमारे यहाँ की रूढ़ि-लक्षणा के अन्तर्गत आता है। 'लक्षणा' के हमारे यहाँ दो भेद किये गये हैं—रूढ़ि-लक्षणा और प्रयोजन-लक्षणा। इनमें से रूढ़ि-लक्षणा में वे शब्द-प्रयोग आते हैं, जो रूढ़ या प्रचलित हो जाते हैं, और प्रयोजन-लक्षणा में किसी प्रयोजनवश शब्दों के अर्थ में लक्षणा की जाती है। अतः हम मुहावरे को 'रूढ़ि' और मुहावरेदार को 'रूढ़' कह सकते हैं...... अतः यदि मुहावरे के लिए रूढ़ि शब्द ही रूढ़ हो जाय तो कोई हर्ज नहीं।" वर्माजी के अन्तिम शब्दों '........तो कोई हर्ज नहीं' से इतना तो स्पष्ट है कि इसके लिए उनका आग्रह नहीं है। सम्भव है, वाग्धारा इत्यादि शब्दों से खीझकर ही उन्होंने 'रूढ़ि' शब्द रखने का प्रस्ताव किया हो; क्योंकि यदि उन्हें यह शब्द वास्तव में उपयुक्त और उपयोगी मालूम होता, तो वह स्वयं अपनी पुस्तक में 'क्रियाएँ और मुहावरे' के स्थान में 'क्रियाएँ और रूढ़ि' शीर्षक देकर लिख सकते थे। कुछ भी हो, मुहावरे का जो रूप आज हमारे सामने है, वह रूढ़ि-लक्षणा से बहुत आगे बढ़ गया है। भदैनी और बनारस में जो सम्बन्ध है, वही रूढ़ि-लक्षणा और मुहावरे में है। अतएव मुहावरे को रूढ़ि कहना बनारस को भदैनी कहकर अंश को पूर्ण मान लेना है। फिर मुहावरे का तो इतिहास ही हमें बता रहा है कि वह भाषा, व्याकरण और तर्कगत समस्त रूढ़ियों को तोड़ता हुआ ही आज इतना ऊंचा उठा है, जो स्वयं रूढ़िभंजक है, उसे रूढ़ि मानना तो स्वयं रूढ़ि को तोड़ना है। अतएव उन शब्दों को महत्त्व न देकर 'वह किस अर्थ में रूढ़ है, उस पर विशेष ध्यान देना चाहिए अन्यथा 'माँगा वाटर लाई पाथर' वाली उक्ति चरितार्थ हुए विना न रहेगी।

मुहावरा का संस्कृत-पर्याय क्यों नहीं

संस्कृत-साहित्य, संसार की प्रायः समस्त भाषाओं के साहित्य से प्राचीन और सर्वोत्कृष्ट है। पाणिनि जैसे वैयाकरणों और महाभाष्यकार-जैसे साहित्यतत्त्व-मर्मज्ञों के होते हुए भी फिर संस्कृत में मुहावरे की दृष्टि से कोई रचना क्यों नहीं हुई, यह प्रश्न कितने ही विद्वानों के मन में उठा करता है। उठना स्वाभाविक भी है क्योंकि जब भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से संस्कृत पर इतना विशद और गम्भीर अध्ययन हुआ है, तो यदि संस्कृत में मुहावरे होते तो कहीं न-कहीं किसी-न-किसी लक्षण ग्रंथ में उनका थोड़ा-बहुत परिचय अवश्य मिलता, और भी नहीं, तो मुहावरे की बोधक किसी संज्ञा-विशेष का तो उल्लेख कहीं होता। हम मानते हैं कि संस्कृत में मुहावरे के लिए मुहावरा-जैसी प्रख्यात और लोकप्रिय कोई अलग संज्ञा नहीं है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि संस्कृत में मुहावरे ही नहीं हैं, संस्कृत-वाङ्मय मुहावरों से ओतप्रोत है, अन्तर केवल इतना ही है कि संस्कृत में शब्द-शक्तियों और अलंकारों के अन्तर्गत ही उनका वर्गीकरण और विश्लेषण दोनों कर दिये गये हैं। हमने नाम को खोजने का प्रयत्न किया है, नामी को नहीं। सुबह की भूल यदि शाम को सुधर जाय तो वह भूल नहीं कहलाती। अतएव हम यहाँ संस्कृत मुहावरों की एक झाँकी, केवल झाँकी ही कराकर 'हिन्दी में मुहावरे के लिए किस शब्द का प्रयोग होना तर्कसंगत होगा', इसपर विचार करेंगे।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल अध्याय २ में आता है—

'नियेन मुष्टिहत्यया निवृत्राखणधामहे'

यजुर्वेद-संहिता, भाग १ में चौथे अध्याय के ३२ वे मंत्र में आता है—

'अक्षणः कनीनकम् आरोह' (आँखों पर चढ़ाकर)

वैदिक साहित्य के मुहावरों का विशद विवेचन आगे किसी अध्याय में करेंगे। यहाँ तो भिन्न-भिन्न ग्रन्थों से एक-एक दो-दो उदाहरण लेकर केवल यह दिखाना है कि संस्कृत-साहित्य में मुहावरों की कमी नहीं है। वाल्मीकि-रामायण से—

पश्यंस्तां तु रामस्य भूयः क्रोधो ऽभ्यवर्धत।
प्रभूताज्यावसिक्तस्य पावकस्येव दीप्यतः॥
स वद्ध्वा भ्रुकुटीं वक्त्रे तिर्यक्प्रेक्षितलोचनः।
अब्रवीत्परुषं सीतां मध्ये वानररक्षसाम्॥

महाभारत से—

पिवन्त्येवोदकं गावो, मंडूकेषु रुवत्स्वपि।
न तेऽधिकारी धर्मेऽस्ति मा भूरात्मप्रशंसकः॥

श्रीमद्भगवद्गीता से—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ (१४. अ०, ७. श्लो०)

प्रसिद्ध कुवलयानन्द के निम्नलिखित श्लोक में कितने मुहावरे हैं—

अरण्य रुदितं कृतं शवशरीरमुद्वर्तितं
स्थलेऽब्जमवरोपितं सुचिरमूषरे वर्षितं।
खपुच्छमवनामितं बधिरकर्णजापः कृतः
धृतान्धमुखदर्पणो यद्बुधोजनस्सेवितः॥

संस्कृत-मुहावरों का और भी सुन्दर प्रयोग देखिए—

मासानेतान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा...(उत्तर मेघ, पद्य ११२)
अवशेन्द्रियचित्तानाम् हस्तिस्नानमिव क्रिया...(हितोपदेश)
आः कोप्यस्माकम् पुरुतो नास्ति य एवं गलहस्तयति...(हितोपदेश)
किन्तु त्वं च कूपमण्डूकः ......(हितोपदेश)
अंगुलिदाने भुजम् गिलसि ......(आर्या सप्तशती)
तावदार्द्र पृष्ठाः क्रियन्ताम् वाजिनः ......(शकुन्तला नाटक)
ईदृशं राजकुलम् दूरे बन्धताम् ......(कर्पूरमञ्जरी)

ऊपर हमने मुहावरे के जो नमूने दिये हैं, वे कढ़ाव-भरी खिचड़ी का एक चावल-मात्र हैं। संसार की कोई भी भाषा ऐसी नहीं है, जिसमें मुहावरे न हों। जो जीवित भाषाएँ हैं, उनकी तो बात ही क्या है, लैटिन और ग्रीक-जैसी मृत-भाषाओं में भी मुहावरों का पर्याप्त प्रयोग मिलता है। भाषा-सम्बन्धी कार्यों में मुहावरों के द्वारा अनेक सुविधाएँ सहज सुलभ हो जाती हैं, उनकी सहायता से विचारों को प्रकट करने में बड़ी सहायता मिलती है। हर प्रकार के मानसिक भावों को थोड़े-से शब्दों में अति प्रभावजनक बनाकर प्रकट करने में यह रामबाण का काम करते हैं। लेख हो, कविता या सम्भाषण, मुहावरों के द्वारा उनमें एक प्रकार की सञ्जीवनी शक्ति आ जाती है, जो भाषा के साथ ही भावों को भी सजग और सजीव बना देती है। कैसा ही गूढ़ विषय क्यों न हो, इनको

सहायता से एक और एक दो की तरह स्पष्ट हो जाता है। ऐसी दशा में संस्कृत-वाङ्मय, जिसकी प्रतिभा सर्वोन्मुखी है, जिसने मानव-जीवनव्यापी समस्त व्यापारों से लेकर आत्मा और परमात्मा के अति गूढ़ विषयों तक का विशद विवेचन और रहस्योद्घाटन किया है, मुहावरों के प्रयोगों से वञ्चित किस प्रकार रह सकती थी।

संस्कृत-भाषा में मुहावरों की कमी नहीं है, अथवा उसने उनकी उपेक्षा नहीं की है—यह सिद्ध हो जाने पर तो मुहावरों के लिए उसमें किसी विशेष संज्ञा का न होना और भी सन्देह उत्पन्न कर सकता है। जिस भाषा ने अर्थालङ्कार ही नहीं, शब्दालङ्कार तक के वर्णन में पराकाष्ठा दिखलाई है, बाल की खाल निकाली है, वह मुहावरों के विषय में मौन रही—यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती। साहित्य-क्षेत्र में लोकोक्ति अथवा कहावत की अपेक्षा मुहावरों की उपयोगिता कहीं अधिक है। मुहावरों का कार्य-क्षेत्र भी अधिक विस्तृत है, तो भी लोकोक्ति अलंकार[1] की तो संस्कृत साहित्य में सृष्टि की गई; किंतु मुहावरे से भी भाषा अलंकृत होती है—यह ध्यान संस्कृत के विद्वान् और भाष्यकारों को क्यों नहीं आया, यह प्रश्न बार-बार भूल-भुलैया में डाल देता है।

संस्कृत-साहित्य में मुहावरों की प्रचुरता होते हुए भी उनके लिए लक्षण-ग्रन्थों में अथवा कहीं और कोई विशेष स्थान क्यों नहीं दिया गया, उनके लिए किसी विशेष संज्ञा का प्रयोग क्य नहीं हुआ, आदि प्रश्नों पर अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग ढंग से विचार किया है। पंडित केशवप्रसाद मिश्र का दृढ़ मत है कि संस्कृत वाङ्मय में मुहावरों के लिए बहुत पहले ही 'वाग्योग' शब्द आ चुका है। महाभाष्य में उद्धृत वैदिक मन्त्र के 'यस्तुप्रयुंक्ते........वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः' मन्त्र से पण्डित जी के इस कथन की पुष्टि भी हो जाती है। वेद के इस मन्त्र को कई बार पढ़ने और स्वयं उनसे इसकी टीका सुनने के बाद तो हमें भी विश्वास हो गया है कि 'वाग्योग' के अन्तर्गत मुहावरे के प्रायः सभी मुख्य-मुख्य गुण आ जाते हैं। मुख्य-मुख्य गुण हमने जान-बूझकर कहा है; क्योंकि उसमें मुहावरे के एक सर्वोच्च गुण 'लोक-प्रसिद्धि' का नितान्त अभाव है और कदाचित् यही कारण है कि यह शब्द जनता का मुहावरा तो क्या, उनके शब्दकोष का साधारण सदस्य भी न बन सका। आज ही नहीं, हम समझते हैं, इसके यौवनकाल में भी भाषा-रसिकों का मन इसकी ओर आकृष्ट नहीं हुआ था, अन्यथा आज के विद्वानों ने जहाँ नये-पुराने इतने शब्द 'मुहावरा' के लिए खोज निकाले हैं—यह महाभाष्य की लपेटन में ही उलझा हुआ न रह जाता, किसी-न-किसी की दृष्टि इसपर अवश्य पड़ती। फिर चूँकि किसी शब्द का मूल्य उसकी अर्थ-व्यापकता के आधार पर ही आँका जाता है, इसलिए यदि लोगों ने मुहावरे के अन्य पर्यायों में इसकी गणना नहीं की, तो इसमें उनका कोई दोष नहीं है। अतएव हम यह मानकर कि मुहावरों के समान व्यापक और लोकप्रसिद्ध कोई शब्द संस्कृत में नहीं है, उसके 'क्यों नहीं है' पर कुछ लोगों का मत देकर उनकी आलोचना करते हुए अन्त में यह निर्णय करेंगे कि क्या आज वास्तव में मुहावरा शब्द की जगह कोई अन्य शब्द रखना आवश्यक ही है। श्री ब्रह्मस्वरूप दिनकर शर्मा की 'हिन्दी मुहाविरे' नामक पुस्तक के लिए 'दो शब्द' लिखते हुए पंडित गयाप्रसाद शुक्ल लिखते हैं—

"ग्रीक, लैटिन, संस्कृत जैसी-प्राचीन भाषाओं में मुहाविरे की न्यूनता का यह एक प्रधान कारण है कि उस समय समाज का कार्यक्षेत्र इतना विस्तृत और विशिष्ट (Specialised) न था। दूसरा और सबसे मुख्य कारण यह है कि उन दिनों इतिवृत्तों, संवादों, सम्भाषणों आदि को परम उदात्त, आदर्श और साहित्यिक रूप में रखने की चेष्टा की जाती थी, वास्तविक और स्वाभाविक रूप में रखने की नहीं। उस युग की प्रायः सभी नायक-नायिकाएँ उच्च श्रेणी के लोगों में से ही हुआ

१. 'लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते।'

करती थीं। कवि और लेखक अपने ग्रन्थों में इनके वार्त्तालापों को सदा आदर्श और कृत्रिम रूप देते थे। वाल्मीकि, कालिदास आदि की रचनाएँ इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं। इनकी रचनाओं में मुहाविरों का आधिक्य सम्भव ही नहीं था।"

संस्कृत-साहित्य में मुहावरों की न्यूनता का जिक्र करते हुए शुक्लजी ने उनके विशेष दो कारण अपने वक्तव्य में बताये हैं। एक तो उस समय समाज का कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत और विशिष्ट न था; दूसरे आदर्श और साहित्यिक रूप की ओर साहित्यकारों की जितनी रुचि थी, उतनी वास्तविक और स्वाभाविक चरित्र-चित्रण अथवा संवादों की ओर नहीं।

संस्कृत-साहित्य में मुहावरों की न्यूनता से शुक्लजी का अभिप्राय सम्भवतः हिन्दी-मुहावरों की अपेक्षा न्यूनता से है। यह बात ठीक भी है। हिन्दी-साहित्य का तो रोम-रोम मुहावरामय है। गद्य तो क्या, पद्य तक में मुहावरों की पूरी पाबन्दी करने का प्रयत्न किया जाता है। जेर और जबर तक बदलने का किसी को अधिकार नहीं। एक मुहावरा तीन सौ वर्ष पूर्व तुलसी ने जिस रूप में बाँधा है, आज भी उसी रूप में उसका प्रयोग होते देखा जाता है। हमारे साहित्यकार इस प्रकार के लोक-प्रचलित और व्यवहार-सिद्ध प्रयोगों को अपनी रचनाओं में गूँथना कोई चोरी अथवा अपमान की बात नहीं समझते। जो साहित्यकार जितना ही अधिक यथावत् किसी मुहावरे का प्रयोग करता है, वह उतना ही अधिक कुशल कलाकार और सफल लेखक समझा जाता है। इसलिए समाज के कार्यक्षेत्र के विस्तार के साथ ही हिन्दी-साहित्य में मुहावरों की प्रचुरता का यह भी एक प्रधान कारण है।

वेदों से लेकर अबतक के संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध मुहावरों के जो कतिपय उदाहरण पीछे दिये गये हैं, अथवा संस्कृत-मुहावरों पर स्वतन्त्र रूप से विचार करते समय आगे दिये जायँगे, उनसे केवल इतना ही समझना चाहिए कि जैसा कुछ लोग कह बैठते हैं, संस्कृत-साहित्य में मुहावरों का नितान्त अभाव नहीं है। उस समय समाज का कार्यक्षेत्र इतना विस्तृत और विशिष्ट नहीं था, शुक्लजी की यह बात बिल्कुल ठीक है; किन्तु संस्कृत-साहित्य में मुहावरों की न्यूनता का इससे भी सबसे बड़ा कारण, किसी की पदावली और भाव तो क्या, छोटे-छोटे विचित्र प्रयोग तक लेना, उस समय के साहित्यकारों की दृष्टि में चोरी समझा जाता है। इस प्रकार दूसरों के भाव अथवा पदावलि का प्रयोग करनेवाले साहित्यकारों के प्रति उस समय लोगों की क्या धारणा थी, वह इस श्लोक से स्पष्ट हो जाती है—

कविरनुहरतिच्छाया कुकविर्भावं पदानि चाप्यधमः।
सकलपदावलिहर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तुभ्यम् ॥

और भी कितने ही विद्वानों ने उच्छिष्ट कहकर पर-प्रयोगों की भर्त्सना की है। ऐसी स्थिति में किसी प्रयोग का लोक-प्रचलित अथवा परम्परागत होकर व्यवहारसिद्ध मुहावरा बनना आसान नहीं था। संक्षेप में, संस्कृत वाङ्मय में, मुहावरों की न्यूनता का सबसे बड़ा कारण यही है।

संस्कृत में मुहावरों की न्यूनता का दूसरा और सबसे मुख्य कारण शुक्लजी तत्कालीन साहित्य में स्वाभाविकता और वास्तविकता का अभाव मानते हैं। आप लिखते हैं—'उन दिनों इतिवृत्तों, संवादों, सम्भाषणों आदि को परम उदात्त आदर्श और साहित्यिक रूप में रखने की चेष्टा की जाती थी, वास्तविक और स्वाभाविक रूप में रखने की नहीं।' इसमें सन्देह नहीं कि आज के समाज की अपनी शकुन्तलाओं की तुलना में कालिदास की शकुन्तला केवल एक आदर्श का प्रतिपादन-मात्र ठहरेगी। इसमें आज की शकुन्तलाओं की अस्थिरता, परवशता और पराजय की अस्पष्ट झलक भी कहीं आपको नहीं मिलेगी। किन्तु क्या उस समय की शकुन्तला अथवा उस समय के समाज को आज के समाज के तराजू पर तोल कर उसे कृत्रिम कहना ठीक है? वास्तव में वह युग ही ऐसा था

कि उस समय का साधारण-से-साधारण चरित्रवाला व्यक्ति भी हमसे कहीं अधिक ऊँचा, उन्नत और सुसंस्कृत था। अतएव वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति के पात्रों और उनके चरित्र-चित्रण को कोरा आदर्शवाद कहकर कृत्रिम बताना ठीक नहीं है। जिन लोगों ने वाल्मीकि-रामायण, शकुन्तला आदि ग्रन्थ देखे हैं, वे जानते हैं कि वाल्मीकि का राम और कालिदास की शकुन्तला दोनों इसी जगत के व्यक्ति हैं। अग्नि-परीक्षा के समय स्वयं अग्नि के समझाने पर भी राम एक साधारण कोटि के मूढ़ गँवार की तरह सीताजी के चरित्र में शंका करते हुए उन्हें दुत्कार कर कहते हैं—

प्राप्त चारित्र सन्देहा मम प्रतिमुखे स्थिता
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढम् ॥१७॥
× × × ×
रावणांक-परिभ्रष्टां दृष्टां दुष्टेन चक्षुषा
कथं त्वां पुनरादद्यां कुलं व्यपदिशन्महत् ॥२०॥
न हि त्वां रावणो दृष्ट्वा दिव्यरूपां मनोरमाम्
मर्षयेत चिरं सीते स्वगृहे परिवर्त्तिनीम् ॥२१॥ युद्ध-कांड, सर्ग ११८

इसी प्रकार शकुन्तला में एक स्थल पर अपने एक शिष्य से कालिदास ने आश्रम और नागरिक जीवन का बड़ा सजीव तुलनात्मक वर्णन इस प्रकार कराया है—

अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिव प्रबुद्ध इव सुप्तम्
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनमिह सुखसंगिनमवैमि ॥

भवभूति आदि अन्य साहित्यिकों की रचनाओं में भी इस प्रकार के कितने ही यथार्थ और स्वाभाविक वर्णन आपको मिलेंगे। इसीलिए संस्कृत-साहित्य में मुहावरों की न्यूनता का मुख्य कारण आदर्शवाद अथवा कृत्रिमता नहीं, बल्कि तत्कालीन साहित्यकारों की, भाव-गाम्भीर्य, पदलालित्य, अलंकार और अर्थ-वैचित्र्य (लक्षणा और व्यञ्जना के द्वारा) की ओर विशेष अभिरुचि थी। फिर जैसा अभी पीछे बताया गया है, एक-दूसरे के प्रयोगों को लेना ये लोग अपना अपमान समझते थे। इसलिए एक-से-एक अनूठी उक्तियों और विलक्षण पदों के होते हुए भी इनके प्रयोगों का क्षेत्र अलंकार और शब्द-शक्तियों तक ही सीमित रहा, मुहावरे में मँजकर जनसाधारण के ओठों चढ़ने का विशेष सौभाग्य उन्हें प्राप्त न हो सका।

साहित्य और जीवन की होड़ के इस युग में मुहावरे का कोई खास नियम नहीं बन सकता। जो बातें लोगों की बोलचाल में किसी विचित्र रंग-ढंग से आ जाती हैं और प्राय एक ही अर्थ में जन-साधारण के बीच चल निकलती हैं, मुहावरा बन जाती हैं। उनका न तो कोई विशिष्ट व्याकरण है और न सिद्धान्त। इसलिए उनके आधार पर संस्कृत-मुहावरों की परीक्षा करना सर्वथा अयुक्त और असंगत है। पंडित रामदहिन मिश्र के शब्दों में 'संस्कृत-मुहावरे जहाँ व्याकरण से शृंखलित हैं, हिन्दी-मुहावरे नितान्त उच्छृंखल और अपने मन के हैं'। जो वस्तु किसी से शृंखलित होती है, उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होते हुए भी कोई विशिष्ट स्वतन्त्र जातिवाचक नाम होना आवश्यक नहीं है। अतएव संस्कृत-मुहावरों का, जैसा आगे दिखायेंगे, शब्द-शक्तियों (लक्षणा और व्यञ्जना) और कतिपय अलंकारों से शृंखलित होने के कारण किसी विशिष्ट नाम से सम्बोधित न होना कोई दोष अथवा कमी नहीं है। महत्त्व तो नामी का है, नाम का नहीं।

यह हमारा अपना मत है, इसकी पुष्टि की भी अपने भरसक हमने यथास्थान काफी चेष्टा की है। आगे चलकर 'मुहावरा और शब्द-शक्तियाँ' तथा 'मुहावरा और अलंकार' के प्रसंगों में इसे और भी अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। सम्भव है, हमारा विचार भ्रांत हो और आगे चलकर कोई

विद्वान् संस्कृत में 'मुहावरा' का पर्यायवाची शब्द ढूँढ़ निकालें। किन्तु हमें तो इसमें सन्देह ही है। हमारा तो एक प्रकार से यह निश्चित मत-सा हो गया है कि 'मुहावरा' इतना ही व्यापक और बहुअर्थ-बोधक शब्द शायद संस्कृत में नहीं है; क्योंकि यदि होता तो आजतक इस विषय में इतना अंधकार न रहता। ऐसी अवस्था में आवश्यकता को पूरी करने और हिन्दी-भाषा-कोष की पूर्णता के लिए हमारे सामने दो ही मार्ग हैं—

१. 'मुहावरा' शब्द ही यथावत् अपना लिया जाय।
२. उसके स्थान पर कोई समानार्थक प्राचीन संस्कृत शब्द ले लिया जाय अथवा सर्वसम्मत कोई नया संस्कृत शब्द गढ़ लिया जाय।

पहली बात ही हमको अधिक युक्तिसंगत, तर्कपूर्ण और व्यावहारिक लगती है। हम 'किसी शब्द का क्या अर्थ है, वह कितना लोकप्रिय और व्यवहार-सिद्ध है, इसको ही अधिक महत्त्व देते हैं,' वह किन-किन अक्षरों के योग से, कहाँ और किसके द्वारा निर्मित हुआ है—इसको नहीं। शब्द केवल साधन मात्र है, वह साध्य का स्थान कदापि नहीं ले सकता। हमारा विश्वास है, जो भाषा शब्दों को साध्य बनाकर चलेगी, वह अन्ततोगत्वा कृत्रिम होकर नष्ट हो जायगी। हिन्दी की इससे काफी हानि हो चुकी है। एक बार ठोकर खाकर भी जिन्हें अक्ल नहीं आती, वे दूसरी बार चारों खाने चित गिरते हैं। इसके अतिरिक्त 'मुहावरा' शब्द तो हिन्दी संसार में अपनाया जा चुका है। इडियम (Idiom) के स्थान पर आजकल उसी का प्रयोग हो रहा है। कोषों में ही नहीं, 'मुहावरा' का विशेष अध्ययन करनेवाले और उसके स्थान में 'वाग्धारा' इत्यादि मनगढ़न्त शब्दों का प्रचार करने के इच्छुक विद्वानों ने भी अपने काम के लिए इसी शब्द को उपयुक्त और उपयोगी ठहराया है। 'आप खाये दाल-भात और दूसरों को बताये एकादशी' वाली इस नीति का हम सर्वथा विरोध करते हैं। हाँ, यदि अरबी, फारसी, अँगरेजी इत्यादि अन्य भाषाओं के शब्दों से आपको घृणा ही है, तो फिर सारी भाषा को संस्कृत के बारीक छन्ने में छानिए। एक बार छानकर देखिए तो सही, आपकी क्या दुर्दशा होती है। कुर्त्ता, पाजामा, कोट, पैण्ट, बण्डी तक शरीर से उतर जायँगी; लड्डू, पेड़ा, जलेबी, बालूशाही के केवल स्वप्न रह जायेंगे। कहाँ तक बतायँ, आज तो सुबह से शाम तक के जीवन में काम में आनेवाली असंख्य वस्तुओं के नाम अरबी, फारसी और अँगरेजी इत्यादि अन्य भाषाओं से आये हुए हैं। अतएव भाषा के क्षेत्र में साम्प्रदायिकता लाने का स्वप्न देखनेवाले अपने मित्रों से हमारा नम्र निवेदन है कि वे अरबी, फारसी, अँगरेजी इत्यादि अन्य भाषाओं से अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए गृहीत दूसरे असंख्य शब्दों की तरह इस (मुहावरा) शब्द को भी अपनाये रहें, इसे अपनाना इसलिए और भी उपयुक्त और आवश्यक है; क्योंकि उतना व्यापक और बहुअर्थ-बोधक पर्यायवाची शब्द संस्कृत में उपलब्ध ही नहीं है।

अब रही कोई समानार्थक प्राचीन संस्कृत शब्द ढूँढ़ने अथवा मुहावरे के स्थान में कोई नया संस्कृत शब्द गढ़ने की बात, सो हिन्दी-भाषा और साहित्य से थोड़ा-बहुत स्नेह हो जाने के कारण व्यक्तिगत रूप से हम तो सदैव इसका विरोध ही करेंगे। संस्कृत में यदि कोई समानार्थक शब्द मिल भी जाय, तो आज की स्थिति में हम उसका भी वहिष्कार ही करेंगे, क्योंकि हिन्दी-संसार में 'मुहावरा' शब्द आज इतना मुहावरेदार हो गया है कि हल जोतनेवाला गरीब किसान और चौदहों विद्याओं के पारंगत एक विद्वान् नागरिक दोनों ही उसे एक साथ और एक अर्थ में समझते हैं। 'सिद्ध प्रयोग', 'परम्परा-प्राप्त प्रयोग', 'साधु प्रयोग', 'इष्ट प्रयोग', 'वृद्ध व्यवहार', 'व्यवहार-सिद्ध प्रयोग' आदि कितने ही संस्कृत के ऐसे शब्दों पर हमने अपने गुरुजनों और इष्ट मित्रों से विचार-विनिमय किया है, जो अबतक प्रयुक्त शब्दों से कहीं अधिक उपयुक्त हैं। किन्तु, फिर भी हम कहेंगे कि इसपर तनिक भी ध्यान न देना चाहिए। मुहावरे के किसी भी पर्यायवाची शब्द को मुहावरे का स्थान नहीं मिल

सकता; क्योंकि 'अर्थ व्यापकता' के प्रसंग में जैसा हम बतायेंगे, मुहावरे का अर्थ आज बहुत विस्तृत हो गया है। अर्थ और व्यापकता की दृष्टि से तो सचमुच 'मुहावरा' शब्द गागर में सागर-रूप हो गया है। इसके उर्दू पर्यायवाची शब्द 'तर्जे कलाम' और 'इस्तलाह' से भी हमारा उतना ही विरोध है। हमारी राय में इसलिए उर्दू और हिन्दी दोनों के निमित्त ही 'मुहावरा' सर्वोपयुक्त शब्द है।

मुहावरा और शब्द-शक्तियाँ

संसार शक्ति का पुजारी है। वह क्या जड़ और क्या चेतन, सबमें—थोड़े स्थान, थोड़े समय और थोड़े व्यय में—अधिक-से-अधिक शक्ति को देखना चाहता है। परमाणु शक्ति का रहस्योद्घाटन उसकी इसी इच्छा और प्रयत्न का मूर्त्तिमान् चित्र है। प्राणों से प्यारी सौन्दर्य की साक्षात् मूर्त्ति अपनी प्रियतमा को भी शक्ति—प्राणशक्ति—के नष्ट हो जाने पर मानो लकड़ियों में दाबकर जलाते और हजारों मन मिट्टी के नीचे गाड़ते हुए हमने लोगों को देखा है, फिर शक्ति-हीन शब्दों की बात ही क्या ! किसी शब्द, वाक्यांश, खंड-वाक्य, वाक्य अथवा महावाक्य का महत्त्व उसमें छलछलाती हुई उसकी अनुपम शक्ति में ही रहता है, उसके भौतिक कलेवर में नहीं। जब शक्ति ही शब्द अथवा मुहावरे का सब कुछ है, तो यह शक्ति कहाँ से आती है और कैसे इसका अनुभव होता है—यह जानने की इच्छा होना स्वाभाविक ही है।

'तर्क-संग्रह' में अन्नभट्ट ने शक्ति को 'अस्मातपदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छा संकेतः शक्तिः' ईश्वर-प्रदत्त कहा है। प्राचीन तार्किक मानते थे कि प्रत्येक शब्द का ईश्वर-प्रदत्त एक अर्थ है। आधुनिक विद्वानों ने इस मत का विरोध करते हुए 'इच्छा मात्र शक्ति' का प्रतिपादन किया। प्राचीन और अर्वाचीन तार्किकों के इस विवाद को टालने के लिए तर्क-दीपिकाकार ने शक्ति को 'अर्थस्मृत्यनुकूलः पदपदार्थसम्बन्धः शक्तिः' कहकर शब्द और उसके अर्थ के उस सम्बन्ध को शक्ति बताया, जिसके द्वारा अर्थ की स्मृति होती है। मीमांसकों ने शक्ति को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानकर 'संकेतग्राह्य' कहा है। ठीक भी है, जब किसी व्यक्ति को यह विश्वास हो जाता है कि अमुक शब्द अमुक अर्थ में प्रयुक्त होता है, तब ही वह उस शब्द की उस अर्थ को देनेवाली शक्ति को मानता है। हम जानते हैं कि 'गोली' शब्द एक लड़की के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतएव जब उसके पिता को 'गोली पार हो गई' कहते-सुनते हैं, तब हमें एक लड़की-विशेष की याद आती है, बन्दूक या पिस्तौल की गोली की नहीं। अब इस संकेत का ज्ञान किस प्रकार होता है, इसपर हम संक्षेप में विचार करेंगे। नागेश भट्ट की 'परमलघुमंजूषा'[1] के पृष्ठ १४५ पर एक श्लोक उद्धृत है, जिसमें संकेत का ज्ञान-प्राप्त करने की आठ विधियाँ बताई गई हैं। श्लोक इस प्रकार है—

> 'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
> वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥'

अर्थात्, व्यवहार, आप्तवाक्य, सिद्धपदसानिध्य, व्याकरण, उपमान, कोष, वाक्य-शेष (प्रसंग) और विवृत्ति, जैसे—रसालः आम्रः—इन आठ विधियों से संकेत का ज्ञान होता है।

शब्द-शक्ति तीन प्रकार की मानी गई है—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। 'शक्त्यन्तरानन्तरिता अन्याशक्तिः शक्त्यन्तरं तेन न अन्तरिता' (व्यवहिता)—अर्थात् शब्द की वह शक्ति जो विना किसी दूसरी शक्ति की सहायता के लौकिक अर्थ का बोध करा दे, अभिधा-शक्ति कहलाती है। चूँकि मुहावरे में विना किसी दूसरी शक्ति की सहायता के केवल अभिधा-शक्ति के सहारे मुहावरे का अभिप्राय पूरा नहीं हो सकता, उसमें मुहावरेदारी नहीं आ सकती, अतएव इस प्रसंग में हम

---

१. पी० वी० काने का साहित्य दर्पण, पृष्ठ ४०।

अभिधा-शक्ति पर विचार नहीं करेंगे। केवल अपना बोरिया बिस्तर बाँध रहे हैं; गाँधीजी ज्वालामुखी के मुँह पर बैठे हुए अपने तपोबल से 'लावा' को चन्दन-चूरा बना रहे हैं; शकुन्तला लड़की नहीं लड़का है; वह कला की पुतली है; उसकी कूची पर संसार नाचता है; उसके सौन्दर्य में लावण्य है, माधुर्य है और तिक्तता भी; वह चप्पल से बात करती है। उपर्युक्त वाक्यों में प्रयुक्त मुहावरों का अभिधेयार्थ लेने से जो अर्थ का अनर्थ होगा, पाठक स्वयं इसका अनुभव करके देखें।

'अभिधा' के पश्चात् 'लक्षणा' और 'व्यञ्जना' पर विचार करना शेष रह जाता है। लक्षणा और व्यञ्जना दोनों ही चूँकि किसी शब्द अथवा वाक्यांश अथवा प्रयोग के अभिधेयार्थ से आगे बढ़कर एक विलक्षण अर्थ की ओर संकेत करती है, इसलिए मुहावरे के लक्षणों से उनका मेल बैठ जाता है। संक्षेप में मुहावरों में लक्षणा और व्यञ्जना दोनों ही रहती हैं। 'हरिऔध' जी ने जहाँ 'प्रायः मुहावरों का प्रयोग एक वाक्य के समान होता है, संस्कृत में ऐसे वाक्यों को लक्षणा के अन्तर्गत माना है', यह कहा है, वहाँ उसी पुस्तक में थोड़ा आगे बढ़कर (पृष्ठ २०७ पर) हाली साहब की आलोचना करते हुए बड़े स्पष्ट शब्दों में यह भी कहा है—'जितने मुहावरे होते हैं, वे प्रायः व्यञ्जना-प्रधान होते हैं।' शब्दों के थोड़े हेर-फेर से श्री रामचन्द्र वर्मा भी अपनी पुस्तक 'अच्छी हिन्दी' (पृष्ठ १२८) में शब्द-शक्तियों का विवेचन करते हुए इसी मत का समर्थन करते हैं। उन्होंने लिखा है—'मुहावरों का अन्तर्भाव भी शब्द की इन्हीं (लक्षणा और व्यञ्जना) व्यापक शक्तियों के अन्तर्गत होता है।' अतएव मुहावरों के इस प्रसंग में हम लक्षणा और व्यंजना के मुहावरेदार प्रयोगों का ही विवेचन करेंगे।

साहित्य-दर्पणकार ने द्वितीय परिच्छेद की पाँचवीं कारिका में लक्षणा का यह लक्षण लिखा है—

'मुख्यार्थ बाधे तद्युक्तो यथान्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढ़ेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ॥' ५...

भाषा-टीका में इसका अर्थ इस प्रकार है—

'मुख्यार्थेति अभिधाशक्ति के द्वारा जिसका बोध न किया जावे, वह मुख्यार्थ कहाता है, इसका बाध होने पर, अर्थात् वाक्य में मुख्यार्थ का अन्वय अनुपपन्न होने पर, रूढ़ि (प्रसिद्धि) के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन का सूचन करने के लिए, मुख्यार्थ से संबद्ध (युक्त) अन्य अर्थ का ज्ञान जिस शक्ति के द्वारा होता है, उसे 'लक्षणा' कहते हैं। यह शक्ति 'अर्पित[1]' अर्थात् कल्पित या अमुख्य है।'

चन्द्रलोककार[2] इत्यादि संस्कृत के तथा काव्य प्रभाकरकार इत्यादि हिन्दी के अन्य विद्वान् भी लक्षणा के साहित्यदर्पणकार से बिल्कुल मिलते-जुलते ही लक्षण बताते हैं। 'काव्य-प्रभाकर' में विरूढ़ि (रूढ़ि) लक्षणा का एक उदाहरण लेकर इस प्रकार उसका अर्थ किया है—

'फली सकल मन कामना लूट्यो अगणित चैन।
आजु अचै हरि रूप सखि भये प्रफुल्लित नैन ॥'

'मन-कामना वृक्ष नहीं है, जो फले, मन कामना पूर्ण होती है। चैन कोई दृश्य वस्तु नहीं जो लूटी जावे; किन्तु उसका उपभोग अनुभव द्वारा होता है। हरि का रूप जल नहीं है, जो आचमन किया जावे; वरन् नेत्रों से देखा जाता है। नैन कोई पुष्प नहीं है जो विकसित होवे; किन्तु चित्त-प्रफुल्लित होता है।'

---

१. 'अर्पित' का अर्थ तो वास्तव में किसी एक के द्वारा दूसरे को भेंट की हुई होता है, अतएव अर्पितशक्ति के लिए कल्पित (अस्तित्वहीन) अथवा अमुख्य (अपनी ही गौण शक्ति) से कहीं अधिक सजीव और सार्थक शब्द पहनाई हुई शक्ति होगा।

२. मुख्यार्थस्य विवक्षायां पूर्वाचीचरूढ़ितः ....वदन्तीलक्षणा मता।

यहाँ लेखक इतना ही कहना चाहता है कि 'मनकामना फलना', 'चैन लूटना', 'हरिरूप का अचवना' और 'नेत्रों का प्रफुल्लित होना' का जो अर्थ लिया गया है, वह मुहावरे पर दृष्टि रखते हुए ही लिया गया है। क्योंकि अभिधा की दृष्टि से उनका यह अर्थ नहीं है। अपने 'व्यंग्यार्थ मंजूषा' में लाला भगवानदीन ने रूढ़ि लक्षणा के सात उदाहरण दिये हैं। पृष्ठ ११ पर छठे उदाहरण में वे लिखते हैं—'नारि सिखावन करेसि न काना'। (करेसि न काना) यह रूढ़ि है, इसका अर्थ है—तूने नहीं माना।

'कान न करना' एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है न सुनना। उसी मुहावरे का इस चौपाई में प्रयोग हुआ है, जिसको रूढ़ि लक्षणा बताया गया है।

मम्मट ने लक्षणा का जो लक्षण बताया है, वह पूर्ण रूप से मुहावरे के अन्तर्गत आ जाता है। मम्मट के शब्द ये हैं—'मुख्येन अमुख्योऽर्थो लक्ष्यते······यत्सा लक्षणा।' जिससे मुख्य अर्थ के द्वारा अमुख्य अर्थ की प्रतीति हो। हमने कहा—शकुन्तला चप्पल से बात करती है। इसका मुख्य अर्थ तो यह हुआ कि वह चप्पल से बोलती है, चप्पल जानदार और फिर जानदारों में भी बोलनेवाली तो है नहीं, अतएव मुख्यार्थ के द्वारा इस वाक्य से एक विशेष अर्थ निकलता है, वह यह कि शकुन्तला किसी के छेड़-छाड़ करने पर चप्पल मार देती है। 'चप्पल से बात करना' एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है चप्पल मारकर जवाब देना।

लक्षणा, व्यञ्जना, अलंकार इत्यादि इतनी सारी चीजें जब मुहावरे के अन्तर्गत आ जाती हैं, तब पाठक हमसे पूछ सकते हैं कि फिर इन सबके अलग-अलग इतने सारे नाम न रखकर सबको मुहावरा ही क्यों न कहा जाय! इस प्रश्न पर विचार करने के लिए यहाँ हम केवल लक्षणा को लेकर ही चलेंगे, क्योंकि शेष प्रसंगों पर आगे विचार करना है और साथ ही जो तर्क लक्षणा के सम्बन्ध में लागू होगा, वही दूसरे समस्त प्रसंगों के सम्बन्ध में भी लागू होगा। लक्षणा को जब हम मुहावरे के अन्तर्गत कहते हैं, तब वास्तव में हमारा अभिप्राय लक्षणा के लक्षणों को मुहावरे के लक्षणों के अन्तर्गत कहने का है। लक्षणा के समस्त उदाहरण मुहावरे के अन्तर्गत आ सकते हैं, यह हमारा दावा नहीं है—हो भी नहीं सकता, चूँकि केवल रूढ़ और लोक-प्रसिद्ध प्रयोग ही 'मुहावरा' की गणना में आते हैं। अतएव लक्षणा के केवल वही नमूने जो चिर अभ्यास के कारण रूढ़ हो गये हैं—प्रसिद्ध हो गये हैं, मुहावरा के अन्तर्गत आ सकते हैं, सब अथवा प्रत्येक नहीं। 'बिल्ली और जलेबी की रखवाली' तथा 'कुत्ता और जलेबी की रखवाली', 'जिन चढ़ना' और 'परेत चढ़ना', 'अंग टूटना', 'गात टूटना', 'बनारस या गया', 'सारा शहर छा गया', 'अन्न पर रहते हैं,' 'गेहूँ पर रहते हैं'—इत्यादि प्रयोगों में लाक्षणिक तो सब और प्रत्येक हैं; किन्तु बामुहावरा या मुहावरेदार सब और प्रत्येक नहीं हैं। 'बिल्ली और जलेबी की रखवाली' तथा 'कुत्ता और जलेबी की रखवाली' दोनों उदाहरण तो लक्षणा के हैं; क्योंकि 'मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो रूढ़ेः प्रयोजनाद्वा' की कसौटी पर दोनों ही खरे उतरते हैं। किन्तु दोनों रूढ़ अथवा प्रसिद्ध नहीं हैं, अतएव दोनों मुहावरे के अन्तर्गत नहीं आ सकते। 'बिल्ली और जलेबी की रखवाली', 'जिन चढ़ना', 'अंग टूटना', 'सारा शहर छा गया', 'अन्न पर रहना' इत्यादि चिर-अभ्यास के कारण सर्वमान्य और सर्व-प्रसिद्ध हो गये हैं, इसलिए उन्हें मुहावरे का स्थान मिल गया है। किन्तु 'कुत्ता और जलेबी की रखवाली' अथवा 'गात टूटना' इत्यादि केवल एक विशेष प्रयोजन से प्रयुक्त हुए हैं। हाँ, एक समय आ सकता है, जब ये सब भी इसी अर्थ में रूढ़ होकर मुहावरे के अन्तर्गत गिने जा सकते हैं। 'बापू' शब्द का महात्मा गाँधी के लिए रूढ़ हो जाना इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

मुहावरे की दृष्टि से, इसलिए, लक्षणा के केवल रूढ़ प्रयोगों को ही लेना अधिक उचित और उपयोगी मालूम होता है। सप्रयोजन किये हुए लाक्षणिक प्रयोग भी, इसमें सन्देह नहीं, एक दिन रूढ़ होकर मुहावरों की पंक्ति में आ सकते हैं; किन्तु फिर भी आज उनकी गिनती मुहावरों की कोटि में

नहीं हो सकती। इसलिए लक्षणा और मुहावरों के सम्बन्ध में व्यावहारिक दृष्टि से विचार करते हुए, यह मानना पड़ेगा कि लक्षणा की प्रधानता होते हुए भी सारे मुहावरे लक्षणा के अन्तर्गत नहीं आ सकते। उनका क्षेत्र लक्षणा (रूढ़ि) से बहुत अधिक व्यापक और विस्तृत है।

अब अन्त में 'मुहावरा' और 'लक्षणा' के लक्षणों पर एक नजर डालकर व्यंजना-शक्ति और मुहावरा पर विचार करेंगे। 'मुहावरा' के लक्षणों पर लिखते हुए पीछे हमने जितनी पुस्तकों के उद्धरण दिये हैं, उनमें से पुनरुक्ति के डर और स्थानाभाव के कारण हम केवल कुछ मुख्य-मुख्य ग्रन्थों का ही उल्लेख करेंगे। 'फरहंग आसफिया' के नम्बर २ पर वेबस्टर साहब के 'अन्तर्राष्ट्रीय कोष' (International Dictionary) के 'नम्बर' ३ (ब) पर और 'हिन्दी-शब्द-सागर' कोष के नम्बर १ पर 'मुहावरा' का जो अर्थ बताया गया है, उसका 'साहित्यदर्पण', 'चन्द्रालोक' इत्यादि में दिये हुए लक्षणा के लक्षणों से बहुत-कुछ साम्य है, भाव तो लगभग लक्षणा के सभी लक्षणों के उनमें आ जाते हैं। 'काव्य-प्रभाकर' 'व्यंग्यार्थ-मंजूषा' से हिन्दी के जो उदाहरण हमने दिये हैं, उनसे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि लक्षणा (रूढ़ि) 'मुहावरों' का एक विशिष्ट कार्य-क्षेत्र अथवा टकसाल है।

मुहावरे और व्यञ्जना-शक्ति

लक्षणा का क्षेत्र इतना विस्तीर्ण और व्यापक है कि अनेक विद्वान् लक्षणा को ही मुहावरे का सब-कुछ मान बैठे हैं। मुहावरों पर विचार करते समय तो सचमुच यह भ्रम और भी भूल-भुलैया में डाल देता है। आक्षेप, अनुमान अर्थापत्ति, आदि सभी लक्षणा के अन्तर्गत उन्हें मालूम होने लगते हैं। 'तर्कदीपिका' में अन्नम्भट्ट ने स्पष्ट लिख दिया है—'व्यञ्जनापि शक्तिलक्षणान्तर्भूता अशक्तिमूला चानुमानादिनान्यथासिद्धा'। मुकुल भट्ट भी 'अभिधावृत्तिमातृका' में, व्यञ्जना का लक्षणा में अन्तर्भाव हो सकता है, इसी मत का समर्थन करते हुए लिखते हैं—लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यते इति दिशमुन्मूलयितुमिदमत्रोक्तम्।[1] इनके साथ ही एक दूसरी विचारधारा भी चली। इस वर्ग के लोग एक नई शक्ति 'तात्पर्याख्यवृत्ति' मानने लगे। यों तो यह वृत्ति अथवा शक्ति अन्वय बोध के लिए मानी गई है; पर कुछ लोग इसके अतिरिक्त व्यंजना का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं मानते। ये व्यंग्यार्थ की गणना तात्पर्य के ही अन्तर्गत करते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे विद्वान् भी हैं, जो तात्पर्य को अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना से भिन्न एक स्वतन्त्र शक्ति भी मानते हैं। जब अभिधा और लक्षणा अपना काम पूरा कर चुकती हैं, तब किसी वाक्य का आशय समझने के लिए उसके शब्दों के अर्थों में सम्बन्ध स्थापित करने के निमित्त इसकी आवश्यकता पड़ती है। अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना की तरह यह वृत्ति किसी विशेष शब्द को लेकर नहीं चलती, इसका काम तो बहुत-से शब्दों का सामूहिक अथवा शृंखलित अर्थ बताना है। शब्दों का अपना लौकिक अर्थ होता है। शब्दों का तर्क-संगत सम्बन्ध केवल शब्दों से स्पष्ट नहीं होता, उसके लिए आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि पर आधारित तात्पर्य-वृत्ति की आवश्यकता होती है। यह मत कुमारिल के अनुयायी अभिहितान्वयवादी मीमांसकों का है। इसके विपरीत गुरुमत के अनुयायियों का कहना दूसरा ही है। मम्मट ने इस मत को इस प्रकार समझाया है—'आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वयेतात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यमिहितान्वयवादिनां मतम्'[2] संक्षेप में इसका आशय यह है कि संकलित

१. साहित्य दर्पण, पी० वी० काने, पृष्ठ-६५।

२. साहित्य दर्पण, पृष्ठ ८७।

शब्दों का सहप्रयोग होने पर एक विशेष प्रकार का तात्पर्यार्थ स्वयं उल्लसित हो जाता है, उसके लिए कोई दूसरी शक्ति मानना व्यर्थ है। 'पूर्व-मीमांसा' के अनुयायी अभिहितान्वयवादियों का 'तात्पर्य' से यह आशय है—'किसी वाक्य में कुछ शब्दों के अर्थ सिद्ध होते हैं, पहले से जाने हुए होते हैं, और वाक्य का तात्पर्य इन अर्थों को 'साध्य या भव्य अर्थ के अधीन बनाना रहता है।' विश्वनाथ और मम्मट ने दूसरों के विचारों का निर्देश करने के लिए ही 'तात्पर्य' का उल्लेख किया है। उन्होंने स्वतः अपना कोई मत नहीं दिया है। ये लोग अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना—इन तीन शक्तियों को ही मानते हैं।

विश्वनाथ और मम्मट ने 'पूर्व-मीमांसा' के अनुयायी और समर्थक अभिहितान्वयवादियों के इस मत का उल्लेख तो किया है, मम्मट ने तो उनके इस मत को स्पष्ट करके समझाया भी है; किन्तु स्वतः अपना मत दोनों में से किसीने नहीं दिया है। ये लोग अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—इन तीन शक्तियों को ही मानते हैं। एक सर्वथा नवीन और भिन्न मत का उल्लेख करते हुए भी इन लोगों ने क्यों उसका समर्थन अथवा खंडन नहीं किया, इसका एक यही उत्तर हो सकता है कि उन्होंने खंडन तो इसलिए नहीं किया कि उससे उनके मत का मौलिक विरोध नहीं था और समर्थन शायद इसलिए नहीं कि वह उनके मत-जैसा व्यापक नहीं था। तात्पर्याख्यवृत्ति की योग्यता और उपयुक्तता का उल्लेख करते हुए उनके समर्थकों ने इस वृत्ति का जो चित्र खींचा है, उससे इतना तो अवश्य लगता है कि व्यञ्जना के जितने उदाहरण उस समय इन विचारकों के सामने रहे होंगे, वे सब वाक्य अथवा खंड-वाक्य के रूप में ही होंगे, व्यञ्जना का कोई भी शाब्दी प्रयोग इन्हें नहीं मिला होगा। यदि शाब्दी व्यञ्जना के कुछ भी प्रयोग इन्हें मिल जाते, तो ये भी या तो अपने कुछ अन्य मित्रों की तरह इसे अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना—इन तीनों से अलग एक चौथी स्वतंत्र शक्ति मानने लगते अथवा व्यञ्जना के ही एक विशिष्ट वर्ग को, जिसमें शब्दों के सामूहिक अथवा शृंखलित अर्थ या तात्पर्य में ही व्यंग्यार्थ रहता है, तात्पर्याख्यवृत्ति कहकर मौन हो जाते। हमें विश्वास है, यदि इन लोगों ने इस वृत्ति को एक स्वतंत्र शक्ति न मानकर व्यञ्जना का ही एक विशिष्ट अंग माना होता, तो विश्वनाथ और मम्मट भी इनके साथ हो जाते; क्योंकि बहुशाब्दिक प्रयोगों अथवा मुहावरों के व्यंग्यार्थ की गणना (पूरे शब्द-समूह के) 'तात्पर्य' के ही अन्तर्गत होती है, इससे उनका भी कोई विरोध नहीं हो सकता।

मुहावरों में रूढ़ि-लक्षणा के अतिरिक्त जहाँ हम यह मानते हैं कि व्यञ्जना भी उनमें रहती है, हमें यह भी बताना चाहिए कि मुहावरों में व्यंग्यार्थ का वही विशिष्ट रूप मिलता है, जिसकी गणना उनके तात्पर्य के अन्तर्गत होती है। 'मुँह की खाना', 'सिर पर चढ़ाना', 'मुँह लगाना', 'दाँत तले उँगली दबाना', 'पैरों की जमीन खिसक जाना' इत्यादि मुहावरों में हम प्रायः नित्य ही अनुभव करते हैं कि इन अथवा ऐसे ही दूसरे वाक्य और वाक्यांशों से वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त एक तीसरा अर्थ निकलता है। सीधे शब्द से (लक्षणा अथवा अभिधा द्वारा) एक ही बात का बोध होता है; पर सुननेवाले को उसीसे न जाने कितनी दूसरी बातें सूझ जाती हैं। शब्द की यह सुझानेवाली शक्ति अभिधा लक्षणा नहीं हो सकती। 'विशेष्य नाभिधागच्छेत् क्षीण शक्ति विशेषणे' और 'शब्दबुद्धि कर्मणा विरम्य व्यापाराभावः' के अनुसार शब्द की शक्ति एक प्रकार का अर्थ-बोध करा चुकने पर क्षीण हो जाती है। उसका एक व्यापार एक ही बोध करा सकता है। अभिधा और लक्षणा दोनों ही जब अपना काम करके विरत अथवा चुप हो जाती हैं तब उस समय जिस शक्ति से किसी दूसरे अर्थ की सूचना मिलती है, उसे व्यञ्जना कहते हैं। ऊपर दिये हुए मुहावरों को जब हम इस कसौटी पर कसते हैं, तब उनकी व्यञ्जना-शक्ति के साथ ही एक दूसरे रहस्य का भी पता चलता है। वह रहस्य यह है कि मुहावरों में जो व्यंग्यार्थ रहता है, वह किसी एक शब्द के अर्थ के कारण नहीं; वरन् सब

शब्दों के शृंखलित अर्थों अथवा वाक्य, खंड-वाक्य अथवा वाक्यांश रूप इकाई, अर्थात् पूरे मुहावरे के अर्थ में रहता है। 'मुँह की खाना' मुहावरे का व्यंग्यार्थ लज्जित होना अथवा झेंपना है, 'सजा पाना' भी कभी-कभी इसका अर्थ किया जाता है। यहाँ जो अर्थ लिया गया है, वह 'मुँह' अथवा 'खाना' के सिद्ध अर्थों के आधार पर नहीं, बल्कि आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के आधार पर उनके सिद्ध अर्थ को साध्य अथवा भव्य अर्थ (लज्जित होना, झेंपना, सजा पाना इत्यादि) के आश्रित बनाकर लिया गया है। 'सिर पर चढ़ाना', 'मुँह लगाना', 'दाँत-तले उँगली देना' इत्यादि ऊपर दिये हुए तथा नमूने के तौर पर नीचे दिये हुए कतिपय मुहावरों की अर्थ-बोधक शक्ति का सतर्कतापूर्वक अध्ययन करने से यही पता चलता है कि मुहावरों के द्वारा मनुष्य पर जो प्रभाव पड़ता है, वह मुहावरे के अंगभूत किसी एक या अधिक शब्दों के व्यक्तिगत व्यंग्यार्थ के कारण नहीं; बल्कि समूचे शब्द-समूह में शृंखलित किसी अनुपम व्यंग्य के कारण ही वह (मनुष्य) फड़क उठता है। 'सिर पर चढ़ना' के शब्दों का अर्थ लेकर चलें तो अभिधा के द्वारा किसी चीज को गाड़ी इत्यादि में चढ़ाने की तरह, एक स्थान से उठाकर, सिर पर लादना होगा। लक्षणा से इसी का अर्थ आदर देना हो जायगा, किन्तु इन दोनों अर्थों के अतिरिक्त एक तीसरा व्यंग्य भी इसमें छिपा है, जिसका बोध 'सिर पर चढ़ाना' इस पूरे वाक्यांश को सुनकर ही होता है। 'सिर पर चढ़ाना' इस मुहावरे से उच्छृंखल और अनुशासन न माननेवाला ढीठ बना देना, ऐसी ध्वनि निकलती है। यह ध्वनि पूरे वाक्यांश से निकलनेवाली ध्वनि है। अतएव कम-से-कम मुहावरों के क्षेत्र में तो अवश्य ही हम उन लोगों के पक्ष का समर्थन करेंगे, जो व्यंग्यार्थ को तात्पर्य के ही अन्तर्गत मानते हैं, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं मानते। मुहावरों की दृष्टि से तात्पर्याख्य वृत्ति ही वह तीसरी मुख्य शक्ति है, जो मुहावरों मे नाविक के तीरों की-सी अमोघ शक्ति फूँक देती है। नीचे दिये हुए मुहावरों को ऊपर बताई हुई कसौटी पर कसकर देखने और दस-पाँच नमूनों का विश्लेषण करने पर हमारे विचारों की पुष्टि हो सकती है— 'मुँह धो आना', 'मुँह धो रखना', 'मुँह की बात छीन लेना', 'सात-पाँच करना', 'सात धार होकर निकलना'; जैसे—'लग गई तेरी नजर वह होके निकला सात धार। ऐ बशीरन, कल मेरे बच्चे का सब खाया हुआ।'[1] 'सात घाट का पानी पीना', 'हाथ धोकर पीछे पड़ जाना', 'हाथ खुजलाना', 'पेट चलना', 'पेट पर पट्टी बाँधना', 'घी का कुप्पा लुढ़कना', 'देवता कूच कर जाना' (किसी के), 'कमर टूटना', 'रँगा सियार होना', 'उड़ान मारना', 'अपना उल्लू सीधा करना,' 'अपना घर समझना'।

ध्वनि की दृष्टि से प्रत्येक अक्षर और अर्थ (अभिधेयार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ) की दृष्टि से प्रत्येक शब्द, जिस प्रकार भाषा में एक इकाई होता है, तात्पर्य की दृष्टि से प्रत्येक मुहावरा भी भाषा की एक इकाई ही होता है। मुहावरे का तात्पर्यार्थ समझने के लिए उसका अन्वय अथवा किसी प्रकार का विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं होती। उसके अक्षर और शब्दों को छूने तक का किसी को अधिकार नहीं होता। संक्षेप में मुहावरे को ज्यों-का-त्यों लेकर एक इकाई के रूप में ही उसका अर्थ किया जाता है। 'रँगा सियार होना'—इसके टुकड़े करके 'रँगा' और 'सियार' के सिद्ध अर्थों को लेकर हम इस मुहावरे का तात्पर्य नहीं समझ सकते। इसका आशय समझने के लिए हमें इसकी तात्पर्याख्य वृत्ति से ही काम लेना पड़ेगा। अतएव तात्पर्याख्यवृत्ति ही मुहावरों की मूल शक्ति है।

'फरहंग आसफिया' के नम्बर २, 'हिन्दी विश्वकोष', 'हिन्दी शब्द-सागर के नम्बर १, 'वेबस्टर—कोष' के नम्बर ३ ब और ४, फाऊलर साहब के 'मॉडर्न इंगलिश यूसेज' के नम्बर ६ तथा दिनकरजी, रामदहिन मिश्र प्रभृति विद्वानों के द्वारा बताये हुए मुहावरे के लक्षणों की व्यंजना (तात्पर्याख्यवृत्ति) के लक्षणों से 'एक जान दो कालिब (शरीर)' का-सा सम्बन्ध है। इस प्रसंग में ध्यान देने की बात

१. 'हिन्दी मुहावरे'—रामदहिन मिश्र।

यह है कि प्रायः सभी विद्वानों ने व्यंजना-सिद्ध वाक्य या वाक्यांश को मुहावरा के अन्तर्गत माना है, व्यंजना-सिद्ध शब्द को नहीं। पूर्व-मीमांसक के समर्थकों ने 'व्यंजना' और 'तात्पर्य' में केवल यही भेद माना है कि एक का सम्बन्ध शब्द से है, दूसरे का किसी शब्द-समूह की इकाई रूप से; अर्थात् एक का क्षेत्र व्यंजना-सिद्ध शब्द है और दूसरे का व्यंजना-सिद्ध वाक्य। अतएव व्यंजना-सिद्ध वाक्य होने के कारण 'मुहावरा' तात्पर्याख्य वृत्ति के ही अन्तर्गत रहता है। अब चूँकि किसी मुहावरे के तात्पर्यार्थ का 'स्वर' (Accent) से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए संक्षेप में उसपर भी थोड़ा विचार कर लेना उचित है।

स्वर

स्वर से, जैसा प्रायः सभी लोग जानते हैं, हमारा अर्थ किसी शब्द के किसी एक विशेष खंड अथवा अक्षर को अथवा किसी मुहावरे में किसी एक शब्द या खंड को उच्चारण की दृष्टि से एक विशेष महत्त्व देना है। इसका प्रारम्भ ऐतिहासिक हो, सुख-सुख के लिए किया गया हो, एक ही प्रकार की स्वर-लहरी से थककर उसे भंग करने के लिए अथवा शब्दों में नई स्फूर्त्ति और नई प्रगति भरने के लिए हो अथवा किसी शब्द या वाक्य के सिद्ध अर्थ को बदलने, उसमें सन्देह करने अथवा व्यंग्यार्थ उत्पन्न करने के लिए किया गया हो; और, या इसी प्रकार के किसी अन्य कारण से हो, कुछ भी हो, और कैसे भी हो, यह विशेषता प्रायः सभी भाषाओं में पाई जाती है। सौभाग्य की बात है कि स्वर-विज्ञानशास्त्र (Phonetics) के विशेष अध्ययन की ओर आज हमारे विद्वानों का ध्यान पहुँच चुका है। कई ग्रन्थ भी इस विषय को लेकर लिखे जा चुके हैं। प्रस्तुत प्रसंग में हम स्वर-शास्त्र के केवल उसी अंग को लेंगे, जिसका सीधा सम्बन्ध मुहावरों के तात्पर्यार्थ से है। किसी शब्द अथवा अक्षर पर कब और क्यों बल देते हैं, अथवा ऐसा करने से उसके समीपवर्त्ती शब्द या अक्षरों के उच्चारण में क्या विकार उत्पन्न हो जाता है, अथवा उदात्त, अनुदात्त और स्वरित से वैयाकरणों का क्या अभिप्राय है इत्यादि, स्वर-विज्ञान-शास्त्र के विभिन्न पक्षों के विशिष्ट अध्ययन को यहाँ छोड़कर हम इस प्रकरण में केवल इतना ही बताने का प्रयत्न करेंगे कि 'स्वर' अथवा 'काकु' के प्रभाव से मुहावरों का तात्पर्यार्थ किस प्रकार बदल जाता है। 'स्वरोपि काक्वादिरूप: काव्ये विशेष-प्रतीतिकृदेव', काकु आदि के रूप में भी वास्तव में 'स्वर' के द्वारा किसी गूढ़ पदार्थ को एक विशिष्ट अर्थ में समझने में सहायता मिलती है। एक ही बात को स्वर बदलकर कहने में उसका अर्थ बदल जाता है। 'वेणीसंहार' के प्रथम अंक में भीम प्रतिज्ञा करते हुए कहता है—'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्।' इस वाक्य को यदि विना किसी शब्द पर बल दिये साधारण तौर से पढ़ें, तो इसका अर्थ होगा कि मैं कोप से सौ कौरवों को युद्ध में नहीं मारूँगा, किन्तु यह अर्थ भीम की उस प्रतिज्ञा के, 'कि मैं समस्त कौरवों का नाश कर दूँगा', बिल्कुल प्रतिकूल बैठता है। अतएव इसी पद्य को स्वर बदलकर पढ़ने पर इसका अर्थ उसकी प्रतिज्ञा के अनुरूप हो जाता है। क्या मैं सारे कौरवों को नष्ट नहीं करूँगा, अर्थात् अवश्य करूँगा। 'अपना घर समझना' एक मुहावरा है, जिसे भिन्न-भिन्न शब्दों पर बल देकर भिन्न-भिन्न स्वरों में पढ़ने पर भिन्नाभिन्न ध्वनियाँ (तात्पर्यार्थ) निकलती हैं। 'अपना घर समझना' का साधारण 'अर्थ संकोच न करना' होता है; किन्तु 'अपना' शब्द पर बल देकर यदि हम कहें—'अपना घर समझो', तो इसका अर्थ होगा कि यहाँ की वस्तुओं का उचित उपयोग करो, अपने घर का जैसा उपयोग करते, वैसा ही करो—ऐसा प्रायः किसी वस्तु का दुरुपयोग होते देखकर कहा जाता है। फिर यदि 'घर' शब्द पर बल देकर कहा जाय—'अपना घर समझ लिया', तो इसका और ही अर्थ हो जायगा। 'अपना' और 'घर' दोनों शब्दों पर जोर देकर पढ़ने पर तो और भी विचित्र अर्थ निकलने लगेगा। 'अपना टका सीधा करना', 'अपने काम से काम होना'

'अपनी बात रखना', 'रोते फिरना' इत्यादि मुहावरों में क्रमशः 'टका', 'अपने काम', 'अपनी' और 'रोते' शब्दों पर बल देकर पढ़ने पर आप देखेंगे कि अर्थ में कितना भेद हो जाता है।

'जूतियाँ सिर पर रखना'—इस मुहावरे को 'जूतियाँ सिर पर रखूँ' इस प्रकार पढ़ने से बिल्कुल उलटा अर्थ हो जाता है और इसी को केवल जूतियों पर बल देकर पढ़ने से 'क्या जूतियाँ सिर पर रखूँ'—यह अथ हो जाता है। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि केवल काकु के द्वारा स्वीकृति से निषेध और साधारण से प्रश्नवाचक ध्वनियाँ किस प्रकार अपने-आप प्रकट हो जाती हैं। और भी 'दिल बाग़-बाग़ हो जाना' एक मुहावरा है, जिसका अपने किसी बिछुड़े हुए मित्र अथवा प्रेमी के मिलने पर उपयोग करने से जिस रस की अनुभूति होती है, अपना अनिष्ट चाहनेवाले किसी व्यक्ति के लिए उन्हीं शब्दों को थोड़े स्वर-भेद से कहने पर ठीक उसके विरुद्ध रस का भास होता है।

सिनेमा और नाटक के रंगमंचों से लेकर धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक मंचों पर तक लोग प्रायः स्वर की सहायता से ही जनता को हँसाया और रुलाया करते हैं। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के पृष्ठ १८७ पर जो कुछ लिखा है, उससे हमारे कथन का और भी अधिक स्पष्टीकरण हो जाता है। देखिए—

'उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा।'
वर्णाश्चत्वार एव स्युः पाठ्ययोगे तपोधनः॥

तत्र हास्य-शृंगारयोः स्वरितोदात्तवीररौद्राद्भुतैः (तेष ?) उदात्तकम्पितैः करुणवात्सल्य भयानकेषु अनुदात्तस्वरितकम्पितैवर्णैः पाठ्यमुपपादयति।"

स्वर अथवा काकु स्वर को 'संयोग', 'वियोग', 'साहचर्य' इत्यादि के साथ गिनकर बहुत-से विद्वानों ने उसे भी व्यंजना की चौदह परिस्थितियों में से एक मान लिया है। संभवतः इसीलिए 'वेद एव न काव्ये' कहकर विद्वानों ने काव्य में उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं की है। हमारा अपना अनुभव और अध्ययन इसके बहुत-कुछ प्रतिकूल है। जहाँ संयोग आदि 'अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैः एकत्रार्थे नियन्त्रिते......' किसी अनेकार्थ शब्द को एक विशेष अर्थ में बाँध देते हैं, स्वर अथवा काकु स्वर उनके दूसरे अर्थों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता। विश्वनाथ ने स्वरों का विवेचन करते हुए अपने 'साहित्य-दर्पण' के द्वितीय परिच्छेद में लिखा है—

"स्वराः काक्वादयः उदात्तादयो वा व्यंग्यरूपमेव विशेषं प्रत्याययन्ति, न खलु प्रकृतोक्तमनेकार्थशब्दस्यैकार्थनियन्त्रणरूपं विशेषम्।'

अर्थात् स्वर चाहे उन्हें काकु (स्वर-परिवर्त्तन) के रूप में लें और चाहे उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों के रूप में लें, वे केवल व्यंग्यार्थ के रूप में एक विशिष्ट आशय का बोध कराते हैं। किसी शब्द को, जिसके एक से अधिक अर्थ संभव हैं, वे कभी एक अर्थ में नहीं बाँध देते। जब कि व्यंजना में अनेकार्थ शब्द को किसी एक विशेष अर्थ में जकड़ दिया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि संयोग, वियोग, साहचर्य इत्यादि[१] किसी शब्द को, जिसके एक से अधिक मौलिक अर्थ सम्भव हैं, किसी एक विशिष्ट अर्थ में सीमित कर देते हैं। अतएव, चूँकि स्वर की गणना भी 'संयोग', वियोगादि के साथ ही हुई है, इसे भी एक शब्द को उसके बहुत-से सम्भव अर्थों में से किसी एक अर्थ-विशेष में सीमित करना चाहिए; किन्तु काकु के रूप में स्वर किसी अनेकार्थ शब्द को किसी एक विशेष अर्थ-में सीमित नहीं करता, वह तो किसी वाक्य में प्रयुक्त शब्दों से जो अर्थ निकलता है, उससे भिन्न किसी आशय की ओर संकेत करता है। प्रदीप के शब्दों में यों कह सकते हैं—

'काकुस्थले तु न नानार्थाभिधानियमनं किं स्वपदार्थस्यैव व्यंजनम्।'

---

१. 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

इसी प्रकार उदात्त के रूप में स्वर भी, जैसा भरतमुनि ने लिखा है, किसी शब्द के अर्थ को सीमित नहीं करता है, बल्कि इसके प्रयोग से किसी भाषण अथवा प्रवचन में प्रेम इत्यादि के रसों का अनुभव होने लगता है। हमारे एक आदरणीय मित्र और सम्बन्धी प्रायः अपनी लड़कियों को प्यार में ब्लडी स्वाईन (bloody swine) कहकर डाँटा करते हैं; लेकिन वह ऐसे स्वर में इस वाक्यांश को कहते हैं कि मानो वह अपनी लड़कियों पर प्रेम उड़ेल रहे हैं। ऐसा लगता ही नहीं कि वह रुष्ट हैं। संक्षेप में स्वर का यही इतिहास है।

सेवाग्राम आश्रम में हमारे साथ मद्रास के एक भाई रहते थे। हिन्दी का अभ्यास तो उन्होंने किया था, मुहावरों का प्रयोग भी जानते थे और व्याकरण का भी अच्छा-खासा ज्ञान था; किन्तु फिर भी लोग प्रायः उनसे असन्तुष्ट हो जाते थे। इसका कारण उनका मद्रासी स्वर में हिन्दी-मुहावरों का प्रयोग था। खाना परोसते समय बड़े प्रेम से भी जब वह किसी नवागन्तुक से कहते—'थाली साफ करनी पड़ेगी', तो उनके स्वर की स्वाभाविक कड़क के कारण प्रायः नये लोग खीझ जाते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि मुहावरों का अच्छा ज्ञान होने पर भी यदि स्वर अथवा काकु में दोष है, तो कहीं भी और कभी भी रंग में भंग हो सकता है। इस सम्बन्ध में अब भाषा की रग-रग को जानने और पहिचाननेवाले आचार्यवर पाणिनि की चेतावनी को उद्धृत करके स्वर और मुहावरों के इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। पाणिनीय शिक्षा की चेतावनी है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
सवाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधत॥' (पाणिनीय शिक्षा, श्लोक ५२)

मुहावरा और अलंकार

साहित्य के क्षेत्र में, जैसा पीछे भी कहा है, लोकोक्तियों अथवा कहावतों से कहीं अधिक उपयोगी मुहावरे होते हैं। मौलाना हाली के शब्दों में कहें, तो उनमें 'पस्त शेर को बुलन्द और बुलन्द को बुलन्दतर' करने की सामर्थ्य होती है। वे भाषा को न केवल अलंकृत कर देते हैं, वरन् उसमें एक नया जीवन भी फूँक देते हैं। किन्तु, फिर भी जिन वाक्यों अथवा रचनाओं में लोकोक्तियों का प्रयोग होता है, उन्हें तो संस्कृत-साहित्य में 'लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते' कहकर लोकोक्ति-अलंकार का पद मिल गया; परन्तु साहित्य के तार-तार में जड़े हुए सितारा-रूप मुहावरों के नाम पर किसी स्वतन्त्र अलंकार की सृष्टि नहीं की गई। ऐसी स्थिति में यदि कोई मुहावरा-प्रेमी सज्जन संस्कृत-साहित्य और उसके निर्माताओं से यह पूछ बैठते हैं कि क्या वाग्विलास मुहावरों द्वारा अलंकृत नहीं होता, और यदि होता है तो फिर क्यों मुहावरों का प्रयोग आलंकारिक भी नहीं समझा गया, तो उन्हें दोष नहीं देना चाहिए। उनकी यह शंका बिना सिर-पैर की निरी कल्पना-मात्र नहीं है, उसमें काफी अंश सत्य का—वैज्ञानिक सत्य का—है। उनका कोई दोष है तो केवल इतना ही कि उन्होंने गम्भीरतापूर्वक सहृदयता से इसके 'क्यों' पर विचार नहीं किया, अन्यथा हमें विश्वास है, साँप भी मर जाता और लाठी भी न टूटती; उनका दुःख भी नष्ट हो जाता और संस्कृत-साहित्य पर कोई आरोप या आक्षेप भी न रहता।

संस्कृत-वाङ्मय के निर्माता तो द्रष्टा ऋषि और मुनि थे, मनस्वी और तपस्वी थे। उन्होंने अपनी उग्र तपस्या और दुस्साध्य योग-बल से जो कुछ देखा और अनुभव किया, उसी का सार तो वेद है। हम जो कुछ देखकर लिखते और किसी के बताने पर कहते हैं, वह लेख अथवा वाणी हमारी नहीं होती, इसीलिए तो वेदों को अपौरुषेय और संस्कृत को देववाणी कहते हैं। एक द्रष्टा के लिए दृश्य पदार्थ ही मुख्य होता है, उसका नाम नहीं। वह तो 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' को जानता है, 'शब्द भेदन अर्थभेदः' तो श्रोताओं और संकलनकर्त्ताओं की सृष्टि है, मुहावरों की प्रतिभा बहुमुखी होती है।

वे कहीं आकाश से बातें करते हैं तो कहीं पाताल की सैर करते हैं; कहीं आग लगाते हैं तो कहीं पत्थर बरसाते हैं, कहीं किसी सुन्दरी (भाषा सुन्दरी) का साज सजाते हैं तो कहीं किसी व्यास-गद्दी पर बैठकर श्रोताओं को नाच नचाते हैं। कहाँ तक कहें, लक्षणा, व्यञ्जना, अलंकार (शब्दालंकार और अर्थालंकार) स्वर और रस तक भाषा के प्रायः सभी क्षेत्रों में उनका अपना स्थान है, अस्तित्व है। लोकोक्ति की तरह उनका कार्य-क्षेत्र संकुचित और सीमित नहीं है। इसीलिए कदाचित् हमारे पूर्व-साहित्यकारों ने उन्हें केवल शब्द-शक्ति अथवा केवल अलंकार मानकर कोई एक नाम देना उचित नहीं समझा और प्रायः सर्वत्र ऐसे प्रयोगों के (विचित्र प्रयोगों के) लिए प्रयोग 'वाग्प्रयोग' अथवा अभिधान 'सिद्ध-प्रयोग' संज्ञा का ही प्रयोग किया है। 'मुहावरा' अलंकार हो या न हो, लेकिन मुहावरों में अलंकार होते हैं, यह हमारा दावा अवश्य है। अतएव 'मुहावरा' और 'अलंकार' में क्या सम्बन्ध है, इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न ही इस प्रकरण में हम करेंगे।

अलंकारों की परिभाषा करते हुए आचार्य मम्मट ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य-प्रकाश' में उनके ये तीन लक्षण बताये हैं—

१. 'उपकुर्वन्ति तं सन्तं ये दगद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेनुप्रासोपमादयः॥

अर्थात्, जिस प्रकार हार इत्यादि आभूषणों से शरीर के विभिन्न अंगों को विभूषित करके एक व्यक्ति आँखों को अधिक अच्छा और आकर्षक लगने लगता है, उसी प्रकार जिसके द्वारा कोई शब्द (वाक्य या वाक्यांश भी) और उसका अर्थ-सौन्दर्य के उत्कर्ष पर पहुँचकर लोगों को अधिक रुचिकर और आकर्षक लगने लगता है, उसे अलंकार कहते हैं।

२. **'वैचित्र्यं चालंकार'—अर्थात्** (भाव अथवा भाषा ही विचित्रता ही अलंकार है) विचित्रता स्वयं अलंकार है।

३. **सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते।**
—अर्थात् सर्वथा निराले ढंग से किसी बात को कहना ही अलंकार का प्राण-तत्त्व है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी अँगरेजी-साहित्य में अलंकार (Figure of speech) की आचार्य मम्मट से बिल्कुल मिलती-जुलती ही परिभाषा की है। वे भी किसी बात को अधिक प्रभावोत्पादक बताने के लिए सरल और साधारण ढंग को छोड़कर किसी विचित्र ढंग से उसे व्यक्त करने को अलंकार मानते हैं[१]। मुहावरे के लक्षणों पर विचार करते समय उर्दू, फारसी, हिन्दी और अँगरेजी के जिन प्रसिद्ध कोषकारों और सुलेखकों को हमने पीछे उद्धृत किया है, उनका सिंहावलोकन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अलंकार की आचार्य मम्मट और पाश्चात्य विद्वानों ने जो परिभाषा की है, वह फरहंग आसफिया के नम्बर २, अर्थात् वह कलमा या क्लाम, जिसे चन्द सकात ने लगवी मानी की मुनासिबत या गैरमुनासिबत से किसी खास मानी के वास्ते मुख्तस कर लिया हो और 'शब्द-सागर' के 'किसी एक भाषा में दिखाई पड़नेवाली असाधारण शब्द-योजना अथवा प्रयोग'—इस वाक्य में मुहावरे का जो लक्षण बताया गया है, उससे बिल्कुल मिलती है। किसी वाक्य के अभिधेयार्थ की चिन्ता न करते हुए उसे किसी विशेष अर्थ में रूढ़ कर लेना तथा असाधारण शब्द-योजना अथवा प्रयोग—दोनों ही किसी बात को सर्वथा निराले ढंग से कहने की सूचना देते हैं, अतएव दोनों ही अलंकार के प्राणतत्त्व-जैसे हैं। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के नम्बर २—कभी-कभी किसी विशेष भाषा क विचित्रता भी (मुहावरा कहलाती) है। वेबस्टर-कोष के नम्बर ३-अ—किसी भाषा के विशेष ढाँचे में

---

१. "A deviation from the plain and ordinary mode of speaking with a view to greater effect."

ढला वाक्य। 'आक्सफोर्ड इंगलिश कोष' के नम्बर ४ :—'विशिष्ट रूप या गुण, विचित्र स्वभाव, विचित्रता।' 'वारसेस्टर के नम्बर २'—किसी भाषा का विचित्र स्वभाव, या उरुझान। और सर जेम्स मरे के नम्बर ३—'किसी भाषा की विचित्र अभिधान-रीति' इत्यादि उद्धरणों में मुहावरे के जो लक्षण बताये गये हैं, उन सबका निचोड़ यही है कि सरल और साधारण ढंग को छोड़कर किसी विचित्र ढंग से बात कहना ही 'मुहावरा' का मुख्य लक्षण है। इसलिए आचार्य मम्मट और 'वेन' के द्वारा की हुई अलंकार की परिभाषा तथा विभिन्न कोषकारों के द्वारा गिनाये गये 'मुहावरा' के ये लक्षण एक ही सिक्के के दो पहलू अथवा एक ही कृष्ण के विराट् और रूढ़-सौम्य रूप हैं—एक ज्ञान सिद्ध है और दूसरा प्रयोग-सिद्ध।

हिन्दी-मुहावरों पर विचार करते समय अपनी पुस्तक 'हिन्दी-मुहावरे' की भूमिका, पृष्ठ ११ पर, पंडित रामदहिन मिश्र लिखते हैं—'मुहावरों में अलंकारों की भी बड़ी भरमार देखी जाती है। उसमें उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, लोकोक्ति आदि अलंकार प्रायः रहते हैं। जैसे, 'मानो धरत-पर पैर ही नहीं रखता', 'बिच्छू-सा डँस गया'। 'इस बात का झंडा उड़ाये फिरना', 'आकाश-पाताल बाँध दिया', 'हाथ को हाथ पहिचानता है' इत्यादि। अर्थालंकार की भाँति शब्दालंकार भी मुहावरे में खूब ही मिलते हैं। जैसे—'तन छीन मन मलीन दीन हीन हो गया', इत्यादि।' मुहावरों में आनेवाले कुछ थोड़े-से अलंकारों का उदाहरण-सहित संक्षिप्त परिचय देकर मिश्र जी ने स्वतन्त्र रूप से इस विषय पर लिखने की जिज्ञासा रखनेवाले पाठकों को प्रकाश दिखा दिया है। मिश्र जी के इस कथन से 'मुहावरों में अलंकार है'—हमारे इस दावे की पुष्टि हो जाती है। इसलिए हिन्दी-मुहावरों में कौन-कौन और कुल कितने अलंकार हैं, इस प्रसंग को अब और न बढ़ाकर हम यही समझाने का प्रयत्न करेंगे कि इन दोनों के सम्बन्ध का मूल-बिन्दु कहाँ है।

'साहित्यदर्पण' के दसवें परिच्छेद का भाष्य करते हुए अपनी पुस्तक के पृष्ठ ८६ पर एक जगह श्री पी० वी० काणे लिखते हैं—

"अलंकारों का वर्गीकरण प्रायः 'सादृश्य', 'विरोध और 'लोक न्याय' इत्यादि के आधार पर भी होता है [Alankars are often classified as those based upon सादृश्य, विरोध, लोक-न्याय etc.,] पाश्चात्य विद्वानों ने भी अँगरेजी अलंकारों का वर्गीकरण सादृश्य (similarity), विरोध (Contrast) और सन्निधि (Contiguity)—बुद्धि की इन तीन प्रवृत्तियों अथवा क्रियाओं के आधार पर ही किया है। जैसा कि आगे चलकर 'मुहावरे क्यों और कैसे बनते हैं' इस प्रकरण में हम बतलायेंगे, मुहावरों के निर्माण में भी बुद्धि की इन तीनों प्रवृत्तियों का गहरा हाथ है। वास्तविक अलंकार और मुहावरों के सम्बन्ध का मूलबिन्दु तो मनुष्य की बौद्धिक क्रियाओं की समानता है। दोनों का मूलबिन्दु एक होते हुए भी लौकिक दृष्टि से हम दोनों को एक नहीं कह सकते। दोनों में काफी अन्तर है। न तो हरेक अलंकार मुहावरे की कोटि में आ सकता है और न हरेक मुहावरा ही केवल अलंकार के प्रकोष्ठ में समा सकता है। अलंकारों के वे ही और केवल वे ही विशिष्ट प्रयोग, जो चिरकाल से जनता की जबान पर चढ़े होने के कारण रूढ़ अथवा सिद्ध हो गये हैं, मुहावरा 'पद' पाने के अधिकारी हैं। लक्षणा के प्रकरण में जैसा हमने कहा था, शब्द-शक्तियाँ और अलंकार तो मुहावरों की टकसाल हैं, यहीं से लोक-व्यवहार के सिद्ध साँचों में ढल-ढलकर वे साहित्य को कुबेरत्व प्रदान करते हैं।

अब अन्त में 'सादृश्य', 'विरोध' और 'सन्निधि' अथवा लोक-न्याय के आधार पर निर्मित अथवा संकलित कुछ मुहावरे पाठकों के समक्ष रखकर प्रस्तुत प्रकरण को समाप्त करेंगे।

१ सादृश्यमूलक मुहावरे

'लाल अंगारा होना' (उपमा), 'बरफ को मात करना' (व्यतिरेक), 'अंगार बरसना' (रूपक), 'आप तो आप ही हैं' (अनन्वय)।

आज किधर से चाँद निकल आया, सोना सोना ही है। अनन्वय
पैसा ही पुरुषत्व और पुरुषत्व ही पैसा है। (उपमेयोपमा)

मुँह है कि म्युनिसिपैलिटी का कूड़ा-घर,	कालिख लगना,
आसमान से बातें करना,	धरती पर पैर न रखना,
पाला-सा मार गया,	आसमान सिर पर उठाना,
काला अक्षर भैंस बराबर होना,	धूल में मिलाना,
औने-पौने दे डालना,	बिजली गिरना,
दिन की तरह स्पष्ट होना,	कालकूट होना,
हवा से बातें करना,	आग लग जाना (बदन में)।

२. विरोधमूलक मुहावरे

सींक सलाई होना,	हाथी होना,
पानी से प्यास न बुझना,	दायें-बायें न देखना,
ऊँच-नीच देखना,	जीभ कतरनी होना,
इधर-उधर करना,	फूँक से पहाड़ उड़ाना, रस विष करना।

३. सन्निधि[1] अथवा स्मृतिमूलक मुहावरे

चूड़ी तोड़ना, (वैधव्यसूचक)	सुहाग लुट जाना,
सिन्दूर चढ़ना, (विवाहसूचक)	माँग भरना,
दिया गुल होना, (वंशनाशसूचक)	भूत नाचना,
थू-थू करना,	मुँह बनाना (सूक्ष्म)
जमीन कुरेदना,	कान खड़े होना।

नमूने के तौर पर ऊपर जितने मुहावरे दिये गये हैं, 'वैचित्र्यं चालंकारः, की कसौटी के अनुसार उन सबकी गणना अलंकारों के अन्तर्गत अवश्य हो जाती है;' किन्तु यह स्मरण रहना चाहिए कि उनके एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाने के कारण, मुहावरे की दृष्टि से अलंकारों से अब उनका सम्बन्ध वैसा और उतना ही है, जैसा और जितना सोने अथवा चाँदी का उनके देशव्यापी सिक्कों से होता है। ऐसे सिद्ध प्रयोगों को संभवतः इसीलिए बहुत-से विद्वानों ने अर्थालंकार के अन्तर्गत न रखकर रूढ़ि-लक्षणा में ही गिना है। अब शब्दालंकार के कुछ चलते-फिरते मुहावरे देखिए—

'आय-बांय-शांय बकना',	'अंजर-पंचर ढीले होना',	'खील-खील करना',
'बोरिया-बिस्तरा बाँधना',	'ईंट-ईंट करना',	'देर-सबेर'
'कच्चा-पक्का',	'रिमझिम-रिमझिम',	'नाम न निहोरा, इत्यादि'।

जैसा हम आगे चलकर बतायेंगे, मुहावरों की शब्द-योजना में हम कोई फेर-फार नहीं कर सकते, न तो एक शब्द घटा सकते हैं और न एक शब्द बढ़ा सकते हैं और नाहीं एक शब्द की जगह दूसरा शब्द अथवा एक जगह का शब्द दूसरी जगह रख सकते हैं। अतएव मुहावरों की विचित्र शब्द-योजना पर कभी कोई उँगली नहीं उठा सकता, उनके शब्दों की अलंकारिता ज्यों-की-त्यों ही बनी रहेगी। ऐसी स्थिति में मुहावरों को अलंकारों से सर्वथा अलग और अछूता कहना उपयुक्त नहीं है।

---

१. (1) The sign, or symbol or any significant adjunct. (ii) The instrument for the agent. (iii) The container for the things contained, (iv) An effect is given for the cause. (v) An author is put for his works.

शारीरिक चेष्टाएँ और मुहावरे

आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च।
मुखनेत्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥

शास्त्रकारों ने हाव-भाव, संकेत, गति, चेष्टा, भाषण और मुख एवं नेत्रों के विकार को मन के अन्दर की बात जानने का साधन माना है। हाव-भाव, संकेत, चेष्टा, गति और मुख एवं नेत्रों के विकारों को यदि हम अनुभाव के अन्तर्गत ले लें, तो हम कह सकते हैं कि किसी व्यक्ति के मानसिक भावों को या तो हम उसके तत्सम्बन्धी भाषण अथवा वक्तव्य के द्वारा जान सकते हैं, और या उसकी अस्पष्ट ध्वनियों और शारीरिक चेष्टाओं इत्यादि अनुभावों की सहायता से। भाषण अथवा भाषा के द्वारा मनोभावों को व्यक्त करने की चर्चा शब्द-शक्ति और अलंकार के प्रसंग में पहले हो चुकी है। इसलिए अब हम पहले शारीरिक चेष्टाओं के द्वारा भावाभिव्यक्ति पर विचार करके अस्पष्ट ध्वनि और उसके द्वारा व्यक्त होनेवाले मनोभावों की मीमांसा करेंगे।

प्राणिवर्ग में प्रत्येक मानसिक प्रवृत्ति के साथ तदनुरूप एक शारीरिक चेष्टा होती है। इन शारीरिक चेष्टाओं में कुछ सूचक क्रियाएँ होती हैं। स्वामी को देखकर कुत्ते का कूँ-कूँ करते हुए पूँछ हिलाना और छोटे बच्चे का खिलौना पाकर नाचने लगना प्रायः सभी ने देखा होगा। इन शारीरिक क्रियाओं का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर यह निश्चित हो जाता है कि शारीरिक क्रियाएँ, प्रत्येक मानसिक चेष्टा की विशिष्ट भावना के एकदम अनुरूप होती हैं।

मनुष्य और मनुष्येतर अन्य प्राणी—सबमें विशिष्ट भावों की तीव्रता ही मुख्य रूप से शारीरिक क्रियाओं का मूल कारण होती है। छोटे-छोटे बच्चे, बन्दर, कुत्ते, बिल्ली, चिड़ियाँ यहाँ तक कि मक्खी और चींटी तक में हम नित्य-प्रति के अपने जीवन में उनकी विशेष भावनाओं को उत्तेजित करके उनकी शारीरिक क्रियाओं का खेल देखा करते हैं। हमने कितने ही लोगों को देखा है और स्वयं भी अनुभव किया है कि चित्त में थोड़ा भी क्षोभ हुआ और दिल धड़कने लगा, नाड़ी तेज हो गई। (दिल पर हाथ रखकर देखा, दिल धड़कने लगा इत्यादि मुहावरे इसी स्थिति के सूचक है।) यह चित्त-क्षोभ,ज्यों-ज्यों तीव्र होता जाता है, त्यों-त्यों शारीरिक क्रियाएँ भी अधिक व्यक्त और विशद होती जाती हैं। यदि भय के कारण क्षोभ हुआ है, तो मुँह का रंग फीका पड़ जाता है, स्नायु संकुचित हो जाते हैं, आँखें सहम जाती हैं, इत्यादि-इत्यादि। किन्तु यदि क्षोभ का कारण क्रोध है, तो सारा मुँह तमतमा जाता है, लाल अंगारा हो जाता है, आँखें चढ़ जाती हैं, फैल जाती हैं। नाक-भौं चढ़ जाते हैं, होंठ काँपने लगते हैं, कभी-कभी तो जबान भी लड़खड़ाने लगती है और आँख से आँसू भी निकल पड़ते हैं। 'होंठ काटना' और 'दाँत पीसना' ये सब क्रोध के ही लक्षण हैं। विरह और मिलन तथा हर्ष और विषाद के कारण भी जो क्षोभ होता है, उससे भी मुखाकृति में तरह-तरह के विकारों का उदय-अस्त होता रहता है। अँगरेजी की कहावत 'मुँह से मन का पता चल जाता है' (Face is the index of mind), 'अरबी का मुहावरा—'कयाफा(मुँह) देखकर पहचान लेना', 'सूरत बता देगी' इत्यादि मुहावरों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के मन में चलनेवाले भावों की फिल्म को देखने के लिए उसकी मुखाकृति सर्वोत्तम और सर्वोपयोगी चित्रपट है। इस चित्रपट पर क्रूरता की साकार मूर्त्ति हैलेट और नीदरसोल से लेकर सत्य, अहिंसा और प्रेम की सौम्य मूर्त्ति महात्मा गांधी तक, के न मालूम कितने और कैसे-कैसे चलचित्र हमने देखे हैं, किन्तु प्रसंगानुकूल न होने के कारण अति रोचक होते हुए भी उन्हें यहीं छोड़कर अब हम शरीर के दूसरे अवयवों पर एक नजर डालकर देखेंगे कि अपने स्वामी मन के क्षुब्ध होने पर उनकी क्या दशा होती है। जैसा हमने कहा है कि ज्यों ज्यों क्षोभ बढ़ाता जाता है, शारीरिक चेष्टाएँ भी अधिक-अधिक तीव्र और विस्तृत होती जाती हैं। जहाँ मुखाकृति में विकार हुआ, वहाँ विकार की यह क्रिया मुँह की मांस-पेशियों से आगे बढ़कर हाथ और

पैरों पर भी कब्जा कर लेती हैं, और अन्त में जैसा प्रायः सब लोगों ने अनुभव किया होगा, नहीं तो कम-से-कम देखा और सुना तो अवश्य होगा—मनुष्य लड़खड़ाने लगता है, उसका शरीर काँप उठता है। रोंगटे खड़े होते जाते हैं, मुट्ठियाँ मिच जाती हैं—कभी-कभी तो यहाँ तक देखा गया है कि लोगों का पखाना-पेशाब निकल जाता है। यह अवस्था भय और क्रोध के समय होती है। प्रेम, आनन्द, शोक इत्यादि के समय भी सब अवयवों में विकार तो अवश्य होते हैं; परन्तु उनका रूप इनसे सर्वथा पृथक् रहता है। जैसे-जैसे चित्त की यह क्षुब्धता अधिक तीव्र होती जाती है, वैसे-ही-वैसे शरीर की यह वाह्य चेष्टाएँ भी अधिक क्रियाशील होती जाती हैं। हाथ-पैर पटकना, सिर धुनना, छाती कूटना, पैर पटकना इत्यादि कितनी ही अति उग्र चेष्टाएँ उसकी हो जाती हैं। तीव्र से तीव्रतर और तीव्रतर से कुछ और अधिक तीव्रतर होते-होते जब यह अवस्था तीव्रतम होकर क्षोभ के अन्तिम बिन्दु पर पहुँचती है, तब यह मानसिक विप्लव अचानक रुक जाता है। इसके रुकते ही, अनुभवी लोग आपको बतायेंगे कि तुरन्त, पल-विपल के हिसाब से, ठीक उसी समय, तदनुरूप समस्त शारीरिक चेष्टाएँ भी एकदम रुक जाती हैं; स्नायु ढीले हो जाते हैं, हाथ-पाँव भी जवाब दे देते हैं, आँखें पथरा जाती हैं, आदमी गिर पड़ता है, मूर्छित हो जाता है। इतना ही नहीं, कभी-कभी अस्थायी और कभी-कभी बिल्कुल स्थायी रूप से हृदय की धड़कन और श्वासक्रिया भी बन्द हो जाती है। 'दिल दहल जाना', 'हार्ट फेल हो जाना', 'साँस रुक जाना', 'साँस न लेना', 'भीतर की साँस भीतर रुक जाना' इत्यादि मुहावरे इसी अवस्था के प्रतिनिधि हैं।

अबतक जिन शारीरिक चेष्टाओं का वर्णन हमने किया है, उनका सम्बन्ध सीधे चित्त की क्षुब्धता से था; किन्तु उनके कार्यक्षेत्र की यहीं 'इतिश्री नहीं हो जाती। हम तो उन्हें एक स्वतन्त्र भाषा—मूक भाषा—ही मानते हैं, उनका कार्यक्षेत्र भी जीवन के व्यापारों-जैसा ही विशद और विस्तृत है। मूक चलचित्रों के दर्शक जानते हैं कि कैसे गूढ़ मनोभाव शारीरिक चेष्टाओं के द्वारा दर्शकों को न केवल बता दिये जाते हैं; बल्कि उनका प्रत्यक्ष अनुभव (रस की भूमि में) करा दिया जाता है। हमने तो यहाँ तक देखा है कि जहाँ वाणी असफल हो जाती है, वहाँ भी शारीरिक चेष्टा बाजी मार लेती है। 'रो देना' (किसी की हालत देखकर) एक मुहावरा है। हमने कितनी बार अखबारों में पढ़ा था कि नोआखाली की बहिनों पर हुए अत्याचारों को सुनकर और मनुष्य की नृशंस बर्बरता से प्रपीड़ित दीन-हीन किसान और हरिजनों के भूमिसात् झोपड़ों को देखकर धैर्य और शान्ति के अवतार महात्मा गाँधी भी रो पड़े। 'रो देना' या 'रो पड़ना' मुहावरों का जो अर्थ है अथवा उनका जो प्रभाव सुननेवालों पर पड़ना चाहिए, उसका तो हमें साक्षात्कार उस दिन हुआ, जब १६ दिसम्बर सन् १६४६ ई० की सुबह को हमने अपनी आँख से श्रीरामपुर के जले हुए झोंपड़े की जली हुई छत के नीचे बापूजी को रोते हुए देखा। आज 'रो देना' मुहावरा हमारे जीवन की एक क्रान्ति बन गया है। हम उसे भुला नहीं सकते, उसे भुलाना तो बापू को भुलाना है, सत्य और अहिंसा को भुलाना है, अपनेको और स्वयं वाग्देवी को भुलाना है। मुहावरों को हमने रामबाण कहा है, उनमें अमोघ शक्ति होती है, ऐसा कितनी बार हमने पढ़ा था और लिखा भी है; लेकिन उसका अनुभव और यदि योग की भाषा में कहें तो उसका दर्शन साक्षात्कार हमें उसी दिन हुआ है। अपने इस अनुभव और तद्विषयक मनन और चिन्तन के आधार पर हम कह सकते हैं कि मुहावरों में जो ओज, जो शक्ति और भाव-प्रदर्शन की सामर्थ्य है, वह उन्हें शारीरिक चेष्टाओं के साक्षात्कार से ही मिली है। कम-से-कम शारीरिक चेष्टाओं से सम्बन्ध रखनेवाले अथवा उन्हीं के वाचक मुहावरों को यथावत् समझने के लिए इन चेष्टाओं का पूर्ण अनुभव नहीं तो पूर्ण ज्ञान तो अवश्य होना ही चाहिए। यदि मन के भावों को एक अनूठे ढंग से व्यक्त करनेवाले किसी सिद्ध प्रयोग को मुहावरा कह सकते हैं, तो शारीरिक चेष्टाएँ पूर्ण रूप से मुहावरे की कोटि में आ जाती हैं।

उनमें अभिव्यक्ति का अनूठापन और प्रयोग की रूढ़ तो है ही, मर्मस्पर्शी भी वे मुहावरों से कहीं अधिक होते हैं। आगे चलकर मुहावरों का वर्गीकरण करते समय अन्तिम अध्याय में हम दिखायेंगे कि शारीरिक चेष्टाओं से कितने अधिक मुहावरे भाषा में आये हैं। इनका महत्त्व किसी विशिष्ट भाषा तक ही सीमित नहीं है। ये तो अन्तरराष्ट्रीय मुहावरा संघ के संभ्रात सदस्य हैं। आपके दूसरे मुहावरों को आपकी भाषा न जाननेवाले विद्वान् समझें या न समझें, किन्तु शारीरिक चेष्टाओं में सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरों को रूस का मजदूर, अफ्रीका का नीग्रो और आस्ट्रेलिया का किसान बराबर समझ लेगा, क्योंकि आपकी भाषा एक सम्प्रदायविशेष की भाषा है, किन्तु शारीरिक चेष्टाओं की भाषा मानवमात्र की ही नहीं, प्राणीमात्र की भाषा है; सार्वभौम और सार्वलौकिक है।

फैजाबाद जेल में एक मौनी बाबा थे, हम और वह यों तो शुरू से ही एक बैरक में रहते थे, किन्तु संयोग से एक बार हम दोनों को साथ साथ फाँसी-गारद (फाँसी पानेवालों को बन्द करने की कोठरियाँ) में रहना पड़ा। उन्हीं के साथ खाने पीने और उन्हीं के साथ टहलने से एक-दो दिन बाद ही हम उनकी भाषा में ही उनसे बातचीत करने लगे। इसके बाद जेल से मुक्त होने पर बापू जी के साथ रहने का सौभाग्य मिला। बापू तो अपनी शारीरिक चेष्टाओं के द्वारा राष्ट्र की गूढ़तम गुत्थियों को भी सुलझाकर मौन-दिवस में उनसे मिलने आनेवाले नेताओं के सामने रख देते थे। इन मूक शारीरिक चेष्टाओं का विश्लेषण करने पर उद्देश्य की दृष्टि से हम उन्हें 'प्रतिनिधि' 'व्यञ्जक' और 'प्रतीक' (स्वरूप चेष्टाएं)—इन तीन वर्गों में बाँट सकते हैं। अब उदाहरण के रूप में एक-एक दो दो मुहावरे देकर इनका अति संक्षिप्त विवेचन करते हुए इस प्रसंग को समाप्त करेंगे।

१. प्रतिनिधि—मन के भावों को उंगली, हाथ अथवा पैर की सहायता से शून्य में रेखाचित्र बनाकर अथवा उनके आकार या प्रभाव का अपने अंगों की चेष्टाओं से यथार्थ बोध करना। जैसे—'हवा में महल बनाना', 'जीभ निकाले फिरना', 'मुँह फैलाना', हाथ उठाना (किसी पर), 'नाक-भौं चढ़ाना', इत्यादि।
२. व्यञ्जक—उद्दिष्ट वस्तु या व्यक्ति के किसी एक लक्षण द्वारा पूर्ण की अभिव्यञ्जना करना। जैसे—'मूँछों पर ताव देना', 'मूँछें खड़ी करना'। इन दोनों क्रियाओं के द्वारा हम किसी धीरोदात्त व्यक्ति की ओर इशारा करते हैं।
३. प्रतीक—जहाँ अभ्यास और प्रचलन के कारण किसी शारीरिक चेष्टा का आशय अपने वाच्यार्थ से आगे बढ़ जाता है। जैसे—'मुँह फैलाना', 'भूख से बढ़कर हविस का और 'टांग फैलाकर सोना' निद्रावस्था को छोड़कर बेफिक्री का अर्थ देने लगा है।

अस्पष्ट ध्वनियाँ और मुहावरे

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अलग-अलग लोगों की अलग-अलग राय है। कोई कहते हैं—'भाषा स्वाभाविक थी और उसका क्रमिक विकास हुआ है, कोई उसे ईश्वर प्रदत्त मानते हैं और कोई अनुकरण, लोक-सम्मति अथवा रूढ़ि का फल। भाषा की उत्पत्ति में अनुकरण का महत्त्व अवश्य सबसे अधिक है; किन्तु वही उसका एकमात्र साधन है, यह कहना युक्तियुक्त अथवा योग्य नहीं है। प्राकृतिक ध्वनियों का अनुकरणमात्र करने की शक्ति तो मनुष्य और मनुष्येतर अन्य प्राणियों में भी है। अतएव यह कहना कि भाषा की उत्पत्ति में स्वभाव, अनुकरण और ईश्वरशक्ति अथवा वाक्शक्ति, तर्कशक्ति और अनुकरणशक्ति—इन तीनों का ही हाथ है, अधिक न्यायोचित और युक्ति-सम्मत मालूम होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें मुख्य स्थान अनुकरण का ही है।

हम जो कुछ कहते हैं, उसमें चूँकि ध्वनि के साथ ही एक संकेत भी रहता है। जैसे—किसी ने कहा 'पत्र'। इससे पेड़ से गिरते हुए पत्तों की-सी ध्वनि तो कान में पड़ी ही, एक पदार्थविशेष का संकेत भी मिला। इसलिए यह कहना कि हमारी वाणी में जो ध्वनि है, वह प्रकृति की ध्वनियों का प्रतीक है, सर्वथा स्वाभाविक है। संक्षेप में, प्रकृति की किसी ध्वनि का स्मरण करने के लिए वाणी में विद्यमान उसकी प्रतिध्वनि से काम लेना उतना ही स्वाभाविक ढंग है, जितनी किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के स्वरूप का चित्र बनाकर उसे याद करना। फरार (farror) के शब्दों में 'अनुकरण के सिद्धान्त पर बना हुआ शब्द अस्पष्ट ध्वनि से बना हुआ ही कहा जाता है[1]। रूप-विचार की दृष्टि से भाषा में इतने अधिक परिवर्त्तन हो जाने पर भी आश्चर्य होता है कि केवल अस्पष्ट ध्वनियों के अनुकरण पर ही बने हुए इतने अधिक शब्द और मुहावरे हमारी भाषा मे आज भी चल रहे हैं। किसी असभ्य और असंस्कृत जंगली जाति के शब्द-संग्रहों में तो आपको अधिकांश शब्द अस्पष्ट ध्वनियों के ही आधार पर बने हुए मिलेंगे। फरार तो किसी भी प्रगतिशील भाषा के सम्बन्ध में लिखता है, 'एक प्रगतिशील भाषा तो प्राथमिक ध्वनियों, पशुओं की चीत्कार तथा मशीन के कल-पुरजों के द्वारा होनेवाले शोरगुल के निरन्तर अनुकरण के द्वारा अपनेको बराबर समृद्ध करती रहती है[2]।

सबसे पहले आदमी ने जब पशु-पक्षियों का नामकरण किया होगा, तब उसके सामने उनकी व्यक्त ध्वनियों को ही अपने उच्चारण-प्रयत्न के अनुसार यथासम्भव कलात्मक ढंग से पुनः रखने के सिवा इतना स्पष्ट, सरल और उपयुक्त, दूसरा कौन रास्ता था, क्योंकि वह न तो केवल अपने मन और बुद्धि की सहायता से ही ऐसा कर सकता था और न किसी आकाशवाणी के आदेश पर ही। 'हाँ, अनुकरण का यहाँ किसी ध्वनि की कोरी 'तोते रटाई' अथवा किसी अनुभव का मनमाना प्रतिघात अर्थ नहीं है। अनुकरण का अर्थ है—किसी ध्वनि को सचेत होकर यथाशक्ति तदनुरूप ग्रहण करके अपने उच्चारण-प्रयत्न के अनुकूल ध्वनि और उसके द्वारा व्यक्त पदार्थ की समानता का विचार करते हुए अधिक से-अधिक उसी रूप में आवश्यक संशोधन करके उसे व्यक्त करना[3]। मनुष्य यदि केवल अनुकरणशक्ति से ही काम लेता तो सचमुच हमारी भाषा और तोतों की भाषा में कोई भी अन्तर न रहता। वास्तव में हमारी प्रत्येक ध्वनि में इसीलिए भाव की प्रतिध्वनि होती हुई सी, लगता है कि, हमारे अन्दर हम जो कुछ बोलते हैं, उसकी अर्थानुभूति करने एवं अपने आन्तरिक भावों को इन ध्वनियों के रूप में व्यक्त करने की अपार शक्ति है।

इन स्पष्ट ध्वनियों के आधार पर शब्द-रचना के दो ही स्पष्ट क्षेत्र अथवा मार्ग हैं—पहला वाह्य जगत् की ध्वनियों को कलात्मक ढंग से पुनः उत्पन्न करके और दूसरा किसी विशेष घटना या चमत्कार के प्रभाव से मनुष्य के अन्दर उत्पन्न भय, क्रोध, घृणा, उद्वेग अथवा उल्लास के अनुभवों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के अनुकरण द्वारा। इनमें पहले को हम ध्वनि-अनुकरण (Onoma topocil) और दूसरे को उद्‌गारिक तत्त्व कह सकते हैं। इन दोनों में कोई स्पष्ट और निश्चित भेद नहीं बताया गया है। ध्वनि-अनुकरणतत्त्व की तो भाषाविज्ञान के अधिकांश पंडितों ने प्रायः सर्वथा उपेक्षा की है।

प्रस्तुत प्रसंग में हम दोनों पर पूर्ण रूप से तो विचार नहीं कर सकते, किन्तु फिर भी यथाशक्ति दृष्टान्त दे देकर इन दोनों तत्त्वों के प्रत्येक पक्ष को समझाने का प्रयत्न करेंगे। 'कबीर', 'सूर', 'तुलसी', 'जायसी' इत्यादि से लेकर 'पंत', 'प्रसाद', 'निराला' इत्यादि आधुनिक

---

१. ओरजिन ऑफ लैंग्वेज, पृष्ठ—७३।
२. " " " पृष्ठ—७५।
३. ओरजिन ऑफ लैंग्वेज—पृष्ठ ७८ का भाव मात्र।

कवि और लेखकों तक को जब हम 'किलकारी मारना', 'झकझोर', 'जहाँ-तहाँ बवुक बिलोकि बुबकारी देत', 'कल-कल', 'टल-टल', 'सांय-सांय', 'हाय-हाय' इत्यादि ध्वनि के अनुकरण पर गढ़े हुए शब्दों का खुले आम प्रयोग करते देखते हैं, तो हमें निश्चय हो जाता है कि कितने ही स्थलों पर ऐसे शब्दों का प्रयोग किये बिना ऐसी भाषा का जो उपयुक्त और स्पष्ट हो, उपयोग करना अवश्य असम्भव हो जाता होगा। शब्द और मुहावरों के अपने संचित भांडार को देखकर बताइए कि बादलों की गड़गड़ाहट, मच्छरों की भनभनाहट, मक्खियों की घनघनाहट, तीरों की सनसनाहट, गाड़ियों की खटखटाहट, किवाड़ों की पटपटाहट, मोटर साइकिल की फटफटाहट, नदियों की कलकल मलमल टलटल, कुत्ते की भौं-भौं, मोटर की पौं-पौं और कौए का काँव-काँव इत्यादि को उसी ओज के साथ व्यक्त करने के लिए, उनकी स्वाभाविक ध्वनियों के अनुकरण पर तदनुरूप शब्द गढ़ लेने के अतिरिक्त और कोई साधन आपके पास है क्या? यदि आप स्वाभाविक ढंग से उन्हें व्यक्त करना चाहते हैं तो आपके पास और कोई चारा ही नहीं है, ध्वनियों का अनुकरण करना ही पड़ेगा। अनुकरण की शक्ति से ही भाषा में एकरूपता आती है, वह उग्र, ओजस्वी और प्रभावकारी बनती है। ब्लूमफील्ड[1] कहते हैं। 'जहाँ सर्वोत्कृष्ट रूप में भाषा होती है, वहाँ भी कैसे-न-कैसे इन अति प्राचीन आदिम ध्वनियों की छाया उसके साथ रहती है।

मनुष्य के उद्गारों से सम्बन्ध रखनेवाले इस तत्त्व को हम व्यवहार की दृष्टि से मुख्य और गौण, दो श्रेणियों में विभाजित कर लेते हैं। मुख्य तो वह अस्पष्ट ध्वनियाँ हैं, जो किसी उग्रतम परिस्थिति में पड़कर तीव्र भावावेश के कारण सहज ही मनुष्य के मुँह से निकल पड़ती हैं। निकलती तो गौण ध्वनियाँ भी भावावेश में ही हैं; किन्तु इनमें भावों की तीव्रता और परिस्थिति की उग्रता पहले से कुछ कम होती है। जब एक आदमी प्रमाद, भूल अथवा असावधानी से अचानक गर्म-गर्म तवे को छू लेता है अथवा अचानक कोई बर्रे या बिच्छू उसके हाथ में डंक मार देता है, तब उसके मुँह से एकदम 'ओह' निकल जाता है, अथवा कभी स्वप्न में डरकर चीख उठता है। किन्तु वही आदमी जब किसी ऐसे स्थान में आग देख लेता है, जहाँ उसके होने की आशा नहीं थी, तब इस समय वह कुछ अधिक स्पष्ट ध्वनि में आग-आग-आग चिल्लाने लगता है। अतएव गौण अस्पष्ट ध्वनियाँ मुख्य ध्वनियों से कुछ अधिक स्पष्ट भी होती हैं। दौड़ो-दौड़ो, खून-खून, चोर-चोर इत्यादि अर्थ की दृष्टि से अस्पष्ट होने हुए भी ध्वनि की दृष्टि से स्पष्ट हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में हमारा मुख्य उद्देश्य मुहावरों की दृष्टि से अस्पष्ट ध्वनियों पर विचार करना है, इसलिए अब हम मुहावरों के क्षेत्र से ही दृष्टान्त ले-लेकर अस्पष्ट ध्वनियों के उद्गारिक और ध्वनि-अनुकरण सम्बन्धी—इन दोनों तत्त्वों के प्रायः समस्त सम्भव पक्षों का संक्षिप्त विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे। मनुष्य के उद्गार प्रायः दुःख, क्रोध, भय, तृष्णा प्रसन्नता, उद्दंडता इत्यादि की कठोरतम परिस्थिति ही तीव्रता की उस चरम सीमा पर पहुँचते हैं, जहाँ उसे अपना कुछ भान नहीं रहता और उसके मुँह से अनायास कुछ निकल पड़ता है। यही नितान्त अस्पष्ट 'कुछ' बाद में किसी एक अर्थ में रूढ़ हो जाता है और 'मुहावरा' कहलाने लगता है। अब इनके कुछ नमूने देखिये—

१. दुख में— हाय-हाय करना, मचना, मचाना; आह निकल पड़ना, सी-सी करना तथा उफ्-आह इत्यादि से अथवा इनके आधार पर बने हुए दूसरे मुहावरे,
२. क्रोध में— हूँ-हूँ, उँह-हूँ, ऊं-आँ करना, धता बताना, खाऊँ-फाड़ूं, धत् तेरे की, इत्यादि;
३. भय में— की-की करना, घिग्घी बँधना, घिग्घी बँधना, घिघयाना, सुबकियाँ भरना, इत्यादि;

---

१. "Even where language in the highest form exists, however, these most primitive reflexes occur by its side; The study of language by Bloomfield, page, 73.

४. घृणा में— छिः-छिः करना, दुर-दुर करना, थू-थू करना तथा इनके आधार पर बने हुए 'थूकते फिरना' इत्यादि;

५. प्रसन्नता में—आह-हा, आह-हा, 'उँऊँ-उँऊँ' वाह-वाह इत्यादि तथा इनके आधार पर बने हुए 'वाह-वाही होना' इत्यादि ;

६. उद्दंडता— हाँ, हाँ, हँ-हाँ, हुंकार भरना, इत्यादि तथा इनके आधार पर बने हुए 'हील हुज्जत करना' इत्यादि।

इनके अतिरिक्त इनसे मिलते-जुलते प्रेम, वैर, आश्चर्य इत्यादि अन्य मनोवेगों के क्षेत्र से आनेवाले मुहावरों के नमूने के लिए हम कुछ पंचमेल दृष्टान्त नीचे देते हैं। देखिए—

चोंचो-पोचो करना, चूमना-पुचकारना, झिड़कियाँ देना अथवा खाना, अरे-अरे करना, आंय-बांय-शांय बकना, उफ भी न करना, हे-हे करना, ठी-ठी करना, खी-खी दाँत फाड़ना, ही-ही करना, हा-हा-ही-ही मचना, हो-हो करना, हो-हा मचना इत्यादि-इत्यादि।

यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए और वह यह कि केवल उद्गारों की तीव्रता के कारण ही मनुष्य के मुँह से अस्पष्ट ध्वनियाँ नहीं निकलती हैं; बल्कि किसी बीमारी अथवा रुग्णावस्था में भी प्रायः उसके मुँह से ऐसी ध्वनियाँ निकल पड़ा करती हैं। निम्नांकित मुहावरों से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जायगा—

१. जोशान्दा (ओषधि) पी लो, नहीं तो 'टीं-टीं करते' फिरोगे। टीं-टीं करना, सुरड़-सुरड़ करना, सूं-सूं करते फिरना इत्यादि मुहावरे सर्दी या जुकाम के कारण निकलनेवाली अस्पष्ट ध्वनियों के आधार पर बने हैं। खाँसी, ज्वर इत्यादि के क्षेत्रों से भी इसी प्रकार बहुत-से मुहावरे आये हैं। नमूने के तौर पर कुछ मुहावरे नीचे देते हैं—

खों-खों करते फिरना (बिहार और बनारस में तो खाँसी का नाम ही खों-खों पड़ गया है), अत्थू-अत्थू मचाना, आय-आय करना या मचाना, हाय-हाय मचाना, हाय रे हाय रे करना या मचाना, ऊँह, ऊँह करना, ओ-ओ करना (ओकना) इत्यादि।

दूसरा वर्ग बाह्य-जगत की मनुष्येतर अन्य जड़ और चैतन्य सृष्टि की ध्वनियों के अनुकरण पर बने हुए मुहावरों का है। यह वर्ग काफी विस्तृत है। जड़ पदार्थों की ध्वनियों का भी इसमें बहुत बड़ा भाग आ जाता है। इन्हें निम्नलिखित वर्गों में भी बाँट सकते हैं, और यद्यपि हमने समस्त उदाहरण हिन्दुस्तानी भाषा से ही लिये हैं, दूसरी भाषाओं में भी ऐसे ही उदाहरण आसानी से मिल सकते हैं—

१. पशुवर्ग की ध्वनियों से—में-में करना, टें-टें करना, टर-टर करना, गुर्राना (खाना और गुर्राना) म्याऊँ का ठौर होना, भौं-भौं करना, चिंघाड़ना-चिल्लाना, ढेंचूँ-ढेंचूँ करना, बें-बें करना, मैं-मैं करना, चपड़-चपड़ करना, चबड़-चबड़ करना, हें-हें करना इत्यादि-इत्यादि।

२. पक्षी और कीट-पतंगों से—कांव-कांव मचाना या करना, गुटकते फिरना, गुटर-गुटर सुनना, कुकड़ूँ-कूँ होना या बोलना, चूं-चूं करना, गिजबिजाना, सुरसुराना, गिजबिज-गिजबिज होना, फूं-फां करना, फुंकार मारना, भिनभिनाना, भन-भन होना (कान में), भिन्ना जाना, इत्यादि-इत्यादि।

३. सख्त चीजों के संघर्ष से—खट-खट होना और करना, भड़ाक से टूट जाना, तड़ा-तड़ी होना, चर्र-मर्र होना इत्यादि।

४. कोमल वस्तुओं के संघर्ष से—फुस्स करके रह जाना, फुस-फुस होना, चटर-पटर होना इत्यादि-इत्यादि।

५. हवा की गति से—सर-सराहट होना, साँय-साँय होना या करना, सर-सर और इसी से सड़ासड़, सटासट इत्यादि मुहावरे भी बने हैं।

६ प्रतिध्वनि से—झन-झन होना, झनझनी मारना, टन-टन होना, गूँ-गूँ होना, (गुन गुनाना,) इत्यादि-इत्यादि।

७. तरल पदार्थों की गति से—कुल-कुल होना, बुद-बुद होना, कल-कल करना, पटर-पटर होना, गड़-गड़ करना इत्यादि।

कुछ पँचमेल नमूने भी देखिए—धड़ाम से गिरना, भड़ाम से होना, पटाक से जाना, धू-धू करना, धाँय-धाँय जलना, भाँय-भाँय करना, खटाक से हो जाना, धुँआधार पानी पड़ना, चट-चट चटखना, फटर-फटर करना (मोटर साइकिल को लोग 'फटफटिया' कहने ही लगे हैं)। तड़ातड़ या तड़तड़ मारना, ढब-ढब बोलना, भक-भक या भकाभक चले जाना इत्यादि-इत्यादि।

ऊपर जो उदाहरण हमने दिये हैं, वे तो अस्पष्ट ध्वनियों से आनेवाले अथवा उनके अनुकरण के आधार पर बने हुए असंख्य शब्द और मुहावरों के केवल कुछ नमूने मात्र हैं। उनको देखने से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि अस्पष्ट ध्वनियों से भाषा और विशेषकर मुहावरों की वृद्धि और विकास में बहुत बड़ी सहायता मिली है। व्हेटली ने 'अलंकार' नाम की अपनी पुस्तक (Whatelys' Rhetorie) में एक जगह कहा है कि कभी-कभी लेखक के मन में जो भाव होता है, उसीके अनुरूप उपयोगी ध्वनि उसे मिल जाती है अथवा वह स्वयं खोज लेता है। सुमित्रानन्दन पंत की 'टल टल' इत्यादि ध्वनियाँ इसी प्रकार की हैं।

अस्पष्ट ध्वनियों की गठन तो विचित्र होती ही है, उनका भावार्थ भी विचित्र ही होता है। भाव और भाषा दोनों की विचित्रता के कारण लक्षणा की दृष्टि से भी वे इसलिए मुहावरों के काफी निकट हैं।

मुहावरे और रोजमर्रा या बोलचाल

'फरहंग आसफियाकार' के इशारे पर ही कदाचित् 'शब्द-सागर' वालों ने मुहावरे के लक्षण गिनाते हुए अन्त में 'कुछ लोग इसे 'रोजमर्रा' या 'बोलचाल' भी कहते हैं, यह बात जोड़ दी है। 'शब्द सागर' के इन शब्दों से इतना तो स्पष्ट है कि यह उनका अपना मत नहीं है, हवा में उड़ता हुआ एक वाद है और इसलिए एक वाद के रूप में ही वहाँ इसे रखा गया है। तीन मुँह की बात किस प्रकार विश्व में फैलकर कभी-कभी 'आप्त वचन' का रूप ले लेती है, उसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें पंडित रामदहिन मिश्र की बड़े विश्वास के साथ की हुई इस घोषणा से मुहावरे को उर्दू में 'तर्जे-कलाम' 'इस्तलाह' और 'रोजमर्रा' भी कहते हैं' मिल जाता है। पंडित जी की देखा-देखी कहीं दूसरे लोग थोड़ा और आगे बढ़कर 'मुहावरा' या 'रोजमर्रा' न लिखने लग जायँ, इसलिए इन दोनों के भेद को स्पष्ट कर देना हम अत्यावश्यक समझते हैं। चूँकि लोग प्रायः उर्दू की आड़ में ही ऐसा कहते हैं, इसलिए हम सर्वप्रथम मौलाना 'हाली' का ही फतवा इस सम्बन्ध में लेंगे। मौलाना साहब उर्दू के उन गिने-चुने विद्वानों में से थे, जिन्होंने सबसे पहले इस विषय पर कलम उठाई थी। वे अपनी पुस्तक 'मुकद्दमा शेरो-शायरी' के पृष्ठ १४२, ४३ पर 'मुहावरा' और रोजमर्रा' में क्या समानता और क्या विरोध है, उसका इस प्रकार विचन करते हैं—

'मुहावरे के जो मानी हमने अव्वल (पहले) बयान किये हैं, वह आम यानी दूसरे माइनो (अर्थों) को भी शामिल हैं; लेकिन दूसरे मानी पहले मानी से खास है। पर जिस तरकीब को लिहाज से भी मुहावरा कहा जायगा, उसको दूसरे मानों के लिहाज से भी मुहावरा कहा जा सकता है; लेकिन यह जरूरी नहीं है कि जिस तरकीब (व्यापार) को पहले मानो के लिहाज से मुहावरा कहा जावे, उसको दूसरे माइनों (अर्थों) के लिहाज से भी मुहावरा

कहा जावे। मसलन, 'तीन-पाँच करना' (झगड़ा-टंटा करना)! उसको दोनो मानों के लिहाज से मुहावरा कह सकते हैं, क्योंकि यह तरकीब अहले-जबान की बोलचाल के भी मुआफिक है, और चीज उसमें 'तीन-पाँच' का लफ़्ज़ अपने हकीकी मानों में नहीं, बल्कि मजाजी (सांकेतिक) माने में बोला गया है। लेकिन रोटी खाना, या मेवा खाना या पान-सात या दस-बारह वगैरः सिर्फ पहले मानों के लिहाज से मुहावरा करार पा सकते हैं। दूसरे मानों के लिहाज से नहीं, क्योंकि यह तमाम तरकीबें अहले-जबान के मुआफिक तो जरूर है, मगर उनमें कोई लफ्जमजाजी मानों में इस्तेमाल नहीं हुआ।'

रोजमर्रा और मुहावरा में 'मिन हैसुल इस्तेमाल' अर्थात् (प्रयोग के अनुसार) एक और भी फर्क है, रोजमर्रा की पाबन्दी जहाँ तक मुमकिन हो, तकरीर (बातचीत) और तहरीर और नजम व नसर में जरूरी समझी गई है। यहाँ तक कि कलाम में जिस कदर रोजमर्रा की पाबन्दी कम होगी, उसी कदर वह फसाहत (प्रसाद गुण) के दर्जे से साकित (गिरा हुआ) समझा जायगा। जैसे कलकत्ते से पेशावर तक सात-आठ कोस पर एक पुख्ता (पक्की) सराय और एक कोस पर मीनार बना हुआ था। यह जुमला रोजमर्रा के मुआफिक नहीं है, बल्कि उसकी जगह होना चाहिए—'कलकत्ते से पेशावर तक सात-सात आठ-आठ कोस पर एक-एक पुख्ता (पक्की) सराय और कोस-कोस भर पर एक-एक मीनार बना हुआ था।' इसी प्रकार और भी।

मौलाना साहब इसी प्रसंग में आगे यह बतलाते हुए, कि लिखने और बोलने—दोनों में रोजमर्रा की पाबन्दी जितनी जरूरी है, उतनी मुहावरे की नहीं। वे लिखते हैं—

"मुहावरा अगर उम्दा तौर से बाँधा जाय, तो बिला शुबहा पस्त शेर को बुलन्द और बुलन्द को बुलन्दतर कर देता है। लेकिन हर शेर में मुहावरे का बाँधना जरूरी नहीं, बल्कि मुमकिन है, शेर बगैर मुहावरे के भी फ़साहत व बलाग़त के आला दर्जे पर वाकै हो......मुहावरा को शेर में ऐसा समझना चाहिए, जैसे कोई खूबसूरत अज्रो (अंग) बदन इन्सान में, और रोजमर्रा को ऐसा जानना चाहिए जैसे तनासुब आजा (अंगानुपात) बदन इन्सान में जिस तरह बगैर तनासुब आजा के किसी खास अजों की खूबसूरती से हुस्न-बशरी (मानवी) कामिल नहीं समझा जा सकता, उसी तरह बगैर रोजमर्रा की पाबन्दी के महज मुहावरात के जा बेजा रख देने से शेर में कुछ खूबी पैदा नहीं ह सकती।"

हाली साहब के इस बयान के बाद तो यह समझने की कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती कि उर्दू 'मुहावरा' ही रोजमर्रा भी कहलाता है। उनका मत तो इसके सर्वथा विरुद्ध है। उनके बयान को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मुहावरा' और 'रोजमर्रा' दोनों अलग-अलग चीजें हैं। मुहावरा तो रोजमर्रा के अन्तर्गत आ सकता है; किन्तु रोजमर्रा मुहावरे के अन्तर्गत नहीं आ सकता। मुहावरे को रोजमर्रा की पाबन्दी करना लाजिमी है, रोजमर्रा के लिए मुहावरे की पावन्दी उतनी लाजमी नहीं है। अपने इस कथन की पुष्टि करते हुए उन्होंने एक उदाहरण देकर यों समझाया है—

"......मुमकिन है शेर बगैर मुहावरे के भी फसाहत व बलागत के आला दर्जे पर वाकै हो और मुमकिन है, एक पस्त और अदना दर्जे के शेर में बेतमीजी से कोई लतीफ व पाकीजा मुहावरा रख दिया गया हो। जैसे—

"उसका खत देखते हैं जब सय्याद
तोते हाथों के उड़ा करते हैं।"

इस शेर में न कोई खूबी है, न मजमून है, सिर्फ एक मुहावरा बँधा हुआ है और वह भी रोजमर्रा के खिलाफ यानी 'उड़े जाते हैं' की जगह उड़ा करते हैं।"

श्री रामचन्द्र वर्मा ने इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तक 'अच्छी हिन्दी' में जो कुछ लिखा है, उससे मौलाना साहब के मत का बिल्कुल स्पष्टीकरण हो जाता है। देखिए—

"कुछ लोग बोलचाल के प्रचलित और शिष्ट-सम्मत प्रयोगों को ही मुहावरा समझते हैं; पर वास्तव में यह 'मुहावरे' का दूसरा और गौण अर्थ है। यह वह तत्त्व है जिसे उर्दू वाले 'रोजमर्रा' कहते हैं। यह 'रोजमर्रा' भी होता तो है—प्रायः कुछ गठे हुए या निश्चित शब्दों मे ही, पर उन शब्दों से सामान्य अर्थ ही निकलता है। उस प्रकार का कोई विशेष अर्थ नहीं निकलता, जिस प्रकार का मुहावरे से निकलता है। जैसे—हम यह तो कहेंगे कि 'यह पाँच-सात दिन पहले की बात है, पर यह नहीं कहेंगे कि यह पाँच-आठ दिन पहले की बात है या छः-नौ दिन पहले की बात है। बोलचाल का बँधा हुआ रूप 'दिन-दूना और रात चौगुना' ही है। इसे हम 'रात दूना और दिन चौगुना' नहीं कर सकते। कुछ संज्ञाओं के साथ जो कुछ विशिष्ट या निश्चित क्रियाएँ आती हैं, वह भी इसी बोलचाल के तत्त्व की सूचक हैं।"

'मुहावरे और रोजमर्रा या बोलचाल' पर हमें दो दृष्टियों से विचार करना है—पहिले भाषा की दृष्टि से उनकी अलग-अलग उपयोगिता और आवश्यकता पर; और दूसरे उन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध पर भाषा की दृष्टि से। जैसे मौलाना साहब ने कहा है—उपयोगी तो दोनों हैं, परन्तु आवश्यक जितना रोजमर्रा है, मुहावरा उतना नहीं। भाषा को यदि एक स्त्री मानें तो रोजमर्रा उसके शरीर की सावयवता और गठन तथा मुहावरा (उसके) किसी अंग विशेष का सौन्दर्य है। कोई मूर्ख स्त्री ही शायद ऐसी होगी जो पहले अपने शरीर की गठन और सावयवता को न चाहकर अपनी आँख या बाल या किसी दूसरे अंग के सौन्दर्य की आकांक्षा करेगी। रोजमर्रा का सम्बन्ध भावों के वाह्य परिधान, शब्दों के क्रम, सान्निध्य और इष्ट-प्रयोग तक ही विशेष रूप से सीमित रहता है। आशय तात्पर्य अथवा व्यंजना का उसपर कोई नियंत्रण नहीं रहता; जब कि मुहावरे के लिए भावों के वाह्य परिधान, शब्द-क्रम इत्यादि के साथ ही उनसे अभिव्यंजित तात्पर्यार्थ की रूढ़ियों का पालन करना भी अनिवार्य है। 'कुत्ते भोंकना' एक वाक्यांश हैं। रोजमर्रा की दृष्टि से चूँकि कुत्ते के साथ 'भोंकना' क्रिया ही आनी चाहिए, इसलिए 'कुत्ते भोंकना' इसका अर्थ कुत्तों को ढेले मारकर या किसी शिकार पर लहकाकर भोंकाना हो अथवा व्यंग्यार्थ से कोई झगड़े की बात छेड़ना किसी भी अर्थ में लें, रोजमर्रा के पद से च्युत नहीं हो सकता; किन्तु यह वाक्यांश मुहावरा केवल अपने दूसरे ही अर्थ में हो सकता है, दोनों अर्थों में नहीं। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि बोलचाल या रोजमर्रा और मुहावरे में वही सम्बन्ध है, जो शरीर और शरीरी में होता है। जिस प्रकार शरीर के विना शरीरी अति सुन्दर और प्रिय होने पर भी भूत और पिशाच ही समझा जाता है, कोई उसकी ओर आकृष्ट नहीं होता, उसी प्रकार रोजमर्रा (इष्ट प्रयोग) के विना 'मुहावरा' सर्वथा अप्रिय और कर्णकटु ही लगता है।

कुछ लोगों का विचार है कि हिन्दी में मुहावरे और रोजमर्रा उर्दू की देन हैं। होंगे। हम इस वाद-विवाद में नहीं पड़ते। हाँ, मुहावरा' और रोजमर्रा ये शब्द तो दोनों उर्दू में होते हुए अरबी और फारसी से आये हैं; किन्तु भाषा की जिस विलक्षण शैली के लिए इन शब्दों का प्रयोग होता है, वह शैली हमारी अपनी ही चीज है। युग-युगान्तर से हमारा देश परम्परा का पुजारी रहा है; क्या सामाजिक और राजनीतिक और साहित्यिक-जीनन के सभी क्षेत्रों में हमने परम्परा को अपना पथ-प्रदर्शक माना है। न्याय, मीमांसा, व्याकरण आदि जितने भी वाङ्मय के पक्ष हैं, प्रायः सर्वत्र परम्परा का अनुशासन चलता है। मौलाना शिबली ने रोजमर्रा की जो व्याख्या की है कि "जो अल्फाज और जो खास तरकीबें (विशेष प्रयोग) अहले-जबान की बोलचाल में ज्यादा मुस्तमल (व्यवहृत) और मुतदावल (गृहीत) होती हैं, उनको रोजमर्रा[1] कहते हैं," उसका इस परम्परा-प्रयोग में पूर्ण रूप से अन्तर्भाव हो जाता है।

---

१. बोलचाल-पृष्ठ-२११ (भूमिका)।

हिन्दी का इतिहास हमारी राजनीतिक और धार्मिक उथल-पुथल का इतिहास है। हमारी बेबसी और गुलामी की अवस्था में उसका पोषण हुआ है। इसलिए यदि विजेताओं के हाथ में पड़कर वह अपनी पूर्वागत परम्परा से कुछ इधर-उधर हो भी गई है तो वह उसका दोष नहीं है, विजितों की भाषा कुछ खिचड़ी हो ही जाया करती है! उर्दू वालों ने, इसमें सन्देह नहीं, इस युग में रोजमर्रा पर बड़ी बारीकी से ध्यान दिया है, उसे देखकर स्वर्गीय हरिऔध जी के शब्दों में हमें कहना ही पड़ता है कि "रोजमर्रा अथवा बोलचाल की इस सूक्ष्मता और गहनता की ओर हिन्दी-भाषा के इने-गिने सुलेखकों और सुकवियों की ही दृष्टि है, अधिकांश इस विषय में निरपेक्ष अथवा असावधान हैं। वांछनीय यह है कि यदि अपनी भाषा को सम्मानित, सुशृंखलित और सम्पन्न बनाना है, यदि उसको राष्ट्रभाषा के प्रतिष्ठित पद पर बिठलना है, तो इस विषय में हम उर्दू वालों से पीछे न रहें।

'मुहावरा' शब्द की अर्थ-व्याप्ति

संसार परिवर्त्तनशील है। प्रत्येक चीज बदलती रहती है। हम ही जो आज हैं वह कल नहीं थे और जो कल थे वह जन्म के समय, जबकि हमें ओमुप्रकाश नाम दिया गया था, नहीं थे और जो आज हैं वह कल और परसों नहीं रहेंगे; किन्तु ओमुप्रकाश नाम तो शायद हमारे मरने के बाद भी इसी प्रकार अपरिवर्तित और अविकृत रहेगा—यह एक सत्य है। सबके जीवन का सत्य है, एक और एक दो की तरह निर्विवाद और स्वयंसिद्ध है। अब देखिए कि एक ही संज्ञा 'ओमुप्रकाश' से किस प्रकार समय-भेद से अलग-अलग आकार-प्रकार और प्रकृति-प्रवृत्तिवाले व्यक्तियों का बोध हो रहा है। शरीर-विज्ञान की दृष्टि से देखिए, चाहे मनोविज्ञान अथवा साधारणतम चक्षुज्ञान की दृष्टि से कोई इस तथ्य पर स्याही नहीं पोत सकता कि नामकरण के समय जिस पिंड को 'ओमुप्रकाश' नाम दिया गया था, वह आज के इस हृष्ट-पुष्ट और बलवान शरीर से सर्वथा भिन्न था। तात्पर्य की दृष्टि से भी उसमें जमीन-आसमान का अन्तर हो गया है। किन्तु फिर भी क्यों लोग उसी नाम से इसके वर्त्तमान रूप को भी समझ लेते हैं। इस 'क्यों' के उत्तर में ही मुहावरा शब्द की अर्थ-व्यापकता का सारा रहस्य आपको मिल जायगा। इसके लिए भाषाविज्ञान की पोथियों में सर मारने की आवश्यकता नहीं है।

हम जानते हैं, कोई भी दो अनुभव कभी पूर्ण रूप से समान तत्सम नहीं होते। इसलिए एक ही शब्द कभी बिल्कुल उसी अर्थ में दो बार प्रयुक्त नहीं हो सकता। एक सी० आई० डी० किसी पुराने चित्र के आधार पर एक क्रान्तिकारी को देखकर उसका नाम बता देता है। कैसे वह अपने पूर्व-अनुभव का विचारपूर्वक विश्लेषण करके इन तत्वों को लगातार अपने पूर्व-अनुभव में घटाता जाता है और अन्त में उन्हीं शब्दों में अपने इस नये अनुभव को व्यक्त कर देता है, जिनका अपने पूर्व अनुभवों के लिए उसने उपयोग किया था। 'मुहावरा' शब्द की अर्थ-व्यापकता का भी ठीक यही इतिहास या कहिये, विज्ञान है। 'ग्यासुल्लुगात' में दिये हुए जिस अरबी शब्द (मुहावरा) का केवल 'बातचीत करना' अर्थ या फारसी और उर्दू वालों ने उससे कहीं अधिक व्यापक अर्थ 'मुहावरा' का किया है, 'फरहंग आसफिया' में इस शब्द की अर्थ-व्यापकता और अनेकार्थता और भी बढ़ गई है, हमारा विचार है कि फारसी और उर्दू वालों को देखकर ही 'फरहंग आसफियाकार' ने उसकी व्यापकता बढ़ाई है। 'हिन्दीविश्वकोष' में उसके वही अर्थ दिये हैं, जो विशेष करके हिन्दी-भाषा में उस समय प्रचलित थे। 'शब्दसागर' वालों ने 'हिन्दी-विश्वकोष' के अर्थ को ज्यों-का-त्यों लेकर उसमें 'किसी एक भाषा में दिखाई पड़नेवाली असाधारण शब्द-योजना अथवा प्रयोग' इतना और जोड़कर 'कुछ लोग इसे रोजमर्रा या बोलचाल भी कहते हैं, इस ओर भी संकेत कर दिया है। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका'-कार वेबस्टर साहब, 'आक्सफोर्ड डिक्शनरी'-कार वारसेस्टर साहब, रिचर्डसन साहब, 'इम्पीरियल डिक्शनरी'-कार, सर जेम्स मरे (Murray) तथा फाउलर प्रभृति पाश्चात्य कोशकार

और विद्वानों ने 'मुहावरा' (ईडियम) शब्द का अपने यहाँ जो अर्थ किया है, वह इन तीनों से कहीं अधिक व्यापक, गम्भीर और विशेषार्थक है। हाल में ही मुहावरों पर लिखते समय पंडित रामदहिन मिश्र ने 'मुहावरा' के जो बारह लक्षण लिखे हैं, उनसे तो इस शब्द की अर्थ-व्यापकता और भी अधिक बढ़ गई है। जनाब ख्वाजा अल्ताफहुसैन साहब 'हाली' ने अपनी पुस्तक 'मुकद्दमा शेरो शायरी' के पृष्ठ १४०, ४१, ४२ पर 'मुहावरा' का जो विशद विवेचन किया है, उससे प्रस्तुत प्रसंग काफी स्पष्ट हो जायगा। इस आशा से हम उन्हीं के शब्दों में उनकी बात पाठकों के समक्ष रखते हैं। देखिए—

"मुहावरा लुगत (कोष) में मुत्तलकन आपस में बातचीत करने को कहते हैं। ख्वाह वह बातचीत अहलेजबान (भाषा-भाषियों) के रोजमर्रा के मुआफिक (अनुसार) या मुखालिफ (विरुद्ध) लेकिन इस्तिलाह (सांकेतिक अर्थ) में खास अहले जबान के रोजमर्रा या बोलचाल या असलूब बयान (कहने का ढंग) का नाम मुहावरा है। पर यह जरूर है कि मुहावरा तकरीबन (लगभग) हमेशा दो या दो से ज्यादा अल्फाज (शब्दों) में पाया जाय। क्योंकि मुफरद अल्फाज (अलग-अलग शब्दों) को रोजमर्रा या बोलचाल या असलूब बयान नहीं कहा जाता, बखिलाफ लुगत के कि उसका इतलाक (निर्देश) हमेशा मुफरद अल्फाज पर या ऐसे अल्फाज पर जो वर्मजिला (समान) मुफरद के हैं, किया जाता है। मसलन् पाँच और सात दो लफ्ज हैं, जिनपर अलग-अलग लुगत का इतलाक हो सकता है; मगर इनमें से हरेक को मुहावरा नहीं कहा जायगा; बल्कि दोनों को मिलाकर जब 'पाँच-सात' बोलेंगे, तब मुहावरा कहलायगा। यह भी जरूर है कि वह तरकीब जिसपर मुहावरे का इतलाक किया जाय, क्यासी (काल्पनिक) न हो; बल्कि मालूम हो कि अहले जबान इसको इसी तरह इस्तेमाल करते हैं। मसलन् अगर पान-सात या सात-आठ या आठ-सात पर कास करके छै-आठ या आठ-छै या सात-नौ बोला जायगा तो उसको मुहावरा नहीं कहने के। क्योंकि अहले जबान कभी इस तरह नहीं बोलते या मसलन् 'बिला नागा' पर क्यास करके उसकी जगह 'बे नागा', हर रोज की जगह हर दिन, रोज-रोज की जगह दिन-दिन या 'आये दिन' की जगह रोज बोलना, इसमें किसी को मुहावरा नहीं कहा जायगा; क्योंकि यह अल्फाज इस तरह अहलेजबान की बोलचाल में कभी नहीं आते।

"कभी 'मुहावरा' का इतलाक खासकर उन अफआल (क्रियाओं) पर किया जाता है जो किसी इस्म (संज्ञा) के साथ मिलकर अपने हकीकी मानों (वास्तविक अर्थों) में नहीं, बल्कि मजाजी मानों में इस्तेमाल होते हैं। जैसे—उतारना—इसके हकीकी मानी किसी जिस्म (ठोस चीज) को ऊपर से नीचे लाने के हैं। जैसे—घोड़े से सवार का उतारना, खूँटी से कपड़ा उतारना, कोठे पर से पलंग उतारना। लेकिन इनमें से किसी पर मुहावरे के दूसरे मानी सादिक (ठीक) नहीं आते। क्योंकि इन सब मिसालों में उतारना अपने हकीकी मानों में मुस्तमिल हुआ है (इस्तेमाल किया गया है)। हाँ, नक्शा उतारना, नकल उतारना, दिल से उतारना, दिल में उतारना, हाथ उतारना, पहुँचा उतारना—यह सब मुहावरे कहलायेंगे। क्योंकि इन सब मिसालों में उतारने का इत्तलाक मजाजी (सांकेतिक मानों) पर किया गया है या मसलन खाना, इसके हकीकी मानी किसी चीज को दाँतों चबाकर या बिना चबाये हलक से उतारने के हैं। मसलन—रोटी खाना, दवा खाना, अफीम खाना वगैरह। लेकिन इनमें से किसी को दूसरे मानी के लिहाज से मुहावरा नहीं कहा जायगा। क्योंकि इन सब मिसालों में खाना अपने हकीकी मानों में इस्तेमाल किया गया है। हाँ, गम खाना, कसम खाना, धोखा खाना, पछाड़े खाना, ठोकर खाना, यह सब मुहावरे कहलायेंगे।"

उर्दू इसतियारी-रूपक या लक्षणा पर लिखते हुए इसी पुस्तक में एक जगह मौलाना साहब कहते हैं—

"उर्दू में शोरा (कवियों) ने इसतियारे (रूपक या लक्षणा) का इस्तेमाल ज्यादातर मुहावरे के जमन (अन्तर्गत) में किया है। क्योंकि अक्सर मुहावरात की बुनियाद अगर गौर करके देखा जाय तो

इसतियारे पर होती है। मसलन्—'जी उचटना' इसमें जी को ऐसे चीज से तश्वीह (उपमा) दी गई है, जो सख्त चीज पर लगकर उचट जाती है। जैसे कंकर, पत्थर, गेंद वगैरा या मसलन् 'जी बँटना' इसमें जी को ऐसी चीज से तश्वीह दी गई है, जो मुनकसिम (विभाजित) और मुत्तफर्रिक (अलग-अलग) हो सके। 'आँख खुलना', 'दिल कुमलाना', 'गुस्सा भड़कना', 'काम चलना' और इसी तरह हजार-हा मुहावरे इसतियारों पर बने हैं। और यह वह इसतियारे हैं जिनमें शोरा की कारस्तानी को कुछ दखल नहीं है। बल्कि नेचुरल तौर पर वगैर फिक्र और तसना (बनावट) के अहले जबान के मुँह से वक्तन फक्तन (यदा-कदा) निकलकर जबान का जुज (अंग) बन गये हैं। किनाया (बक्रोक्ति) भी ज्यादातर मुहावरात ही के जमन (अन्तर्गत) में इस्तेमाल हुआ है। मगर उर्दू शोरा ने तमसील (उपमा) को बहुत कम बरता है, अलबत्ता नई तर्ज की शायरी में उसका कुछ-कुछ रिवाज हो चला है और जरूरत ने लोगों को उसके बरतने पर मजबूर किया है।"

मौलाना हाली के मतानुसार मुहावरे को लक्षणों के संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—

१. तत्तद् भाषा-भाषियों की बोलचाल के अनुरूप हों।
२. तात्पर्यार्थ में शब्दों का प्रयोग होना चाहिए, अभिधेयार्थ में नहीं।
३. दो या दो से अधिक शब्दों का होना आवश्यक है, क्योंकि अकेले शब्द को रोजमर्रा, बोलचाल या वर्णनशैली नहीं कहा जाता।
४. किसी संज्ञा के साथ तात्पर्यार्थ में प्रयुक्त होनेवाली क्रियाएँ भी मुहावरे के अन्तर्गत आती हैं।
५. इसतियारों (रूपक), किनाया (वक्रोक्ति) और तमसील (उपमा) इत्यादि अलंकारों का प्रयोग भी अधिकतर मुहावरों के अन्तर्गत ही होता है।

हिन्दी-विश्वकोष और 'हिन्दी-शब्दसागर' में मुहावरे के जितने लक्षण दिये हैं, उन सबका अन्तर्भाव हाली साहब की इस व्याख्या में हो जाता है। तात्पर्यार्थ से हाली साहब का अभिप्राय लक्षणा या व्यंजना द्वारा सिद्ध वाक्य अथवा प्रयोगों से ही है। 'फरहंग आसफिया' में इस्तिलाह आम (सांकेतिक प्रयोग) और रोजमर्रा के अतिरिक्त एक शाब्दिक प्रयोग को भी मुहावरा बतलाया है। 'शब्दसागर' और 'विश्वकोष' वालों ने लक्षणा या व्यंजना द्वारा सिद्ध वाक्य या प्रयोग लिया है। लक्षणा या व्यंजना द्वारा सिद्ध प्रयोग एक-शाब्दिक भी होता है, यदि इन लोगों को एक-शाब्दिक प्रयोग के मुहावरा होने में कोई आपत्ति होती तो ये लोग भी मौलाना हाली की तरह उसे स्पष्ट कर सकते थे। 'फरहंग आसफिया'-कार ने तो व्याख्या में ही उदाहरण देकर इसे समझाया भी है। 'हिन्दी-शब्दसागर' में भी ऐसे कितने ही एक शाब्दिक प्रयोगों की गणना 'मुहावरा' के अन्तर्गत हुई है। रामदहिन मिश्र ने भी अपने ६ नम्बर के प्रयोग में 'आँख' का पुत्र के अर्थ में गृहीत होना बताकर एक-शाब्दिक प्रयोग को मुहावरा माना है। इसके अतिरिक्त 'बैल होना', 'गधा होना', 'आईना होना' 'तारे दिखाना', 'हैवान होना', आग होना', 'बर्फ होना', 'सूरदास होना', 'अन्धा होना' इत्यादि। इतनी बड़ी संख्या में एक-शाब्दिक मुहावरों के होते हुए मुहावरों में उनकी गणना न करना अथवा हरिऔधजी के शब्दों में "यदि इस प्रकार मानते चलें, तो हिन्दी-भाषा के अनेक शब्दों को, इस परिधि में लाना पड़ेगा........ऐसी अवस्था में कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती कि इस प्रकार के शब्दों को भी मुहावरा कहकर व्यर्थ भ्रान्ति उत्पन्न की जाय। उन्हें भ्रान्ति मानकर बैठ जाना, हम समझते हैं, अपने को भ्रान्त करना तो है ही, मुहावरों के अर्थ का अनर्थ करके साथ ही 'हिन्दी-शब्दसागर' प्रभृति कोषकारों की अनुभूत्यात्मक व्याख्या को भी भ्रान्त और अस्पष्ट होने का तमगा दे देना है। फिर आज जबकि प्रायः सभी विद्वानों ने महावाक्य से लेकर 'वाक्य', 'खंड-वाक्य', 'वाक्य-खंड' अथवा 'वाक्यांश' और शब्द तक मुहावरों का क्षेत्र मान लिया है......मुहावरा शब्द को 'वाक्य' तक ही परिमित रहना चाहिए।" ऐसा कहना एक बार बाँस पर चढ़कर फिर

पीछे फिसलना जैसा ही है। हमें भाषा का विकास अभीष्ट है, उसे संकुचित और सीमित करना नहीं। मौलाना हाली ने इस तियारों (रूपक-अलंकार) की गणना 'मुहावरा' के अन्तर्गत करके, इसमें कोई सन्देह नहीं, अन्य कोषकारों की अपेक्षा मुहावरा शब्द की अर्थ-व्यापकता को कुछ और आगे अवश्य बढ़ाया है।

हिन्दी-मुहावरों में एक बहुत बड़ी संख्या ऐसे वाक्य अथवा वाक्यांशों की भी है, जो शब्द-योजना के विरुद्ध तात्पर्यार्थ-द्वारा भाषा-मर्मज्ञों और सर्वसाधारण—सबमें समान रूप से प्रचलित और गृहीत है। जैसे—'मुँह में ताला लगा होना', 'फूटी आँख न सुहाना', 'पर निकलना' (आदमी के), 'मुँह में दही जमना', 'कान के कीड़े खाना', 'कान पकना', 'आँख का शहतीर होना', 'पेट में चूहे दौड़ना', 'घर में चूहों का कलाबाजी खाना', इत्यादि-इत्यादि, मौलाना हाली ने ऐसे मुहावरों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है। उन्होंने 'तीन-पाँच करना' का अर्थ 'झगड़ा-टंटा' करके इस ओर संकेत अवश्य किया है; किन्तु रोजमर्रा और 'मुहावरा' का अन्तर दिखाते हुए जिस स्थल पर उन्होंने यह उदाहरण दिया है, आलोचनात्मक दृष्टि से उस स्थल का निरीक्षण करने पर कोई व्यक्ति यह भी कह सकता है कि हाली साहब ने यह उदाहरण किसी प्रकार का संकेत करने के लिए किसी विशेष उद्देश्य से वहाँ नहीं रखा है, अनायास ही 'मारूँ घुटना फूटे आँख' की उक्ति चरितार्थ हो गई है। वास्तव में इस ओर उनका ध्यान होता तो उन्होंने जैसे क्रियाओं की उदाहरण-सहित परिभाषा लिखकर उन्हें मुहावरा सिद्ध किया है, इसकी भी व्याख्या कर सकते थे। व्याख्या भी न करते तो कम-से-कम जहाँ मुहावरे की व्याख्या की है वहीं उदाहरण के रूप में दो-चार ऐसे मुहावरे देकर इसे स्पष्ट कर सकते थे। अस्पष्ट ध्वनियों और शारीरिक चेष्टाओं के अनुकरण अथवा आधार पर निर्मित मुहावरों की भी, जैसा हम पीछे दिखा चुके हैं, हिन्दी-साहित्य में कभी नहीं है, इतना ही नहीं, स्वर (accent) का भी उनपर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। अतएव मुहावरों की व्याख्या करते समय अस्पष्ट ध्वनियों और शारीरिक चेष्टाओं तथा स्वर का नाम भी न लेना हमें तो अखरता ही है, हम समझते हैं, हमारे साथ दूसरे सब मुहावरा-प्रेमियों को भी यह बात कम नहीं खटकती होगी।

मुहावरे के लक्षणों पर कलम उठानेवाले हिन्दी-लेखकों में पंडित रामदहिन मिश्र, श्री ब्रह्म-स्वरूप शर्मा 'दिनकर', श्री रामचन्द्र वर्मा आदि के नाम ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बाकी लोगों ने जो कुछ लिखा है, वह सब तो एक प्रकार से हाली साहब के कथन की पुनरावृत्ति-जैसी ही है। श्री रामचन्द्र वर्मा ने भी कोई नई बात नहीं कही है; उनकी व्याख्या भी पंडित रामदहिन जी मिश्र और 'दिनकर' जी की व्याख्या के अन्तर्गत समझी जा सकती है। 'दिनकर' जी ने 'मिश्र' जी से कहा तो बहुत थोड़ा है, किन्तु उसमें रचना की दृष्टि से मुहावरों के लक्षणों पर कुछ विशेष विचार किया है। इसलिए मिश्र जी के पहले उन्हीं के मत का विवेचन करना अधिक उपयुक्त होगा। 'दिनकर' जी ने कहा है—"मुहाविरे का निर्माण किसी व्यक्ति-विशेष के द्वारा नहीं होता।" 'यहाँ 'निर्माण होने' से दिनकरजी का क्या अभिप्राय है, इसपर विचार करना आवश्यक है। मुहावरे का निर्माण तो वास्तव में किसी एक विशेष व्यक्ति के द्वारा ही होता है, किन्तु उसमें (उस विचित्र प्रयोग अथवा अनूठी उक्ति में) 'मुहावरा' की प्राणप्रतिष्ठा, जैसा उन्होंने स्वयं ही आगे लिखा है "अनेक व्यक्तियों के द्वारा बहुत दिनों तक उसके उस वाक्यांश के विलक्षण अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण मुहाविरा बन जाता है", अनेक व्यक्तियों के द्वारा होती है। मुहावरा एक इकाई-रूप होता है, जैसा अन्त में चलकर 'दिनकर' जी स्वयं भी लिखते हैं—"वाक्यांश होने के कारण मुहावरे में उद्देश्य और विधेय का अभाव रहता है।" आक्सफोर्ड-डिक्शनरी में यही बात कुछ दूसरे शब्दों में इस प्रकार कही गई है—"मुहावरा शब्दों का वह छोटा-सा समूह

अथवा संग्रह है जो किसी एक ही भाव को व्यक्त करता हो अथवा एक इकाई के रूप में किसी वाक्य में प्रवेश करता हो।" अतएव, यदि मुहावरा एक इकाई-रूप में किसी वाक्य में प्रवेश करता है, जैसा कि वास्तव में है, तो उसके निर्माता एक से अधिक व्यक्ति कदापि नहीं हो सकते। हमारा विचार है, दिनकरजी का आशय निर्माण शब्द से 'प्रसिद्ध करने' का ही रहा होगा, रचना करने का नहीं; क्योंकि विना प्रसिद्ध हुए कोई वाक्यांश 'मुहावरा' नहीं बनता।

पंडित रामदहिन मिश्र ने मुहावरे के बारह लक्षण गिनाये हैं। हरिऔधजी ने मिश्रजी की आलोचना करते हुए लिखा है—"पंडितजी ने लक्षणों द्वारा जो बारह प्रकार के मुहावरे दिखलाये हैं, उनमें से नम्बर ३ और ४ के प्रयोगों को छोड़ शेष समस्त का अन्तर्भाव रोजमर्रा अथवा बोलचाल में हो जाता है, अतएव उनको मुहावरे का एक अलग प्रकार मानना उचित नहीं।" अपने इस कथन की पुष्टि भी आपने मिश्रजी के तर्क पर ही करने का प्रयत्न किया है। इसलिए मिश्रजी कुछ के वाक्य भी अपनी टिप्पणी को न्याय-सिद्ध करने के लिए उन्होंने अनन्तरं ही दे दिये हैं। देखिए—"मुहावरे का लक्षण यह हो सकता है कि जहाँ जिस रीति से बोलचाल के शब्दों और शब्द-समूहों का ठीक-ठीक प्रयोग करना चाहिए, वहाँ उसी प्रकार उनका प्रयोग करना। अर्थात् लिखने पढ़ने तथा बोलचाल की परिपाटी के अनुकूल लिखना और बोलना। 'यहाँ एक वाक्य' इसी के लिए समालोचक कहते हैं कि 'भाषा मुहावरेदार[1] है' छोड़कर दूसरा वाक्य 'इस लक्षण के भीतर ऊपर के जितने मत मतान्तर हैं, प्रायः सभी आ जाते हैं[1]' आपने उद्धृत किया है।" मुहावरेदार से मिश्रजी का तात्पर्य 'रोजमर्रा' अथवा 'बोलचाल' से भिन्न कुछ नहीं था। माना तो हरिऔध जी ने भी यही है कि 'उन सबका अन्तर्भाव रोजमर्रा या बोलचाल में हो जाता है।' लेकिन मिश्रजी के मत के अनुसार नम्बर ३ और ४ को भी उन्होंने रोजमर्रा या बोलचाल क्यों नही समझा, यह बात देखने की है। आगे चलकर नम्बर ३ और ४ को क्यों छोड़ दिया है, वह स्वयं इसका जवाब इस प्रकार देते हैं—"नम्बर ३ में कहावतों को मुहावरा बताया गया है। मैं इस विचार से सहमत नहीं हूँ......। तथा 'नम्बर ४ के प्रयोग वे ही हैं, जो वे मुहावरे कहलाते हैं, जिनकी स्थिति रोजमर्रा अथवा बोलचाल से भिन्न है।" हरिऔध जी की इस आलोचना के तीन पक्ष हैं—१. जहाँ नम्बर ३ और ४ के प्रयोगों को छोड़कर बाकी ८ को रोजमर्रा के अन्तर्गत मानते हुए एक ही साँस में आपने यह भी कह दिया है—'अतएव उनको मुहावरे का एक अलग प्रकार मानना उचित नहीं।' इससे यह स्पष्ट है कि आप रोजमर्रा और मुहावरे को एक ही चीज मानते हैं। मौलाना शिवली और हाली के साथ ही पंडित केशवराम भट्ट, श्री रामचन्द्र वर्मा और स्वयं हरिऔध जी ने 'रोजमर्रा' या बोलचाल' की जो व्याख्या की है अथवा मानी है, उसके अनुसार तो न केवल 'मुहावरों और लोकोक्तियों' को ही, वरन् 'अलकारों' को भी 'रोजमर्रा' की मर्यादा उतना ही पालन करना पड़ता है जितना अन्य अभिधेयार्थ प्रयोगों को। मुहावरे के बारे में तो हाली साहब ने बिल्कुल साफ साफ लिख दिया है कि 'मुहावरे को रोजमर्रा की पाबन्दी सर्वथा अनिवार्य है।' 'रोजमर्रा मुहावरा न हो, लेकिन मुहावरे को पहिले रोजमर्रा होना ही है।' मुहावरे और रोजमर्रा की इस कसौटी पर कस कर ही कदाचित् मिश्रजी ने अन्त में अपने कथन को समेटते हुए बारहों लक्षणों को रोजमर्रा या बोलचाल या मुहावरेदार भाषा के अन्तर्गत रख दिया था। नम्बर ३ को कहावत कहकर रोजमर्रा के अन्तर्गत उसकी गणना न करके 'हरिऔध जी' ने रोजमर्रा के क्षेत्र को मुहावरों तक ही सीमित कर दिया है। नम्बर ४ का विवेचन करते समय तो उनका यह आत्मविरोध चरम सीमा पर पहुँच जाता है। 'बाल की खाल निकालना' इसे वह मुहावरा तो मानते हैं; किन्तु रोजमर्रा नहीं। ऐसा विचार-विभ्रम प्रायः दूसरों की चीज को अपने बटखरों से तोलने पर हो ही जाता है। हरिऔध जी के मन में जहाँ हाली साहब का रोजमर्रा

१. हिन्दी मुहावरे; भूमिका, पृष्ठ ६।

और 'मुहावरा' चक्कर लगाता था, वहाँ वैबस्टर साहब का वाग्वैचित्र्य-विलक्षण अर्थ प्रकाशित करनेवाला वाक्य भी अड्डा जमाये था। जैसा उन्होंने स्वयं 'बोलचाल' की भूमिका में बड़े विस्तार के साथ बताया है; वाग्वैचित्र्य को वह मुहावरा नहीं मानते। यही कारण है कि वह नम्बर ३-४ के साथ पूरा न्याय नहीं कर सके।

वास्तव में ऊपर भी जैसा हम बता चुके हैं, किसी भाषा के मुहावरों का जन्म तो सबसे पहले रोजमर्रा के गर्भ से ही होता है, किन्तु उनका यह नामकरण बाद में बहुत काल तक सर्वसाधारण से अपनी तोतली बोली में बातचीत करते-करते अन्त में उनके मुँह चढ़कर, उनके प्यारे बनकर, प्रौढ़ रूप में साहित्यिकों के समक्ष आने पर ही होता है। पंडित रामदहिन मिश्र ने जो मुहावरे के बारह लक्षण बताये हैं, वास्तव में वे तो रोजमर्रा के बारह धाय-घर हैं, जहाँ पल-पुसकर उसके विलक्षण प्रयोग अन्त में मुहावरे की अवस्था को प्राप्त करते हैं। मिश्रजी ने नम्बर ३ में कहा है—"कोई-कोई कहावत को ही मुहावरा कहते हैं। इसके स्थान में यदि आप यह कहते कि कोई कोई कहावत भी मुहावरा बन जाती है, तो संभवतः लोगों को विशेष आपत्ति न होती। कहावत को ही मुहावरा कहने का अर्थ तो यह हुआ कि मुहावरे का अपना स्वतन्त्र कोई अस्तित्व ही नहीं है। इस रूप में नम्बर ३ को मानना पहिले तो स्वयं मिश्रजी के द्वारा प्रस्तावित अन्य ११ लक्षणों पर कलम फेरना है; क्योंकि जब 'मुहावरा' केवल कहावत का एक पर्याय-मात्र है, तब उसके लक्षण 'कहावत' से भिन्न कैसे हो सकते हैं। हम यह मानते हैं कि कुछ कहावतें और कहावत सम्बन्धी वाक्यांश प्रायः मुहावरों में परिगणित होते हैं और श्री पीयरसल स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'वर्ड्स एण्ड इडियम्स' के पृष्ठ १७६ पर इस कथन की पुष्टि करते हुए लिखा भी है—"कुछ कहावतें और कहावत-सम्बन्धी वाक्यांश भी हमारी रोजमर्रा या बोलचाल में इतने गहरे उतर गये हैं कि आलंकारिक लोकोक्तियों और वाक्यांशों की तरह, जिनका जिक्र हम आगे करेंगे, मुहावरे की परिभाषा को बिना अधिक खींचे-ताने कदाचित् वे भी इंगलिश मुहावरे में गिने जायँ।" किन्तु फिर भी हरेक कहावत मुहावरा होती है या हो सकती है, ऐसा हम नहीं मान सकते। 'कहावत ही मुहावरा होती है' यह मानने से पहिले, इसलिए, हम मुहावरे के मर्मस्थल में छुरा भोंकना ही अधिक पसन्द करेंगे।

हमारे यहाँ 'प्रयोगशरणाः वैयाकरणाः' की उक्ति बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। इसलिए हम तो मुहावरों के प्रचलित प्रयोगों के विश्लेषण और वर्गीकरण के आधार पर ही उनके लक्षण निश्चित करना अधिक उपयोगी और न्याय-संगत समझते हैं। जैसा हम पीछे दिखा आये हैं, हिन्दी-मुहावरों का एक बहुत बड़ा वर्ग शारीरिक चेष्टाओं, स्पष्ट ध्वनियों और स्वर-विकार आदि के आधार अथवा अनुकरण पर निर्मित हुआ है, किन्तु अबतक किसीने भी मुहावरे के लक्षणों में उनकी गणना नहीं की है। मिश्रजी ने नम्बर ५ में 'भंगीपूर्वक अर्थ-प्रकाशन' आदि कहकर इस ओर संकेत अवश्य किया है; किन्तु इसे स्पष्ट करने के लिए जो उदाहरण उन्होंने दिया है, उससे यह उल्टे और अस्पष्ट हो जाता है।

भिन्न-भिन्न पाश्चात्य कोषकारों और लेखकों ने मुहावरे के जो लक्षण दिये हैं, उनका सविस्तर वर्णन तो हम पहले कर चुके हैं। यहाँ तो हम सबका निचोड़ देकर हिन्दी-भाषा की दृष्टि से कहाँ तक वे हमसे मेल खाते हैं, इसपर विचार करेंगे। पाश्चात्य विद्वानों के मत को संक्षेप में हम इस प्रकार बाँट सकते हैं—

१. किसी भाषा में प्रयुक्त वाग्वैचित्र्य ;
२. किसी भाषा-विशेष की विलक्षणता, विभाषा ;
३. किसी देश अथवा राष्ट्र की विलक्षण वाक्-पद्धति ;

४. (अ) किसी भाषा के विशेष ढाँचे में ढला वाक्य ;
 (ब) वह वाक्य, जिसकी व्याकरण-सम्बन्धी रचना उसी के लिए विशिष्ट हो और जिसका अर्थ उसकी साधारण शब्द-योजना से न निकल सके ;
५. वे वाक्यांश, जिनपर किसी भाषा अथवा सुलेखक के सिद्ध-प्रयोग होने की मोहर हो और जिनका अर्थ व्याकरण और तर्क की दृष्टि से भिन्न हो ;
६. किसी एक लेखक की व्यंजना-शैली का विशेष रूप अथवा वाग्वैचित्र्य ।

इन सात लक्षणों में से नम्बर २, ३, ६ और ७ हिन्दी-भाषा के लिए सुसंगत नहीं है, हमारे मुहावरों से उनका मेल नहीं बैठता। हिन्दी में अभी मुहावरा शब्द का अर्थ इतना व्यापक नहीं हुआ है। नम्बर १ और ५ मिश्रजी के नम्बर ४ और २ से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। नम्बर ४-अ और ब में जिन लक्षणों का निरूपण इन लोगों ने किया है, हिन्दी में प्रायः इसी अर्थ में 'मुहावरा' का विवेचन करते हैं। नं० ४-अ में जो लक्षण बताया है, वही हमारे रोजमर्रा अथवा बोलचाल का लक्षण है और नम्बर ४-ब में जिस अर्थ को लिया है, वह हमारे 'मुहावरा' के लक्षण से बिल्कुल मिलता-जुलता ही है। नम्बर २ को थोड़ा संकुचित करके यदि वाक्य-रचना की दृष्टि से किसी भाषा की विलक्षणता को लें तो उसे हम रोजमर्रा के अन्तर्गत ले सकते हैं; किन्तु यदि विभाषा मानकर चलेंगे तो उसे 'मुहावरा' और 'रोजमर्रा' दोनों ही के क्षेत्र से अलग रखना पड़ेगा। हम देखते हैं, अँगरेजी, हिन्दी और अरबी-फ़ारसी-मिश्रित उर्दू—तीनों की वाक्य-रचनाएँ एक-दूसरे से विचित्र हैं। हिन्द का एक वाक्य है—'मैं सरकारी काम से वहाँ गया; इसी को अँगरेजी में 'मैं गया वहाँ से सरकारी काम' (I went there for official work) और उर्दू में 'कार सरकारी से मैं वहाँ गया' इस प्रकार की शब्द-योजना में व्यक्त करते हैं। अपने-अपने क्षेत्र में ये तीनों ही रोजमर्रा या बोलचाल के शुद्ध प्रयोग हैं। इस दृष्टि से नम्बर ३ को भी हम रोजमर्रा कह सकते हैं। नम्बर ६ को उलट कर यदि यों कहें कि कोई-कोई मुहावरे किसी एक लेखक की व्यंजना-शैली का विशेष रूप होते हैं, तो इसमें हिन्दीवालों को भी कोई विरोध नहीं रहेगा। नम्बर ७ के विषय में भी यही बात है। नम्बर ६ और ७ में मालूम होता है एक दो दृष्टान्तों के आधार पर ही ऐसी व्यवस्था दे दी गई है। इसमें अंश को सम्पूर्ण मान लेने का दोष है। हिन्दी में इस प्रकार की भाव-व्यंजन-शैली के विशेष रूप अथवा वाग्वैचित्र्य को कवि-विशेष की शैली ही मानते हैं, मुहावरा नहीं। उसमें चमत्कार, हृदयग्राहिता और गम्भीरता पाई जा सकती है, उस पर उसके निजत्व की छाप हो सकती है, शब्दालंकार और अर्थालंकार की छटा भी उसमें दिखाई पड़ सकती है; पर वह लौकिक प्रयोग, सिद्ध प्रयोग, इष्ट प्रयोग अथवा मुहावरे की श्रेणी में नहीं आ सकता। 'सूर, तुलसी, कबीर और जायसी इत्यादि कवियों में ब्राउनिंग-जैसे दुरूह और जटिल प्रयोग जिन्हें वेब्स्टर साहब ने उदाहरण के रूप में लिया है, बहुत मिल जायँगे। सूरदास जी का एक पद देते हैं —

इन्द्र उपवन इन्द्र अरि दनुजेन्द्र इष्ट सहाय,
सुत्र एक जुथापकीने होत आदि मिलाय,
उभय रास समेत दिन मनिकन्यका ए दोई,
सूरदास अनाथ के हैं सदा राखन वोई[1]।

कबीर का है — ठगिनी क्या नयना झमकावै,
कबिरा तेरे हाथ न आवै।

स्थानाभाव के कारण हम और उदाहरण नहीं देते हैं, हरिऔध जी ने बोलचाल की भूमिका में बड़े विस्तार के साथ इस प्रसंग को समझाया है। सूर और कबीर के दो दृष्टान्त लेकर हम उनकी

१. बोलचाल की भूमिका, पृष्ठ १३४।

जटिलता और दुरूहता दिखाना चाहते हैं। ये प्रसंग ब्राउनिंग के वाक्यों से किसी दृष्टि से कम जटिल, दुरूह और दुर्बोध्य नहीं हैं, किन्तु फिर भी मुहावरों में इनकी गणना नहीं की जाती। वास्तव में दुरूहता और मुहावरे में तो स्वाभाविक विरोध है। हम जबतक किसी अर्थ को जानते नहीं, उसी समय तक वह हमें दुरूह लगता है; किन्तु एक बार जान लेने पर फिर उनकी दुरूहता नष्ट हो जाती है, फिर बार-बार जान लेने पर, अर्थात् मुहावरा बन जाने पर तो वह दाल-भात की तरह सुबोध और सरल बन जाता है।

'मुहावरा' शब्द की अर्थ-व्यापकता पर सबकी और सब दृष्टियों से विचार कर लेने के उपरान्त अब उसकी परिभाषा के सम्बन्ध में भी थोड़ी-बहुत चर्चा करके उसका कोई अधिक-से-अधिक स्पष्ट, वैज्ञानिक और लक्षणों के प्रतिनिधित्व की दृष्टि से, अधिक-से-अधिक पूर्ण रूप निश्चित कर लेना अति आवश्यक है।

हिन्दी में रचना अथवा शब्द-योजना और अर्थ-व्यापकता की दृष्टि से मुहावरों के अध्ययन को अभी 'जुमा-जुमा आठ दिन' भी नहीं हुए हैं। इसलिए यदि उसमें परिभाषा की दृष्टि से अभी तक कुछ नहीं हुआ है, तो इसपर आश्चर्य या अफसोस नहीं होना चाहिए। भाषा का इतिहास इस बात का साक्षी है कि केवल हिन्दी में ही नहीं, वरन् संसार की प्रायः समस्त भाषाओं में जब कभी साहित्य के किसी ऐसे बहुमुखी अंग पर पहले-पहल विचार होना आरम्भ होता है, तो सबसे पहली और सबसे बड़ी कठिनाई जो उसका अध्ययन करनेवालों के समक्ष उपस्थित होती है, वह उस अंग-विशेष की परिभाषा के सम्बन्ध में ही होती है, कविता की परिभाषा का अध्ययन करते हुए हमने देखा था कि 'पाँच अन्धे और हाथी' के न्याय के अनुसार जो कविता के जिस अंग से विशेष प्रभावित हुआ, उसने उसे ही कविता घोषित कर दिया। ठीक यही अवस्था इस समय उपलब्ध मुहावरे की परिभाषाओं की है। मुहावरे के जितने रूपों पर जिसकी दृष्टि गई है उसने उसके उतने ही लक्षण मान लिये हैं। वास्तव में यदि देखा जाय तो जितना बुनियादी काम है वह तो सब हो चुका है, हाथी के पैर, कान, सूँड़, पेट और पूँछ का ज्ञान हो जाने पर तो केवल उन्हें जोड़ देना बाकी रहता है, जहाँ इन पाँचों को एक जगह रखा, वहाँ हाथी की परिभाषा पूर्ण हुई। सब अंगों को ध्यान में रखते हुए गठी हुई भाषा में मुहावरे की परिभाषा लिखना उतना सरल तो नहीं है, जितना उसके प्रायः समस्त अंगों पर अलग-अलग विचार कर लेने के पश्चात् वह लगता है। पंडित रामदहिन मिश्र ने बारह ढंग से मुहावरे के लक्षणों पर खूब विचार करने के पश्चात् जो परिभाषा लिखी है, वह भी निर्दोष नहीं है। वह लिखते हैं—'जिन शब्दों, वाक्य-खंडों से वाक्यों या उनके साधारण शब्दार्थों से भिन्न कोई विशेष अर्थ निकले वे मुहावरे हैं।' रामचन्द्र वर्मा ने भी मिश्र जी से मिलती-जुलती ही बात कही है, वह कहते हैं—'शब्दों और क्रिया-प्रयोगों के योग से कुछ विशिष्ट पद बना लिये जाते हैं, जो मुहावरे कहलाते हैं। अर्थात् 'मुहावरा' उस गठे हुए वाक्यांश को कहते हैं, जिससे कुछ लक्षणात्मक अर्थ निकलता है और जिसकी गठन में किसी प्रकार का अन्तर होने पर वह लक्षणात्मक अर्थ नहीं निकल सकता। इन दोनों ही परिभाषाओं में जहाँ मुहावरे की अर्थ-व्यापकता और उत्पत्ति की दृष्टि से अव्याप्ति-दोष है, वहाँ तात्पर्यार्थ अथवा सांकेतिकता की दृष्टि से अतिव्याप्ति-दोष भी है। मुहावरों का क्षेत्र शब्द-शक्तियों तक ही सीमित नहीं है, अतएव उसे केवल लक्षणात्मक अर्थ देनेवाला कहकर ही सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए। फिर यदि साधारण अर्थ से भिन्न कोई विशेष अर्थ देनेवाले वाक्य को लेकर ही चले तो उसे एकदम मुहावरा कह देना तो न्याय नहीं है, वह केवल एक लाक्षणिक प्रयोग है, किन्तु हरेक लाक्षणिक प्रयोग मुहावरा नहीं हो सकता, अतएव उसमें अति-व्याप्ति-दोष भी आ जाता है।

हिन्दी-मुहावरों का आकार-प्रकार, उत्पत्ति और तात्पर्यार्थ की दृष्टि से विश्लेषण करने पर हम इस प्रकार उसका विभाजन कर सकते हैं—

१. कोई भी महावाक्य, वाक्य, खंडवाक्य, वाक्यखंड अथवा वाक्यांश और शब्द मुहावरे की तरह प्रयुक्त हो सकता है। जैसे—'आत्मवत् सर्व भूतेषु', 'चलती का नाम गाड़ी है', 'बाल बराबर इधर-उधर न टर सके', 'आँख लगना', 'गधा', 'बैल' या 'हैवान' होना, इत्यादि।
२. ऐसे प्रत्येक प्रयोग का सर्वसम्मत और सर्वमान्य होना, रूढ़ होना आवश्यक है। वह शब्द योजना और अर्थ—दोनों दृष्टियों से रूढ़ होता है।
३. अभिधेयार्थ से भिन्न अर्थ देता है।
४. लक्षणा, व्यंजना आदि शब्द-शक्तियों, शारीरिक चेष्टाओं, स्पष्ट ध्वनियों के अनुकरण, कहानी और कहावतों तथा कतिपय अलंकारों के आधार पर मुहावरों की उत्पत्ति होती है।

ऊपर कहे हुए लक्षणों को ध्यान में रखते हुए संक्षेप में मुहावरे की इस प्रकार परिभाषा की जा सकती है—प्रायः शारीरिक चेष्टाओं, अस्पष्ट ध्वनियों, कहानी और कहावतों अथवा भाषा के कतिपय विलक्षण प्रयोगों के अनुकरण या आधार पर निर्मित और अभिधेयार्थ से भिन्न कोई विशेष अर्थ देनेवाले किसी भाषा के गठे हुए रूढ़-वाक्य, वाक्यांश अथवा शब्द इत्यादि को मुहावरा कहते हैं। जैसे—'हाथ-पैर मारना', 'सिर धुनना', 'ही-ही करना', 'गटागट निगल जाना', 'टेढ़ी खीर होना', 'अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना', 'दूध के जले होना', 'नौ की लकड़ी, नब्बे खर्च करना', 'अंगारों पर लोटना', 'आग से खेलना, इत्यादि-इत्यादि

दूसरा विचार

मुहावरों की शब्द-योजना

पिछले अध्याय में हमने 'मुहावरा' शब्द की अर्थ-व्यापकता को लक्ष्य करके उसके विश्वव्यापी जीवन के विभिन्न कार्य-क्षेत्रों और व्यापारों की एक संक्षिप्त रूप-रेखा पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न किया है। मानव-समाज की तरह यदि मुहावरों का भी एक समाज मान लें तो हरेक मुहावरा उसका एक विशिष्ट प्राणी है। आगे चलकर मुहावरों की उपयोगिता के प्रकरण में जैसा आप देखेंगे, भाषा को सरल, सुबोध और ओजपूर्ण बनाना जहाँ उसका सामाजिक धर्म है, वहाँ एक विशिष्ट व्यक्ति के नाते अपने उसी विशिष्ट भौतिक शरीर (विशिष्ट शब्द-योजना) के द्वारा पूर्ण ज्योति (तात्पर्यार्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति) का दर्शन करके उसी में समाधिस्थ हो जाना उसके व्यक्तिगत जीवन का विशिष्ट उद्देश्य रहता है। उसका यह शाब्दिक ढाँचा, तात्पर्यार्थात्मक रूप, उसकी दिव्य ज्योति का भव्य मंदिर है, उसकी एक ईंट भी इधर-उधर करने का किसी को अधिकार नहीं है। उसके शरीर को छूना ही मानो उसकी समाधि को भंग करना है, अर्थ का अनर्थ करना है। विश्वनाथ जी के मंदिर में स्थित 'शिवलिंग' की मूर्त्ति और हमारे घर में पड़ी हुई चक्की के पाट दोनों एक ही पत्थर के दो टुकड़े हैं; किन्तु फिर भी, एक की पूजा होती है, दूसरे की नहीं, क्यों? केवल इसीलिए कि शिवलिंग में उसके मूर्त्ताधार प्रस्तर-खंड से बढ़कर भी कोई ऐसा विशेष गुण है, जिसके कारण उसका जातीय गुण प्रस्तरत्व सर्वथा गौण अथवा नष्टप्राय हो गया है। हम विश्वनाथ जी के मन्दिर में जाकर पत्थर के टुकड़े पर पानी नहीं बहाते हैं, हम तो उस लिंग के प्रत्येक अणु और परमाणु में प्रविष्ट स्वयं भगवान् शिव की आराधना करते हैं, वह पत्थर अब पत्थर कहाँ है जब से उसमें भगवान् शिव की प्राण-प्रतिष्ठा हुई है, वह तो भगवान् के साथ एकाकार हो गया है। शिवलिंग के दर्शन से स्वयं भगवान् के और भगवान् के स्मरण से शिवलिंग के दर्शन हो जाते हैं। इसी दृष्टि से यदि आप मुहावरों का अध्ययन करें तो आप देखेंगे कि विश्वनाथ जी के मन्दिर में 'शिवलिंग' और 'शिव' का जैसा अन्योन्याश्रय संबंध हो गया है, भाषा के मंदिर में मुहावरों की विशिष्ट 'शब्द-योजना' और उनके विशिष्ट तात्पर्यार्थ का भी वैसा ही अन्योन्याश्रय संबंध है। किसी मुहावरे में प्रयुक्त शब्दों का अपने सजातीय अन्य शब्दों से उसी प्रकार का सम्बन्ध रह जाता है, जैसा 'शिवलिंग' का अपने सजातीय अन्य प्रस्तर-खंडों से। कुछ विद्वान् मुहावरों को 'सिद्धप्रयोग' अथवा 'साधु प्रयोग' भी कहते हैं, सचमुच बात तो यही है, भाषा के क्षेत्र में मुहावरों का स्थान ही साधु और सिद्धों का है। किसी भी भाषा का एक-एक मुहावरा एक-एक सिद्ध और साधु होता है, अपनी साधना के बल पर वह युग-युगान्तरों तक एक ही चाल में चला आता है, उसमें कोई परिवर्त्तन नहीं होता।

श्रीमान् डब्ल्यू मेकमार्डो और 'ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी'-कार ने अपने-अपने ढंग से इसी मत का प्रतिपादन करते हुए इस प्रकार लिखा है—

"चिर प्रयोग के कारण मुहावरे स्थिर हो गये हैं, उनमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता।" [१] आगे और कहते हैं—"विशिष्ट शब्दों के विचित्र प्रयोगों एवं प्रयोग-सिद्ध विशिष्ट

१. "But long usage has fixed the idiomatic expression in each case, and from the idiom we may not swerve."

वाक्यांशों अथवा विशिष्ट वाक्य-पद्धति को मुहावरा कहते हैं। शब्दों के प्रयोग-सिद्ध विलक्षण अर्थ को भी मुहावरा कहते हैं।" १

"शब्दों का वह छोटा-सा समूह अथवा संग्रह, जो किसी एक ही भाव को व्यक्त करता हो अथवा एक इकाई के रूप में किसी वाक्य में प्रवेश करे।" २

इकाई किसी संख्या का वह छोटे-से-छोटा भाग होता है, जिसके और अधिक भाग नहीं हो सकते। भूगोल के विद्यार्थी नक्शा बनाते समय इसी इकाई को १०० मील अथवा इससे कम या अधिक भी मान लेते हैं। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि सुविधा की दृष्टि से हम किसी भी चीज को, जिसके और अधिक टुकड़े नहीं करना चाहते, इकाई मान लेते हैं। मुहावरे को इकाई मानने का अर्थ यही है कि वह अविभाज्य है। संक्षेप में अखंड खंड का नाम ही इकाई है। उसमें न तो कोई कुछ घटा ही सकता है और न बढ़ा ही, और न उसके टुकड़े करके (किसी वाक्य में दो या दो से अधिक स्थानों में बाँटकर) कोई उसका प्रयोग ही कर सकता है। मेकमार्डी साहब का भी, 'मुहावरों की स्थिरता' से यही तात्पर्य था कि वे इकाई के समान अविभाज्य और अपरिवर्त्तनीय हो गये हैं, उनमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन करने का अर्थ उनका एकत्व नष्ट करके मुहावरे के पद से उन्हें च्युत करना है। अपने इस मत को और भी स्पष्ट करते हुए अपनी पुस्तक के १५ वें पृष्ठ पर ही थोड़ा आगे बढ़कर आप फिर लिखते हैं—"सिद्धान्ततया मुहावरे की शब्द-योजना में कोई उलट-फेर या किसी प्रकार का लौट-बदल नहीं हो सकता। उसमें गुथे हुए किसी शब्द का पर्यायी उसके स्थान में नहीं रखा जा सकता और न साधारणतया उसके शब्दानुक्रम में ही कोई हेर-फेर किया जा सकता है, शब्द अथवा उनके प्रबन्ध में किसी प्रकार का परिवर्तन करने के प्रयत्न से प्रायः मुहावरे का महत्त्व नष्ट हो जाता है अथवा वह निरर्थक हो जाता है। मुहावरेदार प्रयोगों में प्रायः अर्थ-पूरक कुछ शब्द लुप्त हो जाते हैं, किन्तु इन लुप्त शब्दों की स्थान-पूर्त्ति करने से मुहावरा खत्म हो जाता है। इसलिए..........एक विद्यार्थी को बड़ी सावधानी से मुहावरे की यथार्थ शब्द-योजना और उन शब्दों के यथावत् प्रबन्ध पर ध्यान रखना चाहिए।" ३

---

१. "Under idiom we include peculiar uses of particular words, and also particular phrases or turns of expression which from long usage have become stereotyped in English."

—*English Idioms by Mc Mordie, Page 15 and 16 respectively.*

२. "Oxford Dictionary .... "a small group or collection of words expressing a single notion or entering with some degree of unity into the structure of a sentence."

—'*Words & Idioms*' Foot-note 2, page 168.

३. "As a general rule an idiomatic phrase cannot be altered; no other synonymous word can be substituted for any word in the phrase and the arrangement of the words can rarely be modified; any attempted change in the wording or collocation will commonly destroy the idiom and perhaps render the expression meaningless. Frequently an idiomatic expression omits several words by ellepsis; but to fill in the words so omitted would destroy the idiom. Hence the Indian student must be careful to note the precise words that make up any idiom, and also the exact arrangement of those words."

श्रीब्रह्मस्वरूप शर्मा दिनकर अपनी पुस्तक 'हिन्दी मुहाविरे' के विषय-परिचय पृष्ठ) पर इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखते हैं—"मुहाविरों के शब्द नपे-तुले होते हैं, उनमें प्रायः हेर-फेर नहीं किया जा सकता। 'पानी-पानी होना' एक मुहाविरा है। इसको जल-जल होना अथवा पानी होना नहीं कह सकते; क्योंकि जल-जल होना लज्जित होने के अर्थ में प्रचलित नहीं है और 'पानी होना' एक दूसरा मुहाविरा बन जाता है, जिसका अर्थ है 'सुगम होना'।"

मुहावरे के स्वाभाविक रूप और गठन में किसी प्रकार का अदल-बदल न करके उसे ज्यों-का-त्यों एक इकाई की तरह किसी वाक्य अथवा छन्द में बाँधने को ही मौलाना हाली ने मुहावरे की 'नशिस्त' का पूरा ध्यान रखते हुए बड़े सलीके के साथ उसे शेर में बाँधना कहा है। 'नशिस्त' से मौलाना साहब का मतलब मुहावरे की शब्द-योजना के प्रबन्ध और गठन से है। मुहावरा इकाई के रूप में तो छन्द में बँधना ही चाहिए; लेकिन उसके किसी जेर, जबर में भी जौ भर परिवर्त्तन न करके ज्यों-का त्यों उसे शेर में रखने को मौलाना साहब ने सलीके से मुहावरा बाँधना कहा है। मुहावरे की 'बेसलीकगी' से मौलाना साहब मुहावरे का बिल्कुल न होना अधिक अच्छा समझते हैं। आप कहते हैं—"बल्कि मुमकिन है कि शेर बगैर मुहावरे के भी फसाहत व बलागत (ओज) के आला दर्जे पर वाके हो और मुमकिन है कि एक पस्त और अदना दर्जे के शेर में बेतमीजी से कोई लतीफ व पाकीजा मुहावरा रख दिया गया हो।" मौलाना साहब मुहावरे को लतीफ और पाकीजा कहते हैं, फिर उसकी पाकीजगी और परहेजगारी पर भला वह इतना ध्यान क्यों न रखते। मौलाना साहब की इस पैनी दृष्टि का नमूना आपको उनकी आलोचना में मिलेगा। एक शेर है—

"उसका खत देखते हैं जब सय्याद,
तोते हाथों के उड़ा करते हैं।"

यहाँ 'हाथों के तोते उड़ जाते हैं' की जगह उड़ा करते हैं कह देने को ही मौलाना साहब ने बेतमीजी कहा है। आगे चलकर आपने 'मोमिन' साहब और मिर्जा गालिब के शेरों को लेकर जो आलोचना की है, उससे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि वह मुहावरे में जरा-सा भी परिवर्त्तन सहन नहीं कर सकते थे। देखिए—मोमिन खाँ का एक शेर है—

"कल तुम जो बज्मे गैर में आखें चुरा गये,
खोये गये हम ऐसे कि अगयार पा गये॥"

इसपर हाली साहब की आलोचना देखिए—'आँखें चुराना' इगमाज (आँख बचाना) व बेतवजही करना है, 'खोया जाना' शर्मिन्दा और खिसियाना होना, 'पा जाना' समझ जाना या ताड़ जाना, मानी जाहिर है। इस शेर का मजमून भी बिल्कुल नेचुरल है और मुहावरात की नशिस्त और रोजमर्रा की सफाई काबिले तारीफ है। अगर्चे इसका माखज (जहाँ से लिया गया है) मिर्जा गालिब का यह शेर है—

गर्चे है हर तर्जे तग़ाफुल पर्दा दार राज़ इश्क़,
पर हम ऐसे खोये जाते हैं कि पाय जा है।"

मगर मोमिन के 'हाँ' (यहाँ) ज्यादा सफाई से बाँधा है।[1] यहाँ 'खोया जाना' और 'पा जाना'—दो मुहावरों को मिर्जा साहब ने बाँधा है। 'खोया जाना' से 'खोये गये' तो हो सकता है; किन्तु खोये 'जाते हैं' नहीं। खोये जाते हैं और 'खोये गये' दोनों के अर्थ में जमीन-आसमान का फर्क हो जाता है। इसी तरह 'पा जाना' से 'पा गये' ही हो सकता है 'पाय जा है' नहीं। मौलाना साहब के इस सूक्ष्म विवेचन से उनकी सूक्ष्म दृष्टि का पता चल जाता है।"

---

१. मुकदमा शेरो शायरी, पृ०—१४६।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि क्या हिन्दी, क्या उर्दू और क्या अँगरेजी—प्रायः सभी भाषाओं के विद्वान् मुहावरों की शब्द-योजना के संबंध में किसी-न-किसी रूप में मेकमार्डी साहब से सहमत हैं। मेकमार्डी साहब ने जो कुछ कहा है, सिद्धान्त के रूप में कहा है। किन्तु सिद्धान्त और व्यवहार में कुछ-न-कुछ अन्तर तो हमेशा और हर जगह रहता ही है। रेखागणित में भी सिद्धान्ततया एक सरल रेखा का जो रूप होता है, वह रूप व्यवहार में नहीं होता। इसलिए यदि हिन्दी-मुहावरों में उन सिद्धान्तों के कुछ अपवाद मिलें, तो उनके आधार पर न तो सिद्धान्तों को असत्य समझना चाहिए और न सिद्धान्तों के कारण ऐसे प्रयोगों का ही बहिष्कार करना चाहिए। हिन्दी में छन्द, अनुप्रास, तुक आदि के बन्धनों के कारण भी कवियों को कभी-कभी मुहावरों को तोड़ना-मरोड़ना पड़ता है, जबकि उर्दू में उन्हें इस प्रकार का कोई कठोर बन्धन न होने के कारण बहुत अधिक स्वतंत्रता रहती है। अब हम मेकमार्डी साहब की कसौटी पर हिन्दी-मुहावरों को अच्छी तरह से कसकर देखेंगे कि वे कहाँ तक उनके सिद्धान्तों से मेल खाते हैं।

मुहावरों में उलट-फेर

मुहावरों की शब्द-योजना में कितने ही प्रकार से उलट-फेर किया जा सकता है। मुहावरों का शब्द-संस्थान अथवा शब्द-परिवर्त्तन, पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग, शब्दानुक्रम-भेद, भाषान्तर इत्यादि कितने ही व्यापार हैं, जिनके द्वारा, जैसा आगे चलकर एक-एक को लेकर हम दिखायेंगे, मुहावरे की शब्द-योजना में अराजकता और अव्यवस्था घर कर लेती है। भिन्न-भिन्न उदाहरण लेकर सबसे पहले हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि एक अर्थ की ओर लक्ष्य करनेवाले दो प्रयोगों में जिस प्रयोग के शब्द चिर-प्रयोग के कारण रूढ़ हो गये हैं, वही मुहावरा कहलाता है, दूसरा नहीं। इसलिए, दोनों प्रयोगों के शब्दों को हम अदल-बदल नहीं सकते। थोड़ा-सा भी हेर-फेर होने से, कोई रूढ़ प्रयोग लाक्षणिक रहते हुए भी, मुहावरा नहीं रहता, उसकी मुहावरेदारी नष्ट हो जाती है। 'भूखी बिल्ली और जलेबी की रखवाली' यह एक मुहावरा है। इसका लक्ष्यार्थ तो इतना ही है कि चोर के हाथ में खजाने की चाबी दे देना। यहाँ बिल्ली उन सब प्राणियों का प्रतिनिधित्व करती है, जो जलेबियों के घातक हैं। लक्षणा का काम तो 'भूखी बिल्ली' के स्थान में 'भूखा कुत्ता' रखने से भी हो जाता है; क्योंकि कुत्ता भी स्वभावतया जलेबियों का घातक होता है; किन्तु ऐसा प्रयोग करने पर मुहावरे की मुहावरेदारी खत्म हो जायगी। संस्कृत का एक ऐसा ही मुहावरा है—'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् ।' यहाँ 'काक' शब्द दध्युपघातक समस्त 'प्राणियों' का काम करता है, अतएव लक्षणा का काम तो 'काक' के स्थान में 'कपि' कर देने से भी चल सकता था, किन्तु उससे मुहावरा नष्ट हो जाता। 'ऊँट किस करवट बैठता है' यह एक मुहावरा है। प्राचीन काल में व्यापारी लोग एक स्थान से दूसरे स्थान तक समान ढोने के लिए ऊँटों से काम लेते थे। कभी-कभी दो आदमी मिलकर साझे में एक ऊँट ले लेते थे। दूर का सफर होता था, रास्ते में पड़ाव डालते हुए चला करते थे। ऊँट भी कभी-कभी थककर लदे-लदाये बैठ जाते हैं। ऐसे अवसर पर प्रायः एक ओर की खुर्जी (जिसमें सामान भरा जाता है) का माल कुछ दब जाता है। ऐसे ही किसी ऊँट को अचानक बैठते हुए देखकर उसके मालिकों को जो संदेहपूर्ण घबराहट होती है कि किसका नुकसान होगा, उस परिस्थिति का पूर्ण चित्रण इस मुहावरे में हो जाता है। वह परिस्थिति तो बोझा ढोनेवाले दूसरे जानवरों के बैठने पर भी आ सकती है, किन्तु मुहावरेदारी का वह आज ऊँट की जगह घोड़ा या बैल कर देने से नष्ट हो जायगा। इसका कारण स्पष्ट है, 'ऊँट किस करवट बैठता है'—इसमें एक व्यक्ति-विशेष की अनुभूति और उस अनुभूति की प्रामाणिकता पर लोकमत की मुहर लगी है, जब घोड़े या बैल के बैठने की बात केवल एक कल्पना है। बिल्ली और कौवे के जो उदाहरण हमने दिये हैं, उनमें भी लोगों की अनुभूतियाँ छिपी हुई हैं। कल्पना और अनुभूति में बहुत अन्तर होता है। समाचारपत्रों में जब हमने पढ़ा कि बापूजी नोआखाली में बाँस के पुलों पर

बिना किसी सहारे के पार हो जाते हैं, हम उन पुलों के भयावनेपन की कल्पना तो करते थे; किन्तु उस कल्पना से हमारे रोंगटे खड़े नहीं होते थे, शरीर में थरथरी और कम्पन नहीं होता था, लेकिन जब वहाँ जाकर उस दिन हिम्मत हारकर उरली पार ही बैठ गये, बड़ी मुश्किल से एक दूसरे भाई का सहारा लेकर पार करना पड़ा, तब समझ में आया कि 'बाँस का पुल पार करना' तलवार की धार पर चलने से किसी तरह कम नहीं है। आज भी जब उस पुल का ध्यान आ जाता है, रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पुल तो ऐसे और ऐसे ही क्या, इससे भी भयानक लकड़ी, लोहे और रस्से के भी हो सकते हैं; किन्तु हमपर जितना गहरा प्रभाव 'बाँस के पुल' का पड़ता है, उतना दूसरों का नहीं। वास्तव में यही कारण है कि समानधर्मवाले ही क्यों न हों, अननुभूत होने के कारण 'बिल्ली' के स्थान में 'कुत्ता', 'काक' के स्थान में 'कपि' अथवा 'ऊँट' के स्थान में 'घोड़ा' या 'गदहा' रखने से मुहावरे का महत्त्व नष्ट हो जाता है। अब नीचे कुछ अधिक उदाहरण लेकर इस उलट-फेर के भयावने परिणाम को और स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे—

१. 'अचार बनाना' और 'अचार डालना' में 'अचार' के स्थान में 'आटा' और 'सिरका' नहीं रख सकते, यद्यपि आटे से चूर-चूर कर देने की और 'सिरका' से सड़ाने, बरबाद करने अथवा गलाने की ध्वनि निकलती है।

२. 'अन्न मिट्टी होना' को अन्न धूल होना या कंकड़ या राख होना इत्यादि नहीं कह सकते। धूल, राख और कंकर भी बेकार के अर्थ में आते हैं।

३. 'अमचूर हो जाना' की जगह सूखकर किशमिश या छुहारा होना नहीं कह सकते। किशमिश और छुहारा भी अमचूर की तरह सूखकर सिकुड़ जाते हैं। 'आँखों पर हाथ रखना', 'आँखों में धूल झोंकना', 'आटा गीला होना', 'आटे-दाल की फ़िक्र होना', 'काँटों पर लोटना', 'गाँठ का पैसा', 'गुड़ियों का खेल', 'जूतियाँ सीधी करना', 'पैर से जा लगना', 'भाड़े का टट्टू', 'शीशी सुँघाना', इत्यादि मुहावरों में विशेष परिस्थितियों की विशिष्ट अनुभूतियों के चित्र हैं। इसलिए उनमें क्रमशः हाथ की जगह कपड़ा, धूल की जगह राख या मिट्टी, आटे की जगह सत्तू, आटे-दाल की जगह दाल-चावल, काँटों की जगह कीलों, गाँठ की जगह बटवा, गुड़ियों की जगह कौड़ियाँ, जूतियाँ की जगह चप्पलें, पैर की जगह एँड़ी, टट्टू की जगह ऊँट तथा शीशी की जगह बोतल नहीं कर सकते।

ऊपर जिन मुहावरों को हमने लिया है, वह एक प्रकार की अनुभवोक्तियाँ हैं। किसी-न-किसी का अनुभव उनमें रहता है, इसलिए किसी प्रकार का उलट-फेर करने से उनका अनुभव-तत्त्व नष्ट हो जाता है। अनुभव-जैसा ही मान हम प्रायः विशिष्ट व्यक्तियों की अनूठी उक्तियों को देते हैं। चिर-प्रयोग से वे हमारी अपनी जैसी ही हो जाती हैं, सबके मुहावरे में आकर सबका मुहावरा बन जाती हैं। 'मतलब के लिए गधे को बाप बनाना' एक मुहावरा है। यहाँ कहनेवाले ने किसी अयोग्य व्यक्ति की प्रतिष्ठा करने को एक अनूठे ढंग से कहा है। गधे की अयोग्यता जगत्-विख्यात है। अब इस मुहावरे में अयोग्यता के आधार पर 'बैल को बाप बनाना' नहीं लिख सकते। बैल भी यद्यपि अयोग्यता का प्रतिनिधि माना गया है; जैसे—'बैल कहीं का।' 'दिल खट्टा होना' मुहावरे का अर्थ घृणा होना है। इसमें उलट-फेर करके प्रेम होने लिए 'दिल मीठा होना' या 'खट्टा' शब्द की जगह नींबू या इमली जोड़कर 'दिल निम्बू हो गया' या 'दिल इमली हो गया' नहीं कर सकते। इसी प्रकार 'मटरगश्त करना', 'खली-गुड़ एक भाव करना', 'खाक छानते फिरना', 'पहाड़ टूटना', 'सोने में सुगन्ध हो जाना' या 'सोने के कौर खाना' इत्यादि मुहावरों में मटर की जगह चना, जुआर-बाजरा या कोई अन्य धान्य नहीं रख सकते। यद्यपि भाड़ में भूने जाने पर वे भी मटर की तरह ही बिना किसी उद्देश्य के इधर-उधर चटखते और उछलते कूदते हैं, और न तो 'खली गुड़' की जगह 'घास

और घी' (यद्यपि घास और घी में अनुप्रास है, फिर भी अप्रचलित है); 'खाक' की जगह धूल, रेत या मिट्टी, 'पहाड़' की जगह पुल इत्यादि तथा सोने की जगह हीरा या मोती इत्यादि ही कर सकते हैं। वास्तव में यहाँ उतना महत्त्व मटर, खली-गुड़ और सोने इत्यादि शब्दों का नहीं है, जितना उनके प्रयोगकर्त्ता समाज का है। मुहावरों में आकर अब, असल में 'मटर' एक धान्य, और 'सोना' एक धातु ही नहीं रह गये हैं। इसलिए उनके सजातीयों से उनकी स्थान-पूर्त्ति नहीं हो सकती।

कभी-कभी दो मुहावरों में आधे शब्द एक के और आधे दूसरे के अथवा कुछ एक के और कुछ दूसरे के मिलाकर भी लोग रख देते हैं। इससे क्या अनर्थ होता है, देखिए 'बीड़ा उठाना' एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है किसी काम का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना, 'बीड़ा' शब्द का प्रयोग गाने-बजानेवालों को पक्का करते समय जो साई या बयाना उन्हें दिया जाता है, उसके लिए भी होता है, इस 'बीड़ा' शब्द के साथ, देना, लेना, मिलना, लौटना, भेजना, मंजूर करना इत्यादि क्रियाओं का प्रयोग होता है; किन्तु यह प्रयोग साधारण क्रिया-प्रयोग होता है, लाक्षणिक नहीं। इस बीड़े के साथ आई हुई क्रियाओं में से किसी को लेकर अथवा तम्बोली की दूकानवाले 'बीड़ा चबाने' से 'चबाना' क्रिया लेकर इस मुहावरे का यों प्रयोग करना 'हिन्दू-मुसलमानों में ऐक्य स्थापित करने का बीड़ा कौन चबाता है, स्वीकार करता है, लेता है, इत्यादि। 'बीड़ा उठाना' मुहावरे के पीछे जो इतिहास है, उसे लीप-पोतकर बराबर करना है। मध्ययुग में हमारे यहाँ राज-दरबारों में यह प्रथा थी कि जब कोई विकट कार्य आ पड़ता था, तब वीरों और सामन्तों आदि को बुलाकर उनके सामने उसके सम्बन्ध की सब बातें रख दी जाती थीं। वहीं थाली में पान का एक बीड़ा भी रहता था। जो वीर कार्य करने का भार अपने ऊपर लेता था, वह थाली से बीड़ा उठा लेता था। पान का बीड़ा 'रति' का एक उपकरण है। बीड़ा उठाने से जहाँ वीरत्व की ध्वनि निकलती है, वहाँ यह भी मालूम होता है कि पान खाने के सदृश्य ही उस काम का करना उस वीर के लिए सरल, स्वाभाविक और आनन्द देनेवाला है। अब देखिए, 'बीड़ा चबाना' इस प्रयोग में तम्बोली की दूकान पर खड़े होकर चुहुलबाजी करने के सिवा कोई वीरत्व अथवा पुरुषत्व की भावना भी नजर आती है क्या ?

इसी प्रकार 'कसर न करना' और 'कुछ उठा न रखना'—इन दोनों मुहावरों की खिचड़ी पकाकर 'कुछ कसर न रखना', 'कसर न उठा रखना' और कभी-कभी 'कुछ बाकी न रखना' मुहावरे में से भी थोड़ा-बहुत नोंच-खसोट कर 'कोई या कुछ कसर बाकी न रखना' इत्यादि प्रयोग प्रायः लोग कर देते हैं। ये प्रयोग मुहावरे तो नहीं हैं, मुहावरों का घोल-मट्ठा भले ही हों। इसके कुछ नमूने और देखिए। 'किसी से पाला पड़ना' और 'किसी के पल्ले पड़ना' इन दोनों सर्वथा भिन्न मुहावरों में धपल-चौथ करके प्रायः लोग कहते हैं— 'वह ऐसे आदमी के पाले पड़ा था'। एक बार किसी समाचारपत्र में इस प्रयोग की और भी अच्छी तरह, इस प्रकार लिखकर मिट्टी पलीद की गई थी—'उन्होंने अपनी किस्मत हमारे पल्ले अटका रखी है।' मुहावरे के फेर में सारा वाक्य बे-सिर-पैर का हो गया है। 'नमकहराम होना' और 'नमकहलाल करना'—इन दोनों को अदल-बदल कर प्रायः लोग कह देते हैं 'वह नमकहरामी करता है', 'अमुक व्यक्ति बड़ा नमकहलाल है।' इसी प्रकार कभी-कभी एक मुहावरे के मुख्य भाग को दूसरे शब्दों के साथ जोड़कर भी कुछ लोग बोलते हैं। जैसे मुहावरा है—'अक्ल पर पर्दा पड़ जाना'; किन्तु इसके आधार पर दिल और आँख के साथ भी पर्दा पड़ जाना जोड़कर 'आँख पर पर्दा पड़ गया', 'दिल पर पर्दा पड़ गया', इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करते हैं। समाचारपत्रों और भिन्न-भिन्न मंचों पर खड़े होकर बोलनेवाले नेताओं के भाषण सुनकर इस बात में सन्देह करने की कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती कि हिन्दी में, मुहावरों को उलट-पलट और इच्छानुसार तोड़-मरोड़कर प्रयोग करने की यह प्रवृत्ति नित्य-प्रति बढ़ती ही जाती है।

मुहावरों का शब्द-नियम तथा शब्द-परिवर्तन

मुहावरे को इकाई मानकर चलने पर तो यह निश्चित है कि उसकी शब्द-योजना में न केवल शब्दों के स्थान-क्रम में, वरन् उसके शब्दों में भी कोई परिवर्त्तन नहीं हो सकता। इकाई (अखंड-खंड) में परिवर्त्तन का अर्थ जिस प्रकार दूसरी इकाई होता है, उसी प्रकार मुहावरे में परिवर्त्तन करना माने दूसरा मुहावरा गढ़ना या उसे विकृत करना है।

हिन्दीभाषा में व्यवहृत मुहावरों की कसौटी पर जब इस सिद्धान्त को कसकर देखते हैं, तब यही कहना पड़ता है कि यह सिद्धान्त तो निस्सन्देह अति प्रिय और तर्कपूर्ण है; किन्तु इसे पूर्ण रूप से व्यवहार में लाना संभव नहीं है। इसका एक अंश ही हिन्दी-मुहावरों पर लागू होता है, सर्वांश नहीं या इससे कुछ अधिक विनम्र शब्दों में यों कह सकते हैं कि हिन्दी के साधारण तौर से सभी लेखक और विशेष तौर से कवि अभी इसके केवल एक अंश का ही अपनी कृतियों में निर्वाह कर सके हैं, पूर्ण रूप से वे अभी इस सिद्धान्त का पालन नहीं कर सके हैं।

हिन्दी में मुहावरों का शब्द-प्रबन्ध ही नहीं बदलता, ऐसे भी कितने ही उदाहरण मिलते हैं, जहाँ उनके शब्द भी बदल जाते हैं। गद्य में इस प्रकार के परिवर्त्तन प्रायः नहीं के बराबर ही होते हैं, कहीं किसी कथोपकथन अथवा नाटक के किसी पात्र के आवेशपूर्ण वक्तव्य में कोई इक्का-दुक्का ऐसा परिवर्त्तन भले ही मिल जाय, अन्यथा गद्य में तो बहुत करके इकाई के रूप में ही मुहावरों का प्रवेश होता है। हाँ, पद्य में अवश्य 'सूर', 'तुलसी', 'कबीर', 'गुप्त' और 'प्रसाद' प्रभृति उच्च कोटि के कवि भी इस सिद्धान्त का सर्वथा पूर्ण रूप से पालन नहीं कर सके हैं। हिन्दी पद्य के छन्द-अनुप्रास आदि अलंकारों के कड़े अनुशासन के कारण वास्तव में हिन्दी कवियों के लिए इस सिद्धान्त का सर्वत्र निर्वाह कर सकना शक्य भी नहीं है। उर्दू में हिन्दी की अपेक्षा कवियों को व्यक्तिगत स्वतंत्रता अधिक होती है, वहाँ छन्द और अलंकार के कोई विशेष कड़े नियम नहीं हैं। किन्तु फिर भी वे इस सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल मुहावरा बाँधने में प्रायः असफल ही रहते हैं। अतएव हम कवियों के संबंध में इस दोष को दोष न गिनकर, किसी शब्द को तोड़-मरोड़कर रखने अथवा उसकी मात्राएँ घटाने-बढ़ाने का जो कविप्राप्त अधिकार उन्हें है, उसी के अन्तर्गत इसे भी—मुहावरों को तोड़-मरोड़कर रखने को भी—समझ लेते हैं।

कोई कवि या लेखक क्यों किसी मुहावरे के शब्दों में अथवा उसके शब्द-प्रतिबन्ध में कोई परिवर्त्तन करता है, यदि इसका सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो इसका कारण का पता चल सकता है और फिर इस परिवर्त्तन के नियमों की भी खोज हो सकती है। इसके कुछ विशेष नियम अवश्य हैं।

1. हम जब किसी से बातचीत करते हैं, तब जो वाक्य उस समय हमारे मुँह से निकलते हैं, उनका शब्द-प्रबन्ध, यदि आपने कभी ध्यान दिया हो, हमारे भावों के विकास, वेग और रस के बिल्कुल अनुरूप होता है। जब हम क्रोध में किसी बच्चे को डाँटते हैं तब प्रायः हमें व्याकरण-संगत स्थिति का होश नहीं रहता और हम कह देते हैं—"फेंक दूँगा टाँग चीरकर, निकाल दूँगा घर से, फिरोगे मारे दर-दर'''"इत्यादि-इत्यादि। कहाँ 'टाँग चीरकर फेंकना', 'घर से निकाल देना' और 'दर-दर मारे फिरना' तीन मुहावरों का प्रयोग हुआ है और तीनों के ही शब्द-प्रबन्ध में व्यतिक्रम है, किन्तु व्यतिक्रमित होने पर भी वे अस्वाभाविक नहीं हैं। इसलिए ऐसे प्रयोगों को हम इस सिद्धान्त का लोकप्रिय रूप मान सकते हैं। अधिक प्रसन्नता, आनन्द और मौज के समय भी प्रायः मनुष्य शब्दों की व्याकरण-संगत स्थिति को भूल जाता है। स्नानागार में जाकर गुनगुनाने लगना अथवा गाने की इच्छा होना तत्कालीन आनन्दानुभूति का व्यक्त रूप ही है। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि जब मनुष्य तर्क की भूमिका से ऊँचा उठकर हृदय-लोक में पहुँच जाता है,

तब फिर उसे तर्क की सहचरी व्याकरण-संगत स्थिति का भान ही नहीं रहता। जबतक तक हमारा पथ-प्रदर्शक रहता है, हम व्याकरण की बाँह नहीं छोड़ते, किन्तु तर्क का साथ छूटते ही व्याकरण भी अदृश्य हो जाता है।

गद्य में मुहावरों के शब्द-संस्थान का एक दूसरा कारण प्रायः वाक्य को प्रश्नवाचक बनाना भी रहता है। जैसे 'कान में तेल डालना' एक मुहावरा है। इसे प्रश्नवाचक बनाने के लिए प्रायः 'क्या तेल डाला है कान में ?' ऐसा कर देते हैं। 'छोड़ दिया बिस्तरा', 'कर दिया न बरबाद', 'फैला दिया न बखेड़ा', 'अब कैसे कटाई नाक' इत्यादि मुहावरों में प्रश्न और उपालम्भ दोनों की झलक मिलती है। अब नीचे कुछ वाक्य देते हैं, जिनमें प्रयुक्त मुहावरों का शब्द-क्रम भंग होने पर भी उनकी सरलता, सुबोधता और ओज में कोई फर्क नहीं पड़ा है।

'खिलाओ भी कच्ची-पक्की कुछ', 'तुम भी हो बूदम बे-दाल के', 'जिना और वेवल तो दो पहलू हैं एक ही सिक्के के', 'पट्टी बँधी है क्या आँख से', 'सुन लो कान खोलकर, 'देख लो ठोक-बजा कर', 'पद्मा तो पुतली है उनकी आँखों की' इत्यादि इत्यादि।

इसी प्रकार पद्य के नियमों की रक्षा के लिए प्रायः मुहावरों का शब्द-प्रबन्ध बदल देना पड़ता है। इतना ही नहीं पद्य में तो कभी-कभी शब्दों में साधारण कतर-ब्योंत और आवश्यक परिवर्त्तन भी करना पड़ता है। इस प्रकार का शब्द-परिवर्त्तन अव्वल तो होता ही बहुत कम है और जो होता भी है, वह विशेष कारणों से विशेष परिस्थितियों में और केवल उतना ही, जितना प्रयोजनीय होता है। कहीं-कहीं अवश्य यह शब्द-परिवर्त्तन इतना अधिक हो जाता है कि एक मुहावरा दूसरे का अनुवाद-सा लगने लगता है। उदाहरण के लिए कुछ पद्य नीचे देते हैं—

तौ भजु राम, काज सब पूरन करै कृपानिधि तेरो
तिन्हकी मति रिस, राग, मोह, मद, लोभ लालची लीलि लई है।
प्रजा पतित पाखंड पापरत, अपने अपने रंग रई हैं
तापर दाँत पीस कर मींजत, को जाने चित कहा ठई है॥

—तुलसी

काम की बारी मुख मत मोड़ै, होशियार उमर मत खोवे।
परदा दूर करे आँख का, निज दर्शन दिखलावे।
कबिरा बेड़ा जर जर, फूटे छेक हजार।
हते पराई आतमा लिये जीभ तलवार॥ —कबीर

सूरदास प्रभु भक्त कृपानिधि, तुम्हरे चरण गहौं
आये ऊधो फिर गये आँगन, डारि गये गर फाँसी॥ —सूर

क्यों घन आनन्द सीत सुजान कहा अँखियाँ बरिबोई करेंगी
खग मृग द्रुम बेली बिसरत देह कों ... ... —घनानन्द

नैन नचाई चलाई चिते रसखानि चलावत प्रेम का भाला
हितु जेऊ आए ते ये लोचनदुरावहीं ... ... —रसखान

ऊपर के पद्यों में जिन शब्दों के नीचे लकीर खिंची हुई है, वे सब मुहावरों में प्रयुक्त मूल शब्दों के परिवर्त्तित रूप ही हैं।

'काम पूरा करना', 'निगल लेना', 'रंग में रँगा होना (किसीके)', 'हाथ मलना', 'मुँह न मोड़ना', 'सूरत दिखाना' या 'दर्शन देना', 'हजार छेद होना, 'पैर पकड़ना', 'गले में फाँसी डालना', 'आँख जलना', 'देह की सुधि न रहना', 'आँख मटकाना', 'आँख बचाना', मुहावरों में क्रम से 'काम' का 'काज', 'निगल लेना' का 'लील लेना', रँगा का 'रई', 'हाथ मलना' का 'कर मींजत', 'मुँह' का 'मुख', 'देना' का 'दिखलावे', 'छेद' का 'छेक', 'पैर पकड़ना' का 'चरन गहौं', 'गले' का 'गर', 'जलना' का 'बरिबोई', 'सुधि न रहना', बिसरत, 'आँख मटकाना का, 'नैन नचाई', 'आँख बचाना' का 'लोचन दुरावही' शब्द बदल कर रख दिये गये हैं। 'लिये जीभ तलवार' यह वाक्यांश कदाचित् 'जबान छुरी होना' मुहावरे में 'जबान' की जगह 'जीभ' और 'छुरी' की जगह 'तलवार' रखकर बना लिया गया है। ऊपर के उदाहरणों में 'लीलि लई', 'कर मींजत', 'चरण गहौं', 'नैन नचाई', और 'लोचन दुरावही' में तो इतना अधिक शब्द-परिवर्त्तन हुआ है कि पहचानने में भी नहीं आते, बिल्कुल अनुवाद-से मालूम होते हैं। अब मुहावरों में शब्द-संस्थान के कुछ नमूने देखिए[1]—

तद्दीयताम् द्रागेतस्य चन्द्रार्द्धः......	—पंचतंत्र
अरण्ये मया रुदितमासीत ...	—अभिज्ञानशाकुन्तल
अन्यथाव यं सिञ्चतं मे तिलोदकम्	—अभि० शाकु०
तद्दीयते पिशुनलोकमुखेषु मुद्रा ...	—कर्पूरमंजरी
मुष्टिग्राह्यम् च मध्यम...... ...	—क० मं०

'चन्द्रार्द्धः दीयताम्', 'अरण्ये रुदितम्', 'सिञ्चतं तिलोदकम्', 'मुष्टिग्राह्यम् मध्यम', मुहावरे हैं; किन्तु उसमें शब्दों का प्रबन्ध विच्छिन्न है—बीच-बीच में दूसरे शब्द भी आ गये हैं, जैसे दीयताम् और चन्द्रार्द्धः के बीच में द्रागेतस्य; अरण्ये और रुदितम् के बीच में मया; दीयते और मुद्रा के बीच में पिशुनलोकमुखेषु, मुष्टिग्राह्यम् और मध्यम के बीच च आदि। गीता में भी 'प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा', 'अवशं प्रकृतेर्वशात्' तथा 'मायामेतां तरन्ति ते' इत्यादि वाक्यांशों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत-वाङ्मय में भी मुहावरों के शब्दों का प्रबन्ध सदैव अत्युत्क्रमित नहीं रहता; संस्कृत-पद्य में प्रयुक्त मुहावरों का पदान्वय करने पर वे प्रायः अपने स्थान पर आ जाते ह। इसलिए उनकी गणना अपवाद में नहीं की जा सकती, ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है। हमारी समझ में क्रम-विपर्यास तो उनमें रहता ही है। यहाँ पर हम स्थान-संकोच के कारण एक-दो उदाहरण अँगरेजी से और बाकी केवल हिन्दी और उर्दू-साहित्य से लेकर, शब्द-संस्थान की दृष्टि से, उनकी आलोचना करेंगे। मुहावरों में शब्दों का स्थान-क्रम-भेद होता सभी भाषाओं में है। हाँ, किसी में कम और किसी में ज्यादा। अब अँगरेजी के नमूने देखिए—

"He that has *light within* his own clear *breast* may sit in the centre and enjoy bright day."... *Milton.*

Who bakes.

With creative genius, original cakes.

to have light within one's breast' तथा 'to bake the original cake' दो मुहावरे हैं। इन दोनों के शब्द-प्रबन्ध में जो व्यतिक्रम हुआ है, वह स्पष्ट है। अब हम उर्दू के कुछ कवियों के पद लेते हैं—

---

१. 'बोलचाल'-भूमिका, पृष्ठ—१७१।

१. बहार आई चमन होता है मालामाल दौलत से,
निकाला चाहते हैं जर गिरह गुंचों ने खोली है। —अमीर

२. झाड़ती है कौन से गुल की नजर,
बुलबलें फिरती है क्यों तिनके लिये। —अमीर

३. तेगोखंजर से न झगड़ा सरोगर्दन का चुका,
चल दिये मोड़के मुँह फैसला करनेवाले। —अमीर

४. दिल लगी दिल लगी नहीं नासेह,
तेरे दिल को अभी लगी ही नहीं। —दाग

५. खुलते नहीं हैं राज़ जो सोजे निहाँ के हैं,
क्या फूटने के वास्ते छाले जबाँ के हैं। —दाग

६. बेहतर तो है यही कि न दुनिया से दिल लगे,
पर क्या करें जो काम न बे दिल लगी चले।... —जौक़

७. खिलके गुल कुछ तो बहार अपनी सदा दिखला गये,
हसरत उब गुंचों पै है जो बिन खिले मुरझा गये।... —जौक़

ऊपर दिये हुए पद्यों में जिन शब्दों अथवा वाक्यों के नीचे लकीरें खींच दी गई हैं, उनमें कुछ तो ऐसे हैं, जिनमें शब्द-क्रम बिलकुल उलट दिया गया है। जैसे 'होता है माला माल', 'मोड़ के मुँह', 'खुलते नहीं हैं राज' और 'फूटने के वास्ते छाले' इत्यादि और कुछ ऐसे हैं, जहाँ मुहावरे के शब्द-क्रम को तोड़कर बीच में दूसरे शब्द रख दिये गये हैं। जैसे—

'गिरह और खोली है' के बीच में 'गुंचों ने' आ गया है। 'झाड़ती है' और 'नजर' के बीच में 'कौन से गुल की' रखा है। 'झगड़ा' और 'चुका' के बीच में 'सरोगर्दन का' आया है। 'दिल को' और 'लगी ही' के बीच में 'अभी' रखा है। 'काम न' और 'चले' के बीच में 'बे दिल लगी' आया है। 'बहार' और 'दिखला गये' के बीच में 'अपनी सदा' इत्यादि आ गये हैं।

इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उर्दू-साहित्य में भी मुहावरों का शब्द-प्रबन्ध स्थिर नहीं रहता, वाक्यों के समान उनका स्थान पद्य में आवश्यकतानुसार (वजन और बहर की आवश्यकता पर) बदलता रहता है। अब हिन्दी-भाषा के भी कुछ नमूने देखिए—

क्यों न मारे गाल बैठो काल गढ़नि बीच।
बाहर बजावें गाल भालु कपि काल बस।... —गीतावली
लियो छुड़ाई, चले कर मींजत, पीसत दाँत गये रिस रेते।
द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहुँ। —विनयपत्रिका
आये ऊधो फिरि गये डारि गये गर फाँसी
षट पद करी सोऊ करि देखी हाथ कछु नहीं आये
मधुवन बसत आस दरसन की जोई नैन मग हारे। —सूरदास
तौ लखि मो मन जो गही सो गति कहि न जात
ठोढी गाड़ गड़यों तऊ उड़यौ रहत दिन रात।

दृग अरुझत टूटत कुटुम जुरत चतुरचित प्रीति
परति गाँठ दुरजन हिये दई नई यह रीति।... —बिहारीलाल

नहि तो हँसी तुम्हारी ह्वै हैं।
तह को विघन बने कछु कहि के एहि डर धरकत छाती
हेरि झुकी बहु दूतिन को मुख थाह सबन की लीनी —हरिश्चन्द्र

जियें मरें पर हित सदा, तनिक न चाहे नाम,
ऐसे जन दुर्लभ महा, करें सदा सत काम। —निशंक

चतुर डूबिया मान यह, ले हियतल की थाह,
मोती मोती बीन ले, घोंघे सब दे बाह। „ „

प्रेम गुणा खींचिये नहीं, जान द्रौपदी चीर,
टूटी कभी जुड़े नहीं, पछुते छूटे तीर, „ „

मन मानस आये गये, तोड नयन का बाँध
प्रेम रस सरिता बहती, फिरती पलके फाँद। „ „

ऊपर दिये हुए जिन पदों के नीचे लकीरें खींची गई हैं, उन सब में जैसा संस्कृत, अँगरेजी और उर्दू-पदों में दिखाया है, मुहावरों के शब्दों का प्रबन्ध बिल्कुल अनियमित है। कहीं-कहीं 'बजावें गाल', 'पीसत दाँत' इत्यादि की तरह शब्द-क्रम बिल्कुल उलट गया है, तो कहीं एक ही मुहावरे के कुछ शब्द यहाँ और कुछ (फिर थोड़े शब्द छोड़कर) वहाँ हैं। इतना ही नहीं, कविवर बिहारीलाल के पहले दोहे में मन के व्यापार से सम्बन्ध रखनेवाले ही मुहावरे आये हैं, किन्तु 'मन' तो पहले चरण में दिया है और उसके व्यापार दूसरे चरण में गूँथे गये हैं।

संस्कृत, अँगरेजी, उर्दू और हिन्दी-भाषाओं के इतने उदाहरणों का सूक्ष्म निरीक्षण करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि शब्द-संस्थान और शब्द-परिवर्त्तन-निषेध का यह सिद्धान्त कितना ही उपयोगी, सुन्दर और तर्कपूर्ण क्यों न हो, किसी भी भाषा में और विशेषकर उसके पद्य में तो इसका पूर्णतया पालन हो ही नहीं सकता। हाँ, उसमें जो कुछ भी परिवर्त्तन होता है, वह विवश होकर और प्रयोजन-परिधि के अन्तर्गत ही होता है। आम बोलचाल की भाषा में मुहावरों को तोड़-मरोड़ कर प्रयोग करने की दुष्प्रवृत्ति लोगों में न आ जाय, इसलिए हम काव्यगत ऐसे परिवर्तनों को कवि-सिद्ध स्वातंत्र्य संज्ञा देकर काव्यतक ही उसे सीमित रखना चाहते हैं। हमारी प्रार्थना है कि जिस तरह से कवियों के द्वारा तोड़े-मरोड़े शब्दों का प्रायः नित्य पाठ करते हुए भी हम अपनी बोल-चाल में उनका वैसा विकृत प्रयोग नहीं करते हैं, उसी तरह मुहावरों के तोड़ने-मरोड़ने का पाप भी उन्हीं के मत्थे छोड़कर हम किसी प्रकार उसमें भाग न लें।

मुहावरे के शब्द और उनके पर्याय

मुहावरों के शब्द-प्रबन्ध के साथ ही प्रायः पद्य में उनके शब्दों में भी थोड़ा-बहुत परिवर्त्तन हो जाता है। इस शाब्दिक परिवर्त्तन की ओर संकेत तो हम पिछले प्रकरण में ही कर चुके हैं, यहाँ अब किसी मुहावरे में किसी शब्द के स्थान में उसका पर्यायवाची शब्द रखने के सम्बन्ध में अधिक विस्तार से विवेचन करेंगे। [शाब्दिक परिवर्त्तन और अनुवाद को प्रायः लोग एक ही चीज समझने की गलती कर जाते हैं, वास्तव में यह दोनों एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। अनुवाद, जैसा हम आगे चलकर दिखायेंगे, किसी एक भाषा से दूसरी भाषा में होता है, किन्तु परिवर्त्तन किसी भाषा की अपनी सीमा के अन्तर्गत ही होता है।] एक शब्द 'मुँह' है, हिन्दी में 'मुख', 'बदन'

इत्यादि अनेक उसके पर्याय हैं। अब 'मुँह बनाना' मुहावरे में यदि हम मुँह के स्थान में 'बदन' अथवा 'मुख' रख के 'बदन बनाना' या 'मुख बनाना' कहें, तो यह शाब्दिक परिवर्त्तन होगा। प्रस्तुत प्रकरण में हम इस शाब्दिक परिवर्त्तन की सीमा केवल किसी शब्द के पर्यायवाची शब्दों तक ही रखेंगे। मुँह की जगह 'आँख' रखकर 'आँख बनाना' नहीं कहेंगे। 'आँख बनाना' एक स्वतंत्र मुहावरा हो सकता है। संक्षेप में इस प्रकरण में हम प्रस्तुत विषय का तीन दृष्टियों से विवेचन करेंगे—

१. 'मुँह' को बदल कर उसके स्थान पर 'बदन', 'मुख' अथवा 'आनन' इत्यादि पर्यायवाची शब्दों के रखने से 'मुँह बनाना' मुहावरे की मुहावरेदारी सुरक्षित रहेगी या नहीं। २. मुहावरे के भावार्थ में कुछ व्याघात होगा या नहीं। ३. पद्य में होनेवाले ऐसे परिवर्त्तनों की पूर्ण मीमांसा।

जिस प्रकार 'पुष्पा' शब्द कान में पड़ते ही जो लोग उससे परिचित हैं, उनकी आँखों के सामने एक नटखट लड़की का चित्र आ जाता है, उसी प्रकार किसी मुहावरे के कान में पड़ते ही जो लोग उस मुहावरे से परिचित हैं, उनके सामने उसका तात्पर्यार्थ मूर्त्तिमान् हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी मुहावरे की 'शब्द-योजना' और उसके तात्पर्यार्थ में ठीक वही सम्बन्ध है, जो एक व्यक्ति और उसके व्यक्तिवाचक नाम में है। अपने सामने खेलती हुई बच्चियों में से यदि आप पुष्पा को बुलाना चाहते हैं, तो आप उसके नाम के स्थान में 'फूला', जो उसी का पर्याय है, कहकर पुकारने पर अपने भाव को उस पर व्यक्त नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, यदि आप थोड़ा भी बिगाड़कर, जिसे उसने पहले कभी नहीं सुना, ऐसा नाम लेंगे, तो वह आपकी बात पर बिल्कुल कान न देकर अपने खेल में लगी रहेगी। ठीक यही अवस्था मुहावरों की समझनी चाहिए। यदि आपने उनकी शब्द-योजना में कोई परिवर्त्तन किया तो, फिर उनके तात्पर्यार्थ समझने में वही पुष्पा और फूलावाली अड़चन आ खड़ी होगी। आप चिल्लाते रहेंगे और वह खेलती रहेगी।

प्रत्येक मुहावरा अपनी सुशृंखलित शब्द-योजना में जकड़ा हुआ होता है। उन शब्दों तक ही परिमित होता है। उसके शब्द रूढ हो जाते हैं, अथवा यों कहिए कि व्यक्तिवाचक संज्ञा का स्थान ले लेते हैं। उनमें किसी प्रकार का कोई परिवर्त्तन नहीं होता है। व्यक्तिवाचक संज्ञा की तरह ये मुहावरे के शब्द जिस भाव के द्योतक होते हैं, वे भाव भी उन्हीं शब्दों के लिए विशिष्ट हो जाते हैं। दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हो जाता है। कारण इसका स्पष्ट है, 'टेढ़ी खीर होना' मुहावरे का 'दुष्कर' ऐसा अर्थ मुहावरे के रूप में इन्हीं शब्दों में गृहीत हुआ है, और पीढ़ियों से साहित्य अथवा बोलचाल में इसी रूप में चला आ रहा है। किसी ने कहा 'नोआखाली में रहना टेढ़ी खीर है।' बस; नोआखाली का एक भयावना रूप सामने आ गया। अथवा जहाँ किसी ने वहाँ की बर्बरता का वर्णन किया कि अनायास हमारे मुँह से निकल पड़ा, 'टेढ़ी खीर है।' संक्षेप में मुहावरे एक प्रकार के शाब्दिक संकेत हैं, जो कुछ विशेष शब्दों से सम्बन्ध रखते हैं। वे उन पारिभाषिक शब्दों के समान होते हैं, जो परिवर्तित होने पर मुख्य अर्थों को समझने में भी बाधक हो जाते हैं। इसलिए मुहावरे के शब्दों के स्थान में उनके पर्यायवाची दूसरे शब्द रखना नियम-विरुद्ध माना जाता है। किन्तु फिर भी एक जगह अथवा किसी एक विशेष व्यक्ति की कृतियों में ही नहीं, वरन् समस्त साहित्य में, विशेष कर, काव्य में तो 'सूर', 'तुलसी' से लेकर 'पंत' और 'प्रसाद' तक में ऐसे काफी प्रयोग मिलते है, जिनमें मुहावरों के शब्द परिवर्त्तित दृष्टिगत होते हैं। ऐसी परिस्थिति में सर्व-साधारण के मन में, जबतक इसके विशेष कारण न बतायें, मुहावरों की अपरिवर्त्तनीयता के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। अतएव अब हम इस परिवर्त्तन के 'क्यों' पर विचार करना आवश्यक समझते हैं।

"मूल भाषा के अनेक मुहावरे तत्प्रसूत भाषाओं में परिवर्त्तित रूप में पाये जाते हैं, वे अनुवादित-से ज्ञात होते हैं; किन्तु वास्तव में वे अनुवादित नहीं होते। वे चिरकालिक क्रमिक परिवर्त्तन के परिणाम होते हैं। किसी मूल भाषा से सम्बन्ध रखनेवाले इस प्रकार की कई भाषाओं में जब एक ही मुहावरा विभिन्न शब्दों में पाया जाता है, तब प्रायः यह अनुमान होने लगता है कि इनमें से कोई एक किसी दूसरे का अनुवाद है। परन्तु वास्तव में, वह अनुवाद नहीं होता। वह अपने-अपने शब्दों में मूल भाषा के मुहावरे का क्रमागत रूपान्तर होता है। ऐसे रूपान्तरभूत मुहावरों में जो शब्द-भिन्नता होती है, उसकी गणना परिवर्त्तन में नहीं हो सकती। अतएव परिवर्त्तन के प्रमाण में इस प्रकार के रूपान्तरभूत मुहावरे गृहीत नहीं हो सकते। परिवर्त्तन का प्रमाण हमको एक भाषा की परिधि के भीतर ही खोजना चाहिए। आशा है, इस प्रकार के प्रमाण बहुत कम मिलेंगे, और यदि मिलेंगे तो किसी विशेष हेतु से मिलेंगे। इसलिए इसी सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ता है कि मुहावरे के शब्दों का परिवर्त्तन नहीं होता[1]।"

हरिऔधजी ने साहित्य में यत्र-तत्र दृष्टिगत होनेवाले ऐसे परिवर्त्तनों को दो भागों में विभाजित कर दिया है। एक तो वे प्रयोग—जो शब्द-भिन्नता के कारण परिवर्त्तित-से मालूम पड़ते हैं; परन्तु वास्तव में वे परिवर्त्तित नहीं है—अपने-अपने शब्दों में मूलभाषा के मुहावरे के क्रमागत रूपान्तर मात्र है। दूसरे वे प्रयोग, जिनमें 'पद्य के बंधनों की गहनता के कारण' प्रायः कवियों को प्रचलित मुहावरों के शब्दों में कुछ परिवर्त्तन करके अपने काव्य में उनका उपयोग करना पड़ता है। हरिऔधजी से हमारा केवल इतना ही मतभेद है कि वह 'लोचन फेरो', 'रद काढ़ि' और 'नयन लगना' इत्यादि प्रयोगों के 'लोचन', 'रद' और 'नयन' इत्यादि शब्दों पर 'आँख' और 'दाँत' का आरोप करके स्वयं पहले उनके मुहावरा होने का काल्पनिक चित्र बनाते हैं और फिर अपने आरोपित शब्दों को स्वयं ही हटाकर अपने काल्पनिक चित्र में नियमविरुद्ध परिवर्त्तन करने के लिए कवि को दोषी ठहराते हैं। हम ऐसे प्रयोगों को मुहावरे की पृष्ठभूमिका में रखकर उन्हें मुहावरों का परिवर्त्तित रूप कहने के विरुद्ध हैं। हाँ, ये ही प्रयोग यदि किसी स्वतंत्र रूप से मुहावरों पर लिखी गई पुस्तक में होते, तो हम इसे लेखक का दोष मान सकते थे। सूर, तुलसी, जायसी, कबीर, अथवा प्रसाद, पंत और निराला, किसी ने भी, न तो मुहावरों की विवेचना करने के लिए ऐसे प्रयोग किये हैं, और न स्वयं कहीं अपने ऐसे प्रयोगों को मुहावरा कहा है। यह तो बिलकुल ऐसी बात हो गई कि पहले किसी सीधे-सादे व्यक्ति को जबरदस्ती 'जिना' घोषित कर दिया और फिर लगे फटकारने कि 'जिना कैप' की जगह 'कुला' और 'पगड़ी' क्यों पहनी है। वास्तव में, ऐसे सब प्रयोग कवियों के स्वतंत्र लाक्षणिक प्रयोग हैं, मुहावरों के परिवर्त्तित रूप नहीं। शब्द-भिन्नता के इन दोनों कारणों को और अधिक स्पष्ट करने के लिए नीचे कुछ उदाहरण देकर उनकी मीमांसा करेंगे।

जैसा शब्द-संस्थान और शब्द-परिवर्त्तन के प्रकरण में हम पहले बहुत-से उदाहरण देकर दिखा चुके हैं, हिन्दी और उर्दू-पद्यों में कितने ही ऐसे प्रयोग मिलते हैं, जिन्हें देखने से लगता है कि वे कतिपय मुहावरों के मूल शब्दों को हटाकर उनके स्थान में उनके पर्यायवाची शब्द रखकर बना लिये गये हैं। हिन्दी में ही, खड़ीबोली के गद्य अथवा पद्य में जिस रूप में मुहावरे लिखे जाते हैं, व्रजभाषा अथवा अवधी में वे मुहावरे उस रूप में नहीं मिलते। उनमें शाब्दिक परिवर्त्तन पाया जाता है। जैसे खड़ी बोली में कहेंगे 'सीधा पाँव नहीं पड़ता', किन्तु इसे ही व्रजभाषा में 'सुधो पाय न परत' कहेंगे। ऐसे प्रयोगों को देखकर यदि कोई व्यक्ति यह कह देता है कि मुहावरों में शाब्दिक परिवर्त्तन होता है तो उसका यह कथन सर्वथा अतर्कपूर्ण है, ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि

१. 'बोलचाल'-भूमिका, पृष्ठ—१८६।

तर्कशास्त्र के अनुसार एक अपवाद ही किसी सिद्धान्त को काटने के लिए पर्याप्त होता है। हाँ, ऐसे व्यक्ति के लिए यदि कुछ कह सकते हैं, तो केवल इतना ही कि उसने सतर्कता से काम नहीं लिया। यदि वह सतर्क होकर उन प्रयोगों का अध्ययन करता, तो उसे पता चल जाता कि वे मुहावरों के अपवाद नहीं, वरन् कवि के मस्तिष्क पर पड़ी हुई उनकी छाप के आधार पर अनायास प्रयुक्त स्वतंत्र लाक्षणिक प्रयोग हैं।

जैसा हरिऔधजी कहते हैं, मूल भाषा से तत्प्रसूत भाषाओं में जो मुहावरे क्रमशः रूपान्तरित होकर आते हैं, वे परिवर्त्तन-कोटि में गृहीत नहीं हो सकते ; क्योंकि वे चिरकालिक क्रमशः व्यवहार का परिणाम होते हैं। इसलिए वे प्रचलित मुहावरों के परिवर्त्तित अथवा अनुवादित रूप नहीं, बल्कि स्वयं स्वतंत्र रूप से मुहावरे होते हैं। 'जीभ गिर जाना' हिन्दी का एक मुहावरा है। इसका अर्थ है 'मुँह बन्द हो जाना'। किसी मनुष्य के मुख से कोई अशिष्ट बात सुनकर लोग प्रायः कह उठते हैं—'तुम्हारी जीभ गिर जाय।' गोस्वामी तुलसीदास ने एक चौपाई में इस प्रकार इसका प्रयोग किया है—

'राम मनुज बोलत अस बानी
गिरहि न तव रसना अभिमानी।'

यही मुहावरा 'वेणीसंहार' के तृतीय अंक में अश्वत्थामा-द्वारा कथित वाक्य में इस प्रकार गूँथा गया है—

'कथमेवं प्रलपतां वः सहस्रधा न दीर्णमनया जिह्वया[1]।'

अर्थात् इस प्रकार वार्त्तालाप करते हुए तुम्हारी जीभ के सहस्र टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ?

हिन्दी में एक मुहावरा है 'मछली बाजार बनाना', अर्थात् बहुत शोर-गुल मचाना। इसीके अनुरूप भोजपुरी का मुहावरा है, 'मछली के बाजार लगावल' अथवा 'मछली मारना' की तरह 'मछली मरल।' मछली के बाजार में अथवा मछली पकड़ते समय बड़ा शोर होता है। पाली में इसी का प्रतिरूप इस प्रकार है—'केवट्टा मनवे मच्छं विलोपेन्ति', अर्थात् मछुए मानो मछली मार रहे हों। 'मन में बैठ जाना' (किसी बात का) यह हिन्दी का एक मुहावरा है। भोजपुरी में इस मुहावरे का 'मन में बैठल' यह रूप मिलता है। इसी अर्थ में इसका ठीक रूप पाली में 'चितानि नमेन्ति' ऐसा मिलता है। और भी संस्कृत का एक मुहावरा है 'जलाञ्जलिः दीयते'। प्राकृत में 'जलंजली दिज्जदि' हुआ और हिन्दी में आकर यही 'जल-अंजुली देना' अथवा 'जलांजली देना' बन गया। ऊपर जितने उदाहरण दिये गये हैं, उनमें शब्द-भिन्नता के होते हुए भी हम उन्हें न तो एक दूसरे का अथवा किसी एक का अनुवाद ही कह सकते हैं और न किसीका परिवर्त्तित रूप ही। सब-के-सब स्वयं स्वतंत्र मुहावरे हैं। अपभ्रंश-भाषा का एक दोहार्द्ध है।

'महि बीढह सचराचरह जिण सिर दिहना पाय[2]।'

इसमें 'सिर दिहना पाय' का जिस अर्थ में प्रयोग हुआ है, उसी अर्थ में हिन्दी में 'सिर पर पाँव देना' इस मुहावरे का प्रयोग होता है। किन्तु हिन्दी का यह मुहावरा न तो अनुवाद है, न उसमें शाब्दिक परिवर्त्तन हुआ है, वरन् हिन्दी का मुहावरा अपभ्रंश के मुहावरे के क्रमिक विकास का ही फल है। इसलिए इस प्रकार के मुहावरे शाब्दिक परिवर्त्तन के अन्तर्गत नहीं गिने जा सकते।

अब हिन्दी के कुछ ऐसे पद्य देखिए, जिनके कतिपय प्रयोगों को देखकर लोगों को शाब्दिक परिवर्तन का भ्रम होता है और वे खुले-आम ऐसे प्रयोगकर्त्ता कवियों की आलोचना न करके उनके इस कार्य को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए बहाने ढूँढा करते हैं।

---

१. 'हिन्दुस्तानी', 'अप्रैल, १९४०, पृष्ठ—१७१।
२. 'बोलचाल'-भूमिका, पृष्ठ—१८७।

१. तुम जनि मन मैलो करो लोचन जनि फेरो
द्वार द्वार दीनता कही काढि रद परि पाहूँ
करत नहीं कान विनती बदन फेरे
मैं तो दियो छाती पवि —विनयपत्रिका

२. देखो काल कौतुक पिपीलकनि पंख लागो —गीतावली

३. है तव दसन तोरिवे लायक —रामायण

४. नयन ये लगि के फिर न फिरे —हरिश्चन्द्र

५. सुन सुग्रीव साँचहूँ मो पर फेर्यो बदन बिधाता —गीतावली

६. तौ तुलसिहिं तारि हौ विप्र ज्यों दसन तोरि जमगन के —विनयपत्रिका

७. काल स्वभाव करम विचित्र फलदायक सुनि सिर धुनि रहौं
सिर धुनि धुनि पछितात मींजि कर —विनयपत्रिका

८. बरज्यो न करत कितो सिर धुनिये —कृष्णगीतावली

९. कोमल सरीर गंभीर वदन सीस धुनि धुनि रोवहिं —रामायण

१०. बार बार कर मींजि सीसधुनि गीधराज पछिताई —गीतावली

११. तौ तू पछितैहैं मन मींजि हाथ —विनयपत्रिका

१२. सरल सुभाय भाय हिय लाये
लिये उठाइ लगाइ उर लोचन मोचति वारि
कौशल्या निज हृदय लगाई —रामायण

१३. हाँ वारी मुँह फेर पियारे करवट ये मों को काहे को मारे
—ग्रंथसाहब,

१४. 'तापर दाँत पीसि कर मींजत को जानै चित कहाँ ठई है —विनयपत्रिका

अब हम ऊपर दिये हुए पद्यों में प्रयुक्त समस्त लाक्षणिक प्रयोगों की, हर प्रयोग के सामने तदनुरूप मुहावरा देते हुए, एक तालिका नीचे देते हैं—

पद्य के प्रयोग	मुहावरे
रामचरितमानस	
१. हृदय लगाई	छाती से लगाना', 'हृदय से लगाना
२. उर लगाई	,, ,,
३. हिय लाये	,, ,,
४. सीस धुनि	सिर धुनना
५. दसन तोरिवे	दाँत तोड़ना
विनयपत्रिका	
६. मन मैलो करो	मन मैला करना
७. लोचन फेरो	आँखें फेरना
८. रद काढ़ि	दाँत निकालना
९. पाँहूँ परि	पाँव पड़ना
१०. बदन फेरे	मुँह फेरे
११. छाती पवि दियो	छाती पर पत्थर रखना
१२. दसन तोरि	दाँत तोड़ना

१३. सिर धुनि	सिर धुनना
१४. कर मींजि	हाथ मलना
१५. मींजि हाथ	हाथ मलना
१६. दाँत पीसि	दाँत पीसना
गीतावली	
१७. पिपीलकनि पंख लागी	चिऊँटी के पर निकलना
१८. बदन फेर्यो	मुँह फेरना
१९. कर मींजि	हाथ मलना
२०. सीस धुनि	सिर धुनना
फुटकर	
२१. नयन लगि	आँख लगना
२२. सिर धुनिये	सिर धुनना
२३ मुँह फेर	मुँह फेरना

ऊपर दिये हुए प्रयोगों के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करने के पूर्व, हम 'हरिऔध' जी का मत दे देना आवश्यक समझते हैं ; क्योंकि हिन्दी-संसार में वे ही सबसे पहले मनीषी थे, जिन्होंने इस दृष्टि से मुहावरों पर सबसे पहले कलम उठाई है। आपने अपनी पुस्तक 'बोलचाल' की भूमिका के पृष्ठ (१८८-१८९) पर इन प्रयोगों की इस प्रकार आलोचना की है—"हिन्दी के अधिकतर मुहावरे तद्भव शब्दों में ही पाये जाते हैं, व्यवहृत तत्सम अथवा अन्य भाषा के प्रचलित शब्दों से भी हिन्दी के मुहावरे बने हैं, परन्तु उनकी संख्या थोड़ी है। जो तत्सम अथवा अन्य भाषा के शब्द तद्भव शब्दों के समान ही व्यापक हैं, उन शब्दों का मुहावरों में पाया जाना स्वाभाविक है; क्योंकि हिन्दी भाषा के अंगभूत वे भी हैं; किन्तु अप्रचलित संस्कृत-शब्दों का हिन्दी-मुहावरों में प्रायः अभाव है। गोस्वामीजी के 'रद काढ़ि' का 'रद', 'बदन फेरे का 'बदन' ', 'पिपीलकनि पंख लागी' का 'पिपीलिका', 'दसन तोरिवे' का 'दसन' शब्द इसी प्रकार का है। सर्वसाधारण में इन शब्दों का प्रचार नहीं है। इसलिए मुहावरों में इनका प्रयोग नहीं हो सकता। किन्तु गोस्वामीजी ने ऐसा किया है, कारण पद्य के बंधनों की गहनता है। यदि इन वाक्यों में अभिधाशक्ति से काम लिया गया होता,—वे लक्षणा अथवा व्यंजनामूलक न होते, तो वे साधारण वाक्य माने जा सकते थे। किन्तु वे मुहावरे के रूप में ही व्यवहृत हैं, अतएव उनका शब्दान्तर चिन्तनीय हो जाता है।"

ऊपर दिये हुए प्रयोगों में सबसे पहली बात जो 'हरिऔध' जी को खटकी है, वह 'रद', 'वदन' और 'पिपीलिका' आदि संस्कृत के अप्रचलित शब्दों का प्रयोग है। आपने इसका कारण भी बता दिया है। चूँकि सर्वसाधारण में इन शब्दों का प्रचार नहीं है, इसलिए मुहावरों में इनका प्रयोग नहीं हो सकता। 'हरिऔध' जी ने 'प्रचार नहीं है'—ऐसा क्यों कहा है, हम इसकी आलोचना नहीं करेंगे। किन्तु हम बड़ी नम्रतापूर्वक केवल इतना ही कहेंगे कि हमें तुलसी की चीज को तुलसी के समाज से ही आँकना चाहिए, आज के अपने समाज से नहीं। तुलसीदास ने अपने किसी काव्य में भी भाषा की प्रदर्शनी सजाने का प्रयत्न नहीं किया है। वह तो राम के दीन-हीन भक्त थे, अतएव दीन-हीन जनता को उसकी भाषा में ही अपने राम की महिमा सुनाने के लिए उन्होंने कलम उठाई थी। जो भाषा सर्वसाधारण की हो, उसमें भला कोई अप्रचलित अथवा गूढ़ार्थ शब्द कैसे आ सकता है ? और, फिर जब 'दसन', 'रद' और 'बदन' इत्यादि शब्दों का गोस्वामीजी के काव्यों में भरमार है, तब यह तो कह ही नहीं सकते कि उस समय के सर्वसाधारण में ऐसे शब्द प्रचलित नहीं थे। साथ ही, मुहावरे ही तो एक ऐसे प्रयोग हैं, जिनमें नितान्त अप्रचलित और लुप्त प्रयोग शब्द सुरक्षित रहते हैं। अतएव आज के समाज में इन शब्दों के प्रचलित न होने

के कारण उन्हें मुहावरों में स्थान न देना यह कोई न्याय नहीं है। अप्रचलित के तर्क को ही लेना था, तो यह कह सकते थे कि 'रद काढ़ि', 'बदन फेरे' इत्यादि जिन मुहावरों का गोस्वामीजी ने अपने काव्य में प्रयोग किया है, वे आज प्रचलित नहीं हैं। अतएव आज के मुहावरों में उनकी गणना हम नहीं करेंगे। शब्दों की तरह से मुहावरों का प्रयोग भी कभी-कभी लुप्त हो जाता है।

सूर और तुलसी प्रभृति अनुपम प्रतिभावाले द्रष्टा कवियों के शब्द-प्रयोगों की आलोचना करना हम तो समझते हैं कि छटंकी के बटखरे से सवा सेर को मापने-जैसा प्रयत्न है। किसी प्रयोग को प्रचलित अथवा अप्रचलित कहने के लिए हमारे पास कतिपय हिन्दी-मुहावरा-कोषों के अतिरिक्त आज और सामग्री है ही कहाँ, जिसके आधार पर हम अपने कथन की प्रामाणिकता सिद्ध कर सकें? हमारी तुच्छ बुद्धि तो हमें अप्रामाणिक बात कहने के बजाय चुप रहने की ही सलाह देती है। आज के सबसे बड़े मुहावरा-कोष में आठ हजार और कुछ मुहावरे कुल हैं। यदि कोषों के आधार पर ही किसी मुहावरे के प्रचलित और अप्रचलित होने का फतवा दिया जाने लगेगा तब तो हमें डर है कि स्वयं 'हरिऔध' जी की पुस्तक 'बोलचाल' आधे से अधिक मुहावरे घाटे में दे बैठेगी। 'प्रेमचन्द', 'प्रसाद' इत्यादि की तो बात ही क्या? हमने अबतक बत्तीस हजार से ऊपर मुहावरे इकट्ठे किये हैं, किन्तु फिर भी हमारी डायरी में अभी तक 'इति' नहीं लिखा गया; आज भी जहाँ जाते हैं, एक दो नये प्रयोग मिल ही जाते हैं। तुलसीदास तो किसी एक जगह कील गाड़कर बैठे नहीं थे, उनके पैर में तो चक्कर था, प्रायः हमेशा घूमते ही रहते थे। जहाँ जाते थे वहाँ की बोलचाल के कुछ-न-कुछ प्रयोग तो उनके हो ही जाते थे। यही कारण है कि उन्होंने कहीं 'हृदय लगाई' का प्रयोग किया है, तो कहीं 'उर लगाई', 'हिय लाये' इत्यादि का। वास्तव में ये तीनों प्रयोग एक ही प्रयोग के कविकृत तीन परिवर्त्तन नहीं; बल्कि या तो स्थान-भेद के कारण उत्पन्न तत्कालीन स्वतंत्र और स्वाभाविक लोक-प्रचलित रूपान्तर हैं, अथवा जैसा पीछे लिख चुके हैं 'हृदय लगाना' मुहावरे का मस्तिष्क में जो संस्कार शेष था, उसी के प्रभाव से प्रभावित होकर किये हुए तीन स्वतंत्र लाक्षणिक प्रयोग हैं। 'कलेजे पर पत्थर रखना' और 'छाती पर पत्थर रखना' ये दोनों मुहावरे आज भी समानार्थ में प्रचलित हैं, जबकि इनमें कोई भी किसी का परिवर्त्तित अथवा अनुवादित रूप नहीं है। अतएव इस सम्बन्ध में हमारी व्यक्तिगत सम्मति तो यही है कि हम ऐसे समस्त प्रयोगों को स्वतंत्र मुहावरे मानकर शान्त हो जायँ। व्यर्थ में उनपर आज के प्रचलित प्रयोगों को लादकर उनकी गर्दन न मारें।

'हरिऔध' जी का ऊपर के पदों का यह रूपान्तर इसीलिए और भी 'चिन्तनीय' हो जाता है कि जैसा आपने स्वयं कहा है—'यदि इन वाक्यों में अभिधा-शक्ति से काम लिया गया होता, वे लक्षणा अथवा व्यंजना-सूचक न होते, तो वे साधारण वाक्य माने जा सकते थे। किन्तु वे मुहावरे के रूप में ही व्यवहृत हैं...।' यदि इसी बात को कोई इस प्रकार कहता : यदि इन वाक्यों में अभिधा-शक्ति से काम लिया गया होता, वे बामुहावरा या मुहावरेदार प्रयोग न होते, तो वे साधारण वाक्य माने जा सकते थे। किन्तु वे लक्षणा और व्यंजना के रूप में ही व्यवहृत हैं। तो इस कथन में अतिव्याप्ति-दोष भी मिट जाता और तर्क भी बहुत गंभीर मालूम होता। क्योंकि, जो मुहावरेदार प्रयोग हैं, वे साधारण वाक्य हो नहीं सकते, मुहावरे लक्षणा और व्यंजनामय होते हैं, उनसे अभिधेयार्थ का कोई प्रयोजन नहीं रहता। 'हरिऔध' जी के तर्कानुसार तो वह हरेक प्रयोग, जो अभिधासूचक न होकर लक्षणा अथवा व्यंजनासूचक होगा, मुहावरा होगा। शब्द-शक्तियों और मुहावरों के प्रकरण में जैसा हम पीछे सविस्तर लिख चुके हैं, इसमें अतिव्याप्ति-दोष है, हरेक लाक्षणिक अथवा व्यंग्यात्मक प्रयोग मुहावरा नहीं होता। इसलिए यदि इन प्रयोगों को हम मुहावरेदार नहीं मानते, तो केवल लक्षणा अथवा व्यंजनासूचक प्रयोग कहकर छोड़ देना चाहिए। उनके सिर पर पहले

स्वयं जबर्दस्ती मुहावरों का ताज रखकर फिर उन्हें विद्रोही घोषित करना, कम-से-कम अहिंसा की नीति तो नहीं है। 'सूर', 'तुलसी' अथवा अन्य किसी कवि के ऐसे प्रयोगों को जो लोग मुहावरा नहीं मान सकते, वे निरे लाक्षणिक प्रयोगों में उनकी गिनती करें। किन्तु, उन्हें अपने आज के प्रचलित मुहावरों का परिवर्त्तित रूप मानकर उनमें शाब्दिक परिवर्त्तन का आरोप करना केवल कवि के साथ ही नहीं, मुहावरों के साथ भी अन्याय करना है। 'सिर धुनना' आज का एक प्रचलित मुहावरा है, गोस्वामीजी ने 'सीस धुनना' और 'सिर धुनना' दोनों का प्रयोग किया है। इनमें कौन मूल है और कौन परिवर्त्तित, यह बताना असंभव है। 'सिर धुनना' चूँकि आज भी चलता है, इसलिए वही मूल रूप है, यह कोई तर्क नहीं है। संभव है, 'शीश' का 'सीस' और फिर यही 'सीस' 'सिर' करके जनता में गोस्वामीजी के सामने ही बोला जाने लगा हो। 'पद्य के बंधनों की गहनता' के कारण तुलसीदास जी ने ऐसे शाब्दिक परिवर्त्तन किये हैं; पहले तो जिन पद्यों में उनका प्रयोग हुआ है, उनको देखने से ही यह तर्क निस्सार मालूम पड़ता है। विनयपत्रिका में एक स्थल पर 'तौ तुलसिहिं तारिहौं विप्र ज्यों दसन तोरि जमगन के' यह पद आया है, इसमें 'दसन' के स्थान पर पद्य में निर्दोष भाव से 'दाँत' का प्रयोग हो सकता था। इतना ही नहीं, 'दसन तोरि' और 'दाँत तोरि' में दूसरा प्रयोग अधिक अलंकृत भी है। इसलिए यदि 'पद्य के बन्धनों की गहनता' ही तुलसीदास के शब्द-परिवर्त्तन का कारण थी, तो यहाँ वह उस बंधन को प्रचलित प्रयोग छोड़कर अप्रचलित प्रयोग के लिए इतना ढीला क्यों करते? दूसरे, तुलसीदास परम्परा के पुजारी एक मर्यादावादी भक्त कवि थे। वह पद्य के बन्धनों के कारण परम्परा को नहीं छोड़ सकते थे। उनके जितने भी प्रयोग हैं, प्रायः सब तत्कालीन परम्परा के नमूने हैं। अतएव तुलसीदासजी के विषय में यह कल्पना करना कि पद्य के बन्धनों की जटिलता से विवश होकर उन्होंने इन परम्परागत मुहावरों में शाब्दिक परिवर्त्तन करके अपना काम निकाला है, उनकी मर्यादानिष्ठता में शंका उत्पन्न करना है। तुलसीदासजी के प्रयोग मुहावरे की वर्त्तमान अति संकुचित कसौटी पर भले ही खरे न उतरें; किन्तु इससे वे परम्परा-विरुद्ध नहीं कहे जा सकते। अतएव पाठकों से हमारी प्रार्थना है कि वे ऐसे प्रयोगों को या तो चुपचाप मुहावरा मान लें, अथवा उनको उन्हीं के ऊपर छोड़कर अलग हो जायँ। मुहावरा मानकर पहले उनमें दोष निकालना और फिर कवि के आँसू पोंछने के लिए पद्य के बंधनों की जटिलता की दुहाई देकर उन्हें न्यायसिद्ध करने का प्रयत्न करना हम ढोंग समझते हैं। हम तो इसलिए डंके की चोट सबको ललकार कर कहते हैं कि ऊपर दिये हुए सब प्रयोग स्वतंत्र मुहावरे हैं, उनमें कोई भी किसी का परिवर्त्तित रूप नहीं है। उनकी शब्द-भिन्नता का कारण या तो उनका मूल भाषा से क्रमशः रूपान्तरित होकर आना है, अथवा प्रान्तिक शब्द-विभेद है और प्रान्तिक शब्द-विभेद, जैसा हम आगे चलकर दिखायेंगे, शाब्दिक परिवर्त्तन नहीं होता है।

शाब्दिक परिवर्त्तन से मुहावरे पर क्या प्रभाव पड़ता है, अब संक्षेप में इसकी मीमांसा करके प्रस्तुत प्रसंग को समाप्त करेंगे। शकुन्तला और सरोजिनी, दोनों में कौन शकुन्तला है और कौन सरोजिनी, यह बात दोनों की मुखाकृति देखकर जितनी शीघ्रता से बताई जा सकती है, उसके बिना केवल दूसरे अंगों को देखकर नहीं। कहीं सरोजिनी का सिर शकुन्तला के धड़ पर और शकुन्तला का सिर सरोजिनी के धड़ पर रख दिया जाना संभव हो, तो इस परिवर्त्तन से देह-परिमाण विकृत हो जाने पर भी लोगों को शकुन्तला और सरोजिनी का अभाव नहीं मालूम होगा; किन्तु यदि शकुन्तला के धड़ पर उसके सिर के बजाय किसी दूसरे का सिर रख दिया जाय, तो फिर शकुन्तला का अस्तित्व ही खत्म हो जायगा। कहने का तात्पर्य यह है कि मुहावरे के शरीर में मानव-शरीर की तरह मुख्य और गौण दो भाग होते हैं। 'दाँत निकालना' और 'दाँत निपोरना' ये दो मुहावरे हैं, इनमें 'निकालना' और 'निपोरना' इनके मुख्य और 'दाँत' गौण अंग हैं। अतएव 'दाँत' के स्थान में 'रद' या 'दसन' रखकर 'रद निकालना' या 'दसन निकालना' कहने पर भी उनसे जो तात्पर्य है,

समझ जायेंगे। अन्तर केवल इतना ही होगा कि अब 'रद निकालना' या 'दसन निकालना' इन मुहावरों को समझने के लिए पहले 'दाँत निकालना' मुहावरे का स्मरण करना पड़ेगा; किन्तु यदि 'निकालना' या 'निपोरना' के स्थान में 'दिखाना' या 'बाहर करना' अथवा ऐसा ही कोई अन्य शब्द रखकर 'दाँत दिखाना', 'दाँत बाहर करना' इत्यादि कहें, तो बहुत सिर खुजलाने पर भी 'दाँत निकालना' का जो तात्पर्य है, वह इन प्रयोगों से किसीकी समझ में नहीं आ सकता। अतएव यह सिद्ध हुआ की किसी मुहावरे के मुख्य शब्द अर्थात् जिसका अभिधेयार्थ से परे कोई लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ गृहीत हो, उसके स्थान में उसका पर्यायवाची कोई अन्य शब्द रखने से एक नया लाक्षणिक प्रयोग भले ही बन जाय; किन्तु मूल मुहावरे की दृष्टि से वह सर्वथा निरर्थक और निकम्मा हो जाता है। शकुन्तला के धड़ पर दूसरे का सिर रखने पर भी वह काम देनेवाला एक व्यक्ति बना रहे, यह तो संभव है; किन्तु शकुन्तला के माता-पिता की अपनी शकुन्तला भी घर में रह जाय, यह संभव नहीं है। हाँ, उसके गौण शब्द के स्थान में उसका कोई दूसरा पर्यायवाची शब्द रखने से उसके पूर्ण शरीर की गठन तो पूर्ववत् नहीं रहेगी, उसके अंग-संस्थान में थोड़ी-बहुत विषमता अवश्य आ जायगी; किन्तु वह इतना नहीं बदल जायगी कि उसे शकुन्तला न मानकर दरवाजा ही बन्द कर लें। मुखाकृति की समता अंग-संस्थान की विषमता को गौण बना देती है, वह बहुत काल तक खटकनेवाली नहीं रहती।

पीछे जितने उदाहरण दिये गये हैं, उनमें से 'कर मींजि' को छोड़कर एक भी ऐसा नहीं है, जिसमें मुहावरे के मुख्य शब्दों में कोई परिवर्त्तन हुआ हो। 'कर मींजि' ही एक ऐसा मुहावरा है, जिस पर 'हाथ मलना' मुहावरे का परिवर्त्तित रूप होने की शंका की जा सकती है। तुलसीदासजी ने जहाँ दूसरे प्रयोगों में 'हिय', 'उर' और 'हृदय' इत्यादि कई-कई शब्दों का उपयोग किया है, 'कर मींजि' में न तो कहीं 'हाथ' या 'हस्त' मींजि मिलता है और न कर 'मलना' ही। इससे सिद्ध होता है कि उस समय 'कर मींजि' प्रयोग केवल इसी रूप में सर्वसाधारण में प्रचलित था, यह भी संभव है कि 'हाथ मलना' 'कर मींजि' का ही रूपान्तर हो। पीछे दिये हुए उदाहरणों में शाब्दिक परिवर्त्तन हुआ है, ऐसा मानकर तात्पर्यार्थ की दृष्टि से उनका अवलोकन करने पर, हम इतना ही कह सकते हैं कि मुहावरों के मूल रूप से जो तात्पर्यार्थ एकदम तीर की तरह सीधा हमारी बुद्धि में पैठ जाता था, अब उसके गौण शब्दों में परिवर्त्तन करने के उपरान्त उसे समझने के लिए थोड़ा ठिठकना पड़ता है। अब मुख्य शब्द-परिवर्त्तन का मुहावरे के तात्पर्यार्थ पर कैसा प्रभाव पड़ता है, देखिए—

'गुल खिलना' एक मुहावरा है, जिसका प्रयोग प्रायः किसी विशेष रहस्योद्घाटन के लिए होता है। इस मुहावरे में 'गुल' ही मुख्य शब्द है। यदि गुल के स्थान में पुष्प, पुहुप, फूल, प्रसून इत्यादि उसके अनेक पर्यायवाची शब्दों में से किसी एक को रखकर 'फूल या पुष्प खिलना' कहें, तो उसकी मुहावरेदारी खत्म होकर वह एक साधारण वाक्यांश रह जायगा। इसी प्रकार 'कमर बाँधना', 'काठ होना', 'खाक छानना', 'खेत आना', 'चाँदी कटना', 'हाथ कटा देना', 'झख मारना', 'टाँग तोड़ना' 'पानी-पानी होना' इत्यादि मुहावरों को क्रमशः 'पीठ बाँधना', 'लकड़ी होना', 'धूल छानना', 'क्षेत्र आना', 'रजत कटना', 'कर कटा देना', 'मीन या मछली मारना', 'पग तोड़ना', 'जल-जल होना' करके पढ़ने से मुख्य शब्द में परिवर्त्तन करने की करामात बिल्कुल आँखों के सामने आ जाती है।

उर्दू मुहावरों में शाब्दिक परिवर्त्तन

किसी मुहावरे के शब्दों में परिवर्त्तन करने के लिए जहाँ कवि-कर्म की दुरूहता इत्यादि अन्य बहुत-से कारण होते हैं, वहाँ इसका एक सबसे बड़ा कारण सोचना एक भाषा में और लिखना दूसरी भाषा में अथवा बोलचाल की भाषा को 'इस्लाह जबान' के साँचे में ढालकर 'फसीह' (प्रसादगुण-युक्त) बनाने का प्रयत्न करना भी है। आज के पत्रकार ही नहीं, वरन् अच्छे-अच्छे लेखक भी

प्रायः अँगरेजी में सोचकर हिन्दी में लिखते हैं, यही कारण है कि उनके हाथों में पड़कर प्रायः मुहावरों की दुर्दशा होती है। उर्दू का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। इसके आदि प्रवर्त्तक जहाँ बोलचाल की हिन्दी में अपने भावों को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त मुहावरे न प्राप्त होने पर ही फारसी या अरबी की शरण लेते थे, आये दिन उर्दू-लेखकों की प्रवृत्ति शुद्ध अरबी और फारसी मुसलमानों की प्रवृत्ति से भी कहीं अधिक परहेजगार हो गई है। ये लोग अर्थ के अनर्थ को तो क्षमा कर सकते हैं, परन्तु जबान में प्रयुक्त हिन्दी के लिए इनके यहाँ कोई स्थान नहीं। एक बार किसी ने यह प्रसिद्ध शेर पढ़ा—

वक्त मुझ पर दो कठन गुजरे हैं सारी उम्र में
आपके आने से पहले, आपके जाने के बाद।

दूसरे सज्जन, जो पास ही बैठे थे, कहने लगे कि 'शेर तो उम्दा है, लेकिन इसमें लफ्ज 'कठन' सकील (गरिष्ठ) है, इससे जबान की फसाहत में फर्क आ गया।'

नासिख जो 'मीर' के बाद 'इस्लाह जबान' की बागडोर सँभालनेवाले कहे जाते हैं, लिखते हैं— "यह अब तुम्हारी हिन्दी नहीं हमारी उर्दू है। इस उर्दू में दाखिल होने के लिए हिन्दीपन को छोड़ना ही पड़ेगा। बिना अरबी-फारसी की शरण गये अब आपका काम चलने से रहा। ये 'उर्दू-ए-मुअल्ला' नहीं है कि बोलचाल के हिन्दी-शब्द भी लिख मारो, यह उर्दू है और नासिख की उर्दू है। इसमें रेखता या घपला का काम नहीं। शुद्ध फारसी का बोलवाला है, भाषा का काम नहीं।" नासिख की इस घोषणा के बाद से उर्दू की प्रवृत्ति बदल गई। उसमें बोलचाल के साधारण मुहावरों और शब्दों को बदलकर फारसी और अरबी की चाशनी दी जाने लगी। ऐसी परिस्थिति में मुहावरों के साथ जो सलूक किया जा सकता था, किया गया। अब हम नीचे कुछ उदाहरणों द्वारा उर्दूवालों के हाथों में पड़कर मुहावरों की जो दशा हुई है, उसपर शाब्दिक परिवर्त्तन की दृष्टि से थोड़ा-बहुत प्रकाश डालकर प्रस्तुत प्रसंग को समाप्त करेंगे—

जिसका ख़्याल बर्क़ गिराता है होशपर —अकबर
इश्क़ पर जोर नहीं है यह वह आतिश गालिब
कि लगाये न लगे और बुझाये न बुझे —गालिब
दिलेसितमजदा को हमने थाम थाम लिया —मीर
दिल को थामा उनका दामन थाम के —दाग़
'जी ही जी' नीच बहुत शाद हुआ करती है —मुसहफी
ऐ दाग़ दिल ही दिल में घुले जब से इश्क में —दाग
जरा दाग़ के दिल पर रखो तो हाथ "
करूँ खिदमत में आँखों से बिठालूँ चश्म पर पहिले —ज़ामिन
लेकिन मजाल क्या जो नज़र से नज़र मिले —अकबर
ज़बाँ भी खींच लेना तुम अगर मुँह से फ़ुग़ाँ निकले —इनशा
दिल धड़कता है जुदाई की शबे तार न हो —नासिख
बुलबुल को कोई समझा दे क्यों खून के आँसू रोती है —नूह

'बिजली गिराना' एक मुहावरा है। अकबर साहब ने बिजली के स्थान में 'बर्क़' एक ऐसा शब्द रख दिया है, जिसे साहित्यिकों को छोड़कर अन्य उर्दू बोलनेवाले भी कदाचित् ही बोलते हैं। गालिब ने भी कदाचित् 'फसाहत' की रक्षा करने के लिए 'आग' का आतिश कर दिया है। 'आग लगाना' और 'आग बुझाना' दोनों बोलचाल के मुहावरे हैं, 'आतिश लगाना या बुझाना' एक विलक्षण प्रयोग हो सकता है, किन्तु मुहावरा नहीं।

ऊपर दिये हुए शेरों में शाब्दिक परिवर्त्तन की स्पष्ट झाँकी देखने के लिए आप दाग के शेरों में 'दिल' की जगह 'जी' और 'कदमों' के स्थान पर 'पाँवों'; हाली के शेरों में 'शब' के स्थान पर 'रात' और 'खाक' के स्थान पर 'धूल'; अकबर के शेर में 'नजर' की जगह 'आँख' जामिन के 'चश्म' इनशा की 'जबाँ' नासिख के 'दिल' और नूह के 'खून' क स्थान पर क्रमशः 'आँख', 'जीभ', 'कलेजा' और 'लहू' लिखिए। आपको उस समय मुहावरों का मुख्य रूप प्रकट हो जायगा। ऐसे और भी बहुत-से परिवर्त्तन बतलाये जा सकते हैं; किन्तु यहाँ जितने प्रमाण दिये हैं, वे पर्याप्त हैं।

यदि कहा जाय कि 'मग जोहना', 'बाट जोहना', इत्यादि की तरह इस परिवर्त्तन का आधार भी बोलचाल है; क्योंकि उर्दू बोलनेवाली जनता भी तो है। इस सम्बन्ध में हमें इतना ही कहना है कि जिस प्रकार बहुत-से फारसी के मुहावरे उर्दू-साहित्यिकों ने सर्वसाधारण अथवा उर्दू बोलनेवालों की ओर ध्यान दिये बिना ही अपने साहित्य में ले लिये हैं, उसी प्रकार बोलचाल की परवा न करते हुए बहुत से हिन्दी-मुहावरों के 'आग' और 'बिजली'-जैसे शब्दों को 'आतिश' और 'बर्क' आदि फारसी के शब्दों से बदल दिया है। प्रमाण इसका यही है कि आज भी हिन्दी-मुहावरों में फारसी-अरबी के शब्द घुसेड़ कर उर्दू-साहित्य में उन वाक्यों का मुहावरों के रूप में व्यवहार किया जाता है। चूँकि उर्दू-मुहावरों के परिवर्त्तित शब्दों के पास सर्वसाधारण के बोलचाल की कोई सनद नहीं है, इसलिए उन्हें शाब्दिक परिवर्त्तन की कोटि में ही गिनना चाहिए।

यही तर्क तुलसी आदि के लिए क्यों नहीं दिया जाता? उन्हें क्यों शब्द-परिवर्त्तन के इलजाम से बरी कर दिया जाता है? ऐसे कुछ प्रश्न लोगों के मन में उठ सकते हैं। 'मीर' और 'नासिख' की 'इस्लाह जबान' के नाम से हिन्दी के शब्दों को खोज खोजकर निकालने की चुनौती तथा "यह अब तुम्हारी हिन्दी नहीं, हमारी उर्दू है। इस उर्दू में दाखिल होने के लिए हिन्दीपन को छोड़ना ही पड़ेगा। बिना अरबी-फारसी की शरण गये अब आप का काम चलने से रहा.........।" 'नासिख' की इस स्पष्ट घोषणा के बाद इस प्रकार के प्रश्न उठने तो नहीं चाहिए थे, किन्तु उठे हैं; इसलिए उसे कुछ और स्पष्ट कर देना ठीक होगा। किसी कवि या लेखक के प्रयोगों की प्रामाणिकता को जाँचने के लिए उसके समकालीन और पूर्व के प्रयोग ही एक अच्छी कसौटी हो सकते हैं। उर्दू का सबसे पहला कवि, जिसका कुछ कलाम भी मिला है, 'वजही' माना जाता है। 'वली' उसके बाद में हुआ है; लेकिन अधिकांश लोग 'वली' को ही उर्दू का सबसे पहला कवि मानते हैं। 'वली' से जो लोग परिचित हैं, वे जानते हैं कि दिल्ली आने के पूर्व जहाँ वह बोलचाल की साधारण भाषा और उसके मुहावरों का ही प्रयोग करता था, दिल्ली आने के बाद, 'इस्लाह जबान' का कुछ ऐसा रंग उसपर चढ़ा कि फिर उसने बोलचाल के प्रयोगों की ओर कभी रुख ही नहीं किया। उर्दू के जिन कवियों को हमने लिया है, वे सब तो 'वली' के बाद के हैं और 'इस्लाह जबान' के दूध से ही पले हैं। इसलिए वे 'कानून मतरुकात' का उल्लंघन कैसे कर सकते थे? इनके विरुद्ध 'सूर' और 'तुलसी' को न तो किसी प्रकार की 'इस्लाह-जबान' का नशा था और न 'फसाहत व बलागत' की कोई धुन। वे तो जनसाधारण के प्रतिनिधि थे, उन्हीं के लिए लिखते थे, इसलिए उन्हीं की भाषा में लिखते थे। वे अरबी, फारसी या संस्कृत के तराजू में अपने प्रयोगों की प्रामाणिकता को नहीं तौलते थे। प्रामाणिकता की उनकी कसौटी तो किसी प्रयोग की लोकप्रियता-मात्र थी। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में अरबी और फारसी तक के शब्द और मुहावरे आ गये हैं। इसके अतिरिक्त उर्दू के उन कवियों की तरह 'सूर' और 'तुलसी' के पहले के साहित्य में ऐसा कोई प्रमाण अभीतक नहीं मिला है, जिसके आधार पर निश्चयपूर्वक यह कहा जा सके कि 'तुलसी' ने किसी बंधन के कारण उस समय के प्रचलित प्रयोगों में किसी प्रकार का शाब्दिक परिवर्त्तन किया है। इसलिए उनके प्रयोगों में शब्द-परिवर्त्तन की कल्पना करना ठीक नहीं है।

प्रान्तीय प्रयोगों की विशिष्टता के कारण शब्द-भेद

शाब्दिक परिवर्त्तन के प्रसंग में पीछे भी जैसा हमने बताने का प्रयत्न किया है, तुलसी, सूर और बिहारी इत्यादि व्रज और अवधी-भाषा के तथा 'प्रसाद' और 'गुप्तजी' इत्यादि खड़ी बोली के कवियों के प्रयोगों में जो शाब्दिक परिवर्त्तन दृष्टिगत होता है, वह वास्तव में शाब्दिक परिवर्त्तन नहीं है। वे मुहावरे या तो किसी एक मूल भाषा से क्रमशः रूपान्तरित होकर आये हुए तत्प्रसूत भाषाओं के अपने स्वतंत्र प्रयोग हैं, अथवा देश और काल के प्रतिनिधि विशिष्ट प्रान्तीय प्रयोग। अतएव ऐसे मुहावरों को न तो प्रान्तीय भाषाओं की दृष्टि से किया हुआ एक-दूसरे का अनुवाद समझना चाहिए और न शाब्दिक परिवर्त्तन का परिणाम। वे असल में तो अपनी प्रान्तीयता का परिधान पहने हुए क्रमागत विकास का परिणाम होते हैं। उनमें से प्रत्येक की अपनी स्वतंत्र सत्ता होती है। यही कारण है कि एक ही मुहावरे के ब्रजभाषा, अवधी और खड़ीबोली, तथा भोजपुरी और खड़ीबोली, इतना ही नहीं, स्वयं खड़ीबोली में दिल्ली, मेरठ और मुजफ्फरनगर के आसपास की भाषा और वर्त्तमान साहित्यिक भाषा में, स्पष्टतया विभिन्न रूप मिलते हैं। उदाहरण के बहाने बहुत से पद रखकर व्यर्थ में प्रबन्ध का कलेवर बढ़ाना हमें अच्छा नहीं लगता। अतएव हम दो-चार चुने हुए पद और शेष पीछे दिये हुए पदों में प्रयुक्त मुहावरों की, उनके खड़ीबोली में प्रचलित रूपों के साथ, एक विस्तृत सूची देकर अपने कथन की पुष्टि करेंगे—

राम नाम जपै जैहै जिय की जरनि
द्वार द्वार हीनता कहि काढ़ि रद परि पाहूँ —विनयपत्रिका

सूधो पाय न महि परत सोभा ही के भार
मुंड चढायेहूँ रहै परो पीठ कच भार
रहे गरे परि राखिये तऊ दिये पर हार —बिहारी

मुंह लाये मूंडहि चढी अन्तहुं अहिरिन तोहि सूधी कर पाई
मूंड मारि हिय हारिकै हित हेरि हहरि —तुलसी

मधुबन बसत आस दरसन की नयन जोहिं मग हारे
अवधि गनत इकटक मग जोहत तब एता नहीं झूखी —सूर

अब मैं कब लौं देखूँ बाट —हरिश्चन्द्र

नाथ कृपा ही को पन्थ चितवत दीन हौं दिन राति —विनयपत्रिका

ऊपर दिये हुए पद्यों में जो मुहावरे आये हैं, उनके नीचे लकीर खींच दी गई है। अब उनके साथ ही पद्य के कुछ और मुहावरे लेकर खड़ी बोली के मुहावरों के साथ एक सूची देते हैं। देखिए—

जिय की जरनि	...	जी की जलन
परि पाहूँ	...	पाँव पड़कर
सूधो पाय न परत	...	सीधा पाँव नहीं पड़ता
मूड़ चढ़ाये	...	सिर चढ़ाये
गरे परि	...	गले पड़कर
मुँह लाये	...	मुंह लगाये
मूडहिं चढी	...	सिर पर चढ़ा
मूँड़ मारि	...	सिर मारकर

जोहि मग, मग जोहत	...	राह देखकर, राह देखते
देखूँ बाट	...	राह देखूँ या बाट देखूँ
पँथ चितवत	...	राह देखना
दसन तोरिबे	...	दाँत तोड़ना
रद काढ़ि	...	दाँत काढ़ना या निकालना

ऊपर एक ओर व्रजभाषा और अवधी के मुहावरे दिये गये हैं और दूसरी ओर प्रत्येक मुहावरे के सामने उसका खड़ीबोली में प्रचलित रूप दिया गया है। 'सूधो', 'पाय', 'परत', 'गरे', 'परि' इत्यादि शब्दों को 'सीधा', 'पाँव', 'पड़ता', 'गले', 'पड़' इत्यादि शब्दों का अनुवाद अथवा उनका कोई भिन्न परिवर्त्तित रूप मानना व्रजभाषा, अवधी और खड़ीबोली की प्रकृति और प्रवृत्ति के सम्बन्ध में अपने अज्ञान का ढिंढोरा पीटना है। वास्तव में इन शब्दों में न तो कोई एक दूसरे का अनुवाद है और न परिवर्त्तित रूप। मूल में दोनों एक हैं, किन्तु प्रान्तीय प्रयोगों की विशिष्टता के कारण उनका रूपान्तर हो गया है। जिस प्रान्त में जिस प्रकार का शब्द-प्रयोग अथवा उच्चारण था, उसी के अनुसार उसे ढाल लिया गया है। जब हम सर्वप्रथम सन् १६३५ ई० में कालेज गये, तब हमारे एक सहपाठी ने हमसे कहा था 'मिढवा क्लसवा लेइव···'इत्यादि, इस वाक्य में 'मिढवा' और 'क्लसवा' दोनों शब्द 'मेढ' और 'क्लास' से भिन्न होते हुए भी क्या कोई कह सकते हैं कि ये एक दूसरे का अनुवाद या परिवर्त्तित रूप हैं, अथवा मूल में दोनों एक नहीं हैं। मेढ हमारे एक प्रोफेसर हैं, हमारी समझ में नहीं आता, हमारे सहपाठी को व्यक्तिवाचक संज्ञा का उल्था करके हमसे बोलने की क्या आवश्यकता थी? अतएव हम तो ऐसे शब्दों को अनुवाद नहीं मान सकते। जैसा वह अपने घर पर दूसरे लोगों से बोलता था, उस बेचारे ने उसी प्रान्तीय उच्चारण में हमसे भी 'मेढ' के बजाय 'मिढवा' कह दिया। उस समय उसके मन में अनुवाद की बात आती ही क्यों और फिर अनुवाद भी व्यक्तिवाचक संज्ञा का? अतएव जब व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को अपनी भाषा की प्रकृति के अनुसार ढालकर बोलना स्वाभाविक है, तब 'सीधा'-जैसे सीधे-सादे शब्दों को 'सूधो' कर देना तो और भी स्वाभाविक है।

अब 'मूढ चढाये', 'मूंडहिं चढ़ी', 'मूंड मारी' इत्यादि मुहावरों में प्रयुक्त 'मूंड' शब्द की मीमांसा करनी है। कुछ लोग, 'सिर चढ़ाना', 'सिर चढना' और 'सिर मारना' इत्यादि मुहावरों में 'सिर' की जगह 'मूँड' रखकर ही ऊपर दिये हुए मुहावरे बना लिये गये हैं, ऐसा मानते हैं, वे शाब्दिक परिवर्त्तन में ही इनकी गणना करते हैं। अपना मत प्रकट करने से पहले हम अपने प्रतिपक्षी मत को तर्क और न्याय की ऐतिहासिक कसौटी पर कस लेना अधिक उपयोगी और आवश्यक समझते हैं। हम यह जानते और मानते हैं कि कवित्वगत बंधनों के कारण प्रायः बड़े बड़े कवियों को भी मुहावरे के शब्दों में कभी-कभी परिवर्त्तन करना पड़ जाता है। स्वयं गोस्वामी तुलसीदास के 'देखो काल कौतुक पिपीलकनि पंख लागी' वाक्य में 'चिऊँटी' को बदलकर 'पिपीलकनि' शब्द किया गया है, ऐसा लगता है। हम निश्चित रूप में नहीं कह सकते कि यह प्रयोग उस समय की बोलचाल में लागू था या छन्द के बन्धन के कारण स्वयं गोस्वामीजी ने व्यक्तिगत रूप से लिया है। किन्तु इतना हम जानते हैं कि आज इसका प्रयोग बिल्कुल नहीं होता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि किसी बन्धन के कारण विवश होकर जो प्रयोग किये जाते हैं वे व्यापक नहीं होते। उनका प्रयोग प्रयोगकर्त्ता तक ही सीमित रहता है, उसके बाद न तो दूसरे कवि ही उसका उपयोग करते हैं और न सर्वसाधारण में ही उनका विशेष स्वागत होता है। हमारे एक मित्र पंडित सुन्दरलाल को 'मुंशी खूबसूरत सुर्ख' कहा करते हैं। यह उनकी व्यक्तिगत चीज है। इसलिए उनके बाद इसकी पुनरावृत्ति कहीं अकस्मात् उनके किसी हमजोली के द्वारा भले ही हो जाय, अन्यथा उनके साथ ही यह प्रयोग भी एक दिन कालकवलित हो जायगा।

'मूँड़ चढाये' इत्यादि ऊपर दिये हुए मुहावरों पर जब हम इस दृष्टि से विचार करते हैं, तब सर्वप्रथम 'मूँड़ काट लेना', 'मूँड़ी रगड़ देना' इत्यादि हमारे अपने घर में बोले जानेवाले मुहावरे ही 'मूँड़' शब्द की प्राचीनता और लोकप्रियता के प्रमाणपत्र बन जाते हैं। एक नहीं, कितने ही लोगों को कितनी ही बार आज भी इन मुहावरों में 'मूँड़' शब्द का प्रयोग करते सुना है। गोस्वामीजी के, 'मुँड़हिं चढ़ी' अथवा 'मूँड़ मारि' प्रयोग यदि वास्तव में अनुवादित होते, तो गोस्वामीजी के साथ ही इनका भी तिया-पाँचा हो गया होता, उनके सौ-सवा सौ वर्ष बाद उनके इन प्रयोगों की इसी रूप में कविवर बिहारीलाल पुनरावृत्ति न करते। एक स्थल पर 'मारों मूँड़ पयोधि' लिखकर बिहारी ने तुलसी के समय से चली आई हुई प्रयोग-परम्परा को और भी चमका दिया है। हमारे पक्ष में एक तर्क और भी है और वह यह कि उदाहृत मुहावरों के सब शब्द तद्भव हैं, तत्सम एक भी नहीं है। इससे भी सिद्ध होता है कि वे किसी मूल प्रयोग के क्रमागत रूपान्तर-मात्र हैं, अनुवाद नहीं। इन मुहावरों के सम्बन्ध में इसलिए हमारा मत तो यही है कि इनमें शाब्दिक परिवर्त्तन नहीं है, बल्कि बोलचाल के अनुसार इनका स्वाभाविक रूप ही है।

'हिन्दी-शब्दसागर' तथा हिन्दी के दूसरे मुहावरा-ग्रन्थों में, प्रतीक्षा करने के अर्थ में 'बाट जोहना', 'बाट देखना' और 'राह देखना' एवं 'राह तकना'—ये चार मुहावरे मिलते हैं। आचार्य जयदेवजी ने, एक स्थल पर 'रचयति शयनं सचकितनयनं पश्यति तव पन्थानम्' वाक्य में 'पश्यति पन्थानम्', अर्थात् 'पन्थ निहारना' मुहावरे का प्रयोग किया है। गोस्वामीजी ने इसी मुहावरे को कई स्थलों पर कई प्रकार से लिखा है। एक जगह 'पंथ निहारौं' है, तो दूसरी जगह 'पंथ चितवत'। सूरदासजी ने 'नयन जोहिं मग हारे' तथा 'मग जोहत' इत्यादि प्रयोगों में इस मुहावरे को 'मग जोहना' के रूप में लिया है। खानखाना साहब ने 'ओठंगी चनन के बरिया जोहौं बाटे' लिखकर 'बाट जोहना' और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'अब मैं कबलौं देखूँ बाट' कहकर 'बाट देखना' रूपों को लिया है। एक ही मुहावरे के इतने सारे रूपों को देखकर घबराना नहीं चाहिए और न रूप-विभिन्नता के कारण इनमें शाब्दिक परिवर्त्तन का ही भ्रम करना चाहिए। खानखाना साहब और हरिश्चन्द्र द्वारा प्रयुक्त मुहावरे तो आज भी उसी रूप में हमारे कोषकारों ने ले लिये हैं। अतएव उनका तो प्रश्न ही नहीं रहता। अब तुलसी और सूर के प्रयोगों को देखना है। व्रजभाषा में 'बाट जोहना' मुहावरा चलता है। आजकल तो हिन्दी-गद्य में भी इसके प्रयोग की प्रचुरता हो गई है। गोस्वामीजी क 'पन्थ चितवत' और सूर का 'मग जोहना' बोलचाल के आधार पर किये हुए उसके रूपान्तर ही हैं शब्दान्तरित अथवा गढ़े हुए व्यक्तिगत प्रयोग नहीं। जयदेव का 'पन्थानम् पश्यति' इसकी और भी पुष्टि कर देता है। वास्तव में 'पन्थ चितवत' का सम्बन्ध बोलचाल से है। अवधप्रान्त में आज भी इसका व्यवहार देखा जाता है। अतएव ऐसे सब मुहावरों को प्रान्तीय प्रयोग-विशिष्टता का ही परिणाम समझना चाहिए; अनुवाद अथवा शाब्दिक परिवर्त्तन नहीं।

हिन्दी-भाषा के क्रमिक विकास का अध्ययन करने से पता चलता है कि व्रजभाषा और खड़ी बोली—दोनों का जन्म शौरसेनी प्राकृत से हुआ है। प्राचीन समय में गंगा और यमुना की उपत्यका में शौरसेनी और मागधी दो प्राकृतें बोली जाती थी। इन दोनों प्राकृत-भाषाओं की प्रचार-सीमा के बीच में वह स्थान पड़ता है, जो अवधी की सीमा के अन्तर्गत आता है। यहाँ ऐसी भाषा का प्रचार था, जो कुछ तो शौरसेनी से मिलती थी और कुछ मागधी से।[1] अतएव शौरसेनी प्राकृत से उत्पन्न होने के कारण व्रजभाषा और खड़ीबोली का भी अवधी पर थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन बोलियों में जो मुहावरे आये हैं, वे अधिकांश शौरसेनी अपभ्रंश पर ही अवलम्बित हैं और इसलिए उनका प्रायः एक-सा होना स्वाभाविक है। व्रजभाषा, खड़ीबोली और अवधी के मुहावरों में रूप की जो थोड़ी-बहुत भिन्नता दिखलाई देती है,

१. हिन्दीभाषा का विकास—बाबू श्यामसुन्दरदास।

उसका मूल कारण उनका अपनी बोलियों के क्षेत्र में ही विकसित होना है और कुछ नहीं। अतएव इतना सब-कुछ कहने के पश्चात् अब हम कह सकते हैं कि प्रान्तीय शब्द-विभेद को शाब्दिक परिवर्त्तन के अन्तर्गत नहीं गिना जा सकता।

'लँगोटिया यार होना' और 'नीयत खराब होना' हिन्दी के दो मुहावरे हैं, भोजपुरी, मैथिली और मगही बोलियों में प्रान्तीय शब्द-विभेद के कारण इन मुहावरों के जो रूप हो जाते हैं, उन्हें भी देखिए—

	हिन्दी	भोजपुरी	मैथिली	मगही
	लँगोटिया यार होना	लँगोटिया इआर भइल	लँगोटिया इआर भेलाह	लँगोटिया इआर भेल
	नीयत खराब होना,	नीयत बिगरल	नीयत बिगड़ल,	नीयती बिगड़ल
और भी,	डाँड़ पड़ना,	डाँड़ परल	डाँड़ पड़ल,	डाँड़ पड़ल

अब खड़ीबोली और भोजपुरी के कुछ रूपान्तर देखिए—

खड़ीबोली	भोजपुरी
तिकड़म लगाना	तिगड़म लगावल
थूककर चाटना	थूकि के चाटल
दाँत काटी रोटी होना	दाँत काटल रोटी भइल
दाल गलना	दालि गलल
पानी में आग लगाना	पानी में आगि लगावल

खड़ीबोली में ही स्थान-भेद से उच्चारण-भेद के उदाहरण लीजिए—

मेरठ के आसपास के प्रयोग	साहित्यिक भाषा के प्रयोग
मूँ फाडणा, मूं बाणा	मुँह फाँड़ना, मुँह बाना
पां चक्कर होणा	पाँव में चक्कर होना
खुल के खेलणा	खुलकर खेलना
ठोस्से पै मारणा	अँगूठे पर मारना
पक्के पान होणा	पक्के पान होना

ऊपर भोजपुरी, खड़ीबोली और मेरठ के आस-पास की बोलचाल के जितने मुहावरे दिये गये हैं, वे प्रायः सब-के-सब एक हैं। उनमें से किसी एक को भी अनुवादित, शब्दान्तरित अथवा गढ़ा हुआ नहीं कह सकते। उनमें जो शब्द-विभिन्नता है, वह प्रान्तीय प्रयोगों की विशेषता होने के कारण स्वाभाविक है। उसके कारण इन मुहावरों की एकरूपता भंग नहीं होती। वे तो एक ही गंगा के हरद्वार, कानपुर, बनारस और कलकत्ता आदि देश-भेद के कारण उत्पन्न विभिन्न रूप और आकार-जैसे हैं।

मुहावरों का शाब्दिक न्यूनाधिक्य

मुहावरों की शब्द-योजना में शब्द-संस्थान और शाब्दिकपरिवर्त्तन जिस प्रकार निषिद्ध समझे जाते हैं, उसी प्रकार शब्दों का न्यूनाधिक्य भी एक भारी दोष समझा जाता है। माला के दानों की तरह मुहावरे की शब्द-योजना में भी कोई शब्द घटाने या बढ़ाने से उसका तात्त्विक महत्त्व नष्ट होने के साथ ही उसकी बाह्य गठन में भी फर्क पड़ जाता है। 'कपड़े उतार लेना', 'गोबर गणेश होना', 'पेट का पानी न पचना' इत्यादि मुहावरों में गठन की दृष्टि से प्रत्येक मुहावरा एक विशेष आकार-प्रकार की इकाई है। उनके बारे में शाब्दिक स्थिरता की दृष्टि से जैसे यह कहा जाता है कि उनका

प्रत्येक शब्द कील गाड़कर अपनी जगह पर बैठ जाता है। बिना पूरे मुहावरे का कील-काँटा अलग किये कोई उसके किसी शब्द को एक जगह से उठाकर दूसरी जगह नहीं रख सकता। उसी प्रकार शाब्दिक सान्निध्य और गठन की दृष्टि से यह भी कहा जाता है कि उनका प्रत्येक शब्द अपने आगे-पीछे के शब्दों का पल्ला पकड़ ऐसा गोड़ से गोड़ा बाँधकर बैठता है कि पूरी लड़ी को ध्वस्त किये बिना उसमें न जौ-भर घटा सकते हैं और न तिल-भर बढ़ा सकते हैं।

'कपड़े उतार लेना' इस वाक्यांश में यदि 'भी' या 'तक' बढ़ाकर इस प्रकार कहें—'जेलवालों ने उसे रिहा करते समय कपड़े तक उतार लिये' या 'दर्जी ने दाम भी ले लिये और कपड़े भी उतार लिये', तो इन वाक्यों को सुनकर हमारे ऊपर जो कुछ प्रभाव पड़ता है, वह इनके मुख्यार्थ से ही पड़ता है, लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ से नहीं। इसी प्रकार 'गोबर के गणेश होना', 'गोबर के बने हुए गणेश होना', 'पेट का पानी पचना' इत्यादि प्रयोगों में क्रमशः 'के' और 'के बने हुए' शब्द बढ़ाने और 'न' शब्द के घटाने से 'गोबरगणेश होना', तथा 'पेट का पानी न पचना' मूल मुहावरों की मुहावरेदारी नष्ट हो गई है। ऊपर के दृष्टांतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी मुहावरे के शब्दों में थोड़ा भी न्यूनाधिक्य करने से उसकी व्यंग्यशक्ति के हाथ-पाँव टूट जाते हैं, वह पंगु होकर अभिधेयार्थ का मुँह ताकनेवाला बन जाता है। अतएव मूल मुहावरे में जितने शब्द हों, उसे सदैव उन्हीं में परिमित रखना चाहिए। क्योंकि किसी नियम का पालन करते हुए स्वेच्छा से उनकी शब्द-योजना में उलट-फेर अथवा जोड़-तोड़ करने से फिर वे मुहावरे न रहकर साधारण वाक्य बन जाते हैं।

मुहावरों के शब्दों में कोई न्यूनाधिक्य करने का अधिकार न होते हुए भी हमारे साहित्यकार प्रायः यह अधिकार ले लेते हैं। उनके साहित्य में और विशेषतया उनके काव्य में इस नियम के यत्र-तत्र बिखरे हुए कितने ही अपवाद आपको मिल जायँगे। उदाहरण के लिए इन अपवादों के कुछ नमूने हम नीचे देते हैं—

'मुँह लाल करना' एक मुहावरा है, इसका प्रयोग उसी रूप में होना चाहिए। उर्दू के प्रसिद्ध कवि 'सौदा' ने इसे यों बाँधा है—

> बराबरी का तेरे गुल ने जब ख़याल किया
> सबा ने मार थपेड़ा मुँह उसका लाल किया।

इसी मुहावरे में 'मीर' ने 'खूब' शब्द बढ़ाकर इस प्रकार बाँधा है—

> चमन में गुल ने जो कल दाविये जमाल किया
> जमाल यार ने मुँह उसका खूब लाल किया।

यहाँ मीर ने मुहावरे के नियम का पालन नहीं किया है। और भी एक स्थल पर 'दिले सितमजद को हमने थामथाम लिया' लिखकर 'मीर' साहब ने 'दिल थाम लेना' मुहावरे में एक 'थाम' और बढ़ाकर उसकी मुहावरेदारी को कुंठित कर दिया है। संस्कृत और हिन्दी में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं, देखिए—

> 'मासानेतान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा' —मेघदूत
> 'सहस्व कतिचिन्मासान् मीलयित्वा विलोचने' —काव्यप्रभाकर

पहले पद्य में प्रयुक्त मुहावरे के 'लोचन' शब्द को दूसरे प्रयोग में 'विलोचन' कर दिया गया है। यद्यपि यह अन्तर बहुत साधारण है, तो भी मुहावरे के नियम का उल्लंघन तो करता ही है।

> फरकि सुअंग भये सगुन, कहत मनो मग मुद मंगल छायो।
> दसमुख तज्यो दूध माखी ज्यों आयु काढ़ि साढ़ी लई।
> बन्धु अपमान गुरु ग्लानि चाहत गरन। —गीतावली

नीच जन मन ऊंच जैसो कोढ़ में की खाज। —विनय-पत्रिका
चले जुआरी दोउ हथ झाड़। —ग्रन्थ साहब
याते हाथी हहरिकै दये दांत द्वै काढ़ि। —रहीम
जब तब वे सुधि कीजिये तब तब सब सुधि जाँहि।
हरीचन्द पै केहि हित हम सो तुम अपनो मुख मोड्यो।
निज चवाव सुनि औरो हरखत करत न कछु मन मैल। —हरिश्चन्द्र
टूट्यौ सो न जुरैगो सरासन महेसजू को।
लघु आनन उत्तर देत बडो।
आंखिन में सखि रखिबे जोग।
लंक सिद्धि पीठ निसि जागो है मसान सो।
जारि जाउ सो जीहि जो जांचत औरहि। —कवितावली
ता दिन तें परि बैरी विसासिनी झांकन देती नहीं है दुवारो।
चित्र कढ़े से रहैं मेरे नैन न बैन कढ़ै मुख दीनी दुहाई। —रसखान
आगि जरौं अरु पानी परौं अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं। —घनानन्द

ऊपर दिये हुए हिन्दी-पद्यों में प्रयुक्त मुहावरों के शब्दों में क्या घट-बढ़ हुई है, इसको स्पष्ट करने के लिए हम नीचे प्रत्येक मुहावरे का वर्त्तमान और मूल रूप देते हैं।

वर्त्तमान प्रयुक्त रूप	मूल रूप
१. फरकि सुअंग	अंग फरकना या फड़कना
२. दूध माखी	दूध की मक्खी
३. गुरु ग्लानि गरन	ग्लानि होना
४. कोढ़ में की खाज	कोढ़ की खाज
५. (दोउ) हथ झार	हाथ झाड़कर
६. दये दाँत (द्वै) काढ़ि	दाँत काढ़ देना
७. सब सुधि जाहिं	सुधि जाना, न रहना
८. अपनो मुखि मोड्यो	मुँह मोड़ना
९. करत न कछु मन मैल	मन मैला न करना
१०. टूट्यौ सो न जुरैगो	टूटे काम जुड़ जाना
११. लघु आनन उत्तर देत बडो	छोटा मुँह बड़ी बात
१२. आँखिन में रखिबे जोग	आखों में रखना
१३. जागो है मसान सो	मसान जगाना
१४. जरि जाउ सो जीह	जीभ जल जाना
१५. झांकन देती नहीं है दुवारो	द्वार झाँकना
१६. न बैन कढ़ै मुख	मुँह से बात न निकलना
१७ आगि जरौं	आग में जलना
१८. पानी परौं	पानी में पड़ना या डूबना
१९. हिय का विधि धारौं	हृदय को धीरज देना

ऊपर के प्रयोगों में जो शाब्दिक परिवर्त्तन दृष्टिगत होता है, उसकी मीमांसा हम पिछले प्रकरण में कर चुके हैं। इसलिए यहाँ इस समय केवल उनके शाब्दिक न्यूनाधिक्य पर ही विचार करेंगे। नम्बर १, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५ में क्रमशः 'सु', 'गुरु', 'में' 'दोउ', 'द्वै', 'सब', 'अपनो', 'कछु', 'सो', 'देत', 'जोग', 'सो', 'सो', 'देती नहीं है' आदि शब्द, बढ़ा दिये गये हैं और नम्बर २, १६, १७, १८, १९ में क्रमशः 'को', 'से', 'में', 'में', और 'देना' शब्द कम कर दिये गये हैं। यह घट-बढ़ बहुत साधारण है; किन्तु फिर भी नियम-विरुद्ध होने के कारण इसकी गणना दोषों में ही होगी। यह घट-बढ़ होती 'क्यों' है, इसपर विचार करने से पूर्व पद्य के साथ ही शाब्दिक न्यूनाधिक्य के गद्यगत कुछ नमूने भी ले लेना अच्छा होगा। देखिए—

मारे फिकिर और झोंझट के हगनी-मुतनो बन्द है, एक दम की फुरसत नहीं मिलती।
इस बात के नशे में चूर-चूर हो रहे हैं।
अपनी एक कौड़ी निकलती हो तो कांई छूं कांई छूं करके दिमाग चाट डालें।
मुँह बाये रह गये, झोंझट न मिटी।
इन्होंने बड़ी अच्छी कमाई कमा रखी है।
सिविलियनों के चेले पायोनियर-सरीखे अवाजा-तवाजा कसने लगे।
इधर विलायतवाले जुदा ही नित्य नये तान गाते रहते हैं। —पं० बालकृष्ण भट्ट के —'यह संसार सब झोंझट है' लेख से उद्धृत।
…कि जिनका वर्णन गूँगे को मिठाई है।
करुणा उपजाने में दाँत दिखाये जाते हैं।
नाली में गिरी हुई कौड़ी को दाँत से उठानेवाले।
—पं० प्रतापनारायण मिश्र के 'दाँत'-शीर्षक लेख से उद्धृत।
समझाने बुझाने का काम अपने तर्कपूर्ण सोंटे से लिया।
उसे लाकर घर पर बाँध ही दिया।
इस तरह साहू जी खूब जले भुने। —प्रेमचन्द के 'पंच परमेश्वर' से उद्धृत।

'दम मारने की फुरसत न मिलना' एक मुहावरा है। ऊपर के वाक्य में 'मारने' शब्द निकालकर 'दम की फुरसत नहीं मिलती' ऐसा प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'नशे में चूर होना', 'दिमाग चाटना', 'मुँह बाना', 'कमाई होना', 'आवाजें कसना', 'तान छेड़ना', 'गूँगे का गुड़ होना', 'दाँत दिखाना', 'दाँत से पकड़ना', 'सोंटे से काम लेना', 'घर बाँधना या बँधना', 'जल-भुनकर रह जाना' मुहावरों में इधर-उधर कुछ शब्द घटा-बढ़ाकर ऊपर के वाक्यों में इनका क्रमशः इस प्रकार प्रयोग हुआ है—'नशे में चूर चूर हो रहे हैं', 'दिमाग चाट डालें', 'मुँह बाये रह गये', 'कमाई कमा रखी है', 'अवाजा-तवाजा कसने लगे', 'नये तान गाते रहते हैं', 'गूँगे को मिठाई है', 'दाँत दिखाये जाते हैं', 'कौड़ी को दाँत से उठानेवाले', 'काम तर्कपूर्ण सोंटे से लिया', 'घर पर बाँध ही दिया'; 'जले भुने'।

मुहावरों में हुए शाब्दिक न्यूनाधिक्य के बहुत-से उदाहरणों की सूक्ष्म रीति से जाँच करने पर-कोई कवि या लेखक ऐसा क्यों करता है, इसके निम्नलिखित कारण स्थिर होते हैं—

१. कोई कवि या लेखक जिस समय कुछ लिखने बैठता है, तब उसकी दृष्टि उसकी आँखों के सामने मूर्त्तिमान् होकर घूमनेवाले उसके भावों में ही उलझी रहती है, वह अधिक-से-अधिक स्पष्ट, ओजपूर्ण, परन्तु आलंकारिक भाषा में उन्हें व्यक्त करना चाहता है। लिखते समय कोई

कोष या मुहावरा-संग्रह लेकर तो वह बैठता नहीं, शब्द और मुहावरों के अपने पूर्व-ज्ञान के आधार पर ही वह सर्वप्रथम जो कुछ कहना चाहता है, उसका एक ढाँचा अपने मन में तैयार कर लेता है। तत्पश्चात् इच्छा, रुचि और आवश्यकता के अनुसार इस ढाँचे में ही थोड़ा-बहुत परिवर्त्तन करके लिखना आरंभ कर देता है। लिखते समय उसका ध्यान जितना भावों की ओर रहता है, उतना भाषा की ओर नहीं। वह किसी शब्द या मुहावरे को शब्द या मुहावरे के लिए नहीं; वरन् अपने भावों की अभिव्यक्ति के साधन-रूप में अपनी कविता या लेख में स्थान देता है। एक कवि या लेखक और कोषकार में यही सबसे बड़ा अन्तर है कि कवि या लेखक के लिए जहाँ कोई मुहावरा केवल एक साधन-मात्र होता है, वहाँ कोषकार के लिए वही साध्य-रूप होता है। कवि किसी मुहावरे के शब्दों की अर्थ-व्यापकता और आलंकारिकता पर जितना जोर देता है, उतना उसकी शाब्दिक स्थिरता पर नहीं। 'मुँह में डालना' एक मुहावरा है। एक कवि जब इस मुहावरे को लेता है, तब उसका ध्यान इसके तात्पर्यार्थ पर ही रहता है, शब्दों की स्थिरता और अपरिवर्त्तनीयता पर नहीं। दूसरे शब्दों की तरह कभी अलंकार के लिए, तो कभी पद-पूर्त्ति और छन्द के नियमों की रक्षा के लिए मुहावरे के शब्दों को भी तोड़-मरोड़कर प्रयोग करने का वह अपना कवि-कर्म-सिद्ध अधिकार समझकर 'मुँह में डालना' का 'मुख मेल्यो' ऐसा प्रयोग कर बैठता है। वास्तव में पद्य-रचना के समय जहाँ एक ओर छंदोभंग का विचार अथवा पादपूर्त्ति की चिन्ता पद्यकार को कोंचती रहती है, वहाँ दूसरी ओर भाषा को आलंकारिक बनाने का भूत सदा उसके सिर पर सवार रहता है। इसी उधेड़बुन में पड़कर वह प्रायः मुहावरे के शब्दों को इतना काट-छाँट देता है कि भाव भी पानी माँग जाते हैं। ऐसी अवस्था में यदि उसके हाथ में पड़कर मुहावरों की शाब्दिक स्थिरता सुरक्षित न रहे, उसमें कभी-कभी या बराबर शब्द घटते-बढ़ते रहें, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। फिर चूँकि वह मुहावरों में काट-छाँट तो करता है, किन्तु कटे-छँटे प्रयोगों को न तो स्वयं कहीं मुहावरा संज्ञा देता है और न दूसरों से ही इसकी अपेक्षा करता है। अतएव इसके लिए उसे दोष भी नहीं दे सकते। ऐसे प्रयोगों को इसलिए या तो लाक्षणिक प्रयोग समझकर छोड़ देना चाहिए, उनपर मुहावरे की दृष्टि से विचार ही न करना चाहिए या कवि-विशेष के मुहावरों में उनकी गणना करके ज्यों-का-त्यों जनता के समक्ष रख दिया जाना चाहिए।

ऊपर के दृष्टान्तों से यह सिद्ध हो जाता है कि मुहावरों का यह शाब्दिक न्यूनाधिक्य केवल पद्य तक ही सीमित नहीं है, गद्य में भी प्रायः लोग ऐसी खींचातानी कर बैठते हैं। छन्द और पादपूर्त्ति का बन्धन तो केवल पद्य के लिए ही है, फिर गद्य में भी क्यों मुहावरे के शब्द घटाये-बढ़ाये जाते हैं, यह पूछना बड़ा ही स्वाभाविक है। अतएव अब हम शाब्दिक न्यूनाधिक्य के उन कतिपय कारणों को लेंगे, जो गद्य और पद्य दोनों पर समान रूप से लागू होते हैं।

१. कभी-कभी मनोवेगों की तीव्रता के कारण दो समानार्थक अथवा समान ध्वनिवाले मुहावरों के शब्दों में अनायास सम्मिश्रण हो जाता है; जैसे 'नशे में चूर होना' एवं 'चूर-चूर होना'— इन दो मुहावरों के सम्मिश्रण से पं० बालकृष्ण भट्ट का—'इस बात के नशे में चूर-चूर हो रहे हैं' यह वाक्य रचा गया है। इसी प्रकार 'अवाज कसना' और 'अवाजा-तवाजा करना', 'नई तान छेड़ना' और 'अपना ही राग गाना' तथा 'कमाई करना' और 'कमाकर' रखना'—इन अलग-अलग मुहावरों के अनायास सम्मिश्रण से क्रमशः 'अवाजा-तवाजा कसने लगे', 'नये तान गाते रहते हैं' और 'कमाई कमा रखी है' आदि प्रयोग निकले हैं।

२. कभी-कभी अश्लील मुहावरों के अश्लीलत्व को दूर करने के लिए भी गद्य और पद्य दोनों में कुछ शब्द घटा-बढ़ाकर उनका प्रयोग किया जाता है। जैसे—'उँगली करना', 'डंडा सटकाना',

'मराते फिरना' इत्यादि मुहावरों में बोलचाल के मूल मुहावरों के अश्लील शब्द छोड़ दिये गये हैं। 'मुँह है कि कुछ और' यहाँ अश्लील शब्द हटाकर 'कुछ और' बढ़ा दिया गया है।

३. कभी-कभी निषेधार्थक मुहावरों को विध्यात्मक और विध्यात्मक मुहावरों को निषेधार्थक बनाने के लिए भी शब्द घटा-बढ़ा दिये जाते हैं। जैसे—'कान करना' एक मुहावरा है। तुलसीदास ने इसका प्रयोग निषेध के लिए इस प्रकार किया है : 'काहू कान कियो न मैं कह्यौं के तो कालि है', 'खोपड़ी न खाओ', 'धोखा न खाना' इत्यादि तथा इसी प्रकार 'पेट का पानी न पचना', 'जबान को लगाम न होना', 'खाकर डकार न लेना' इत्यादि निषेधार्थक मुहावरों का 'न' हटाकर उन्हें विध्यात्मक बना लिया जाता है। इसी कारण कहीं-कहीं भावों के साथ भी घोर अन्याय हो जाता है।

४. कभी-कभी किसी बात पर विशेष बल देने के लिए भी किसी मुहावरे के शब्दों में 'भी' 'ही' और 'तक' इत्यादि शब्द जोड़ दिये जाते हैं। जैसे—'खाकर डकार भी न लेना', 'कपड़े तक उतार लेना', 'घूंघट ही करना है तो बाहरवालों से करो' इत्यादि।

५. कभी-कभी किसी बात की पुष्टि कराने अथवा व्यंग्य के लिए मुहावरे के अन्त में 'न' शब्द जोड़ देते हैं। जैसे—'पाँव निकल आये हैं न', अब तो 'घी के चिराग जलेंगे न', 'पत्तल फाड़कर चल दिये न' इत्यादि।

६. कभी-कभी क्रिया-सातत्य की अनुभूति कराने के लिए किसी-किसी मुहावरे में एक ही शब्द को दो बार रख देते हैं। जैसे—'हाथ मलना' एक मुहावरा है। तुलसीदासजी ने 'हाथ मलने' के व्यापार को और तीव्र एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिए 'मींज' शब्द को दोहरा दिया है। देखिए—'मींजि-मींजि हाथ, धुने माथ दस माथ तिय' इस प्रकार 'सिर धुन-धुन लेना', 'सिर धुनि धुनि पछितात मींजि कर', 'आँख मटका-मटकाकर 'हाथ नचा-नचाकर', 'हड्डी-हड्डी निकल आना' (मूल) हड्डियाँ निकल आना, 'धोती से निकल-निकल पड़ना' इत्यादि मुहावरों में शब्द-लोप अथवा लाघव के तत्त्व की प्रचुरता रहती है। इसलिए किसी मुहावरे में सुप्त अर्थ-पूरक शब्दों की कमी को पूरा करके प्रयोग करते हैं। जैसे—'मसान जगाना या जागना' मुहावरे में 'सा' शब्द जोड़कर 'मसान-सा जागना' कहने से अर्थ बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। तुलसीदासजी ने भी यही किया है। देखिए—'लंक सिद्धि पीठ निसि जागो है मसान सो'। 'बाँह देना' मुहावरे का अर्थ ही अभय देना है, किन्तु तुलसीदास ने 'अभय बाँह, कहकर इसका प्रयोग यों किया है—'तुलसी प्रभु आरत आरति हर अभय बाँह केहि केहि न दई है।'

८. कभी-कभी किसी मुहावरे के क्रिया-पद को हटाकर एक यौगिक शब्द की तरह भी उसका प्रयोग चल निकलता है। जैसे, 'कोई कड़े दिल के हुए सबों की कहा-सुनी और नाक-भौं सिकोड़ना बरदाश्त कर लिया।'

मुहावरों के शाब्दिक न्यूनाधिक्य की मीमांसा करते हुए इस घट-बढ़ के जो कारण हमने ऊपर बताये हैं, उन्हें पूर्ण नहीं समझना चाहिए। हमें जितने नमूने मिल सके हैं, उन्हीं के आधार पर हमने इसके कारणों का इतना वर्गीकरण किया है, संभव है और अधिक खोज करने पर इनके अतिरिक्त और कुछ भी हाथ लग जाय। इस शाब्दिक न्यूनाधिक्य के कारण खोज निकालने का अर्थ यह नहीं है कि हम मुहावरों की इस काट-छाँट को न्यायसिद्ध करके उसके दोषों को खत्म करना चाहते हैं। एक काने आदमी की आँख फूटने का कारण मालूम होने पर भी जिस प्रकार वह कानेपन के दोष से मुक्त नहीं होता, उसी प्रकार हजार कारण होने पर भी दोष, दोष ही रहता है। हाँ, जिस प्रकार काने आदमी को समाज से निकाल नहीं फेंकते, उसी प्रकार ऐसे प्रयोगों को भी हम अपनी भाषा से सर्वथा निकाल नहीं सकते। हमारे विचार से तो ऐसे प्रयोगों में से, जो मुहावरे की तरह ही जनता में प्रचलित हो चुके हैं, वे स्वतंत्र मुहावरे मान लिये जायँ और जो प्रचलित नहीं हुए हैं, उन्हें लाक्षणिक प्रयोग समझकर ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया जाय।

इतने उदाहरण देने के पश्चात् भी हम बड़ी दृढ़ता और विश्वास के साथ कह सकते हैं कि ऐसा बहुत ही कम होता है। अधिकांश पद्यों में मुहावरों का स्वरूप यथातथ ही मिलता है, उनमें कोई विकार नहीं होता। रही गद्य की बात। गद्य में तो वे प्रायः सदैव ही ज्यों-के-त्यों व्यवहृत होते हैं। मुहावरों की शुद्धता के आदर्श को समझने के लिए कुछ ऐसे पद्यों को भी देखना चाहिए, जिनमें उनका शुद्ध रूप में व्यवहार हुआ है।

वह दिल लेके चुपके से चलते हुए,
यहाँ रह गये हाथ मलते हुए।
न इतराइए देर लगती है क्या,
ज़माने को करवट बदलते हुए।
जरा दाग के दिल पर रक्खो तो हाथ,
बहुत तुमने देखे हैं जलते हुए। —दाग

ओढ़ँगी चनन केवरिया जोहौं बाट,
उड़िगै सोनचिरैया पंजर हाथ। —रहीम

लगा लगी लोयन करैं नाहक मन बँध जाँहिं। —बिहारी

देव जू जो चित चाहिए नाह तो नेह निबाहिये देह हर्‌यो परै।
जो समझाई सुझाइये राह कुमारग में पग धोखे धर्‌यो परै। —देव

यातैं सबै सुधि भूलि गई
चंद की किरन पीवे, पलकैं न लावती।
दीजै दादि देखि नातो बलि, यही मोद मंगल रितई है। —तुलसी

मेरो नाम गाय हाथ जादू कियो मन में
तैं तौ रसखानि अब दूर तें तमासो देखैं। —रसखान

हँसि-हँसि रुवावत हौ छाँहौं नहीं छावत हौं। —घनानन्द

आई हैं दूत पकड़ ले जैहैं, रही हैं मन की मन में। —कबीर

ऐसी प्रीति बढ़ी बृन्दावन गोपिन नाच नचाई। —सूर

प्रेम का जीवन जग में, तिल की ओट पहार,
जीते जी सुधा रस ले, मरे स्वर्ग की आड़।
सुख, शृंगार, सौंदर्य बढ़ा, सिरजा पूजा-थार,
हिय रस प्रक्षालन करती, पिय पथ झाड़ बुहार। —निशंक

ऊपर दिये हुए पद्यों में जिस शुद्धता के साथ मुहावरों का प्रयोग हुआ है, उसे हम काव्य की दृष्टि से आदर्श मान सकते हैं। काव्य की दृष्टि से इसलिए कि गद्य में उतना व्यतिक्रम भी मुहावरे को अपने आदर्श से गिरा देगा। विवश होकर हो अथवा इच्छा और रुचि के आधार पर, मुहावरों में शाब्दिक न्यूनाधिक्य अच्छा नहीं समझा जाता, इसलिए पद्य अथवा गद्य-साहित्य के किसी भी क्षेत्र में ऐसे प्रयोग प्रामाणिक नहीं समझे जा सकते। कवि-कर्म की जटिलताओं और बन्धनों के कारण कोई त्रुटि क्षम्य हो सकती है, किन्तु रहेगी त्रुटि ही, उसके किसी भी त्रुटि-पूर्ण प्रयोग को कभी वह पद प्राप्त नहीं हो सकता, जो शुद्ध प्रयोगों को मिलता है। यह मानते हुए भी कि कवि को छंद, पादपूर्ति और अलंकार की ऐसी अत्यन्त सँकरी गलियों में से होकर जाना पड़ता है कि वह विना रगड़ खाये सर्वथा निर्दोष पार नहीं हो सकता, तथापि केवल

इसलिए दोष को गुण नहीं कहा जा सकता। हाँ, जैसा हमने पीछे भी कहा है, यह तो संभव है कि उसके ऐसे प्रयोगों पर मुहावरे की दृष्टि से विचार ही न किया जाय, अथवा उनका एक विशेष वर्ग बना दिया जाय। हमारा अपना विचार तो यही है कि मुहावरे के शब्दों में न्यूनाधिक्य जहाँ तक बन सके, नहीं किया जाय; क्योंकि ऐसा करने से मुहावरे की विशेषता पर धब्बा लगता है। मुहावरे के शब्दों का क्रम बदलने से उसमें कुछ व्यतिक्रम अवश्य हो जाता है, अन्यथा उसका स्वरूप अक्षुण्ण रहता है, किन्तु शाब्दिक न्यूनाधिक्य के कारण उसकी प्रामाणिकता को धक्का लगता है जो ठीक नहीं। आदर्श अथवा सर्वमान्य कवियों के प्रयोग शिरोधार्य होते हैं, वे अन्धकार में दीपक, भूख में रोटी और प्यास में शीतल जल का काम करते हैं, किन्तु केवल व्यापक प्रयोग ही इस प्रकार ग्राह्य हो सकते हैं, अव्यापक नहीं। मत-भिन्नता स्वाभाविक है, आचार्यों की विचार-शैली भिन्न हो सकती है, किन्तु प्रमाणभूत प्रायः लोकमत ही होता है। इस सिद्धान्त को मानकर चलने पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मुहावरों के शब्दों में न्यूनाधिक्य कभी निर्दोष नहीं समझा जा सकता।

यहाँ एक बात और बता देना आवश्यक है कि कुछ ऐसे मुहावरे भी होते हैं, जो सूक्ष्म होकर अथवा कट-छँट कर छोटे हो जाते हैं और सर्वसाधारण उनको ग्रहण कर लेते हैं। ऐसे प्रयोगों को शाब्दिक न्यूनाधिक्य का शिकार समझकर उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। 'दाँत काटी रोटी होना' एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है बहुत घनिष्ठता होना। इसी अर्थ में केवल 'दाँत काटी होना' का प्रयोग भी मिलता है। यह रूप मुख्य मुहावरे का संक्षिप्त रूप है। कहावतों के ऐसे कितने ही संक्षिप्त रूप आज मुहावरों में चलते हैं, उन्हें प्रयोग-सिद्ध वाक्यांश ही समझना चाहिए। 'मिली भगत होना', 'घर के रहे न घाट के', 'बड़ी बातें करना', 'फूल गये' 'हँसते-हँसते बल बढ़ गये' (पेट में बल पड़ने से), 'मक्खी न बैठने देना' इत्यादि प्रयोग इसी श्रेणी में आते हैं।

परिवर्त्तित मुहावरे

पिछले प्रकरणों में हमने मुहावरे के शब्द-संस्थान, शाब्दिक परिवर्त्तन और शाब्दिक न्यूनाधिक्य तीनों को मुहावरे की शाब्दिक स्थिरता और शब्द-प्रबन्ध की अपरिवर्त्तनीयता को देखते हुए निषिद्ध बताया है। निषिद्ध होते हुए भी चूँकि तुलसी, सूर, जायसी प्रभृति उच्च कोटि के कवियों ने ऐसे प्रयोग किये हैं; इसलिए, और केवल इसीलिए, वे कम-से-कम मुहावरा करके तो मान्य और शिरोधार्य नहीं हो सकते। हाँ, बाद में भले ही जनसाधारण उनकी व्यापकता पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगाकर व्यवहार-सिद्ध प्रयोगों में उनकी गणना करने लगे। मुहावरा, जैसा पीछे हमने बराबर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, भाषा की एक-एक अभिन्न और अविच्छिन्न इकाई है, उसके शब्द अथवा शब्द-प्रबन्ध पूर्व-निश्चित और निर्धारित होते हैं, उनमें स्वेच्छाचारिता नहीं चल सकती। संक्षेप में किसी मुहावरे के शब्द अथवा शब्द-प्रबन्ध में जबरदस्ती हस्तक्षेप करने से उसकी मुहावरेदारी नष्ट हो जाती है, इतना ही नहीं, कभी-कभी तो सारा वाक्य ही निरर्थक और निकम्मा हो जाता है।

अँगरेजी का एक मुहावरा है 'सेट अप' (Setup), जिसका अर्थ है व्यवस्थित अथवा भला-चंगा कर देना; किन्तु इसके शब्दों को अदल-बदल कर रखने से उसका अर्थ अव्यवस्थित कर देना हो जाता है। प्रोफेसर अर्ले (Earle) इंगलैण्ड में रहनेवाले किसी जर्मन के सम्बन्ध में 'अँगरेजी गद्य' (English Prose) के पृष्ठ १४४ पर एक कथा लिखते हुए कहते हैं—"कोई जर्मन इंगलैण्ड में रहता था। वह काम चलाने भर को काफी अच्छी अँगरेजी बोल लेता था। लेकिन अँगरेजी मुहावरों का उसे विशेष ज्ञान नहीं था। एक बार अपने किसी अतिथि को किसी विशेष प्रकार की मदिरा का परिचय देते हुए उसने कहा—चाहे तुम इसकी एक पूरी बोतल पी लो, किन्तु

यह तुम्हें 'सेट अप' (अव्यवस्थित के अर्थ में) नहीं करेगी।" इसी प्रकार एक दूसरे विदेशी व्यक्ति ने एक बार किसी टानिक की प्रशंसा करते हुए लिखा था—'It had quite upset him' (इसने मुझे बिल्कुल अप सेट कर दिया)। थोड़े-से शब्द-क्रम-भेद से किसी मुहावरे का कितना उल्टा अर्थ हो सकता है, इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसी प्रकार 'to rain cats and dogs' मूसलाधार वर्षा के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाला एक अँगरेजी मुहावरा है। यदि इस मुहावरे में शब्द बदलकर 'to rain and hounds and hair' अथवा शब्द क्रम ही बदलकर 'to rain dogs and cats' ही जैसा कुछ कर दें, तो स्पष्ट है, सारा वाक्य-निरर्थक हो जायगा।

मुहावरों के शब्द अथवा शब्द-योजना में हस्तक्षेप करनेवाले लोगों को सावधान करते हुए श्री रामचन्द्र वर्मा अपनी पुस्तक 'अच्छी हिन्दी' के पृष्ठ १३७ पर एक जगह लिखते हैं—''मुहावरों के सम्बन्ध में ध्यान रखने योग्य एक बड़ा तत्त्व यह है कि वे कुछ खास शब्दों में ही बँधे हुए होते हैं, उनके शब्दों में कभी कुछ उलट-पलट करने की गुंजाइश नहीं रहती। यदि हम कहें 'आपके दोनों हाथ लड्डू हैं', तो इसका विशेष अर्थ होगा 'आपका हर तरह से लाभ है।' पर यदि हम कहें 'आपके दोनों हाथों में लड्डू[1] हैं', तो इसका केवल सामान्य अर्थ होगा; कोई विशेष अर्थ न होगा।" अब नीचे हम मुहावरों के कुछ ऐसे प्रयोग देते हैं, जो मूल मुहावरों के शब्द तथा शब्द प्रबन्ध में जबरदस्ती हस्तक्षेप करके स्वेच्छा से गढ़ लिये गये हैं।

महाराजा रणजीत सिंह की एक जीवनी में लेखक ने सब कुछ लिखने के बाद अन्त में लिखा है—'बस, तभी से पंजाब के गले में पराधीनता की बेड़ियाँ पड़ गईं।' बेड़ियाँ पैरों में पड़ती हैं न कि गले में। यहाँ 'पैर' की जगह 'गला' शब्द रख देने के कारण सारा वाक्य ही बेतुका हो गया है। इस बेतुकेपन की अच्छी खासी प्रदर्शनी देखनी हो तो किसी हिन्दी या उर्दू समाचारपत्र की फाइल उठा लीजिए, फिर देखिए, रोजमर्रा में प्रयुक्त होनेवाले मुहावरों की भी कैसी मिट्टी पलीद की गई है। इन्हीं फाइलों में से यहाँ ऐसे प्रयोगों के कुछ नमूने लेकर हम उनकी मीमांसा करेंगे—

एक समाचार-पत्र में पढ़ा था—"सम्पादकों का गला घोंटने के लिए सदा उनके सिर पर दमन की तलवार लटकती रहती है।" पता नहीं, हमारे सम्पादक जी की तलवार ने गला काटने के काम से इस्तीफा देकर गला घोंटने का पेशा कब से अख्तियार कर लिया!

'तलवार की धार पर चलना' मुहावरे की शब्द-योजना के साथ धींगामस्ती करके एक साहब ने 'धार' की जगह 'नोंक' बनाकर 'उससे भिड़ना तलवार की नोंक पर चलना है'—ऐसा प्रयोग कर डाला है। उन्हें यह भी नहीं सूझा कि भला तलवार की नोंक पर कभी कोई चल सकता है।

'हमने उनकी योजनाओं को दुम दबाकर स्वीकार कर लिया।' दुम दबाकर भागते तो हमने सुना और देखा भी है; किन्तु दुम दबाकर स्वीकार करते, माँगते, कहते, सुनते या बोलते कभी किसी को नहीं सुना।

'यह देखकर मेरा तो सिर शर्म से उड़ गया'—यहाँ हमारे पत्रकार महोदय को यह भी नहीं मालूम है कि शर्म से सिर झुक जाता है, उड़ता नहीं, उड़ता तो तलवार से है।

एक कहानी में आया था—'उसकी हुलिया तंग थी।' यहाँ सबसे पहली जबरदस्ती तो लेखक ने पुल्लिंग को स्त्रीलिंग बनाकर की है; हुलिया पुल्लिंग है, स्त्रीलिंग नहीं। दूसरी बात यह है कि हुलिया तंग नहीं होता, तंग तो 'काफिया', 'हाल' या किसी व्यक्ति के लिए आता है, जैसे 'काफिया तंग करना', 'मोहन को तंग करना', 'हाल तंग होना', हुलिये के लिए तो हमेशा बनना, बिगड़ना या बिगाड़ना क्रियाओं का ही प्रयोग होता है। इसी कहानी में एक दूसरे स्थल पर लिखा था—

---

१. प्रचलित मुहावरा 'दोनों हाथों में लड्डू होना' ही है, दोनों हाथ लड्डू होना नहीं।' 'हिन्दी मुहावरे' नाम की पुस्तक, पृष्ठ २८८ में भी यही है।

'लड़की फूट-फूटकर चिल्ला रही थी।', वास्तव में फूट-फूटकर रोया जाता है, चिल्लाया नहीं जाता। ऊपर के प्रयोगों में मूल मुहावरों के शब्दों में स्वेच्छापूर्वक हस्तक्षेप करने के कारण उनकी मुहावरेदारी नष्ट हो गई है। अब कुछ ऐसे प्रयोग लेते हैं, जो मूल मुहावरों में हस्तक्षेप करने के कारण प्रायः निरर्थक हो गये हैं—

'उसकी प्रसन्नता का पारावार न रहा'—इस वाक्य को, सुधारकर कहें या बिगाड़कर, एक महाशय ने इस प्रकार लिखा है—'वह प्रसन्नता के पारावार में बह चली।' लेखक महाशय की इस हैलेटशाही ने उन्हें भले ही कुछ सुख दिया हो; किन्तु मुहावरे का गला घोंटकर इस वाक्य को तो उन्होंने सर्वथा निरर्थक और निकम्मा बना दिया है। मुहावरों के साथ की हुई तानाशाही के कुछ और भी नमूने देखिए—

'वहाँ जान पर कुरबान होनेवालों की कमी नहीं थी', 'उन्होंने भी जले-भुने शब्दों में स्वीकार किया है', वह सिट्टी भूल गई', 'लाज और लिहाज के मोर्चे टूट पड़े', 'युग की माँग का यह बीड़ा कौन चबाता है'। ऊपर के वाक्यों में क्रमशः 'जान कुरबान' की जगह 'जान पर कुरबान होने', 'जल-भुनकर स्वीकार करने' के बदले 'जले-भुने शब्दों में', 'उसकी सिट्टी भूल गई' के स्थान में 'वह सिट्टी भूल गई', 'मोर्चे टूट गये' की जगह टूट 'पड़े' तथा 'बीड़ा कौन उठाता है' की जगह 'कौन चबाता है।' इत्यादि हेर-फेर करके समस्त वाक्यों को निःसत्त्व और निरर्थक बना दिया गया है। किसी पर कुरबान होने का अर्थ है—'उसकी कुशलता, रक्षा और वृद्धि के लिए अपने प्राणों तक की आहुति देने को तैयार रहना अथवा बहुत अधिक प्रेम करना', 'जान पर कुरबान' होने का अर्थ समझकर जब इस वाक्य का अर्थ करते हैं, तो रोना आता है। 'टूट पड़ना' हिन्दी का एक विशेष मुहावरा है, जिसका अर्थ है दल-बल के साथ एकदम शत्रु पर हमला कर देना। ऊपर के वाक्य में लेखक महाशय कहना तो चाहते थे कि 'लाज और लिहाज जाती रही'; किन्तु मुहावरेदारी के जोश में उन्होंने यह भी विचार नहीं किया कि कहीं आखिर में 'उनकी लाज और लिहाज' के ये मोर्चे उन्हीं पर न टूट पड़ें।

'नाक में दम होना' एक मुहावरा है, जिसमें मुहावरे की दृष्टि से 'दम' मुख्य और 'नाक' गौण शब्द हैं। किन्तु आजकल मुहावरों के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण मुहावरेदारी के बहाव में बहकर लोग प्रायः 'नाक' को ही मुख्य समझकर अपने-अपने ढंग से मूल मुहावरे की छीछालेदर करके अनेक प्रकार से उसका प्रयोग करते हैं। एक 'हमारे नाक में दम हो गया' लिखते हैं, तो दूसरे 'हमारे' को 'हमारी' करके 'हमारी नाक में दम हो गया' बोलते हैं। इनसे भी आगे बढ़कर कोई-कोई 'नाकों दम होना या आना', 'नाकों दम करना' अथवा 'नाक दम कर देना' इत्यादि विचित्र प्रयोग करते भी सुने गये हैं। वास्तव में ये सब के-सब ही अशुद्ध रूप हैं, तात्त्विक दृष्टि से इनका कोई अर्थ नहीं निकलता। अतएव 'हमारा नाक में दम हो गया' यही मान्य और तर्कपूर्ण प्रयोग है। 'उन्होंने अपनी किस्मत हमारे पल्ले अटका रखी है', 'उन्होंने सब कुछ मटियामेट (मलिया मेट) कर दिया', 'आन्दोलन की लहर में उड़े चले गये' इत्यादि इसी प्रकार के जोशीले प्रयोग हैं।

एक प्रसिद्ध मुहावरा है—'कटे पर नमक या नोन छिड़कना।' शरीर के किसी कटे हुए अंग पर नमक लग जाने से बहुत चिरचिराहट होती है, कभी-कभी तो आदमी तड़पने लगता है। इस अनुभव के आधार पर ही यह मुहावरा बना है। महाकवि राजशेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कर्पूरमञ्जरी' में भी 'क्षते क्षारं' का ही प्रयोग किया है। यथा—

परं जोण्हा उण्हा गरल सरिसो चंदनरसो
खअक्खारो हारो रजनि पवणा देहन्तवना। [1]

यहाँ 'खअक्खारो' 'क्षते क्षारो' का ही रूपान्तर है। 'क्ष' का 'ख' हो गया है। भवभूति ने भी उत्तररामचरित (४.७) में कहा है—

य एव मे जनः पूर्वमासीन्मूर्तो महोत्सवः ।
क्षते क्षारमिवासह्यं जातं तस्यैव दर्शनम् ॥

उर्दू के एक कवि ने इस मुहावरे को इस प्रकार बाँधा है—

नमक छिड़को, नमक छिड़को, मजा कुछ इसमें आता है।
कसम ले लो, नहीं आदत मेरे जख्मों को मरहम की।

इससे स्पष्ट है कि घाव पर मरहम लगाने का जो फल होता है, नमक छिड़कने से ठीक उसक उल्टा होता है। हिन्दी में भी निशंक की एक पंक्ति है— 'आँख चुरा अब जलाती, छिड़क कटे परा नोन'। इतना प्राचीन प्रसिद्ध और प्रचलित होते हुए भी कुछ लोगों ने इसके प्रयोग को बिगाड़-कर 'कटे' की जगह 'जले' शब्द रखकर 'जले पर नमक छिड़कना' ऐसा प्रयोग कर डाला है। जले पर नमक छिड़कने से तो पीड़ा बढ़ने के बदले उल्टा उसका उपचार हो जाता है। अतएव 'जले पर नमक छिड़कना' यह प्रयोग नितान्त अतर्कपूर्ण, असंगत और अमान्य होना चाहिए। यथा-समय इस अशुद्धि का संशोधन न होने के कारण यह अशुद्ध प्रयोग भी इतना चल पड़ा कि स्वयं गोस्वामी तुलसीदास-जैसे परम सुविज्ञ भी इसके चक्कर में पड़कर एक जगह लिख गये—

अति कटु बचन कहति कैकेई, मानहु लोन जरे पर देई।

कुछ लोग 'जले पर नमक छिड़कना' और 'कटे पर नमक छिड़कना' इन दोनों को दो अलग-अलग मुहावरे मानते हैं। परन्तु 'जले पर नमक छिड़कने' की सारहीनता को देखकर हमें तो यही लगता है कि यह कोई स्वतंत्र मुहावरा नहीं है।

कभी-कभी लोग मुहावरों के ठीक-ठीक रूप और अर्थ न जानने के कारण भी इस प्रकार के अशुद्ध प्रयोग कर जाते हैं। मुहावरों के स्वरूप और अर्थ का यह अज्ञान उस समय और भी खलता है, जब ऐसे कुछ लोग तुलसी प्रभृति मनस्वी कवियों के व्यवहृत मुहावरों पर जबरदस्ती अपना अर्थ लाद कर उनके पदों की टीका लिख डालते हैं। रामायण के उत्तरकांड में एक पद आया है— 'दुर्लभ साज सुलभ करि पाँवा।' 'करि पाँवा' मुहावरे का अर्थ न समझने के कारण पाठ-भेद करके कुछ लोगों ने 'पाँवा' का 'पावां' कर दिया है और फिर खींचातानी करके मनचाहा उस पद का अर्थ कर लिया है। आज भी 'हाथी का पाँव होना', 'हाथी के पाँवों में डालना', इत्यादि मुहावरों का देहातों में पर्याप्त प्रचलन है। 'सुलभ करि पाँवाँ' से गोस्वामी जी का तात्पर्य यही था कि हाथी के साज को पाने से उसके पैरों के नीचे कुचल जाना अधिक सुलभ है, अर्थात् सुख की अपेक्षा दुःख और आपत्ति अधिक सुलभ है। पूरी चौपाई को पढ़ने से हमारे कथन की सत्यता स्वयं प्रकट हो जायगी। ऐसे ही कुछ उदाहरण और यहाँ देते हैं। एक प्रसिद्ध गीत है—

अवधि बदि सैयाँ अजहू न आये
ठाढ़ी अटा पर कृष्ण पुकारे......

इसमें 'अवधि बदना' एक अति प्राचीन मुहावरा है, जिसका अर्थ है— किसी काम को करने का ठीक समय बताना या अवधि निश्चित करना। परन्तु मुहावरों का ज्ञान न होने के कारण प्रायः अधिकांश संगीतज्ञों के मुँह से यही रूप सुना जाता है—

'अवधि पति सैयाँ अजहूँ न आये।

---

१. 'अवधी हिन्दी, पृष्ठ ११४

यहाँ 'बदि' को पति करके गानेवालों ने न केवल वाक्य के अर्थ का अनर्थ किया है; बल्कि रामायण और महाभारत पर भी स्याही पोत दी है। अवध पति का अर्थ राम लेते हैं, तो उन्हें 'सैयाँ' कहकर उलाहना देनेवाली यह स्त्री कौन है, फिर जैसा कि गीत के अंतरे से स्पष्ट है, पुकारनेवाली यह स्त्री कोई गोपिका है, जो कृष्ण को पुकार रही है। यदि कृष्ण को इस गीत का नायक समझें तो फिर 'अवधपति सैयाँ' को 'ब्रजपति सैयाँ' करना पड़ेगा, अन्यथा सारा गुड़ गोबर हो जायगा।

एक और मुहावरा है—'बातें बनाना', जिसका अर्थ है गढ़-गढ़ कर झूठी बातें कहना। किसी जगह हमने इसको इस प्रकार सुना था—

'हटो जाओ न झूठी बनाओ बतियाँ।'

वास्तव में 'बात बनाना' का अर्थ ही झूठी बात कहना है। अतएव उसके पहले 'झूठी' विशेषण लगाकर 'झूठी बनाओ बतियाँ' ऐसा प्रयोग सर्वथा बे-मुहावरा और निरर्थक होता है। गद्य-साहित्य में भी 'झूठी बातें बनाना', 'झूठी-झूठी बातें बनाना' इत्यादि प्रयोग प्रायः देखने में आते हैं, जो ठीक नहीं हैं।

बहुत-से लोग अपनी भाषा को जबरदस्ती मुहावरेदार बनाने के चक्कर में पड़कर मुहावरों का तो खून करते ही हैं, अपने तात्पर्यार्थ से भी हाथ धो बैठते हैं। 'न खुदा ही मिला न विसाले सनम' की उक्ति के अनुसार न तो उनकी भाषा ही मुहावरेदार होती है और न जो कुछ वह कहना चाहते थे, वही स्पष्ट होता है। भिन्न-भिन्न पुस्तकों और समाचार-पत्रों से लिये गये इस जबरदस्ती के कुछ नमूने यहाँ देते हैं—

बंगाल के भीषण अकाल के समय इस प्रान्त के एक समाचार-पत्र ने लिखा था—"प्रान्तीय सरकार दम भरती है कि इस प्रान्त में भी ऐसी अकाल की स्थिति उत्पन्न होने की संभावना है।" यहाँ 'दम भरना' मुहावरे का बिल्कुल अशुद्ध और उल्टा प्रयोग हुआ है। लेखक महोदय संभवतः कहना तो यह चाहते थे कि प्रान्तीय सरकार डर रही है कि कहीं इस प्रान्त में भी ऐसी स्थिति उत्पन्न न हो जाय; किन्तु मुहावरेदारी का दम भरने के कारण बे-सिर-पैर का ऊटपटांग लांछन प्रान्तीय सरकार के मत्थे उन्होंने मंढ़ दिया है। जो लोग 'दम भरना' मुहावरे के व्यवहार-सिद्ध लौकिक अर्थ को ठीक ठीक जानते हैं, वे तो उसे पढ़कर पत्रकार महाशय की बुद्धि पर मरसिया पढ़े बिना नहीं रह सकेंगे। और देखिए—

'उसके कदम आगे बढ़ने से सहम जाते थे', 'उसका सिर चक्कर काटता था', 'तिस पर तुक्का यह कि उल्टे बंगाल-सरकार पर तोहमत लगाई जाती थी', 'किसीसे उलझने की धुन उसमें चढ़े', आलोचना के लिए एक पुस्तक की पांडुलिपि देखने को हमें मिली थी। उसमें एक शीर्षक था—'आत्महत्या का महत्त्व'। ऊपर दिये हुए उदाहरणों की आलोचना न करके हम केवल उन्हें शुद्ध करके छोड़ देंगे। दोनों रूपों को देखने से कहाँ और क्या अशुद्धि है, स्वयं स्पष्ट हो जायगी। 'सहमना' आदमी के लिए आता है, कदम के लिए नहीं; इसलिए शुद्ध प्रयोग 'वह आगे कदम बढ़ाने में सहमता था, या कदम आगे बढ़ाने के समय वह सहम जाता था' होगा। इसी प्रकार दूसरे उदाहरणों के क्रमशः ये शुद्ध रूप होंगे, 'उसका सिर चकरा रहा था, या उसके सिर में चक्कर आ रहा था', 'तिस पर तुर्रा यह.........', 'किसी से उलझने की धुन उन्हें सवार हो' तथा 'आत्महत्या का दोष या पाप अथवा प्रचलन' ऐसा कोई प्रयोग शिष्ट-सम्मत हो सकता था।

भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों में ऐसे दूषित प्रयोगों की भरमार देखकर जब हम ठंढे दिल से, विचार करते हैं कि ऐसा क्यों होता है, तो मुहावरों के क्षेत्र में हमारा दिवालियापन ही हमपर हँसकर बोल उठता है—'कविराज जी, पहले अपने को चंगा कर लीजिए'[1], फिर

---

१. 'O physician ! heal thyself first'

दूसरों की ओर देखिए। सचमुच मुहावरों की दृष्टि से आज भी हमारे साहित्यागार में चूहे कलाबाजी खाते हैं। हमारे पास एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है, जिसे जनता के पास छोड़कर मुहावरों की ओर से हम निश्चिन्त हो जायँ। मुहावरों के आलोचनात्मक अध्ययन की तो बात छोड़िए, उनके स्वरूप और अर्थ का ठीक-ठीक पता चलाने के लिए भी आज हमारे पास पर्याप्त साधन नहीं हैं। बिना किसी प्रामाणिक पुस्तक को सर्वसाधारण के सामने रखे, यह आशा करना कि वे स्वयं साहित्य वारिधि में गोते लगाकर मुहावरा-रत्न निकालें और फिर उनका प्रयोग करें. ऐसा ही है जैसा हनुमान जी के स्थान में स्वयं मूर्च्छित लक्ष्मण को संजीवनी बूटी लाने की सलाह देना होता।

भाषा के क्षेत्र में तो आज हमारी ऐसी हालत हो गई है कि न तो अपने साहित्य की अतुल धनराशि का हमें कुछ ज्ञान है और न अपनी भाषा की प्रकृति-प्रवृत्ति का। फिर आज का युग मुहावरों का युग है, हर कोई चाहता है कि छोटे या बड़े अपने किसी भी लेख या वक्तव्य में मुहावरों के पुल बाँध दे। फल यह होता है कि वह भूखे बंगाली की तरह मुहावरों के लिए हमेशा मुँह फैलाये रहता है, जहाँ कहीं कुछ उसे दिखाई पड़ता है, उसकी आँखें चौंधिया जाती हैं और वह शुद्ध-अशुद्ध, व्यवस्थित-अव्यवस्थित अथवा देशी विदेशी की कुछ भी परवा न करके, दोनों हाथों से नोंच-खसोट कर, जितना हो सके मुँह में भरने के लिए उसपर टूट पड़ता है। 'अभाव में शुद्ध और अशुद्ध नहीं देखा जाता'—जितना सत्य इस कथन में है, उतना ही सत्य 'शुद्ध के रहते कोई अशुद्ध ग्रहण नहीं करता' इस उक्ति में भी है।

मुहावरों में अध्याहरणीय शब्दों का प्रयोग

भाव-प्रकाशन की दृष्टि से भाषा का क्षेत्र बहुत संकुचित और सीमित है। हम जितना कुछ सोचते, देखते और अनुभव करते हैं, उन सबको शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते। 'प्लेटो' भी अन्त में इसी निर्णय पर पहुँचा था कि 'आत्मा को स्वयमेव किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, किन्तु इस ज्ञान को भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता।' आज भी लोग चित्रकला और संगीत आदि अवाचिक कलाओं से तुलना करते हुए, भाषा की अयोग्यता दिखाकर, प्रायः उसकी बुराई किया करते हैं। किसी भी भाषा में यथार्थ रूप में किसी भाव को व्यक्त करना सदैव असम्भव होता है। शब्दों के द्वारा जितना कुछ व्यक्त होता है, पूरी बात समझने के लिए उससे कहीं अधिक प्रसंग और संदर्भ के आधार पर स्वयं समझना पड़ता है। इस दृष्टि से सारी भाषा में किसी-न-किसी रूप में कुछ-न-कुछ अर्थ-पूरक शब्द प्रायः सर्वदा लुप्त रहते हैं तो यह अत्युक्ति या अतिशयोक्ति न होगी। किन्तु उन लुप्त अर्थ-पूरक शब्दों की सर्वथा पूर्ति करना मानव शक्ति के बाहर की बात है। अतएव ईशोपनिषद् के 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यचिद्धनम्'; अर्थात्, उसने जो कुछ दिया है, उसी का भोग करके सन्तुष्ट रह, दूसरों के धन की इच्छा मत कर। इस दिव्य उपदेश को ग्रहण करके भाषा की इस कमी से क्षुब्ध या असन्तुष्ट नहीं होना चाहिए, यह अभाव मिटनेवाला नहीं।

मुहावरों में तो अर्थपूरक शब्दों की यह कमी और भी अधिक होती है। उनमें तो गागर में सागर भरा होता है। इसलिए कमसे-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक अर्थ को व्यक्त करने की चामत्कारिक शक्ति ही उनका विशेष गुण माना जाता है। मुहावरों की विशेषताओं पर विचार करते समय आगे के अध्यायों में जैसा हम बतलायेंगे, मुहावरों में भाषा, व्याकरण तथा तर्क के नियमों का भी कोई विशेष बंधन नहीं रहता। अतएव बहुत कम ऐसे मुहावरे मिलते हैं, जिनकी वाक्य-रचना साधारण भाषा की दृष्टि से भी पूर्ण हो। कुछ-न-कुछ अर्थ-पूरक शब्द प्रायः सदैव

गायब रहते ही हैं। हाँ, यह उनकी एक दूसरी विशेषता है कि उसमें शब्दों का लोप खलता नहीं है, और न अर्थ समझने में ही उसके कारण कोई कठिनाई होती है।

पीछे कहा जा चुका है कि प्रत्येक मुहावरा एक इकाई[1] होता है। वह भाषा की दृष्टि से अपने में ही पूर्ण होता है। उसकी शब्द-योजना में किसी प्रकार का शाब्दिक न्यूनाधिक्य करना नियम-विरुद्ध माना गया है। लुप्त अर्थ-पूरक शब्दों की पूर्ति का अर्थ है शाब्दिक आधिक्य, जो मुहावरे के नियमों के अनुसार सर्वथा वर्जित और निषिद्ध है। अतएव किसी मुहावरे में उसके लुप्त अर्थ-पूरक शब्दों की कमी को आवश्यक और उपयुक्त शब्दों से भी पूरा नहीं कर सकते। अब कुछ उदाहरण लेकर देखेंगे कि इस प्रकार की शब्द-पूर्ति से उनकी मुहावरेदारी पर क्या प्रभाव पड़ता है—

'अंग धरना', 'अपनी-अपनी गाना', 'आवाज कसना', 'आस्तीन चढ़ाना', 'उँगली काटना', 'उँगली लगाना', 'ओस पड़ना', 'कंधा देना', 'कच्चे घड़े की चढ़ना', 'काला भुजंग', 'कुत्ता काटना', 'गोद भरी रहना', 'घर करना', 'घी खिचड़ी होना', 'चिड़िया का दूध', 'छाती छलनी होना', 'पट्टी पढ़ाना', 'बालू की भीत', 'लाल अंगारा होना', 'सिर धरना' इत्यादि मुहावरों में लुप्त अर्थ-पूरक शब्दों को जोड़ने से उनके क्रमशः यह रूप हो जायेंगे— 'अंग पर धरना', 'अपनी-अपनी बात गाना' 'बुरी आवाज कसना', 'लड़ने के लिए आस्तीन चढ़ाना', आश्चर्य से उँगली काटना', 'मारने को उँगली लगाना', 'ओस-सी पड़ जाना' इत्यादि-इत्यादि।

ऊपर के मुहावरों में अर्थ-पूरक शब्दों के जोड़ने से जो रूप बने हैं, उनमें भाषा का वह चमत्कार, जिसे देखकर पाठक नाच उठते, सर्वथा लुप्त हो गया है। उनके लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का स्थान अभिधेयार्थ ने ले लिया है। संक्षेप में मूल और परिवर्तित मुहावरों के इस भेद को एक मदारी का रूप लेकर यों कह सकते हैं कि जहाँ मूल मुहावरों में वह अपने हस्तलाघव और गुप्त रीति से रुपया बनाकर आपको आश्चर्य- चकित कर देता था, अब सीधे-सीधे अपनी जेब से रुपया निकालकर आपके सामने फेंक देता है। रुपया तो दोनों प्रकार से आपके सामने आ जाता है; किन्तु कला-चातुर्य और सफाई का जो प्रभाव मुहावरे में पड़ता था, वह मुहावरेदारी खोकर नहीं। अतएव मुहावरों में शब्दों की कमी को पूरा करना ठीक नहीं है।

मुहावरों का शब्दानुवाद और भावानुवाद

आज जब साहित्यिक-संसार में चारों ओर एक भाषा के ग्रन्थों को अनेक भाषाओं में अनुवाद करने की धूम मची है—कोई मार्क्स और एञ्जिल्स का अनुवाद हिन्दी में कर रहा है, तो कहीं रामायण और महाभारत का रूसी भाषा में भाषान्तर हो रहा है—मुहावरों के अनुवाद अथवा अनुवादित मुहावरों की मुहावरेदारी इत्यादि भाषा के विशिष्ट अंगों पर विचार करने से पूर्व किसी भाषा के अनुवाद में आनेवाली समस्त संभावित कठिनाइयों पर एक निगाह डाल लेना सर्वथा सामयिक और श्रेयस्कर मालूम होता है। भाषान्तर के जो नियम सम्पूर्ण भाषा पर लागू होते हैं, वही मुहावरों पर भी लागू होंगे, इसलिए सर्वप्रथम स्वयं भाषान्तर के समस्त पहलुओं पर ही हम इस प्रकरण में विचार करेंगे।

अनुवाद की समस्या पर भाषा के प्रायः सभी विद्वानों ने समान रुचि के साथ विचार किया है। इस विषय में उनकी उलझनें और कठिनाइयाँ भी प्रायः समान हैं। किसी भाषा में उसके किस अंग अथवा पक्ष का दूसरी भाषाओं में अनुवाद हो सकता है और किसका नहीं, भाषा के पंडितों ने काफी अध्ययन और मनन के पश्चात् इन समस्याओं को हल करने के लिए अनुवाद के कुछ

१. Unit

नियम बना लिये हैं। अनुवाद और उसके सम्बन्ध में स्थिर किये हुए सिद्धान्तों पर दृष्टि डालने से शब्द-संकेतों अथवा भाषा के द्वारा भाव-प्रकाशन के महत्त्व की बात और भी स्पष्ट हो जाती है। इसलिए मुहावरों के अध्ययन में भी उससे पर्याप्त सहायता मिलेगी।

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अनुभूतियों, विचारों एवं कल्पनाओं को शीघ्रातिशीघ्र दूसरों पर व्यक्त कर देना चाहता है। यों तो दूसरे प्रकार और दूसरे साधनों से भी यह काम हो सकता है; किन्तु सरल और सुबोध व्यक्तीकरण केवल भाषा के द्वारा ही हो सकता है। यदि ऐसा कहें कि हम जो कुछ अनुभव करते हैं, देखते अथवा सोचते हैं, उसे दूसरों पर व्यक्त करने के लिए ही भाषा का जन्म हुआ है, तो अनुचित न होगा। नाम से पहले नामी की सृष्टि होती है। 'घोड़ा' शब्द से पहले वह चतुष्पद प्राणी, जिसे हम घोड़ा कहते हैं, संसार में आया है। किन्तु फिर भी (घोड़े की अनुपस्थिति में) दूसरों को उसका ज्ञान कराने के लिए शब्द-साधन की शरण लेनी पड़ती है। अतएव भाषा ही भाव-प्रकाशन का सबसे अधिक स्पष्ट और और सरल साधन है। भाव-प्रकाशन और भाषा के व्यवहार पर विचार करते हुए ओजन (Ogden) और रिचर्ड्स कहते हैं—

"बातचीत अथवा भाषा व्यवहार, किन्हीं लाक्षणिक संकेतों के इस प्रकार प्रयोग करने को कहते हैं कि उनके द्वारा सुननेवाले के मन में निर्दिष्ट पदार्थों का पूर्णतया प्रासंगिक रूप में ठीक वैसा ही चित्र अंकित हो जाय, जैसा कहनेवाले के मन में है[१]।" वास्तव में भाषा की सफलता का रहस्य इसी में है कि कहने और सुननेवाले दोनों का मन समान भूमिका में पहुँच कर समान अनुभव करने लगे। किसी ने कहा—'पद्मा तो गऊ है।' बस, सुननेवाले ने कहनेवाले की विचार-भूमिका में पहुँचकर समझ लिया कि पद्मा बहुत सीधी लड़की है। इतना ही नहीं, यदि वह पद्मा को जानता है तो उसकी आँखों के सामने पद्मा का वैसा ही भोला-भाला चित्र भी आ जायगा, जिसकी कल्पना करके कहनेवाले ने उसे 'गऊ' कहा था। सारांश यह कि कहनेवाला किसी बात को जिस प्रसंग में और जिस आशय एवं उद्देश्य से कहे, सुननेवाला ठीक उसी अर्थ में प्रस्तुत विषय को ग्रहण कर ले, इसी में भाषा की सफलता है।

शाब्दिक संकेत सदैव स्वभावतया मुख्य और गौण अथवा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दो लक्ष्यों की ओर निर्देश करते हैं। किसी ने कहा—'घोड़ा लाओ।' यहाँ प्रत्यक्ष रूप में तो 'घोड़ा' शब्द से अभिप्राय किसी भी उस चतुष्पद जानवर से है, जिसे लोग घोड़ा कहते हैं; किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से यह शब्द एक विशिष्ट घोड़े की ओर निर्देश करता है। एक प्रकार से सारी भाषा ही लाक्षणिक होती है और लाक्षणिक भाषा में किसी वाक्य के लक्ष्य की दृष्टि से प्रस्तुत और अप्रस्तुत—दो स्पष्ट क्षेत्र होते हैं। सूरदास की गोपियों का प्रत्यक्ष लक्ष्य तो भ्रमर है; किन्तु उलाहनों और उपालम्भों की बौछार बेचारे उद्धवजी के ऊपर हो रही है। 'भ्रमरगीतसार' को कवि की अनुभूतियों के रूप में समझने के लिए जिस प्रकार उसके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष—दोनों अर्थों को समझना अत्यन्त आवश्यक है, उसी प्रकार किसी वक्ता, लेखक या कवि के किसी वाक्य को, विशेषतया अनुवाद करते समय, उसके प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष—दोनों रूपों पर समान दृष्टि रखकर समझना चाहिए। किसीने कहा—'ओम्प्रकाश गधा है।' अब इसका विरोध करते हुए यदि कोई कहे—'ओम् प्रकाश गधा नहीं, आदमी है' तो वास्तव में बात तो दोनों की एक ही विषय में है; किन्तु प्रसंग भिन्न हैं। कहना न होगा कि वे दोनों अलग-अलग भाषाओं में बातचीत कर रहे हैं, जबतक दोनों की भाषाएँ एक-दूसरे में अनुवादित नहीं हो जातीं, दोनों एक दूसरे की बातचीत नहीं समझ सकते। अतएव किसी वाक्य का ठीक-ठीक अभिप्राय समझने के लिए उसमें

१. लेंग्वेज एण्ड रियलिटी, पृष्ठ २४३

निर्दिष्ट वस्तु या व्यापार के साथ ही उसके प्रसंग का भी ठीक-ठीक ज्ञान होना आवश्यक है। श्रोता और वक्ता जबतक समान भूमि पर पहुँचकर किसी कथन की प्रेरणा देनेवाली पूर्व-कल्पना को समान रूप से ग्रहण नहीं कर लेते, एक-दूसरे का अभिप्राय नहीं समझ सकते।

अनुवाद की बात छेड़ने से पूर्व भाषा और विशेषतया मुहावरों की चमत्कार शक्ति पर एक उड़ती हुई निगाह डाल लेना असंगत न होगा। भाषा-शास्त्र के मनीषी विद्वान् उसकी, सूत्र रूप छोटे-छोटे वाक्यों में महान् अर्थ भर देने की दृष्टि से गागर में सागर भर देने की, अपूर्व शक्ति को ही उसका सबसे बड़ा चमत्कार मानते हैं। सन् १६४२ ई० की महान् ऐतिहासिक क्रान्ति के सूत्रधार महात्मा गांधी ने जनता के कान में 'करो या मरो' का सिद्ध मंत्र फूँककर उसका श्रीगणेश किया था। इस छोटे-से वाक्यांश के शब्दार्थ को और फिर अपने जीवन के द्वारा सन् १६४३ ई० से अपने अवसान-काल तक उन्होंने इस सूत्र की जो व्याख्या की—दोनों को देख जाइए। बंगाल और बिहार में उन्होंने जो कुछ भी किया, उन्हींके शब्दों में वह सब 'करो या मरो' इसी मंत्र की व्याख्या और चमत्कार है। भाषा सांकेतिक होती है, उसके द्वारा जितना कहा जाता है, उससे कहीं अधिक समझा जाता है। भाषा को यदि स्पष्ट ध्वनियों तक ही सीमित कर दें और किसी वाक्य को सुनकर उसके शब्दार्थ के अतिरिक्त जो अर्थ उसमें निहित रहता है अथवा उसे सुनकर जिसकी सहज कल्पना हो जाती है, उसे छोड़ दें, तो हमारा काम ही न चले। साहित्य को छोड़िए, जीवन के साधारणतम व्यापारों में भी आटे-दाल का भाव मालूम हो जाय, दो आने का साग खरीदना हो तो दो घंटे हर बात को अलग-अलग शब्दों में व्यक्त करते-करते पैरों में चींटियाँ चलने लगें और पेट में चूहे कूदने लग जायँ। बातचीत में आदान-प्रदान तो निस्सन्देह स्पष्ट व्यक्त ध्वनियों का ही होता है। किन्तु भाषा के चमत्कार के कारण वक्ता और श्रोता इन ध्वनियों से जो कुछ समझते थे, वह परस्पर स्वीकृत और प्रमाणित हो जाता है। भाषा में, अनुवाद की दृष्टि से खासकर, वक्ता या लेखक के अंतर्निविष्ट आशय और उद्देश्य का उसकी स्पष्ट ध्वनियों से कम महत्त्व नहीं होता।

भाषा की शक्ति और चमत्कार का आवश्यक विवेचन कर लेने के उपरान्त अब हम मुहावरों की दृष्टि से उसके अनुवाद के प्रश्न पर विचार करेंगे। अनुवाद की समस्या जितनी जटिल है उसका क्षेत्र भी उतना ही विस्तृत है। श्री वोजलर (Vossler) मानते हैं कि "किसी व्यक्ति की बात सुनना और समझना मात्र उसके आशय को अपने आशय में अनुवादित करना है[1]।" श्री वोजलर की इस परिभाषा के अन्तर्गत तो किसी वाक्य के न केवल एक भाषा से दूसरी भाषा में अथवा उसकी विभिन्न विभाषाओं और बोलियों में शब्दानुसार भाषान्तर और भावानुवाद ही आते हैं; बल्कि उसी भाषा में 'वाक्य' के प्रसंग को बदलकर उसका अर्थ करना भी उस (अनुवाद) के अंतर्गत आ जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में हम मुहावरों के एक भाषा से दूसरी भाषा में तथा एक ही भाषा की विभिन्न विभाषाओं में अनुवाद करने के प्रश्न पर विचार करेंगे।

मुहावरों का अनुवाद दो रूपों में हो सकता है—१. मुहावरे का मुहावरे के रूप में अनुवाद; २. मुहावरे का साधारण वाक्य के रूप में अनुवाद। मुहावरे के मुहावरा-रूप अनुवाद पर विचार करने से पहले साधारण वाक्य के रूप में उसके अनुवाद पर विचार करेंगे। एक मुहावरे का साधारण वाक्य के रूप में अनुवाद करने तथा एक साधारण वाक्य का साधारण वाक्य के रूप में अनुवाद करने में भी अन्तर है। 'राम के दो आँख हैं' और 'राम की आँख लग गई'—इन दो वाक्यों में पहला एक साधारण वाक्य है और दूसरे में 'आँख लगना' मुहावरे का प्रयोग हुआ है। यदि इन दोनों वाक्यों का अँगरेजी में अनुवाद करना हो। तो जहाँ पहले वाक्य का 'Ram has two eyes' कहकर छुट्टी मिल जाती है, वहाँ दूसरे वाक्य में 'Ram is asleep or Ram

१. Language and Reality; पृ० २३५

fell in love with' इन दोनों में किसे रखें, बिना प्रसंग का पता चलाये कोई अनुवादक निश्चय नहीं कर सकता। साधारण वाक्य में जहाँ प्रायः उसके शब्दों के द्वारा व्यक्त अर्थ से काम चल जाता है, मुहावरों में उनके अभिप्रेत अर्थ की थाह लिये बिना किसी तरह भी काम नहीं बन सकता। अतएव साधारण वाक्य अनुवाद की सर्वप्रथम सीढ़ी है।

किसी वाक्य का अनुवाद, शब्दानुसार भाषान्तर अथवा भावानुवाद—इन दो रूपों और एक भाषा से दूसरी भाषा अथवा एक ही भाषा की विभिन्न विभाषाओं—इन दो रचना-क्षेत्रों में हो सकता है। किसी वाक्य का भावानुवाद, वह एक भाषा से दूसरी भाषा में हो अथवा अपनी ही किसी विभाषा में, जितना सरल और सुगम होता है, उतना शब्दानुसार भाषान्तर नहीं। इतिहास, भूगोल, गणित अथवा विज्ञान-सम्बन्धी कतिपय ग्रन्थों का थोड़ा-बहुत शब्दानुसार भाषान्तर भले ही हो जाय; किन्तु साहित्यिक क्षेत्र में तो इसके आधार पर एक कदम भी आगे बढ़ना टेढ़ी खीर है। फिर एक भाषा से दूसरी भाषा में शब्द-प्रति-शब्द अनुवाद करना तो कभी-कभी नितान्त असंभव ही हो जाता है। 'मुझे दस्त आ रहे हैं' यह हिन्दी का एक वाक्य है। यदि अँगरेजी में इसका शब्द-प्रति-शब्द अनुवाद किया जाय, तो कहेंगे—Hands are coming to me; चूँकि दस्त का अर्थ हाथ भी होता है। अब इस भाषान्तर को मूल से मिलाकर देखिए।

जैसा हम पहले भी कई बार कह चुके हैं, शब्दों का मूल्य उसी समय तक रहता है जबतक वे किसी वस्तु, व्यापार या भाव का प्रतिनिधित्व करते हैं, अन्यथा अपनेमें उनका कोई मूल्य नहीं है। अतएव किसी वाक्य के अनुवाद का मूल्य उसी समय तक रहता है, जबतक वह मूल वाक्य के अर्थ को नहीं छोड़ता। 'Hands are coming to me' या 'My hands are coming down' अँगरेजी के इन दो वाक्यों को हम 'मुझे दस्त आ रहे हैं' हिन्दी के इस वाक्य का अनुवाद नहीं कह सकते। अब हम, किसी वाक्य का शब्दानुसार भाषान्तर करने में क्या कठिनाई होती है, संक्षेप में इसका उल्लेख करेंगे।

अँगरेजी और गुजराती में लिखे हुए बापूजी के लेखों का 'हरिजन-सेवक' के लिए हिन्दी में अनुवाद करते समय हम बराबर यह अनुभव किया करते थे कि अँगरेजी से हिन्दी में अनुवाद करना जितना कठिन है, गुजराती से हिन्दी में करना नहीं। अपने इस अनुभव के आधार पर इतना तो हम कह ही सकते हैं कि एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करने में जितनी कठिनाई होती है, उतनी एक ही भाषा की किसी विभाषा में करने में नहीं। इसका मुख्य कारण तो दो भिन्न-भिन्न भाषाओं, जैसे—हिन्दी और अँगरेजी, इनकी अपनी विचित्र वाक्य-रचना है, विभाषाओं की वाक्य-रचना में प्रायः कोई भेद नहीं होता। दूसरी और सबसे बड़ी कठिनाई जो किसी वाक्य के शब्दानुसार भाषान्तर में पड़ती है, वह किसी भाषा में दूसरी भाषा के अधिकांश शब्दों के समानार्थक शब्दों का अभाव है। कभी-कभी उपयुक्त शब्द न मिलने पर नये शब्द गढ़कर अनुवाद किया जाता है, जिसके कारण अनुवाद में कृत्रिमता आ जाती है। उसमें न तो मूल-वाक्य का ओज रहता है और न भाषा की सरलता और चलतापन।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें, तो एक भाषा के किसी वाक्य का दूसरी भाषा में शब्द-प्रति-शब्द भाषान्तर कभी हो ही नहीं सकता। मोटे तौर पर प्रकृति द्वारा प्राप्त वस्तु और उनके व्यापारों की ओर संकेत करनेवाले शब्द प्रायः सभी उन्नत भाषाओं में मिल जाते हैं, किन्तु किसी भाषा का साहित्य उन्हीं गिने-चुने शब्दों तक तो सीमित रहता नहीं कि हिन्दी के 'गाय' शब्द की जगह 'cow' और सींग की जगह 'horns' इत्यादि शब्द-परिवर्त्तन करके 'गाय के दो सींग होते हैं' हिन्दी के इस वाक्य का चटपट 'The cow has two horns' यह अँगरेजी-अनुवाद कर दें। उसमें तो 'निराला' और 'पंत' की उड़ान तथा 'प्रसाद' और प्रेमचन्द के अपने-अपने आदर्श भी सम्मिलित

रहते हैं। उन सबके लिए अन्य भाषाओं में समानार्थक शब्द कहाँ से मिल सकते हैं। अहिंसा के लिए हम आज अँगरेजी में 'Non-violence' शब्द का प्रयोग करते हैं, किन्तु क्या अँगरेजी के किसी भी कोष में 'Non-violence' का उतना और वैसा व्यापक अर्थ किया है, जैसा हमारे आचार्यों ने अहिंसा का किया है ? यदि नहीं, तो फिर यह सच्चा अनुवाद कहाँ हुआ ?

पाश्चात्य विद्वानों में श्री ओजन (Ogden), रिचर्ड्स (Richards), वोजलर (Vossler) प्रभृति विद्वान् भी थोड़े बहुत हेरफेर के साथ सेपीर (Saper) का अनुमोदन करते हुए अनुवाद की दृष्टि से भाषा के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दो रूप बतलाकर किसी वाक्य को 'भाषा का अप्रत्यक्ष अंग, अर्थात् अन्तर्ज्ञान द्वारा प्राप्त अनुभूति की स्मृति' तथा दी हुई भाषा की विशिष्ट रचना अर्थात् अनुभूति के प्रमाण का विशिष्ट साधन' इन दो दृष्टियों से आँकते हैं। श्री डब्ल्यू० एम्० अरबन अपनी पुस्तक 'भाषा और वास्तविकता' (Language and Reality) के पृष्ठ ७३८ पर सेपीर के इस कथन की टीका करते हुए लिखते हैं—

"सेपीर ने, जहाँ तक साहित्यिक वर्णन का सम्बन्ध है, इस (अनुवाद की) समस्या को हल करने का प्रयत्न किया है। वह किसी वाक्य के अर्थ की दृष्टि से दो रूप या क्षेत्र, जो कि एक-दूसरे में बिल्कुल घुले-मिले रहते हैं, मानता है, जिनमें से एक बिना किसी प्रकार की क्षति के किसी दूसरी भाषा में अनुवादित हो सकता है, दूसरा नहीं।" ओजन और रिचर्ड्स ने इसे बिल्कुल ही सरल कर दिया है, शब्दों के किसी भी शुद्ध सांकेतिक अर्थ को (सांकेतिक से यहाँ अभिप्राय शुद्ध अभिधेयार्थ से है)—"यदि दोनों भाषाओं के कोषों में शब्दों के सांकेतिक भेद-प्रभेद समान रूप से स्थिर हो चुके हैं, तो एक भाषा से दूसरी भाषा में भाषान्तर करके पुनः रख सकते हैं। अन्यथा या तो अन्य शब्दों में उसका विवरण देंगे और या नये संकेत ढूँढने पड़ेंगे, मूल शब्दों से जिनकी अनुरूपता की छान-बीन करनी होगी।" इसके विरुद्ध जहाँ मनोवेगों की प्रधानता होती है, वहाँ 'दो भाषाओं' के शब्दों को एक रूप करना शब्द-प्रति-शब्द भाषान्तर करना और भी कठिन हो जाता है।

भाषा के पंडितों के लिए साधारण तौर से यह समस्या उतनी सरल नहीं है। कुछ ऐसे प्रश्न भी उनके सामने आ जाते हैं, जिनपर अभी तक किसी ने विचार ही नहीं किया है। उनमें से मुख्य यह है कि विज्ञान से परे साहित्य में भी कुछ ऐसे रूप हैं, जैसे—प्रेमचन्द के उपन्यास अथवा 'राय' के नाटक, जिनका यत्र-तत्र थोड़ा-बहुत अन्तर करने पर शब्दानुसार भाषान्तर हो सकता है, किन्तु साथ ही 'प्रसाद' की 'कामायनी'-जैसे साहित्य के कुछ ऐसे भी अंग हैं, जिनका इस दृष्टि से अनुवाद हो ही नहीं सकता।

प्रायः प्रत्येक भाषा में, वह कितनी भी उन्नत क्यों न हो जाय, अपनी जन्मदात्री मूल भाषा के कुछ-न-कुछ प्रयोग बराबर चलते ही रहते हैं। मुहावरों में तो खास तौर से ऐसे लुप्तप्राय शब्द भी गुँथे रहते हैं, जिनका अन्य भाषाओं में तो क्या, अपनी भाषा में ही कोई समानार्थक शब्द मिलना असंभव-सा हो जाता है। शब्द और अर्थ की इस आँख-मिचौनी के दृश्य यों तो आज के अधिकांश लेखकों में मिल जायेंगे; क्योंकि ये लोग प्रायः अँगरेजी में सोचकर हिन्दी में लिखते हैं। किन्तु इंगलिश-हिन्दी-कोष इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। किसी अँगरेजी-शब्द के हिन्दी समानार्थक शब्द को देखिए और फिर दोनों शब्दों के मूल कोषों में उनके अर्थ देखकर मिलाइए, आपको प्रायः सब अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के ही उदाहरण मिलेंगे।

प्राचीन भाषा अथवा भाषाओं के शब्द और मुहावरों का उन्नत अथवा अर्वाचीन भाषा या भाषाओं में शब्दान्तर करना अत्यन्त कठिन होता है ; क्योंकि एक ओर तो प्राचीन भाषाओं और उनके विकसित रूपों में समय का भारी अन्तर और दूसरी ओर शब्दों के मूल अर्थ में भारी

परिवर्त्तन अनुवाद की कल्पना को कुंठित करके उसकी दृष्टि को अति संकुचित और सीमित बना देते हैं। जिस 'प्रसन्न' शब्द के प्राचीन साहित्यिकों ने पम्पा के जल के प्रसंग में शुद्ध, निष्कपट और निश्छल आदि अर्थ किये थे, आज अनुवाद की तंग कोठरी में डालकर लोगों ने उसे खुश और Happy का समानार्थक बना डाला है। गीता के 'अपर्याप्त' और 'पर्याप्त' शब्दों की भी इसी प्रकार मिट्टी पलीद की गई है। गीता में आया है—

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥

गीता में 'पर्याप्त' का अर्थ सीमित और अपर्याप्त का अर्थ असीम और अजेय किया गया है. किन्तु आजकल उसका अर्थ 'काफी' और 'नाकाफी' की जगह होता है। शब्दानुसार भाषान्तर की पोल देखनी है, तो ऊपर के श्लोक में 'काफी' और 'नाकाफी' शब्दों को रखकर अनुवाद कीजिए। दोनों में कैसा आकाश-पाताल का अन्तर है, स्पष्ट हो जायगा।

मुहावरों का अनुवाद करते समय इन सब कठिनाइयों के साथ दो बड़ी कठिनाइयाँ और अनुवादक के सामने आती हैं—पहले तो इन वाक्यों की व्याकरण-सम्बन्धी गठन का कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं होता, तर्क अथवा न्याय और भाषा के साधारण नियमों का भी कभी-कभी वे उल्लंघन कर जाते हैं। इनमें प्रायः शब्दों के विशिष्ट स्थिति-क्रम और प्रसंग के द्वारा अति सरल वाक्यों में महान् अर्थ भर देने की अपूर्व शक्ति होती है। दूसरी कठिनाई इनके शब्दार्थ और अभिप्रेत अर्थ की असम्बद्धता, जो प्रायः मुहावरों में देखने को मिलती है, के कारण पड़ती है। 'पानी-पानी होना' एक मुहावरा है। यदि इसके शब्दार्थ के सहारे अँगरेजी में 'To be water water' इसका अनुवाद करें, तो पढ़नेवालों की आँखों से अंगारे बरसें या खून, बेचारा अनुवादक तो शर्म के मारे पानी-पानी हो ही जाय। ऐसी स्थिति में उनका किसी दूसरी भाषा में शब्दानुसार भाषान्तर करना संभव नहीं।

मुहावरों में, जैसा आगे के अध्यायों में बतायेंगे, किसी देश की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था, वहाँ के रहनेवालों के स्थानीय धार्मिक विश्वास और धारणाएँ, रीति-रिवाज तथा भिन्न-भिन्न संस्कार और पर्वादि अनुष्ठानों के विधि-विधान की सूचना देनेवाले, बहुत-से ऐसे शब्द रहते हैं, जिनकी दूसरी भाषाओं को कभी हवा भी नहीं लगती। अतएव, ऐसे मुहावरों के अनुवाद के संबंध में अति संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि उनका यथाक्रम और यथार्थ अनुवाद नहीं हो सकता। 'हाथ पीले होना', 'मौर बाँधना', 'भट्ठी में लात मारना', 'चूड़ियाँ तोड़ना', 'सिन्दूर पुतना', 'राम-नाम सत्य होना' इत्यादि इत्यादि मुहावरों का दूसरी किसी भाषा में अनुवाद नहीं हो सकता। ऐसे वाक्यों का तत्कालीन और तद्देशीय सामाजिक व्यवस्था तथा रीति-रिवाज इत्यादि का अध्ययन करके भावार्थ-मात्र किसी दूसरी भाषा में समझाया जा सकता है।

कभी-कभी बहुत-से मुहावरे किन्हीं कथानकों, किंवदन्तियों अथवा प्रचलित धर्म-कथाओं के आधार पर बन जाते हैं, तो कभी कतिपय व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का जातिवाचक संज्ञाओं की तरह प्रयोग करने से बन जाते हैं। 'टेढ़ी खीर होना', 'ढपोरशंख होना', 'सोने का मृग होना', 'द्रौपदी का चीर होना', 'सुदामा के तन्दुल' तथा 'कुंभकरण होना', 'सूरदास होना', 'शिखंडी होना', 'जयचन्द होना', 'विभीषण होना', इत्यादि कथा या व्यक्ति-प्रधान मुहावरों की भी किसी भाषा में कमी नहीं होती। ऐसे मुहावरों का दूसरी भाषाओं में भावानुवाद ही सही, भाषान्तर करने से उनकी सारी परम्परा ही नष्ट हो जाती है।

अब अनुवाद की दृष्टि से हिन्दी-मुहावरों की मीमांसा करने के पूर्व, अनुवाद के विषय में अबतक हमने जो कुछ कहा है, एक-दो वाक्यों में उसका निचोड़ दे देना आवश्यक है। प्रत्येक भाषा

में अपनी कुछ साहित्यिक विशेषताएँ और विलक्षण शब्द-प्रयोग होते हैं। किसी कवि या लेखक की रचनाओं पर उसकी भाषा की प्रकृति और स्वभाव की गहरी छाप रहती है। भगवान् वेदव्यास ने जिन सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्वों का इतना रोचक और शुद्ध वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, उनकी इस सफलता में उनकी भाषा की प्रकृति और स्वभाव का कितना हाथ है, उन्हें भले ही न मालूम हुआ हो, किन्तु मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों को तो उसने खूब छकाया है।

मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये हुए वेद और उपनिषदों के कतिपय अनुवादों में जो यत्र तत्र कुछ बे-सिर-पैर की ऊँट-पटाँग बातें मिलती हैं, उसका कारण न तो उनका संस्कृत न जानना है और न मिस मेयो इत्यादि की तरह भारत को बदनाम करने का उद्देश्य। मैक्स-मूलर संस्कृत के अच्छे विद्वान् और एक ईमानदार व्यक्ति थे, दोष उनमें इतना ही था कि उन्होंने संस्कृत-भाषा को तो पढ़ा था, किन्तु उसके स्वभाव और प्रकृति को नहीं पचाया था। यही कारण है कि उनके अनुवाद प्रामाणिक नहीं हो सके। वास्तव में भाषा की प्रकृति का सच्चा स्वरूप अनुवाद करते समय ही प्रकट होता है। इस विषय में क्रोसे (Croce) का समर्थन करते हुए, इसलिए, हम यही कहेंगे कि एक भाषा की साहित्यिक विशेषताओं और विलक्षण प्रयोगों का किसी दूसरी भाषा में शब्दानुसार भाषान्तर तो क्या, यथार्थ अनुवाद भी नहीं हो सकता।

अबतक हमने मुहावरों के अनुवाद-सम्बन्धी केवल एक पक्ष, अर्थात् उनका (शब्दानुसार अथवा भावानुसार) अनुवाद हो भी सकता है या नहीं, इसी पर विचार किया है। अनुवाद के उपरान्त उनकी क्या दशा होगी, इस प्रकार अनुवादित वाक्यों की गणना मुहावरों के अन्तर्गत होगी या नहीं, इसपर विचार करना अभी शेष है। इसी अध्याय के पिछले प्रकरणों में हमने मुहावरों में किसी प्रकार के शाब्दिक परिवर्त्तन अथवा न्यूनाधिक्य को नियम-विरुद्ध सिद्ध करते हुए यह बताया है कि किसी प्रकार भी मुहावरे में कोई परिवर्त्तन करने से उसकी मुहावरेदारी नष्ट हो जाती है। वह फिर मुहावरा न रहकर साधारण वाक्य ही रह जाता है। अनुवाद में तो एड़ी से चोटी तक परिवर्त्तन हो जाता है, फिर अनुवाद के उपरान्त मुहावरा मुहावरा कैसे रह सकता है। अतएव यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि मुहावरों का मुहावरों में अनुवाद नहीं हो सकता, किसी प्रकार काम चलाने के लिए उनकी व्याख्या भले ही हो सके।

अब हम पाश्चात्य और पौर्वात्य भाषाओं के कुछ ऐसे मुहावरों की एक सूची नीचे देते हैं, जिन्हें देखकर प्रायः लोगों को उनके एक दूसरे का अनुवाद होने का सन्देह हुआ करता है, कौन किसका अनुवाद है, यह न जानते हुए भी वाक्यों की प्रायः एक-सी गठन और भाव-समता के आधार पर वे अपना निर्णय दे देते हैं। यहाँ हम फ्रेंच, इंगलिश और हिन्दी तथा फारसी और हिन्दी-भाषाओं के कुछ बिल्कुल मिलते-जुलते हुए मुहावरों की सूची देते हैं, उनकी आलोचना बाद में करेंगे—

	फ्रेंच	इंगलिश	हिन्दी
1.	Saccorder comme chien et chat.	To live a cat and dog life.	कुत्ते बिल्ली की तरह रहना।
2.	Enplein jour.	On Broad day light.	दिन दहाड़े।
3.	Il marche a pesdeloup.	He walks stealthily.	चोरों की तरह जाना।
4.	Si peu-gue rien.	Next to nothing.	नहीं के बराबर
5.	Disputer sur to pointe diene arguilla.	To split hairs.	बाल की खाल निकालना।

6. Plier bagage. — To pack up and be off. — बोरिया-बिस्तर बाँधना।

7. Rendre un homme camus. — To stop a man's mouth. — मुँह बन्द करना।

फारसी	हिन्दी
मारज़ेर काह	घास का साँप।
दस्तबचीज़े दश्तन	काम में हाथ लगाना।
गोश कुन (To give ear)	कान देना।
रोज़श सर आम्दा	दिन गिनना।

अब नीचे कुछ अँगरेजी और हिन्दी में समान रूप से चलनेवाले मुहावरों की बानगी देखिए—

अँगरेजी	हिन्दी
To throw dust in some one's eyes;	आँख में धूल झोंकना।
To slay the slain;	मरे को मारना।
To show one's teeth;	दाँत दिखाना, निपोड़ना।
To throw a veil over;	पर्दा डालना।
To lead by the nose;	नाक की सीध में जाना।

अब कुछ अरबी और हिन्दी के मुहावरे भी देखिए—

अरबी	हिन्दी
फ़ी आज़ानेहिम वक़रा	कान में रुई देना; (तेरे बहरावनि रुई है कान बीच हाय...घनानंद)
इन्नल्लाहा यालमो बेज़्ज़ातिस्सदूर	दिल की बात जानना।

ऊपर फ्रेंच, अँगरेजी और हिन्दी, फारसी और हिन्दी, अँगरेजी और हिन्दी तथा अरबी और हिन्दी भाषाओं के परस्पर मिलते-जुलते मुहावरों के जो उदाहरण दिये गये हैं, वे एक-दूसरे का अनुवाद नहीं हैं। दुनिया की प्रायः सभी भाषाओं में, खोज करने पर कुछ-न-कुछ ऐसे मुहावरे अवश्य मिल जायेंगे, जो एक-दूसरे का प्रतिबिम्ब मालूम होते हैं। मनोविज्ञान के पंडित बतलाते हैं कि देश और काल की भिन्नता होते हुए भी क्या भारतवर्ष और क्या यूरोप, अमेरिका और अफ्रीका, प्रायः सभी देशों के मनुष्यों के हृदय मानव-स्वभाव की दृष्टि से बहुत-सी बातों में एक-दूसरे के बहुत कुछ समान होते हैं। विशेष परिस्थिति या घटना-चक्र में पड़कर प्रायः सब जाति और देशों के मनुष्य किसी किसी विषय पर एक ही ढंग से सोचते, विचारते और मनन करते हैं। मानवों के दुःख-सुख से प्रभावित मानस-विकारों में भी कम समानता नहीं मिलती। अनेक अवस्थाओं में निरीक्षण-प्रणाली भी एक ही होती है। फिर चूँकि विचार-परम्परा ही मुहावरों की जननी है, इसलिए अनेक भाषाओं के अनेक मुहावरों में साम्य का होना स्वाभाविक है।

श्रीयुत रामचन्द्र वर्मा भी अपनी पुस्तक 'अच्छी हिन्दी' के पृष्ठ १६२ पर यही बात लिखते हैं— "मनुष्य की प्रकृति सब जगह प्रायः समान रूप से काम करती है, और इसीलिए अनेक भाषाओं में परस्पर मिलते-जुलते भावोंवाले मुहावरे भी पाये जाते हैं।" अनुवाद की दृष्टि से देखें, तो इस प्रकार के मुहावरों का शाब्दिक और भावानुवाद दोनों सरल है, उनमें उन कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता, जिनकी अबतक हमने चर्चा की है।

फारसी का एक मुहावरा है—'गोश कर दन', जिसका अर्थ है सुनना। कवि सौदा उसे इस प्रकार शेर में बाँधते हैं—

'कब इसको गोश करे था जहाँ में अहल कमाल'

हिन्दी में ठीक ऐसा ही एक मुहावरा है—'कान करना'। कुछ लोगों का विचार है कि 'कान करना' फारसी के 'गोश कर दन' मुहावरे का ही अनुवाद है। किन्तु उर्दू-भाषा, जिसके द्वारा फारसी और अरबी के कुछ शब्द और मुहावरे हिन्दी में आये हैं, उस समय जनमी भी नहीं थी, जबकि गोस्वामी तुलसीदास ने रामायण में 'नारि सिखावन करेसि न काना' लिखकर इस मुहावरे पर अपनी लोकप्रियता की मोहर लगा दी थी। अतएव इस प्रकार के रूप, आकार अथवा तात्पर्यार्थ में मिलते-जुलते मुहावरों को एक-दूसरे का अनुवाद न समझकर अलग-अलग भाषाओं के स्वतंत्र प्रयोग कहना ही अधिक युक्ति-युक्त और न्यायसंगत है।

किसी वाक्य के एक भाषा से दूसरी भाषा अथवा उसीकी किसी विभाषा में अनुवाद करने की समस्या पर विचार करते समय अभी हमने देखा है कि कम-से-कम साहित्यिक क्षेत्र में तो अवश्य ही यदि किसी वाक्य का एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना संभव है, तो वह केवल भावानुवाद ही हो सकता है, शब्दानुसार भाषान्तर नहीं। अपने इस कथन की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए अब हम हिन्दी और अँगरेजी के कुछ मुहावरे लेकर उनका क्रमशः अँगरेजी और हिन्दी में अनुवाद करके उनकी मुहावरेदारी की परीक्षा करेंगे। शब्दानुसार भाषान्तर के कुछ नमूने देखिए—

	हिन्दी	अँगरेजी
१.	नफा-नुकसान देखना	To see profit and loss;
२.	मरना-जीना	To live and die ;
३.	उठना-बैठना	To stand and sit;
४.	ईंट-ईंट करना	To do brick brick;
	अँगरेजी	**हिन्दी**
५.	Hammer and tongs;	हथोड़ा और सड़सी
६.	Neck and Neck;	गर्दन और गर्दन

ऊपर दिये हुए हिन्दी और अँगरेजी मुहावरों के अँगरेजी और हिन्दी शाब्दिक अनुवाद को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मूल मुहावरों में समानार्थक अथवा विरोधी अर्थवाले शब्दों को साथ-साथ रखकर जिस बात को जोर देकर समझाया गया था, अनुवाद में न केवल उसका जोर ही खत्म हो गया है, बल्कि वस्तुस्थिति ही बिल्कुल बदल गई है। 'ईंट-ईंट करना' मुहावरे में प्रयुक्त 'ईंट' शब्द का वास्तव में brick अर्थ ही नहीं है, फिर अनुवाद में 'brick' रखने से कैसे काम चल सकता है? इसी प्रकार नम्बर ५ और ६ के हिन्दी-अनुवादों में अँगरेजी-मुहावरों का लक्ष्यार्थ सर्वथा लुप्त हो गया है।

हिन्दी-मुहावरों का वर्गीकरण करते समय जैसा हम आगे चलकर दिखायेंगे, बहुत-से निरर्थक और अप्रचलित शब्दों के साथ ही कतिपय स्पष्ट ध्वनियों और शारीरिक चेष्टाओं के ऐसे स्मृति-चिह्न भी हमारे मुहावरों में सुरक्षित रहते हैं, जिनके समानार्थक शब्द किसी अन्य भाषा में मिलते ही नहीं। 'ऐसी-वैसी करना', 'तिली-लिली झर होना', 'गलबल-गलबल करना', 'अण्ड का बण्ड बकना', 'कल्ला दरवाना या फिरना', 'हूँ-हाँ करना', 'सरसर चलना', 'थूक बिलोना', 'थू-थू होना' इत्यादि मुहावरों में प्रयुक्त शब्द हिन्दी-भाषा की अपनी विशेषताएँ हैं। उनका शब्द-प्रति-शब्द, किसी दूसरी भाषा में भाषान्तर नहीं हो सकता।

मुहावरों के शब्दानुसार भाषान्तर के सम्बन्ध में इसलिए संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मुहावरों में प्रयुक्त शब्दों के जो थोड़े बहुत समानार्थक शब्द दूसरी भाषाओं में मिलते भी हैं, वे मुहावरों के तात्पर्यार्थ की दृष्टि से या तो अव्याप्त या अतिव्याप्त होते हैं। अतएव मुहावरों का शब्दानुसार भाषान्तर नहीं हो सकता।

किसी मुहावरे का तात्पर्यार्थ समझने में शब्दों के अभिधेयार्थ से उनकी स्थिति, क्रम और सान्निध्य के ज्ञान की कम आवश्यकता नहीं पड़ती। 'लाल पगड़ी' को देखकर जिस प्रकार केवल उन लोगों के मन में ही भय, शंका और आतंक के असाधारण विचार आते हैं, जिन्होंने लाल पगड़ीधारी पुलिस को बराबर जनता में भय, शंका और आतंक फैलाते हुए देखा है, लाल पगड़ी का ध्यान आते ही जिस प्रकार पुलिस की अति कठोर, क्रूर और कर्कश मुद्रा उनकी आँखों के सामने नाचने लगती है, उसी प्रकार 'खील खील करना', 'कील-काँटा उखाड़ना', 'ईंट-ईंट करना' तथा 'काठ में पाँव देना' इत्यादि मुहावरों से जिनका पूर्व-परिचय है, अथवा जिन्हें, 'खील-खील, कील-काँटा' और ईंट ईंट' इत्यादि शब्दों के संयुक्त प्रयोग से वाक्य का प्रभाव कितना बढ़ जाता है, इस बात का ज्ञान है, वे और केवल वे ही ऐसे प्रयोगों को सुनकर प्रयोगकर्त्ता के मनोवेगों की तीव्रता की थाह ले सकते हैं, दूसरे लोग नहीं, जिन्होंने कभी किसी पुलिस को लाल पगड़ी पहने तथा लाल पगड़ी पहने हुए किसी व्यक्ति को जनता पर अत्याचार करते देखा ही नहीं, वह 'लाल पगड़ी' मुहावरे में पैठी हुई गंभीरता का अनुमान कैसे लगा सकते हैं। प्रत्येक मुहावरे का अपना स्वतंत्र वातावरण होता है, जिसके नष्ट होने पर वह स्वयं भी मुर्दा हो जाता है। यू० पी० तथा जहाँ-जहाँ पुलिस की वर्दी में लाल पगड़ी रहती है, वहाँ किसी अन्य प्रान्तीय भाषा अथवा किसी भी भाषा में अनुवाद करके इस मुहावरे का प्रयोग क्यों न करें, लोग इसका तात्पर्य समझ ही लेंगे। किन्तु यदि किसी ऐसे व्यक्ति के सामने, भले ही उसकी नित्य-प्रति की बोलचाल में अनुवाद करके आप इस मुहावरे का प्रयोग करें, वह आपका मुँह ही ही ताकता रह जायगा। एक ही भाषा की अन्य विभाषाओं अथवा प्रान्तीय भाषाओं में, जैसा हम आगे चलकर बतायेंगे, कितने ही मुहावरों के शाब्दिक अनुवाद मूल मुहावरों की तरह चल निकलते हैं, क्यों? इसका कारण मुहावरों के अपने वातावरण में कोई परिवर्त्तन न होना ही है, 'पैमाना पुर कर दन' फारसी का एक मुहावरा है, उर्दू के एक कवि ने इसको एक शेर में इस प्रकार बाँधा है—

> साकी चमन में छोड़ के मुझको किधर चला,
> पैमाना मेरी उम्र का ज़ालिम तू भर चला।

यहाँ 'पैमाना पुर कर दन' को 'पैमाना भरना' लिखते समय कवि की आँखों के सामने अर्थ मूल मुहावरे का ही घूम रहा था। तात्पर्य यह है कि दोनों भाषाओं की जाननेवाला कोई व्यक्ति स्वान्तः-सुखाय किसी मुहावरे का एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करके भले ही उसका मूल अर्थ ध्यान में होने के कारण मुहावरेदारी का आनन्द ले ले, किन्तु मूल मुहावरे के अर्थ से अनभिज्ञ किसी विदेशी के लिए तो उसका वह अनुवाद हास्यास्पद ही ठहरेगा।

हमने अभी पीछे देखा है कि किसी वाक्य का एक भाषा से दूसरी भाषा में यदि किसी प्रकार कम-से-कम दोष-युक्त भाषान्तर हो सकता है, तो वह केवल भावानुवाद के द्वारा ही संभव है। साहित्यिक भाषा की अपनी विशेषताओं और विलक्षणताओं को काफी आघात पहुँचने पर भी भावानुवाद के द्वारा उसका तात्पर्य समझ में आ जाता है। मुहावरे भी, जैसा बहुत-से विद्वान् मानते हैं, साहित्यिक भाषा के कुछ व्यवहारसिद्ध विशेष और विलक्षण प्रयोग ही हैं। अतएव, यहाँ उदाहरण-स्वरूप कुछ हिन्दी-मुहावरों का अँगरेजी में अनुवाद करके यह देखेंगे कि भावानुवाद से किसी मुहावरे की मुहावरेदारी पर क्या प्रभाव पड़ता है।

हिन्दी	अँगरेजी
१. दीदा दलेल समझना	Shameless;
२. फूल सूँघकर रहना	To eat very little;
३. राई-काई हो जाना	To be minced;
४. हक्का-बक्का रह जाना	To lie aghast;

५. लट्टू होना, To fall in love;
६. भूसे की आग में जलाना, To roast to death;

ऊपर दिये हुए हिन्दी-मुहावरों का तात्पर्य तो उनके सामने लिखे हुए अँगरेजी-वाक्यों से प्रकट हो जाता है, किन्तु उनका भाषा-सम्बन्धी चमत्कार नष्ट हो जाता है। 'दीदा दलेल होना', 'फूल सूँघ कर रहना' तथा 'राई काई हो जाना' इत्यादि वाक्यों में जो आलंकारिकता थी, वह उनके अनुवादित रूपों में सर्वथा लुप्त हो गई है। 'लट्टू होना' या 'भूसे की आग में जलाना' इत्यादि मुहावरों को सुनकर जो रसानुभूति होती थी, वह उनके अनुवाद को पढ़कर नहीं होती। हिन्दी का एक मुहावरा है—'गूँगे का गुड़ होना', दादू ने एक पद्य में उसे इस प्रकार बाँधा है—

केते पारिख पचि मुए, कीमति कहि न जाय
दादू सब-हैरान हैं, गूंगे का गुड़ खाय।

इस पद्य का भावार्थ तो केवल इतना ही है कि अपने अनुभवों को व्यक्त करना बहुत कठिन है। अब इस 'भावार्थ' का अनुवाद करके मूल पद्य से मिलाइए, दोनों के वातावरण और प्रभाव में आकाश-पाताल का अन्तर हो जायगा। इससे स्पष्ट है कि किसी वाक्य अथवा मुहावरे का भावानुवाद करने पर उसका तात्पर्य तो समझ में आ जाता है, किन्तु उसका भाषा-सम्बन्धी सौन्दर्य और उसके द्वारा प्राप्त होनेवाली रसानुभूति परिवर्त्तन की चक्की में पिसकर सर्वथा चूर-चूर हो जाती है।

अनुवाद-सम्बन्धी इतने कड़े नियम और प्रतिबन्धों के होते हुए भी, मुहावरों की दृष्टि से जब हम हिन्दी और उर्दू के साहित्य की छान-बीन करते हैं, तो हमें पता चलता है कि इन दोनों ने ही कभी ज्यों-के-त्यों और कभी पूर्णतया अपने रंग में रँगकर संस्कृत अथवा फ़ारसी अथवा दोनों भाषाओं के मुहावरे अपने में पचा लिये हैं। हिन्दी में चलनेवाले 'अत्र कुशलम् तत्रास्तु', 'प्रथमग्रासे मक्षिकापातः', 'नरो वा कुञ्जरो वा', 'अन्ततोगत्वा' तथा उर्दू में चलनेवाले 'रोज़े सियाह', 'रोज़े क़यामत', 'कज फ़हम' तथा 'गुल खिलाना', 'बिसमिल्लाह ही गलत होना' इत्यादि हिन्दी और उर्दू दोनों में चलनेवाले मुहावरे संस्कृत या फ़ारसी से यथातथ लिये हुए मिलते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है कि एक ही माता के स्तनों का दूध पीकर पत्नी-पुत्री दो बहनें आज राजनीति और धर्मान्धता की चपेट में आकर एक-दूसरे से अलग दो ध्रुवों की दूरी पर जा पड़ी हैं। हिन्दी अपने को संस्कृत की ओर ले जा रही है, तो उर्दू उससे और चार कदम आगे बढ़कर न केवल अरबी और फ़ारसी के तलवे चाट रही है, बल्कि 'इस्लाह जबान' की आड़ में 'कानून मतरूकात' के कोड़े फटकारती हुई युग-युगान्तरों से चले आते हुए हिन्दी शब्दों और मुहावरों को भी दरवाजा दिखा रही है। यही कारण है कि आज हिन्दी में तो फ़ारसी के पचे अपचे एक नहीं, अनेक मुहावरे मिल जायेंगे, किन्तु उर्दू में संस्कृत का तो क्या, हिन्दी का भी कोई मुहावरा अपने रूप में स्यात् ही मिले।

अनुवादित मुहावरों की जैसी बाढ़ उर्दू-साहित्य में मिलती है, हिन्दी में नहीं। हिन्दी में प्रायः उन मुहावरों को लिया गया है, जिनसे अलग होना कठिन था अथवा जिनको हिन्दी-रूप देने से अर्थ का अनर्थ होने की संभावना थी। उर्दूवालों ने तो प्रायः फ़ारसी मुहावरों को ही कभी ज्यों-का-त्यों और कभी शब्दानुवाद और भावानुवाद करके अपने साहित्य में गूँथा है। मौलाना आजाद अपनी पुस्तक 'आबे हयात' के पृष्ठ ४१ पर इस सम्बन्ध में लिखते हैं—"एक जबान के मुहावरे को दूसरी जबान में तर्जुमा करना जायज नहीं, मगर इन दोनों जबानों उर्दू और फ़ारसी में ऐसा इत्तिहाद (मेल-जोल) हो गया है कि यह फ़र्क भी उठ गया और अपने कारआमद ख़यालों को अदा करने के लिए दिल पज़ीर (हृदयग्राही) और दिलकश (चित्ताकर्षक) और पसंद मुहावरात जो फ़ारसी में देखे गये, उन्हें कभी वजिन्से और कभी तर्जुमा करके ले लिया गया।"

नीचे कुछ उदाहरण देते हैं, देखिए—

१. किसीका कब कोई रोज़े सियह में साथ देता है
कि तारीकी में साया भी जुदा रहता है इन्सा से।

२. रहा टेढ़ा मिसाले नेशे कज़ दुम
कभी कज फ़हम को सीधा न पाया।

३. आग दोज़ख़ की भी हो जायगी पानी-पानी। —ज़ौक

४. निकला पड़े है जामें से कुछ इन दिनों रक़ीब। —सौदा

५. दिल दे के जान पर अपनी बुरी बनी। —जफर

६. 'वहाँ जाये वही जो जान से जाये गुजर पहिले।

७. हर्फ़ मुझ पै आये देखिये किसके-किसके नाम से।

८. खोला बहार ने जो कुतुब खानये चमन
सौसन ने दस वरक का रिसाला उठा लिया। —रुबा

ऊपर के शेरों में 'रोज़े सियह' और 'कज फहम' (उल्टी खोपड़ी) मुहावरे फारसी से ज्यों-के-त्यों ले लिये गये हैं, इनको उसी रूप में लेना ठीक भी था; क्योंकि उनकी जगह 'काला दिन' तथा 'टेढ़ी समझवाला' इस प्रकार उनका शब्दानुसार अनुवाद करके रखने से शेरों का सौन्दर्य बहुत-कुछ नष्ट हो जाता और उनकी आलंकारिकता जाती रहती। इसी प्रकार 'आब शुदन', 'अजजामा बिरुं शुदन', 'दिल दादन', 'अज जान गुजश्तन', 'हर्फ़ आमद' इत्यादि फारसी-मुहावरों का शब्दानुसार' भाषान्तर करके क्रमशः 'पानी-पानी हो जाना', 'जामें से निकले पड़ना', 'दिल देना', 'जान से जाना और 'हर्फ़ आना' इत्यादि प्रयोग उर्दू-कवियों ने किये हैं। 'सौसने दहजबां' फारसी का एक मुहावरा है। सौसन एक फूल है। मुहावरे में उसको दहजबां (दस जीभवाला) कर देते हैं। उसकी पंखुड़ियों को देखकर ही यह कल्पना की गई है। रुबा ने नम्बर ८ में फारसी के इस मुहावरे का भावार्थ लेकर ही 'सौसन ने दस वरक का रिसाला उठा लिया' इस प्रकार इस मुहावरे को बाँधा है। स्वर्गीय 'हरिऔध' जी उर्दू-मुहावरों की मीमांसा करते हुए लिखते हैं—"उर्दू में ऐसे मुहावरे बहुत कम हैं, जिनका आश्रय भावानुवाद है। कारण इसका यह है कि अधिकतर फारसी-मुहावरे ज्यों-के-त्यों उसमें ले लिये गये हैं। जहाँ अनुवाद की आवश्यकता हुई, वहाँ इस प्रकार से उसका सफल शब्दानुवाद किया गया कि भावानुवाद पर दृष्टि डालने की नौबत ही नहीं आई। फिर भी भावानुवाद का अभाव नहीं है।"

उर्दू के सम्बन्ध में 'हरिऔध' जी का जो मत है, संस्कृत से हिन्दी में आये हुए मुहावरों पर भी वह प्रायः समान रूप से लागू होता है। 'कान लगना', 'सिर पर पाँव रखना', 'मुँह देखना', 'गले लगना' और 'मन न करना' इत्यादि हिन्दी-मुहावरे क्रमशः 'कर्णौ लगति', 'पदं मूर्ध्नि समाधत्ते', 'मुखमवलोकयसि', 'ग्रीवायां लगति' तथा 'मनः कथमपि न करोति' इत्यादि संस्कृत मुहावरों के शब्दानुसार अनुवाद ही हैं।

आज तो विशेष कर हिन्दी-समाचारपत्रों में अँगरेजी के मुहावरों का भी कभी-कभी शब्दानुसार और कभी भावानुसार अनुवाद करके प्रयोग करने की प्रथा-सी चल पड़ी है। 'नक्राश्रु', 'मूर्खों के स्वर्ग में' और 'अपना घर ठीक करना' इत्यादि 'Crocodile's tears', 'Fool's paradise' और 'To set one's house in order' इत्यादि अँगरेजी मुहावरों के शब्दानुसार भाषान्तर हैं।[1]

[1] विभिन्न समाचार पत्रों से लिये हुए उदाहरण।

इसी प्रकार 'मरे को मारना', 'पैर झाड़ना' तथा 'फूल बाग में ले जाना' इत्यादि मुहावरे[1] 'To slay the slain', 'To shake the dust of one's feet, और 'To carry coal to Newcastle' इत्यादि अँगरेजी मुहावरों के भावानुवाद हैं। अँगरेजी से यद्यपि नित्य प्रति की बोलचाल में काफी मुहावरे ज्यों-के-त्यों आ जाते हैं किन्तु साहित्य में उनका प्रायः सर्वथा अभावसा ही है। यहाँ यह बता देना अत्यावश्यक है कि जब फारसी, संस्कृत, हिन्दी या उर्दू अथवा यहाँ की किसी अन्य लोकप्रिय बोली से अनुवादित मुहावरों का शीघ्र ही फिर से मुहावरों के रूप में संचलन हो जाता है, तब अँगरेजी अथवा किसी अन्य विदेशी भाषा के मुहावरों का अनुवाद कानों को बराबर खटकता रहता है। वे कभी मुहावरों का स्थान नहीं पा सकते।

फारसी अथवा संस्कृत अथवा किसी अन्य लोकप्रिय भाषा से आये हुए इतने सारे मुहावरे उर्दू और हिन्दी में इतनी जल्दी घुल-मिलकर एकरूप क्यों हो जाते हैं, इसका एकमात्र उत्तर यही है कि उनमें से अधिकांश मुहावरों का सम्बन्ध हमारे नित्य-प्रति के जीवन की उन वस्तु, व्यापार और अनुभूतियों से होता है, जिन्हें प्रायः हरेक आदमी अच्छी तरह से जानता और पहचानता है। इसीलिए उनका अनुवाद भी इतनी सुगमतापूर्वक हो जाता है।'वक्षःस्थल कूटना' मुहावरे के कान में पड़ते ही 'छाती कूटने' का भाव स्वयं हमारे सामने आ खड़ा होता है। संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि इस प्रकार के अनुवाद में मूल मुहावरे के वातावरण को कोई आघात नहीं पहुँचता। अतएव सुननेवालों पर शब्द-परिवर्त्तन के बाद भी वैसा ही प्रभाव पड़ता है।

हिन्दी में अनुवादित मुहावरे मिलते हैं और काफी संख्या में मिलते हैं, किन्तु फिर भी मुहावरे और मुहावरेदारी की रक्षा के लिए हम यही अच्छा समझते हैं कि मुहावरों के अनुवाद को सिद्धान्त की दृष्टि से निषिद्ध ही समझा जाय। यदि बहुत ही आवश्यक हो, तो कभी किसी अवसर पर दूसरी भाषाओं के मुहावरों को कुछ काट-छाँटकर काम भले ही चला लें, किन्तु जबतक वे शिष्टसम्मत न हो जायँ, मुहावरे में उनकी गिनती न की जाय। तत्काल किसी दूसरी भाषा के मुहावरों के अनुवाद का प्रयत्न हास्यास्पद ही होता है। हाँ, यदि हमारी भाषा में उससे मिलता-जुलता कोई मुहावरा हो, तो उससे हम अवश्य अपना काम चला सकते हैं। 'Rains cats and dogs' का 'कुत्ते-बिल्ली बरसना' अथवा 'To take coal to Newcastle का 'फूल को बाग में ले जाना' इत्यादि भद्दे और निरर्थक वाक्यों में अनुवाद करके रखने की जगह यदि अपने यहाँ प्रचलित 'मूसलाधार पानी पड़ना' तथा 'उलटे बाँस बरेली को' इन मुहावरों से काम लें, तो भाषा की आलंकारिकता और मुहावरेदारी बनी रहने के साथ ही मूल मुहावरों का तात्पर्यार्थ भी उसी ओज और सरलता के साथ स्पष्ट हो जाय। अनुवाद मुहावरे की एक अच्छी कसौटी है। पीयरसल स्मिथ अपनी पुस्तक 'वर्ड्स एण्ड ईडियम्स' के पृष्ठ १७६-७७ पर लिखते हैं— "मुहावरों का यदि किसी विदेशी भाषा में अनुवाद करना हो तो उनके स्थान में समानार्थक वाक्यांश रख देना चाहिए। शब्द-प्रति-शब्द अनुवाद नहीं। शब्दानुसार से साधारण-से-साधारण वाक्य 'far and away' की भी मुहावरेदारी नष्ट हो जायगी, जबकि दूसरे मुहावरे तो बिल्कुल भद्दे और कुरूप ही हो जायेंगे।"

मुहावरों में वर्णसंकरत्व

मुहावरों की वर्णसंकरता पर विचार करने के पूर्व हम यह बतला देना चाहते हैं कि प्रस्तुत प्रकरण में वर्णसंकरता से हमारा अभिप्राय एक ही मुहावरे में दो भिन्न-भिन्न भाषातत्वों के संयोग

१. 'हरिजन-सेवक' से।

से है। वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त 'वर्णसंकर' और वर्त्तमान अँगरेजी-हिन्दी-कोषों में दिये हुए अँगरेजी शब्द Hybrid शब्द के समानार्थी वर्णसंकर शब्द में आकाश-पाताल का अंतर है। आज जैसा हम पहले भी कई स्थलों पर संकेत कर चुके हैं। अँगरेजी में सोचकर हिन्दी में लिखने के कारण लिखते समय हमारा आदर्श बदल जाता है। अब हम उसका अर्थ देखने के लिए हिन्दी और संस्कृत कोषों की ओर दौड़ने लगते हैं, तर्कशास्त्र की दृष्टि से हमारे इस व्यापार में सदैव हेत्वाभास दोष रहता है।

भाषा के क्षेत्र में आज जो कुरुक्षेत्र मचा हुआ है, देश के दुर्भाग्य से वहाँ 'धर्मक्षेत्रे-कुरुक्षेत्रे' न होकर 'कुरुक्षेत्रे धर्मक्षेत्रे' हो गया है। यही कारण है कि हिन्दी-उर्दू की हमारी समस्या अभी तक हल नहीं हो पाई। हमारे विद्वानों के मन में वर्णसंकरता का वही भय भूत बनकर चक्कर काट रहा है, जो उस समय अर्जुन को हो रहा था। आज इसीलिए जब कभी हिन्दुस्तानी का प्रश्न आता है, हमारे विद्वानों के हाथ से गांडीव छूट जाता है और वे एक स्वर में कहने लगते हैं—

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ —गीता, अ० १; ४१, ४२, ४३

हम यहाँ हिन्दुस्तानी की वकालत नहीं कर रहे हैं, हिन्दी-भाषा से हमें प्रेम है, उसके लिए हमारा प्रेम सौतेली माँ का प्रेम नहीं, हम उसके टुकड़े नहीं करना चाहते। हम तो उसे सदैव जीता-जागता और फलता-फूलता देखना चाहते हैं। उसे राष्ट्रभाषा बनाकर न केवल उर्दू की, वरन् प्रायः सभी भारतीय भाषाओं की प्रतिनिधि, पोषिका और पीठि बनाना चाहते हैं। हमारा प्रेम नामी से है, नाम से नहीं। यदि हिन्दुस्तानी कहने से उर्दू और हिन्दी की समस्या सुलझ जाती है, तो हम तो अपनी स्वतंत्र सरकार से प्रार्थना करेंगे कि वह न केवल हिन्दी-उर्दू की जगह, वरन् हिन्दू और मुसलमान शब्दों की जगह भी केवल 'हिन्दुस्तानी' शब्द जारी कर दे। शब्द तो किसी भाषा के साहित्य का बाह्य परिधान होते हैं, उसकी आत्मा तो भाव हैं, अतएव शरीर को ही आत्मा समझकर, उसके लिए आँसू बहाना ठीक नहीं है। भाषा के सम्बन्ध में हिन्दी के विद्वान् सदैव उदार रहे हैं। हिन्दी के मुहावरे इस बात के साक्षी हैं कि हिन्दीवालों ने प्रतिपादित विषय की ओर जितना ध्यान दिया है, शब्द और मुहावरों के देशी या विदेशीपन पर नहीं। यही कारण है कि 'सूर' और 'तुलसी' ने भी, 'दाद देना', 'जमा-खर्च देखना', 'फाजिल पड़ना या होना', 'इस्तीफा देना', 'अव्वल हरफ', 'हरफ सानी', 'तलब देना', 'सनदबुरद के', 'अमल जताना', 'दसखत माफ करना', 'दाढी जार', 'सटीकता रहना' इत्यादि शुद्ध अरबी-फारसी मुहावरों का अपने काव्य में खुले आम प्रयोग किया है। उन्हें मीर तकी, मीर नासिख और इंशा साहब की तरह जबान की हिफाजत के लिए, कानून मतरूकात की तोपों से सुसज्जित 'इस्लाह जबान' के किले बनाने की कभी जरूरत ही नहीं पड़ती। पड़ती भी कैसे? वे इंशा की तरह 'मुहावरे उर्दू इबारत अज गोयाई अहले इस्लाम अस्त'[1] अर्थात् 'उर्दू-मुहावरे से अभिप्राय मुसलमानों की बोलचाल से है, हिन्दी को केवल किसी एक विशेष जाति की भाषा तो मानते नहीं थे, उन्हें तो हिन्दीप्रेमी हिन्दू और मुसलमान दोनों एक समान थे। वे भाषा को भाषा की दृष्टि से ही देखते थे। भाषा के क्षेत्र में धर्म और राजनीति के

१ दरियाए लताफत, पृष्ठ ५।

पचड़े उन्हें पसन्द न थे। वे तो श्रीभारतेन्दु हरिश्चन्द्र के शब्दों में 'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दुन वारिये' की हद तक पहुँच चुके थे। हम तो उस दिन की बाट जोह रहे हैं, जब हमारे हिन्दी के विद्वान् अर्जुन की तरह अपनी शंकाओं का बुद्धिपूर्वक समाधान करते हुए अन्त में 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत, स्थितोस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव' (१८/७३) अपने मोह का नाश होना स्वीकार करके हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी की इस समस्या को हल करने की प्रतिज्ञा करके आगे बढ़ेंगे। कृष्ण ने केवल रास्ता बताया था, युद्ध तो स्वयं अर्जुन को ही करना पड़ा था। इसलिए महात्मा गांधी आपको रास्ता बता रहे हैं। भाषा का निर्माण तो आप ही को करना है। महात्मा गांधी की हिन्दुस्तानी चलनेवाली भी नहीं है, चलेगी तो वही हिन्दुस्तानी, जिसे आप चलायेंगे। हमारा तो दृढ़ विश्वास है कि हिन्दुस्तानी के प्रचार से हिन्दी और उर्दू दोनों ही का भला होगा, और कौन जानता है, शीघ्र ही दोनों फिर से एक हो जायँ। हाँ, दोनों को एक करने का रास्ता मुहावरे और केवल मुहावरों का अध्ययन, मनन और प्रचलन ही है। आज भी यदि मुहावरों की दृष्टि से देखें तो हिन्दी और उर्दू दोनों एक ही हैं। दोनों के मुहावरे प्रायः सब तरह से एक ही जैसे हैं। यदि मुहावरों की वर्णसंकरता के भूत को मन से भगाकर यथावत् भाषा में उनका प्रयोग होने लगे, तो निश्चय ही भाषा की हमारी समस्या हल हो जाय।

अर्जुन को वर्णसंकरता की उत्पत्ति का ही सबसे बड़ा भय था, वह जानता था कि कुल के नाश से धर्म की हानि और पाप की वृद्धि होती है। वर्णसंकरता की उत्पत्ति के परिणाम की कल्पना करके ही उसका सारा शरीर बेकाम और गतिहीन हो गया था। भगवान् कृष्ण उसकी नस पहचानते थे। उन्होंने इसलिए सारी गीता में भिन्न-भिन्न प्रकार से कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य तथा पाप और पुण्य की व्याख्या करके उसे यही सुझाया है कि वह जिसे कुलनाश समझ रहा है, वह कुलनाश है ही नहीं, फिर वर्णसंकरता कहाँ से उत्पन्न होगी। ठीक यही स्थिति भाषा की है। शब्दों के आदान-प्रदान, परिवर्त्तन और उन्मूलन से किसी भाषा का नाश नहीं होता। हिन्दी को ही लीजिए। 'दलाल', 'चादर', 'सही गलत', 'क़लम-दावात', 'पाजामा', 'रूमाल', 'तकिया', 'पाजेब' 'पिश्ता', 'बादाम', 'अनार', 'सेब', 'हलवा', 'जलेबी', 'अचार', 'मुरब्बा', 'तश्तरी, 'चमचा' इत्यादि हजारों अरबी, फारसी और तुर्की के ऐसे शब्द इसमें प्रचलित हैं, जिनके लिए संस्कृत शब्द हैं ही नहीं। 'पुंगी फल', 'ताम्बूल' इत्यादि कोल-भील और द्रविड़ जाति के शब्दों का भी हमारे यहाँ सर्वथा अभाव नहीं है; फिर अँगरेजी की तो बात ही क्या कहें। कुछ लोग तो आज लिखने ही, हिन्दी के रूप में, अँगरेजी लगे हैं; फिर भी आज हिन्दी की उन्नति हो रही है। वर्णसंकरता और उसके द्वारा उत्पन्न होनेवाला कोई भी लक्षण उसमें दिखाई नहीं देता।

विज्ञान-विशारद बतलाते हैं कि दो विभिन्न जातियों के तत्त्वों के संयोग से जो फल-फूल अथवा पशु-पक्षी उत्पन्न होते हैं, वे अपने सजातियों से कहीं अधिक शक्तिशाली और उपयोगी होते हैं। 'रीति रिवाज', 'हट्टा-कट्टा', 'दिन-दहाड़े', 'साँठ-गाँठ', 'शादी ब्याह' अथवा 'ब्याह-शादी', 'खत-पत्तर', 'कागज-पत्र', 'नौकर-चाकर', 'हुक्का-पानी', 'कोट-कचेहरी', 'दान-दहेज' 'थुक्का-फजीहत', 'टिल्ले-नवीसी करना', 'इकलखुरा होना', 'अकड़बाजी करना', 'तिक्का बोटी करना', 'कौड़ी कफन' इत्यादि मुहावरों और उनके ओज, सरलता और सुबोधता के साथ ही भाव-प्रकाशन की उनकी अद्भुत शक्ति को देखकर कौन कह सकता है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्दों के संयुक्त प्रयोग अथवा संकरता से उनकी उपयोगिता और शक्ति नहीं बढ़ी है। वास्तव में विभिन्न जाति के शब्दों की इस संकरता से लय, स्वर और अनुप्रास की दृष्टि से, मुहावरों का सौन्दर्य निखर कर उनका चलतापन और भी बढ़ जाता है, वे और भी अधिक लोकप्रिय हो जाते हैं।

भाषा-विज्ञान के कुछ पंडितों का यह भी मत है कि भाषा की उत्पत्ति का आदि कारण मानवी परिश्रम है। यों 'हे-हो वाद' की कल्पना इसी आधार पर हुई है। मनुष्य जब परिश्रम करता है, तब उसके श्वास-प्रश्वास का वेग बढ़ जाना स्वाभाविक है। इससे उसे विश्राम भी मिलता है। आज भी चक्की पीसते, चर्खा चलाते या और कोई काम करते हुए लोगों का अनायास गुनगुनाने लग जाना यह सिद्ध करता है कि परिश्रम करते समय स्वरतंत्रियों में भी कम्पन होने लगता है। जब कुछ आदमी मिलकर किसी काम को करते हैं, तब स्वभावतया उस काम का किन्हीं ध्वनियों के साथ संसर्ग हो जाता है। पीयरसल स्मिथ अपनी पुस्तक 'वर्ड्स एण्ड ईडियम्स' के पृष्ठ २६२ पर इसी मत का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि—'भाषा संकल्प से उत्पन्न होती है, इन्द्रियजनित ज्ञान अथवा चेतना से नहीं, उसकी उत्पत्ति का आदिकारण अनुभव अथवा साधारण मानसिक विचारों का व्यक्तीकरण नहीं है। परिश्रम करते समय जिन ध्वनियों से उस काम का संसर्ग हो जाता है अथवा किसी एक काम में लगे हुए व्यक्तियों को सांसर्गिक तीव्रता के लिए प्रोत्साहित करने को जो ध्वनियाँ प्रयुक्त होती हैं, उन्हीं के आधार पर भाषा की उत्पत्ति हुई है। भाषा की उत्पत्ति के विषय में यह बात ठीक हो या न हो, किन्तु अधिकांश मुहावरों के बारे में तो यह बात बावन तोले पाव रत्ती सही है। मुहावरों में प्राथमिक भाषा की बहुत-सी विशेषताएँ रहती हैं। इसका मुख्य उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति नहीं, वरन् उत्तेजन देना या भर्त्सना करना है, वक्ता से अधिक श्रोता का महत्त्व होता है, उन्हें क्या करना है, क्या नहीं करना है, कैसे करना है अथवा उनके किस काम की भर्त्सना करना है, इत्यादि से ही मुख्यतया मुहावरे का सम्बन्ध रहता है। जैसा स्मिथ साहब कहते हैं—"मुहावरों का प्रयोग जिससे और जिस विषय में हम बातचीत कर रहे हैं, उसीके अनुसार होता है।" इससे स्पष्ट है कि अलग-अलग व्यक्तियों की भाषा के अनुसार उनसे बातचीत करते समय हमारे मुहावरों से अलग-अलग भाषाओं के शब्दों का समावेश हो जायगा। वास्तव में भाषा की सफलता भी इसीमें है कि हम हर किसीको अपने मन की बात समझा सकें। बात समझाने के पहले जिससे आम बातें कर रहे हैं, उसे अपनी भाषा सिखाने तो बैठेंगे नहीं, अतएव विवश होकर एक मिली-जुली भाषा में उससे बातें करेंगे। बस, इस मिली-जुली भाषा का नाम ही मुहावरेदार भाषा या हिन्दुस्तानी है। अतएव मुहावरों में विभिन्न भाषाओं के शब्दों की उपस्थिति को वर्णसंकरता नहीं समझना चाहिए। अब हम संक्षेप में तथ्य-निरूपण की दृष्टि से कुछ उदाहरण लेकर यह बतलायेंगे कि हिन्दी-मुहावरों में इस शब्द-संकरता का क्या रूप और प्रभाव देखने को मिलता है।

हिन्दी में प्रचलित यौगिक शब्दों में तो बहुत-से ऐसे हैं जिनका एक अंग अरबी या फ़ारसी का है, तो दूसरा हिन्दी का। 'असर' शब्द अरबी का है, जिसका अर्थ प्रभाव होता है और 'कारक' हिन्दी शब्द है, जिसका अर्थ है करनेवाला। बस, इन दोनों को मिलाकर असरकारक शब्द खूब चलता है। चौपड़-बाज, जुएबाज, रसोईखाना, एक्कावान, सिंगारदान, आईनानुसार, जिलाधीश, तालीमी संघ, मजदूर-संघ, कुतुबालय इत्यादि यौगिक शब्द भी इसी शब्दसंकरता के नमूने हैं।

हिन्दी-मुहावरों का इस दृष्टि से विश्लेषण करने पर पता चलता है कि उसमें अधिकांश मुहावरे तो ऐसे हैं, जिनमें क्रियापद तो एक भाषा के हैं और दूसरे शब्द दूसरी भाषा के। इन्हें विभिन्न भाषाओं के अर्थानुवाद कहें, तो कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। 'पैमाना भरना', 'जामे से बाहर होना', 'दिल देना', 'जान से जाना', 'हरफ़ आना', 'दिल खून होना', 'बाज आना', 'अंग-अंग मुस्कराना', 'अंग-अंग फड़कना', 'अपने मुँह मिया मिट्ठू बनना', 'आग-पानी से गुजरना', 'आग बबूला हो जाना', 'आब बिगड़ना', 'आब उतर जाना', 'एक तरफ़ा डिगरी देना', 'फेल-पास लगा रहना', 'जेल काटना', 'सिंगल डाऊन होना' इत्यादि मुहावरों में अरबी और फ़ारसी के साथ ही अँगरेजी के शब्द भी हिन्दी-शब्दों के साथ प्रयुक्त हुए हैं।

कुछ वाक्यांश ऐसे भी हैं, जिनमें प्रतिपादित विषय पर जोर देने के लिए दो विभिन्न भाषाओं के शब्दों का 'एक जान दो शरीर' की तरह संयुक्त प्रयोग हुआ है। इसके कुछ उदाहरण पीछे दे चुके हैं। उन्हें छोड़कर ही यहाँ उनके कुछ नमूने देते हैं—'मेल-मोहब्बत होना', 'मेल मुलाकात रखना', 'दिशा-मैदान जाना', 'अमल-पानी करना', 'किताबी कीड़ा होना', 'राई-काई होना', 'हुक्का-पानी बन्द करना', 'खाक-धूल कुछ भी न होना' इत्यादि मुहावरों में अरबी और फारसी के शब्द हिन्दी-शब्दों से ऐसे क्षीर-शर्करा हो गये हैं कि उन्हें विदेशी कहा ही नहीं जा सकता।

हिन्दी में ऐसे मुहावरों की भी कमी नहीं है, जिनमें अरबी, फारसी और तुर्की के शब्द अपने मूल अर्थ को छोड़कर एक नवीन अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। 'खसम' अरबी का शब्द है, जिसका अर्थ होता है शत्रु, किन्तु 'खेसम करना', 'खसम होना' और 'खसम लगना' इत्यादि हिन्दी-मुहावरों में इसी का प्रियतम, प्रीतम अथवा पति के अर्थ में प्रयोग हुआ है। 'वह उसकी जोरू और वह उसका खसम' इस वाक्य में पति के लिए ही उसका प्रयोग हुआ है। गंग कवि ने 'खसम करना' मुहावरे का 'खसमाना' करके इस प्रकार प्रयोग किया है—

कहे कवि गंग हूल समुद के चहूँ कूल
कियो न करत कबूल तिय खसमाना जू।

'तमाशा' और 'सैर' अरबी में क्रमशः 'गति' और 'भ्रमण' के लिए आते थे, किन्तु आजकल 'तमाशे करना', 'तमाशा दिखाना' 'मेले की सैर करना' और 'सैर-तमाशा देखना' इत्यादि रूपों में इनका प्रयोग होता है।

'खैरात' का अरबी अर्थ है—'अच्छे काम'; किन्तु हिन्दी-मुहावरों में इसका प्रयोग 'मुफ्त या खैरात में', 'खैरात बाँटना', 'खैर खैरात' इत्यादि रूपों में होता है। 'तकरार' का अर्थ है किसी काम को पुनः करना; किन्तु हमारे यहाँ 'तकरार बढ़ाना', 'तकरार करना या हो जाना' इत्यादि रूपों में इसका प्रयोग होता है। 'तूफान' का आधिक्य अर्थ न करके 'तूफान मचाना', 'तूफान खड़ा करना' इत्यादि मुहावरों में भयानक आँधी के अर्थ में उसका प्रयोग होता है। 'मसाला', 'खातिर', 'रोजगार', 'जुलूस' (जलस धातु से बैठना), 'खैर', 'सलाह' इत्यादि शब्दों के अरबी और फारसी में क्रमशः 'पदार्थ', 'हृदय', 'इच्छा', झुकाव', 'दुनिया', 'बैठना', 'कुशल-क्षेम', अनुमति', अर्थ होते हैं; किन्तु हिन्दी-मुहावरों में इनके अर्थ बिलकुल ही बदल जाते हैं। देखिए, 'चटपटा मसालेदार होना', 'मिर्च मसाला', 'खातिर जमा रहना', 'खातिर तवाजे करना', 'रोजगार से लगना', और भी जैसे—

बिना रोजगार रोज गारी देत घर के लोग
जोरू का खसम मर्द और मर्द का खसम रोजगार।

'जुलूस निकलना या उठना', 'खैर सलाह से होना' इत्यादि।

'कुलाँच' तुर्की भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है दोनों हाथों के बीच की लम्बाई। यह कपड़ा नापने की एक माप है। किन्तु, हिन्दी-मुहावरों 'कुलाँच मारना या भरना', 'एक कुलाँच में' इत्यादि में छलांग के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। देखिए—

बहसी को हमने देखा उस आहू निगाह से
जंगल में भर रहा था कुलाचें हिरन के साथ। —ज़ौक
बिस बिसै ऊधौ वीर बामन कलांच ह्वै। —रत्नाकर

'मुर्गे लड़ाना', 'मुर्गी के', 'मुर्गा बनाना', 'अंडे मुर्गी खाना' इत्यादि मुहावरों में फारसी के अतिव्याप्त शब्द को अति संकुचित करके एक विशेष चिड़िया के लिए उसका प्रयोग किया जाता है।

'चिक' तुर्की में बहुत ही पतले पर्दे के लिए आता है। हिन्दी में बाँस की पतली तीलियों से बने हुए पर्दे को कहते हैं। 'कट्टा' शब्द भी तुर्की का है, जिसका अर्थ है 'बड़ा'; किन्तु 'हट्टा-कट्टा होना' मुहावरे में मोटे के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'नजर' का अरबी में अवलोकन-शक्ति के लिए प्रयोग होता है, किन्तु हिन्दी में 'नजर आना', 'नजर रखना', 'नजर लगाना' इत्यादि रूपों में अलग-अलग अर्थों में उसका प्रयोग होता है।

अब कुछ ऐसे मुहावरे लेते हैं, जिनमें अधिक परिवर्त्तन नहीं हुआ है। बक-बक झक-झक = झक-झक बक-बक, असरा तफरी = इफरात (बहुतायत) तफरीत से बना है, किन्तु इसका अर्थ बदलकर घबराहट पर उद्वेग हो गया है।

अब अन्त में हम उन मुहावरों को लेंगे, जो वास्तव में वर्णसंकर या व्यभिचार की सन्तान हैं, और जिनसे भाषा को अलग रखना ही है। मुहावरों के अनुवाद के प्रकरण में जैसा हमने बतलाया है, किसी विदेशी भाषा के मुहावरों का शब्दानुसार भाषान्तर करना उसके साथ बलात्कार करना है, जबरदस्ती उसकी इज्जत लेना है। अतएव 'नक्राश्रु' और 'अपव्ययी' लड़का इत्यादि Crocodile's tears या Prodigal son के रूपान्तर अथवा शिष्ट अनुवाद नहीं हैं। इन्हें व्यभिचार की सन्तान ही मानना चाहिए। मत-विरोध हो सकता है, किन्तु हम तो भाषा में ऐसे और केवल ऐसे प्रयोगों को ही वर्णसंकरता की श्रेणी में रखते हैं, जो लोकप्रियता, व्यवहार और मुहावरों के अति व्यापक अनुशासन की सीमा को लाँघकर केवल प्रयोगकर्त्ता की स्वेच्छाचारिता और हठधर्मी के कारण कभी-कभी आँख के सामने या कान में पड़ जाते हैं। श्रीरामचन्द्र वर्मा ने अपनी पुस्तक 'अच्छी हिन्दी' में मुहावरों की इस वर्ण-संकरता का विशद विवेचन किया है। जिन शब्दों को हमारे पूर्वजों ने' ही ग्रहण कर लिया था, वे भले ही अरबी, फारसी, अँगरेजी या किसी अन्य विदेशी भाषा के क्यों न हों, हम अब उन्हें जाति बाहर करने या उनकी उपेक्षा करके उन्हें एक कोने में डाल देने के सख्त खिलाफ हैं। वे सब शब्द अब उसी प्रकार हमारे हैं, जिस प्रकार पराये गोत्र की एक लड़की अपने गोत्र में आकर अपनी हो जाती है, अपना ही गोत्र उसका गोत्र हो जाता है।

अन्त में, एक बार फिर हम अपने पाठकों से अनुरोध करेंगे कि वे वर्णसंकरता के भूत को भगाकर उदार दिल से एक बार फिर भाषा की समस्या पर विचार करें, अपने मुहावरों का अध्ययन करें और ठीक-ठीक उनका प्रयोग करके सारी भाषा को मुहावरेदार बना दें। मुहावरे ही भाषा के प्राण होते हैं। हम उर्दू या किसी अन्य भाषा, व्यक्ति या समाज का विरोध करने में अपनी शक्ति को क्षीण करने के बजाय अपनेको ही सुधार कर अपना बल बढ़ाने में विश्वास करते हैं। विरोध-मात्र के लिए खड़ी की हुई संस्थाएँ विरोधी के नष्ट होते ही स्वयं भी नष्ट हो जाती हैं, अतएव यदि हिन्दी को जीवित रखना है, तो उसे विरोध की दुधारी तलवार से बचाकर लोकप्रिय, सुसम्पन्न और मुहावरेदार बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। पचाने की उसकी शक्ति इतनी बढ़ जानी चाहिए कि किसी भी भाषा के शब्द को पचाकर अपनी मोहर उसपर लगा दे।

हिन्दुस्तानी के नाम पर आज जो भाषा चल रही है, हम यह मानते हैं कि वह न हिन्दी है, न उर्दू है और न हिन्दुस्तानी ही। वह तो आज कई भाषाओं की एक बे-मुहावरा खिचड़ी है। किन्तु हिन्दी से प्रेम होने के नाते हम इसमें दोष हिन्दीवालों का ही बतायेंगे। यदि वे चाहते तो अबतक राष्ट्रभाषा का यह काम बहुत आगे बढ़ जाता। हमारा तो दृढ़ विश्वास है कि हिन्दुस्तानी का कोई भी लोकप्रिय रूप हिन्दीवालों की सहायता के बिना कदापि नहीं बन सकता, उसमें भारतीयों के उपयुक्त मुहावरेदारी हिन्दी के द्वारा ही आ सकती है। हिन्दीवालों को ही यह काम करना है। अतएव, अभी से उन्हें उदार हृदय के साथ आगे आ जाना चाहिए।

सारांश

इस अध्याय में, संक्षेप में, दो दृष्टियों से मुहावरों की शब्द-योजना पर विचार किया गया है—
१. शाब्दिक परिवर्त्तन, जिसके अन्तर्गत शब्द-संस्थान, शब्द-परिवर्त्तन, शाब्दिक न्यूनाधिक्य इत्यादि आ जाते हैं, तथा २. अनुवाद, जिसके अन्तर्गत शब्दानुसार भाषान्तर और भावानुवाद आते हैं। मुहावरेदारी अथवा भाषा की प्रयोग-विलक्षणता को सुरक्षित रखने के लिए मुहावरों में किसी प्रकार का भी कोई उलट-फेर या भाषान्तर नियमविरुद्ध माना गया है। पिछले प्रकरणों में भिन्न-भिन्न भाषा-क्षेत्रों से उदाहरण लेकर जिस 'क्यों' का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है, संक्षेप में उसे इस प्रकार कह सकते हैं—

मुहावरों में उलट-फेर न होने के कारण

१. प्रत्येक मुहावरा एक अभिन्न इकाई होता है।

२. किसी भाषा का कोई शब्द किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा भाव का प्रतिनिधि होता है, स्वयं वह वस्तु व्यक्ति, अथवा भाव नहीं। (नाम और नामी को एक मान कर चलने से ही भ्रम और भ्रान्ति फैलते हैं)

३. शब्दों का अपने में ही कोई अर्थ नहीं होता, गणित के क, ख की तरह वे भी संकेतमात्र होते हैं। (Words have no meaning in themselves)

४. शब्दों में देश और काल (वातावरण) की स्थिति के अनुसार अर्थ का विकास होता है। एक ही 'आँख लगना' मुहावरे का अलग-अलग प्रसंगों में अलग-अलग अर्थ हो जाता है।

५. गूढार्थ शब्द और मुहावरों में इस कृत्रिम समीकरण की संभावना और भी अधिक रहती है।

६. किसी वस्तु या व्यापार का, हम अपने तत्सम्बन्धी प्राचीन अनुभव के आधार पर ही अर्थ करते हैं। (लाल पगड़ी का अनुभव न होने पर उसकी क्रूरता और निरंकुशता का चित्र हमारे सामने नहीं आ सकता)

७. कोई भी दो घटनाएँ सर्वथा समान नहीं होतीं।

८. शब्दों के स्थान, क्रम और सान्निध्य का विचार करके जो अर्थ किया जाता है, वह स्वतंत्र वस्तु और उनके गुणों के आधार पर किये हुए अर्थ से अधिक विश्वसनीय होता है।

९. ज्ञान और भाव-प्रकाशन की दृष्टि से मुहावरों की शब्द-योजना गणित के अंकों की तरह अपरिवर्त्तनीय होती है।

१०. किसी भाषा की भाव-प्रकाशन-शक्ति को उन्नत करने के लिए नये शब्द और मुहावरे न गढ़कर, उसके उपलब्ध प्रचलित मुहावरों का ठीक-ठीक उपयोग करना आवश्यक है। साधारण बोलचाल की भाषा को मुहावरेदार बनाना चाहिए।

११. मुहावरों का सम्बन्ध जितना मानव-मस्तिष्क से है, उतना भाषा के कोष अथवा इतिहास से नहीं।

१२. मुहावरों में लक्षणा और व्यंजना, शब्द-शक्तियों तथा उपमा, रूपक और अनुप्रास इत्यादि अर्थ और शब्दालंकारों का विशेष महत्त्व रहता है।

१३. मुहावरों में भाषा, व्याकरण और तर्क के प्रचलित नियमों का भी प्रायः पालन नहीं होता।

१४. प्रत्येक मुहावरा किसी भाव का एक चित्र होता है।

१५. गायन और गणित दोनों को अन्तरराष्ट्रीय[1] भाषा माननेवालों की दृष्टि से देखें, तो मुहावरों में गायन और गणित दोनों की भाषा मिली रहती है अथवा यों कहें कि इन दोनों की मिश्रित भाषा (भावना + संकेत) का नाम ही मुहावरा है, तो अनुचित न होगा[2]। गणित में जिस प्रकार लम्बाई को 'ल', बराबर को '=', गुणा करने को '×' इन संकेतों द्वारा प्रकट करते हैं, उसी प्रकार मुहावरों में, बहुत ही अधिक तेजी से भागने अथवा किसी के माल को लेकर न देने इत्यादि बड़े-बड़े वाक्यों को 'हवा होना' अथवा 'हड़प जाना' इत्यादि संकेतों से प्रकट करते हैं।

मुहावरों में शब्द तथा देश, काल और परिस्थिति का सम्मिश्रण होता है। अतएव किसी विदेशी भाषा में उनका अनुवाद करने से उनके मूल अर्थ का पूरा-पूरा व्यक्तीकरण नहीं हो सकता। 'काष्ठ प्रदान करना' एक प्राचीन मुहावरा है। जबतक देश, काल और स्थिति के अनुसार इस प्रसंग का पूरा-पूरा अध्ययन न कर लिया जाय, तबतक इसका ठीक-ठीक अर्थ समझ में नहीं आ सकता।

इसके अतिरिक्त खेल के मैदान, शिकार के स्थान और मल्लाहों इत्यादि के मुहावरों में व्यक्तिगत प्रयत्न बहुत अधिक रहता है, उनका अर्थ समझने में शब्दों से कहीं अधिक सहायता वक्ता की शारीरिक चेष्टाओं के अध्ययन करने से मिलती है।

इस प्रकार मुहावरों की प्रकृति और प्रवृत्ति के अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी शब्द-योजना में किसी प्रकार का हेर-फेर करना अथवा एक भाषा से दूसरी में उनका भाषान्तर करना उचित नहीं है, ऐसा करने से उनकी मुहावरेदारी नष्ट हो जाती है।

---

१. दि टिरेनी ऑफ् वर्ड्स, पृष्ठ ११३।

२. मुहावरों में संगीत का मनोमुग्धकारी प्रभाव और गणित के संकेत रहते हैं।

तीसरा विचार

मुहावरों का आविर्भाव क्यों हुआ ?

प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण होना ही चाहिए। जहाँ धुआँ है, वहाँ आग का होन अनिवार्य है, इस दृष्टि से जब हम मुहावरों पर विचार करते हैं, तब हमारे सामने सबसे पहला प्रश्न यही आता है कि उनकी उत्पत्ति हुई क्यों? मुहावरे, जैसा हम मानते हैं, मनुष्य की अनुभूतियों, विचारों और कल्पनाओं के मूर्त्त शब्दाकार रूप हैं, उनके निर्माण में भाषा और मनुष्य दोनों ही का समान रूप से हाथ है। सारांश यह कि उनकी उत्पत्ति का भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों ही से सम्बन्ध है। मुहावरों का आविर्भाव क्यों हुआ, इसका पता चलाने के लिए, अतएव, भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों को ही टटोलना होगा। श्रीयुत रामचन्द्र वर्मा 'अच्छी हिन्दी' के पृष्ठ २८ पर भाषा और मनुष्य की प्रकृति का सम्बन्ध बताते हुए लिखते हैं—

"जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अथवा पदार्थ की कुछ विशिष्ट प्रकृति होती है, उसी प्रकार भाषा की भी कुछ विशिष्ट प्रकृति होती है। और, जिस प्रकार स्थान और जलवायु या देशकाल आदि का मनुष्य के वर्गों अथवा जातियों आदि की प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार बोलनेवालों की प्रकृति का उनकी भाषा पर भी बहुत-कुछ प्रभाव पड़ता है। बल्कि हम कह सकते हैं कि किसी भाषा की प्रकृति पर उसके बोलनेवालों की प्रकृति की बहुत-कुछ छाया रहती है। वह प्रकृति उसके व्याकरण, भाव-व्यंजन की प्रणालियों, मुहावरों, क्रिया-प्रयोगों और तद्भव शब्दों के रूपों या बनावटों आदि में निहित रहती है। इस प्रकृति का ठीक-ठीक ज्ञान उन्हींको होता है, जो उस भाषा का, उक्त सभी बातों का बहुत ही सावधानतापूर्वक और सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करते हैं, और उसकी हरेक बात पर पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। भाषा की प्रकृति या वास्तविक स्वरूप का ज्ञान ही 'जबानदानी' कहलाता है। यह जबानदानी और कुछ नहीं, भाषा के नियमों, प्रवृत्तियों और मूल तत्त्वों का पूरा ज्ञान ही है।" आधुनिक तार्किकों के 'इच्छामात्रं शक्तिः' से भी यही प्रतिध्वनित होता है। ब्लूमफील्ड और फरार (Farrar) इत्यादि पाश्चात्य विद्वान् भी कुछ शब्दों के हेर-फेर से इसी मत को मानते हैं। श्री एच्० पाल (H. Paul) ने लिखा है—'महत्त्व की बात यह है कि भाषा की कुंजी मन में रहती है, वस्तुओं में नहीं।' (...the important point is that key to language is found in mind and not in things.) भाषा की कुंजी मन में रहती हो या नहीं, मुहावरों की तो रहती ही है। इसलिए हम प्रस्तुत समस्या पर भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों की दृष्टि से विचार करेंगे।

मुहावरेदार भाषा को प्रायः सब लोग सुन्दर और आकर्षक मानते हैं। हाली साहब के शब्दों में "अव्वाम (जनसाधारण) मुहावरा या रोजमर्रा के हर शेर को सुनकर खुशी से सिर धुनने लगते हैं।" सचमुच, कहीं तो मुहावरों का प्रयोग 'आहे बिस्मिल' और 'नाविक के तीरों' से भी अधिक उग्र, और ओजस्वी होता है। ऐसा क्यों होता है, इसका एकमात्र कारण मुहावरेदार भाषा का स्वाभाविक विकास है। मुहावरेदारी भाषा का स्वाभाविक सौन्दर्य है—एक वन-कन्या का विकसित सौन्दर्य है—स्नो, पाउडर और लाली से लाल वारांगना का कृत्रिम शृंगार नहीं। भाषा का इतिहास इस बात का साक्षी है कि आदिकाल में प्रत्येक भाषा अनुकरण के सहारे आगे बढ़ती है, उसमें नाम और नामी में प्रायः कोई भेद ही नहीं होता, किन्तु जैसे-जैसे उसका विकास

होता जाता है, भाषा-विज्ञान के पंडित श्री केसीरर (Cassiarer) के शब्दों में, वह (भाषा) अनुकरण से और सादृश्य से सांकेतिक और सादृश्य (Symbolic) अवस्था में आती-जाती है। एक छोटे बच्चे की तरह अब उसमें पिताजी का अर्थ, कोट-पैंट पहिने, टोप लगाये और हाथ में छड़ी लिये एक व्यक्ति-विशेष अथवा इस प्रकार के कपड़े पहने हुए प्रत्येक व्यक्ति का अर्थ पिताजी न रहकर वह सन्तान और उसके उत्पन्न करनेवाले व्यक्तियों के बीच के सम्बन्ध का नाम हो जाता है, शब्द संकेतों का व्यक्ति से जाति और जाति से व्यक्ति में परिवर्त्तन होने लगता है। विकास की यह गति यहीं नहीं रुक जाती है, देश और काल के साथ समय पाकर इस दूसरी अवस्था को भी पार करके अब वह शुद्ध सांकेतिक अवस्था, अर्थात् 'इच्छामात्र' शक्तिः' अथवा यों कहिए, मुहावरेदारी की अवस्था को प्राप्त कर लेती है। जिन 'खिलना' और 'फूटना' क्रियाओं का प्रयोग पहले क्रमशः फूल और अंकुर के लिए होता था, अब सौन्दर्य खिल उठा, आभा फूट निकली इत्यादि रूपों में होने लगता है। सारांश यह कि इस अवस्था में पहुँचकर शब्दों का अर्थ स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होता जाता है। उनमें मुख्यार्थ तो रहता है, किन्तु नाम और नामी के जिस सम्बन्ध का वे पहले प्रतिनिधित्व करते थे, वह सम्बन्ध अव्यापक और अपरिमित हो जाता है। विकास की यह अन्तिम किन्तु अनिवार्य सीमा है। यहाँ पहुँच कर भाषा की प्रवृत्ति, सत्य का अनुकरण करने के बजाय उसके साथ समानता जोड़ने की हो जाती है, वह साकार से निराकार की ओर चलने लगती है। 'आशाओं का करवट बदलना', 'विचारों की आँधी', 'दिल का तूफ़ान', 'गृहस्थ की बेड़ियाँ', 'नैनों के तीर', 'दिल की आग', 'अपनी आँख का शहतीर' इत्यादि प्रयोग भाषा की मुहावरों की ओर बढ़ती हुई इस स्वाभाविक प्रगति के प्रतीक हैं।

किसी विद्वान् ने एक बार कहा था कि प्रत्येक प्रगतिशील भाषा मुहावरेदार होती है। हम समझते हैं इससे उसका अभिप्राय यही था कि प्रत्येक भाषा की प्रगति मुहावरों की ओर होती है, वह अभिधेयार्थ से लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की ओर क़दम बढ़ती रहती है। यों तो, जैसा कि भाषा का इतिहास हमें बतलाता है, प्रत्येक भाषा जन्म से ही प्रगतिशील होती है, किन्तु मुहावरेदार होने के लिए जैसा कभी भाषा की प्रगति के नियमों का उल्लेख करते हुए हम बतायेंगे, उसे संयम, नियम और त्याग की कितनी ही कठोर परीक्षाएँ पास करनी पड़ती हैं। जब हम कहते हैं—स्त्री और सौन्दर्य दोनों एक-दूसरे के पर्याय हैं, जो स्त्री है वह सुन्दरी है, जो सुन्दरी है, वह स्त्री है, तो इसमें आयु की कोई परिधि न होते हुए भी जिस प्रकार अभिप्राय युवती स्त्री से होता है, उसी प्रकार प्रगतिशील भाषा से यहाँ अभिप्राय उन्नत और विकसित भाषा ही है।

भाषा की प्रगति के नियम

प्रायः प्रत्येक भाषा के इतिहास में प्रगति के कुछ ऐसे साधारण नियम आपको मिलेंगे, जो भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों से सम्बन्ध रखते हैं अथवा जो मानव-बुद्धि की प्रगति और प्रवृद्धि के अनुरूप और समानान्तर होते हैं। छोटे-छोटे बच्चों के साथ खेलते-खाते, घूमते और बातचीत करते समय हमने कितनी ही बार अनुभव किया है कि वे प्रायः ऐसी भाषा बोलते हैं, जो उनकी पहले सुनी हुई भाषा के अनुकरण के आधार पर बनी होती है। समय-समय पर वे तुरन्त ऐसे नये शब्द भी गढ़ लेते हैं, जिनका किसी नियम अथवा व्याकरण से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अभी कल की बात है, हम अपने एक मित्र के यहाँ बैठे थे, उनका छोटा भाई आया और जल्दी-जल्दी कई बार डाँटकर कह गया—'भइया खाने चलो, इनकी सब बातें समझ की होती हैं इत्यादि।' बाद में पूछताछ करने पर पता चला कि बाबूजी ने किसी को डाँटते हुए कहा था, 'इनकी सब बातें बे-समझ की होती हैं'। उसने सुना और सुनकर जितना कुछ याद रहा, उसका उसी अर्थ में प्रयोग किया। उसके इस वाक्य का विश्लेषण करने पर हमें बच्चों की प्रकृति के दो पहलुओं का

ज्ञान हो जाता है। पहले तो बच्चे जो कुछ कहते हैं, वह केवल अनुकरण के बल पर कहते हैं, बुद्धिपूर्वक नहीं; दूसरे वह जो कुछ सुनते हैं, उसे एक ही वाक्य और एक ही प्रसंग में कह डालते हैं, जिसके कारण उनकी भाषा में अस्पष्टता, असम्बद्धता और कभी-कभी असाधारण जटिलता और दुरूहता आ जाती है। आदिकाल में भाषा की भी ठीक यही दशा होती है। इतना ही नहीं, उसकी प्रगति के भी संक्षेप में वही नियम हैं, जो बच्चों की बुद्धि और भाषा के। मोटे रूप में इन नियमों के हम तीन भाग कर सकते हैं —

पहला, भाषाएँ आदिकाल में प्रयुक्त होनेवाले अपने अनावश्यक, व्यर्थ अथवा पुनरुक्त अंश को निकालकर अपनी एक परिधि बनाने के लिए आगे बढ़ती है, अपरिमित से परिमित होने का प्रयत्न करती है। दूसरा, भाषाएँ आदिकालीन अव्यवस्था और अनियमितता की अवस्था से व्यवस्था और व्याकरण की ओर बढ़ती हैं। तीसरा नियम पहले नियमों के सदृश अथवा उनका परिवर्द्धित रूप ही समझना चाहिए। इसके अनुसार भाषा अलग-अलग भावों को स्वतन्त्र वाक्यों में प्रकट करने की ओर बढ़ती है, उसकी प्रवृत्ति व्यवच्छेदात्मक हो जाती है। उसकी यही प्रवृत्ति उसे मुहावरेदार प्रयोगों की ओर ले जाती है[1]।

आदिकाल की भाषाएँ, बच्चों की भाषा के सम्बन्ध में जैसा ऊपर हमने बताया है, अपरिमित, अव्यवस्थित, अत्यन्त शाखा-प्रशाखाओंवाली और अति उच्छृंखल समझी जाती हैं। वे मधुर और सुरीली तो होती हैं, किन्तु अति विस्तृत और अथाह रहती हैं। किसी व्यक्ति या वर्ग को जब आवश्यकता होती थी, तुरन्त स्वतन्त्र रूप से नये शब्द बना लिये जाते थे। किसी को कभ यह चिन्ता ही न होती थी कि वैसा कोई शब्द पहले ही तो नहीं बन चुका है। उस समय न तो लोगों के पास कोई साहित्य था और न उनमें किसी प्रकार का कोई राजनीतिक अथवा आर्थिक संगठन ही था। प्रायः सब लोग खानेबदोशों की तरह, कभी यहाँ, तो कभी वहाँ, डेरा-डंडा उठाये फिरा करते थे। ऐसी अवस्था में असंख्य शब्द और मुहावरों का बनते जाना स्वाभाविक था। कभी-कभी तो दो वर्गों की शब्दावलि में इतना भेद हो जाता था कि एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के लोगों की बात भी ठीक-ठीक नहीं समझ पाते थे।

भारतीय भाषाओं के वंश-वृक्ष का अवलोकन करने से एक ही प्रदेश में बोली जानेवाली असंख्य भाषाओं के नाम और नमूने आपको मिल जायेंगे। मद्रास प्रान्त में तमिल, तेलुगु और मलयालम इन तीन एक-दूसरी से सर्वथा भिन्न भाषाओं के अतिरिक्त कुछ जिलों में आज भी ऐसी बोलियाँ हैं, जिन्हें एक ही जिले के सब आदमी नहीं समझते। काकेशस और अबीसीनिया में भी विभाषाओं की यही हालत है। ओसेनिया के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उसके प्रत्येक द्वीप अथवा द्वीप-समूह में अपनी स्वतन्त्र भाषा है, जिसका, पड़ोस की दूसरी भाषाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है।

ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों भाषाओं का एकीकरण होता जाता है। वे आदिकाल की अराजकता, अव्यवस्था और निरंकुशता को त्याग कर पहले अलग-अलग स्वतंत्र विभाषाओं में और फिर सब मिलकर किसी एक विस्तृत और व्यापक भाषा में मिल जाती हैं। हिन्दी और हिन्दी के बाद अब हिन्दुस्तानी का यह प्रयत्न भिन्न-भिन्न बोलियों और विभाषाओं के राष्ट्रीयकरण की ओर हमारे देश का पहला कदम है। यही कारण है कि आज भी हिन्दी में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के मुहावरे प्रचलित हैं।

पुनरुक्त और व्यर्थ अंशों को निकालने की प्रवृत्ति सब भाषाओं में पाई जाती है। ऋग्वेद में दिये हुए उषःकाल के अति सुन्दर वर्णन को पढ़कर जहाँ एक ओर काव्य-माधुरी और कोमल-कान्त

१. ओरिजिन ऑफ् लैंग्वेज, पृ० १६६।

पदावलि का अपूर्व आनन्द मिलता है, वहाँ शब्द और भाव-व्यंजना की बहुरूपता को देखकर यह भी अनुमान होता है कि संभवतः उस समय भाषा का कोई एक मुहावरेदार स्थिर और व्यापक रूप न था। जिस प्रकार छोटे-छोटे बच्चे कोई बात कहने पर उसे और पक्का करने के लिए एक बार और आहिस्ता से उसे दोहरा लिया करते हैं। उस समय के कवि और लेखक भी अपने काव्य में विचित्रता और ओज लाने के साथ ही, सबकी समझ में आ जाय, इस विचार से भिन्न-भिन्न शब्दों में एक ही भाव को व्यक्त किया करते थे। मुहावरों की उपयोगिता के प्रसंग में आगे चलकर इस विषय पर अधिक प्रकाश डालेंगे। अतएव यहाँ इतना संकेत-मात्र कर देना पर्याप्त होगा कि पुनरुक्ति को निकालने की भाषा की प्रवृत्ति भी मुहावरों के आविर्भाव का एक कारण है।

भाषा का दूसरा कदम व्याकरण की ओर बढ़ना होता है। जैसा श्री एफ़० डब्ल्यू० फरार का मत है—"आदिकाल में भाषाएँ अनियमित और अव्यवस्थित होती हैं। व्याकरण-शास्त्र तो उनके बाद बनता है[1]।" राजशेखर ने अपनी पुस्तक 'काव्य-मीमांसा' के प्रथम पृष्ठ पर ही काव्य-शास्त्र का जो उल्लेख किया है, उससे स्पष्ट है कि उसके मतानुसार काव्य के इस रहस्य को सर्व प्रथम शिव ने ब्रह्मा को दिया, जिसे ब्रह्मा ने बाद में आनेवाले दूसरे लोगों को बताया। इसके उपरान्त १८ अधिकरणों में इसका विभाजन किया गया, और १८ आचार्यों को इनके सम्बन्ध में लक्षण-ग्रन्थ बनाने का कार्य सौंपा गया। हृदयंगमा के इस वाक्य, 'पूर्वेषां काश्यपवररुचि-प्रभृतीनामाचार्याणां लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य' से भी यही सिद्ध होता है कि इन १८ आचार्यों ने बाद में लक्षण-ग्रन्थों की रचना की। संक्षेप में, श्री फरार और राजशेखर दोनों ही व्याकरण-शास्त्र को भाषा की उत्पत्ति के बाद की चीज मानते हैं।

संस्कृत के विद्वान्, हमारे एक मित्र, एक बार पाणिनि के विषय में हमें बता रहे थे कि उसने अपने व्याकरण में जितनी धातुओं का उल्लेख किया है, आज भी उनके बाहर कहीं कोई नया प्रयोग देखने को नहीं मिलता। संस्कृत-भाषा के व्याकरण के इतना बड़ा होने का कारण यह भी है कि उस समय जितने अपवाद थे, उन सबको भी नियम मान लिया गया है, और चूँकि उस समय भाषा के नियमों के उल्लंघन का कोई प्रश्न ही नहीं था, अतएव ऐसी सब चीजें भी विशेष नियमों के अपवादस्वरूप व्याकरण के अंतर्गत ले ली गईं। यही कारण है कि मुहावरों के व्याकरण के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।

आदिम भाषाओं के अध्ययन से ऐसा पता चलता है कि मुहावरों के आविर्भाव के पूर्व प्रत्येक व्यक्ति प्रायः सर्वथा अपनी इच्छा के अनुसार विभक्ति और क्रियापद के रूप बना लेता था। श्री हरडर ने तत्सम्बन्धी अपनी खोजों के आधार पर ही कदाचित् यह कहा है कि 'जो भाषा जितनी अधिक पिछड़ी हुई और अशिष्ट होगी, उसके क्रियापदों के रूप उतने ही अधिक होंगे।' इससे सिद्ध होता है कि प्रायः प्रत्येक भाषा विभक्तियों और क्रिया-पदों के स्वच्छन्द प्रयोगों को को रोककर उनके केवल व्यवहार-सिद्ध एवं लोकप्रिय अथवा मुहावरेदार प्रयोगों की ही रक्षा करना चाहती है। इस दृष्टि से भी उसकी प्रगति सदैव मुहावरों की ओर ही होती है।

अब अन्त में, संहित से व्यवहित होने की उनकी (भाषाओं की) चेष्टाओं का मुहावरों पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसकी मीमांसा करेंगे। भाषा की यह प्रवृत्ति आज की और केवल हमारे यहाँ की ही वस्तु नहीं रही है। फारसी और ग्रीक इत्यादि संसार की अन्य भाषाओं में भी भी संयोगात्मकता से व्यवच्छेदकता की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति आदिकाल से रही है।

1. "Scientific grammar is a subsequent invention at their birth languages are lawless and irregular."

भारतवर्ष की आधुनिक भाषाओं के ऐतिहासिक विकास की ओर दृष्टि डालने पर हम उनकी पहली प्राकृतें, साहित्यिक प्राकृतें अथवा पहली प्राकृतों के सुसंस्कृत और परिमार्जित रूप, दूसरी प्राकृत अथवा पाली तथा उसके अन्य विकसित रूप, मागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री इत्यादि को देखते हुए अन्त में वर्त्तमान हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी पर आ जाते हैं। एक ही प्राकृत के इतने अधिक रूपान्तर देखकर जहाँ एक ओर हमें भाषा की प्रगतिशीलता का परिचय मिलता है, वहाँ उनके सूक्ष्म अध्ययन से दूसरी ओर मनुष्य-प्रकृति और स्वभाव का भी अच्छा ज्ञान हो जाता है। पहली प्राकृतों की स्वेच्छचारिता, अव्यवस्था और अनियमितता जब उसे खटकी, तो पाणिनि बनकर उसने पूरी भाषा को व्याकरण की तंग कोठरी में बन्द करके विभक्ति और क्रिया-पद इत्यादि की कठोर बेड़ियाँ उसके पैर में डाल दीं। व्याकरण के इन बन्धनों से भाषा संस्कृत तो हो गई किन्तु सर्वसाधारण की बोलचाल और मुहावरेदारी से बहुत दूर चली गई।

'मनुष्य की बुद्धि को', जैसा श्री एफ्० डब्ल्यू० फरार अपनी पुस्तक 'दी ओरिजिन ऑफ् लैंग्वेज (The origin of language) के पृष्ठ १७५ पर लिखते हैं—"व्याकरण के कठोर और निरंकुश नियमों अथवा किसी अत्यधिक आदर्श पद्धति से जकड़ देना बुरा है। बढ़ती हुई सभ्यता और अति शिष्ट समाज में जिस प्रकार मनुष्य की प्रत्येक व्यक्तिगत भावना के समाज में प्रचलित नियमों के अधीन होने से उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं के नष्ट होने का भय रहता है, उसी प्रकार भाषा में जब प्रत्येक प्रयोग के लिए विशेष नियम बन जाते हैं, तब उसे बोलनेवालों की बुद्धि कुंठित और कल्पना-शक्ति अवरुद्ध हो जाती है।" संस्कृत के साथ ठीक यही हुआ। पाणिनि आदि वैयाकरणों के बाद तुरन्त ही भाषा के क्षेत्र में एक भारी क्रान्ति खड़ी हो गई। संक्षेप में, यही दूसरी प्राकृत के प्रादुर्भाव का कारण और इतिहास है। हिन्दी के प्रसिद्ध वैयाकरण कामताप्रसाद गुरु इन दोनों प्राकृतों की प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए अपनी पुस्तक 'हिन्दी-व्याकरण' के पृष्ठ १२, १३ पर लिखते हैं—

"अष्टाध्यायी आदि व्याकरणों में 'वैदिक' और 'लौकिक' नामों से दो प्रकार की भाषाओं का उल्लेख पाया जाता है और दोनों के नियमों में बहुत-कुछ अन्तर है। इन दोनों प्रकार की भाषाओं में विशेषताएँ ये हैं कि एक तो संज्ञा के कारकों की विभक्तियाँ संयोगात्मक हैं, अर्थात् कारकों के भेद करने के लिए शब्दों के अन्त में अन्य शब्द नहीं आते, जैसे, 'मनुष्य' शब्द का सम्बन्ध कारक संस्कृत में 'मनुष्यस्य' होता है हिन्दी की तरह 'मनुष्य का' नहीं होता। दूसरे, क्रिया के पुरुष और वचन में भेद करने के लिए पुरुषवाचक सर्वनाम का अर्थ क्रिया के ही रूप से प्रकट होता है, चाहे उसके साथ सर्वनाम लगा हो या न लगा हो, जैसे, 'गच्छति' का अर्थ 'स गच्छति' होता है। यह संयोगात्मकता वर्त्तमान हिन्दी के कुछ सर्वनामों में और संभाव्य भविष्यत् काल में पाई जाती है, जैसे, मुझे, किसे, रहूँ, इत्यादि। इस विशेषता की कोई-कोई बात बँगला भाषा में भी अबतक पाई जाती है, जैसे 'मनुष्येर' सम्बन्धकारक में और 'कहिलाम' उत्तम पुरुष में। आगे चलकर संस्कृत की यह संयोगात्मकता बदलकर व्यवच्छेदकता हो गई।"

इसी प्रकार जेन्द, पहलवी और पारसी का स्थान वर्त्तमान फ़ारसी ने ले लिया है। जेन्द एक प्रकार से संयोगात्मक ही थी। किन्तु इसके विरुद्ध आधुनिक फ़ारसी प्रायः समस्त भाषाओं से कम घुमाव-पेंचवाली है। उसका व्याकरण 'आमदनामा' कुल १२ या १४ पन्नों की एक पुस्तिका है। वर्त्तमान ग्रीक, लैटिन इत्यादि भी इसी प्रकार प्राचीन भाषाओं के व्यवच्छिन्न रूप हैं। देश और काल की दृष्टि से सर्वथा भिन्न पाली और इटालियन भाषाओं को जब हम उनकी मातृभाषा से तुलना करते हुए बिल्कुल समान स्थिति में पाते हैं, तो हमें पूर्ण विश्वास हो जाता है कि भाषा

की प्रगति का एक आवश्यक नियम है, उसकी अपरिवर्त्तनीय प्रकृति है, कि जटिल और गूढ़ प्रयोगों की जगह सरल, लोकप्रिय और अति सुबोध मुहावरों को अपनाती चली जाय।

भाषा का संयोगात्मकता से व्यवच्छेदकता की ओर बढ़ना, जैसा बच्चों की भाषा का उल्लेख करते हुए हमने बताया है, वास्तव में, मनुष्य की बुद्धि और उसके ज्ञान का विकास है। हम देखते हैं कि संस्कृत के अच्छे-अच्छे विद्वान् भी संस्कृत को अपनी घरेलू भाषा से अधिक व्यवस्थित और बा-मुहावरा ढंग से तथा उसी प्रवाह के साथ बोलने में प्रायः असमर्थ रहते हैं। कारण स्पष्ट है, बाद में आनेवाली पीढ़ी के लोगों को व्यक्तिगत प्रयोग के लिए अपने पूर्वजों की भाषा बहुत साहित्यिक मालूम पड़ती है। उनके मुहावरों से इन नवयुवकों के जीवन का मेल नहीं बैठता। अतएव ये लोग आदिम भाषाओं के गूढ़ और निरंकुश संहित प्रयोगों के स्थान में अलग-अलग भावों के लिए अलग-अलग स्पष्ट, सरल और सुबोध मुहावरे बना लेते हैं। 'मुहावरे किसी भाषा के चमचमाते हुए रत्न हैं, तो ये लोग आदिम भाषाओं के इन रत्न-पिंडों को तोड़कर एकदम चकाचौंध पैदा करनेवाले नये पिंड तो नहीं बनाते, किन्तु उन्हींको अधिक स्पष्ट ढंग से पुनः व्यवस्थित अवश्य कर देते हैं[1]।' इनका मुख्य ध्येय भाषा को स्पष्ट, सरल और मुहावरेदार बनाने के साथ ही सर्व-साधारण के लिए बोधगम्य बनाना रहता है। इसलिए ये प्राचीन प्रयोगों की 'भावुकता और सुरीलेपन' को खोकर भी हर प्रकार के विचारों को व्यक्त कर सकने की शक्ति को अधिक महत्त्व देते हैं।

भाषा की प्रगति के नियमों का विवेचन करते हुए ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक भाषा की स्वाभाविक प्रगति मुहावरों की ओर होती है। मुहावरे उसपर लादे नहीं जाते, बल्कि जैसा अभी आदर्श भाषा के प्रकरण में भी आप देखेंगे, किसी भाषा में उसकी प्रकृति, प्रवृत्ति और स्वाभाविक प्रगति के अनुसार उनका क्रमिक विकास होता है।

आदर्श भाषा

हिन्दी-भाषा और साहित्य के प्रचार और प्रसार के लिए आज हमारे देश में नागरी-प्रचारणी सभा और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन-जैसी और भी कितनी ही संस्थाएँ जी तोड़कर परिश्रम कर रही हैं, किन्तु फिर भी भाषा की अशुद्धता नोआखाली के गुंडों की तरह सीना खोले हुए स्वच्छन्द विचर रही है। श्री रामचन्द्र वर्मा हिन्दी-भाषा के मर्मज्ञ और एक बड़े अनुभवशील व्यक्ति हैं। भाषा के क्षेत्र में होनेवाली इस धींगामस्ती का उल्लेख करते हुए आप 'अच्छी हिन्दी' की भूमिका के पृष्ठ ४ पर लिखते हैं—"समाचार-पत्र, मासिक पत्र, पुस्तकें सभी कुछ देख जाइए, सबमें भाषा की समान रूप से दुर्दशा दिखाई देगी। छोटे और बड़े सभी तरह के लेखक भूलें करते हैं और प्रायः बहुत बड़ी-बड़ी भूलें करते हैं। हिन्दी में बहुत बड़े और प्रतिष्ठित माने जाने-वाले ऐसे अनेक लेखक और पत्र हैं, जिनकी एक ही पुस्तक अथवा एक ही अंक में से भाषा-सम्बन्धी सैकड़ों तरह की भूलों के उदाहरण एकत्र किये जा सकते हैं। पर आश्चर्य है कि बहुत ही कम लोगों का ध्यान उन भूलों की ओर जाता है। भाषा में भूलें करना बिल्कुल आम बात हो गई है। विद्यार्थियों के लिए लिखी जानेवाली पाठ्य-पुस्तकों तक की भाषा बहुत लचर होती है। यहाँ तक कि व्याकरण भी, जो शुद्ध भाषा सिखलाने के लिए लिखे जाते हैं, भाषा-सम्बन्धी दोषों से रहित नहीं होते। जिन क्षेत्रों में हमें सबसे अधिक शुद्ध और परिमार्जित भाषा मिलनी चाहिए, जब उन्हीं क्षेत्रों में हमें भद्दी और गलत भाषा मिलती है, तब बहुत अधिक दुःख और निराशा होती है।"

श्रीवर्माजी की यह मनोव्यथा सर्वथा स्वाभाविक है। भाषा की दृष्टि से तो आज सचमुच "अस्माकूनां नैयायिकेषां अर्थनि तात्पर्यम् शब्दनि कोश्चिन्ता" संस्कृत की यह उक्ति साकार हो गई है।

---

१. Origin of Language; पृ० १७६।

वर्मा जी ने भाषा के क्षेत्र में चलनेवाले इस भ्रष्टाचार का भंडाफोड़ तो खूब किया है, किन्तु यह होता क्यों है, इसपर विशेष ध्यान नहीं दिया। यह कहना आवश्यक नहीं है कि जब हम भाषा के दुरुपयोग और सदुपयोग अथवा शब्द और मुहावरों के किसी विशेष रूप में प्रयोग करने पर जोर देते हैं, तब जबतक हमारे सामने भाषा का कोई समुचित आदर्श न हो, हमारा यह कथन सर्वथा निरर्थक और महत्त्वहीन हो जाता है।

साधारणतया किसी भाषा के आदर्शों की कल्पना दो दृष्टियों से की जाती है—सांस्कृतिक और वैज्ञानिक अथवा तर्क और न्याय के आधार पर। सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा का मुख्य आदर्श, आम तौर से, स्पष्ट भाव-व्यंजन और विज्ञान (भूमिति-शास्त्र, गणित-शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञान) अथवा तर्क की दृष्टि से, किसी अंक अथवा संख्या का किन्हीं संकेतों के द्वारा प्रतिनिधित्व करना, होता है। भाषा के इन आदर्शों की व्याख्या करते हुए जेसपरसन लिखता है—"आदर्श भाषा में शब्द और मुहावरों के रूप स्थिर रहते हैं, एक या समान भावों को सदैव एक या समान साधनों के द्वारा ही व्यक्त किया जाता है। उसमें किसी प्रकार की अव्यवस्था या सन्देह नहीं रहता, शब्द और मुहावरों के अर्थ स्थिर होते हैं, कोमल-से-कोमल भावों को भी उसी सरलता से व्यक्त करने की उसमें अपूर्व क्षमता होती है, गद्य और पद्य तथा सत्य, सौन्दर्य, विचार और अनुभव, सबके लिए उसमें स्थान रहता है।" आगे चलकर वह कहता है—'कोई भाषा अभी पूर्ण नहीं हुई है, किन्तु प्रत्येक की प्रकृति आरंभ से ही इस आदर्श की ओर बढ़ने की रही है।'

और लोगों ने भी भाषा के आदर्शों पर लिखा है, किन्तु उनके विचार प्रायः किसी विशेष दृष्टि-कोण से लिखे जाने के कारण बहुत संकुचित और सीमित हो गये हैं। श्री एफ़० पी० रेम्जे अपनी पुस्तक 'गणित की नींव' (Foundation of Mathematics) के पृष्ठ २८३ पर भाषा का आदर्श बताते हुए लिखते हैं—"किसी पूर्ण भाषा में प्रत्येक वस्तु का अपना अलग नाम होता है", जिससे कि "यदि किसी वाक्य में किसी पदार्थ का उल्लेख हो, तो उस पदार्थ का नाम भी स्पष्ट रूप से उस वाक्य में रहेगा (अथवा वाक्य में आये हुए उस पदार्थ के नाम से भी उसका स्पष्ट ज्ञान हो जायगा)...किसी पूर्ण भाषा में, उस समय समस्त वाक्य और विचार सर्वथा स्पष्ट होंगे।"

हमारे यहाँ के विद्वानों ने बहुत पहले इस प्रश्न को उठाया था। अन्विताभिधानवादियों का मत है कि शब्दों का, किसी वाक्य के अंग होने के कारण ही, कुछ अर्थ होता है। अन्यथा स्वतंत्र रूप से उनका अर्थ व्यक्त नहीं होता, ऐसा कहकर कदाचित् उन्होंने भाषा के आदर्श की मीमांसा करने के लिए पहले शब्द के आदर्श पर ही जोर दिया है। शब्द के आदर्श के सम्बन्ध में हमारे यहाँ मुख्य पाँच मत हैं—

१. केवलव्यक्तिवादिनः, २. जातिविशिष्टव्यक्तिवादिनः, ३. अपोहवादिनः,
४. केवलजातिवादिनः तथा ५. जात्यादिवादिनः।

श्री रेम्जे का मत हमारे यहाँ के आधुनिक नैयायिकों से बिलकुल मिलता है। ये लोग 'केवलव्यक्तिवादिनः' के सिद्धान्त को मानते हुए कहते हैं—"जब कोई आदमी कहता है कि 'घटं आनय', तो वह पदार्थ घड़ा चाहता है; क्योंकि पदार्थ ही किसीके लिए उपयोगी हो सकता है; उसका गुण घटत्व नहीं। इसलिए 'घड़ा' शब्द से किसी-न-किसी प्रकार 'वस्तु घड़ा' अभिप्राय होना चाहिए; क्योंकि नहीं तो सुननेवाला कभी घड़ा नहीं ला सकता। आधुनिक नैयायिक केवल इसीके आधार पर कहते हैं कि 'घट' शब्द का मुख्य अर्थ व्यक्ति है (गुण नहीं)।" कैयट लिखता है—'व्यक्तिवादिनस्त्वाहुः शब्दस्य व्यक्तिरेव वाच्या। जातेस्तूपलक्षणभावेन आश्रयणादानन्त्यादि दोषानवकाशः[१]।"

१. साहित्य-दर्पण (पी० वी० काणे) टीका, पृ० ४१।

परन्तु इस सिद्धान्त के विरुद्ध बहुत-से आक्षेप हैं। यदि 'घट' शब्द का अर्थ एक विशिष्ट पदार्थ मान लिया जाय, अथवा यदि प्रत्येक वस्तु के लिए अलग-अलग शब्द रखे जायँ, तो दुनिया में जितने पदार्थ हैं, उतने ही अलग-अलग शब्दों की हमें आवश्यकता पड़ेगी और साथ ही प्रत्येक संकेत को अलग-अलग याद रखना पड़ेगा; क्योंकि उनमें आपस में कोई सम्बन्ध ही नहीं है। जरा सोचिए, एक कुम्हार के यहाँ दो हजार घड़े हैं। यदि हर घड़े का घर के बच्चों की तरह अलग-अलग नाम रखा जाय, तो उस बेचारे पर क्या गुजरेगी, कैसे वह अपना व्यापार चला पायगा। भाषा का यह आदर्श गणित में काम दे सकता है और शायद उसके लिए अनिवार्य भी हो, किन्तु जीवन के दूसरे व्यापारों में तो इससे कभी काम चल ही नहीं सकता और फिर खास तौर से ऐसे समय, जबकि विज्ञान के नये-नये आविष्कारों ने समय और दूरी को सर्वथा नगण्य करके समस्त संसार को एक परिवार-जैसा बना दिया है। पाश्चात्य समालोचक श्री लौके (Locke) इसकी टीका करते हुए कहते हैं—'प्रत्येक वस्तु-विशेष अथवा व्यक्ति के लिए अलग-अलग नाम देना ज्ञान की वृद्धि में शायद ही उपयोगी सिद्ध हो सके[1]।' हमारी समझ में तो भाषा के किसी ऐसे आदर्श का अनुकरण, न केवल ज्ञान-वृद्धि की दृष्टि से ही, अपने-आप पैर में कुल्हाड़ी मारना सिद्ध होगा, वरन् राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक दृष्टियों से भी घातक होगा। इतना सन्तोष है कि अति अव्यवहार्य होने के कारण सम्भवतः इस आदर्श के प्रवर्त्तक स्वयं भी गणित इत्यादि कतिपय क्षेत्रों को छोड़कर अन्यत्र इससे काम नहीं चला सकते।

भाषा के आदर्श पर जितने लोगों ने भी लिखा है, जेसपरसन और रेम्जे के लेखों में एक प्रकार से सबका निचोड़ आ जाता है। रेम्जे की चर्चा हम ऊपर कर ही चुके हैं। उनका आदर्श उनकी अंक-विद्या के असामाजिक और अव्याप्त क्षेत्र का आदर्श हो सकता है, भाषा का नहीं। भाषा किसी देश, जाति अथवा राष्ट्र के मनोभावों का छाया-चित्र होती है, स्थूल पदार्थों का फोटो नहीं। मनुष्य को, जैसा समाज-शास्त्र के हमारे विद्वान् प्रायः कहा करते हैं, समाज-रूपी माला का एक दाना मानें, तो कहना होगा कि भाषा ही वह सूत्र है, जो इन सबको एक जगह बाँधे हुए है। ऐसी स्थिति में, हम समझते हैं, जेसपरसन ने आदर्श की जो व्याख्या की है, वही अधिक युक्ति-युक्त और न्याय-संगत है। संसार की प्रायः प्रत्येक विकसित और उन्नत भाषा की गति भी उसी ओर है।

उद्देश्य अथवा साध्य की अन्तिम सीढ़ी का नाम ही आदर्श है। ये सीढ़ियाँ अनन्त होती हैं। फिर अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचकर तो, जैसा वेदान्त-शास्त्र हमें बतलाता है, साधन और साधक दोनों का लोप हो जाता है अथवा यों कहिए, साध्य में ही दोनों का समावेश हो जाता है। साध्य का साक्षात् दर्शन करनेवाला साधक ही जब साध्य बन जाता है, तो फिर उसका आँखों-देखा परिचय किससे मिल सकता है। अतएव यह मान लेना चाहिए कि उद्देश्य के आधार पर ही आदर्श की कल्पना होती है। इस सम्बन्ध में एक बात और याद रखने की है कि ज्यों-ज्यों साधक साध्य के निकट पहुँचता जाता है, मूर्त्ताधार का क्रमशः लोप होता जाता है। भक्त नरसिंह के बारे में मराठी की किसी पुस्तक में हमने पढ़ा था कि एक बार किसी दूसरे भक्त ने उन्हें पत्र लिखा, जिसके उत्तर में आपने केवल एक कोरा कागज उसके पास भेजा। भक्त की आँख खुल गई और वह उसे पाकर प्रसन्नता के मारे नाचने लगा। इस कहानी के द्वारा हम यही बताना चाहते हैं कि भाषा के क्षेत्र में शब्द-रूपी मूर्त्ताधार के द्वारा अपने हृदय में छिपे हुए विचार, भावना और अनुभवों को सरल, सुबोध और ओजपूर्ण ढंग से, यथासाध्य संक्षिप्त और स्पष्ट वाक्यों में, व्यक्त करना ही हमारा मुख्य उद्देश्य होता है। अतएव ज्यों-ज्यों कोई भाषा उन्नत होती जाती है, उसके शब्दों की संख्या परिमित

१. पजू० आर०, पृ० १०१।

होकर अर्थ-परिवर्त्तन के गुण उसमें आते चले जाते हैं। वह साकार से निराकार की ओर बढ़ने लगती है। उद्देश्य के आधार पर इसलिए किसी आदर्श भाषा की व्याख्या हम इस प्रकार कर सकते हैं—

१. भाषा में स्थूल पदार्थों से लेकर तत्त्व-चिन्तन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथ्यों तक को व्यक्त करने की पूरी क्षमता होनी चाहिए।

२. शब्द और मुहावरों के रूप और अर्थ पर पूर्ण अनुशासन रहना चाहिए (केवल शिष्ट-सम्मत और व्यवहार-सिद्ध प्रयोग ही भाषा की कसौटी होते हैं)।

३. अव्यवस्था और अस्पष्टता नहीं होनी चाहिए।

४. वाक्य सुन्दर, सरल और स्पष्ट होने चाहिए।

५. गद्य-पद्य तथा हर प्रकार के विचार, अनुभव और कल्पनाओं को समान रूप से व्यक्त करने की शक्ति होनी चाहिए।

६. लिखने और पढ़ने में कोई भेद नहीं होना चाहिए, जो लिखें, वही पढ़ें। प्रत्येक अक्षर एक और केवल एक ही ध्वनि का प्रतिनिधि होना चाहिए।

मनुष्य सौन्दर्य का पुजारी होता है। हर वस्तु को सुन्दर बनाने की उसकी प्रबल इच्छा रहती है। अतएव सौन्दर्य-वृद्धि भी भाषा का एक मुख्य उद्देश्य है। भाषा में सौन्दर्य से हमारा अभिप्राय विशेषतया उसकी मुहावरेदारी से है। श्रीरामचन्द्र वर्मा भी इस प्रसंग में इस प्रकार लिखते हैं–

"भाषा में सौन्दर्य लाने के लिए मुहावरों, कहावतों और अलंकारों आदि से भी सहायता ली जाती है। इन सभी का भाषा में एक विशेष और निजी स्थान होता है। कहावतों और अलंकारों की तो सब जगह उतनी अधिक आवश्यकता नहीं होती, पर मुहावरेदारी और बोलचाल की भाषा तथा शिष्ट-सम्मत प्रयोगों के ज्ञान की हर जगह आवश्यकता होती है। जो भाषा बे-मुहावरा होगी या शिष्ट-सम्मत न होगी, वह जरूर खटकेगी[1]।"

भाषा के आदर्श पर दृष्टि रखते हुए कह सकते हैं कि किसी भी अच्छी और चलती हुई भाषा का मुख्य लक्षण उसकी भाव-व्यंजना की अतिव्यापकता है। उसमें ज्ञात से अज्ञात अथवा स्थूल से सूक्ष्म में पहुँचने की शक्ति होती है। उसके शब्द-संकेत परिमित होते हुए भी अपरिमित वस्तु और भावों का सफल प्रतिनिधित्व करते हैं। संक्षेप में, प्रकरण-भेद से अर्थ-भेद हो जाना किसी भी उन्नत भाषा का सर्वप्रथम लक्षण है। कुछ लोगों को इस प्रकार के परिवर्त्तन से भाषा की अपरिवर्त्तनीयता नष्ट होने की शंका हो सकती है। एच्. अम्मन (H. Amman) लिखता भी है—

"किसी ऐसी भाषा की हम कल्पना कर सकते हैं, जो दसों क्या, सैकड़ों वर्षों तक अपरिवर्त्तित रह सकती है। भाषा की इस अपरिवर्त्तित अथवा स्थायी अवस्था का उसके स्वभाव से कभी विरोध नहीं होता। हाँ, इसमें बराबर परिवर्त्तन होते रहना, अवश्य ज्ञान-प्राप्ति के साधन होने का जो गुण इसमें है, उसके सर्वथा प्रतिकूल सिद्ध होगा[2]।" हम मानते हैं कि भाषा में स्वेच्छापूर्वक पूर्ण परिवर्त्तन करना अवश्य उसके प्रधान लक्षण के प्रतिकूल होगा। किन्तु अम्मन साहब का विवेचन तर्क की दृष्टि से दोषपूर्ण है। उन्होंने नितान्त अपरिवर्त्तन और नितान्त परिवर्त्तन के बीच की अवस्था पर विचार नहीं किया है। संसार में नई-नई खोजें हो रही हैं, नये-नये विचार और नये-नये अनुभवों के इस युग में भाषा का नितान्त अपरिवर्त्तनीय और स्थायी होना भी तो उसकी प्रकृति के उतना ही विरुद्ध होगा। इसलिए यहाँ प्रश्न केवल प्रधानता का है और वस्तु-स्थिति को देखते हुए यह स्पष्ट है कि परिवर्त्तन

१. अच्छी हिन्दी, पृ० २०।

२. एस्० आर०, पृ० १७२।

अथवा लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को प्रधानता मिलनी चाहिए। यहाँ यह बात याद रखनी चाहिए कि जैसा साहित्य-दर्पणकार ने कहा है—'मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो रुढेः प्रयोजनाद्वा', मुख्यार्थबाध होने पर भी ऐसे प्रयोगों में मुख्यार्थ-संबंध बराबर बना रहता है। वास्तव में मुख्यार्थ की रक्षा करते हुए दूसरे अर्थ को व्यक्त करना ही संक्षेप में भाषा की भाव-व्यंजकता का लक्षण है।

भाषा के आदर्श की समस्या इस प्रकार वास्तव में शब्दों के शुद्ध प्रयोग की समस्या है। इस समय जबकि श्रीरामचन्द्र वर्मा ने जैसी बार-बार चेतावनी दी है, शब्दों के ऐसे प्रयोग हो रहे हैं, जो या तो निरर्थक होते हैं या अशुद्ध और असंगत, हमें सार्थक और शुद्ध रीति से उनका प्रयोग करना सीखना चाहिए। शब्दों के शुद्ध प्रयोग के साथ ही उनके ठीक-ठीक अर्थ का जानना भी उतना ही आवश्यक है। अतएव अब हम शब्दों के अर्थ-परिवर्त्तन की मीमांसा करेंगे।

भाषा की परिवर्त्तनशीलता

भाषा का मुख्य नियम, इसलिए, परिवर्त्तनशीलता है कि जिन संकेतों का इसमें प्रयोग होता है, वे सर्वथा स्थिर और अपरिवर्त्तनीय नहीं होते। बोधगम्य भाषा में स्थिरता होनी चाहिए, किन्तु जड़ स्थिरता नहीं, उससे भाषा की प्रगतिशीलता नष्ट हो जाती है। स्थिरता और अपरिवर्त्तनीयता का केवल आनुषंगिक महत्त्व होता है। सम्पूर्ण सृष्टि के असंख्य पदार्थों तथा रूप और आकृतियों का नामकरण ही संक्षेप में भाषा का मुख्य व्यापार अथवा जीवन है। नामकरण का उसका यह अनुष्ठान प्रायः निरन्तर चलता रहता है। कभी एक वस्तु से दूसरी में नामों का परिवर्त्तन करती है, तो कभी बुद्धि-पूर्वक नये नाम अथवा संकेत बनाकर नये-नये आविष्कारों, भावों और विचारों का समाजीकरण करती है।

संकेत-परिवर्त्तन

संकेत-परिवर्त्तन, जैसा ऊपर बताया गया है, भाव-व्यंजना की दृष्टि से किसी भाषा का मुख्य साधन है। भारतवर्ष में तो आज से सहस्रों वर्ष पूर्व, भरत, भामह और दंडी के समय में ही शब्द और उसकी शक्तियों के रूप में साहित्य के इस पक्ष पर विचार-विनिमय होने लगा था। पाश्चात्य देशों में अवश्य, जैसा मार्शल अरबन लिखते हैं कि सर्वप्रथम अरस्तू का ध्यान इस ओर गया। उसने इस परिवर्त्तन के नियमों का भी अध्ययन किया। उसके मतानुसार शब्द या संकेतों का यह परिवर्त्तन चार प्रकार से होता है—१. किसी उपजाति का नाम जाति में परिवर्त्तित हो सकता है २. जाति का उपजाति में, ३. एक उपजाति का दूसरी उपजाति में परिवर्त्तन हो सकता है और ४. सादृश्य के आधार पर उनमें परिवर्त्तन होता है।

शब्दों का यह परिवर्त्तन, जैसा पीछे दिखा चुके हैं, भाषा की प्रगतिशीलता का ही लक्षण है, उसकी निरंकुशता का नहीं। यह बात याद रखनी चाहिए। मार्शल अरबन ने एक स्थल पर लिखा है—"शब्द अपने पूर्व अर्थ अथवा प्रसंग को खोकर नहीं, वरन् उसकी रक्षा करते हुए ही नये विषय का द्योतन करते हैं[१]।" अरस्तू के शब्द-परिवर्त्तन का मुख्य आधार भी सादृश्य ही है। महाभाष्यकार के 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' की व्याख्या करते हुए (काव्यप्रकाशकार) आचार्य मम्मट लिखते हैं—"तत्र मुख्यश्चतुर्भेदो ज्ञेयो जात्यादिभेदतः.........चतुष्टयी हि शब्दानां प्रवृत्तिर्भगवता महाभाष्यकारेणोपवर्णिता चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चेति। तथाहि सर्वेषां शब्दानां स्वार्थाभिधानाय प्रवर्त्तमानानामुपरञ्जित-

१. एल० आर०, पृ० १७३।

विषयविवेकत्वादुपाधिनिबन्धना प्रवृत्तिः[1]।" आचार्य मम्मट की व्याख्या से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि शब्दों का परिवर्त्तन विना किसी कारण के नहीं होता। जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य—शब्दों की जो ये चार प्रवृत्तियाँ हैं, इनमें से ही किसीके आधार पर शब्दों का नये पदार्थों के लिए प्रयोग होता है। एक काले जानवर को दिखाते हुए हमने किसी बच्चे से कहा कि यह घोड़ा है। अब सफेद, लाल, कबरे इत्यादि प्रत्येक रंग के ऐसे पशु को देखकर वह 'घोड़ा! घोड़ा!!' पुकार उठता है। यहाँ जातीय गुण के कारण एक नाम घोड़ा पूरी घोड़ा-जाति के लिए प्रयुक्त होने लगा। 'शरीर बर्फ होना' हिन्दी का एक मुहावरा है। यहाँ स्पर्श-साम्य के आधार पर शरीर के ठंडेपन को बर्फ कहा गया है। इसी प्रकार, 'पैरों में मेंहदी लगी होना', 'गर्जना तर्जना' इत्यादि मुहावरों का क्रिया के आधार पर और 'पैसेवाला होना', 'लाल पगड़ी' इत्यादि का द्रव्य के आधार पर निर्माण हुआ हैं। कैयट और नागोजीभट्ट के 'अर्थगतं प्रवृत्तिनिमित्तमनपेक्ष्य यः शब्दः प्रयोक्त्रभिप्रायेणैव प्रवर्त्तते स यदृच्छाशब्दो डित्थादि[2]' तथा 'स्वेच्छयैकस्यां व्यक्तौ संकेत्यमानः शब्दो यदृच्छाशब्दः' के अनुसार यद्यपि व्यक्तिवाचक संज्ञा-जैसे कुछ नाम ऐसे होते हैं, जिनका प्रयोग प्रायः उनके अपने अर्थ की अपेक्षा न करते हुए प्रयोगकर्त्ता स्वयं अपनी इच्छा-मात्र से करता है, किन्तु फिर भी यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो प्रयोगकर्त्ता के मन में उनके गुण-दोष की कुछ-न-कुछ कल्पना रहती अवश्य है।

भारतीय विद्वानों ने इसीलिए ऐसे समस्त परिवर्त्तनों को लाक्षणिक प्रयोग मानकर उनके लक्षण तथा भेद और उपभेदों पर विचार किया है। विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न दृष्टियों से इनके विभिन्न भेद और उपभेद किये हैं। कुछ विद्वानों ने इसे 'जहल्लक्षणा', 'अजहल्लक्षणा' 'जहदजहल्लक्षणा' इन तीन भागों में विभाजित किया है। जहल्लक्षणा से उनका अभिप्राय उन परिवर्त्तित प्रयोगों से है, जो मुख्य अर्थ को सर्वथा छोड़कर एक नये अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति,' यहाँ मंच का अर्थ खाट नहीं, वरन् खाट पर सोया हुआ बच्चा है। अजहल्लक्षणा में अपने मुख्य अर्थ को कुछ थोड़ा बढ़ाकर शब्द आते हैं। जैसे, 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्', यहाँ कौए से कौए की ही ध्वनि नहीं निकलती है, वरन् दध्युपघातक सब प्राणियों का अर्थ होता है। जहदजहल्लक्षणा में मुख्य अर्थ का कुछ अंग तो बना रहता है, और कुछ लुप्त हो जाता है। जैसे, 'सोऽयं देवदत्तः', इसमें तत्कालीन और एतत्कालीन को छोड़कर विचार किया गया है।

अरस्तू ने, शब्द-परिवर्त्तन के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसका इतिहास की दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व हो सकता है, किन्तु वस्तुस्थिति को देखते हुए उसमें बहुत-कुछ सुधारने और बढ़ाने की आवश्यकता है। इन चारों प्रकार के भेदों में यद्यपि मूल और परिवर्त्तित शब्द अथवा नामों में मुख्यार्थ को सुरक्षित रखने अथवा दोनों के बीच के सम्बन्ध की भावना को स्पष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया गया है, किन्तु फिर भी कार्य और कारण, पूर्ण और अंश तथा गुणी और गुण के नितान्त स्पष्ट सम्बन्ध का, जिनका कि शब्द-परिवर्त्तन के क्षेत्र में बहुत बड़ा हिस्सा है, कोई उल्लेख नहीं हुआ है। 'किरकिरा होना' हिन्दी का एक मुहावरा है। वास्तव में 'किरकिरा होना' कारण है आनन्द-भंग होने का; किन्तु मुहावरे में इसका अर्थ ही आनन्द-भंग होना हो जाता है। बनारस में 'पानी पीना', इस मुहावरे का अर्थ नाश्ता या ब्यालू करना, जिसमें खाना और पीना दोनों ही रहते हैं, होता है। किन्तु मुहावरे में खाने-पीने की इस पूरी क्रिया के एक अंश 'पानी पीने'

---

१. साहित्य-दर्पण, पृ० ४१ नोट्स।

२. सा० द०, (पी० व्ही० काणे), पृ० ४९-५०।

से ही पूरी क्रिया का बोध करा दिया जाता है। इसी प्रकार, 'खट्टा खाना' मुहावरे में वस्तु को उसके गुण की संज्ञा दी गई है, खट्टा गुण है किसी आम, इमली, नींबू-जैसी वस्तु का, वह स्वयं आम इमली या नींबू नहीं है। फिर खाई कोई वस्तु जाती है, उसके गुण का तो अनुभव होता है। इसी प्रकार, 'हिटलर होना', 'जबान कैंची होना', 'मुँह से फूल झड़ना', 'मोरचा मारना', 'मनुष्य का काम नहीं', इत्यादि और भी कितने ही ऐसे मुहावरे हैं, जहाँ गुणी को गुण, कारण को कार्य तथा अंश को पूर्ण की संज्ञा दी गई है। अरस्तू के विवेचन में दूसरी कमी यह है कि उसने शब्द-परिवर्त्तन के जितने प्रकार बताये हैं, वे सब-के-सब बिल्कुल स्पष्ट और सर्वथा तर्कपूर्ण, हैं जबकि व्यवहार में, जैसा कैयट और नागोजीभट्ट का उल्लेख करते हुए हमने पहले बताया है, व्यक्तिवाचक संज्ञा-जैसे कुछ ऐसे शब्द-परिवर्त्तन भी होते हैं, जो केवल प्रयोगकर्त्ता की इच्छा के मुहताज होते हैं; उनमें कोई तर्क अथवा पूर्वापर सम्बन्ध नहीं होता।

मुहावरों की दृष्टि से देखने पर तो हमें कहना पड़ता है कि अरस्तू ने जो यह चार वर्ग बनाये हैं, उनमें केवल चौथा ही महत्त्व का है, पहले तीन का सम्बन्ध तो एक प्रकार से केवल शब्दार्थ से है। चौथे में अवश्य वे सब शब्द परिवर्त्तन आ जाते हैं, जिनमें अर्थ की दृष्टि से स्थूल से सूक्ष्म अथवा अभिधेयार्थ से लक्ष्यार्थ की ओर जाने की प्रवृत्ति रहती है, उसमें अर्थ-परिवर्त्तन की वे सब मौलिक और मुख्य-मुख्य पद्धतियाँ आ जाती हैं, जिनके सम्बन्ध में भाषा का ज्ञान से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध होता है। 'भाषा और भाषा-सम्बन्धी जाग्रति का', मार्शल अखन जैसा लिखता है, 'अनुकरण से सादृश्य और सादृश्य से लाक्षणिक संकेतों (symbol) की ओर विकास होता है'। मुहावरे और शब्द-शक्तियों के प्रकरण में जैसा हम पहले अध्याय में दिखा चुके हैं, लक्षणा और व्यंजना का मुहावरों के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ होता है। अर्थ-परिवर्त्तन की दृष्टि से भाषा की यही दोनों अन्तिम अवस्थाएँ मुहावरों के आविर्भाव का प्रधान कारण होती हैं। अतएव अब अति संक्षेप में इन्हींका थोड़ा-बहुत विवेचन करेंगे।

सादृश्य के आधार पर अर्थ-परिवर्त्तन

सादृश्य के आधार पर इस प्रकार के परिवर्त्तन हम प्रायः दो कारणों से करते हैं। किसी नये भाव, विचार या द्रव्य का वर्णन करने के लिए भाषा में तद्‌बोधक शब्दों के अभाव में या भाषा में कुछ विलक्षणता और अनूठापन लाने के लिए किसी बात को एक नये ढंग से व्यक्त करने में। मुहावरों की दृष्टि से दोनों प्रकार के परिवर्त्तन महत्त्वपूर्ण हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि एक का सम्बन्ध भाषा के स्वभाव अथवा भाषा-विज्ञान से है और दूसरे का मानव-स्वभाव अथवा मनोविज्ञान से। एक ओर 'बधिया-सी बैठ जाना', 'गाजर-मूली की तरह काटना', 'दिल पर आरी चलना', 'आरी-बसूला उठाकर भागना', 'ठोक-बजाकर लेना', 'धौंकनी चलना', 'भाड़ झोंकना' इत्यादि एक किसान, बढ़ई, कुम्हार और लुहार इत्यादि के स्वाभाविक प्रयोगों को लीजिए और दूसरी ओर 'पति-प्रतीक्षा में बैठी, बलने मुक्ताहार; अलकों पलकों से पोंछ, पिरोती शून्य तार' निशंक के रूप में कविजी की उड़ान को देखिए। किसान और मजदूर-जैसे सर्वसाधारण व्यक्ति जहाँ विना किसी उद्देश्य और प्रयत्न के स्वभाव से ही ऐसे परिवर्त्तन करते रहते हैं, कविजी को विषय और विषयी का अपने जीवन से प्रत्यक्ष कोई सम्बन्ध न होने के कारण थोड़ा बहुत सिर अवश्य खुजलाना पड़ता है।

संक्षेप में, जिस स्वाभाविक सादृश्य का हमें विवेचन करना है, वह एक कवि के बुद्धिपूर्वक अपनी भावनाओं को प्रतिबिम्बित करने के लिए प्रयुक्त रूपकों से सर्वथा भिन्न है। उसका सम्बन्ध मनुष्य के ज्ञान से न होकर भाषा-विज्ञान से है। स्वाभाविक सादृश्य ही ऐसे प्रयोगों का मूल अथवा ध्रुव-बिन्दु होता है।

घर में चूल्हे-चक्की का काम करनेवाली गृहिणी से लेकर व्यापार करनेवाले लाला जी, वकील साहब, प्रोफेसर साहब, लुहार, बढ़ई, और कुम्हार इत्यादि जितने भी व्यवसायी हैं, मुहावरों के वर्गीकरण के प्रकरण में, जैसा आगे चलकर हम बतायेंगे, सब-के-सब प्रायः अपने-अपने व्यवसाय-सम्बन्धी उपकरणों के द्वारा ही अपने भावों को व्यक्त करते हैं। 'चूल्हा झोंकना', 'चूल्हे में जाओ', 'पापड़ बेलना', 'डंडी मारना', 'आटे-दाल का भाव मालूम होना', 'डिग्री होना', 'फाँसी चढ़ना', 'छुट्टी मनाना', 'पट्टी पढ़ाना', 'कील-काँटा अलग करना', 'लोहा-लाट होना', 'खूँटे बनाना', 'चूल से चूल मिलाना', 'आवे का आवा खराब होना', तथा 'मिट्टी के मटींगरे होना' इत्यादि मुहावरे भाषा की इस स्वाभाविक प्रगति के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठ सकता है कि मनुष्य ऐसा करता क्यों है ? क्या एक कवि की तरह अपनी कला का प्रदर्शन करने के लिए ही वह ऐसा करता है ? इस प्रश्न पर अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से प्रकाश डाला है। मैक्सम्यूलर लिखता है—"मनुष्य ने इसलिए नहीं कि वह अपने काव्य-प्रेम को रोक नहीं सकता था, बल्कि इसलिए कि उसे अपने जीवन में नित्य-प्रति बढ़नेवाली आवश्यकताओं को व्यक्त करना था, विवश होकर लाक्षणिक प्रयोग किये। इस स्वाभाविक संज्ञा-परिवर्त्तन (Name transference) के बिना बाह्य जगत् के पदार्थों को समझना और याद रखना, जानना और उनका रहस्य समझना तथा विचार करना और संज्ञा देना नितान्त असंभव था। इसे (संज्ञा-परिवर्त्तन को) यदि हम चाहें, तो भाषा का सार्वभौमिक इतिहास कह सकते हैं। यहाँ इन लाक्षणिक प्रयोगों का उद्देश्य किसी पुरानी संज्ञा के द्वारा किसी नये विचार को उत्पन्न अथवा उसका निर्धारण करने के लिए ही एक प्रकरण से दूसरे प्रकरण में किसी शब्द को ले जाना नहीं था[१]।" स्मिथ लिखता है – "हमारी भाषा में हमारे अनुभवों की समृद्धि को व्यंजित करने की पूर्ण योग्यता नहीं है, उसके किसी अंश को भी कोई संज्ञा दे देना बुद्धि की बड़ी सफलता है, किन्तु उस अनुभूति को किसी ऐसे सजीव मुहावरे में बाँध देना, जिसके कारण वह हमारे लिए और भी निश्चित और सत्य तथा जिन्हें हम बताना चाहते हैं, उनके लिए और भी अधिक स्पष्ट हो जाय, तो वह तो और भी बड़ी सफलता है[२]।" एक जगह और कहा है—"यह देखा गया है कि हमारे बहुत अधिक उपलक्षित और मुहावरेदार प्रयोग जन-साधारण के जीवन से सम्बन्धित हैं, जीवन के साधारणतम व्यापारों के आधार पर उनकी उत्पत्ति हुई है। शब्दों की तरह मुहावरों के बनाने का श्रेय भी मुख्य रूप से अशिक्षित वर्ग को ही है और हमारे सर्वथा स्पष्ट और सजीव शब्दों की तरह से ही हमारे सर्वोत्तम मुहावरे भी, किसी पुस्तकालय, विद्वन्मंडली अथवा किसी उच्चकोटि के उपवन या नाट्य-गृह से न आकर उद्योग-शाला, रसोई-घर और खेत तथा खलिहान से ही आते हैं[३]।" इस सम्बन्ध में एफ्० डब्ल्यू० फरार का मत भी उल्लेखनीय है। वह लिखता है—"जिन पदार्थों को हमने पहले कभी नहीं देखा है, उन्हें किसी ऐसे पदार्थ के नाम से सम्बोधित करना, जो हमें बिलकुल उनके ही जैसा लगता है, नित्य-प्रति के जीवन की वस्तु है। बच्चे आरम्भ में सभी पुरुषों को पिता और सभी स्त्रियों को माता कहते हैं। यह बात अरस्तू से भी पहले देखी गई थी...रोमवालों ने हाथी को 'लूकेनियन ऑक्स' (Lucanian ox) कहा था। इसी प्रकार के और भी असंख्य उदाहरण मिल सकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अज्ञात तथा ज्ञात वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होनेवाले नामों का प्रयोग, भले ही आवश्यकतावश न होता हो, स्वाभाविक है[४]।" थोड़ा आगे बढ़कर वह फिर लिखता है—"हम स्वभाव से ऐसा अनुभव करते हैं कि मन की कुछ ऐसी अवस्थाएँ हैं, जिनका वर्णन हम

१. एल्० आर०, पृ० १७६।
२. डब्ल्यू०, आई०, पृ० २३६।
३. डब्ल्यू०, आई०, पृ० २१२।
४. ओरिजिन ऑफ् लैंग्वेज, पृ० ११६।

केवल उन्हींके अनुरूप स्वभाववाले अन्य द्रव्यों से तुलना करके ही कर सकते हैं। भेड़ का बच्चा सरलता, और साँप अति सूक्ष्म द्रोह का प्रतिनिधि है। फूल, स्नेहादि कोमल भावों के प्रतीक होते हैं। प्रकाश और अन्धकार, क्रमशः ज्ञान और अज्ञान के द्योतक हैं। अपने आगे और पीछे जहाँ तक हम देखते हैं, सब क्रमशः हमारी आशा और स्मृति के चित्र हैं[1]।" श्री रामचंद्र वर्मा भी एक प्रकार से इन पाश्चात्य विद्वानों का समर्थन करते हुए लिखते हैं—"बिलकुल आरंभिक अवस्था में जब किसी चीज का वर्णन किया जाता है तब प्रायः समानताओं या सदृश वस्तुओं से ही काम लिया जाता है। यदि किसी लड़के ने गौ तो देखी हो, पर घोड़ा या गधा न देखा हो, तो उसे बतलाया जाता है कि वह भी गौ की तरह चार पैरोंवाला पशु होता है। जब हमें कोई मित्र कहीं से लाकर कोई नया फल देते हैं और हमारे चखने पर उसका स्वाद पूछते हैं, तब हम कोई ऐसा फल ढूँढ़ निकालना चाहते हैं, जिसका स्वाद उस नये फल के स्वाद से मिलता-जुलता हो। ऐसी अवस्थाओं में सादृश्यवाला तत्त्व ही हमारा सबसे बड़ा सहायक होता है[2]।"

ऊपर जितने विद्वानों के मत दिये गये हैं, एक वाक्य में सबका निचोड़ यही है कि पुरानी संज्ञाओं के द्वारा नवीन-से-नवीन भाव, विचार और द्रव्यों का ज्ञान करा देना ही किसी उन्नत भाषा की प्रधान विशेषता है। उसकी इस स्वाभाविक विलक्षणता से न केवल नये-नये द्रव्यों और सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों को समझने में ही सहायता मिलती है, बल्कि भाषा का ओज, प्रवाह और भाव-व्यंजकता भी बढ़ जाते हैं। आत्मा और परमात्मा-जैसे अति गूढ़ तत्त्वों का विवेचन करते हुए भी कुशल वक्ता इन्हीं के सहारे घंटों अपने श्रोताओं को चित्रवत् बिठाये रखते हैं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों को नित्य-प्रति के व्यवहार और व्यापार में आनेवाले स्थूलातिस्थूल पदार्थों के आधार पर समझाने के कारण उनके भाषण में रोचकता और प्रवाह दोनों बढ़ जाते हैं। इन प्रयोगों के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की है। ऐसे प्रयोग हम प्रायः उसी समय अधिक किया करते हैं, जब या तो हम स्वयं आवेश में होते हैं अथवा दूसरों को आवेश दिलाना चाहते हैं। जैसा कारलाइल ने कहा है—'भाषा विचारों का अस्थि-मज्जायुक्त शरीर है।' हमने प्रायः लोगों को अपने भावावेश और क्रोध को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त मुहावरों के न मिलने पर अनायास चुप हो जाते देखा है। आवेशपूर्ण ओजस्वी भाषणों में इसलिए इस प्रकार के मुहावरेदार प्रयोगों की प्रचुरता रहती है।

भाषा की लाक्षणिक प्रयोगों की ओर प्रवृत्ति

कुछ लोगों का मत है कि सारी भाषा ही सांकेतिक है। यहाँ संकेत का जो अर्थ लिया गया है, वह बहुत संकुचित है। अलंकारशेखर के 'शक्तिरीश्वरेच्छया संकेत इत्युच्यते' तथा इसकी आलोचना करते हुए वैयाकरणों और मीमांसकों के 'कारिकया संकेतग्राह्यं शक्त्याख्यपदार्थान्तरमभिधा', 'तादृशं शब्दार्थयोस्तादात्म्यमभिधा इति मीमांसकपातंजलमतमुपनिबद्धामीति बोध्यम्'[3] इन वाक्यों में भी संकेत को शब्द और अर्थ के तादात्म्य के रूप में ही लिया गया है। इसलिए प्रस्तुत प्रसंग को छेड़ने के पूर्व यह बता देना उचित है कि संकेत से यहाँ हमारा अभिप्राय लाक्षणिक संकेत और शब्दों की व्यंजना-शक्ति से है। अँगरेजी-भाषा के कोषों में संकेत (Symbol) की व्याख्या आज भी व्यंजना के अर्थ में ही की जाती है। 'प्राकृतिक पदार्थों के गुण या आकृति के द्वारा किसी नैतिक अथवा धार्मिक या आध्यात्मिक द्रव्य या तत्त्व का प्रतिनिधित्व करना ही संकेत है[4]।' शेर बल और साहस का प्रतीक है, गाय, निर्दोषता और सरलता का प्रतिनिधित्व करती है।

१. ओरिजिन ऑफ् लैंग्वेज, पृ० १२२।

२. अ० हि०, पृ० ११।

३. सा० द० (पी० वी० काणे), पृ०, ३६।

४. चबू० आर०, पृ० ४०३।

स्वर्गीय लाला लाजपत राय को 'पंजाब का शेर' और रावण के द्वारा हरकर ले जाई गई सीता को 'कपिला गाई' कहते समय, वास्तव में शेर और गाय के अभिधेयार्थ की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। लाक्षणिक संकेत अथवा व्यंग्यार्थ के रूप में ही सब लोग इन शब्दों को ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार 'आसमान दिखाना', 'मुँह फूँकना', 'बैल कहीं का', 'उँगली काटना', 'उँगली पर नचाना', 'कान काटना', 'खूँटे के बल कूदना', 'ताजिये ठंडे होना', 'पायजामे से बाहर होना' इत्यादि मुहावरों में 'आसमान', 'मुँह', 'बैल' ,'उँगली' इत्यादि शब्दों से व्यंजित होने-वाले तात्पर्यार्थ के कारण ही इन प्रयोगों का इतना महत्त्व है।

भाषा ज्ञानवृद्धि का साधन मानी जाती है। जो भाषा जितनी ही सुसंस्कृत और परिमार्जित होती है, उतनी ही अधिक ज्ञान और बुद्धि का विकास करनेवाली होती है। विना भाषा के ज्ञान होना असंभव है। किसी भी चीज का वास्तविक ज्ञान शब्द ही कराते हैं। सामने पड़े हुए पंखे को देखकर पहले शब्द 'पंखा' हमारे मन में आता है, तब पदार्थ पंखे का ज्ञान होता है। संक्षेप में संज्ञा के विना संज्ञी का ज्ञान हो ही नहीं सकता। प्रत्येक संज्ञी के लिए संज्ञा का होना अनिवार्य है। इसका अर्थ हुआ, संसार में जितने प्रकार के और जितने भी द्रव्य हैं, सबके लिए स्वतंत्र संज्ञाएँ होनी चाहिए। किन्तु जैसा पहले भी दिखा चुके हैं कि प्रत्येक संज्ञी के लिए एक नितान्त स्वतंत्र और अपरिवर्त्तनीय संज्ञा देना न तो संभव है और न उपयोगी ही। इसलिए अर्थ अथवा तात्पर्य की दृष्टि से शब्द-परिवर्त्तन, भाषा—उन्नत भाषा—का प्रधान लक्षण है।

भाषा का उद्देश्य है बुद्धि-विकास के द्वारा ज्ञान की वृद्धि करना। 'आकाश', 'मुँह', 'बैल', इत्यादि नये-नये शब्दों के द्वारा नये-नये द्रव्यों से परिचय होने के कारण हमारे ज्ञान में तो वृद्धि हो जाती है, किन्तु उनसे हमारी बुद्धि का विकास नहीं होता। हम क्लास में बैठकर गीता के श्लोकों का अर्थ तो बड़ा सुन्दर कर देते हैं; तिलक, बेसेण्ट, गांधी और शंकराचार्य प्रभृति समस्त विद्वानों के मत भी बिलकुल ठीक रूप से समझा देते हैं; किन्तु आचार्य विनोबा की तरह उसमें माता के दर्शन करके, 'गीताई माउली माझी तिचा भी बाल नेणता पडतां रडतां घेई उचलूनि कडेवरी' की घोषणा करने का साहस हममें कहाँ है। संक्षेप में, सूखे ज्ञान और बुद्धि के विकास द्वारा ज्ञान की प्राप्ति में यही अन्तर है। एक, शब्दों के स्थूल रूप अथवा अभिधेयार्थ से झूझता हुआ कभी शंकराचार्य को तो कभी तिलक और गांधी को ठीक और गलत करता रहता है। दूसरा, शब्दों को केवल लाक्षणिक संकेत मानकर बुद्धिपूर्वक उनके तात्पर्यार्थ को समझकर अपने अन्तर में में सोये हुए कृष्ण और अर्जुन को जगाकर युद्ध (दैवी और आसुरी वृत्तियों के आन्तरिक संघर्ष) के लिए खड़ा हो जाता है।

हमारे यहाँ वेदों को अपौरुषेय, वाक् अथवा वाणी को ब्रह्म और शब्दों को कामधुक् माना गया है, फिर क्यों आज उनकी इतनी छीछालेदर हो रही है। वाणी का ब्रह्मत्व और शब्दों का कामधुक्त्व आज कहाँ हवा हो गया? क्यों हमारी वाणी और शब्दों में विश्वामित्र की तरह एक नई सृष्टि रचने की शक्ति नहीं रही? इन सबका एकमात्र उत्तर यही है कि हमारी बुद्धि का विकास रुक गया है, हम ह्रास की ओर जा रहे हैं। पीपल के वृक्ष की जड़ को ब्रह्मा, तने को विष्णु और शाखाओं को शिव तथा पत्तों को देवगण मानकर उनकी अर्चना करनेवाले मंत्रों को पढ़कर पीपल को धागा लपेटना, पानी देना और उसके नीचे दिया जलाना अथवा गड़ेरियों के अवैज्ञानिक गीत कहकर उनकी सर्वथा उपेक्षा करना तो हमने सीखा, किन्तु लक्षणा और व्यंजना के सुन्दर परिधान में छिपे हुए उनके जीवनोपयोगी गुणों को हमने कभी नहीं देखा। देखने का प्रयत्न ही नहीं किया।

आयुर्वेद के पंडित एक विद्वान् ने हमें बताया कि पीपल की जड़ में वीर्य और रज दोनों को शुद्ध और पुष्ट करने की अपूर्व शक्ति होती है, उसकी छाल सबसे अच्छा टाँनिक है और उसकी पतली टहनी में विषहरण की अपूर्व शक्ति है, उसके पत्तों में भी बहुत-से गुण हैं। फिर यदि ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों की कल्पना करके पीपल की पूजा की जाय—पूजा से हमारा अभिप्राय सदुपयोग से है—तो क्या बुरा है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि केवल लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के कारण ही भाषा को बुद्धि के विकास करने का श्रेय प्राप्त है। वैदिक वाङ्मय को देखा जाय तो लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को छोड़कर अभिधेयार्थ तो एक हद तक उसमें बिलकुल है ही नहीं।

हम भाषा को अनादि मानते हैं। उसका लिपिबद्ध रूप अवश्य नया है। भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति का अध्ययन करने के लिए उसके लिखित रूप से ही अधिक सहायता मिल सकती है। इसलिए हम वैदिक संहिताओं को लेकर एक-दो वाक्यों में उसकी प्रगति पर थोड़ा प्रकाश डालेंगे।

भाषा की प्रगति के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए हमने अबतक जो कुछ कहा है, उसका निचोड़ यही है कि एक ओर वह अपने बाह्यरूप शब्द-योजना को व्यवस्थित, 'सूत्रे मणिगणा इव' संहित और व्यवच्छेदक बनाने में लगी हुई है और दूसरी ओर अर्थ की दृष्टि से स्थूल से सूक्ष्म अथवा अभिधेयार्थ से लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की ओर जा रही है। 'व्यंजनादिशक्तिर्लक्षणान्तर्भूता', कुछ लोग व्यंजना को लक्षणा के ही अन्तर्गत मानते हैं। 'मुहावरा और शब्द-शक्तियाँ' शीर्षक प्रकरण में हम इसपर पहले ही लिख चुके हैं। इसलिए यहाँ इसकी अधिक विवेचना नहीं करेंगे। वेदों को हमारे यहाँ संहिता कहा जाता है। 'संहिता' शब्द की व्याख्या करते हुए पाणिनि लिखता है, 'परः सन्निकर्षः संहिता' (१. ४. १०६), अर्थात् 'वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात्।' इसके साथ ही वेद-मंत्रों के लिए यह भी माना जाता है कि प्रत्येक मंत्र शब्द-योजना की दृष्टि से एक इकाई है और एक ही भाव का द्योतन करता है। इससे स्पष्ट है, उसी समय से भाषा की प्रवृत्ति संहिता और व्यवच्छेदकता की ओर है। अब रही अर्थ की दृष्टि से शब्द-परिवर्त्तन की बात, उसपर हम अभी बता चुके हैं कि प्रायः सारे वैदिक साहित्य में भाषा के लाक्षणिक प्रयोग भरे-पड़े हैं। संज्ञाकरण का अर्थ ही पाणिनि ने 'लघ्वार्थं हि संज्ञाकरणम्' किया है। इससे स्पष्ट है कि बहुत-सी चीजों को थोड़े में कहना भाषा की प्रवृत्ति है। और, थोड़े शब्दों में अधिक-से-अधिक व्यंजन करने की शक्ति फूँक देना लाक्षणिक प्रयोगों का काम है। यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी है, और वह यह कि 'मुहावरों' की शब्द-योजना और तात्पर्यार्थ भी सदैव शृंखला-बद्ध और लाक्षणिक होते हैं। अतएव हम यह कह सकते हैं कि भाषा की प्रवृत्ति आरंभ से ही मुहावरों की ओर बढ़ने की होती है।

किसी देश, जाति अथवा राष्ट्र की भाषा पर उसकी मानसिक गतिविधि की गहरी छाप रहती है। कुछ लोग इसीलिए भाषा को भावों का छायाचित्र भी कहते हैं। भाषा के सम्बन्ध में यह बात हो या न हो, किन्तु उसके विशिष्ट प्रयोगों अथवा लाक्षणिक प्रयोगों के बारे में तो यह बात सोलह आने ठीक है। अतएव यह कहना उचित ही है कि इन प्रयोगों का सम्बन्ध जितना भाषा-विज्ञान से है उतना ही मनोविज्ञान से भी। फिर, चूँकि लोकप्रिय अथवा व्यवहारसिद्ध लाक्षणिक प्रयोग ही मुहावरे कहलाते हैं, इसलिए मुहावरों के निर्माण में भाषा की प्रकृति, प्रवृत्ति और प्रगति का जितना महत्त्व है, उतना ही मानव-प्रवृत्ति और प्रकृति तथा उनकी (मुहावरों की) लोकप्रियता का। मुहावरे क्यों बनते हैं, इसे समझने के लिए अतएव, मानव-प्रकृति पर भी थोड़ा-बहुत प्रकाश डालना आवश्यक है।

मुहावरा बनाने में मानव-प्रवृत्ति

विक्टर ह्यूगो ने कहा है—"मनुष्य एक केन्द्रवाला वृत्त नहीं है, वह दो केन्द्रबिन्दुओं-वाला अंडवृत्त (ellipse) है। घटनाएँ एक बिन्दु हैं और विचार (तत्सम्बन्धी) दूसरा[1]।" (Man is not a circle with a single centre; he is an ellipse with two foci. Facts are one, ideas are the other.) इसी बात को एक दूसरे गणितज्ञ ने इस प्रकार कहा है—"विचारों की दृष्टि से भाषा को सदैव उनका एसिमटोट (Asymptote) समझना चाहिए। जिस प्रकार दो रजकणों को एक दूसरे का स्पर्श करते हुए बिलकुल पास-पास रखा जा सकता है, किन्तु एक दूसरे को बिलकुल ढक लें, इस प्रकार नहीं, वैसे ही भाषा और विचार पूर्ण रूप से एक-दूसरे के बिम्ब-प्रतिबिम्ब नहीं हो सकते[2]।" एक ही समय और एक ही स्थान पर बैठकर एक ही घटना का चित्रण करनेवाले दो कवि या लेखकों की कृतियों में दिखाई पड़नेवाले आकाश-पाताल के अन्तर से स्पष्ट हो जाता है कि किसी घटना-विशेष का हमारी प्रकृति के अनुरूप ही हमपर प्रभाव पड़ता है। अथवा यों कहिए, किसी घटना-विशेष का वर्णन हम अपनी प्रवृत्ति के अनुसार ही करते हैं।

किसी एक व्यक्ति के लेखों में जिस प्रकार उसके व्यक्तित्व की छाप रहती है, उसी प्रकार किसी देश, जाति अथवा राष्ट्र की भाषा पर पूरे देश, जाति अथवा राष्ट्र की छाप रहती है। थोड़े शब्दों में यों कह सकते हैं कि भाषा पर और विशेषतया उसके विशिष्ट अथवा लाक्षणिक प्रयोगों पर मानव-प्रवृत्ति की छाप रहती है। मानव-प्रवृत्ति से यहाँ अभिप्राय उसकी बुद्धि और ज्ञान-शक्ति से है। मनुष्य की ज्ञान-शक्ति किस प्रकार काम करती है, इसका विश्लेषण करते हुए बेन (Bain) लिखता है—"हमारी ज्ञान-शक्ति साधारणतया तीन प्रकार से कार्य करती है—पहिले प्रकार की विवेक-बुद्धि से अथवा अन्तर, विरोध और अन्यापेक्षा (Relativity) का अनुभव करके कुछ करना कहते हैं। इसका अर्थ है कि स्थिति से गति, शीत से उष्णता और प्रकाश से अन्धकार में जाने पर जो परिवर्त्तन होता है, उसका मन पर प्रभाव पड़ता है और यह परिवर्त्तन जितना ही गंभीर और आकस्मिक होगा, उतना ही इसका प्रभाव अधिक प्रबल होगा। विरोध (Anti-theis) और व्यतिरेक (Contrast) यहीं से शक्ति प्राप्त करते हैं। दूसरी शक्ति का नाम सादृश्य अथवा समानता का अनुभव करना है। इससे प्रतीत होता है कि जब दो समान पदार्थ हमारे देखने में आते हैं, तब उनका हमारे ऊपर उसी प्रकार का प्रभाव पड़ता है, जैसा माता-पिता के रूप रंग से बिलकुल मिलते-जुलते हुए किसी बच्चे को देखकर, उपमा, रूपक तथा दूसरे लाक्षणिक प्रयोग भाषा के प्रवाह को इस प्रकार तीव्र करने के ढंग हैं। बुद्धि की तीसरी शक्ति का नाम है स्मृति या प्राप्ति (Acquisition) अनुभवों को बिना किसी गड़बड़ के क्रमबद्ध याद रखना और फिर बाद में उनका पोषण करना, यही मन की विशिष्टता है। इसी शक्ति को साधारणतया हमलोग स्मरण-शक्ति कहते हैं। अब यह स्मृति या स्मरण-शक्ति मुख्य रूप में जिस प्रकार काय करती है, वह यह है—एक साथ होनेवाले अनुभव, सूर्योदय और प्रकाश की तरह एक-दूसरे से इस प्रकार मिल जाते हैं कि जब हम एक का ध्यान करते हैं तब उससे संहित दूसरों का भी हमें स्मरण हो आता है। हम प्रकाश और सूर्योदय के समय होनेवाली अन्य अवस्थाओं से सर्वथा तटस्थ होकर केवल सूर्योदय का ध्यान ही नहीं कर सकते। अतएव, सन्निकट स्थित पदार्थों का मानसिक साहचर्य मन का एक प्रधान तत्त्व है। और, इसके बहुत-से परिणामों में से एक यह भी है कि हम प्रायः किसी

---

१. लेस मिजरेबुल, पृ० ८९० ।

२. दि ओरिजिन ऑफ् लैंग्वेज, पृ० ११७ ।

वस्तु को उसके किसी अंग के नाम से पुकारने लगते हैं। जैसे, सम्राट् के लिए सिंहासन या तख्त और धन के लिए सोना। लाक्षणिक प्रयोगों की प्रकृति ऐसी होती है[1]।"

मनुष्य की ज्ञान-शक्ति किस प्रकार काम करती है, बेन ने उसके तीन रूप हमारे सामने रखे हैं। बेन एक पाश्चात्य विद्वान् हैं और तत्त्व-विवेचन की दृष्टि से पाश्चात्य देश आज भी बहुत पिछड़े हुए हैं। अतएव अपने यहाँ विद्वानों का मत देकर हम बेन की आलोचना नहीं कर रहे हैं। (हाँ, श्रीचन्दोरकर जी से अवश्य हमें शिकायत है कि उन्होंने 'बेन' की कमी को पूरा करने के लिए अपने शास्त्रों का मत भी उनके साथ ही क्यों नहीं दिया?) हमारे यहाँ इसके पाँच प्रकार माने गये हैं। 'घोड़ा' को 'घोड़ा' समझ लेने में कोई आलंकारिकता नहीं है। इसलिए कह सकते हैं कि अलंकारों की दृष्टि से विचार करते हुए बेन ने इसको जानबूझकर ही छोड़ दिया हो। किन्तु पाण्डवों में दैवी और कौरवों में आसुरी वृत्तियों अथवा राम और कृष्ण में देवत्व और और रावण और कंस में अदेवत्व का दर्शन करना यह भी तो ज्ञान-शक्ति का ही कार्य है। इसे बेन साहब ने क्यों छोड़ दिया? कुछ भी हो, हमें बेन साहब की आलोचना नहीं करनी है। हम तो केवल यह बता देना चाहते हैं कि हमारी ज्ञान-शक्तियाँ पाँच प्रकार से काम करती हैं। घोड़े को देखकर घोड़ा कह देना यह पहला ढंग है, जिसे हम अनुकरण के आधार पर प्राप्त ज्ञान कह सकते हैं। दूसरा ढंग विवेक के द्वारा यह निश्चित करना है कि यह खच्चर नहीं है। तीसरी बार हम कह सकते हैं, यह खच्चर नहीं है, घोड़ा है। चौथी बार हम कहते हैं कि इन दोनों की जाति तो एक है, परन्तु यह घोड़ा है, खच्चर नहीं। चौथी अवस्था को पार करने के उपरान्त पाँचवीं अवस्था शुद्ध ज्ञान की आती है, जहाँ पार्थिवत्व अंश नष्ट होकर 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के रूप में केवल आत्म-तत्त्व ही दिखने लगता है। इसको हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना कह सकते हैं। किसी भाषा में कोई भी शब्द, पद, वाक्य या महावाक्य ऐसा नहीं मिलेगा, जिसपर मनुष्य की इन पाँचों मनोवैज्ञानिक क्रियाओं में से किसी एक-न-एक की छाप न हो। अतएव यह तो यही सिद्ध हो जाता है कि भाषा और मनोविज्ञान का अभिन्न और अविच्छिन्न सम्बन्ध है। अब देखना यह रह जाता है कि मुहावरों के निर्माण में इससे कहाँ तक शक्ति और प्रोत्साहन मिलता है। 'मुहावरा और अलंकार' पर विचार करते हुए प्रथम अध्याय में हमने ऐसे बहुत-से मुहावरे दिये हैं, जिनका हमारी इन मनोवैज्ञानिक क्रियाओं से कार्यकारणात्मक सम्बन्ध है। यहाँ भी उदाहरण के लिए कुछ वाक्य देते हैं। देखिए, 'चले जाओ, वहाँ शेर नहीं बैठा है', 'मैं हव्वा नहीं हूँ', 'पी जाओ दूध है जहर नहीं', 'बाप है, दुश्मन तो नहीं है', 'आखिर हो तो रावण के वंशज', 'बनिये ही रहे न' तथा 'गधा होना', 'बैल होना' इत्यादि।

आधुनिक तार्किकों के 'इच्छामात्रं शक्तिः' के सिद्धान्त से मिलता-जुलता ही भाषा-विज्ञान का एक मत यह भी है कि "भाषा की जननी इच्छा है, इन्द्रियजनित ज्ञान नहीं। उसका मूल, अनुभव या बुद्धि से सम्बन्ध रखनेवाले साधारण विचारों के व्यक्तीकरण में नहीं है। वह तो कार्य, अथवा कार्य के साथ-साथ निकलती हुई मानव-ध्वनियों अथवा किसी एक ही काम में लगे हुए मनुष्यों को तेजी से काम करने के लिए प्रोत्साहित करने आदि क्षेत्रों में उत्पन्न होती है[2]।"

भाषा के सम्बन्ध में यह बात सही हो या नहीं, मुहावरों की दृष्टि से तो बावन तोले पाव रत्ती ठीक है। 'मुहावरों का मुख्य उद्देश्य', जैसा स्मिथ लिखता है, "आत्माभिव्यक्ति नहीं, बल्कि प्रोत्साहन या भर्त्सना है, वक्ता से श्रोता या श्रोताओं को अधिक महत्त्व देना है। उन्हें क्या करना है और क्या नहीं करना है, कैसे करना है, तथा किस प्रकार के व्यवहार के लिए उनकी निन्दा करना है,

---

१. काव्यप्रकाश (डी० टी० चन्दोरकर)—भूमिका, पृ० १, २।

२. डब्ल्यू० आई०, पृ० २६२।

इन्हीं विषयों से उनका विशेष सम्बन्ध है। किसी विशेष कार्य में जब ऐसी स्थिति आ जाती है कि सफलता और असफलता दोनों के पलड़े बराबर दिखाई देने लगते हैं, तब ऐसे व्यावहारिक संकट-काल में प्रोत्साहन, भर्त्सना या निन्दा के भावों को अभिव्यंजित करने में मुहावरेदार वाक्यांश बहुत तेजी से काम करते हैं। इस प्रकार के उत्तेजनापूर्ण संवादों में क्यों वे (मुहावरे) विशेष रूप से उपयुक्त होते हैं, इसके कारण हैं। उनकी छाप (सुननेवालों पर) बहुत गहरी और तेजी से पड़ती है। इसके अतिरिक्त शरीर के अंग-प्रत्यंगों से लिये हुए इनके रूपक तथा मुहावरेदार क्रिया-प्रयोगों में स्नायु-संसर्ग की ऐसी अपूर्व शक्ति भरी रहती है, जिसके कारण ये सुननेवालों को केवल अभिप्रेत अर्थ का ज्ञान ही नहीं करा देते, बल्कि उस नाड़ी-मंडल को भी उद्बुद्ध कर देते हैं, जहाँ से स्नायुओं का कार्य आरंभ होता है। अपने साथ काम करनेवाले किसी साथी को लगन के साथ निरन्तर काम करते रहने के लिए दो प्रकार से उसका सकते हैं। एक तो अति तर्कपूर्ण बातचीत के द्वारा उसे यह विश्वास दिलायें कि ऐसा करना उसका धर्म है अथवा इससे उसीको लाभ होगा, यह विश्वास तब फिर उसके कार्यों का नियंत्रण करनेवाले केन्द्रों में जाकर उसे काम में प्रवृत्त करे। दूसरे, 'जमे रहो' (Keep on) इत्यादि स्पष्ट मुहावरों के द्वारा सीधे उसके नाड़ी-केन्द्रों को उत्तेजित और सजग करके तथा 'मुँह फेरना', 'पीठ दिखाना' इत्यादि की जोरों से निन्दा करके। (दूसरे ढंग से कम समय में अधिक सफलता मिलती है)[१]।"

किसी भी भाषा के मुहावरों को देखने से यह स्पष्ट हो जायगा कि स्नेह, प्रेम अथवा सौहार्दपूर्ण वार्त्तालाप से सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरे उसमें बहुत कम हैं। जब कि उत्तेजना, निन्दा अथवा व्यंग्य करनेवाले मुहावरों की सर्वत्र भरमार रहती है। प्रेम, परोपकार और सेवा में व्यंग्य अथवा विडम्बना को स्थान ही कहाँ है। वहाँ तो दो हृदय, त्याग, अपार कष्ट-सहिष्णुता, लगन और आत्म-विस्मृति की मूक भाषा में बातचीत करते हैं। जो कुछ बात होती है, बिलकुल स्पष्ट और साफ और सीधी होती है। उसमें किसी प्रकार का घुमाव-फिराव या दुराव-छिपाव नहीं होता। इसलिए स्मिथ का यह कहना कि "मानव-स्वभाव की उच्च भावनाओं से अधिक सजीव और चलते-फिरते मुहावरे नहीं बनते हैं तथा द्वेष, स्पर्धा, वैर और निन्दा से सम्बन्ध रखनेवाले प्रयोग संख्या में भी बहुत अधिक हैं और भावव्यंजकता में भी" बिलकुल ठीक ही है। हमने कितने ही व्यक्तियों को और विशेषतया बूढ़ी स्त्रियों को देखा है कि घरेलू काम-धन्धों अथवा साधारण व्यवहार में तो वे बड़ी सीधी-सादी ग्रामीण भाषा का प्रयोग करती हैं, किन्तु किसी कारण आवेश में आ जाने अथवा घर की बहू-बेटियों को डाँटते-फटकारते समय या किसी पड़ोसिन से लड़ते समय उसमें कहावत और मुहावरों की लड़ी-सी बँध जाती है। उनका एक-एक वाक्यांश बिलकुल नपा-तुला और 'बलवता प्रेरित इषुरेकेनैव वेगाख्येन व्यापारेण वर्मच्छेदमुरोभेदं प्राणहरणं च रिपोर्विधत्ते' की उक्ति के समान लक्ष्य-भेदी होता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसे एक वाक्य में इस प्रकार रख सकते हैं— मुहावरे का सर्वप्रधान विषय वही है, जो अन्ततोगत्वा मानव-जाति के हित, कल्याण और रोचकता का विषय सिद्ध होता है, अर्थात् एक-दूसरे के साथ उनका सम्बन्ध।

मुहावरों का अध्ययन करने पर जहाँ व्याकरण और तर्क के आधार पर सार्थक शब्द-संकेतों के ही मुहावरेदार प्रयोगों की किसी भाषा में प्रचुरता मालूम पड़ती है, वहाँ बहुत अधिक कमी ऐसे असम्बद्ध और अप्रचलित प्रयोगों की भी नहीं है, जिनमें न तो शब्दों की सार्थकता का कोई विचार होता है और न तर्क अथवा व्याकरण के नियमों के पालन का। अर्थ-विज्ञानवेत्ता पंडितों ने भी, जैसा अभी आगे चलकर हम बतायेंगे, इस समस्या पर विचार किया है।

---

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० २६२-२६३।

ऐसा क्यों होता है, इसके कुछ नियम भी उन्होंने बताये हैं। दूसरे वैयाकरणों की तरह ही इन्होंने भी बहुत-से उदाहरण लेकर समानता और भिन्नता के सहारे उनका वर्गीकरण करके प्रत्येक वर्ग का नामकरण कर दिया है। इतना सब कुछ होते हुए भी भाषाविज्ञान का कोई पंडित अर्थ-परिवर्त्तन के लिए ठहराये हुए इन नियमों को सर्वथा पूर्ण नहीं कह सकता। "चूँकि शब्दों के अर्थ-में परिवर्त्तन करने का काम मनुष्य का मन करता है, इसलिए हम अर्थ-विज्ञान के कोई सर्वथा निश्चित नियम नहीं बना सकते।" मुहावरों के सम्बन्ध में तो ब्रेल (Breal) का यह कथन और भी अधिक लागू होता है। स्मिथ ने इसीलिए ऐसे प्रयोगों के नियमों की उलझन से बचने के लिए सबका एक कारण मानव-मन की असम्बद्धता बताया है। देखिए—

"असम्बद्ध वाक्यांशों की भाव-व्यंजकता हमारे मुहावरों की एक विलक्षणता है। इससे पता चलता है कि मनुष्य के मन में एक प्रकार की असम्बद्धता, अतर्कपूर्ण और निरर्थक के लिए एक प्रकार का प्रेम तथा तर्क के सामने न झुकने की एक प्रकार की प्रवृत्ति है, जो कभी-कभी उद्‌बुद्ध होकर मुहावरेदार भाषा में व्यंजित होने लगती है। चूँकि, हम अपने शब्दों को स्पष्ट और तीव्र बनाना चाहते हैं, इसलिए हमारी इच्छा रहती है कि वे सार्थक हों, किन्तु कभी-कभी यह मानकर कि शब्दों की असम्बद्धता ही मनुष्य की भावनाओं को आकृष्ट करती है और उसीसे उनका सौन्दर्य और शक्ति बढ़ती है, हम कभी-कभी शब्दों के सर्वथा असंगत अर्थों को ही अधिक पसन्द करते हैं[1]।" 'ऊलजलूल', 'ऊटपटाँग', 'बिलल्लु कहीं का', 'टाँय-टाँय फिस', 'अगड़मशगड़म', 'अंजर-पंजर', 'हक्का-बक्का', 'इन्डी-बिन्डी', 'एन्डी-बेन्डी' इत्यादि प्रयोगों में निरर्थक शब्दों का किस प्रकार खुले-आम प्रयोग हुआ है, इसी प्रकार 'पेट फाड़ना', 'माथा चीरना', 'अटकल पच्चू', 'अकल के पीछे लाठी लिये फिरना', 'ईमान बगल में दबाना', 'कुड़ाका बीतना या गुजरना', 'कडुए-कसैले दिन', 'गुलछर्रे उड़ाना', 'टर फिस करना', 'शेखी झड़ना या निकलना', 'जेल खाली हो गई', 'कभी तो डकार लेनी पड़ेगी', 'जाड़े की मौसिम में', 'थोथा बकवाद', 'मोटी तौर पर' इत्यादि प्रयोगों में तर्क और व्याकरण के नियमों की कोई चिन्ता न करते हुए जो मुँह पर आया, कह दिया गया है, ऐसा स्पष्ट मालूम होता है।

शब्दार्थ-विज्ञान और मुहावरे

शब्दों के अर्थ, जैसा पहले हम बतला चुके हैं, बहुत पूर्व से बदलते आ रहे हैं। किन्तु वैज्ञानिक ढंग से इस परिवर्त्तन का सीधा सम्बन्ध मन से होता है। इसलिए शब्दार्थ-विज्ञान के कोई निश्चित और सर्वथा अपवाद-रहित नियम नहीं बताये जा सकते। हाँ, परिवर्त्तन होने के उपरान्त अवश्य उसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है। मुहावरों का अध्ययन करने पर ऐसे बहुत-से मुहावरे मिलते हैं, जिनमें प्रयुक्त शब्दों के अर्थ बढ़ गये हैं, घट गये हैं या मिट गये हैं। इस प्रकार के उपलब्ध उदाहरणों के आधार पर हम इन समस्त परिवर्त्तनों को मोटे तौर पर छह वर्गों में बाँट सकते हैं—

१. अर्थापकर्ष, २. अर्थापदेश, ३. अर्थोत्कर्ष ४. अर्थसंकोच, ५. अर्थ का मूर्त्तीकरण तथा अमूर्त्तीकरण, ६. अर्थविस्तार। एक विशेष प्रकार की लोक-बुद्धि, जिसका विवेचन आगे चलकर मुहावरों की लोकप्रियता के प्रसंग में करेंगे, अपनी आवश्यकता-पूर्त्ति के लिए प्रायः सदैव शब्दों के अर्थ में इस प्रकार का हेर-फेर करती रहती है। लोक-बुद्धि के द्वारा संचालित होने के कारण ही ये प्रयाग आगे चलकर मुहावरे बन जाते हैं। अतएव अब हम संक्षेप में शब्द के अर्थों के बढ़ने, घटने, और मिटने आदि की व्याख्या करेंगे।

---

१. डब्ल्यू० आई, पृ० १८७।

१. अर्थापकर्ष—बहुत-से ऐसे शब्द, जो पहले अच्छे अर्थ में आते थे, किसी कारण से बुरे अर्थ में प्रयुक्त हो जाते हैं और धीरे-धीरे वही उनका मुख्यार्थ बन जाता है। 'सत्-असत् का विचार न होना' हिन्दी का एक मुहावरा है। सत् और असत् का अर्थ था 'विद्यमान' और 'अविद्यमान', किन्तु पीछे चलकर भले और बुरे का अर्थ उनसे किया जाने लगा। आज भी मुहावरे में उसी अर्थ में उनका प्रयोग होता है। 'भेंट-पूजा करना', 'मिजाजपुरसी करना', 'पंडे पुजारी', 'देव का देव होना', 'गुरु होना' इत्यादि मुहावरे इसके अच्छे उदाहरण हैं। किन-किन परिस्थितियों में ऐसा होता है, अब संक्षेप में इसपर विचार करेंगे।

अतिशयोक्ति के कारण प्रायः शब्दों का जोर कम हो जाता है, 'सत्यानाश होना या सर्वनाश होना', 'निर्जीव जीवन होना', 'आसमान टूट पड़ना', 'प्रलय मचाना', 'आसमान सिर पर उठाना' इत्यादि मुहावरों में शब्दों का अक्षरार्थ नहीं, प्रत्युत सामान्य अर्थ लिया गया है, जिसके कारण उनका सच्चा बल कम हो गया है।

जिन अर्थों और भावों को समाज गोपनीय समझता है, उनको प्रकट करनेवाले अच्छे शब्द भी अपना गौरव खो बैठते हैं। जैसे 'यार होना' (किसीका) 'प्रेमी होना', 'सहवास करना', 'यारवासी करना', 'दोस्तों के साथ फिरना', 'खसम करती फिरना', 'गुरु और राजा' शब्द साहित्यिक भाषा में ठीक माने जाते हैं, किन्तु बनारसी मुहावरों में उनमें गुण्डेपन की गंध आ जाती है।

कुछ लोगों के पेशे ऐसे होते हैं, जिनके कारण अच्छे शब्द ऊँचे से थोड़ा नीचे आ जाते हैं, जैसे 'महाजनी भाषा', 'महाजन का रुपया देना', 'महाराज और महाराजिन', 'नाई-बाम्हन होना', 'पंडिताई करना' युक्तप्रान्त में भाई के अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले शब्द 'भय्या' का अर्थ दक्षिण-पश्चिम में गुजराती तथा महाराष्ट्र लोगों में हट्टा-कट्टा युक्तप्रान्तीय नौकर होता है। पेशे के कारण ही ऐसा हुआ है। एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में जाने पर भी अनेक शब्दों का अर्थ बिगड़ जाता है। गुजराती में 'राजीनामा देना' इस्तीफे के लिए और 'रजा' छुट्टी के लिए आता है। मराठी में भी इस प्रकार के बहुत-से प्रयोग मिलते हैं।

जिस प्रकार प्रान्त बदलने से अर्थ बदल जाता है, उसी प्रकार एक भाषा से दूसरी भाषा में जाने पर भी कभी-कभी अर्थ भ्रष्ट-से हो जाते हैं, जैसे 'खैरख्वाही दिखाना' या 'खैरख्वाह बनना', 'चालाकी दिखाना', 'चालाक बनना' इत्यादि।

सतत प्रयोग के कारण भी प्रायः शब्दों की शक्ति कम हो जाती है, जैसे 'बाबूगीरी करना', 'दफ्तर के बाबू होना', 'बाबू बने फिरना', 'धर्म संकट में पड़ना', श्रीमान् और श्रीयुत् शब्द भी केवल शिष्टाचारवाचक रह गये हैं।

'पाखंड फैलाना' हिन्दी का एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है ढोंग करना। पाखंड शब्द का इतिहास भी बड़ा मनोरंजक है। अशोक ने कुछ ऐसे साधुओं को, जो बौद्ध नहीं थे, पाखंड कहा और उन्हें दक्षिणा भी दी। पर, मनु ने पाखंड से बुरा अर्थ लिया है। वैष्णवों ने पाखंड से अवैष्णव का अर्थ लिया और उसके बाद पाखंड का अर्थ होने लगा नास्तिक, ढोंगी और कपटी। अब हिन्दी, गुजराती आदि में 'पाखंडी' इसी नीच अर्थ में आता है[१]।"

२. अर्थापदेश—इसी अपकर्ष से मिलती-जुलती दूसरी बात यह है कि लोग कुछ अपवित्र, अशुभ, और अप्रिय बातों का बुरापन कम करने के लिए सुन्दर शब्दों का प्रयोग करते हैं और इस प्रकार उन शब्दों का अर्थ गिरा देते हैं। जैसे, 'शौच जाना', 'शौच से निवृत्त होना' इत्यादि प्रयोगों में सफाई और पवित्रता के स्थान में शौच का अर्थ पाखाना हो गया है। इसी प्रकार 'स्वर्गवास होना',

१. भाषाविज्ञान (बाबू श्यामसुन्दर दास), पृ० २०१।

'वैकुण्ठ-लाभ होना', 'मुक्ति होना', 'दीया बढ़ाना', 'बोधिसत्त्व प्राप्त होना', 'सूरदास होना', (अन्धे को) इत्यादि मुहावरे इसके अच्छे उदाहरण हैं।

कभी-कभी इसी कटुता को बचाने के लिए विपरीत भाव प्रकट करके अपना अर्थ स्पष्ट करते हैं। जैसे, 'दुश्मनों की तबियत खराब होना (किसीके)।

अमंगल और अशुभ से बचने के लिए लोग दूकान बन्द करने को दूकान बढ़ाना, चूड़ी उतारने या तोड़ने को चूड़ी बढ़ाना या मौलाना दस्तरख्वान हटाने की जगह भी बढ़ाना शब्द का प्रयोग करते हैं[1]।

धार्मिक भावना और लोकाचार के कारण भी कभी-कभी शब्दों के अर्थों में परिवर्त्तन आ जाता है। जैसे, 'माता का प्रकट होना', 'शीतला की कृपा होना' इत्यादि।

३. **अर्थोत्कर्ष**—अर्थापकर्ष का ठीक विपरीत कार्य है अर्थोत्कर्ष। परन्तु जिस प्रकार जीवन में उत्कर्ष के उदाहरण कम मिलते हैं, उसी प्रकार भाषा के शब्द-भांडार में भी अर्थोत्कर्ष के उदाहरण कम ही मिलते हैं। 'साहस बटोरना' या 'साहस से काम' लेना इत्यादि हिन्दी-मुहावरों में साहस शब्द का बड़ा ऊँचा और सराहनीय अर्थ हो गया है, जबकि संस्कृत में इसका अर्थ—

मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्षणम्।
पारुष्यमनृतं चैव साहसं पञ्चधा स्मृतम्॥

अर्थात्, हत्या, चोरी, व्यभिचार, कठोरता और झूठ होता था। 'कपड़े उतार लेना', 'किसी पर मुग्ध हो जाना' इत्यादि मुहावरों में प्रयुक्त कपड़ा और मुग्ध शब्दों का भी क्रमशः जीर्ण वस्त्र और सुन्दर अथवा गूढ़ अर्थ होता था, उनमें आज की जैसी उत्कृष्टता नहीं थी।

४. **अर्थ का मूर्त्तीकरण तथा अमूर्त्तीकरण**—कभी एक शब्द का अमूर्त्त अर्थ मूर्त्त हो जाता है, अर्थात् वह शब्द क्रिया, गुण अथवा भाव का बोधक न होकर किसी द्रव्य का वाचक हो जाता है, और कभी इसके विपरीत मूर्त्त अर्थ अमूर्त्त बन जाता है। 'देवता कूच कर जाना', 'देवी-देवता पूजना', 'जनता की आवाज होना' इत्यादि हिन्दी के मुहावरों में देवता और जनता शब्दों का भाव-वाचक के अर्थ में प्रयोग न होकर मूर्त्त अर्थ में हुआ है। 'जाति से गिरना', 'जाति-पाँति का झगड़ा होना' इत्यादि मुहावरों में भी जाति शब्द के अमूर्त्त अर्थ जातीयता को मूर्त्त (पंक्ति) कर दिया गया है। इसी प्रकार 'खट्टा खाना', 'मिठाई बटना', 'कड़वा-कड़वा थू-थू करना', 'नमकीन होना', 'आशाओं का करवट बदलना', इत्यादि मुहावरों में अमूर्त्त को मूर्त्त मान लिया गया है।

मूर्त्त को अमूर्त्त मानकर भी बहुत-से शब्दों का प्रयोग होता है। जैसे, 'छाती होना', 'कलेजे-वाला होना' इत्यादि मुहावरों में छाती और कलेजे का प्रयोग साहस और दृढ़ता आदि के अर्थ में हुआ है। इसी प्रकार 'आँख होना—ज्ञान होना', 'पेशाब करना—तिरस्कार करना', 'सिर खपाना', 'लहरें उठना' इत्यादि मुहावरों में मूर्त्त को अमूर्त्त मान लिया गया है।

५. **अर्थसंकोच**—प्रायः जब शब्द उत्पन्न होते हैं, उनमें बड़ी शक्ति होती है, उनका अर्थ भी बड़ा सामान्य और व्यापक होता है, परन्तु दुनिया के व्यापारों में पड़कर वे संकुचित हो जाते हैं। इस संकोच की सविस्तार कथा लिखी जाय, अथवा समस्त उदाहरण दिये जायँ तो शब्दार्थ-विज्ञान का एक अतिरोचक और शिक्षाप्रद ग्रन्थ तैयार हो जाय। ब्रेल ने तो लिखा है कि जो लोग जितने ही अधिक सभ्य हैं, उनकी भाषा में उतना ही अधिक अर्थसंकोच पाया जाता है। 'गोली मारना', 'गोली खेलना' और 'गोली निकालना' इत्यादि भिन्न-भिन्न मुहावरों में प्रयुक्त एक ही

---

१. विशेष जानकारी के लिए पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का 'अमंगल के स्थान में मंगल शब्द' शीर्षक लेख द्रष्टव्य।

गोली शब्द के, सिपाही, खिलाड़ी, बच्चे और लाटरी डालनेवाले किसी व्यक्ति के साथ अलग-अलग अर्थ होते हैं।

जो शब्द पहले पूरी जाति के वाचक थे, पीछे वे एक वर्ग-मात्र के बोधक हो जाते हैं। जैसे फ़ारसी शब्द मुर्ग़ का अर्थ "आफ़ताब, हर परन्द, जानवर मिनक़ार दार (चोंचवाला परन्द), उड़नेवाला, एक क़िस्म की सुराही" [१] वग़ैरह होता था, किन्तु हिन्दुस्तानी भाषाओं में इसका अर्थ प्रातःकाल बाँग देनेवाली एक विशिष्ट चिड़िया कर लिया गया, इतना ही नहीं, इसे पुँल्लिंग मानकर इसका स्त्रीलिंग-रूप मुर्ग़ी की कल्पना भी हमारे यहाँ कर ली गई। 'मुर्ग़ा बनाना', 'अंडे मुर्ग़ी खाना', 'मुर्ग़े लड़ाना', 'मुर्ग़ों का कुकड़ूँ कूँ हो जाना', 'मुर्ग़ा बोल जाना', इत्यादि मुहावरों में मुर्ग़ का फ़ारसी अर्थ नहीं लिया गया है। 'मृगछाला पहनना' मुहावरे में प्रयुक्त मृग का भी पशु जाति को छोड़कर केवल हरिण के लिए प्रयोग हुआ है। 'मुनादी करना' या पीटना हिन्दी का एक मुहावरा है, जिसका अर्थ ढिंढोरा पीटना होता है। मुनादी शब्द अरबी का है, जो अरबी से फ़ारसी में होता हुआ हिन्दुस्तानी में आया है। अरबी में इसका अर्थ होता है "निन्दा (पुकारना, आवाज़ करना) करनेवाला और पुकारनेवाला ढिंढोरिया। फ़ारसी में बमानी निंदा के भी इस्तेमाल होता है और बमानी ढोल की आवाज़ के भी जो वास्ते लोगों की अगाही के बजाते" [२]।

पहिले प्रायः सभी वस्तुओं के सामान्य नाम थे। पीछे संकोच बढ़ते-बढ़ते आज वे विशेष और रूढ़ शब्द बन गये हैं। उनकी व्यापकता नष्ट होकर संकुचित अर्थ में उनका प्रयोग होने लगा है। जैसे, 'धर्म बिगाड़ना', 'धर्म परिवर्त्तन होना', 'धर्म के ठेकेदार होना' इत्यादि मुहावरों में प्रयुक्त धर्म शब्द उतना व्यापक नहीं है, जितना मनु महाराज का 'यः धारयति सः धर्मः' था। 'काग़ज़' गुजराती में अख़बार को कहते हैं। हमारे यहाँ भी 'काग़ज़-पत्र सम्हालना', 'काग़ज़ करा लेना' 'काग़ज़ दाखिल करना' इत्यादि मुहावरों में काग़ज़ का बहुत संकुचित अर्थ लिया गया है। इसी प्रकार के कुछ प्रयोग और देखिए। 'तार देना', 'तार आना', 'करेंसट मारना', 'कृष्णमुख होना' 'पत्ते चाटना', 'पत्ते खेलना', 'चाँदी कटना', 'चाँदी की चपत' इत्यादि।

कभी-कभी विचार-समागम (Association of ideas) के कारण किसी शब्द के साथ एक गौण अर्थ जुड़ता जाता है और धीरे-धीरे यह गौण अर्थ ही प्रधान हो जाता है। गँवार शब्द का प्रयोग किसी समय ग्रामीण के लिए होता था, किन्तु ग्रामीणों के सीधे-सादे और सरल होने के कारण धीरे-धीरे इस शब्द का प्रयोग बे-अक्ल के अर्थ में होने लगा। 'मधुर स्मृति', 'कटु अनुभव', 'सीधी या टेढ़ी बात' इत्यादि वाक्यांशों में एक इन्द्रिय का विषय दूसरी का बना दिया गया है।

६. अर्थ-विस्तार—अर्थ-संकोच के विपरीत कार्य का नाम है अर्थ-विस्तार। कभी-कभी किसी विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले शब्द या शब्दों का अति व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हैं; जैसे 'परसों' शब्द का प्रयोग आजकल भूत और भविष्य दोनों के लिए होता है। वह संस्कृत के परश्व का ही रूपान्तर है, जिसका प्रयोग केवल आनेवाले कल के लिए होता है। मुहावरे में आकर तो उसकी व्यापकता और भी बढ़ जाती है। 'कल-परसों की बात है', अर्थात् हाल ही की बात है।

उपाधियों और कुछ गुणों के आधार पर ही नाम रखे जाते हैं, पीछे से उन नामों का रूढ़ और संकुचित अर्थ सामने रह जाता है और यौगिक अर्थ भूल जाता है। ऐसी स्थिति में वह नाम आवश्यकता पड़ने पर विशेष से सामान्य की ओर बढ़ने लगता है, जैसे; हिन्दी में स्याही का मूल अर्थ है काली या कालिख, पर अब उसका रूढ़ अर्थ हो गया है, किसी प्रकार की भी लिखने की स्याही

---

१. लौग़ात किश्वरी, पृ० ४५३।

२. „ „ पृ० ५००।

'लाल स्याही के पर्चे', 'आग बरसना', 'कौड़ी को न पूछना', 'माई-बाप होना' इत्यादि अर्थ-विस्तार के अच्छे उदाहरण हैं।

पहिले जो शब्द मंगल अथवा प्रारम्भ आदि के द्योतन के लिए सप्रयोजन लाये जाते थे, पीछे सामान्य अर्थ के वाचक बन गये। जैसे 'श्री गणेश करना', 'बिस्मिल्ला करना', 'बिस्मिल्ला ही गलत होना', 'हरी ओम करना (भोजन प्रारम्भ करने के लिए)', 'हरगंगा होना या करना', 'इतिश्री होना'।

बहुत-से व्यक्तिवाचक नाम ऐसे होते हैं, जो अपने गुणों के कारण जनता में जातिवाचक बन जाते हैं। जैसे 'लंका के छोर पर रहना', 'गंगा नहा जाना', 'बहती गंगा में हाथ धोना', 'आये बड़े लाट साहब कहीं के', 'सूरदास होना', 'लाट फिरंगी होना', 'फिरंगी का राज्य' इत्यादि वाक्यांशों में 'फिरंगी शब्द' का भी अर्थ-विस्तार हुआ है। यह शब्द पहिले पुर्तगाली डाकू के लिए आता था। पीछे उनकी वर्णसंकर संतानों के लिए इसका प्रयोग हुआ। अन्त में अब इस शब्द से यूरेशियन-मात्र का बोध होता है। अर्थ-विस्तार के कुछ और नमूने देखिए—'अखाड़े में आना', 'अगर-मगर करना', 'अंगुलियाँ उठना या उठाना', 'आँखें बिछाना', 'उल्लू बनना या बनाना', 'एँड़ियाँ रगड़ना', 'कमर खोलना', 'गला छुड़ाना', 'घर करना', 'टट्टू पार होना', 'दाँत खट्टे करना', 'धूल में मिलाना', 'पहिया लुढ़काना', 'फूल बोना', 'बिल ढूँढ़ने लगना', इत्यादि इत्यादि।

जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है शब्दार्थ-विज्ञान के कोई निश्चित नियम स्थिर नहीं किये जा सकते हैं, किन्तु परिवर्त्तन होने के उपरान्त अवश्य उसकी व्याख्या की जा सकती है। प्रायः मनोवैज्ञानिक कारणों से ही ऐसे परिवर्त्तन हुआ करते हैं, किन्तु कभी-कभी दूसरे कारण भी उनके साथ रहते हैं। इन समस्त परिवर्त्तनों का मूल सिद्धान्त तो वास्तव में विचारों का समागम ही है। प्रत्येक वक्ता अपने वक्तव्य को पूर्णरूप से सरल और सुबोध बनाने का प्रयत्न करता है और विशेषतया जब उसे किसी गहन विषय पर बोलना होता है, तो वह साधारण जीवन की साधारणतम घटनाओं और वस्तुओं से तुलना करता हुआ अपने दृष्टिकोण को लोगों के सामने रखने का प्रयास करता है। परिचित के आधार पर अपरिचित का ज्ञान कराता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अपने भाषण को लोकप्रिय बनाने के लिए उसे लोकभाषा का सहारा लेना पड़ता है।

मुहावरों की लोकप्रियता

लैण्डर (Landor) ने ठीक ही कहा है कि "प्रत्येक अच्छे लेखक की कृतियों में मुहावरों की प्रचुरता होती है, मुहावरे भाषा का जीवन और प्राण होते हैं।"[१] इसी बात को थोड़े प्रकारान्तर से श्रीगयाप्रसाद शुक्ल इस प्रकार लिखते हैं—"भाषा-विकास की प्राथमिक अवस्था में जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अपनी अभिधा-शक्ति का ही प्रदर्शन कर सकते हैं। जब भाषा में शक्ति या प्रौढता आती है, तब शब्दों की लक्षणा और व्यञ्जना-शक्तियों का चमत्कार दिखाई पड़ने लगता है। मुहावरे बन ही नहीं सकते, जबतक शब्दों में ये शक्तियाँ न आ जायें। इससे सूचित होता है कि किसी भाषा में मुहावरों का प्राचुर्य उसकी सजीवता का सूचक है।" और भी कितने ही विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से मुहावरेदारी को ही भाषा का प्राण माना है। वास्तव में मुहावरे ही भाषा के प्राण होते भी हैं, वे ही उसे सजीव रखते हैं। जिन भाषाओं के अपने मुहावरे नहीं होते, वे अव्वल तो बहुत ही संकुचित और अव्याप्त होती हैं; दूसरे रूप, ध्वनि अथवा अर्थ किसी भी दृष्टि से उनमें स्थायित्व नहीं होता। शरदृऋतु के बादलों की तरह वे सदैव असम्बद्ध, अव्यवस्थित और अस्थायी रहती हैं।"

१. Every good writer has much idiom ; it is the life and spirit of language—*Landor*

भाषा के प्राण या उसकी सजीवता से हमारा अभिप्राय उसकी अर्थ-प्रतीति की उद्‌बुद्ध शक्ति से है। हमारे बीच में भी जिस प्रकार काम करने की क्षमता और कुशलता की दृष्टि से दो प्रकार के लोग होते हैं; एक वे, जो काम कर ही नहीं सकते, देर में करते हैं अथवा कुछ कर देते हैं, जिन्हें हम प्रायः आलसी, सुस्त और मुर्दा कहा करते हैं और, दूसरे वे, जो बड़ी कुशलतापूर्वक यथाविधि और यथासमय अपने काम को कर लेते हैं। भाषा में भी मुर्दा या मरी हुई भाषा और जिन्दा या सजीव भाषा—ये दो विभाग किये जा सकते हैं। अर्थ-प्रतीति-प्रतिबन्धकत्व, अर्थ-प्रतीति-विलम्बकत्व और अर्थान्तर-प्रतीतिकारित्व—ये तीन भाषा के दोष समझे जाते हैं। इनके कारण ही हम किसी भाषा को बेमुहावरा या मरी हुई भाषा कहते हैं। इसके प्रतिकूल जिस भाषा में अर्थ की अति सरल और सुबोध रीति से साक्षात् प्रतीति कराने की सामर्थ्य रहती है, उसे सजीव या मुहावरेदार भाषा कहते हैं। अब संक्षेप में, भाषा के द्वारा हम किसे और किस प्रकार के अर्थ की प्रतीति कराना चाहते हैं, इसपर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

हम भाषा के द्वारा दूसरों पर अपनी अन्तर्भूत इच्छाओं, कल्पनाओं, आवश्यकताओं, दुःख या प्रसन्नता, क्रोध या सन्तोष अथवा प्रेम या घृणा के भावों को प्रकट करते हैं तथा इसी प्रकार के और भी बहुत-से काम हम भाषा से लेते हैं। कभी हमें अपना काम निकालने के लिए दूसरों से अनुनय-विनय या प्रार्थना करनी पड़ती है, कभी उन्हें प्रोत्साहित या उत्तेजित करना होता है, कभी उनसे आग्रह करना पड़ता है और कभी उन्हें अपने अनुकूल बनाना होता है। कभी हमें लोगों को शान्त करने के लिए समझाना-बुझाना पड़ता है और कभी कोई काम करने या किसीसे लड़ने के लिए उत्साहित या उत्तेजित करना पड़ता है। कभी हमें लोगों को अपने वश में करना पड़ता है और कभी उन्हें किसीके प्रति विद्रोह करने के लिए भड़काना पड़ता है। भाषा से निकलनेवाले इसी प्रकार के और भी बहुत से कार्य होते और हो सकते हैं। किन्तु ये सब कार्य ठीक तरह से उसी समय हो सकते हैं, जब हमारी भाषा में हमारे भावों को उसी रूप में और उसी वेग के साथ अविलम्ब श्रोता के समक्ष मूर्त्तिमान् करने की शक्ति हो। इस कार्य में, जैसा पहिले भी किसी स्थल पर हम लिख चुके हैं, वक्ता से अधिक महत्त्व श्रोता का होता है। काम तो श्रोता से लेना है, इसलिए उसकी भाषा और उसके मुहावरों के द्वारा ही हम अति शीघ्रता से उसकी स्नायु-शक्तियों को उत्तेजित करके उसे काम में लगा सकते हैं। हमारे एक मित्र का छोटा-सा बच्चा है, उन्हें जब-कभी उससे टोप माँगना होता है तो कहते हैं—'मुन्ने, जाओ पापा ले आओ' वह दौड़कर टोप उठा लाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि अपने कथन को लोकोपयोगी और लोकप्रिय बनने के लिए हमें लोक-बुद्धि अथवा लोक-भाषा का आश्रय लेना अनिवार्य है। इसलिए श्री होवेल (Howell) ने कहा है—"प्रत्येक भाषा में कुछ न-कुछ उसके अपने मुहावरे और लौकिक प्रयोग अवश्य होते हैं।"[1]

हम सब अच्छी तरह से जानते हैं कि राष्ट्रभाषा हिन्दी अथवा साहित्यिक खड़ीबोली, जिसका हमारा शिक्षित समाज लिखने-पढ़ने में उपयोग करता है, उसके बाहर भी लोक-भाषाओं के अनेक रूप हमारे यहाँ चारों ओर प्रचलित हैं। विक्टर ह्यूगो ने ठीक कहा है कि "यह कहा जा सकता है कि समस्त उद्योग-धन्धे, समस्त व्यापार और कार-व्यवहार इतना ही नहीं, सामाजिक पुरोहितों के प्रायः समस्त कार्य-कलाप तथा सब प्रकार के ज्ञान और विज्ञान तक के लिए उनकी अपनी विशिष्ट भाषा होती है।"[2] वास्तव में भिन्न-भिन्न उद्योग-धन्धों, कार-व्यवहार और मनोविनोद तथा खेलों के अपने-अपने अलग शब्द-प्रयोग होते हैं। गाली-गलौज और अश्लील मजाक के लिए भी

१. रिचार्डसन की 'न्यू इंग्लिश डिक्शनरी', वोल्यूम १। (देखें इडियम)

२. लेस मिजरेबुल, पृष्ठ ८२७।

लोकभाषा में काफी बड़ी संख्या में शब्द मिलते हैं। इनके अतिरिक्त बहुत-सी अलग-अलग बोलियाँ हैं, जो न केवल भारतवर्ष के, वरन् समस्त संसार के प्रायः सभी भागों में मिलती हैं। इन समस्त लोक-भाषाओं और बोलियों की ब्योरेवार ठीक-ठीक व्याख्या, विश्लेषण और वर्गीकरण करना बहुत कठिन है; क्योंकि वे एक-दूसरे से ऐसी मिलती-जुलती और प्रभावित हैं कि उनके बीच सीमा की स्पष्ट कोई रेखा नहीं खींची जा सकती। उन सबका उपयोग चूँकि केवल बोलने में ही होता है, लिखने में नहीं, इसलिए राष्ट्रभाषा अथवा साहित्यिक खड़ीबोली से उनका भेद स्पष्ट करने के लिए हम उन सबको एक जगह रखकर लोकप्रिय भाषा कह सकते हैं। "वे, उन सब नियम और प्रतिबन्धों से, जो अनिवार्य रूप से किसी ऐसी भाषा पर लागू होते हैं, जो लिखित भाषा बन गई है तथा जो एक नियत शब्दकोष और आवश्यक व्याकरण के अन्तर्गत स्कूलों में पढ़ाई जाती है और शिक्षित वर्ग के द्वारा लिखी और बोली जाती है, मुक्त रहकर चलती, बदलती और उन्नत या अवनत होती रहती हैं।"[1] हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी के जन्म और सदियों में उसकी जो उन्नति और विकास हुआ है, हमारी भाषा के प्रत्येक इतिहास ने उसका वर्णन किया है और आज बड़ी तेजी से बढ़ते हुए लौकिक व्यवहार, सामाजिक आदान-प्रदान, लोकप्रिय शिक्षण, पत्र-पत्रिका और सार्वजनिक वक्तव्य तथा संभाषणों के द्वारा इसका जो प्रचार और प्रसार हो रहा है, उसे हम अपनी आँखों देख रहे हैं। राष्ट्रभाषा का लोकभाषाओं पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका पता तो बड़ी आसानी से चल जाता है, किन्तु इसके विरुद्ध राष्ट्रभाषा पर, उन असंस्कृत और अलिखित लोकभाषाओं का, जो सदैव इसकी सीमा से बाहर रही हैं और अब भी हैं, जो प्रभाव पड़ता है, उसपर बहुत कम लोगों ने ध्यान दिया है। मुहावरों की दृष्टि से विचार करते हुए हम कह सकते हैं कि उनका यह प्रभाव किसी प्रकार भी कम रोचक अथवा कम महत्त्व का नहीं है। किंग्स इंगलिश (King's English) के विद्वान् लेखकों ने मुहावरे और लोकभाषा का भेद बताते हुए लिखा है—"मुहावरेदार भाषा लिखने-वाला लोकभाषावाले से केवल इतना ही अलग है कि वह लोकभाषा के लोक-प्रचलित प्रयोगों का उपयोग करता है।"[2] मुहावरों की दृष्टि से भाषा का अध्ययन-करनेवाले मेकमार्डी भी अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "मुहावरेदार प्रयोग अँगरेजी की नित्यप्रति की बोलचाल में मिलते हैं, सप्रयत्न लिखे हुए उच्च कोटि के सुसंस्कृत लेखों में नहीं। उपन्यास, समाचारपत्रों में लिखे गये लेख, मैगजीन-साहित्य तथा पर्यटन-सम्बन्धी पुस्तकों में मुहावरेदार प्रयोगों की प्रचुरता रहती है। डैफ़ो, स्विफ़्ट, लैम्ब तथा उन दूसरे लोगों की कृतियों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा जा सकता है, जिन्होंने भाषा के एंग्लो-सैक्सन (Anglo-Saxon) तत्त्व को ही प्रधानता दी है, उच्च कोटि की सुसंस्कृत भाषा को नहीं। अँगरेजी-साहित्य की वर्त्तमान प्रवृत्ति लम्बी-चौड़ी अलंकृत और उच्च कोटि की साहित्यिक रचनाओं से पीछा छुड़ाकर सरल, ओजपूर्ण और मुहावरेदार शैली को अपनाने की हो गई है।"[3]

अँगरेजी के सम्बन्ध में मेकमार्डी ने जो बात कही है, ठीक वही स्थिति हिन्दी या हिन्दुस्तानी की भी है। हिन्दी भाषा के इतिहास से जिनका परिचय है, वे अच्छी तरह से जानते हैं कि ऋग्वेद-काल में ही हमारी भाषा का विशेष झुकाव सरल ओजपूर्ण और मुहावरेदार शैली की ओर हो गया था, क्लिष्ट और उच्च कोटि की साहित्यिक भाषा के विरुद्ध क्रमिक विद्रोह का परिणाम ही, हमारी वर्त्तमान हिन्दी है। यदि ऐसा कहा जाय, तो न्यायविरुद्ध न होगा; इतना ही नहीं, हम तो यहाँ तक कहने को तैयार हैं और कहते हैं कि हिन्दुस्तानी का वर्त्तमान आन्दोलन भी हिन्दी को

---

१. डब्ल्यू आई०, पृष्ठ १२५-२६।

२. दि किंग्स इंगलिश, पृ० ५३।

३. इंगलिश इडियम्स—डब्ल्य० मेकमार्डी एम्० ए०, पृ० १५।

साहित्यिक भाषा के संकुचित दायरे से खींचकर लोकभाषा के खुले हुए सार्वभौमिक राजपथ पर लाने का ही एक प्रयत्न है। इस खतरे की घंटी को सुनकर भी यदि हिन्दीवालों की आँखें न खुलीं, उन्होंने करवट न बदली और उर्दूवालों की तरह 'इस्लाह जबान' और 'क़ानून मतरूकात' के पर्दे में जबान को कोह-क़ाफ की नाज़नी ही बनाये रखा, उसे राष्ट्रभाषा, राष्ट्र-भर की भाषा न बनने दिया, तो वह दिन दूर नहीं है, जिस दिन संस्कृत और पाली इन दोनों प्राचीन साहित्यिक भाषाओं की तरह हिन्दी की गिनती भी मुर्दा या मरी हुई भाषाओं में होने लगेगी। भाषा की स्वाभाविक प्रगति को व्याकरण या तर्क के स्थूल नियम और प्रतिबंधों से बाँधकर नहीं रखा जा सकता, लोकभाषाओं का उसपर सदैव प्रभाव पड़ा है और पड़ेगा ही, इतिहास इस बात का साक्षी है, देखिए—

"हिन्दुस्तान के इतिहास में भाषा का सबसे पुराना नमूना ऋग्वेद में मिलता है। पर ऋग्वेद की पेचीदा संस्कृत-साहित्य की और ऊँचे वर्गों की ही भाषा मालूम होती है, साधारण जनता की नहीं। कुछ भी हो, संसार की और सब भाषाओं की तरह ऋग्वेद की संस्कृत भी धीरे-धीरे बदलने लगी। उसपर आर्य-लोक भाषा और अनार्य-भाषाओं का प्रभाव अवश्य ही पड़ा होगा। पिछली संहिताओं की भाषा ऋग्वेद से कुछ भिन्न है, ब्राह्मणों और आरण्यकों में भेद और भी बढ़ गया है, उपनिषदों में एक नई भाषा-सी नज़र आती है। इस समय वैयाकरण उत्पन्न हुए, जिन्होंने संस्कृत को नियमों में जकड़ दिया और विकास बहुत कुछ बन्द कर दिया। व्याकरणों में सबसे ऊँचा स्थान पाणिनि की अष्टाध्यायी ने पाया, जो ई० पू० सातवीं और चौथी सदी के बीच में किसी समय रची गई थी। इसके सूत्र अबतक प्रामाणिक माने जाते हैं। पर थोड़ा-सा परिवर्त्तन होता ही गया। वीर-काव्य की भाषा कहीं-कहीं पाणिनि के नियमों का उल्लंघन कर गई है। साहित्य की भाषा जो वैदिक समय से ही केवल पढ़े-लिखे आदमियों की भाषा थी, व्याकरण के प्रभाव से, लगातार बदलती हुई लोकभाषा से बहुत दूर हट गई। यह लोकभाषा देश के अनुसार अनेक रूप धारण करती हुई, बोलचाल के सुभीते और अनार्य-भाषाओं के संसर्ग से प्रत्येक समय में नये शब्द बढ़ाती हुई, पुराने शब्द छोड़ती हुई, क्रिया, उपसर्ग, वचन, लिंग और काल में सादगी की ओर जाती हुई प्राकृत भाषाओं के रूप में दृष्टिगोचर हुई। इनका प्रचार संस्कृत से ज्यादा था; क्योंकि सब लोग इन्हें समझते थे। बुद्ध और महावीर ने मागधी या अर्धमागधी प्राकृत द्वारा उपदेश दिया। ग्रीक लेखकों के भारतीय शब्द प्राकृत शब्दों के ही रूपान्तर हैं, संस्कृत के नहीं। अशोक की धर्मलिपियाँ भी प्राकृत में लिखी हैं और आगे के बहुतेरे शिलालेखों का भी यही हाल है।"[1]

डॉ० देवीप्रसाद के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि भाषा की प्रवृत्ति आदिकाल से ही लोक-भाषाओं से प्रभावित और प्रचालित होने की रही है। पाणिनि इत्यादि वैयाकरणों के कठोर नियंत्रण को छिन्न भिन्न करके वह सदैव लोक बुद्धि के अनुरूप अपना कलेवर बदलती रही है। डॉ० साहब के इसी कथन से यह भी सिद्ध हो जाता है कि लोकबुद्धि पुराने शब्द, क्रिया, उपसर्ग, वचन, लिंग और काल के कठोर प्रतिबन्धों का उल्लंघन करके भाषा को सदैव मुहावरेदारी और सादगी की ओर खींचती रही है। इसी प्रसंग में आगे चलकर क्रमशः डॉक्टर साहब ने साहित्यिक भाषा और लोकभाषा की इस होड़ की पूरी फिल्म पाठकों के सामने रख दी है। हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति और विकास के वृत्त को देखकर अब हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि लोकभाषाओं के अनुरूप ही साहित्यिक भाषाएँ सदैव बनती और बिगड़ती रही हैं।

---

१. हिं० की० पु० स०, पृ० १५३-५४।

नीचे दिये वृक्ष से हिन्दी-भाषा किन-किन अवस्थाओं में होकर वर्त्तमान रूप में आई है, यह स्पष्ट हो जायगा।

ऊपर के वृक्ष को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा के क्षेत्र में साहित्यिक और बोलचाल की या लोकभाषा ये दो धाराएँ आदिकाल से रही हैं। दोनों का (साहित्यिक और लोकभाषा) अन्तर बताते हुए जैसा पहिले बता चुके हैं, एक तो नियत शब्दकोष और आवश्यक व्याकरण के नियम और प्रतिबन्धों से शासित होकर चलती है और दूसरी लोकबुद्धि के अनुसार स्वच्छन्द विचरती है, किन्तु प्रभाव में दोनों एक-दूसरे के अवश्य रहती हैं। मुहावरों की दृष्टि से देखने पर इन दोनों का अन्तर ही दोनों का सम्बन्ध हो जाता है। लोकभाषा जहाँ अपने पुराने प्रयोगों को छोड़कर नये-नये प्रयोगों का विकास करती रहती है, साहित्यिक भाषा उसके उन्हीं रूढ़ प्रयोगों को ग्रहण करके उसके स्मृति-चिह्नों की बराबर रक्षा करती रहती है।

साहित्यिक भाषा की यह प्रवृत्ति तो आदिकाल से चली आ रही है, किन्तु १८वीं शताब्दी के बाद से तो लोकभाषा के ऐसे रूढ़ प्रयोगों की संसार-भर के साहित्य में एक बाढ़-सी आ गई है। डैफ़ो, स्विफ़्ट, लैम्ब, डिकेन्स और थैकरे इत्यादि पाश्चात्य विद्वानों की तरह मुंशी प्रेमचन्द, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित प्रतापनारायण मिश्र तथा 'हरिऔध' जी प्रभृति हिन्दी-लेखकों की कृतियाँ मुहावरों से लबालब भरी हैं। मुहावरेदारी ही भाषा का जीवन और प्राण समझी जाने लगी है। मुहावरों की लोकप्रियता आज इतनी बढ़ गई है कि क्या छोटे और क्या बड़े सभी लेखक और कवि एक-एक मुहावरे को अपने जी-जान से प्यारा समझकर अपनी कृतियों में सजाते हैं। मुहावरों की इस लोकप्रियता को साहित्यिक भाषाओं में इतना महत्त्व कैसे मिला—भाषा में उनका प्रयोग इतना कैसे बढ़ गया, इसके विशेष कारण हैं।

अठारहवीं शताब्दी से पहले के ग्रीक, लैटिन और संस्कृत-जैसी प्राचीन भाषाओं के साहित्य को देखने से पता चलता है कि उन दिनों इतिवृत्तों, संवादों, सम्भाषणों और आख्यानों आदि को

१. का० गु० व्याकरण, पृ० १६।
२. का० गु० व्याकरण, पृ० १३।

परम उदात्त, आदर्श और अलंकृत साहित्यिक रूप में रखने की चेष्टा की जाती थी, वास्तविक और स्वाभाविक और यथावत् रूप में रखने को नहीं। इस युग की प्रायः सभी नायक-नायिकाएँ उच्च श्रेणी के लोगों में से ही हुआ करती थीं। कवि और लेखक अपने ग्रन्थों में इनके कथोपकथन और वार्त्तालापों को सदा आदर्श और कृत्रिम रूप देते थे। वाल्मीकि, कालिदास, मिल्टन और जॉन्सन इत्यादि की रचनाएँ इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इनकी रचनाएँ लोक-समाज के जीवन से सर्वथा भिन्न इनके अपने मस्तिष्क की कल्पना-मात्र थीं, अतएव उनमें लोकभाषा के प्रयोगों (मुहावरों) का आधिक्य संभव ही नहीं था। मुहावरों की प्रचुरता तो वहीं देखने को मिल सकती है, जहाँ सर्व-साधारण के कथन और सम्भाषण अपने वास्तविक रूप में रखे जायँगे। जहाँ आदर्श और बनावटी रूप होगा, वहाँ मुहावरों की दाल कैसे गल सकती है। संस्कृत में भी चूँकि मृच्छकटिक नाटक में सर्वसाधारण के कथोपकथनों और सम्भाषणों को स्वाभाविक रूप में रखने का सफल प्रयत्न हुआ है, उसमें मुहावरों की प्रचुरता है।

इसके प्रतिकूल १८वीं शताब्दी के बाद के साहित्य को देखने से क्या पाश्चात्य और क्या पौर्वात्य, सभी देशों की भाषाओं में मुहावरों की प्रचुरता दिखाई देती है। इसका कारण यह है कि आधुनिक युग में समाज के कार्य-क्षेत्र का आशातीत विस्तार तो हुआ ही है, साथ ही साहित्य के क्षेत्र से आदर्शवाद को खदेड़कर, उसके स्थान पर वास्तविकता अथवा यथार्थवाद को लाने का सफल प्रयत्न हुआ है। वस्तुओं, व्यापारों, कथोपकथनों, सम्भाषणों और प्रायः सब प्रकार के इतिवृत्तों आदि को जैसा है, उसी रूप में रखने की चेष्टा हो रही है।

लोकप्रिय मुहावरों को भाषा में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान मिलने का एक और सम्भवतः सबसे प्रधान कारण समाज के कार्य क्षेत्र का आशातीत विस्तार है। समाज बहुत-से समुदायों की एक शृंखला है। प्रत्येक समुदाय का एक विशिष्ट व्यवसाय, व्यापार या धन्धा होता है। "जब समुदाय के कार्य-क्षेत्र में पूरी विशिष्टता आ जाती है, तब नित्य-प्रति के व्यवहार में भावों की सम्यक् व्यंजना के लिए, 'भिन्न-भिन्न' वस्तुओं, व्यापारों और प्राणियों के रूप, रंग, कार्य इत्यादि के आधार पर विलक्षण शब्द-योजनाओं की (मुहावरों की) सृष्टि द्रुत गति से होने लगती है। आरम्भ में इन मुहावरों का प्रयोग समुदाय-विशेष के ही कार्य-क्षेत्र में सीमित रहता है, किन्तु कालान्तर में ये व्यापक होकर सार्वत्रिक प्रयोग के शब्द हो जाते हैं। आधुनिक यूरोपीय भाषाओं, विशेषतः अँगरेज़ी और फ्रेंच, में जो मुहावरे मिलते हैं, उनके भिन्न-भिन्न समुदायों, जैसे नाविक, सैनिक, कृषक आदि, के शब्द-योजना-कौशल का परिणाम है।"[1] हिन्दी-मुहावरों के वर्गीकरण में आगे चलकर जैसा हम दिखायेंगे, हमारे यहाँ भी अधिकांश मुहावरे इसी प्रकार के भिन्न-भिन्न कार्य-क्षेत्रों से आये हैं। सचमुच यदि हमारा कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत न होता, तो आज हमारी भाषा में मुहावरों की इतनी प्रचुरता न होती।

साहित्यिक भाषा पर लोकभाषा और उसके लोकप्रिय उपयोगों के प्रभाव को संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं। समाज के कार्य-क्षेत्र का विस्तार होने तथा साहित्य-क्षेत्र से आदर्शवाद को दरवाजा दिखाकर उसके स्थान में यथार्थवाद की स्थापना हो जाने के कारण समस्त कथोपकथन, सम्भाषण और इतिवृत्तों आदि की टकसाल विशिष्ट लेखकों के विशिष्ट मस्तिष्कों से हटकर लोक-मस्तिष्क में पहुँच गई। सर्वत्र लोकभाषा के प्रयोगों का सिक्का जम गया। छोटे और बड़े शिक्षित वर्ग के प्रायः सभी लोग उनका खुले हाथों प्रयोग करने लगे। बहुत-से पाठकों को लोक-भाषा के ये प्रयोग बहुत खटकते हैं। वे प्रायः माथा कूटकर यह कहा करते हैं कि साहित्यिक भाषा में

१. हिन्दी-मुहावरे (दो शब्द)।

इतना बड़ा और सुसंस्कृत शब्द-भाण्डार होते हुए भी क्यों ये लोग ऐसे अप्रचलित, असंस्कृत और अप्रामाणिक प्रयोगों से अपनी पुस्तकों को लाद देते हैं। किन्तु इन सब आक्षेपों को सुनते हुए भी लोकभाषा के शब्द और लोकप्रिय मुहावरों का प्रयोग करने में वे लेशमात्र शिथिलता नहीं दिखाते। "क्यों, केवल इसीलिए कि एक ग्रामीण और वे (साहित्यिक) प्रायः एक ही भाषा बोलते हैं। दोनों का सम्बन्ध, जितना, जीवन और जीवनव्यापी अनुभवों को एकमात्र कुंजी लोक-प्रचलित मुहावरों से है, उतना कोष और व्याकरण से नहीं। दोनों जब बातचीत करते हैं, तब अपने भावों को व्यक्त करना चाहते हैं और इस बात का प्रयत्न करते हैं कि सुननेवाले या वालों के सामने उनके विचार सजीव मूर्त्ति के रूप में स्पष्ट हो जायँ। लेखक अपनी निजी भाषा नहीं गढ़ सकता, समाज जो उसे देता है, उसे ग्रहण करना चाहिए, और यदि वह अपने मन के राग-द्वेष, घृणा और प्रेम आदि के भावों को व्यक्त करने अथवा निजी मनोविनोद के लिए उपयुक्त भाषा चाहता है, तो अपने-आप ही उसे लोकप्रिय कलाकारों की, पीढ़ियों द्वारा निर्मित, सुसम्पन्न और सजीव मुहावरा-सामग्री का आश्रय लेना पड़ेगा। यहाँ उसे रूपक और व्याजोक्ति से युक्त अपनी अभिरुचि के ठीक अनुकूल, मन को फड़का देनेवाली सशक्त और विलक्षण भाषा मिलेगी। सुशीलता, निन्दा और तिरस्कार तथा आश्चर्य, घबराहट और सन्देह इत्यादि के भावों को व्यक्त करनेवाली सैकड़ों शब्दों, वाक्यांशों और मुहावरों में इस प्रकार की अभिरुचि और प्रबल अनुराग कूट कूट कर भरा हुआ मिलेगा। उन प्रयोगों के इतना मनोरंजनकारी, ओजपूर्ण और सर्वप्रिय होने के कारण ही उनका प्रयोग शिक्षित वर्ग में हो चला है। किन्तु लोकभाषा में एक दूसरी विशेषता उसकी कल्पना और कवित्व-शक्ति की होती है, जो एक साहित्यक के लिए और भी अधिक मूल्यवान् है।"[1] मतलब यह है कि लोकभाषा के प्रयोगों अथवा मुहावरों में वे सब गुण और शक्तियाँ विद्यमान हैं, जिनकी एक साहित्यिक को आवश्यकता होती है। मुहावरों की उत्पत्ति और प्रचार का इसलिए, यह भी एक मुख्य कारण है।

सार

प्रस्तुत प्रसंग में हमने, किसी भाषा में मुहावरों का आविर्भाव क्यों होता है, इस समस्या पर मुख्यतया तीन दृष्टियों से विचार किया है—१. भाषाविज्ञान की दृष्टि से, २. मनोविज्ञान की दृष्टि से, ३. मुहावरों की लोकप्रियता की दृष्टि से।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से विचार करते हुए सर्वप्रथम हमने भाषा की स्वभाविक प्रगति की नीचे दी हुई तीन अवस्थाओं का विवेचन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्रत्येक भाषा की स्वाभाविक प्रगति मुहावरों की ओर होती है, मुहावरे उसपर लादे नहीं जाते, बल्कि उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति और स्वभाविक प्रगति के अनुसार उनका क्रमिक विकास होता है।

भाषा की स्वाभाविक प्रगति की तीन अवस्थाएँ—

१. भाषाएँ आदिकाल में प्रयुक्त होनेवाले अपने अनावश्यक, व्यर्थ अथवा पुनरुक्त अंश को निकालकर अपनी एक परिधि बनाने के लिए आगे बढ़ती हैं।

२. भाषाएँ आदिकालीन अव्यवस्था और अनियमितता की अवस्था से व्यवस्था और व्याकरण की ओर बढ़ती हैं।

३. तीसरी अवस्था को पहली अवस्थाओं के सदृश, अथवा उनका परिवर्द्धित रूप ही समझना चाहिए। इस अवस्था में भाषा अलग-अलग भावों को स्वतंत्र वाक्यों में प्रकट करने का प्रयास करती है, उसकी प्रवृत्ति व्यवच्छेदात्मक हो जाती है, जो अन्त में उसे मुहावरों की ओर ले जाती है।

---

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० १५५-५६, (भावानुवाद)।

हमारी भाषा-विज्ञान की दृष्टि से हमने भाषा का आदर्श क्या होना चाहिए, भाषा की परिवर्त्तन-शीलता और लाक्षणिक संकेत—इन तीन बातों पर और विस्तार से विचार करके यह दिखाया है कि किसी भी दृष्टि से विचार करने पर हमें भाषा की प्रवृत्ति मुहावरों की ओर मालूम होती है।

भाषा-विज्ञान के उपरान्त मनोविज्ञान की दृष्टि से इस समस्या पर विचार करते हुए सर्व-प्रथम मानव-प्रवृत्ति मुहावरेदारी की ओर है, यह दिखाकर शब्दार्थ-विज्ञान की दृष्टि से मुहावरों के आविर्भाव के कारणों पर विचार किया है। अर्थापकर्ष, अर्थापदेश, अर्थोत्कर्ष, अर्थ का मूर्त्तीकरण तथा अमूर्त्तीकरण, अर्थ-संकोच और अर्थ-विस्तार इत्यादि भाषा के बौद्धिक नियमों की मीमांसा करके मानव-बुद्धि का मुहावरे की ओर स्वाभाविक झुकाव है, यह सिद्ध किया है।

अन्त में समाज के कार्य-क्षेत्र के विस्तार तथा साहित्य से आदर्शवाद को निकालकर उसके स्थान में यथार्थवाद की स्थापना के कारण लोक-भाषाओं के साहित्यिक भाषा पर प्रभाव को दिखाते हुए मुहावरों की लोकप्रियता का विवेचन किया है।

———

चौथा विचार

मुहावरों का विकास

मुहावरों के 'क्यों' पर विचार कर लेने के उपरान्त अब उनकी उत्पत्ति कैसे हुई, कैसे वे फूले-फले, विकसित एवं विस्तृत हुए और उनके साधन क्या हैं, उनमें परिवर्त्तन होता है या नहीं, और होता है है, तो किस प्रकार ? जन-साधारण की बोलचाल का भाषा पर कुछ प्रभाव पड़ता है या नहीं, यदि पड़ता है तो किस प्रकार ? अशिष्ट और अश्लील मुहावरे शिष्ट-समाज और उसकी भाषा में आते हैं या नहीं, और आते हैं, तो किस प्रकार, इत्यादि इन सब बातों पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डालना आवश्यक है। इसलिए हम यहाँ संक्षेप में उन्हीं पर विचार करेंगे।

पिछले अध्याय में मुहावरों के आविर्भाव के कारणों पर विचार करते हुए हमने देखा है कि समाज के कार्य-क्षेत्र के विस्तृत होने तथा साहित्य में आदर्शवाद की जगह यथार्थवाद आ जाने के कारण भाषा की प्रवृत्ति दिन-दिन मुहावरों की ओर बढ़ती जा रही है। अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत अथवा स्थूल के द्वारा सूक्ष्म और प्राचीन के द्वारा नवीन को व्यक्त करने का, क्या पढ़े-लिखे और क्या बे-पढ़े—सबमें इतना प्रचार होता जाता है कि प्रस्तुत व्याकरण, कोष, व्युत्पत्ति-शास्त्र इत्यादि की सहायता लेने पर भी कभी-कभी इनके ऐसे प्रयोगों का ठीक-ठीक अर्थ करना टेढ़ी खीर हो जाता है। वर्षों तक लगातार मुहावरों का ही अध्ययन करते रहने पर अब हमें लगता है कि वैयाकरण और कोषकार भाषा की पूरी गहराई तक नहीं पहुँच पाये हैं। रूप, विचार और ध्वनि तथा ध्वनि विकार पर इन लोगों ने जितना जोर दिया है, शब्दार्थ पर नहीं। "शब्दार्थ-विचार की दृष्टि से इसलिए व्याकरण, वाक्य-रचना-प्रकार, कोष इत्यादि का भाषा में वही मूल्य है, जो किसी आधुनिक बड़े बैंक से चलनेवाले व्यापार के लिए मुद्रा के इतिहास का होता है।"[1] जैसा ब्रेअल ने कहा है, शब्दों का अर्थ मनुष्य के मन और मस्तिष्क में रहता है। मुहावरों की उत्पत्ति और विकास में मनुष्य के ज्ञान और विज्ञान का बहुत बड़ा हाथ है।

आदिकाल में, भाषा के अभाव में, लिखने-पढ़ने की अधिक प्रथा न होते हुए भी एक-दूसरे का आशय समझने में कोई बड़ी या विशेष कठिनाई नहीं होती थी। प्रत्येक व्यक्ति को अपना निजी अनुभव इतना रहता था कि उसके सामने कोई ऐसी बात जो सिद्ध ही न हो सके, चल ही नहीं सकती थी। किन्तु सभ्यता के विकास के साथ धीरे-धीरे मनुष्य के व्यक्तिगत अनुभव का क्षेत्र संकुचित होता गया; यहाँ तक कि पावर के इस युग में आज हमारा समाज व्यक्तिगत अनुभव के क्षेत्र से बहुत दूर चला गया है। छपी हुई पुस्तक, पत्र-पत्रिकाएँ, रेडियो तथा सिनेमा इत्यादि के कारण शब्दों का क्षेत्र भी बहुत विस्तृत हो गया है। अधिकांश व्यक्ति जो कुछ पढ़ते अथवा सुनते हैं, उसका अनुभव-जनित ज्ञान उन्हें नहीं होता। संक्षेप में कहा जा सकता है कि नाम के द्वारा ही उन्हें वस्तु का ज्ञान होता है, वस्तु के द्वारा नाम का नहीं। किसी दूकान पर जाकर जब हम रामबाण, अमृतधारा इत्यादि नामों को सुनते हैं, तब इन शब्दों के आधार पर ही वस्तुओं के गुण समझकर उन्हें खरीद लेते हैं। अखबारों में नित्य-प्रति छपनेवाले विज्ञापनों को देखिए, किस प्रकार किसी वस्तु के गुणों को साकार रूप देकर ये लोग छापते हैं। अभी कुछ दिन पहिले एक डॉक्टर महोदय ने पेट साफ करने के लिए कुछ गोलियाँ बनाकर उनका नाम डनकिर्क पिल्स (Easy evacuation) रखा था। डनकिर्क की लड़ाई में मित्र-राष्ट्रों के पलायन की कथा जिन्हें मालूम है, वे इस नाम के रहस्य को अच्छी तरह समझ सकते हैं। अमृतधारा और रामबाण की तरह कौन जानता है कि डनकिर्क पिल्स का भी एक दिन मुहावरों के तौर पर साहित्य में प्रयोग होने लगेगा।

---

१. दि टिरैनी ऑफ् वर्ड्स, पृ० ४।

ओजन और रिचर्ड्स ने अपनी पुस्तक 'मीनिंग ऑफ् मीनिंग' (Meaning of meaning) में स्पष्ट और सार्थक संवहन (Communication) के लिए आवश्यक वस्तु, व्यक्ति अथवा घटना के प्रभाव से उत्पन्न होनेवाले विचार, भावना या दूसरे चिह्नों और उनके व्यक्त रूप, शब्द, खंड-वाक्य अथवा मुहावरे और लाक्षणिक संकेतों का एक त्रिभुज के द्वारा बड़ी अच्छी तरह से सम्बन्ध दिखाया है। इस त्रिभुज का ठीक-ठीक अध्ययन करने से शब्दार्थ-विज्ञान की प्राय: सभी समस्याएँ हल हो सकती हैं। मुहावरों की उत्पत्ति और विकास की दृष्टि से भी यह बड़े महत्त्व का चित्र है। अतएव, अब हम संक्षेप में इसी की मीमांसा करेंगे।
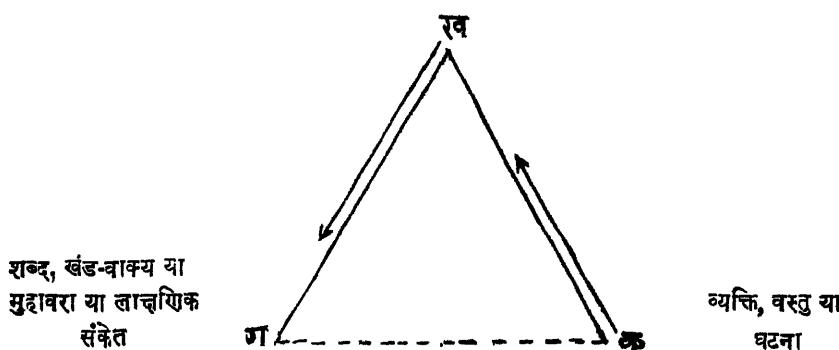
"यह त्रिभुज ज्ञान-तन्तु किस मार्ग से आते-जाते हैं, उसका नमूना नहीं है, बल्कि उनके सम्बन्ध को दिखानेवाला चित्र अथवा बनावट-सम्बन्धी प्रदर्शन है। बाह्य संसार के 'बाह्य कारणों से अथवा आन्तरिक पीड़ा या उत्तेजना के कारण हमारे अन्दर एक प्रकार की हलचल होती है। बाह्य उत्तेजना या आन्तरिक क्रिया को हलचल कह सकते हैं।" इस हलचल का अर्थ जानने के लिए हम उसकी व्याख्या करना आरम्भ करते हैं। व्याख्या, जैसा पहिले लिखा जा चुका है, अतीत के अनुभव पर निर्भर रहती है। दियासलाई के रगड़ने की आवाज को सुनकर हम आग का अनुभव करते हैं। यदि हमने कभी पहले दियासलाई न देखी होती, तो इस आवाज का हमारे लिए कोई महत्त्व न होता। भले हो एक जंगली आदमी उसकी गलत व्याख्या करके यह कह सकता है कि शैतान उसके कान खुरच रहा है। यदि घोंघों से आनन्द लेना हम जानते हैं, तो किसी खुले हुए घोंघे को देखकर हम उसकी आनन्द देनेवाली व्याख्या करेंगे, किन्तु यदि उनसे कभी हमारी मुठभेड़ नहीं हुई है, तो हम उनसे घृणा करेंगे, या ऊब जायेंगे। इस प्रकार की आन्तरिक अथवा बाह्य हलचलों, उनके प्रभाव और मस्तिष्क में पड़ती हुई उनकी छाप का नाम ही मानव-अनुभव है।"[1]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम किसी चीज की व्याख्या अपने अतीत के अनुभव के आधार पर ही करते हैं। किसी नये फल का परिचय देने के लिए हम उसके सदृश पहिले देखे हुए किसी अन्य फल का स्मरण करके कहते हैं कि अमुक फल की तरह होता है। चूँकि अपने गत अनुभव के आधार पर ही हम किसी चीज की व्याख्या करते हैं और अनुभव सबके समान होते नहीं हैं, इसलिए प्राय: सर्वत्र 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' की कहावत सिद्ध हो जाती है। जिस आदमी का जैसा अनुभव होता है, वह उसी के आधार पर किसी नई चीज की व्याख्या करता है। एक लुहार को यदि किसी वस्तु की कठोरता बतानी होती है, तो वह चट कह देता है— यह तो लोहा है, जबकि इसी कठोरता को बताने के लिए

१. दि टिरेनी ऑफ् वर्ड्स, पृ० १०।

दूसरे पेशेवाले पत्थर और काठ की कठोरता का आश्रय लेते हैं। संक्षेप, में शब्दार्थ की दृष्टि से स्टुअर्ट चेज और ब्रेअल दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि "शब्द का अर्थ और कहीं नहीं, स्वयं हमारे मन में होता है।" उदाहरण के लिए एक अति साधारण शब्द 'पास' ले लीजिए। हम हिन्दी-वाले इसका अर्थ निकट, समीप या नजदीक करते हैं, उनके पास लाखों रुपया है, इत्यादि वाक्यों में कभी-कभी इसका अर्थ अधिकार में भी होता है। पुरानी हिन्दी में इसका अर्थ ओर या तरफ होता था। परन्तु भारत के समीपवर्त्ती फारस देश की फारसी भाषा में इसी शब्द का अर्थ (क) लिहाज या खयाल, (ख) तरफदारी या पक्षपात और (ग) पहरा, चौकी आदि होता है। अँगरेजी में इसका और भी विचित्र अर्थ (क) उत्तीर्ण, (ख) दर्रा या घाटी और (ग) गुजरना या बीतना आदि होते हैं। संसार की दूसरी-दूसरी भाषाओं में और न जाने क्या-क्या अर्थ होते होंगे। इससे सिद्ध होता है कि स्वयं 'पास' शब्द में कोई ऐसी विशेषता नहीं है, जिससे उसका कोई अर्थ सूचित हो। अलग-अलग देशों के रहनेवालों ने उसके अलग-अलग अर्थ मान रखे हैं। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि अलग-अलग देशों में अलग-अलग अर्थ का मुहावरा पड़ गया है। इसके अतिरिक्त दूसरा उदाहरण 'तिल्ली लिल्ली भर होना', 'हाय-तिल्ला मचाना', 'वाय-वैला मचाना', 'अगणम-शगणम खाना', 'एन्डी-बैन्डी बातें कहना' इत्यादि मुहावरों में प्रयुक्त वे शब्द हैं, जो साधारण भाषा में निरर्थक समझे जाते हैं, किन्तु मुहावरों में आकर न केवल सार्थक, बल्कि उनके अनिवार्य अंग बन गये हैं।

शब्द, वाक्यांश, मुहावरे या लाक्षणिक संकेतों के स्वाभाविक विकास को समझाने के लिए ओजन और रिचर्ड्स ने जो त्रिभुजाकार आकृति दी है, उससे शब्द और मुहावरों के विकास के साथ ही उनके साधारण और मुहावरेदार प्रयोगों में क्या अंतर है, यह भी स्पष्ट हो जाता है। ध्यान से देखने पर पता चलता है कि इस त्रिभुज का आधार नहीं है। इस आकृति में महत्त्व की सबसे पहली बात यही है। संकेत और सांकेतिक वस्तु अथवा शब्द और पदार्थ में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में इनमें जबतक हम तोते का ज्ञान कराने के लिए तोते की ओर उँगली उठाकर न बतायें, तोता शब्द और तोता पक्षी में कोई सीधा सम्बन्ध हो भी नहीं सकता। उँगली उठाकर न बताय में भी यदि देखा जाय, तो हमारे मस्तिष्क का सोचनेवाला यंत्र काम करता है। इसपर भी लोगों को अश्व माने घोड़ा, शृगाल माने गीदड़ अथवा मृग माने हिरन इत्यादि करके शब्दों का अर्थ करते हुए सुनकर यह विश्वास हो जाता है कि मनुष्य बराबर शब्द और वस्तु को एकरूप समझकर शब्द से तुरन्त वस्तु पर कूद जाता है। वास्तव में अश्व माने घोड़ा या शृगाल माने गीदड़ नहीं है, बल्कि अश्व और घोड़ा अथवा शृगाल और गीदड़ दोनों शब्द एक ही पशु के लिए प्रयुक्त होते हैं। मनुष्य अपने व्यवहार में सबसे अधिक फैलनेवाली यही गलती करते हैं कि त्रिभुज के आधार को मिला देते हैं। कितना भी प्रयत्न क्यों न करें, आप जलेबी शब्द को जलेबी पदार्थ की तरह खा नहीं सकते। इसी प्रकार 'शैय्या' शब्द पर विश्राम और 'नैय्या' शब्द पर जलक्रीड़ा करना भी असंभव है। पूर्णाभिव्यक्ति के लिए इसलिए वस्तु, मस्तिष्क पर उसका प्रभाव और शब्द अथवा लाक्षणिक संकेत—इन तीनों की आवश्यकता होती है। 'जलेबी' शब्द को जिस प्रकार हम खा नहीं सकते, उसी प्रकार जलेबी पदार्थ को खाये विना अथवा उसका अनुभव किये विना हम उसे एकदम जलेबी संज्ञा भी नहीं दे सकते। संक्षेप में, किसी शब्द या वाक्यांश के अभिधेयार्थ के लिए ऊपर दिये हुए त्रिभुज के (क), (ख) और (ग) तीनों बिन्दुओं पर दृष्टि रखना अनिवार्य है।

ज्यों-ज्यों मनुष्यों के बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आदि विकास होते गये, त्यों-त्यों उनके शब्द-भांडार में वृद्धि होने के साथ ही भाव और विचार प्रकट करने के सूक्ष्म भेद-प्रभेद भी उत्पन्न होते गये। नई-नई वस्तुओं के ज्ञान, नये-नये देश और जातियों के संसर्ग नये-नये

शिल्पों और ज्ञान-विज्ञान के आविष्कार, नये-नये भूखंडों के नये-नये पदार्थों से परिचय तथा इसी प्रकार की और सैकड़ों-हजारों नई-नई बातों के कारण हमारी भाषा उन्नत और विकसित होती गई। शब्दों के अभिधेयार्थ से लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की ओर उसकी प्रवृत्ति बढ़ी। ओजन और रिचर्ड्स की भाषा में कहें, तो हमने ऊपर दिये हुए त्रिभुज के 'क' बिन्दु की उपेक्षा करके 'ख' से 'ग' और 'ग' से 'ख' तक ही चलना आरंभ कर दिया। त्रिभुज की बाईं ओर ही हमारा विशेष कार्य-क्षेत्र हो गया। आम की मिठास को व्यक्त करने के लिए मीठा शहद, कहना, इस प्रवृत्ति का अच्छा उदाहरण है। हमारे सामने शहद नहीं है, किन्तु उसकी मिठास का हमें अनुभव है, हमारे मस्तिष्क में उसकी स्मृति है। इसलिए उस अनुभव और स्मृति के आधार पर हम आम को मीठा शहद कह देते हैं। "बड़े-बड़े शब्द बराबर चक्कर काटते रहते हैं, उत्कृष्ट प्रयोग, साधु प्रयोग में लय हो जाते हैं और फिर दोनों सनातन या मुहावरेदार प्रयोग में बदल जाते हैं।"[1] रंगमंच पर खड़े होकर शेर की तरह दहाड़नेवाले नेता और प्रचारक केवल 'ख' बिन्दु से 'ग' और 'ग' से 'ख' तक के क्षेत्र, अर्थात् शब्दों के लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ अथवा मुहावरेदार प्रयोगों का आश्रय लेकर ही लाखों की भीड़ पर जादू-सा करके सबको मंत्रमुग्ध कर लेते हैं। लोकमत और लोक-सिद्धान्त तक को बदल डालते हैं। मनोविज्ञान, दर्शन और राजनीति-जैसे गूढ़ विषयों का प्रतिपादन करने के लिए उन्हें वस्तु या पदार्थ के प्रत्यक्षीकरण की उपेक्षा करके अपने पिछले अनुभव के आधार पर ही अपने भावों को व्यक्त करना पड़ता है। फिर चूँकि, जबतक वक्ता और श्रोता उस समान वस्तु, पदार्थ या घटना अथवा परिस्थिति से परिचित नहीं हैं, एक-दूसरे के मन नहीं मिल सकते, एक-दूसरे की बात न समझने के कारण किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। जिस तरह रेडियो का स्विच निकाल लेने से बीच में ही अचानक प्रोग्राम खत्म हो जाता है, उसी प्रकार ऐसे बेमुहावरा शब्दों के आते ही संवाद रुक-सा जाता है। यदि हम मद्रास या किसी अन्य ऐसे प्रान्त में जायँ, जहाँ हमारी भाषा नहीं समझी जाती है, तो वहाँ हमारी कितनी ही शुद्ध और मुहावरेदार भाषा भी निरर्थक ही सिद्ध होगी। वहाँ के लोगों को अपनी बातें समझाने के लिए हमें वहीं के लोकसिद्ध प्रयोग और मुहावरों से काम लेना पड़ेगा। संक्षेप में, यही मुहावरों के प्रचार और प्रसार का मुख्य कारण है। ज्यों-ज्यों हमारे ज्ञान में वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों 'क' बिन्दु की उपेक्षा करके अपने पुराने अनुभव के आधार पर नई-नई वस्तुओं की व्याख्या करने की हमारी शक्ति बढ़ती जाती है।

अलग-अलग व्यक्तियों के अनुभव भी अलग-अलग होते हैं। बढ़ई, लुहार, शिकारी इत्यादि भिन्न-भिन्न व्यवसायवाले व्यक्तियों के अनुभव प्रायः उनके नित्य-प्रति के कामों में आनेवाले पदार्थों की भिन्नता के कारण एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। इसलिए उच्च कोटि के गूढ़ विषयों को समझाने अथवा उनकी व्याख्या करने के लिए प्रयुक्त उनके मुहावरे और रूपक भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इस दृष्टि से, अतएव, किसी विषय पर वाद-विवाद करने अथवा उसकी व्याख्या करने के लिए अति साधारण और लोकसिद्ध मुहावरों का प्रयोग करना श्रेयस्कर होता है। किसी चीज का निकम्मापन दिखाने के लिए ईंधन, मिट्टी इत्यादि से उसकी तुलना करते हुए 'ईंधन है', 'मिट्टी कर दिया', 'गोबर का भी स्वाद नहीं है', 'गीदड़ का गू है' इत्यादि लोकानुभूतियों का आश्रय लेना व्यक्तिगत विशिष्ट अनुभूतियों अथवा उच्च कोटि के रूपकों से कहीं अधिक सार्थक और सर्वप्रिय सिद्ध होता है। इससे समय की बचत तो होती ही है, मिथ्याबोध और भ्रम से भी आदमी बच जाता है।

अबतक हमने ओजन और रिचर्ड्स के त्रिभुज को लेकर संक्षेप में यह समझाने का प्रयत्न किया है कि मुख्यार्थ को छोड़कर किस प्रकार हमारी प्रवृत्ति शब्द और वाक्यांशों के लाक्षणिक प्रयोग

१. दि टिरेनी ऑफ् वर्ड्स, पृ० ६६।

करने की ओर झुकती जा रही है। यह हम पहिले बता चुके हैं कि लाक्षणिक[1] प्रयोगों में जो प्रयोग रूढ़ और लोकसिद्ध अथवा लोकप्रिय हो जाते हैं, मुहावरा कहलाने लगते हैं। अब इसलिए यह लाक्षणिक प्रयोग रूढ़ होकर कैसे मुहावरे के तौर पर साहित्य में प्रविष्ट और प्रचारित होते हैं, इसपर अच्छी तरह से विचार करना अति आवश्यक है।

मुहावरों की उत्पत्ति और विकास विभिन्न कारणों और अनेक सूत्रों से होता है। मनुष्य के कार्य-क्षेत्र विस्तृत हैं। उन्हीं के अनुरूप उसके मानसिक भाव भी अनन्त हैं। घटना और कार्य-कारण-परम्परा से जैसे असंख्य वाक्यों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार मुहावरों की भी। प्रायः प्रत्येक मनुष्य के जीवन में कुछ ऐसे अवसर उपस्थित होते हैं, जब वह अपने मन के भावों, विचारों और कल्पनाओं को किन्हीं विशेष कारणों से सीधे-सीधे न व्यक्त करके शारीरिक चेष्टाओं, अस्पष्ट ध्वनियों अथवा किन्हीं दूसरे संकेतों या व्यंग्यों द्वारा प्रकट करना चाहता है। कभी वह कई एक ऐसे भावों को थोड़े शब्दों में विवृत करने का उद्योग करता है, जिनके अधिक लम्बे-चौड़े वाक्यों का जाल छिन्न भिन्न करना उसे अभीष्ट होता है। प्रायः हास-परिहास, घृणा, आवेश, क्रोध, उत्साह आदि के अवसर पर उस प्रवृत्ति के अनुकूल वाक्य-योजना होती देखी जाती है। सामयिक अवस्था और परिस्थिति का भी वाक्य-विन्यास पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। एफ़० डब्ल्यू फरार तो ऐसी परिस्थिति में मुहावरेदार प्रयोगों के न सूझ पड़ने पर चुप रहना ही अधिक अच्छा समझते हैं। आप लिखते हैं, "और बहुत-से अवसरों पर यदि हम मुहावरेदार अथवा लाक्षणिक प्रयोगों की सहायता न प्राप्त कर सकें, तो अपने मनोभावों को अव्यक्त रखने में ही हमें संतोष मानना चाहिए।"[2] मुहावरों की उत्पत्ति और विकास के इसी प्रकार और भी साधन होते हैं। विक्टर ह्यूगो अपने जगत्प्रसिद्ध उपन्यास 'ला मिजरेबिल' में लोकभाषा के ऐसे ही प्रयोगों की मीमांसा करते हुए लिखते हैं—

"भाषा-विज्ञान के आधार पर उत्पन्न मुहावरों के अतिरिक्त ऐसे मुहावरों की भी लोकभाषा में कमी नहीं होती, जो स्वतंत्र रूप से स्वयं मनुष्य के मन से पैदा होते हैं। उत्पत्ति और विकास की दृष्टि से विक्टर ह्यूगो ने ऐसे प्रयोगों के तीन भाग किये हैं; "शब्दों की प्रत्यक्ष सृष्टि—इसी में भाषाओं का रहस्य है। पदार्थों का ऐसे शब्दों के द्वारा जिनके क्यों और कैसे का भी हमें ज्ञान नहीं है, चित्रण करना समस्त मानवी भाषाओं की यही आधार-शिला है। लोक-भाषा में ऐसे प्रयोगों की प्रचुरता रहती है, जो इसी प्रकार, बिना किसी धातु के, बना लिये जाते हैं, जिनके बारे में हम यह भी नहीं जानते कि वे कहाँ और किसके द्वारा बने। उनकी व्युत्पत्ति, सादृश्य अथवामूल का कोई पता नहीं चलता। बिलकुल अशिष्ट और कभी-कभी तो बिलकुल भद्दे और अश्लील शब्द भी भाषा में एक विशेष अर्थ देनेवाले बन जाते हैं!" ठीक यही अनुभव लोगन पीयरसल स्मिथ का भी है। वह अपनी पुस्तक 'वर्ड्स एण्ड इडियम्स' के पृ० १८६-८७ पर लिखते हैं—

"वास्तव में कुछ ऐसे मुहावरे भी हैं, जिनका पूर्ण निश्चित विवरण देने में विशेषज्ञ भी असमर्थ हैं। इस प्रकार के असम्बद्ध वाक्य-समूह हमारी भाषा के अनेक मुहावरों की विचित्रता हैं और इस बात के परिचायक हैं कि मनुष्य-मस्तिष्क में निष्फल तथा असम्बद्ध बातों का भी कुछ अंश है एवं मनुष्य-समुदाय असंगत तथा उच्छृंखल प्रयोगों को प्यार करता और तर्क के सामने झुकने में कुछ आना-कानी करता है, जिसके परिणामस्वरूप कभी-कभी बन्धन-विच्छेद करके वह मुहावरेवाली भाषा का प्रयोग कर बैठता है। अपने शब्दों में स्पष्टता लाने के लिए हमलोग उन्हें कुछ अर्थ देना चाहते हैं। तथापि हमलोग कभी-कभी बेमतलब के शब्दों को ही

---

१. लाक्षणिक शब्द metaphorical use के लिए लिया है, अतएव लक्षणा और व्यंजना दोनों के लिए है।

२ ओरिजिन ऑफ् लैंग्वेज, पृ० २२०।

प्रधानता देते दिखाई पड़ते हैं। ऐसा मालूम होता है, जैसे वह असम्बद्धता ही कभी-कभी हमारे ध्यान को आकृष्ट करती तथा स्पष्टता एवं सुन्दरता को बढ़ाती है।"

मनुष्य जब बहुत क्रोध, उत्तेजना या आवेग में होता है अथवा विस्मय, विषाद या अति आश्चर्य की स्थिति में होता है, तब प्रायः उसके मुँह से इस प्रकार के असम्बद्ध अथवा अनाप-शनाप शब्द निकल पड़ते हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी प्रचलित शब्दों के अर्थ भी बदल जाते हैं। इसी परिस्थिति का स्मिथ ने इस प्रकार विश्लेषण किया है—

"जो शब्द जोरदार होते हैं और विस्मय, विषाद या आश्चर्य के भावों को व्यक्त करनेवाले होते हैं, उनके अर्थ-परिवर्त्तन की खास तौर से सम्भावना रहती है। उत्कृष्ट भावों को व्यक्त करने के लिए जब उन शब्दों की शक्ति, जिनका प्रयोग हो चुका है, क्षीण हो जाती है, तब उन्हें केवल उत्कृष्ट शब्दों की ही नहीं, बल्कि नये शब्दों की भी जरूरत पड़ती है।"[1] मुहावरों में, जैसा स्मिथ ने ऊपर बताया है, शब्दों के मूल अर्थ ही कभी-कभी बदल जाते हैं। इसपर आगे चलकर पृष्ठ १८५-८६ पर उसने और अधिक प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"जिस प्रकार शब्दों के लाक्षणिक अर्थ होते हैं, ठीक उसी प्रकार बहुत-से शब्द-समुदायों के भी लाक्षणिक अर्थ मिलते हैं, जिनका प्रयोग प्रायः उन्हीं कार्यों अथवा परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब होता है, जो उन्हें जन्म देती हैं। ये लाक्षणिक प्रयोग प्रायः स्पष्ट होते हैं। पर बहुत-से साधारण तथा प्रचलित मुहावरों का प्रयोग उनके उत्पत्ति-स्थल तथा उनके प्रारम्भिक अर्थ के ज्ञान विना ही किया जाता है।"

शब्दों की प्रत्यक्ष सृष्टि के उपरान्त विक्टर ह्यूगो ने लाक्षणिक प्रयोगों को लिया है। उन्होंने इन प्रयोगों की अपने ढंग की एक निराली ही मीमांसा की है। वे लिखते हैं—

"लाक्षणिक प्रयोग किसी भाषा की विलक्षणता बताते हैं, जिसका उद्देश्य हर बात कह डालना और हर बात को छिपाना तथा अलंकारों से लदी होना है। लाक्षणिक प्रयोग एक ऐसी पहेली होते हैं जो लूट-पाट की योजना बनानेवाले डाकू और जेल से भागने का प्रयत्न करनेवाले कैदी सब को पनाह दे देते हैं। (लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा सब कोई अपना काम निकाल लेते हैं।) लोकभाषा में मुहावरे और लाक्षणिक प्रयोगों की प्रचुरता होती है।"

एक और स्थल पर मुहावरे या लाक्षणिक प्रयोगों के बारे में लिखते हुए, इसी पुस्तक में विक्टर ह्यूगो लिखते हैं—

"मुहावरा बिलकुल एक वस्त्रागार की तरह है, न जौ-भर कम न तिल-भर बढ़ती। जहाँ, किसी विशेष उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए, घुसकर भाषा अपना रूप सँवारती है। यह वहाँ जाकर शब्दों का नकाब और लाक्षणिक चिथड़े लपेटती है।"

विक्टर ह्यूगो ने वस्त्रागार से मुहावरे की जो उपमा दी है, वह बड़ी सटीक और सार्थक है। वास्तव में मुहावरे किसी भाषा के वस्त्रागार होते हैं। वस्त्रागार में नये और पुराने, बढ़िया जरी के कीमती और अप्राप्य वस्त्र भी रहते हैं और फटे-पुराने चिथड़े भी। इसलिए यह कहना कि भाषा चिथड़े-गोदड़े लपेटने के लिए ही वहाँ जाती है, कुछ अधिक तर्कपूर्ण नहीं मालूम होता। भाषा जो अपने स्त्री-स्वभाव के कारण जन्म से ही बनाव एवं शृंगारप्रिय होती है, ऐसे सुसम्पन्न वस्त्रागार में जाकर चिथड़े खोजेगी, यह बात कुछ प्रकृति-विरुद्ध-सी लगती है। हम यह भी जानते हैं कि विक्टर ह्यूगो एक बड़े अनुभवी लेखक और पैनी दृष्टिवाले आलोचक थे। उनकी बात भी अनुभव-विरुद्ध नहीं हो सकती, है भी ऐसा ही। वास्तव में उन्होंने चित्रण ही भाषा की उस

१. 'वर्ड्स ऐण्ड इडियम्स,' पृ० १४३।

अवस्था का किया है, जब वह चिथड़े लपेटकर चार दिन के लिए सबकी आँखों से बचती हुई एकान्त में पड़ी रहती है। इसलिए हम उन्हें १८वीं सदी तक के दूसरे लेखकों की तरह मुहावरेदारी के विरोधी नहीं कह सकते। ह्यूगो साहब के इस रूपक की हम तो इस प्रकार व्याख्या करेंगे कि भाषा मुहावरा-रूपी वस्त्रागार में जाती है और भिन्न-भिन्न भावों को भिन्न-भिन्न प्रकार के जामे पहनाकर लोक स्वीकृति के द्वारा उन्हें सिद्ध-प्रयोग या साधु-प्रयोग की डिग्री दिला देती है। भाषा का यह क्रम भी विश्वविद्यालयों के उपाधि-वितरणोत्सवों की तरह शाश्वत है।

विक्टर ह्यूगो के मतानुसार मुहावरों की उत्पत्ति और विकास की तीसरी अवस्था योग्यता और आवश्यकता के अनुसार शब्दों का यथावत् अथवा कुछ तोड़-मरोड़कर प्रयोग करना है। वह लिखता है—

"मुहावरे भाषा के आधार पर रहते हैं। जब आवश्यकता पड़ती है, तब अपनी मर्जी के अनुसार शब्द भाषा से ले लेते हैं और कभी-कभी बिना सोचे-बिचारे एकदम थोड़ा-बहुत काट-छाँट अथवा विकृत करके ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। कभी-कभी भाषा के यह विकृत रूप अश्लील भाषा के कतिपय शब्दों में घुल-मिलकर विलक्षण अर्थ देने लगते हैं, जिन्हें देखने से पिछले दोनों—प्रत्यक्ष सृष्टि तथा लाक्षणिक प्रयोग-वर्गों का सम्मिश्रण-सा मालूम पड़ता है।"

शब्दों को विकृत करने अथवा काट-छाँटकर उनका प्रयोग करने की इस लोक-प्रवृत्ति का श्रीयुत रामचन्द्र वर्मा का अनुभव भी विक्टर ह्यूगो से बहुत-कुछ मिलता-जुलता ही है। अपनी पुस्तक 'अच्छी हिन्दी' के पृष्ठ २० पर इस प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए वह लिखते हैं—

"प्रायः लोग अपनी भाषा में स्वाभाविकता लाने के लिए ऐसे ग्राम्य तथा स्थानिक शब्दों और भाव-व्यंजन-प्रणालियों का प्रयोग करते हैं, जो या तो व्याकरण के नियमों के विरुद्ध होती हैं और या देखने में भद्दी लगती हैं।" वर्माजी के इस कथन से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि लोगों का झुकाव इस ओर अवश्य रहता है। इस प्रकार के प्रयोगों का भाषा में क्या महत्त्व है, इसपर हमें यहाँ विचार नहीं करना है। स्मिथ ने भी इस प्रकार के प्रयोगों को भ्रष्टाचार माना है, किन्तु भ्रष्टाचार मानते हुए भी वह उनका आदर करता है। वह लिखता है—

"इन लोक-प्रिय शब्द-सम्मिश्रणों को भ्रष्टाचार कहते हैं, किन्तु फिर भी हमें याद रखना चाहिए कि इन अशिक्षित व्यक्तियों के इस भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी स्वाभाविक अज्ञान के कारण हमें कितने ही अति उपयोगी और सुन्दर शब्द मिले हैं।"[1]

मुहावरों की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में अब तक जो कुछ कहा गया है, वह वास्तव में लोक-प्रवृत्ति के आधार पर ही कहा गया है। और चूँकि लोक-भाषा के प्रयोग लोक-प्रवृत्ति का दर्पण होते हैं, इसलिए जैसा आगे चलकर दिखायेंगे, फैलते-फैलते राष्ट्रभाषा पर भी ये अपना सिक्का जमा लेते हैं।

हिन्दी-भाषा की तरह संसार की अन्य भाषाओं में भी ऐसे मुहावरों की कमी नहीं है, जिनकी उत्पत्ति और विकास के कारण शुद्ध मनोवैज्ञानिक हैं। कोई ऐसा व्यक्ति है, जो अचानक किसी भयानक मानसिक, नैतिक अथवा आर्थिक व्यक्तिगत संकट में फँस गया है, अथवा किसी प्रकार से जनता के सामने उसे कलंक लगाया जा रहा है, अथवा उसकी नवोढा पत्नी ने उसका त्याग और तिरस्कार कर दिया है और या वायदे पर साहूकार का रुपया चुकाकर अपनी जायदाद छुड़ाने की व्यवस्था नहीं कर सका है, इत्यादि-इत्यादि असंभावित भयंकर परिस्थितियों के अचानक आ जाने पर उसकी आँखों के सामने चारों ओर घोर अन्धकार छा जाता है, उसके हत्ते-पत्ते छूट

---

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० १४१।

जाते हैं, दिल बैठने लगता है और छुटकारे का कोई रास्ता नहीं दिखाई देता। ऐसी विषम परिस्थिति में पड़कर वह निराश और निस्सहाय-सा होकर 'मैं कभी सफल नहीं हो सकता', 'अब हरगिज नहीं बच सकता', 'सब-के-सब शत्रु हैं', 'गाँठ का पैसा ही हमेशा काम आता है', 'कोई भी मेरा नहीं है', 'इस जीने से क्या फायदा', 'अच्छा हो सब कुछ खत्म कर दूँ' इत्यादि वाक्यों के द्वारा विशिष्ट परिस्थिति की विशिष्ट घटनाओं के विशिष्ट प्रभाव या फल को अतिव्यापक और बृहद् रूप देकर 'सब-के-सब', 'कभी नहीं', 'सदैव' इत्यादि शब्दों और पदों का स्वतन्त्र रूप से उपयोग करने लगता है। 'कहीं का भी न रहना', 'सब कुछ लुट जाना', 'मरने के सिवा कोई चारा न होना', 'आठों पहर सूली रहना', 'आवे का आवा बिगड़ना', 'तिनके का भी सहारा न होना', 'तकदीर फूटी होना', 'भाग्य में ही न बदा होना', 'जन्म से यही पापड़ बेले हैं', 'सब-के-सब खानेवाले ही होना' इत्यादि मुहावरे और मुहावरेदार प्रयोग उसकी किसी विशिष्ट वस्तु, व्यक्ति या घटना के आधार पर समस्त वस्तुओं, व्यक्तियों और घटनाओं के मूल्य आँकने की प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

एक बार किसी कार्य में असफल होने के कारण 'अब कभी सफल ही नहीं हो सकते' ऐसा मानकर हाथ-पर-हाथ रखकर बैठनेवाले व्यक्तियों की आज भी समाज में कमी नहीं है। ये लोग परिस्थिति की विशेषताओं का विचार न करते हुए तुरन्त यह मान लेते हैं कि यही परिस्थिति तो सदैव रहेगी अथवा इसका दूसरी परिस्थितियों से कोई अलग स्वरूप नहीं हो सकता। 'आज जैसा हुआ है, वैसा ही हमेशा होता रहेगा', इस भय से भयभीत वे दूसरे अवसरों की प्रतीक्षा करना तो दरकिनार, उनपर विचार भी नहीं कर पाते। वे सोचते हैं और विश्वास करते हैं कि यह घटना उनके जीवन में आई हुई और आगे आनेवाली समस्त घटनाओं की खिचड़ी का एक दाना ही है, जिसे देखने से पूरी खिचड़ी का पता चल जाता है। एक स्त्री खराब है, तो सारी स्त्री-जाति ही उनके लिए खराब हो जाती है। एक ऋण नहीं चुका सके, तो कोई ऋण चुका ही नहीं सकते। एक बार फेल हो गये, तो कभी सात जन्म में भी पास नहीं हो सकते इत्यादि सर्वथा अतर्कपूर्ण मत उनके बन जाते हैं।

किसी चीज को खूब बढ़ा-चढ़ाकर कहने की यह मानव-प्रवृत्ति केवल अत्यन्त दुःख, शोक, आघात अथवा संकट और निराशा के समय ही नहीं, वरन् प्रसन्नता, आह्लाद, आकांक्षा और सफलता इत्यादि के अवसर पर भी प्रायः जागरूक हो जाती है। अलंकार और मुहावरों के सम्बन्ध की चर्चा करते समय प्रथम अध्याय में जैसा हमने दिखाया है, ऐसी स्थिति में पड़कर मनुष्य प्रायः न्याय और तर्क की सीमा को लाँघकर अतिशयोक्ति के अपार पारावार में नकडूबी लगाने लगता है। उसकी विवेक-शक्ति क्षीण हो जाती है और बाल-बुद्धि सजग होकर उसके सम्पूर्ण मस्तिष्क पर अपना अधिकार जमा लेती है। स्टुअर्ट चेज जैसा लिखता है, "बच्चों का झुकाव अस्पष्ट समीकरण की ओर होता है। वे भिन्नता से कहीं अधिक सादृश्य को पसन्द करते हैं। वे बहुत बड़ी-बड़ी तथा अति छोटी-छोटी वस्तुओं को प्यार करते हैं; बीच के क्षेत्र की, जिसमें अधिकांश वस्तुएँ रहती हैं, उन्हें कोई परवाह नहीं होती। वे किसी घटना के कुछ तत्त्वों को देखते हैं, किन्तु उसकी बहुत-सी विशेषताओं को छोड़ देते हैं। वे प्रायः एक या दो दृष्टान्तों के आधार पर किसी घटना को अतिव्यापक रूप दे देते हैं। 'कल रात लाखों बिल्लियाँ पिछले आँगन में थीं।' जिरह करने पर 'वहाँ हमारी बूढ़ी बिल्ली और एक दूसरी बिल्ली थी' इस हद पर आ जाते हैं।"[१] वह किसी घटना की देश, काल और परिस्थितिगत समस्त सीमाओं को लाँघकर उसके परिमाण और प्रकार की सर्वथा अवज्ञा करता हुआ उसे सार्वदेशिक, सार्वत्रिक और शाश्वत तथा अपरिमित

१. टिरेनी ऑफ वर्ड्स, पृ० ३८।

और अतिव्यापक बना देता है। सूई का फावड़ा करनेवाली उसकी मनोवृत्ति के स्मृति-चिह्न-स्वरूप कितने ही मुहावरे आज भी हमारी भाषा में विद्यमान हैं। 'खून की नदियाँ बहाना', 'आसमान के तारे तोड़ना', 'एक टाँग से फिरना', 'लट्टू की तरह नाचना', 'पत्ता तीर हो जाना', 'हवा से बातें करना', 'आठ पहर सूली रहना', 'इन्द्र का अखाड़ा होना', 'कठपुतली बनना', 'काँटा होना सूखकर', 'कुओं में भाँग (घुलना)', 'कलेजा बाँसों उछलना', 'काम पच्चीस होना', 'कुन्दी करना', 'गला घोंटना' इत्यादि ऐसे ही प्रयोग हैं।

मनुष्य भूलों और दोषों से तो बचना चाहता ही है, वह स्वभावतः सौन्दर्य-प्रेमी भी होता है। वह संसार की सभी वस्तुएँ सुन्दर रूप में रखना और देखना चाहता है। सौंदर्य की अनुभूति और भावना से ओत-प्रोत कलाकार ही नहीं; बल्कि निरक्षर भट्टाचार्य, एक देहाती कुँजड़ा भी अपनी गाजर-मूली को अति सुव्यवस्थित ढंग से अपनी डलिया में सजाकर अति कुरूप और बेडौल वस्तुओं में भी कुछ-न-कुछ सौन्दर्य ढूँढ निकालने की अपनी मानव-प्रकृति का परिचय देता रहता है। सौन्दर्य-प्रेम की उसकी यह मानव-प्रकृति जिस प्रकार उसे अपने बाग, अपनी दूकान, अपनी डलिया इत्यादि और कृतियों को सुन्दर बनाने की ओर प्रेरित करती है, उसी प्रकार अपनी भाषा में भी सौन्दर्य लाने का वह बराबर प्रयत्न करता रहता है। ग्राहकों से बात-चीत करते तथा अपनी चीजों का उन्हें परिचय देते समय वह प्रायः अति लोकप्रिय और मुहावरेदार भाषा का प्रयोग करता है। वह नहीं जानता कि बम्बई में सिंघाड़ा और काबुल में केला होता है या नहीं, किन्तु अपने ग्राहकों को आकृष्ट करने के लिए 'बम्बईवाला है जी', 'रसगुल्ला है जी' तथा 'काबुलवाला है जी', 'तरावटवाला है जी' इत्यादि अनेक प्रकार के अति सुन्दर-मधुर और बा-मुहावरा वाक्य-खंडों को बराबर दुहराता रहता है।

भाषा में सौन्दर्य से क्या अभिप्राय होता है, श्रीरामचन्द्र वर्मा ने इसपर प्रकाश डालते हुए इस प्रकार लिखा है, "रचना में जिस प्रकार भावों के सौन्दर्य की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार शब्द-योजना की सुन्दरता की भी। संसार की हर चीज सजावट चाहती है। परन्तु सजावट भी अनुरूपता की अपेक्षा रखती है। जब किसी सुन्दर मूर्त्ति को सुन्दर वस्त्र पहनाये जायँगे, या सुन्दर आभूषणों से अलंकृत किया जायगा, तभी वह मूर्त्ति और अधिक सुन्दर लगेगी। यदि किसी भद्दी मूर्त्ति को सुन्दर वस्त्र पहना दिये जायँ अथवा किसी सुन्दर मूर्त्ति को भद्दे अलंकार पहना दिये जायँ, तो भद्दे और सुन्दर का वह संयोग कभी ठीक न बैठेगा। सम्भव है कि सुन्दर वस्त्रों से किसी भद्दी मूर्त्ति का भद्दापन कुछ कम हो जाय, परन्तु स्वयं उन वस्त्रों की सुन्दरता बहुत-कुछ कम हो जायगी। 'टाट की अँगिया में वाफ्ते की तनी' क्या अच्छी लगेगी? एक का भद्दापन दूसरे पर प्रभाव डाले विना न रहेगा। वास्तविक शोभा तो तभी होगी, जब दोनों सुन्दर होंगे। भाव और भाषा में भी बहुत-कुछ वही सम्बन्ध है, जो मूर्त्ति और उसके वस्त्रों आदि में है। सुन्दर भाव भी सुन्दर भाषा से ही सुशोभित होते हैं, भद्दी और भोंड़ी भाषा से नहीं। इसी प्रकार भड़कीली भाषा भी विना अच्छे भावों के बेतुकी जान पड़ेगी। अतः लिखते समय भाव और भाषा की अनुरूपता पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। जिस विषय और जिस अवसर के लिए जैसी भाषा उपयुक्त हो, उसे छोड़कर अन्य प्रकार की भाषा का उपयोग नहीं करना चाहिए।"[1]

श्रीयुत वर्माजी ने मूर्त्ति का रूपक लेकर भाषा के सौन्दर्य का बड़ा सजीव चित्रण किया है। विषय और अवसर के अनुसार, उपयुक्त भाषा से ही हमारे कथन अथवा भाषण या वक्तव्य में जन-आकर्षण और जन-अभिरुचि उत्पन्न होती है। जिस प्रकार शिव की मूर्त्ति का विष्णु-मूर्त्ति-जैसा शृंगार करना अथवा युद्ध के समय अर्जुन का रथ हाँकते हुए भगवान् कृष्ण के हाथ में,

१. अच्छी हिन्दी, पृ० १८।

बाँसुरी दे देना आँखों को बुरा लगता है, उसी प्रकार भाषा के क्षेत्र में भी विषय और अवसर की अवहेलना करके मनमाने प्रयोग करना भद्दा और भोंडा मालूम होता है। जैसा किसी कवि ने कहा है—

वस्तु में सौन्दर्य कहाँ ! कहाँ शशि में प्रकाश !
प्रेम प्रतिबिम्ब सौन्दर्य, मित्र उल्लास प्रकाश ॥

वास्तव में कोई वस्तु, व्यक्ति अथवा स्थान या स्थल इसीलिए सुन्दर समझे जाते हैं कि अधिकांश जनता उसे या उन्हें चाहती है। जिन मोटे होठ और काले रंग को हम भद्दा और बदसूरत कहते हैं, अफ्रीका के नीग्रो उसीको सौन्दर्य की चरम सीमा मानते हैं। ठीक यही हाल भाषा का है। किसी भाषा में लोकप्रिय प्रयोग अथवा मुहावरों की जितनी ही प्रचुरता होगी, वह उतनी ही सुन्दर, चलती हुई और बा-मुहावरा कहलायगी। यही कारण है कि भाषा में सौन्दर्य लाने के लिए मुहावरों, कहावतों और अलंकारों आदि की प्रायः सहायता ली जाती है। इन सबका भाषा में एक विशेष और निजी स्थान होता है। कहावतों और अलंकारों का प्रयोग करते समय भी हमारा ध्यान उनके लोक-प्रचलित और लोकप्रिय रूप पर ही विशेष रूप से रहता है; क्योंकि कहावत और अलंकार के बिना तो हमारा काम चल सकता है, किन्तु मुहावरेदारी और बोलचाल की भाषा तथा शिष्टसम्मत अथवा लोकसम्मत प्रयोगों के बिना तो एक कदम भी हमारी गाड़ी आगे नहीं बढ़ सकती।

भाषा का उपयोग करते समय हमारा उद्देश्य प्रायः त्रिमुखी रहता है, किसी को किसी वस्तु, व्यक्ति या घटना की सूचना देना अथवा किसी काम को करने अथवा न करने के लिए उसे फुसलाना, और या उसे प्रसन्न और प्रफुल्ल करना। इन तीनों दृष्टियों से भी इसलिए भाषा का विश्लेषण करने पर हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि सूचना देने, फुसलाने अथवा प्रसन्न करने, किसी भी कार्य के लिए हमें लोक-सम्मत प्रयोगों अथवा प्रयोग-प्रणालियों का आश्रय लेना ही होगा; अन्यथा या तो सुननेवाले हमारा आशय ही न समझ सकेंगे या उलटा-सुलटा समझकर अर्थ का अनर्थ कर बैठेंगे।

भाषा का उपयोग करते समय जहाँ सूचना देने, फुसलाने या प्रसन्न करने का हमारा उद्देश्य रहता है, वहाँ कम-से-कम शब्दों और कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक बात कहने तथा उसे अधिक-से-अधिक स्पष्ट, ओजपूर्ण और प्रभावशाली बनाने का भी हमारा प्रयत्न रहता है। हम चाहते हैं कि ज्योंही हमारे मुँह से शब्द निकले, त्योंही सुननेवाले को अर्थानुभूति हो जाय। हमारी ही तरह वह भी हम जो कुछ कह रहे हैं, उसका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकें। जैसे ही हमारे मुँह से निकले आग लग गई, वैसे ही अग्नि की भीषण ज्वाला उसकी आँखों के समाने आ जाय, धाँय-धाँय जलने का शब्द उसके कानों में गूँजने लगे। किन्तु यह उसी समय संभव है, जब हमारे प्रयोग बोलने और सुननेवाले दोनों की समान अनुभूति के आधार पर किये गये हों; अर्थात् दोनों समान अर्थ में ही उन्हें ग्रहण करते हों। एक जेलर थे। उन्हें जब किसी कैदी को पिटवाना होता था, तो वह वार्डर को बुलाकर कहा करते थे—'भाई, इनकी कुछ खातिर कराओ।' अब जो लोग इस 'खातिर कराना' मुहावरे का जेलर साहबवाला अर्थ जानते थे, वे तो जेलर साहब के हाथ-पाँव जोड़कर किसी प्रकार बच जाते थे, किन्तु नये लोगों की बुरी दशा होती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि जबतक भाषा में लोक-सम्मत प्रयोगों का देश और काल के अनुसार खुला उपयोग नहीं होगा, भाषा में स्वभाविक सौन्दर्य अथवा मुहावरेदारी नहीं आ सकती। अतएव किसी भाषा को सुन्दर और स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न भी उसके मुहावरों के विकास का कारण होता है।

मनोविज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि मनुष्य की प्रमुख कल्पना या आविष्कारक शक्ति उसकी संसार के समस्त पदार्थों और प्राणियों में सादृश्य खोजनेवाली मानसिक शक्ति ही है। इसी के द्वारा खट्टे आम को जीभ पर रखते ही, चूक के सादृश्य का हमें ध्यान आ जाता है और हम तुरन्त बोल उठते हैं, यह तो खट्टा चूक है । जब हम किसी प्राकृतिक दृश्य को देखते हैं, तो उससे मिलते-जुलते हुए दूसरे दृश्यों की, जिन्हें हमने पहले कभी देखा है, याद आ जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी एक वस्तु को देखकर उसीके सदृश दूसरी वस्तुओं का स्मरण करने की यह शक्ति प्रत्येक व्यक्ति के अपने व्यक्तिगत अनुभव के प्रमाण और परिमाण के अनुसार विकसित होती है। अफ्रीका के एक हब्शी का चेहरा देखकर, एक उसे 'काला तवा' कहता है, तो दूसरा 'ब्लैक बोर्ड' और तीसरा 'अन्धेरी रात' और चौथा 'काला कोयला' इत्यादि-इत्यादि ।

मनुष्य की इस मानसिक शक्ति के 'क्यों' और 'कैसे' पर विचार करते हुए बेन ने एक जगह लिखा है, "यदि किसी कारण किसी विषय का हमें सर्वथा स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सका है, तो मन को समझाने का यह भी एक रास्ता है कि हम उसी प्रकार की किसी दूसरी चीज को, जिसे हम पहले से समझते हैं, सामने ले आयें । और, तब इस अपरिचित विषय को, पूर्वपरिचित विषय के ज्ञान द्वारा स्पष्ट करें। इस प्रकार हृदय की धड़कन, जिसे हम आँखों से नहीं देख सकते, उसकी, नगर को पानी देने के लिए, उसे ऊपर चढ़ानेवाले पम्प से उपमा देकर आसानी से समझ और समझा सकते हैं। पुरातन इतिहास की किसी घटना को किसी आधुनिक घटना के आधार पर समझाया जा सकता है । किसी व्यक्ति के चरित्र के विषय में जब हम अपने किसी पूर्वपरिचित से सुन लेते हैं, हमें विश्वास हो जाता है। कभी-कभी हम दो वस्तुओं के स्वभावगत सादृश्य के आधार पर भी एक के द्वारा दूसरी पर प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार चित्र-कला और काव्य-कला, ललित-कला के नाते एक-दूसरे पर प्रकाश डालती हैं।"[1] व्यक्ति, वस्तु या घटना-सादृश्य के आधार पर बने हुए ऐसे मुहावरों की हमारे यहाँ काफी प्रचुरता है। देखिए—

'चटनी बना देना', 'सरसों-सी फूलना', 'पान-सी फैलना', 'धौंकनी चलना', 'आग पानी में से गुजरना', 'काँय-काँय लगाये रखना', 'मीठा शहद होना', 'पत्ता तीर होना', 'चित्रवत् होना', 'ईद का चाँद होना', 'चौथ का चाँद देखना', 'बारूद में चिंगारी फेंकना', इत्यादि-इत्यादि ।

सादृश्य के आधार पर किसी नई वस्तु, व्यक्ति या स्थिति का वर्णन करने के साथ ही हम प्रायः उसके किसी विशेष गुण अथवा महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली भाग को लक्ष्य मानकर ही उसे सम्बोधित करने लगते हैं। हिन्दी में ऐसे मुहावरों की कमी नहीं है ।

१. जो किसी चिह्न या संकेत अथवा महत्त्वपूर्ण अंग को ही सर्वेसर्वा मानकर रचे गये हैं— जैसे 'लाल झंडी होना', 'दरवाजा दिखाना', 'झंडा गाड़ना', 'ताजपोशी होना', 'बनियापन करना' इत्यादि मुहावरों में प्रयुक्त चिह्नों अथवा संकेतों का 'गाड़ी रुकना', 'घर से निकालना' और 'विजय प्राप्त करना' इत्यादि मुख्य विषयों से कहीं अधिक महत्त्व है; क्योंकि सुननेवालों पर इनका प्रभाव बड़ी तेजी से पड़ता है ।

२. साधन को साधक मानकर बनाये गये हैं, जैसे 'जूते के यार होना', 'कलम के बल पर जीना', 'तलवार के बल पर राज्य करना', 'छुरियाँ चलाना', 'खून सवार होना' इत्यादि-इत्यादि ।

३. आधार को आधेय अथवा आश्रय को आश्रित बनाकर प्रयुक्त हुए हैं, जैसे 'सिर खाना, 'चार बोतल का नशा होना', 'जेब खाली होना', 'जेब काटना', 'दोने चाटना', 'कढ़ाव चढ़ना' इत्यादि-इत्यादि ।

---

१. इंगलिश कम्पोजीशन एण्ड रेटोरिक बाई बेन, पृ० ४-५ ।

४. कार्य के द्वारा कारण का बोध कराते हैं, जैसे 'बाल सफेद होना', 'अन्तिम साँस लेना, एड़ी से चोटी तक का पसीना एक करना', 'आँखें लाल होना', 'तन-बदन का होश न रहना' इत्यादि।

५. किसी वस्तु के किसी विशेष गुण अथवा प्रमुख भाग को लक्ष्य करके बनाये हुए और भी कितने ही मुहावरे हमारी भाषा में प्रचलित हैं, जिनका पूर्ण विवरण देना यहाँ सम्भव नहीं है। अतएव अब हम अति संक्षेप में मनोवैज्ञानिक भूमि अथवा वातावरण में उत्पन्न और विकसित होनेवाले कुछ अन्य अति महत्त्वपूर्ण और व्यापक मुहावरों की मीमांसा करेंगे।

मानव-स्वभाव की यह पहली सीढ़ी है कि हम अपने अनुभव में अन्तर पड़ने पर ही वस्तु-स्थिति के परिवर्त्तन से प्रभावित होते हैं। जैसे, गर्म से ठंडे में या शोरगुल से शान्ति और नीरव स्थान में पहुँचकर हम अच्छी तरह दोनों को समझ सकते हैं। आश्चर्य, क्रोध अथवा हर्षातिरेक में हमारे मुँह से जो शब्द निकलते हैं, वे वास्तव में हमारे मन के अपनी पूर्व अवस्था या स्थिति से किसी नई अवस्था या स्थिति में अचानक पहुँच जाने के कारण ही निकलते हैं। स्वयं किसी चीज का ज्ञान प्राप्त करने अथवा दूसरों को उसका ज्ञान कराने के लिए भी दो विरोधी गुणवाले पदार्थों को साथ-साथ रखते हैं। अँधेरी कोठरी से एकदम बाहर निकलने पर प्रकाश का जितना अच्छा ज्ञान होता है, उतना प्रकाश में ही प्रकाश को देखने से नहीं। इसी प्रकार आजादी का महत्त्व समझाने के लिए श्रोताओं को गुलामी की झाँकी दिखाना अत्यावश्यक है। 'विरोध', 'विभावना', 'असंगति', 'विषम' 'व्याघात', 'अतिशयोक्ति', 'परिसंख्या' इत्यादि अलंकारों की उत्पत्ति इसी आधार पर होती है। और अलंकारों का, जैसा पहले भी कई बार हम संकेत कर चुके हैं, मुहावरों से बराबर लेन-देन चलता ही रहता है। अतएव यह कहना उचित ही है कि मानव-स्वभाव का मुहावरों की उत्पत्ति और विकास में काफी हाथ रहता है। इसके कुछ नमूने देखिए—'पानी में आग लगाना', 'हाथ पर सरसों जमाना', 'खून पसीने की कमाई होना', 'आग से आग बुझाना', 'अन्धे के हाथ बटेर लगना', 'अस्सी हजार फिरना', 'आकाश में सीढ़ी लगाना', 'आकाश पाताल एक कर देना', 'आँखों में सरसों फूलना', 'ईंट का घर मिट्टी कर देना', 'उधेड़-बुन में लगना', 'ऊँट के मुँह में जीरा होना', 'काला अक्षर भैंस बराबर होना', 'जंगल में मंगल होना', 'तकदीर फूट जाना', 'धरी जाना न उठाई जाना' इत्यादि-इत्यादि।

मानव स्वभाव, व्याकरण, न्याय अथवा तर्क किसीका आधिपत्य स्वीकार नहीं करता। वह तो मन की तरह सदैव स्वच्छन्द रहता है। न व्याकरण के नियमों की चिन्ता करता है और न तर्क अथवा न्याय की बारीकियों से कोई सरोकार रखता है, उसे तो हर चीज में सौन्दर्य और अनूठापन चाहिए। इसलिए ऐसी उक्तियों में सौन्दर्य और अनूठेपन को छोड़कर प्रायः और कुछ नहीं मिलता। यही कारण है कि वैयाकरणों ने ऐसे प्रयोगों का प्रायः बराबर विरोध किया है।

"ऐसे मुहावरों के साथ ही कि जिनमें व्याकरण के नियमों का खुले आम बहिष्कार किया गया है," स्मिथ लिखता है, "हमारी मुहावरेदार भाषा में ऐसे भी बहुत-से प्रयोग मिलेंगे, जिनमें बहुत मामूली तौर पर नियम भंग हुए हैं। हमारे अधिकांश मुहावरे लोकभाषा से आये हुए हैं, जिसमें आज भी वही व्याकरण-सम्बन्धी स्वतंत्रता सुरक्षित है, जो हमारी भाषा के प्राचीन इतिहास की विलक्षणता थी। इस प्रकार एलिजाबेथ-कालीन अँगरेजी की तरह मुहावरों में, कोई भी एक शब्द-खंड (Part of speech) किसी दूसरे की जगह प्रयुक्त हो सकता है और उसका काम कर सकता है।"[1] थोड़ा और आगे बढ़कर स्मिथ साहब व्याकरण-सम्बन्धी मुहावरों के विकास के बारे में जो कुछ लिखते हैं, वह भी ध्यान देने योग्य है। देखिए—

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० १८२-८३।

"लाक्षणिक अर्थवाले एवं व्याकरण-सम्बन्धी मुहावरों की अधिक संख्या साधारण व्यवसायों तथा प्रचलित खेलों से ली गई है। मनुष्य के प्रत्येक व्यवसाय में उससे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुओं तथा कठिनाइयों के वर्णन के लिए अपने शब्द समुदाय तथा उद्देश्य होते हैं। इन व्यावसायिक भाषाओं के केवल शब्द ही नहीं, वरन् मुहावरे तक हमारी नियमित भाषा में आ जाते हैं। हमारी नियमित भाषा शब्द-निर्माण की कठिनाइयों के कारण अन्य भाषा-निर्मित मुख्य-मुख्य व्यवहारात्मक तथा प्रचलित शब्द-समुदायों को ग्रहण कर लेती है। इसके अतिरिक्त इसका कारण यह भी है कि जीवन के प्रत्येक स्थल की अनेक बातों को उचित रूप से प्रकाश में लाने में वह समर्थ नहीं होती। एक यह भी कारण है कि साधारण व्यवसाय तथा शिकार आदि में लगे हुए मनुष्यों द्वारा निर्मित मुहावरे स्पष्ट, सजीव, सुन्दर तथा बोलचाल के उपयुक्त होते हैं और उनका आवेशमय आलाप में स्वागत किया जाता है। नाविक, शिकारी, मजदूर, रसोइये कभी-कभी जोरदार आज्ञा तथा चेतावनी देने में ऐसे शब्द-समुदायों की रचना कर डालते हैं, जो स्पष्ट तथा घरेलू होते हैं और उनके सामने की वर्त्तमान सामग्रियों से गृहीत होते हैं। ये आलंकारिक वाक्य-समूह उनके अन्य साथियों का ध्यान आकृष्ट करते हैं, जो अपने व्यवसाय तथा शिकार आदि की भाषा में उनको स्थान देते हैं। शीघ्र ही इनमें से कुछ शब्द-समुदाय विशेष तथा विस्तृत अर्थों का प्रतिपादन करने लगते हैं। और, कभी सुविधा के लिए, कभी बातचीत में, हँसी-मजाक का पुट देने के लिए, भिन्न परिस्थितियों में प्रयुक्त होते हैं। नाविक जल-सम्बन्धी शब्द-समुदाय का स्थल-सम्बन्धी अपनी अवस्थाओं के वर्णन में व्यवहार करता है। मछुआ जीवन-सम्बन्धी बातें मछली मारने के शब्दों में प्रकट करता है। एक गृहस्थ स्त्री अपने भाव-प्रकाशन में पाकशाला के शब्दों में अपने भाव प्रकाशित करती है। इसी प्रकार शनैः-शनैः बहुत-से भड़कदार तथा लाभदायक शब्द साधारण बोलचाल से नियमित भाषा में चले आते हैं। और, सब उन्हें समझने लगते हैं।"[1] और भी देखिए—

अनेक परिचित व्यवसायों और पदार्थों से सम्बन्धित लाक्षणिक प्रयोगों के अतिरिक्त हमारी भाषा में मुहावरेदारी आने के दो कारण और हैं। इन दोनों का जीवन के मूल अंगों से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है, साथ ही पूर्व-वर्णित क्षेत्रों से इनमें अलंकारिता और मुहावरेदारी भी कहीं अधिक है। अभी तो वास्तव में मैंने अपने विषय का श्रीगणेश किया है, उसका एक छोर पकड़ा है। मुहावरे की आत्मा, उसका रहस्य-बिन्दु, तो मुहावरेदार प्रयोगों के उन दो विशिष्ट वर्गों में मिलेगा, जो कि एक दूसरे के अति सन्निकट हैं। इन दो महान् क्षेत्रों में एक तो स्वयं मानव-शरीर ही है। मानव-शरीर के प्रायः सभी बाह्य और अधिकांश आन्तरिक अंग विलक्षण, विचित्र और भड़कीले अलंकारों और मुहावरों से बुरी तरह लदे हुए हैं। 'खम ठोककर खड़े हो जाना', 'कान बहरा कर लेना', 'पंजे गाड़ लेना', इत्यादि (मुहावरों का मुहावरों में ही अनुवाद करने का प्रयत्न किया गया है)। इस प्रकार के मुहावरों को मैं शरीर-सम्बन्धी मुहावरे कह सकता हूँ। इनकी संख्या बहुत बड़ी है। मैंने उनमें से कई सौ इस अध्याय के परिशिष्ट में एकत्रित किये हैं, जिनमें शरीर के लगभग पचास अंगों, जैसे सिर और उसकी बनावट, कोहनी, हाथ और उँगलियाँ, पाँव, टखने और अँगूठे, हृदय, हड्डियाँ, रुधिर, शरीर के अन्दर का श्वास इत्यादि का अति स्पष्ट और मुहावरेदार प्रयोग हुआ है। दूसरी भाषाओं में भी इसी प्रकार की भाषा-सम्बन्धी घटनाएँ हमें मिलती हैं। "अंगरेजी में शरीर-सम्बन्धी असंख्य मुहावरे हिब्रू या बाइबिल की ग्रीक भाषा के अनुवाद हैं, दूसरे स्पष्ट रूप से फ्रेंच-भाषा से कि जिसमें इस प्रकार के मुहावरों की प्रचुरता है, लिये गये हैं।"[2] इसी प्रसंग में स्मिथ साहब ने एक टिप्पणी में नीचे लिखा है—

---

१. वर्ड्स एण्ड ईडियम्स, पृ० ८८,-८६।
२. डब्लू० आई०, पृ० २४६-५०।

"अधिकांश फ्रेंच-कोषों तथा किसी भी फ्रेंच-मुहावरों की पुस्तक में मुँह······इत्यादि शीर्षकों के अन्तर्गत संकलित बहुत-से मुहावरेदार प्रयोग मिल जायेंगे। जर्मन, इटालियन और स्पेनिश भाषाओं में भी मानव-शरीर के इन अंगों से सम्बन्धित बहुत-से मुहावरे मिलते हैं। प्रायः समस्त भाषाओं के मुहावरों में हाथ का बहुत अधिक हाथ रहता है। रमन के केविलेरो (Ramon Cabellero) ने अपनी पुस्तकें डिक्शनरी डी मोडिस्मस् (Diccionoris de Modismos) में लगभग ३०० ऐसे मुहावरे एकत्रित किये हैं, जिनका सम्बन्ध हाथ से है।"[1]

प्रायः प्रत्येक भाषा में कुछ क्रियाएँ ऐसी मिलती हैं, जिनका प्रयोग विलक्षण अर्थों में किया जाता है। 'आना' एक साधारण क्रिया है, जिसका अर्थ है किसी पिंड का एक स्थान से दूसरे स्थान पर उपस्थित होना। किन्तु 'तबियत आना', 'आँख आना' इत्यादि मुहावरों में इसका विलक्षण अर्थ 'आसक्त होना' तथा 'आँख दुखना' हुआ है। स्मिथ ने इन्हीं मुहावरेदार प्रयोगवाली क्रियाओं को मुहावरों की वृद्धि का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण माना है। वह लिखता है—

"शरीर की क्रियाओं और भाव भंगियों का निरूपण करनेवाले वाक्यांशों में मानव-बुद्धि को व्यक्त करने के इस प्रयत्न में रोम की भाषाओं की अपेक्षा अँगरेजी को मुहावरेदार क्रिया-प्रयोगों के कारण अधिक सुविधा होती है। 'मुहावरेदार क्रिया-प्रयोग' वे हैं, जिनमें क्रिया का पूरा अर्थ क्रिया-विशेषण अथवा उपसर्ग से, जो प्रायः उससे (क्रिया से) कुछ दूरी पर रहते हैं, व्यक्त होता है। चूँकि जब हम इन 'मुहावरेदार क्रिया-प्रयोगों' की परीक्षा करते हैं, तब हम देखते हैं कि इनमें से अधिकांश शारीरिक अनुभवों का भी द्योतन करते हैं। वे प्रायः शरीर और उसके दूसरे अंगों की क्रियाओं, हलचल और भाव-भंगियों को व्यक्त करनेवाली साधारण क्रियाओं से बनते हैं और फिर हलचल को व्यक्त करनेवाले ही उपसर्गों के साथ मिलकर अपने अभिधेयार्थ के साथ ही बहुत-से लाक्षणिक अर्थ भी ग्रहण कर लेते हैं, जिनके द्वारा एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध तथा हमारे आपसी समागम से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य, भावनाओं और विचार-विनिमय को व्यक्त करने के लिए सुनते ही आँखों के सामने घूम जानेवाले चित्र तो नहीं, हाँ, शारीरिक हलचल और हाव भाव के रूप में स्नायु सम्बन्धी प्रयत्नों का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है। पहाड़ियों पर (on the rocks) या घटा के अन्दर (under a cloud) जैसे मुहावरे प्रत्यक्ष चित्र-जैसे हैं। इनको सुनते ही एक चित्र आँखों के सामने आ जाता है। मुहावरेदार क्रियाएँ, जैसे 'खींचे जाओ, जमाये रहो' इत्यादि ऐसे प्रयोग हैं, जो स्नायु-सम्बन्धी प्रयत्न के कल्पित अनुभव को जाग्रत् कर देते हैं। गति और प्रयत्न की द्योतक इन क्रियाओं में अनेकानेक अर्थ देने की ऐसी अपूर्व शक्ति भरी रहती है कि हमारे शब्द-कोष के दूसरे तत्त्वों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न प्रकार के मुहावरों को उत्पन्न करने के लिए ऐसा मालूम होता है कि रेडियम की तरह इनमें भी शक्ति और साहस का अक्षय भांडार रहता है।"[2]

स्मिथ ने अँगरेजी-मुहावरों के आविर्भाव और विकास के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, थोड़े-बहुत अन्तर के साथ वे ही बातें हिन्दी-मुहावरों के लिए ही नहीं, वरन् संसार की प्रायः सब भाषाओं के मुहावरों के सम्बन्ध में कही जा सकती हैं। जैसा ऊपर के अवतरणों को देखने से स्पष्ट हो जाता है, मुहावरों का, खास तौर से उत्पत्ति और विकास की दृष्टि से, उनका, जितना घनिष्ठ सम्बन्ध मनोविज्ञान से है; उतना भाषा-विज्ञान से नहीं। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं के बहुत-से ऐसे मुहावरे हैं, जिनको यदि साथ-साथ रख दिया जाय, तो लगेगा कि सब-के-सब किसी एक मुहावरे के अथवा एक-दूसरे के अनुवाद हैं, भिन्न-भिन्न भाषाओं के अपने स्वतन्त्र प्रयोग नहीं। मनुष्य के शारीरिक ढाँचे के साथ ही उसकी मानसिक क्रियाएँ भी प्रायः एक-दूसरे के अनुरूप ही होती हैं।

---

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० २५०।

२. डब्ल्यू० आई०, पृ० २५०-५१।

इसलिए अब हम मुहावरों की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में श्रीयुत पंडित रामदहिन मिश्र का मत देकर केवल उन चीजों को ही लेंगे, जिनपर अबतक विचार नहीं हुआ है—

"मुहावरे की उत्पत्ति कहाँ से हुई, यह विचारना जरा काम रखता है। पर इसका मूल गुण सादृश्य है। जैसे 'दाँत खट्टे कर दिये' का शब्दार्थ दाँतों को खट्टे करना है। 'दाँत खट्टे' का लाक्षणिक अर्थ कुंठित वा स्वकार्य में असमर्थ होना है। दाँतों के खट्टे हो जाने से कड़ी या कोमल वस्तु भी उनसे कुचली नहीं जा सकती। उनकी तीक्ष्णता व शक्ति कुछ काल के लिए जाती रहती है। वे कुंठित हो जाते हैं। यहाँ तक कि दाँतों के न रहने का ही अनुभव होने लगता है। ऐसे ही उनके 'दाँत खट्टे कर दिये गये' का वाग्धारानुसारी अर्थ 'उनको परास्त कर दिया' है। अर्थात्, वे जो काम कर सकते थे उन कामों के करने में उनको कुंठित कर दिया है। और, मीन मेष लग्न के फंदे में फँसकर जैसे ज्योतिषी घंटों सिर खपाया करते हैं, वैसे ही किसी सन्देह वा चिन्ता में पड़े हुए मनुष्य को कहते हैं कि 'ये मीन-मेष' में पड़े हैं। फिर 'आज दिनभर एकादशी' है, यह मुहावरा किसी के मुख से निकलते ही मालूम हो जायगा कि दिनभर दाना-पानी से भेंट नहीं हुई है। क्योंकि एकादशी की प्रधानता निर्जल रह जाने में ही है। ऐसे ही बहुत-से उदाहरण हैं।"[1]

"किसी-किसी मुहावरे की उत्पत्ति कहानी के ऊपर बतलाई जाती है। जैसे एक आदमी ने किसी अंधे से पूछा कि खीर खाओगे? उसने कहा खीर कैसी होती है।' उस आदमी ने कहा 'सफेद'। फिर अंधे ने पूछा 'सफेद कैसा'? उसने उत्तर दिया 'जैसा बगुला'। अंधे ने पूछा, बगुला कैसा होता है? इस पर आदमी ने हाथ टेढ़ा करके दिखाया। अंधे ने टटोलकर कहा कि 'यह तो टेढ़ी खीर है', न खाई जायगी। इस प्रकार यह मुहावरा काम की कठिनाई जताने में व्यवहृत होने लगा।"[2]

"कोई-कोई मुहावरे ऐसे हैं, जो साधारण अर्थ को विशिष्ट करने के लिए गढ़े हुए प्रतीत होते हैं। जैसे 'सारा क्रोध हवा हो गया' इससे क्रोध मिट गया यह अर्थ बहुत ही उच्च हो गया।"[3]

हिन्दी के मुहावरे भाषान्तर के मुहावरों से अर्थ में बहुत मिलते-जुलते हैं। तुलना से इनके अर्थ में कुछ भी भेद नहीं दिखाई पड़ता। संस्कृत और हिन्दी में परस्पर विशेष सम्बन्ध होने के कारण उनके ही तारतम्य का यहाँ दिग्दर्शन करा दिया जाता है। जैसे, 'आजकल रूपवर्णन का बाजार मन्दा है', 'मन्दायते पुनरिदानीं रूपवर्णनव्यापारः', 'रूप उछला पड़ता था; 'परिस्यन्दमानमिवा-सौल्लावण्यम्'; 'मुट्ठी-भर राजपूतों ने', 'मुष्टिमेयैः राजपुत्रैः'; 'दासीजाये' (दासीपुत्र); 'दास्याः पुत्रैः' 'कान धर के कीजिए', 'कर्णे कृत्वा क्रियताम्'; इत्यादि।

"मुहावरे प्रायः वहाँ विशेष करके आप ही निकल पड़ते हैं, जहाँ कारणवश आपे से बाहर होकर कुछ लिखना पड़ता है। यदि किसी के ऊपर कटाक्ष करना होता है या व्यंग्य की बौछार छोड़नी होती है, तो वहाँ भी एक तरह से मुहावरों की लूट-सी हो जाती है और मुहावरे बिना प्रयास कलम से निकले पड़ते हैं। जैसे—अपव्यय ने खूब लूट मचाई, अदालत ने भी अच्छे हाथ साफ किये, फैशन ने तो बिल और होटल के इतने गोले मारे कि अंटाधार कर दिया और सिफारिश ने भी खूब छकाया। पूरब से पश्चिम और पश्चिम से पूरब तक पीछा करके भगाया। तुहफे, चंदे और घूस के ऐसे बम के गोले चलाये कि बंबोल गई बाबा की। चारों दिशा धूम निकल पड़ी। मोटा भाई बना-बनाकर मूँड़ लिया। उसका कारखाना नवाबों की दौड़ की भाँति चलता है। एक व्याकरण के ही लिए ताजबीबी के रोजे के समान प्रबन्ध हो रहा है। हमलोग धन और समय की कमी पर आठ-आठ

---

१. हिन्दी-मुहावरे, रामदहिन मिश्र, पृ० १३।

२. वही, पृष्ठ १४।

३. 'क्रोध हवा हो गया' प्रायः कर्त्ता के डर जाने के अर्थ में आता है।

आँसू रोते हैं, पर उनका खर्च इस तरह कर रहे हैं, मानों दोनों की जड़ें पाताल तक पहुँची हुई हैं।"[1]

"जहाँ बढ़ा-चढ़ाकर कुछ वर्णन करना होता है, वहाँ भी मुहावरे की कमी नहीं होती। जैसे, "इतना ही कहते हैं कि यदि चुहचुहाती हिन्दी के रस चखने का चसका हो, यदि फ़कफ़काती कविता सुनने को कान खुजलाता हो, यदि सच्चे धर्मोपदेश के अमृतपान की प्यास हो और यदि हिन्दी-भाषा से कुछ भी अनुराग हो तो इस पत्र को लिया कीजिए। नहीं, अपनी राधा को याद कीजिए।"[2]

अन्त में हम मिश्रजी के इस कथन को देते हैं—"ऐसे ही मुहावरे के असंख्य ढंग हैं। उनका पता लगाने में साधारण मनुष्य की बुद्धि कुछ काम न करेगी। पर उन मुहावरों का भी कोई मूल सूत्र अवश्य है, जो अपने को प्रकाशित करने के लिए दीर्घ अनुसंधान की प्रतीक्षा रखता है। संस्कृत में जैसे 'निपातन' आदि से सिद्ध प्रयोग 'खट्वारूढः', 'वैयाकरणस्य सूची', 'गेहेशूरः', 'उच्चावचं' आदि हैं, वैसे ही ये मुहावरे भी हैं। पर भेद इतना ही है कि ये संस्कृत के व्याकरण से शृंखलित हैं और हिन्दी के उच्छृंखल।"[3]

उत्पत्ति और विकास की दृष्टि से मुहावरों के सम्बन्ध में अब तक जितने विद्वानों ने विचार किये हैं, संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रायः उन सभी ने गुण-सादृश्य को सबसे अधिक महत्त्व दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रायः प्रत्येक भाषा में ऐसे भी बहुत-से मुहावरे मिल जायँगे; जिनमें व्याकरण, तर्क और न्याय की ही उपेक्षा नहीं कर दी गई हैं; बल्कि भाव और भाषा का स्वाभाविक सामंजस्य भी आधा तीतर, आधा बटेर हो गया है। कितने ही निरर्थक और भद्दे शब्द भी मुहावरों के हाट में आकर हीरे के मोल चलने लगते हैं, उनमें सार्थकता के साथ ही सौन्दर्य भी आ जाता है। किन्तु फिर भी यदि इन प्रयोगों को छोड़कर इनके प्रयोगकर्त्ताओं की प्रकृति और प्रवृत्ति का विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि गुण-सादृश्य की भावना से प्रेरित होकर ही वे ऐसा करते हैं। हम जो कुछ भी कहते हैं, उसमें हमारे पूर्व अनुभव की थोड़ी बहुत छाप अवश्य रहती है। 'मुहावरों के' जैसा श्रीयुत पंडित रामदहिनमिश्र ने कहा है—'असंख्य ढंग है।' यह ठीक है। किन्तु, हमारा यह विश्वास है कि यदि गुण-सादृश्य के तत्त्व को लेकर हम उनकी परीक्षा करें तो 'गौढ में भी और के अनुरूप' उनके अनेक भेद-अभेद होना तो संभव है, किन्तु यह संभव नहीं है कि उनमें इस तत्त्व का शत-प्रतिशत अभाव हो, अर्थात् व्यक्त अथवा अव्यक्त किसी रूप में उनकी उत्पत्ति और विकास में गुण-सादृश्य की सहायता न ली गई हो। शब्द-शक्ति और मुहावरों पर लिखते हुए बहुत पहिले ही जैसा हम बतला चुके हैं, प्रत्येक मुहावरा वह और कुछ भी क्यों न हो, लाक्षणिक[4] प्रयोग अवश्य होता है और प्रत्येक लाक्षणिक प्रयोग के लिए मुख्यार्थ, अर्थात् गुण-सादृश्य का निर्वाह करना अनिवार्य है। गुण-सादृश्य पर जोर देने से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि पिछले विद्वानों ने मुहावरों की उत्पत्ति और विकास के जो अलग-अलग क्षेत्र बनाये हैं, वे व्यर्थ हैं अथवा अब उनको आगे नहीं बढ़ना चाहिए। हम तो इसके आधार पर और भी नये-नये क्षेत्र ढूँढ़ निकालने की इच्छा से ही मुहावरों की उत्पत्ति के इस मूलाधार पर इतना जोर दे रहे हैं। मुहावरों का अध्ययन करते समय हिन्दी, उर्दू और अँगरेजी प्रायः तीनों ही भाषाओं में हमें बहुत-से ऐसे मुहावरे मिले हैं, जिनका सम्बन्ध व्यक्तिवाचक संज्ञाओं से है, अथवा जो बोल-चाल की अशिष्ट और अपरिमार्जित भाषा से हमारी राष्ट्रभाषा में आ गये हैं अथवा देश-विदेशों के साथ हमारा राजनीतिक, आर्थिक

---

१. हि० मु० पृ० १४, १५।
२. " " पृ० १५।
३. " " पृ० १४।
४. लाक्षणिक शब्द का प्रयोग उस व्यापक भूमिका में किया गया है, जहाँ लक्षणा और व्यंजना दोनों एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह रहती हैं।

और सामाजिक सम्बन्ध और संसर्ग होने के कारण विदेशी भाषाओं से आ गये हैं अथवा मूल भाषाओं से देश और काल के अनुसार रूपान्तरित होते हुए हमारी भाषा में घुल-मिल गये हैं। अतएव, इसी प्रसंग में इनपर भी थोड़ा बहुत प्रकाश डाल देना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

"व्यक्तिवाचक संज्ञा को जातिवाचक संज्ञा बनाते समय हमें प्रायः कुछ ऐतिहासिक कारण मिल जाते हैं, किन्तु अधिकांश अवसरों पर जहाँ विशिष्ट स्वभाववाले व्यक्तियों, पशुओं, जड़ पदार्थों अथवा हर प्रकार के आविष्कारों को जाने-बूझे नाम दिये जाते हैं वहाँ विना कारण जाने ही उन्हें प्रमाणित करने में संतोष मानना चाहिए। किन्तु इस पर भी यह संभव है कि इन सब रहस्यों के पीछे लोक-व्युत्पत्ति (folk-etymology) का भूत छिपा रहता है। लोक-व्युत्पत्ति से अभिप्राय परिचित के द्वारा अपरिचित का वर्णन करने की लहर अथवा मौलिक श्लेष (elementary puss) से है।"[1]

'वोक्ली' ने अँगरेजी-शब्द और मुहावरों के बारे में जो कुछ कहा है; हिन्दी-शब्द और मुहावरों पर भी वह उसी प्रकार लागू होता है। हिन्दी-शब्द-कोष का जिन्हें थोड़ा-बहुत भी ज्ञान है, वे जानते हैं कि हिन्दी में न केवल ऐसे शब्द, बल्कि काफी बड़ी संख्या में ऐसे मुहावरे भी मिल जायेंगे, जो व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के ही रूपान्तर, अर्थात् लाक्षणिक प्रयोग हैं। जैसा कि पुरातन साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है। आरम्भ में सभी नाम सार्थक थे, किन्तु धीरे-धीरे वे गुण को छोड़कर व्यक्ति का बोध कराने लगे, नेत्रहीन व्यक्ति का परिचय भी नैन-सुख[2] संज्ञा से दिया जाने लगा। भिन्न-भिन्न गुणों और शक्तियों का उद्बोधन करने के लिए ही भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को जगह-जगह अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया है। स्वयं भगवान् का कृष्ण नाम उनकी अपूर्व आकर्षण-शक्ति के कारण पड़ा है। कृष्ण की उत्पत्ति 'कृष्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है आकृष्ट करना या खींचना। इसी प्रकार अन्य देवताओं के नाम भी प्रायः उनके गुणानुसार ही रखे गये हैं। हिन्दुओं ने संभवतः इसीलिए 'विष्णुसहस्रनाम' लिखकर सहस्रों नामों के द्वारा भगवान् की सहस्रों शक्तियों की स्मृति कायम कर दी है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम आज 'वक्रतुण्ड-महाकाय सूर्यकोटिसमप्रभ', सिद्धिविनायक श्रीगणेश को गोबर-गणेश समझकर ही किसी कार्य का श्रीगणेश करते हैं। श्रीगणेश का वास्तविक अर्थ क्या है और उसके पीछे कितनी साधना और कितनी तपस्या छिपी है, इसकी परवाह न करते हुए किसी भी शुभ या अशुभ, अच्छे या बुरे कार्य के आरम्भ करने को ही हमने श्रीगणेश करना मान लिया है। बाजार में बिकनेवाले गणेशजी के चित्रों को विना उनके अवयवों की लाक्षणिक उपयोगिता समझे गणेश मानकर पूजनेवालों को यदि किसी काम में सिद्धि न मिले, तो उसमें गणेश-पूजन का क्या दोष है।

गणेशजी के चित्र में तीन ही प्रधान बातें हैं—१. लम्बी सूँड, २. लम्बोदर, ३. वाहन चूहा। कलाकार ने यजुर्वेद के निम्नलिखित मंत्र में वर्णित शक्तियों का हमें भौतिक प्राणियों के लिए भौतिक जगत् के पदार्थों का उदाहरण लेकर पदार्थगत शक्ति के रूप में आह्वान करने का एक रास्ता सुझाया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कलाकार ने एक कार्टून[3] के द्वारा वेद के मंत्र का अर्थ चित्रित किया है। मंत्र इस प्रकार है—

'ॐ गणानान्त्वागणपतिं हवामहे, प्रियाणान्त्वा प्रियपतिं हवामहे' इत्यादि। इस मंत्र के प्रथम पद 'गणानान्त्वागणपति.........' का अर्थ है 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्'। गण संख्याने धातु से कर्त्ता अर्थ में प्रत्यय होने से गण बना है। संख्यान माने ज्ञान। सांख्य-योग में प्रयुक्त सांख्य का

१. वर्ड्स एण्ड मीन्स, पृ० १६।
२. 'आँखों के अंधे नाम नैनसुख'।
३. कार्टून हास्य-चित्र होता है। यह ध्यान-चित्र है।

ज्ञान अर्थ करके ही उसे ज्ञान-योग भी कहा जाता है। चित्रकार ने इस भूलोक में पार्थिव तत्त्व की प्रधानता को लक्ष्य करके गन्ध-ग्रहण-सामर्थ्य से युक्त घ्राणेन्द्रिय के द्वारा गण अथवा ज्ञान की ओर संकेत किया है। फिर चूँकि, घ्राण में हाथी की सूँड़ ही सबसे बड़ी होती है, इसलिए कलाकार ने हस्तीमुंड रखा है। 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' आदि स्थलों में 'काक' जिस प्रकार दध्युपघातक मात्र का उपलक्षक है, उसी प्रकार यहाँ भी लम्बी सूँड़ ज्ञान-साधन-मात्र की उपलक्षक है। इस प्रकार गणेशजी के आह्वान के द्वारा सर्वोत्कृष्ट ज्ञानशक्ति का ही आह्वान किया जाता है।

संसार के किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए जैसा प्रायः सभी विद्वानों का मत है, बुद्धि-बल, शरीर बल और विघ्नों का अभाव इन तीन शक्तियों की आवश्यकता होती है। ये तीनों चीजें किसी भी कार्य को आरंभ करने से पूर्व यदि किसी मनुष्य को प्राप्त हो जाय, तो अवश्य ही वह अपने कार्य में सफल होगा। ईश्वर को हम सर्वशक्तिमान्, अर्थात् समस्त शक्तियों का केन्द्र मानते हैं। अतएव गणेश के नाम से अपने प्रत्येक कार्य के आरंभ में हम सर्वप्रथम उसकी इन तीनों शक्तियों का ही आह्वान करते हैं, ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य पिंड को पूजा नहीं, इसलिए तो गणेश-पूजन मानव-मात्र की कार्य-सिद्धि के लिए आवश्यक है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और पारसी सभी को समान रूप से इन शक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए सभी को गणेश-पूजन अथवा श्रीगणेश करने का समान अधिकार है।

मूर्त्ति की दूसरी विशेषता है—लम्बोदर। मंत्र के दूसरे भाग 'प्रियाणान्त्वा प्रियपतिं हवामहे' के अर्थ को लेकर ही कदाचित् कलाकार ने शारीरिक शक्ति के संचय अथवा विशिष्ट प्राप्ति का दिग्दर्शन कराने के लिए लम्बोदर की कल्पना की है। लम्बोदर भी पूर्ववत् सम्पूर्ण शारीरिक शक्ति का उपलक्षक है। 'प्रियतर्पणे कान्तौ' से प्रिय शब्द बनता है। इससे सिद्ध होता है कि शारीरिक शक्ति का उपबृंहण करनेवाला तत्त्व सन्तर्पक है और घृत 'आयुर्वै घृतम्' के अनुसार सब में प्रधान सन्तर्पक है। फिर, आधुनिक विज्ञान भी जैसे घी को शत-प्रतिशत चर्बी (फैट) मानता है, उस चर्बीले अंग को लम्बोदर के रूप में स्पष्ट करना और भी सुन्दर और सार्थक हो गया है। अतएव, लम्बोदर के रूप में शारीरिक शक्ति को नियंत्रित और सुदृढ़ रखनेवाली ईश्वरीय शक्ति का आह्वान करना बताया गया है।

ज्ञान-शक्ति और शारीरिक शक्ति के उपरान्त अब हमें किसी कार्य के आरम्भ करने से पूर्व विघ्न-राशि के संकर्त्तन की चिन्ता होती है। संकर्त्तन-शक्ति सबसे अधिक चूहे में पाई जाती है, इसलिए चूहे को भी इस चित्र में जोड़ दिया गया है। चूहे पर गणेशजी से सवारी कराकर भी चित्रकार ने हमें एक उपदेश ही दिया है और वह यह कि बुद्धि और शरीर इन दोनों के बल मिल जाने पर विघ्न-संकर्त्तक शक्ति इनके सर्वथा अधीन हो जाती है, अर्थात् बुद्धि और शरीर के बलों के सामने विघ्न रहते ही नहीं।

इस प्रकार, वैदिक काल से किसी भी कार्य को आरम्भ करने से पहिले गणेश-पूजन अथवा श्रीगणेश करने की विशिष्ट प्रथा के आधार पर धीरे-धीरे श्रीगणेश करना कार्यारम्भ करने के अर्थ में ही मुहावरे में आ गया। और, आज भी, जबकि स्वयं गणेशजी का अस्तित्व ही भ्रमात्मक और भ्रामक बताया जाने लगा है, 'श्रीगणेश करना' मुहावरा उसी ठाट-बाट के साथ क्या आस्तिक और क्या नास्तिक सब के ओठों पर नाच रहा है।

'बिस्मिल्ला करना' भी इसी प्रकार का एक दूसरा मुहावरा है। ब+इस्म+अल्लाह अरबी का एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है 'ईश्वर के नाम के साथ'। कुरानशरीफ का आदेश है कि प्रत्येक कार्य ईश्वर के नाम के साथ आरम्भ करो, अर्थात् कोई भी कार्य आरम्भ करने के पूर्व उस सर्वशक्तिमान् ईश्वर की सिद्धिदायिनी शक्ति, अर्थात् गणेश का आह्वान करो। आज 'बिस्मिल्ला'

करना मुहावरे का अर्थ ही कार्य आरम्भ करना हो गया है। 'नमोनारायण' करना, 'हरि ओम्' करना, 'जय गोपाल' करना इत्यादि मुहावरों का प्रयोग इसी प्रकार खाना आरम्भ करने के लिए होने लगा है। 'राम राम सत्य होना', 'संकल्प छोड़ना' (किसी वस्तु पर) 'फातिहा पढ़ना', 'नीचे उतार लेना', 'हाथ पीले होना', 'गंगा नहा जाना', 'सिन्दूर चढ़ना', 'चूड़ियाँ तोड़ना' इत्यादि मुहावरे भिन्न-भिन्न संस्कारों के पूर्व या पश्चात् होनेवाली क्रियाओं के आधार पर ही बनाये गये हैं।

इस प्रसंग में चूँकि अधिकांश असम्बद्ध मुहावरों की उत्पत्ति और विकास पर विचार करना है, इसलिए सबसे पहिले व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को लेकर उनके लाक्षणिक प्रयोगों पर विचार करेंगे। सूरदास एक अति प्रसिद्ध भक्त कवि थे। आप जन्म से ही अन्धे थे। आप के काव्य में उच्च कोटि का संगीत है। आप स्वयं अच्छे गायक थे या नहीं यह निश्चित न होने पर भी इतना तो निश्चित है ही कि आप संगीत-कला के मर्मज्ञ थे। यही कारण है कि आप हम जब किसी अंधे आदमी को देखते हैं, तो उससे हमारा सबसे पहिला प्रश्न यही होता है कि 'सूरदास कुछ सुनाओ'। तात्पर्य यह है कि 'सूरदास होना' मुहावरे में अब सूरदास से अभिप्राय किसी व्यक्तिविशेष से न रहकर नेत्र-विहीन व्यक्ति-मात्र से हो गया है। 'विभीषण होना', 'विभीषणों से बचना', 'जयचन्दों से बचना', 'कुम्भकरण होना', 'अष्टावक्र होना', 'हरिश्चन्द्र होना', 'शिखंडी होना', 'दुर्वासा होना', 'चंगेज खाँ होना', 'नादिरशाही करना', 'चाणक्य होना', 'महाभारत होना', 'मचना या मचाना', 'गामा बनना', 'विश्वकर्मा होना' इत्यादि मुहावरे इसी प्रकार व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के आधार पर बने हैं। आज भी खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ को जब सरहदी गांधी कहते हैं, तब हम गांधी शब्द से मोहनदास करमचन्द गांधी का अर्थ न लेकर उनके जैसे गुणों से सम्पन्न कोई भी व्यक्ति ऐसा लाक्षणिक अर्थ ही करते हैं।

'पालसन लगाना', 'हैलेटशाही करना', 'हिटलर होना', 'सन् सत्तावन मचाना', एक जगह हमने पढ़ा था, 'सन् ४६ में भी पुलिस ने सन् ४२ कर रखा है' और भी 'चौराचौरी का दृश्य होना' इत्यादि कितनी ही विशिष्ट वस्तु अथवा घटनाओं के लाक्षणिक प्रयोग हमारी बोल-चाल में आजकल चल रहे हैं। कौन जानता है, कब यही प्रयोग और अधिक व्यापक होकर मुहावरे का स्थान ले लेंगे। व्यक्तिगत नामों की तरह विशेष-विशेष स्थानों के नामों में भी प्रायः इस प्रकार के हेर-फेर हो जाते हैं।

लखनऊ अपनी नजाकत के लिए मशहूर है। इसलिए किसी भी नाजुक चीज के लिए, विशेषतया नाजुक आदमी के लिए 'लखनउआ, शब्द का मुहावरे में प्रयोग होने लगा है। किसी भी ठग को 'बनारसी ठग' तथा किसी भी भटिये को 'रामनगर का भटिया' भी इसीलिए कहा जाता है कि बनारस के ठग और रामनगर के भटिये किसी समय बहुत प्रसिद्ध थे। 'गया करना', 'काशीवास करना', 'जापानी होना', 'विलोची होना', 'पानीपत मचाना', 'ब्लैक होल करना', 'शिकारपुर में बसना' या 'शिकारपुरी होना', 'भोगाँव के होना'; 'शिकारपुर और भोगाँव के लोग कुछ बेवकूफ समझे जाते हैं, इसलिए हर बेवकूफ को शिकारपुर या भोगाँव का रहनेवाला कहकर व्यंग्य करते हैं। 'मारवाड़ी होना', 'बलियाटिक होना', 'हापड़ के पापड़ होना', 'शिमला-मसूरी होना' इत्यादि मुहावरे विशिष्ट स्थानों के नामों के लाक्षणिक प्रयोग ही हैं।

व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का किस प्रकार जातिवाचक संज्ञाओं में और इन्हीं जातिवाचक संज्ञाओं का फिर से मुहावरों में कैसे बराबर आदान-प्रदान चलता रहता है, यदि इसीको लेकर बैठ जायँ और एक के बाद दूसरा उदाहरण देते रहें तो द्रौपदी के चीर की तरह यह शृंखला कभी समाप्त ही न हो, किन्तु हमारा प्रस्तुत प्रसंग तकाजा करता है कि हम तुरन्त अपने विचारणीय विषय, अर्थात् व्यक्तिवाचक संज्ञाओं ने किस प्रकार हमारी भाषा के मुहावरों की उत्पत्ति और विकास में योग दिया है,

पर आ जायें। इस पर अलग-अलग ढंगों से विचार किया जा सकता है। वीर-पूजा[1], अर्थात् गुण और कर्म के अनुरूप व्यक्ति की पूजा चूँकि आदि-काल से ही हमारी सभ्यता का एक अति महत्त्वपूर्ण अंग रहा है, इसलिए ऊपर के दृष्टान्तों से भी जैसा सिद्ध होता है, मुहावरों की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि विशिष्ट क्षेत्रों के विशिष्ट व्यक्तियों के नामों को लेकर हमारी भाषा में सबसे अधिक मुहावरे बने हैं। विशिष्ट भौगोलिक नामों से संयुक्त पदार्थ अथवा कारीगरी के कामों के आधार पर भी इस प्रकार के बहुत-से लाक्षणिक प्रयोग हुए हैं। बरेली और राँची में पागलखाने हैं। इसलिए 'बरेली या राँची भेजना पड़ेगा' किसी आदमी से ऊबकर या खीझकर प्रायः ऐसे मुहावरों का हम प्रयोग करते हैं। किसी अखबार में हमने पढ़ा था—'यह भी क्या मथुरा का पेड़ा है कि सटक जाऊँगा।' यहाँ मथुरा के पेड़े का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। 'पूछते-पूछते दिल्ली पहुँच जाना', 'बँगाले का जादू होना', 'दिल्ली दूर होना', 'लंकाकांड होना', 'लंका में सब बावन गज के होना', 'काबा सीधा करना', 'गंगाजली उठाना', 'लक्ष्मणरेख होना', 'शेखचिल्ली होना', 'गोबरधन रखना' (कैसे) 'मिस मेयो बनकर आना', 'बरसाती नदी होना', 'लाल बदख्शाँ', 'हूर की परी होना' इत्यादि इसी प्रकार के मुहावरेदार प्रयोग हैं।

इस वर्ग के कुछ मुहावरे कुछ कम व्यापक और प्रसिद्ध स्थानों अथवा व्यक्तियों अथवा वस्तुओं के नामों के आधार पर भी बन जाते हैं। 'संभल में पाट रखना', 'पानूवाले के डहर में नहाना,' [पानूवाला जिला मुरादाबाद का एक गाँव है, वहाँ सन् १९४४ ई० में एक डहर (तालाब) के बारे में यह प्रसिद्ध हो गया था कि उसके पानी में नहाने से हर प्रकार का रोग दूर हो जाता है, इसलिए करीब एक वर्ष उसपर हमेशा यात्रियों का मेला-सा लगा रहता था। उसी के आधार पर यह मुहावरा बना है।] 'ढेला का मुँह होना,' 'ढेला का पानी होना', 'पक्का सुल्ताना होना', (सुल्ताना करीब २३ वर्ष पूर्व एक बहुत प्रसिद्ध डाकू हो गया है।) 'बीरबल की कहानी होना', गुलूशाह के यहाँ भी न रहना', (गुलूशाह बहुत ही धनाढ्य थे, किन्तु उनके बच्चे मोहताज ही रहे।) गिरगिट की तरह रंग बदलना,' 'कड़े खाँ से पाला पड़ना', 'गर्दन घड़ी का खटका होना', 'लट्टू होना', इत्यादि मुहावरे इस वर्ग के अच्छे उदाहरण हैं।

इस प्रसंग में यह भी बता देना आवश्यक है कि अपरिचित वस्तुओं, व्यक्तियों अथवा पदार्थों को परिचित वस्तु, व्यक्ति या पदार्थों का रूपक लेकर समझाने की जो मनुष्य की स्वाभाविक उत्कंठा है, वह प्रायः इस प्रकार के जाति, गुण अथवा स्वभाव-विरुद्ध सम्बन्ध भी कायम कर लेती है। हिन्दी-मुहावरों में इस प्रकार के काफी प्रयोग मिलते हैं। 'सिन्दूरिया आम होना', किसी भी अकर्मण्य व्यक्ति के लिए आता है। सिन्दूरिया आम देखने में बहुत सुन्दर, किन्तु खाने में प्रायः खट्टा होता है। खट्टेपन की समानता अकर्मण्यता से करना योग्य नहीं है। किन्तु फिर भी मुहावरे में बराबर चलता है। मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त, हमारे यहाँ ये षड्रस माने गये हैं। रूखा, नरम, गरम और ठंडा ये चार प्रकार के स्पर्श हैं। ये दोनों ही क्रम से रसना और त्वचा के विषय हैं। किन्तु मुहावरों में हम बराबर 'कड़वी बात', 'मीठा बोल', 'नरम स्वभाव', गर्म बाजार', 'रूखा आदमी', ठंडा दिल' इत्यादि प्रयोग करते हैं। 'शहद की छुरी', 'मीठी छुरी', 'मीठी मार', 'आशाओं का करवट बदलना', कड़वा जहर होना', 'जहर का स्वाद कड़वा नहीं होता' इत्यादि मुहावरे भी इसी प्रकार के प्रयोग हैं। 'धन्ना सेठ होना', किसी के बड़प्पन की ओर व्यंग्य करने के लिए ही प्रायः इसका प्रयोग होता है। धन्ना एक भक्त हुए हैं। यह जाति के जाट थे। एक बार कोई साधु इन्हें शिव की एक छोटी-सी मूर्त्ति दे गये थे। उसी के द्वारा

---

१. 'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः', भवभूति : उत्तररामचरित, ४-११।

ईश्वर में इनकी अनन्य भक्ति हुई, ईश्वर-साक्षात्कार हुआ और जो चाहते थे, करा लेते थे। यहाँ सेठ का सम्बन्ध धन से होने के कारण धन्ना से उसकी तुलना करना अयोग्य ही है।

आजकल राष्ट्रीय भावना के कारण प्रायः बड़े-बड़े राष्ट्रसेवी और राष्ट्रनिर्माताओं के नाम पर नये-नये शब्द और मुहावरे बनाने की प्रवृत्ति जोर पकड़ रही है। गांधी के गधे होना, गांधीवादी होना, जिन्ना का जिन होना, जिन्ना की ऐंठ होना, गांधी, नेहरू तथा अन्य नेताओं के नाम पर न मालूम कितनी सड़कों, अस्पतालों, पार्कों तथा अन्य वस्तुओं के नाम रखे जा चुके हैं और आगे रखे जायेंगे। हिटलरशाही करना, चर्चिल की चाल होना इत्यादि प्रयोग भी इसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं।

मुहावरों में आकर व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ तो जातिवाचक बन ही जाती हैं। कभी-कभी प्रयोग-बाहुल्य के कारण जतिवाचक संज्ञाएँ भी किसी एक ही व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होने लगती हैं। बापू शब्द गुजराती भाषा में पिता के लिए आता है। महात्मा गांधी को आश्रम के लोग बापू कहते हैं। यही बापू शब्द अब इतना चल पड़ा है कि बापू का अर्थ ही महात्मा गांधी हो गया है। बा, पंडित नेहरू, सरदार, मौलाना इत्यादि जातिवाचक शब्दों से क्रमशः कस्तूरबा, जवाहरलाल नेहरू, पटेल और अबुल कलाम आजाद का अर्थ लिया जाता है। इसी प्रकार, इस्लाम अरबी का शब्द है, जिसका अर्थ है 'खुदा के हुक्म पर गर्दन रखनी',[1] किन्तु आज एक सम्प्रदायविशेष का सूचक बनाकर पश्चिमी पंजाब और दूसरी जगहों पर अपनी गर्दन के बजाय दूसरों की गर्दन कटवा रहा हैं। सिक्ख भी पंजाबी शब्द है, जिसका अर्थ है शिष्य। सोलहवीं शताब्दी में गुरु नानक शाह ने अपने शिष्य-सम्प्रदाय को यह नाम दिया था। किन्तु अब राष्ट्रीयता की भावना के साथ ही अपने को दूसरों से अलग समझने की भावना भी इस शब्द से व्यक्त होने लगी है। लुहार, बढ़ई, चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी, पीरजी इत्यादि आज गुण के अनुसार न होकर विशेष-विशेष वर्ग के लोगों के लिए प्रयुक्त होने लगे हैं।

व्यक्तिवाचक का जातिवाचक या जातिवाचक का व्यक्तिवाचक रूपों में प्रयोग करना, यहाँ तक तो ठीक है; क्योंकि उनके व्यक्तिगत अथवा जातिगत गुणों के कारण ही प्रायः ऐसा किया जाता है। किन्तु इतिहास अथवा गल्प में आये हुए नामों के साथ भी ऐसा ही किया जाता है। उन्हें किसी प्रकार के चरित्र का आदर्श मान लिया जाता है। विभीषण को हम घर का भेद देनेवाला मान बैठे हैं। उसकी राम-भक्ति, सत्यनिष्ठता और अपार कष्टसहिष्णुता-जैसे आदर्श गुणों की ओर हमारी दृष्टि नहीं जाती। हम उसे पंचमांगी मात्र ही समझते हैं। आज भी 'विभीषणों की कमी न होना', 'घर का भेदी होना' इत्यादि मुहावरों में हम इसी रूप में उसकी याद बनाये हुए हैं। चौपड़ खेलनेवाले आज भी दाव जीतने के लिए राजा नल की दुहाई देते हैं। 'भीष्म-प्रतिज्ञा होना', 'रामबाण होना', 'अंगद का पैर होना', 'सत्य की सीता होना,' 'शकुनि होना,' 'कुबेर का खजाना होना', 'इन्द्र का अखाड़ा होना', 'मंथरा होना', 'भरत की भक्ति होना', 'भानमती का पिटारा होना', 'मजनूँ होना', द्रौपदी का चीर होना', 'चाणक्य होना', 'दधीचि की हड्डी बन जाना', 'शेखचिल्ली होना' इत्यादि मुहावरे इसी प्रकार के इतिहास, पुराण और दूसरे साहित्य तथा अनेक कपोल-कल्पित कथा और कथानकों के पात्रों के विशिष्ट चरित्रों पर दृष्टि रखकर गढ़ लिये गये हैं।

जनसाधारण की भाषा और मुहावरे

"शब्द रचना के समान शब्द-समुदाय (अथवा मुहावरों) की रचना भी मुख्यतया अशिक्षित समाज से हुई है। हमारे भड़कदार तथा सजीव शब्दों के समान हमारी भाषा के अच्छे मुहावरे पुस्तकालय

१. लोगत किश्वरी, पृ० २१।

या बैठकखाने तथा चमकीले तमाशे के स्थानों से उत्पन्न न होकर कारखानों, रसोईघरों, खेत और खलिहानों आदि में बनाये गये हैं।"[1]

एफ़० डब्ल्यू० फरार, स्मिथ से भी गहरे उतरकर जन-साधारण की बोल-चाल के प्राचीनतम मुहावरों के सम्बन्ध में लिखते हैं। "प्राचीन मुहावरे वैयाकरणों के द्वारा परिष्कृत नये मुहावरों से सदैव अधिक सम्पन्न होते हैं।"[2]

स्मिथ एवं फरार ने जो बात अँगरेजी के विषय में कही है, वही बात हिन्दी अथवा किसी अन्य प्रदेश की भाषा के सम्बन्ध में भी उतनी ही सही है। शब्द और मुहावरों की दृष्टि से जब हम अपने चालू कोष पर निगाह डालते हैं, तब हम देखते हैं कि जन-साधारण की बोल-चाल और विभाषाओं से कितने ही लुप्त अथवा अस्पष्ट शब्द और मुहावरे-ध्वनि-प्रधान शब्द, यौगिक शब्द तथा परिवर्तित अर्थवाले शब्द नित्य प्रति हवा से उड़कर आ पड़नेवाले पट-बीजों की तरह हमारी भाषा में मिलकर पल्लवित हो रहे हैं और पल्लवित होकर अपनी शीतल सुखद छाया से भाषा की शक्ति और उपादेयता की दिन-दूनी, रात-चौगुनी उन्नति कर रहे हैं। भाषा के सम्बन्ध में लिखनेवाले विद्वान् भी प्रायः लोक-प्रिय प्रयोगों को भाषा की सम्पन्नता बढ़ानेवाला ही मानते हैं। किन्तु फिर भी भाषा में क्यों और कैसे उनका प्रवेश होता है अथवा किस प्रकार वे उसे समृद्धिशाली बनाते हैं, इन बातों पर अभी तक पूर्ण रूप से विचार नहीं किया गया है। इस प्रसंग में, इसलिए उन क्रियाओं के सम्बन्ध में जो नित्य-प्रति हमारे चारों ओर होती हैं, इतना ही नहीं, बल्कि जिनमें जाने-अनजाने हम सब का ही हाथ रहता है, थोड़ा बहुत विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

यदि कोई पूछे कि किसी भाषा को पढ़े-लिखे लोगों की परिमार्जित और परिष्कृत भाषा को जन-साधारण की बोल-चाल और प्रायः अशिष्ट भाषा के प्रयोग और मुहावरों की ओर ताकने की क्या जरूरत है? क्यों नहीं अपने ही साधनों के द्वारा वह अपनी इस आवश्यकता को पूरी कर लेती? तो इसका उत्तर खोजने में देर नहीं लगेगी; क्योंकि जब कोई बोली या विभाषा राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त करती है, तब अनिवार्य रूप से उसको भाषा-सम्बन्धी स्वतन्त्रता बहुत-कुछ कम हो जाती है। व्याकरण और तर्क के नियम उसे बाँध देते हैं। यों तो सभी विभाषाओं के और बोलियों के अपने नियम और प्रयोग होते हैं। किन्तु लिखित भाषा में यह नियम और प्रयोग बहुत अधिक स्थायी और रूढ हो जाते हैं। व्याकरण और कोषों में उनकी रजिस्ट्री हो जाती है और वे स्कूलों में पढ़ाये जाते हैं। शब्द और मुहावरों की परीक्षा उनकी अभिव्यंजन-शक्ति के आधार पर न होकर उनके शुद्ध प्रयोग के आधार पर होती है, फल इसका यह होता है कि देश, काल और स्थिति के अनुसार पड़े हुए जनसाधारण के शब्द और मुहावरों को बोलचाल में ही सीमित रह जाना पड़ता है। लिखित भाषा में जब कभी किन्हीं ऐसे शब्दों अथवा मुहावरों की आवश्यकता पड़ती है, तब वह सर्वसाधारण में प्रचलित और सबकी समझ में आ सकनेवाले इन व्यावहारिक प्रयोगों को छोड़कर बड़े-बड़े पंडितों द्वारा प्रयुक्त शब्दों से अथवा संस्कृत या अरबी और फारसी के आधार पर लम्बे-चौड़े यौगिक शब्द बनाकर अपना काम निकालती है। इन कृत्रिम और प्राणहीन शब्द और मुहावरों के कारण जब भाषा में कृत्रिमता बढ़ने लगती है, तब मानव-मस्तिष्क में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न होती है और वह व्याकरण और तर्क के साथ असहयोग करके खुले आम बोल-चाल के शब्द और मुहावरों का भाषा में प्रयोग करने लगता है।

सर्वसाधारण की बोल-चाल की भाषा का महत्त्व केवल इसीलिए नहीं है कि उसमें प्राचीन-से-प्राचीन शब्द सुरक्षित रहते हैं। स्वतन्त्रतापूर्वक स्वाभाविक विकास होने के कारण उसका कोई शब्द अथवा

---

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० २१२।

२. ओरिजन ऑफ् लेंग्वेज, पृ० २०।

मुहावरा किस परिस्थिति में और कैसे बना है, उसे देखते ही इसका भी पता चल जाता है। बोल-चाल की भाषा में अगणित ऐसे शब्द और मुहावरे भी खूब धड़ल्ले से चलते रहते हैं, जिनका कोषों में कहीं नाम-निशान भी नहीं होता। इनमें से कुछ बिलकुल स्थानिक होते हैं और कुछ का प्रायः सब जिलों में प्रयोग होता है। शिक्षित वर्ग का अवश्य इनसे उतना परिचय नहीं होता। इनमें से कुछ तो जैसा ऊपर हमने संकेत किया है, प्राचीन परम्परा से चले आते हुए पुराने शब्द होते हैं और कुछ नये गढ़े हुए। "लोक-प्रिय-भाषाएँ" जैसा स्मिथ कहता है, "बोलियों के गहन वन जैसी होती हैं। जिसमें पुराने रूप नष्ट होते रहते हैं और नये विकसित होते रहते हैं। इस लौट-बदल में असंख्य नये शब्द उत्पन्न हो जाते हैं, जो समय की प्रगति के साथ उत्पन्न होते हैं, चलते हैं और लुप्त हो जाते हैं। समय की पुकार के कारण उनका जन्म होता है। उनमें से बहुत-से तो अपना काम पूरा करके तुरन्त ही लुप्त हो जाते हैं, किन्तु कुछ अपनी अपूर्व अभि-व्यंजकता और उपयोगिता के कारण रुक जाते हैं। एक जिले से दूसरे जिले में फैल जाते हैं और देहाती भाषा, जो लोक-प्रिय विचारों, मुख्य-मुख्य उद्देश्यों और व्यापारों का आईना-जैसी होती है, उसके शब्द-कोष के विकास में सहायक होते हैं। इनमें हमें अपनी आशा के अनुसार कृषि-सम्बन्धी शब्दों का एक अच्छा निधि मिल जाता है—खेती की भिन्न-भिन्न प्रणालियों के पूरे ब्योरे का ज्ञान करानेवाले शब्द तथा परिवर्त्तनशील मौसम, आँधी, मेह और बर्फ के जमने और पिघलने इत्यादि, जो मजदूर को काम करने से रोकते हैं अथवा उसमें मदद करते हैं, सबके लिए उपयुक्त शब्द प्राप्त हो जाते हैं। इनमें सीधे-सादे, परिश्रमशील व्यक्तियों को बुरी मालूम होनेवाली कमजोरियों के लिए भी अश्लील और गाली-गलौज के पर्याप्त शब्द मिल जाते हैं। सुस्ती, काहिली, चटक-मटक से रहने तथा गप्प-शप्प इत्यादि के साथ ही उनके हँसी-मजाक के संग्रह और कमल तथा अन्य पदार्थों के रोष में रखे हुए आधे-आधे नाम भी काफी संख्या में मिलते हैं। हमारी ग्रामीण शब्दावली की यह भी एक विशेषता है। इन लोक-प्रिय शब्दों में बहुत-से इतने स्पष्ट या अश्लील होते हैं कि शिष्ट समाज में उनका प्रयोग नहीं हो सकता, किन्तु यह किसी प्रकार भी उनकी सामान्य-प्रकृति नहीं है। हमारी विभाषाओं में दर्शित पदार्थों को यथावत् व्यक्त करने में समर्थ शब्दों का प्रायः बाहुल्य रहता है। उनमें प्रमाणित अथवा राष्ट्रभाषा की अपेक्षा कहीं अधिक सजीव और चटकीले तथा ऐसे पदार्थों, घटनाओं और भावों को व्यक्त करनेवाले शब्द भी कि जिनके लिए हमारे पास कोई नाम नहीं है, प्रायः चलते रहते हैं।"[1]

प्रान्तीय भाषाओं और सर्वसाधारण की स्थानिक बोलियों के सम्बन्ध में स्मिथ ने जो कुछ लिखा है, श्रीयुत रामचन्द्र वर्मा ने भी अपनी पुस्तक 'अच्छी हिन्दी' में भाषा की दृष्टि से हमारी आवश्यकताओं की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हुए सर्वसाधारण की बोलियों के शब्द-कोष की वैसी ही प्रशंसा की है। वह लिखते हैं, "हमें उचित है कि हम अपने यहाँ की प्रान्तीय भाषाओं और स्थानिक हिन्दी बोलियों की तरफ भी निगाह दौड़ावें। हमारे यहाँ की ग्राम्य और स्थानीय बोलियों में बहुत-से सुन्दर शब्द, पद, क्रियाएँ, भाव-व्यंजन की प्रणालियाँ और मुहावरे आदि भरे पड़े हैं, जिन्हें लोग धीरे-धीरे भूलते जा रहे हैं। हमें उर्दू के एक-दो बड़े कोषों में बहुत-से ऐसे शब्द क्रियाएँ और मुहावरे मिले हैं, जो हैं तो स्थानिक ही, पर बहुत ही सुन्दर और भावव्यंजक हैं। यद्यपि ये सभी ठेठ हिन्दी के और बिलकुल तद्भव शब्द हैं, पर उनमें एक विलक्षणता है। किसी समय उर्दू के अनेक कवि उनका खूब व्यवहार करते थे और उन्हें अपने शेरों में स्थान देते थे। फिर जब वे लोग देशी भाषा के शब्दों को मतरुक (परित्यक्त) कहकर छोड़ने लगे और उनके स्थान पर ढूँढ़-ढूँढ़ कर अरबी-फारसी के शब्द रखने लगे, तब हमारी भाषा के वे शब्द जहाँ-के-तहाँ रह गये। हम हिन्दीवालों ने न तो कभी साहित्य में उन शब्दों का

१. डब्ल्यू० आई० पृ० १४४-४५.

प्रयोग ही किया और न कभी उनकी सुध ही ली। परिणाम यह हो रहा है कि हमारे वे शब्द मरते जा रहे हैं। उनमें बहुतेरे ऐसे अच्छे शब्द और मुहावरे हैं, जो इस समय हमारे लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इसी प्रकार बुन्देलखंडी, बघेली और बिहारी आदि बोलियों में भी बहुत-से ऐसे शब्द हैं, जो लिये जा सकते हैं। पर ऐसे शब्द लेते समय हमें अपनी भाषा की प्रकृति और उन शब्दों के स्वरूप का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। हमें ऐसे ही शब्द लेने चाहिए, जिनपर स्थानिकता या गँवारपन की छाप न हो। और यदि हो भी, तो वे शब्द सहज में शिष्ट हिन्दी के साँचे में ढाले जा सकें।[1]

बोली और विभाषाओं के शब्द और मुहावरों की स्पष्टता, सौन्दर्य और भाव-व्यंजकता पर प्रकाश डालने के उपरान्त अब क्यों और कैसे भाषा में उनका प्रवेश होता है, इसकी मीमांसा करना आवश्यक है। जन-साधारण से बहुत दूर बड़े-बड़े नगरों के कृत्रिम वातावरण में रहनेवाले कुछ लोग बोली और विभाषाओं के ऐसे प्रयोगों को किसी कहानी या उपन्यास अथवा किसी अन्य पुस्तक में देखकर प्रायः प्रेमचन्द-जैसे सिद्धहस्त लेखकों पर भी नाक-भौं सिकोड़ा करते हैं। उनकी यही शिकायत रहती है कि भाषा में कोष-प्रमाणित शब्दों के होते हुए भी क्यों ऐसे गँवारू शब्द चुने जाते हैं। किन्तु फिर भी, जैसा स्मिथ ने कहा है, "लोक-प्रिय अथवा जन-साधारण की बोलियों को प्रतिध्वनित और पुनर्जीवित करने की अधिकांश लेखकों की सहज-बुद्धि उतनी ही तत्पर और सजीव रहती है।"[2] वास्तव में होना भी ऐसा ही चाहिए। हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में तो हम और भी जोर के साथ कह सकते हैं कि जबतक हमारे लेखकों की भाषा हमारे देश के सात लाख देहातों में रहनेवाले गरीब किसान और मजदूरों की बोल-चाल के शब्द और मुहावरों को नहीं अपनायगी, वह कभी राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती। निराला-जैसे कतिपय निराले कवियों को छोड़कर जिनकी भाषा प्रायः सर्वसाधारण की भाषा से कुछ निराली होती है, अन्य प्रायः सभी कवि और लेखक अधिकांश सर्वसाधारण के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों को लेकर सर्वसाधारण के लिए ही अपनी कलम उठाते हैं। फिर, भला सर्व-साधारण के लिए लिखी या कही जानेवाली बात यदि उनके मुहावरों और लोक-प्रिय प्रयोगों को छोड़कर शिष्टता और अशिष्टता के आधार पर चुनी हुई सुसंस्कृत-पदावली में कही जाय, तो उनके लिए उसका क्या प्रयोजन हो सकता है। वे उससे क्या लाभ उठा सकते हैं। स्मिथ ने इसलिए ठीक ही कहा है—"एक किसान और लेखक अन्ततोगत्वा एक ही भाषा का उपयोग करते हैं, दोनों का सम्बन्ध कोष और व्याकरण के नियमों की अपेक्षा जीवन और जीवन-व्यापी मुहावरों से ही अधिक है। दोनों ही जब बोलते हैं, तब अपने भावों को व्यक्त करने की इच्छा से बोलते हैं, और अपने विचारों को सुननेवालों के सामने, अस्थि-मज्जा से युक्त मूर्त्त शरीर के समान स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं.........।"[3] इसके अतिरिक्त कोई लेखक अपनी नई भाषा बना भी तो नहीं सकता। उसे इसलिए सर्वसाधारण में प्रचलित शब्दों और मुहावरों का ही सहारा लेना पड़ता है। फिर, जैसा अभी पीछे लिख चुके हैं, प्रान्तीय भाषाओं और स्थानीय बोलियों में प्रायः अधिक सजीव, भाव-व्यंजक और स्पष्ट शब्द और मुहावरे उन्हें मिल सकते हैं। सर्वसाधारण की बोल-चाल से किसी भाषा में अनेक शब्द और मुहावरे उन्हें मिल सकते हैं, सर्वसाधारण की बोल-चाल से किसी भाषा में अनेक शब्द और मुहावरों का आ जाना स्वाभाविक ही है। हाँ, इस परिवर्त्तन में शिष्टता, उपयुक्तता और उपयोगिता का ध्यान अवश्य रहता है। अशिष्ट समाज के अश्लील मुहावरों का अश्लीलत्व दूर करके प्रायः शिष्ट समाज में लोग

१. अ० हि०, पृ० २६१।
२. डब्ल्यू० आई०, पृ० १५५।
३. डब्ल्यू० आई०, पृ० १५५-५६।

उनका प्रयोग करने लगते हैं, जो धीरे-धीरे उनके समाज से भाषा में पहुँचकर सर्वमानित और सर्वप्रिय बन जाते हैं।

अशिष्ट अथवा ग्रामीण समाज से नागरिक समाज में और फिर वहाँ से राष्ट्रभाषा में पहुँचने के उनके रास्ते भी अति विचित्र और विस्तृत होते हैं। राष्ट्रभाषा में प्रवेश करने का उनका सबसे सुगम और सरल मार्ग किसी प्रदेश में फैले हुए विशिष्ट धन्धे हैं। समाज में बहुत-से समुदाय होते हैं, जिनमें प्रत्येक के लिए एक विशिष्ट व्यवसाय, धन्धा या कार्य होता है। हमारे समाज में ही नाई, धोबी, बढ़ई, लुहार, चमार, दर्जी, सुनार इत्यादि अनेक समुदाय हैं और प्रायः सबके अपने-अपने अलग धन्धे हैं। इन्हीं समुदायों के कार्य-क्षेत्र में जब पूरी विशिष्टता आ जाती है, तब नित्य-प्रति के व्यवहार में अपने व्यवसाय से सम्बन्धित तथा व्यक्तिगत भावों की सम्यक् व्यंजना के लिए, भिन्न भिन्न वस्तुओं, व्यापारों और प्राणियों के रूप, रंग कार्य इत्यादि के आधार पर विलक्षण-विलक्षण मुहावरों की सृष्टि बड़ी तेजी से होने लगती है। आरम्भ में इन मुहावरों का प्रयोग समुदायविशेष के ही कार्य क्षेत्र से सीमित रहता है, किन्तु कालान्तर में ये व्यापक होकर सार्वत्रिक प्रयोग में आने लगते हैं। आधुनिक यूरोपीय भाषाओं, विशेषतः अँगरेजी और फ्रेंच की तरह हमारी भाषा में भी ऐसे पर्याप्त मुहावरे मिलते हैं, जो नाविक, कृषक, शिकारी और सैनिक इत्यादि भिन्न-भिन्न समुदायों के शब्द-योजना-कौशल का परिणाम है। संक्षेप में, समाज की संकुलता और उसके विविध कार्य-क्षेत्रों के विकास और विस्तार से भिन्न-भिन्न समुदायों के लोगों का पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ता है, जिसके कारण उनके शब्द और मुहावरों का भी सर्वत्र खुले आम प्रयोग होने लगता है। "कला-कौशल से सम्बन्धित पदावली में" ड्राईडन लिखता है—"हरेक भाषा में दूसरे शब्दों की अपेक्षा उसके मुहावरे ही अधिक रहते हैं।"[१] अतएव कला-कौशल ही बोल-चाल के मुहावरों को भाषा में लाने का सबसे आसानी के साथ खुलनेवाला द्वार है।

बोली या विभाषाओं से भाषा में आनेवाले मुहावरों के और भी अनेक रास्ते हैं, जो जितने ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, उतने ही मुश्किल से हाथ आनेवाले भी हैं। चूँकि, शिक्षित-वर्ग की परिचिता हमारी स्वीकृत भाषा खड़ी-बोली भी सर्वथा एक रूप नहीं है। मेरठ, देहली, बिजनौर और मुरादाबाद तथा उनके आस-पास बोली जानेवाली भाषा को यद्यपि हमारे भाषाविज्ञान के पंडित प्रमाणिक खड़ी-बोली मानते हैं, किन्तु फिर भी उन क्षेत्रों से परिचित व्यक्ति जानते हैं कि इन सब प्रदेशों की बोलियाँ भी अपने-अपने शब्द-कोष और व्याकरण की दृष्टि से एक दूसरी से कुछ-न-कुछ भिन्न अवश्य हैं, जिनका अपने माहात्म्य और महत्त्व के अनुरूप अलग-अलग अवसरों पर प्रयोग होता है। इन सब में प्रसिद्ध साधारण बोल-चाल की वह भाषा है, जिसमें काफी मुहावरे, हास-परिहास के पूरक शब्द और देशान्तर के अनुसार बदलनेवाले ग्रामीण प्रयोग रहते हैं। इसके उपरान्त शिष्ट समाज की बातचीत में प्रयुक्त होनेवाली उस भाषा का नम्बर आता है, जो पहली से कहीं अधिक शुद्ध और परिमार्जित होती है तथा जिसमें अशिष्ट और अश्लील प्रयोगों का सर्वथा अभाव नहीं तो, बहुत ही कम प्रयोग होता है। इसे हम विभाषा या प्रान्तीय भाषा भी कह सकते हैं; क्योंकि इसका कार्य-क्षेत्र भी पहिली से अधिक विस्तृत होता है। अब इसके पश्चात् लिखित विभाषा, भाषा या राष्ट्रभाषा कोई भी नाम दे, उसकी बारी आती है। यह शब्द-कोष की दृष्टि से अधिक सम्पन्न तथा वाक्य-रचना की दृष्टि से प्रामाणिक, बोल-चाल की भाषा की अपेक्षा अधिक पुराने फैशन की होती है। संक्षेप में बोली, विभाषा और भाषा या राष्ट्रभाषा किसी देश की भाषा की ये तीन ही अवस्थाएँ होती है। किन्तु लिखित भाषा के भी गद्य और पद्य के अनुसार दो रूप हो जाते हैं। इस प्रकार हमारी भाषा के चार वर्ग हो जाते हैं, जिनमें प्रत्येक के अपने कुछ विशिष्ट

---

१. ए न्यू इंगलिश-डिक्शनरी, पृष्ठ २०-२१।

मुहावरे और दूसरे प्रयोग होते हैं। "अब यदि भाषा-सम्बन्धी इस सीढ़ी की, जो कि भूतल से काव्य के ऊँचे लोक तक जाती है।" जैसा स्मिथ कहता है—"परीक्षा करें तो हमें ज्ञात हो जायगा कि इसका सबसे नीचे का डंडा या पैरी लोकप्रिय अथवा ग्रामीण अथवा अशिष्ट और अश्लील कही जानेवाली बोली की भूमिका में स्थित है।"[1] कहने का तात्पर्य यही है कि बोली और विभाषा से ही मँजते-मँजते नितान्त शुद्ध, शिष्ट और अति लोकप्रिय होकर शब्द और मुहावरे राष्ट्रभाषा में प्रविष्ट होते हैं। जनसाधारण की बोलियों में प्रायः लोकप्रिय शब्द और मुहावरों की प्रचुरता रहती है, जो बड़ी आसानी से सामान्य व्यवहार की भाषा के कोष में आ मिलते हैं। खिलाड़ी अथवा शिकारी लोग गेंद उठानेवाले लड़कों, खेल का सामान देनेवाले नौकरों अथवा शिकार खिलानेवाले अथवा खेदा करनेवाले लोगों से, बच्चे अपने नौकरों से और मालिक लोग कारीगर और मजदूरों से इन मुहावरों को सीख लेते हैं। इस प्रकार वे पशुशाला, बाग-बगीचों और खेल के मैदानों से पढ़े-लिखे और शिष्ट कहे जानेवाले लोगों के बैठकखानों में पहुँच जाते हैं। शिक्षित और अशिक्षित वर्ग के लोग जहाँ-कहाँ भी मिलते और साधारणतया आपस में बात-चीत करते हैं, लोकप्रिय बोलियों के कुछ-न-कुछ नये मुहावरे उनके मुहावरा-कोष में अवश्य बढ़ जाते हैं। शाक-भाजी और दूध बेचने के लिए जितने लोग आते हैं, बड़े-से-बड़े पढ़े-लिखों का उनसे उन्हीं के मुहावरों में बातचीत करने का प्रयत्न रहता है, इसलिए भी जितना-जितना उनके साथ हमारा सम्पर्क बढ़ता जाता है, उनके मुहावरों का हमें मुहावरा होता जाता है। हमारा, यह मुहावरा धीरे-धीरे इतना बढ़ जाता है कि शुरू-शुरू में अति कर्णकटु और भद्दे लगनेवाले यही अशिष्ट भाषा के मुहावरे हमारे अपने काम की चीज हो जाते हैं। शाक-भाजी और दूधवालों को छोड़कर दूसरे लोगों के सामने भी अब हम उनका खुला प्रयोग करने लगते हैं।

अशिष्ट प्रयोग चूँकि अधिकांश किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा घटना की परिभाषा न करके उसके सम्बन्ध में कोई विनोदपूर्ण बात कहने के लिए ही गढ़े जाते हैं, इसलिए लिखित भाषा में आने पर भी उनकी यह विशेषता प्रायः बनी रहती है। अंडे देना, एक मुहावरा है। इसका प्रयोग प्रायः विनोद में ही होता है। जैसे, 'यहाँ बैठे क्या अंडे दे रहे हो, राधाकृष्णन् का भाषण सुनने क्यों नहीं चलते'। अंडा देने के समय चूँकि मुर्गी एक जगह बैठ जाती है, इसलिए किसी सुस्त आदमी की सुस्ती की परिभाषा कहने के बजाय उसके सम्बन्ध में यह विनोद-भरी बात कह दी गई है। इसी प्रकार हगते-पादते फिरना, मिर्चें लगना, दूध मलाई चाभना, बधिया बैठना, पाँव से कान खुजाना, राँड का चर्खा होना, नानी गधों की पँवाड़ा कहना या गाना, इत्यादि मुहावरे सबसे नीचे की श्रेणी से ही ऊपर आये हैं। विभाषा या प्रान्तीय भाषाओं में चूँकि बोलियों के विरुद्ध किसी वस्तु, व्यक्ति या घटना की विशेषताओं का ध्यान करके मुहावरों का प्रयोग होता है, इसलिए राष्ट्रभाषा में आते-आते उनका अश्लीलत्व और भद्दापन बहुत कम हो जाता है, एक बार जब भाषा की इस सीढ़ी के प्रथम डंडे पर इनके (मुहावरों के) पैर अच्छी तरह जम जाते हैं, तब फिर एक से दूसरे और दूसरे से तीसरे और चौथे पर यह अपने-आप बढ़ते ही जाते हैं। पहिले बात-चीत में उनका प्रयोग होता है और फिर व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार आदि में और बाद में साधारण गद्य में होते हुए थोड़े बहुत तो अवश्य ही उच्च कोटि के गद्य और पद्य में व्यवहृत होने लगते हैं। बोली अथवा विभाषाओं या प्रान्तीय भाषाओं के मुहावरों की, भाषा राष्ट्रभाषा तक पहुँचने की साधारणतया यही सीढ़ी होती है।

"इन सब ही प्रसंगों में ऊपर चढ़ने की, अर्थात् अशिष्ट प्रयोगों के शिष्ट समाज में पहुँचने की क्रिया का अध्ययन उतना ही रोचक है, जितना कि समाज में ऊपर उठने के लिए बराबर लड़ते

---

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० १४६।

रहनेवाले उन व्यक्तियों के साहसपूर्ण कार्यों का, जिनके भाग्य को लेकर अनेक उपन्यासकार अपने उपन्यासों की रचना करते हैं, अश्लील अथवा अशिष्ट भूमिका से उठकर ऊपर जानेवाले इन शब्दों के साथ ही अप्रयुक्त और अयोग्य अथवा अनावश्यक शब्दों के क्रमशः नीचे की ओर आने का कार्य भी बराबर चलता रहता है।"[1] इस प्रसंग में हमारा मुख्य उद्देश्य स्थानीय बोलियों के मुहावरों की राष्ट्रभाषा की ओर प्रगति का विवेचन करना ही है। राष्ट्रभाषा से च्युत होकर नीचे गिरनेवाले शब्दों की मीमांसा करना नहीं। किन्तु, फिर भी चूँकि राष्ट्रभाषा के ऐसे अधिकांश लुप्तप्राय शब्दों के मुहावरों की, परिवार में कुछ-न-कुछ (अर्थ और भाव की दृष्टि से) यादगार बनी रहती है, यह बतला देना आवश्यक है कि मुहावरों में गुँथे हुए शब्दों को छोड़कर एक ही भाव के द्योतक जब बहुत-से शब्द हो जाते हैं, तब अधिक स्पष्ट, लोकप्रिय और भावव्यंजक होने के कारण प्रायः नये शब्द पुराने शब्दों को पीछे ढकेल देते हैं।

बोली और विभाषाओं के मुहावरों की जिस प्रगति का अबतक हमने उल्लेख किया है, वह निस्सन्देह बहुत धीमी है। किन्तु, वास्तव में यह प्रगति हमेशा इतनी ही धीमी और दुस्साध्य नहीं होती। विभाषाओं के ऐसे बहुत-से मुहावरे हैं, जो प्रमुख विद्वानों के अनुग्रह के कारण बिना किसी पशोपेश के तुरन्त उनकी योग्यता के आधार पर भाषा में सम्मिलित कर लिये गये हैं। इस प्रकार के प्रमुख व्यक्ति प्रायः उन विद्वानों में से होते हैं, जो अपनी प्रान्तीय भाषा में लिखते-लिखते साहित्यिक भाषा में बहुत-से ऐसे मुहावरे भी जोड़ देते हैं, जो आमतौर से जिस जिले में उनका जन्म और पालन-पोषण हुआ है, वहाँ की बोलियों में चलते हैं। हेल (Hale) इसी प्रसंग में अपनी पुस्तक 'ओरिजिन ऑफ् मैन काइण्ड' के पृष्ठ १६५ पर इस प्रकार लिखता है—"साहित्यिक और विद्वान् लोग बहुत बार नये शब्द गढ़ भी लेते हैं और कभी-कभी साधारण बात-चीत अथवा अपनी प्रान्तीय भाषा में लिखते समय, उसीके अनुरूप नये शब्द गढ़कर अथवा अपनी भाषा से अनुवाद करके मुहावरे भी बना लेते हैं।" इस प्रकार विद्वान् लोग बोलियों और विभाषाओं से राष्ट्रभाषा में आनेवाले मुहावरों की इस अज्ञात-जैसी अथवा बहुत ही कम प्रसिद्ध प्रणाली में बराबर सहायता देते रहे हैं और आज भी दे रहे हैं।

अशिष्ट अथवा ग्रामीण समाज की बोलियों और उनके मुहावरों की किसी भाषा के लिए कितनी उपयोगिता है, इस पर प्रकाश डालते हुए स्मिथ लिखता है—"आयरलैण्ड के किसानों की भाषा का अध्ययन करनेवाले व्यक्तियों ने हाल में ही जो आश्चर्यजनक और अति उपयोगी खोजें की हैं, उन्हें हम सब जानते हैं। सिंजे (Synge) ने हमें बताया है कि किस प्रकार उसने चरवाहों, मछेरों, भिखमंगों और बिरहा गानेवाले साधारण कोटि के गवैयों से शब्द सीखे हैं। वह आगे कहता है, "जब मैं घाटी की छाया (Shadow of the glen) लिख रहा था। मुझे किसी भी विद्या अथवा पांडित्य की अपेक्षा, मैं जिस पुराने 'विक्लो हाउस' में ठहरा हुआ था, उसकी छत में जो दरार थी, जिनके द्वारा रसोई-घर में काम करनेवाली नौकरानियाँ जो कुछ कह रही थीं, वह मुझे सुनाई पड़ता था, उनसे अधिक सहायता मिली।" हमारे इंगलैंड के घरों में आश्चर्य होता है, क्या इस प्रकार की बात-चीत हो सकती है। क्या अँगरेज लेखकों को भी, जो अपने पढ़ने के सजे-बजे कमरे में बैठकर, सिंजे के तिरस्कारपूर्ण शब्दों में 'इब्सन' और 'जोला' जैसे विषयों को लेकर निर्जीव और निस्तेज शब्दों में जीवन की वास्तविकता का चित्रण करते हैं, अपने रसोई-घरों की छतों की दरारों के पास पेंसिल और कॉपी लेकर बैठने में उतना ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है।"[2] सिंजे के जो अनुभव आयरलैण्ड की भाषा के सम्बन्ध में हुए हैं, वही अनुभव हमारे यहाँ भी यदि कोई व्यक्ति उस ओर ध्यान दे, तो भारतवर्ष के देहातों की भाषा के सम्बन्ध में हो सकते हैं। कोई भी व्यक्ति जो

---

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० १५२।

२. डब्ल्यू० आई०, पृ० १५७।

भाषा का प्रेमी है और साथ ही जिसके पास समय भी है, यदि देहाती भाषाओं के कम-से-कम व्यावहारिक शब्द और मुहावरे भी एकत्रित कर ले, तो हम कह सकते हैं कि वह और नहीं तो भाषा की दृष्टि से तो अवश्य ही अपने समय के सदुपयोग के साथ ही समाज का भी भारी हित करेगा। हमें खुशी है कि हमारे उत्साही साहित्य-सेवियों का ध्यान इस ओर जा रहा है। ग्राम-गीतों के साथ ही गाँव के कुछ व्यावहारिक शब्द और मुहावरों का भी संग्रह हो चुका है।

बोली और विभाषाओं के मुहावरों का इसलिए भी राष्ट्रभाषा में लिये जाते रहना न्याय्य और आवश्यक है कि वह कभी सर्वथा अपनी ही पूँजी (शब्द और मुहावरों की) के सहारे फूल-फल नहीं सकती। इसके विकास का इतिहास ही बताता है कि बहुत-सी विभाषाओं या प्रान्तीय भाषाओं में से किसी राजनीतिक अथवा धार्मिक आंदोलन अथवा उथल-पुथल के कारण कोई एक विभाषा अन्य सब विभाषाओं को दबाकर स्वयं राष्ट्रभाषा बन जाती है। मेरठ, दिल्ली, आगरा, मुरादाबाद और बिजनौर आदि के आस-पास की भाषा जो खड़ी-बोली के नाम से आज हमारी राष्ट्रभाषा बनी हुई है, स्वयं इन प्रदेशों की एक विभाषा ही थी। इस बात को बतलाने के लिए कि कोई एक विभाषा राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त कर लेने के उपरान्त अपनी प्रतिद्वन्द्वी अन्य विभाषाओं को कुचल नहीं देती है, खड़ी-बोली के राष्ट्रभाषा होने तक के इतिहास की एक संक्षिप्त झाँकी दे देना अनुपयुक्त न होगा।

किसी समय भारतवर्ष में अनेक ऐसी बोलियाँ और विभाषाएँ प्रचलित थीं, जिनका साहित्यिक रूप आज भी ऋग्वेद की भाषा में सुरक्षित है। इन्हीं उल्लिखित विभाषाओं में से किसी एक को मध्य-प्रदेश के विद्वानों ने संस्कृत रूप देकर राष्ट्रभाषा का आसन दे दिया था। बहुत दिनों तक भारतवर्ष में इस भाषा ने अखंड राज्य किया। परन्तु बाद में विदेशियों के आगमन तथा बौद्ध धर्म के उत्थान आदि राजनीतिक तथा धार्मिक उथल-पुथल के कारण संस्कृत का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। संस्कृत-भाषा के छिन्न-भिन्न होते ही, जैसा पहिले कहा जा चुका है, उसकी विभाषाओं—शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, महाराष्ट्री, पैशाची, अपभ्रंश आदि ने स्वतंत्र होने की चेष्टाएँ कीं, परन्तु विभाषाओं की इस धक्का-मुक्की में मागधी विभाषा ने धर्मोपदेशकों और तत्पश्चात् बौद्ध शासकों के सहारे भाषा ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण उत्तर-भारत की राष्ट्रभाषा बनने का उद्योग किया। बौद्ध धर्म के धर्म-ग्रन्थों, त्रिपिटकों और पाली में इसका साहित्यिक रूप मिलता है। शौरसेनी, प्राकृत, तथा अपभ्रंश ने भी इसी प्रकार उत्तरी भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। "आभीर-राजाओं की कृपा से अपभ्रंश को भाषा का आसन मिला था।" फिर कुछ समय तक इन विभाषाओं का साम्राज्य रहने पर मेरठ, दिल्ली, आगरा तथा मुरादाबाद और बिजनौर आदि के आस-पास की एक विभाषा ने सबको अपने अधीन कर लिया, और आज वही खड़ी-बोली, स्वयं हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी के नाम से, राष्ट्र पर राज्य पर रही है। खड़ी-बोली के भाषा बनने के कारण भी बहुत कुछ अंशों में राजनीतिक और ऐतिहासिक ही हैं। इसी प्रकार, वर्त्तमान फ्रेंच और अँगरेजी भी पेरिस और लन्दन की विभाषाएँ ही थीं, जो आज राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन हैं..........ऐसी परिस्थिति में किसी भाषा का अपनी प्रतिद्वन्द्वी विभाषाओं का मूलोच्छेदन करना एक प्रकार से स्वयं अपनी ही जड़ काटना होगा। इन विभाषाओं को अपने अधीन और अन्तर्गत रखकर ही वह अपनी समृद्धि के लिए इनसे अमूल्य रत्न प्राप्त कर सकती है, इन्हें खोकर नहीं।

लोकप्रिय ग्रामीण बोलियों में प्रायः हर प्रकार के गँवारू, जंगली, भद्दे, अश्लील और असभ्य शब्दों और मुहावरों का एक अच्छा खासा अखाड़ा रहता है। बाप-बेटे, पति-पत्नी, पुत्री-पतोहू, धी-जमाई, सास-ननद कोई भी और कैसा भी मित्र या सम्बन्धी क्यों न हो, ये लोग सबके सामने इन्हीं के द्वारा अपने गूढ़-से-गूढ़ मनोभावों को एक दूसरे पर व्यक्त करते हैं। शहर में उनके

जिन मुहावरों को हम भद्दी गाली-गलौज समझते हैं, वे वास्तव में उनका तकिया-कलाम है, उनका न तो वे स्वयं बुरा मानते हैं और न सुननेवाला कोई दूसरा ही। ये सब उसी हरे-भरे प्रदेश की उपज हैं, किन्तु यह नहीं मान लेना चाहिए कि केवल ऐसे ही शब्द और मुहावरे इन बोलियों में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अनेक अति सुन्दर प्राचीन शब्द और मुहावरे भी इनमें सुरक्षित रहते हैं। कितनी ही अति स्पष्ट नई उक्तियाँ, यौगिक शब्द, वाक्य-खंड और मुहावरे, जिनके द्वारा हम अपने शब्द-कोष को समृद्ध कर सकते हैं तथा जिनके समान स्पष्ट और भाव-व्यंजक मुहावरे हमें अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकते, इन बोलियों में बराबर चलते रहते हैं। इस ओर यदि हम थोड़ा-सा भी ध्यान दें और बोलियों के महत्त्व को समझें, तो हमें आशा है कि भाषा-सम्बन्धी हमारी रुचि के साथ ही हमारी कट्टरपन्थी भी बहुत-कुछ बदल जायगी और हम इसके द्वारा अपनी भाषा की कुछ सेवा भी कर सकेंगे।

आज जबकि हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के झगड़े ने हमारे दिमाग का पारा इतना चढ़ा दिया है कि हम किसी भी ऐसे शब्द को, जो हमारी संस्कृत-परम्परा का नहीं है, अपनी भाषा में फूटी आँख नहीं देख सकते। हमारी भाषा का यह जहाज कहाँ और कैसे किनारे लगेगा, कोई नहीं कह सकता। हमें यह मानना ही पड़ेगा कि आज अपनी रुचि में कोई सुधार करने अथवा भाषा की दृष्टि से हृदय-परिवर्त्तन की बात हमारे कानों में तीर-सी चुभती है। हमारी भाषा लोकप्रिय बोली और विभाषाओं से ही नहीं, वरन् लोक-समुदाय से भी बहुत दूर होती जाती है। उसकी प्रवृत्ति दिन-दिन साहित्यिक होती जा रही है, जिसके कारण उसकी लोकतंत्रता धीरे-धीरे नष्ट होकर फिर से सामन्तशाही की ओर उसके कदम तेजी से बढ़ रहे हैं। हिन्दी के प्रेमियों से इसलिए हमारा यह नम्र निवेदन है कि वे यह न भूल जायँ कि भाषा नितान्त अन्धविश्वासियों के सहारे ही कोई रूप ग्रहण नहीं करती है, वह तो अधिकांश और आज की परिस्थिति में तो खास तौर से लोकमत के अनुसार ही चलेगी।

सोचने की बात है कि जिस भाषा को हम राष्ट्रभाषा, सारे राष्ट्र के हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और पारसी इत्यादि समस्त वर्गों की भाषा बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं, वह उर्दू और फारसी शब्दों से घृणा करके सारे राष्ट्र की लोकप्रिय भाषा कैसे बन सकती है। राष्ट्रभाषा का तो अर्थ ही राष्ट्र-भर के मुहावरे में आनेवाली लोकप्रिय शब्द, मुहावरे तथा अन्य व्यावहारिक प्रयोगों से सम्पन्न समस्त प्रादेशिक बोलियों और प्रान्तीय विभाषाओं का किसी-न-किसी रूप में प्रतिनिधित्व करनेवाली शिष्ट भाषा है।

उर्दूवालों के कानून मतरुकात का जवाब उसी सिक्के में देने से, हम हिन्दी का हित करेंगे या अहित, इसका उत्तर तो भविष्य के गर्भ में है, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि राष्ट्रभाषा बनने से जरूर उसे हम पीछे खींच लेंगे। विभिन्न भाषाओं का इतिहास ही इस बात का साक्षी है कि जो भाषा अपनी विभाषाओं के मुहावरों और इष्ट प्रयोगों से बचती फिरती है, अन्त में उसके विरुद्ध ऐसी भीषण जन-क्रान्ति होती है कि उसके अस्तित्व के ही लेने-के-देने पड़ जाते हैं। हिन्दी के अस्तित्व को कायम रखने और राष्ट्रभाषा के उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर उसे पहुँचाने के लिए हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपनी रुचि को बदलें और भाषा की दृष्टि से हृदय-परिवर्त्तन की ओर कदम बढ़ायें।

"आखिर, हमारी भाषा एक सार्वलौकिक कृति है। उसे बनानेवाले अशिक्षित और बे-पढ़े-लिखे लोग ही हैं। विद्वान् और वैयाकरण नहीं। विद्वान और पढ़े-लिखे लोग इसे परिष्कृत और समृद्ध तथा साहित्यिक दृष्टि से सौन्दर्य का एक प्रतीक बना सकते हैं, किन्तु इसकी अप्राप्य पूर्णता तो ग्रामीण जनता में ही मिल सकती है, लोकप्रिय बोलियों में ही गहराई के साथ इसकी

जड़ जमी हुई है। इसलिए यदि इसे जीवित रहना है, तो उसी भूमि से इसके लिए पोषक पदार्थ आने चाहिए, अन्यथा जिस प्रकार अपनी लोकप्रिय विभाषाओं से पृथक् हो जाने के पश्चात् अतीत की अन्य भाषाएँ अपना अस्तित्व खो बैठीं, "यह भी विस्मृति के गर्त्त में सर्वदा के लिए विलीन हो जायगी...... ।"

स्मिथ की इस चेतावनी से हिन्दी-प्रेमियों को फायदा उठाकर प्रादेशिक बोलियों और प्रान्तीय भाषाओं के शब्द और मुहावरों का खुले दिल से स्वागत करना शुरू कर देना चाहिए। इससे उनका कोष तो बढ़ेगा ही, भाषा की भाव-व्यंजकता भी बढ़ जायगी।

लाक्षणिक प्रयोगों के कारण मुहावरों की उत्पत्ति

"जिस प्रकार शब्दों के लाक्षणिक अर्थ होते हैं, ठीक उसी प्रकार बहुत-से शब्द-समुदायों के भी लाक्षणिक अर्थ मिलते हैं। जिस स्थलविशेष से उनकी उत्पत्ति हुई है, देखा जाता है कि उनका व्यवहार उनके विपरीत अर्थों में होता है। प्रायः ये लाक्षणिक प्रयोग स्पष्ट होते हैं। पर बहुत-से साधारणतया प्रचलित मुहावरों का प्रयोग उनके उत्पत्ति-स्थल तथा उनके आरंभिक अर्थ के ज्ञान बिना ही किया जाता है। ये लाक्षणिक मुहावरे प्रायः बहुत कुछ पारदर्शी होते हैं।"[1] अपने इस वक्तव्य पर और अधिक प्रकाश डालने के लिए स्मिथ ने एक पाद-टिप्पणी में इस प्रकार लिखा है—

"लाक्षणिक मुहावरे बराबर बनते रहते हैं, कुछ परिवारों या सामाजिक दलों की गप्प-शप्प में थोड़ी-बहुत देर चलकर खत्म हो जाते हैं—हजारों में एक-आध ही समान्य कोष में पहुँचता है। एडवर्ड फिट्ज गेराल्ड (Edward Fitz Gerald) ने इस प्रकार की मुहावरा-सृष्टि का एक बड़ा रोचक उदाहरण दिया है। अपने किसी एक पत्र में, किसी छोटे-से काम के बारे में, जिसमें कि वह उस समय लगा हुआ था, लिखते हुए वह कहता है कि यदि यह कभी प्रकाशित न भी हुआ, तो भी "मैं अपना उल्लू सीधा कर ही लूँगा।" आप जानते हैं उसका क्या मतलब है? नहीं, तो सुनिए, मेरे बाबा के पास अलग-अलग जाति और योग्यता के बहुत-से तोते थे, उनमें से एक सिर्फ (मैं समझता हूँ, उसका नाम बिली था), जैसा मेरे बाबा कहा करते थे, उल्लू की तरह चिढ़कर पंख मार सकता था। इसलिए एक समय जब सब लोग दूसरे अधिक योग्य तोतों की प्रशंसा कर रहे थे, उन्होंने (बाबा ने) कहा—तुम लोग बेचारे बिली को दुःखी करोगे—आओ (Do your little owl, my dear) आप कल्पना कीजिए कि सुन्दर और बालों में खुशबूदार पाउडर लगाये हुए एक नागरिक ऐसा कर रहा है—और उसकी लड़की—मेरी माँ—उसे बता रही है। इसलिए मैंने लिखा है I do my little owl."[2]

अपने यहाँ हिन्दी में भी अपना उल्लू सीधा करना इसी प्रकार का एक मुहावरा है। इसका निर्माण भी सम्भवतः इसी प्रकार के किसी पारिवारिक जमघट के अवसर पर हुआ है। तिकड़म करना या तिकड़मी होना यह जेल में गढ़े हुए मुहावरे हैं। और भी, अपनी मित्र-मंडली में बैठकर जब बेपर-की गप्पें चलती हैं, तब न मालूम, कितने इस प्रकार के मुहावरा पैदा और तमाम होते हैं।

शब्द-शक्ति और मुहावरों पर लिखते हुए प्रथम अध्याय में ही हमने लाक्षणिक प्रयोग और मुहावरों में क्या सम्बन्ध है, इस पर काफी लिख दिया है। अतएव, यहाँ हम बहुत थोड़े में यही बताने का प्रयत्न करेंगे कि शब्दों की तरह शब्द-समुदायों के भी लाक्षणिक अर्थ होते हैं और इस प्रकार लाक्षणिक अर्थ देनेवाले ये शब्द-समुदाय अथवा मुहावरे प्रायः अपनी आत्म-कथा ही

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० १८५-८६।
२. डब्ल्यू० आई०, पृ०-१८६।

होते हैं। उनमें अधिकांश को देखने से ही पता चल जाता है कि उनका जन्म कहाँ और कैसी परिस्थिति में हुआ है। जाँगड़ होना, जाँगड़पने का काम करना तथा जाँगड़ कहीं का, ये सब हिन्दी में चलनेवाले एक ही प्रकार के मुहावरे हैं, भोजपुरी में भी जाँगर चलावल, जाँगर लगावल और जाँगर ठेठावल, इसी प्रकार के मुहावरे हैं। जाँगर और जाँगड़ तो प्रान्तीय भेद है, अर्थ दोनों का एक ही है। दोनों हिन्दी शब्द जाँग से निकले हैं। अखाड़े में जब दो पहलवान उतरते हैं तो प्रायः अपनी जाँघ ठोका करते हैं, अतएव जाँगर शब्द का लाक्षणिक अर्थ हुआ पहलवान, या कुश्ती लड़नेवाला। अब जाँगड़ होना, इत्यादि शब्द-समुदायों के साधारण और लाक्षणिक अर्थ देखिए। जाँगड़ होना का साधारण अर्थ तो पहलवान या कुश्ती लड़नेवाला अथवा केवल शारीरिक बल लगानेवाला इत्यादि है। इस प्रकार, इस पूरे शब्द-समुदाय का लाक्षणिक अर्थ करने पर ही मुहावरे का अर्थ हमारी समझ में आ सकता है। जाँगड़ होना मुहावरे से उसकी आत्म-कथा की भी एक झाँकी मिल जाती है। यह मुहावरा बुद्धि से होनेवाले किसी कार्य में, गणित इत्यादि में किसी पहलवान के असफल रहने पर उसकी अधूरी शक्ति (केवल शारीरिक, बौद्धिक नहीं) की ओर व्यंग्य करके कहा गया है, इसे सुनते ही ऐसा मालूम पड़ने लगता है। ऊँटपटाँग, लमतडंगा, ऊत चालीससेरा, कुएँ में बोलना, कुएँ में भाँग पड़ना, जी में जी आना, जूते के आदमी होना, ठठेरे के यहाँ बिल्ली होना, मार के सामने भूत नाचना इत्यादि प्रयोग इस बात के स्पष्ट उदाहरण है कि शब्दों की तरह शब्द-समुदायों के भी लाक्षणिक अर्थ होते हैं। साथ ही, इनके उत्पत्ति-स्थान का भी इनके रूपों से बहुत कुछ पता चल जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से ऐसे भी मुहावरे हमें मिलते हैं, जिनकी उत्पत्ति का पता केवल उनके रूप को देखकर हम नहीं चला सकते। अनूदित मुहावरों के सम्बन्ध में तो यह बात और भी ज्यादा लागू होती है। अँगरेजी का एक मुहावरा है, As plain as a pike staff, हिन्दी में इसका अनुवाद करके प्रायः लोग 'डंडे की तरह सीधा' ऐसा प्रयोग करते हैं। 'डंडे की तरह सीधा' इस प्रयोग द्वारा इसकी उत्पत्ति का ठीक-ठीक निर्णय करना किस प्रकार संभव है, फिर जबकि स्वयं अँगरेजी के जिस मुहावरे का यह अनुवाद है, उसके मूल रूप का भी लोगों को अच्छी तरह पता नहीं है। स्मिथ ने एक पाद-टिप्पणी में इसके सम्बन्ध में लिखा है—अतएव As plain as a pike staff यह मुहावरा देखने से किसी बर्छी के डंडे अथवा धातु की नोकवाली किसी छड़ी के आधार पर बना हुआ, लगेगा। किन्तु मूल-रूप में यह 'Plain as a pack staff' था, जिसका अर्थ होता है इतना साधारण (विना सजा हुआ, सादा), जितना किसी फेरवे का डंडा जिसके सहारे वह आराम करते समय अपनी गठरी को रोकता है।

इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ कुछ ऐसे भी प्रयोग मिलते हैं, जो देखने में तो हमारी भाषा के मालूम होते हैं, किन्तु वास्तव में होते विदेशी हैं। ऐसे प्रयोग फौज इत्यादि में जहाँ कि देशी और विदेशी दोनों प्रकार के भाषा-भाषी साथ-साथ रहते हैं, प्रायः चल पड़ते हैं। ये न तो एक दूसरी भाषा के अनुवाद ही होते हैं और न यथावत् लिये हुए मूल रूप ही। ध्वनि के अनुकरण-मात्र पर यह शब्द कुछ विकृत होकर चल पड़ते हैं। हमारे विश्वविद्यालय में आनेवाले किसी भी रिक्शा, इक्का या ताँगा चलानेवाले से आप नौ कॉलेज या आठ कॉलेज की बात सुन सकते हैं। आज से दस-बीस या सौ-पचास सदियों के बाद आनेवाले लोगों को जब नौ और आठ कॉलेज-शब्द मिलेंगे, तो स्वभावतया उन्हें इनके पहिले के छह-सात कॉलेजों के सम्बन्ध में जानने की जिज्ञासा होगी। वे लोग आठ कॉलेज से आर्टस् कालेज की कल्पना नहीं कर सकते। इसी प्रकार लिबड़ी-बरतन उठाना और सफर मैना का कूँच करना इत्यादि मुहावरे हैं, जो देखने और सुनने में बिलकुल हिन्दी के लगते हैं, किन्तु वास्तव में लिवरी और बेटेनस (Levery and Battens) तथा

साईपरस् और माइनरस् के विकृत रूप ही हैं। हिन्दी में एक और मुहावरा आता है, सिलबिल्ला होना। कौन कह सकता है, यह भी अँगरेजी के सिली बिली (Selly belly) का ही विकृत रूप नहीं है। अदबदाकर या असबसाकर का भी हिन्दी में खूब प्रयोग होता है। हम प्रायः कहा करते हैं कि दुखते में अदबदाकर या असबसाकर चोट लगती है। इसके इस रूप को देखकर कौन पहिचान सकता है कि यह अरबी के अजबसके का ही विकृत रूप है, केवल मूल अर्थ में (हद से ज्यादा) कहीं-कहीं थोड़ा अन्तर हो जाता है। भारतीय अशिक्षित मुसलमान मुहर्रमों के दिन में 'हाय हस्से, हाय हस्से' कहकर छाती पीटा करते हैं। वास्तव में यह 'हाय हस्से, हाय हस्से', 'या हसन या हुसन' का ही विकृत रूप है। हिन्दुस्तानी शब्द भी गैरहिन्दुस्तानी या अँगरेजों के द्वारा काफी विकृत हुए हैं। यूले बरनेल (Yole Burnell) ने ऐसे एंग्लो-भारतीय शब्दों का 'A glossary of Colloquial Anglo-Indian words and phrases' कोष वनाया है, जिसके देखने से, किसी की समझ में न आनेवाली चीज को तोड़-मरोड़कर रखने की मानव-प्रकृति का अच्छा परिचय मिल जाता है। यही कारण है कि इन विकृत प्रयोगों की उत्पत्ति का पता चलाना प्रायः हमेशा असंभव-सा ही रहता है।

हर एक शब्द अथवा मुहावरे के मूल में कोई-न-कोई बुद्धिसंगत विचार अवश्य रहता है। लौके (Locke) के इस मत की मीमांसा करते हुए फरार लिखता है—"प्रत्येक विशिष्ट दृष्टान्त में यह वात सिद्ध हो सकेगी, ऐसी आशा हम नहीं कर सकते। जब किन्हीं राष्ट्रों के बीच एक बार मूल्य का कोई प्रमाण वनाया जाता है, तव वह प्रायः हमेशा सवसे कीमती धातु के सिक्कों में ही होता है, किन्तु जब जनता का विश्वास खूब दृढ़ हो जाता है, तव कागजी सिक्के चलाने की भी खुली छूट मिल जाती है। इसी कारण भाषा के भी बहुत-से ऐसे प्रयोग, जिनका अपना कोई मूल्य नहीं है, और न तो उसके मूल रूप के ही कोई चिह्न शेष हैं और न आरंभ में जो अर्थ देते थे उसकी ही कोई छाप उन्होंने कायम रखी है तथा जो विना किसी रोक-टोक के अपने लोक-प्रिय रूप में चल रहे हैं, बिलकुल निरंकुश हो गये हैं।"

"भाषा को कोई व्यक्ति," भाषा की परिभाषा करते हुए हैरिस (Harris) ने अपनी पुस्तक हरमीज (Hormes) के पृष्ठ ३३० पर लिखा है, "एक प्रकार का लोक-चित्र कह सकता है, जिसमें शब्द उसके विभिन्न अंगों की मूर्त्ति या छाया है।"[1] हैरिस, अपनी इस कल्पना के सौन्दर्य में कहीं इसके साथ ही यदि इतना और जोड़ देता कि मुहावरे लोक की आत्मा को प्रत्यक्ष करानेवाले इस चित्र के लाइट और शेड हैं, तो उसमें और चार चाँद लग जाते, उसका चित्र सजीव हो जाता, बोल उठता। लाइट और शेड के विना जिस प्रकार कोई भी चित्र बच्चों के 'कील काट बंगाला' से अधिक महत्त्व नहीं रखता, उसी प्रकार विना मुहावरों की भाषा अथवा लाक्षणिक प्रयोग के विना शब्दों का अन्य पशुओं की अस्पष्ट ध्वनियों से अधिक महत्त्व नहीं हो सकता। राम और कृष्ण की मूर्त्तियों के सामने हम स्वयमेव ही क्यों नतमस्तक हो जाते हैं। केवल इसीलिए कि वे मूर्त्तियाँ निरे प्रस्तर-खंड या धातु के टुकड़े नहीं हैं, बल्कि वे राम और कृष्ण के लाक्षणिक प्रयोग अथवा मूर्त्त मुहावरे हैं। राम और कृष्ण के भौतिक रूप-रंग को आज तक किसीने नहीं देखा, किन्तु फिर भी एक मन्दिर में स्थापित दोनों मूर्त्तियों को देखकर हम वता देते हैं कि अमुक राम की है और अमुक कृष्ण की। कैसे केवल इसीलिए कि वे रूप युग-युगान्तर से राम और कृष्ण की ओर लक्ष्य करते-करते इतने लोक-प्रिय अथवा रूढ़ हो गये हैं कि जन-साधारण उनका अर्थ ही राम और कृष्ण के मुहावरे में करने लगा है। इसलिए यह कहना कि लाक्षणिक प्रयोग भी मुहावरों की उत्पत्ति और विकास में काफी सहायता देते हैं, ठीक ही है।

१. ओरिजिन ऑफ् लैंग्वेज, पृ० ६६ का फुटनोट।

विकास के उदाहरण

उत्पत्ति और विकास की दृष्टि से मुहावरों का जो विवेचन अबतक किया गया है तथा देश और विदेश के तत्सम्बन्धी जो मत उद्धृत किये गये हैं, वे इंगलिश अथवा हिन्दी पर ही नहीं, वरन् संसार की समस्त भाषाओं पर समान रूप से लागू होते हैं, प्रस्तुत प्रबन्ध में चूँकि हमारा उद्देश्य हिन्दी-मुहावरों के विकास पर विशेष रूप से प्रकाश डालना है, अतएव अब हम अपने यहाँ से उदाहरण ले-लेकर इस विषय को और अधिक स्पष्ट करेंगे।

१. संस्कृत का एक मुहावरा है—काष्ठप्रदान। श्रीमान् जीवानन्द विद्यासागर-सम्पादित पंचतंत्र के पृष्ठ ८५ पर प्रतप्तकौलिक अपने मित्र रथकार से बोलते हुए इसका इस प्रकार प्रयोग करता है—

"यदि त्वं मां सुहृदं मन्यसे, ततः काष्ठप्रदानेन प्रसादः क्रियताम्", यदि तुम मुझको मित्र मानते हो, तो काष्ठ प्रदान करने की कृपा करो। विद्यासागरजी ने काष्ठ-प्रदान का अर्थ यह लिखा है—

"काष्ठप्रदानेन चितारचनेन इत्यर्थ."

डॉक्टर एफ् कीलहार्न पी-एच्० डी० अपने पंचतंत्र के नोट्स में (पृष्ठ १८) यह लिखते हैं—The offering of wood for the preparation of funeral pile। "चिता बनाने के लिए लकड़ी दीजिए या जमा कीजिए", गौडबोले महोदय उक्त ग्रन्थ के अपने नोट्स में (पृष्ठ ६१) इस प्रकार अर्थ करते हैं।—Let a favour be done by giving (me) wood by burning me, 'मुझे जलाने के लिए लकड़ी देने की कृपा कीजिए।'

ऊपर दिये गये तीनों विद्वानों के अर्थ, इसमें सन्देह नहीं, लक्षणा अथवा व्यंजना के आधार पर ही भाव ग्रहण करके रखे गये हैं। तीनों का ही तात्पर्य अन्तिम संस्कार से है। अन्तिम संस्कार करने के लिए चिता की आवश्यकता होती है और चिता रचने के लिए लकड़ियों के संग्रह की, अतएव इस कार्य-परम्परा पर दृष्टि रखकर ही इन विद्वानों ने 'काष्ठ-प्रदान' का 'अर्थ अन्त्येष्टि-क्रिया' लेकर कौलिक के शब्दों का भाष्य उसका अपने अन्तिम समय के समीप आ जाने की सूचना देना किया है। इतने भावों का द्योतक एक छोटा सा वाक्य 'काष्ठ-प्रदान' है। इसके द्वारा मुहावरे के प्रयोग तथा उसकी उत्पत्ति और विकास के कारणों पर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ जाता है। हमारी समझ में इन तीनों ही विद्वानों ने 'काष्ठ-प्रदान' इस वाक्य के लाक्षणिक अर्थ पर ही विशेष ध्यान दिया है, मुहावरेदार अर्थ पर नहीं। यही कारण है कि इनके अर्थ को बैठाकर जब हम पूरे वक्तव्य का अर्थ करते हैं, तब व्याकरण की परिधि के अन्तर्गत होते हुए भी वह हमारे मन को चिपकता नहीं, कुछ अस्पष्ट और असंगत-सा लगता है। यही वक्तव्य यदि कौलिक के स्थान में किसी स्त्री का होता, तो हम यह मानकर सन्तोष कर लेते कि शायद सती होने के लिए चिता तैयार करने का आग्रह कर रही है, किन्तु कौलिक का, चिता रचने की कृपा करो, ऐसा कहना अथवा चिता बनाने या मुझे जलाने के लिए लकड़ी देने की कृपा कीजिए, ऐसी प्रार्थना करना कम-से-कम हमें तो भ्रामक ही मालूम होता है। व्यंग्य में आज भी लोग कहा करते हैं—अब तुम हमारी चिता पर लकड़ी रखते आना या रखने की कृपा करना; इसका अर्थ होता है कि अब जीते जी तो तुमसे हमारा कोई काम होनेवाला नहीं है। मुसलमान और ईसाइयों में इसी अर्थ में मिट्टी देना मुहावरे का प्रयोग होता है। हिन्दू-संस्कारों का जिन्हें पूरी तरह ज्ञान है, वे जानते हैं कि चिता रचने के समय लकड़ियाँ इकट्ठी तो की जाती हैं, यह भी प्रायः होता है कि मित्र और सम्बन्धी लकड़ियाँ चुन-चुनकर चिता तैयार करते हैं, किन्तु चिता तैयार होने तक सारा काम शुद्ध सहायता की दृष्टि से ही होता है, सहयोग-सूचन अथवा मृतक के प्रति स्नेह-प्रदर्शन

की प्रथा के अनुसार नहीं। असल में 'काष्ठ-प्रदान' की यह क्रिया, चिता में अग्नि प्रज्वलित हो जाने और कहीं-कहीं जब मृतक जल जाता है और संस्कार-क्रिया समाप्तप्राय होती है, उस समय होती है। शव के साथ जानेवाले सब लोग उस समय अपने-अपने स्थान से उठते हैं और चिता में कुछ लकड़ी डालकर स्नान के लिए जाते हैं तथा तिलांजलि देकर घर वापिस आते हैं। मुसलमान और ईसाइयों में भी इसी प्रकार मुर्दे को कब्र में उतार देने के बाद घरवाले और मित्र सब थोड़ी-थोड़ी मिट्टी सहयोग और प्रेम की इसी भावना से प्रेरित होकर मृतक की कब्र पर डालते हैं। इससे स्पष्ट है कि विद्वानों ने जो अर्थ ऊपर किये हैं, वे भ्रामक हैं और उनके द्वारा इस मुहावरे उत्पत्ति और की विकास पर उतना प्रकाश नहीं पड़ता, जितना 'काष्ठ-प्रदान' की इस प्रचलित परम्परा द्वारा।

२. **तिलांजलि देना**—मुहावरा भी 'काष्ठ-प्रदान' करने की क्रिया के उपरान्त होनेवाली क्रिया का ही सूचक है, आज भी इसका प्रयोग प्रायः खिन्न या दुःखी होकर किसी पदार्थ को छोड़ने के अर्थ में ही होता है। तिलांजलि क्यों देते थे, यह किसी को मालूम हो या न हो, लेकिन इतना सब जानते हैं कि तिलांजलि देते समय सब का मन भारी होता था और उसके तुरन्त बाद ही लोग अपने प्रिय को वहाँ छोड़कर चले आते थे। अतएव, दुःखी मन से किसी प्रिय चीज को त्याग करने की भावना को कितने थोड़े में रख दिया गया है! यहीं इस मुहावरे की उत्पत्ति का महत्त्व है।

३. हिन्दी में एक मुहावरा आता है, अर्धचन्द्र देकर निकाल देना, पंचतंत्र के पृष्ठ २३ पर यही मुहावरा इस प्रकार आया है 'अर्द्धचन्द्रम् दत्त्वा निस्सारिता।' 'अर्ध-चन्द्र देना या अर्ध-चन्द्र देकर निकाल देना' इनका अर्थ है—गरदनिया देना या गला पकड़कर बाहर निकाल देना। विद्यासागरजी ने इसकी व्याख्या यों की है—'अर्द्धचन्द्रः गलहस्त इत्यर्थः' तथा 'अर्द्धचन्द्रस्य अर्द्धचन्द्राकारकस्य दानेन' (सरल पंचतंत्र पृ० २९)।

गौडबोले अँगरेजी में इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं :—अर्द्धचन्द्रः, The bent into a semi-circle like the erestent of the moon for the purpose of seizing. चन्द्रार्द्धः means literally 'the half moon' and figuratevely to seize between the thumb and the fore finger (both stretched out) PP. 36-37 (पंचतंत्र)।

हाथ को बाल-चन्द्र की भाँति गला पकड़ने के लिए अर्द्धवृत्ताकार रूप में परिणत करना।

"इसका शब्दार्थ आधा चन्द्रमा है, जिसका व्यंग्यार्थ यह है कि अंगूठा और तर्जनी दोनों को गला पकड़ने के लिए (अर्द्धचन्द्राकार) फैलाना।"

गौडबोले साहब के दिमाग में, जब वह 'अर्द्धचन्द्रम् दत्त्वा............' की व्याख्या कर रहे थे, संभवतः उसीके समान अँगरेजी का 'To seize by the collor' यह मुहावरा घूम रहा था। वास्तव में दोनों के भाव में ही विशेष अंतर है, अर्थ में नहीं। विद्यासागरजी और गौडबोले दोनों ही विद्वानों ने एक प्रकार से इस मुहावरे का अर्थ और उसकी व्याख्या मात्र की है, उसके भाव अथवा तात्पर्यार्थ की ओर विशेष क्या, बिलकुल भी ध्यान नहीं दिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गरदनिया देने के लिए जब हम किसी का गला पकड़ते हैं, तब हाथ के अंगूठे और तर्जनी के फैलने पर उनके बीच का आकार अर्धचन्द्र का-सा हो जाता है, किन्तु मुहावरे की उत्पत्ति और उसके महत्त्व को समझने के लिए यह भी बता देना आवश्यक है कि हम गरदनिया प्रायः तिरस्कार के भाव से और अपने से कमजोर को ही दिया करते हैं, इस परिस्थिति को ध्यान में रखकर यदि इस मुहावरे का अर्थ किया जाय, तो उसका प्रचलित भाव, अर्थात् तिरस्कार करके किसी को निकाल देना, पूरी तरह से आ जाता है। अतएव, यह स्पष्ट है

कि अर्ध-चन्द्र देना इस मुहावरे की उत्पत्ति इस क्रिया और ऐसी परिस्थिति के आधार पर हुई है।

४. **'दाँत-काटी रोटी होना'** एक मुहावरा है। जिन लोगों में परस्पर बड़ी घनिष्ठता और एकान्त प्रीति होती है, उनके लिए इस मुहावरे का प्रयोग होता है।

हिन्दुओं में विवाह-संस्कार के अवसर पर सप्तपदी के उपरान्त वर-वधू को कोई चीज खाने को दी जाती है। यह चीज स्थानीय रीति-रिवाज के अनुसार रोटी, पूरी, मिठाई अथवा पान तक कुछ भी हो सकती है। इस प्रथा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वर के दाँत की काटी हुई चीज वधू खाती है और वधू के दाँत की काटी हुई चीज वर खाता है। कहीं-कहीं केवल वधू ही वर की काटी हुई चीज खाती है। वास्तव में यह प्रथा संस्कार के द्वारा दो हृदयों के आध्यात्मिक एकीकरण के बाद बायें और दाहिने अंग की भाँति वर और वधू के भौतिक एकीकरण की सूचक थी। आज भी जबकि हमारे यहाँ किसी का जूठा खाना वर्जित है, पत्नी के लिए अपने पति का जूठा खाने की सब जगह छूट है। फिर, पति और पत्नी से अधिक घनिष्ठता और एकान्त प्रीति और कहाँ हो सकती है। साधारण व्यवहार में भी जिसे हम बहुत ही अधिक प्यार करते हैं, उसे ही अपनी थाली में खाना खिलाते हैं। थाली में खिलाना ही जब प्यार का सूचक है, तब फिर 'दाँत-काटी' खाना या खिलाना तो प्यार की चरम सीमा ही होगी। इस दृष्टि से भी अन्त में हम पति-पत्नी के सम्बन्ध पर ही आ जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि इसी प्रथा को लेकर यह मुहावरा चला है या चलाया गया है।

५. **'दाँत निकालना'** भी एक मुहावरा है। इसके प्रायः दो अर्थ होते हैं। १. मुँह फैलाकर हँसना (दिनकर शर्मा); २. गिड़गिड़ाना या दीनता दिखाना (रामदहिन मिश्र)। श्रीहरिऔध जी ने दूसरा अर्थ ही लिया है। वास्तव में वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही हम किसी एक अर्थ का निश्चय कर सकते हैं। पहिला अर्थ भी यदि मुँह फैलाकर हँसना के बजाय व्यर्थ हँसना ही रखा जाय, तो भावार्थ की दृष्टि से अच्छा होगा। हम इसलिए दोनों दृष्टियों से इस मुहावरे की उत्पत्ति पर विचार करेंगे।

हम सब जानते हैं कि हँसते समय हर किसी के दाँत निकल आते हैं और हँसना किसी समाज में बुरा नहीं समझा जाता, किन्तु इसके साथ ही किसी शिष्ट समाज में बैठकर नाखून चबाना, होठ चबाना या दाँत निकालना इत्यादि बुरी टेव समझी जाती है। 'दाँत निकालना' जब व्यर्थ हँसने के अर्थ में आता है, तब अपने क्रोध अथवा क्षोभ को प्रकट करने के लिए 'दाँत निकालना' क्रिया के कारण 'हँसना' की उपेक्षा करके हम उसे ही कारण बना देते हैं। संक्षेप में, उस समय हम हँसी को, जिसका संबंध खुशी से है, अपने क्रोध के कारण, भुलाकर उसकी बुरी टेव को ही आगे कर देते हैं। यह भी हमारा अनुभव है कि जब कोई भूखा, नंगा अथवा मँगता किसी से अन्न अथवा किसी अन्य वस्तु की अति दीन बनकर प्रार्थना करता है, तब उस समय उसके दाँत निकल आते हैं। इन्हींके आधार पर यह मुहावरा बना है।

६. **'दाँत खट्टे करना'** मुहावरे का अर्थ है—थका देना या खूब छकाना या परास्त करना। इस वाक्य का शब्दार्थ है किसी प्रकार दाँतों को खट्टा करना, लक्षणा से इसका अर्थ कुंठित या स्वकार्य में (चबाने में) असमर्थ होना लिया जाता है। प्रायः सभी का अनुभव है कि कोई बहुत खट्टी चीज खा लेने के बाद दाँत इतने खट्टे हो जाते हैं कि फिर कड़ी तो क्या, कोमल-से-कोमल वस्तु भी उनसे नहीं कुचली जाती। उनकी तीक्ष्णता-शक्ति कुछ काल के लिए जाती रहती है। वे कुंठित हो जाते हैं। यहाँ तक कि उस समय थोड़ी देर के लिए तो दाँतों के न रहने का-सा ही अनुभव होने लगता है। ऐसे ही 'उनके दाँत खट्टे कर दिये गये' का मुहावरेदार

अर्थ 'उनको परास्त कर दिया', अर्थात् वे जो काम कर सकते थे, उन कामों के करने में उनको कुंठित कर दिया। इस मुहावरे की उत्पत्ति, वास्तव में 'दाँत होना' (किसी चीज पर किसी का) मुहावरे के जवाब में हुई है। 'दाँत होना' मुहावरे का अर्थ है किसी चीज़ को हड़प जाने की इच्छा रखना। कोई भी चीज़ दाँत तक खाने या हड़प करने की दृष्टि से ही लाई जाती है। 'दाँत होना' मुहावरे में दाँत के नीचे आई चीज खत्म करने में जिस प्रकार कुछ समय नहीं लगता, उस प्रकार की शीघ्रता का भाव भी रहता है। अतएव, किसी के कहने पर कि अमुक वस्तु पर अमुक व्यक्ति का दाँत है—उत्तरदाता ने उसी की पदावलि में जवाब देने के लिए कह दिया कि उसके दाँत खट्टे कर दिये जायेंगे, जिससे वह अपने प्रयत्न में सफल ही नहीं हो सकेगा।

७. **'बीड़ा उठाना'** मुहावरे का अर्थ है—दृढ़ निश्चय करना अथवा किसी काम को करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना। मध्य युग में हमारे यहाँ राज-दरबारों में यह प्रथा थी कि जब कोई विकट कार्य आ पड़ता था तब, राज्य-भर के वीरों और सामन्तों आदि को बुलाकर उनके सामने तत्सम्बन्धी सब बातें रख दी जाती थीं। वहीं, एक ओर थाली में एक बीड़ा पान का भी रहता था। उस सभा में जो व्यक्ति उस काम को करने का भार अपने ऊपर लेता था, वह थाली का बीड़ा उठा लेता था। बीड़ा उठाना ही उसके कार्य-भार लेने के निश्चय की सूचना या घोषणा समझी जाती थी। इसी प्रथा से यह मुहावरा बना है।

८. एक प्रसिद्ध मुहावरा है—**कटे पर नून या नमक छिड़कना**। जिसका भ्रमवश 'जले पर नमक छिड़कना' प्रयोग होने लगा है। शरीर में किसी कटी हुई जगह पर नमक तो क्या, नमक का हाथ भी लग जाता है, तो बहुत छरछराहट होती है, काटने से भी अधिक पीड़ा उस समय होती है। इसीसे यह मुहावरा बना है। उर्दू वालों ने इस मुहावरे का काफी प्रयोग किया है। एक शेर है—

नमक छिड़को, नमक छिड़को, मजा कुछ इसमें आता है।
कसम ले लो, नहीं आदत मेरे जख्मों को मरहम की॥

कवि का अभिप्राय यही है कि मेरे घाव सामान्य घावों की तरह नहीं हैं। जो मरहम लगाने से अच्छे होते हैं और नमक छिड़कने से बढ़ते हैं, मेरे घावों में तो नमक छिड़कने पर ही सुख मिलता है। हिन्दी में भी किसी कवि ने इस मुहावरे का प्रयोग किया है।

कटार मार पट्टी क्यों? क्यों शीतल उपचार।
खुले छोड़ जाती न क्यों? नमक कटे पर डार॥

संस्कृत-साहित्य में भी हमारे यहाँ 'क्षत पर क्षार' ही चलता है, 'दग्ध पर क्षार' नहीं। महाकवि राजशेखर ने कर्पूरमंजरी (२,११) में 'क्षते क्षार' का ही प्रयोग किया है। देखिए—

परं जोण्हा उण्हा गरलसरिसो चंदनरसो।
खअक्खारो हारो रजनिपवणा देहतवणा॥

इसमें का 'खअक्खारो' 'क्षते क्षारो' का ही रूपान्तर है। भवभूति ने भी उत्तररामचरित (४,७) में कहा है—

य एव मे जनः पूर्वमासीन्मूर्त्तो महोत्सवः।
क्षते क्षारमिवासह्यं जातं तस्यैव दर्शनम्॥

किन्तु इधर बहुत दिनों से 'जले पर नमक छिड़कना' ही चल पड़ा है। गोस्वामी तुलसीदास तक ने इसी मुहावरे का प्रयोग कर डाला है।

अति कटु वचन कहति कैकेई। मानहु लोन जरे पर देई॥

कुछ लोग 'जले पर नमक छिड़कना' इस मुहावरे को 'कटे पर नमक' का अशुद्ध रूप न मानकर इसे भी एक स्वतंत्र प्रयोग मानते हैं। किन्तु, मुहावरों की उत्पत्ति और विकास की परम्परा को देखते हुए यह तर्क कम-से-कम हमारे गले तो नहीं उतरता। जले पर नमक लगाने से तो जलन या पीड़ा बढ़ने के बदले कम होती है। जले पर नमक लगाना या रगड़ना तो एक प्रकार का उपचार है, अतएव उसके आधार पर यदि 'जले पर नमक' ऐसा कोई मुहावरा बनता भी, तो वह दुःखी को और दुःखी करने के अर्थ में न होकर उसे सुख पहुँचाने के अर्थ में प्रयुक्त होना चाहिए था। अतएव, कटे पर नमक ही शुद्ध और मूल रूप है।

९. 'पीरे मुंगा होना' मुहावरे का प्रयोग अगुवा या रिंग-लीडर होने के अर्थ में होता है। फारसी-साहित्य में मगों के आचार्यों का नाम 'पीरे मुंगा' सैकड़ों जगह पाया जाता है। भविष्य-पुराण में मग जाति के ब्राह्मणों का विवरण है। श्रीयुत रामदास गौड ने अपनी पुस्तक 'हिन्दुत्व' के पृष्ठ ४०७ पर इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

"भविष्यपुराण में एक भारी विशेषता है, इससे शाकद्वीपी मग-ब्राह्मणों का शाक-द्वीप से लाया जाना वर्णित है। इसमें चाल-ढाल, रस्म-रिवाज विस्तार से बताया गया है। इनके लानेवाले कृष्ण-पुत्र 'साम्ब' हैं। वर्णन से जान पड़ता है कि जरथुस्त्र के पहिले या उन्हींके समकालीन सूर्योपासक आर्य-जातियाँ भारतवर्ष से पश्चिम प्रदेशों में रहती थीं। पारसियों की रीति-रस्में मगों से कुछ मिलती-जुलती-सी हैं। वह वर्णन बड़े महत्त्व का है और शाकद्वीपी ब्राह्मणों का पता देता है। अठारह प्रकार के कुलीन ब्राह्मण भारत में लाये गये थे। आज भी फारसी-साहित्य में मगों के आचार्यों का नाम 'पीरे मुंगा' सैकड़ों जगह पाया जाता है। ये लोग यज्ञ-विहित सुरापान करते थे। यह बात 'पीरे मुंगा' के वर्णन से भी पाई जाती है और भविष्यपुराण में भी लिखी है।"

१०. 'अंगूठा दिखाना', 'अंगूठे से', 'अंगूठा करें' (किसी काम को) इत्यादि अंगूठे के समस्त मुहावरों में नगण्यता का भाव ही प्रधान रहता है। सावित्री और सत्यवान् की कथा में भी महाभारतकार ने जैसे सत्यवान् की सूक्ष्म देह 'को अंगुष्ठमात्र' कहकर वर्णन किया है। हमारे यहाँ स्थूल शरीर के अन्दर रहनेवाले सूक्ष्मरूप जीव को 'अंगुष्ठमात्र जीव' करके माना गया है। अंगुष्ठमात्र से भावार्थ बहुत-ही सूक्ष्म अथवा नगण्यमात्र ही है। इसी भाव को लेकर प्रायः लोग मुहावरों में अंगूठे का प्रयोग करते हैं। किसी चीज को नहीं देना होता, तो भी चिढ़ाने के लिए प्रायः स्त्रियाँ 'ले ले अंगूठा' अथवा 'मेरा दे अंगूठा' इत्यादि का प्रयोग किया करती हैं।

११. 'सात समुद्र पार होना' मुहावरे का अर्थ है बहुत ही दूर होना। हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार १. समुद्र २. क्षीर-समुद्र ३. दधि-समुद्र ४. घृत-समुद्र, ५. सुरा-समुद्र ६. इक्षु-समुद्र ७. लवण-समुद्र, इन सात समुद्रों की कल्पना की गई है। इन सातों समुद्रों के स्थान भी संभवतः वैकुण्ठ-लोक में क्षीर-सागर और भूलोक में लवण-सागर की तरह अलग-अलग लोकों में हैं। अतिशयोक्ति करके इस आधार पर यह मुहावरा बना है।

१२. लोक-लोकान्तर—मुहावरे का अर्थ है दूर-दूर से अथवा भिन्न-भिन्न लोकों से। इस मुहावरे के मूल में पुराणकारों की १. परम-धाम २. सत्य-लोक, ३. तप-लोक, ४. जन-लोक, ५. मह-लोक, ६. स्वर्ग-लोक ७. भुव-लोक, ८. अतल-लोक, ९. वितल-लोक, १०. सुतल-लोक, ११. तलातल-लोक, १२. महातल-लोक, १३. रसातल-लोक, १४. पाताल-लोक, इन १४ लोकों अथवा भुवनों की कल्पना है। यहाँ भी अतिशयोक्ति से काम लिया गया है। 'आकाश-पाताल एक करना', 'रसातल में पहुँचाना', 'पाताल फोड़ना', 'पाताल की खबर लाना', 'पाताल में छिपना' इत्यादि मुहावरे भी अतिशयोक्ति के आधार पर ही बनाये गये हैं।

१३. **'यम-लोक पहुँचाना', 'स्वर्ग-लोक पहुँचाना', 'स्वर्ग की हवा खिलाना', 'यम के दूत आना', 'यमराज की तरह', 'धर्मराज होना'**, इत्यादि मुहावरों का आधार यम और यमी की हमारे यहाँ प्रचलित कथा ही है। कथा इस प्रकार है—

वैदिक काल में यम और यमी दोनों देवता, ऋषि और मंत्रकर्त्ता माने जाते थे और यम को लोग मृत्यु से भिन्न मानते थे। पर पीछे से यम ही प्राणियों को मारनेवाला अथवा इस शरीर में से प्राण निकालनेवाला माना जाने लगा। वैदिक काल में यज्ञों में यम की भी पूजा होती थी और उन्हें हवि दिया जाता था। उन दिनों वे मृत पितरों के अधिपति तथा मरनेवाले लोगों को आश्रय देनेवाले माने जाते थे। तब से अबतक इनका एक लोक 'यमलोक' अलग माना जाता है। हिन्दू समझते हैं कि मनुष्य मरने पर सबसे पहिले यम-लोक ही जाता है और जहाँ यमराज के सामने उपस्थित किया जाता है। वही उसके शुभ या अशुभ कर्मों के अनुसार उसे स्वर्ग या नरक में भेजते हैं। धर्म-पूर्वक विचार करने के कारण उन्हें धर्मराज भी कहते हैं। मृत्यु के समय यम के दूत ही लेने आते हैं। यम-लोक और स्वर्ग-लोक दोनों एक ही हैं। स्वर्ग-लोक में ही वरुण, वायव्य, कुबेर, ईशान, इन्द्र, अग्नि, यम इत्यादि का वास-स्थान माना जाता है। आदरणीय पुरुषों की सूचना देने के लिए 'स्वर्गारोहण होना' अथवा 'स्वर्गवास होना' इत्यादि मुहावरों का भी प्रयोग करते हैं।

अँगरेजी-राज्य में भारतवासियों को शारीरिक और मानसिक जितनी भी यातनाएँ सहनी पड़ी हैं, वे किसी भी भयंकर-से-भयंकर नरक की यातनाओं से किसी प्रकार कम नहीं रही हैं। अँगरेजी-सरकार को हम यमराज भले ही न कह सकें; क्योंकि वह धर्मराज थे, किन्तु उनके दूतों, अर्थात् पुलिसवालों को तो प्रायः सभी यमदूत मानते हैं। नरक को ले जाते हुए जैसे यमदूत रास्ते में तरह-तरह की पीड़ाएँ देते हैं, उसी प्रकार पुलिस भी थाने ले जाते समय मनुष्य को अधमरा कर देती थी। इसी आधार पर 'यमदूतों से पाला पड़ना' तथा 'यम के दूत होना' इत्यादि मुहावरों का पुलिस के लिए प्रयोग चल पड़ा है।

'ग्वाल' कवि ने 'यमराज के सोंटे खाना' मुहावरे का प्रयोग 'नरक-यातना भोगना' के अर्थ में किया है—

> **गंगा के न गौरिके गिरीस के न गोविन्द के,**
> **गोत के न जोत के न जाय राहगीर के।**
> **काहू के न संगी रति रंगी मैन भानजी के,**
> **जी के अति खोटे सोंटे खैहें जमबीर के॥**

यम-लोक को, जैसा पीछे बताया है, यमराज का अलग लोक तो बहुत पहिले ही माना जाने लगा था, धीरे-धीरे नरक के अर्थ में इसका प्रयोग हो चला। 'यमपुरी को घर बनाना', अर्थात् 'नरक में निवास करना' मुहावरा भी इसी से बना है।

१४. **'म्लेच्छ होना', 'म्लेच्छ ही का', 'म्लेच्छपना करना'** इत्यादि मुहावरों का प्रयोग आज-कल बुरे अर्थ में होने लगा है। प्रायः मले-कुचैले और गन्दा रहनेवाले व्यक्तियों के लिए ही इन मुहावरों का प्रयोग होता है। पश्चिम की ओर से आनेवाले विदेशियों के लिए भी प्रायः म्लेच्छ-जाति का प्रयोग होता है। मुसलमानों को यवन के साथ ही म्लेच्छ भी कहते हैं। म्लेच्छ शब्द के अभिधेयार्थ 'मैले-कुचैले' अथवा नीच के आधार पर 'मुसलमानपना करना', 'मुसलमानों को मात करना' इत्यादि मुहावरों की रचना हुई है। कहना न होगा कि ये मुहावरे मुसलमानों के विरुद्ध हमारे मन में जमी हुई घृणा के ही बाह्य मूर्त्त रूप हैं। हमारे इन घृणा के भावों ने ही आज हमारे दस करोड़ भाइयों को हमारा शत्रु बना दिया है। आज के इस विषैले वातावरण को

फिर से स्नेहमय बनाने के लिए जहाँ शिव-रूप हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने सारे विष को स्वयं पीकर हिन्दू और मुसलमानों के हृदयों को बदलने का प्रयत्न किया है, वहाँ भाषा के क्षेत्र में भी हिन्दू और मुसलमानों के बीच में घृणा के भावों को बनाये रखनेवाले शब्द और मुहावरों का हृदय-परिवर्त्तन (भावार्थ-परिवर्त्तन) हमारे भाषा-मर्मज्ञों को करना है। ऊपर दिये हुए मुहावरों में प्रयुक्त म्लेच्छ, यवन अथवा मुसलमान शब्दों का पूर्व इतिहास देकर इसलिए हम मुहावरों के अर्थ-परिवर्त्तन के इस शुभ कार्य का यहाँ श्रीगणेश करते हैं—

यूनान देश में, 'आयोनिया' नामक प्रांत या द्वीप है, जिसका लगाव पहिले पूर्वीय देशों से बहुत था। उसीके आधार पर भारतवासी उस देश के रहनेवालों को और तदुपरान्त युनानियों के आने पर उन्हें भी यवन कहते थे। पीछे से इस शब्द का अर्थ और भी विस्तृत हो गया और रोमन, पारसी आदि प्रायः सभी विदेशियों, को विशेषतः पश्चिम से आनेवालों को लोग यवन ही कहने लगे। इस शब्द का अर्थ प्रायः म्लेच्छ के अर्थ में होने लगा। परन्तु, महाभारत-काल में यवन और म्लेच्छ ये दोनों भिन्न-भिन्न जातियाँ मानी जाती थीं। पुराणों के अनुसार अन्यान्य म्लेच्छ-जातियों, पारद, पल्लव आदि, के समान यवनों की उत्पत्ति भी वसिष्ठ और विश्वामित्र के झगड़े के समय वसिष्ठ की गाय के शरीर से हुई थी, गाय के योनि-देश से यवन उत्पन्न हुए थे।

भूषण यों अवनी यवनी कहै कोउ कहै सरजा सो हहारे।
तू सब को प्रतिपालनहार विचारे भतार न मारु हमारे ॥—भूषण

कालयवन नामक म्लेच्छ राजा कृष्ण से कई बार लड़ा था।

१५. **'अंकित हो जाना', 'अंकित होना', 'रेख-सी खिंच जाना'** इत्यादि मुहावरों का प्रायः किसी व्यक्ति, वस्तु या घटना की स्थायी दुःखद स्मृति के अर्थ में प्रयोग होता है।

वैष्णव लोग अपने विभिन्न अंगों पर, शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि विष्णु के आयुधों के चिह्न गुदवाते हैं (अंकित कराते हैं) और दक्षिण के शैव लोग त्रिशूल या शिवलिंग के चित्र। रामानुज-सम्प्रदाय के लोगों में इसका चलन बहुत है। द्वारका इसका प्रसिद्ध केन्द्र है। वैष्णवत्व या शैवत्व को स्थायी रूप से अपने व्यक्ति के साथ जोड़ने के लिए ही ये लोग इस प्रकार के चिह्न अंकित कराते हैं। इसी आधार पर ये मुहावरे बने हैं।

१६. **'सात तालों में बन्द करके रखना'** अति गोपनीय तथा सुरक्षित के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह मुहावरा ऋग्वेदकालीन परम्परा के आधार पर बना है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त का १५वाँ मंत्र है—

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

"(सप्तास्या०) ईश्वर ने एक-एक लोक के चारों ओर सात-सात परिधि ऊपर-ऊपर रची हैं। ब्रह्माण्ड में जितने लोक हैं, ईश्वर ने उन एक-एक के ऊपर सात-सात आवरण बनाये हैं। एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघ-मंडल का वायु, चौथा वृष्टि-जल, पाँचवाँ वृष्टि-जल के ऊपर का वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु, जिसको धनंजय कहते हैं, सातवाँ सूत्रात्मा वायु, जो कि धनंजय से भी सूक्ष्म है, ये सात परिधि कहाती है..............."[1] जेलों में भी प्रायः सात तालों में कैदियों को रखा जाता है। किन्तु सब जेलों में और सर्वथा ऐसा होता नहीं है, इसलिए हम ऋग्वेद के ऊपर दिये हुए मंत्र को ही इस मुहावरे का आधार मानेंगे।

१७. **मीन-मेख निकालना**—मुहावरे का अर्थ है किसी बात का निश्चय करने में बहुत ज्यादा सोचना-विचारना, आज कल ऐब निकालने के अर्थ में भी प्रायः इसका प्रयोग होता है।

---
१. हिन्दुत्व, पृ० ३७।

ज्योतिष-शास्त्र में मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ और मीन ये बारह क्रान्ति-वृत्त में पड़नेवाले विशिष्ट तारा-समूह माने जाते हैं। क्रान्ति-वृत्त वह काल्पनिक वृत्त है, जिसपर सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता जान पड़ता है। ज्योतिष-शास्त्र का पूरा ढाँचा ही वास्तव में इन १२ राशियों और २७ नक्षत्रों के आधार पर खड़ा हुआ है। ज्योतिषियों को इसलिए कोई भी हिसाब लगाने में मेष से लेकर मीन तक की समस्त राशियों का बार-बार हिसाब लगाना पड़ता है। हिसाब लगाते समय ज्योतिषी लोग प्रायः अंगुलियों पर राशियाँ गिना करते हैं। यह मुहावरा इसलिए उस परिस्थिति का सूचक है, जबकि फल जानने के लिए अति आतुर प्रश्न-कर्ता ज्योतिषी के गणित में देर लगाने पर ऊबकर अपने किसी साथी से कहता है, अभी तो मीन-मेष ही निकाल रहे हैं। यहाँ प्रश्नकर्त्ता मीन-मेष के महत्त्व को न समझकर उसे समय का बरबाद करना ही समझता है। राशियों के लाक्षणिक प्रयोग के और भी बहुत-से नमूने मिलते हैं—

> **मीन राशि का मीन बिछौना, वृष से रहे अघाय।**
> **मेष देख हर्षित रहे, मिथुन देखि बुझाय॥**
> **कन्या से कन्या भिड्यो, सिंही देखि अकुलन्त।**
> **बार-बार सिंही कहै, कुम्भी छोड़ो कन्त॥**

'**कन्या राशि होना**', '**नक्षत्र खराब होना**' इत्यादि मुहावरे भी ज्योतिष के आधार पर ही बने हैं।

१८. **सात जन्म में भी न कर सकना**—मुहावरे का प्रयोग असंभव के अर्थ में होता है। किसी शूद्र का ब्राह्मण हो जाना असंभव समझा जाता है। किन्तु वह भी, जैसा कि पुराणों में इस प्रकार जन्मना, और कर्म के त्याग और ग्रहण से कर्मणा, वर्ण के बदलने के अनेक उदाहरण मिलते हैं, सातवें जन्म में ब्राह्मण हो सकता है, किन्तु अमुक कार्य तो इससे भी गुरुतर है; क्योंकि वह सात जन्म के बाद भी पूर्ण नहीं हो सकता। 'याज्ञवल्क्य-संहिता' के टीकाकार विज्ञानेश्वर मिताक्षरा में लिखते हैं—

"व्यवस्था च—ब्राह्मणेन शूद्रायामुत्पादिता निषादी सा ब्राह्मणेनोढा काश्चिज्जनयति। सापि ब्राह्मणेनोढा अन्यामित्यनेन प्रकारेण पञ्चमी षष्ठं ब्राह्मणं जनयति..................."।[१]

अर्थात्, ब्राह्मण द्वारा शूद्रा से उत्पन्न कन्या निषादी यदि ब्राह्मण से ब्याही जाय और उससे भी कन्या हो और उस कन्या का फिर ब्राह्मण से विवाह हो, और उसके गर्भ से भी कन्या ही उत्पन्न हो, तो इस तरह षष्ठ कन्या सप्तम पुरुष में ब्राह्मण जन्मा सकेगी। मनुष्य का स्वभाव है कि वह किसी कार्य की गुरुता दिखाने के लिए उसे किसी जगत्प्रसिद्ध गुरुतर कार्य से भी गुरुतम बताकर कहता है। यह मुहावरा इसी आधार पर बना है।

'भात-पाँत' या 'जात-पाँत' का विचार न करना तथा 'रोटी-बेटी का व्यवहार न होना' इत्यादि मुहावरों की उत्पत्ति अति प्राचीन सामाजिक रीतियों के आधार पर हुई है। पंक्तिवाली बात बहुत पुरानी है। पुराणों और स्मृतियों में हव्य-कव्य ग्रहण के सम्बन्ध में ब्राह्मणों की एक पंक्ति में बैठने की पात्रता पर विस्तार से विचार किया गया है। मनुस्मृति में लिखा है, 'धर्मज्ञ पुरुष (हव्य) देव-कर्म्म में ब्राह्मण की उतनी जाँच न करे, किन्तु (कव्य) पितृ-कर्म्म में आचार-विचार-विद्या-कुलशील की अच्छी तरह जाँच कर ले। चोर, पतित, जुआड़ी, मांस बेचनेवाला, कोढ़ी, क्षयरोगी इत्यादि हव्य के लिए अपात्र हैं',[२] इन्हें ज्योनार की पंक्ति में नहीं बैठाना चाहिए। ये सब दोष व्यक्तिगत थे, वर्गगत नहीं।

---

१. हिन्दुत्व, पृ० ७८३।

२. मनुस्मृति, अ० ३।१४६-१५०।

१९. **'ब्राह्मण जिमाना', 'भोज करना', 'जग-ज्योनार करना', 'पाँत-बाहर करना'** इत्यादि मुहावरों की उत्पत्ति पर नीचे के अवतरण से काफी प्रकाश पड़ जायगा—

"हिन्दू-मात्र में संस्कारों के अवसर पर यज्ञ होते हैं और 'हव्य', अर्थात् यज्ञ-भाग ब्राह्मणों को भी मिलता है। यज्ञ के अन्त में ब्राह्मण-भोजन का यही अभिप्राय है। पितृ-श्राद्ध में 'कव्य', अर्थात् श्राद्ध-भाग भी ब्राह्मणों को मिलता है। श्राद्ध में भी ब्राह्मण-भोजन का यही अभिप्राय है। मनुस्मृति में हव्य से अधिक कव्य में पात्रता पर सूक्ष्म विचार की आवश्यकता बतलाई है। प्रसंग से ऐसा जान पड़ता है कि मनुस्मृति के समय तक द्विजमात्र एक दूसरे के यहाँ भोजन करते थे। विचारवान् यह देख लेते थे कि जिसके यहाँ हम भोजन करते हैं, वह स्वयं सच्चरित्र है, उसका कुल सदाचारी है और उसके यहाँ छूतवाले रोगादि तो नहीं है। जब अधिक संख्या में मनुष्य खाने बैठते थे, तब भी इन बातों का विचार होता था। पंक्ति का विचार हव्य-कव्य में ब्राह्मणों के लिए था। देखा-देखी पंक्ति का ऐसा ही नियम और वर्णों में भी चल पड़ा, जिसे अपांक्तेय या पाँत-बाहर कर देते थे, वह फिर पतित समझा जाता था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जारज, कुंड, गोलक, आदि जन्म से दुष्ट ब्राह्मण और कुसीद, वाणिज्य, कृषिकर्म, पशुपालन, दौत्य आदि कर्म से दुष्ट ब्राह्मण, अर्थात् वर्णसंकर और कर्मसंकर दोनों ही प्रकार के सांकर्य से दूषित ब्राह्मण पाँत-बाहर कर दिये जाते थे। परन्तु अनुलोम ब्राह्मण को पंक्ति-दूषकों में नहीं गिनाया है। यही अँगरेजों की प्रथा और द्विजातियों में फैल गई और सांकर्य ही उन सबमें पंक्ति-दूषण का हेतु बना। परन्तु जन्म-सांकर्य ही अधिक प्रभावशाली रहा; क्योंकि हीन वर्णों में कर्म-सांकर्य एक हद तक स्मृति-विहित था। धीरे-धीरे सवर्ण विवाह की उत्तमता संकुचित होकर छोटी-छोटी जातियों और उप-जातियों में सीमित हो गई और जाति-बाहर का विवाह दूषित समझा जाने लगा। इन छोटी सीमाओं के बाहर जाना ही पीछे से जन्म-सांकर्य हो गया और जन्म-सांकर्य के कारण जब मनुष्य पंक्ति-बाहर हुआ तो वही 'अजाति' या 'कुजात' हो गया। और, द्विजातियों में भी पंक्ति में भोजन करने के ये अवसर संस्कारों पर ही आते थे। ये ज्योनारें उन्हीं लोगों में संभव थीं, जो एक ही स्थान के रहनेवाले थे, एक ही तरह का पेशा या काम करते थे, जिनकी परस्पर नातेदारियाँ थीं। इसलिए भात-पाँत का जन्म हो गया। वही लोग जाति के भीतर समझे जाने लगे, जिनके साथ बैठकर भात खाने में हर्ज न था, उन्हीं के यहाँ विवाह-सम्बन्ध जोड़ने में सुभीता समझा गया। रोटी-बेटी के जिस विभेद से आज जाति और जाति तथा उपजाति और उपजाति में अलगा-गुजारी की भीत खड़ी दीखती है, पूर्व-काल में वर्ण-वर्ण के बीच में भी उसका नामोनिशान न था।"[1] 'हुक्का-पानी बन्द करना', 'भांजी-दाजी न होना' इत्यादि मुहावरे भी इसी प्रकार के वर्त्तमान रीति-रिवाज के आधार पर बन गये हैं।

२० **सात घाट का पानी पिये होना**—मुहावरे का प्रयोग बहुत ही चालाक आदमी के लिए होता है। इसका भावार्थ है—दुनिया को देखे हुए होना।

समस्त लोक-लोकान्तरों में स्थित सात समुद्रों की कल्पना हमारे यहाँ की जाती है। सात समुद्रों के सात घाटों का अनुभव होने का अर्थ है—समस्त लोक-लोकान्तरों का अनुभव होना, अतिशयोक्ति के आधार पर हम इसे इस मुहावरे की उत्पत्ति का कारण मान सकते हैं। किन्तु 'आर्य्यावर्त्त और सप्तसिन्धु' के प्रसंग में श्रीरामदासजी गौड़ ने इतिहास और भूगोल की दृष्टि से इनका जो विवेचन किया है, उससे प्रतीत होता है कि सारे आर्यावर्त्त में बही हुई सप्तसिन्धु नदी के सात घाटों की ओर ही इस मुहावरे में लक्ष्य किया गया है। गौड़जी का पूरा अवतरण नीचे देते हैं—

१ हिन्दुत्व, पृ० ७८६-८७।

"जिस दीर्घ काल के इतिहास और भूगोल पर हम विचार कर रहे हैं, उतनी अवधि में भूतल पर इतने उथल-पुथल हुए हैं कि किसी देश के सीमा-निर्धारण में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। मनुस्मृति-रचना के समय, कम-से-कम, आर्यावर्त्त के पूरब और पश्चिम की सीमा समुद्र थी और दक्षिण और उत्तर में पर्वतमाला थी। पर्वतमालाओं का नाम विन्ध्य और हिमालय से यह कहना कठिन है कि इन मालाओं की सीमा कहाँ तक थी। प्रसंग से तो यह स्पष्ट है कि दोनों पर्वतमालाएँ दोनों समुद्रों में समाप्त होती थीं। यदि भूतल के वर्त्तमान नक्शे पर ध्यान देते हैं, तो आर्यावर्त्त का अर्थ होता है हिमालय-पर्वतमाला के दक्षिण का वह सम्पूर्ण भाग, जिसमें अनाम, स्याम, वर्मा, आसाम, वंगाल, विहार, हिन्द-पंजाब, सिन्ध, बलूचिस्तान, अफगानिस्तान और ईरान शामिल हैं। परन्तु आर्यावर्त्त के किसी प्राचीन वर्णन में आसाम से अधिक पूरब की कोई चर्चा नहीं है। वेदों में जिन नदियों का वर्णन है, उनमें सात नदियाँ ईरान और अफगानिस्तान की सात नदियाँ पंजाब की और सात नदियाँ हिन्द-प्रांत की हैं। इन सात-सात नदियों के समूह का नाम वेदों में सप्तसिन्धु है। पूरवी सप्तसिन्धु में गंगा, जमुना आदि सात नदियाँ थीं। अतः, जहाँ गंगा समुद्र में मिलती थी, वहीं पूर्व में समुद्री सीमा हुई। परन्तु आज तो दक्षिण-वंग से बालू से पटते-पटते समुद्र दूर चला गया है। यह बात पुरातत्त्ववादी और भूगर्भशास्त्री भी मानते हैं कि किसी समय हिमालय का दक्षिण अंचल ही वंग था। उसके दक्षिण में समुद्र था, अर्थात् आर्यावर्त्त की पूरवी सीमावाला समुद्र हिमाचल और विन्ध्याचल के पूर्वीय अंचलों का स्पर्श करता था।"[1] प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के इतिहास को देखने से भी यही सिद्ध होता है कि भारतवर्ष की प्राचीन सीमा ईरान तक थी तथा सारे भारतवर्ष का भ्रमण करनेवाले व्यक्ति के लिए ही इस मुहावरे का प्रयोग होता था। पंडित कन्हैयालाल मिश्र ने अपनी 'ईराक की यात्रा' नामक पुस्तक में तो कंस को भी ईरानी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनकी दलीलें काफी गंभीर हैं। मुहावरों के आधार पर भी यदि हम आर्यावर्त्त की प्राचीन सीमा के ऊपर विचार करें, तो हमें श्रीगौड़जी और मिश्रजी के मत पर ही आना पड़ेगा। हिन्दी का एक मुहावरा है 'मूसलाधार पानी पड़ना', इसका प्रयोग प्रायः निरन्तर और बहुत जोर से वर्षा होने के लिए होता है। ईरान में एक नदी मूसल है, संभवतः इसी के किनारे यदुवंशियों का गृह-युद्ध हुआ था, जिसमें सब का नाश हो गया। महाभारत में जो कथा मिलती है, उससे इसका काफी मेल बैठ जाता है। मूसल नदी की धारा काफी मोटी और निरन्तर गिरती रहनेवाली बताई जाती है। संभवतः, ईरान से हिमालय की ओर आये हुए किसी व्यक्ति ने यहाँ की घोर वर्षा को देखकर स्वाभाविक अतिशयोक्ति के आधार पर इस उपमा का प्रयोग किया था, जो धीरे-धीरे लोक-प्रिय प्रयोग होकर मुहावरा बन गया है। घर में कूटने या छाँटने के काम में आनेवाले मूसल से इसकी समानता दिखाना उतना तर्कपूर्ण भी नहीं मालूम होता।

२१. **'एक, दो, तीन हो जाना', 'तीसरी बोली हो जाना', 'तीन हो जाना'** इत्यादि मुहावरों का प्रयोग खत्म या पूरा हो जाने से होता है। नीलाम इत्यादि के अवसर पर प्रायः इन मुहावरों का प्रयोग होता है। नीलाम करनेवाले के एक-दो-तीन कहते ही माल खरीदार का हो जाता है। तीन कहते ही बोली क्यों समाप्त हो जाती है। इसका रहस्य तीन की संख्या में अधिकांश पदार्थों का लय हो जाना ही है, तीन के बाद आगे कुछ बचता ही नहीं है। देखिए—काल, गुण, लोक (स्वर्ग, भू, मध्य), वेद, देवता (ब्रह्मा, विष्णु, महेश—कर्त्ता, भर्त्ता, हर्त्ता), देवियाँ, त्रिदोष (वात, पित्त, कफ), लिंग, वचन, नेत्र, आपदाएँ (दैविक, भौतिक, आधिभौतिक), सब तीन-ही-तीन हैं; कर्म, ज्ञान, उपासना, स्वार्थ, परार्थ, परमार्थ, ऐहिक, पारलौकिक, आध्यात्मिक,

१. हिन्दुत्व, पृ० ७७५।

उत्तम, मध्यम, अधम या निकृष्ट, तप, त्याग, ज्ञान (स्वर्ग लोक की ३ सीढ़ियाँ), वेद-पाठ, तप, ज्ञान, (३ ऋषि-कर्म), सत्यं, शिवं, सुन्दरम्, सत्, चित्, आनन्द, तन, मन, धन, मनसा, वाचा, कर्मणा, जंगम, मानस, स्थावर (३ तीर्थ), नित्य, नैमित्तिक, काम्य (३ व्रत), साहित्य, सिद्धान्त, समीक्षा, दर्शन, संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक, इंगला, पिंगला, सुषुम्ना (३ नाडियाँ), मन, बुद्धि, चित् (३ पुर) हैं; ऐं, क्लीं, ह्रीं-श्रीं (३ तान्त्रिकों के देवता), ज्ञान, इच्छा और क्रिया (३ जगत्-व्यापार), देवयान, पितृयान, तीसरी गति (मृत्यूपरान्त ३ मार्गों से आवागमन), दिव्य भाव (उत्तम), वीरभाव (मध्यम), पशुभाव (अधम) [३ भाव], गोल चक्राकार, कुंडल्याकार, तरंगाकार (तीन प्रकार की गति), वस्तु, देश, काल (अनात्मसत्ता), चित्, अचित् और ईश्वर (आस्तिक वेदान्ती की सत्ता), ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत (३ मात्राएँ), ज्ञाता, ज्ञेयक ज्ञान, ध्याता, ध्येय ध्यान, इत्यादि, स्थूल, सूक्ष्म, कारण (३ देह), विश्व, तैजस, प्राज्ञ (उनके देहों के अभिभावी), जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति (३ अवस्थाएँ), अभिधा, लक्षणा, व्यंजना (३ शब्द-शक्तियाँ), धर्म-काय, सम्भोग-काय, निर्माण-काय (बौद्ध त्रिकाय), मन, बुद्धि, अहंकार (अन्तःकरणत्रय), माता भगिनी, पत्नी (स्त्री के तीन रूप) इत्यादि के सिवा अनुमान, प्रत्यक्ष और अनुभव के साथ ही इस्लाम में पाशविकता, अशिष्टता और मूढता ये तीन शाखाएँ मानी गई हैं। भगवान् विष्णु ने तीन ही पग में सारी पृथ्वी का चक्कर लगा लिया था, धन्वन्तरि ने 'अच्युतानन्तगोविन्द' तीन नाम के इस महामन्त्र को समस्त रोगों को हरनेवाला कहा है—

अच्युतानन्तगोविन्द नामोच्चारणभेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

गायत्री के पाद भी तीन ही हैं और इस मूल कारणभूत बिन्दु से पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी रूप त्रिपुटी के द्वारा ही इस त्रिकोणात्मक शब्द-सृष्टि की भी अभिव्यक्ति होती है। इन सब के अतिरिक्त तीन यज्ञ, तीन ऋण इत्यादि मानव-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले और भी कितने ही पदार्थ हैं, जिनके आधार पर एक, दो, तीन में सब कुछ समाप्त हो जाने की कल्पना की गई है। आजकल प्रायः किसी को भगाने के लिए भी इस मुहावरे का प्रयोग होता है। अच्छा अब आप यहाँ से एक, दो, तीन हो जाइए।

२२. **'गाँठ बाँधना', 'गिरह बाँधना', 'गिरह पड़ना', गाँठ पल्ले बाँधना'** इत्यादि मुहावरे लिपि बनने के पूर्व किसी संख्या, वस्तु या घटना को याद रखने या दूसरों को बताने के जो तरीके उस समय प्रचलित थे, उनके आधार पर बने हैं। मार्च, सन् १९४३ ई० के विशाल भारत (पृष्ठ २१४, २१५) में चीनी-लिपि पर लिखते हुए श्रीकृष्णकिंकरसिंह ने यही बताया है—"यह बात तो सर्वमान्य है कि अति प्राचीन काल में कोई लिपि नहीं थी और उस काल के निवासी अपनी आवश्यकताओं को इशारों तथा निशानों आदि को व्यक्त कर पूरा करते थे। चीनी-भाषा में इस प्रकार के इशारे का जो सबसे पहिला उल्लेख मिलता है, वह है—रस्सी में गिरह देकर दूसरों को समझाने की बात का। चीनी-भाषा का एक वाक्य 'शांग कुचिअशांग' इसी बात का द्योतक है कि अति प्राचीन काल में किसी चीज की याददाश्त के लिए रस्सी में गाँठ देते थे। प्राचीन काल में यह प्रथा केवल चीन में ही नहीं, बल्कि दक्षिणी अमेरिका के सबसे प्राचीन सभ्य देश पेरु में और दक्षिणी समुद्र के द्वीप-निवासियों में भी प्रचलित थी। यूनानी इतिहासज्ञ हैरोडाटस ने भी अपने इतिहास में फारस के सम्राट् डेरियस के रस्सी में गिरह देकर आज्ञा याद रखने की बातों का जिक्र किया है। चीन की प्राचीन काल की किताबों में रस्सी में गिरह देकर याद रखने की बातों का कई जगहों पर उल्लेख मिलता है। लाओत्जे नामक

चीनी महात्मा ने अपनी किताब 'तौतेचिन्' में एक जगह लिखा है—"आदमियों के बीच रस्सी में गिरह देकर याददाश्त की प्राचीन प्रथा पर आने तथा (लिखने की जगह) उसे व्यवहार करने को कहो।" च्वांगत्जु कहता है—"शेननुंग (चीन के पौराणिक काल का एक राजा) के समय सभी राजाओं के यहाँ रस्सी में गिरह देनेवाली प्रथा प्रचलित थी। यद्यपि इस प्रथा का चीनी-लिपि से कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी यह पुराने आदमियों के अपने भावों और विचारों को मूर्त्त रूप देने के प्रयास का प्रमाण है।"

हमारे यहाँ तो आज भी वर्षगाँठ या सालगिरह के उत्सव पर रस्सी में गाँठ लगाकर किसी व्यक्ति की आयु का हिसाब रखा जाता है।

२३. **गठ-बन्धन होना**—मुहावरा विवाह के समय वर-वधू के गठ-बन्धन की जिस प्रथा के आधार पर बना है, वह प्रथा भी वर और वधू के आध्यात्मिक बन्धन को मूर्त्त रूप में व्यक्त करने की ही एक विधि थी। लकीर खिंचना, रेख मिटना, लकीरें खींचना, लकीर करना इत्यादि मुहावरे भी उसी समय की याद दिलाते हैं। आज भी देहातों में लकड़ी, नाज या शीरा इत्यादि तौलते समय इस प्रकार लकीरें खींचकर अपना हिसाब-किताब रखते हैं।

२४. **काठ मार जाना**[1] मुहावरे की उत्पत्ति काठ नाम के शस्त्र के आधार पर हुई है। इस शस्त्र का वर्णन महाभारत में कई स्थलों पर आया है। भगवान् कृष्ण स्वयं महाराज युधिष्ठिर को भयंकर यम-यातना का वर्णन सुनाते हुए कहते हैं,···'धर्महीन पुरुषों को काठ, पत्थर, शिला, डंडे जलती लकड़ी, चाबुक और अंकुश की मार खाते हुए यमपुरी को जाना पड़ता है···', और भी··· 'जो दुरात्मा और पापाचारी मनुष्य बलपूर्वक दूसरों की गौ, अनाज, सोना, खेत और गृह आदि को हड़प लेते हैं, वे यमलोक में जाते समय यमदूतों के हाथ से पत्थर, जलती हुई लकड़ी, डंडे, काठ और काँटेदार शस्त्रों की मार खाते हैं तथा उनके समस्त अंगों में घाव हो जाता है······।'[2] और भी, नारायण ने प्रसन्न होकर नारद को अपना जो विश्व-रूप दिखाया, उसके वर्णन में 'दंड-काष्ठ' का जिक्र है, 'प्रभु के स्वरूप में भिन्न-भिन्न रंगों की छटा थी। नेत्र-हस्त-पादादि सहस्र थे। वह विराट् स्वरूप का परमात्मा ओंकार-युक्त सावित्री का जप करता था। उस जितेन्द्रिय हरि के अन्य मुखों से चारों वेद, वेदांग और आरण्यकों का घोष हो रहा था। उस यज्ञरूपी देव के हाथ में वेदि, कमंडल, शुभ्रमणि, उपानह, कुश, अजिन, दंड-काष्ठ और ज्वलित अग्नि थे।'—ऊपर के अवतरणों से काष्ठ की भयंकरता का पता मिल जाता है। इसी आधार पर यह मुहावरा बना है।

२५. **'जूठन खाना', 'जूठा करना', 'जूठन देना', 'जूठा-कूठा खाना', 'जूठ-कूठ खाना', 'जूठे हाथ से', 'जूठा बरतन', 'जूठन खाकर रहना', 'जूठन-कूठन खाना', 'जूठे टुकड़ों पर रहना', 'जूठ खाकर पलना'** इत्यादि-इत्यादि इस प्रकार के समस्त मुहावरों का प्रयोग प्रायः किसी व्यक्ति की हीनावस्था की ओर व्यंग्य करने में ही होता है। इन मुहावरों का मूल आधार वास्तव में 'अत्रि-स्मृति' और 'आपस्तम्ब-स्मृति' इत्यादि स्मृतियों में जूठा आदि खाने को एक बड़ा हीन कर्म मानकर उनके लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था करना ही है।

२६. **बैल होना या बामन के बैल होना** इत्यादि मुहावरों की उत्पत्ति पौराणिक कथा के आधार पर हुई है। अनन्त भगवान् ने कोदंड नामक ब्राह्मण को इसका रहस्य बताते हुए कहा था कि जो धर्मात्मा पुरुष दूसरों को धर्म की रीति नहीं बताता, बैल है।

२७. **'त्रिशंकु की तरह लटकना', 'सत्य की सीता होना', 'सत्य हरिश्चन्द्र के अवतार होना', 'चंगेज खाँ और हलाकू खाँ होना', 'टेढ़ी खीर होना'** इत्यादि बहुत-से मुहावरे भिन्न-भिन्न कथा और कहानियों के आधार पर बन गये हैं।

---

१. कुछ लोग जादू के खेल से भी इसकी उत्पत्ति मानते हैं।

२. 'कल्याण'-महाभारतांक, पृ० १७१४-१५।

२८. नौ दो ग्यारह होना—मुहावरे का प्रयोग अलग-अलग हो जाने के अर्थ में होता है। इसमें गणितज्ञ की सूझ और संख्याओं के चमत्कार के अतिरिक्त और कोई साहित्यिक रहस्य नहीं है। ९ इकाई की सबसे बड़ी संख्या है, उसमें २ और जोड़ देने से ११ हो जाते हैं। यहाँ ११ की संख्या में उसकी शक्ति को न लेकर उसके हिंदसों की स्थिति पर विशेष लक्ष्य किया गया है। ११ में इकाई और दहाई दोनों स्थानों पर एक-एक है। कहने का तात्पर्य है कि संख्या के बढ़ने पर भी उसको बनानेवाले हिंदसे अलग-अलग और सबसे छोटे, अर्थात् एक-एक हैं। इस मुहावरे का प्रयोग भी इसी अधार पर इसलिए भौतिक रूप में अलग-अलग हो जाने के लिए होता है, शक्ति की दृष्टि से छिन्न-भिन्न होने के अर्थ में नहीं। इसके अतिरिक्त 'तीन तेरह करना', या 'तेरह तीन करना', 'तीन पाँच करना', 'तिया पाँचा करना', 'सात पाँच की लकड़ी होना', 'चौरासी के चक्कर में पड़ना', 'तीन में न तेरह में' इत्यादि-इत्यादि मुहावरों के देखने से लगता है कि शायद इनका संबंध भी शुद्ध गणित से हो, किन्तु वास्तव में ये सब हिन्दू-संस्कारों की विशेष-विशेष तिथियों अथवा अवधियों के आधार पर बने हैं।

२९. 'बुद-बुद होना', 'सनसनाहट फैलाना', 'चूँ-चूँ करना', 'साँय-साँय करना', 'भिन-भिनाना', 'काँव-काँव करना', 'अंगूठा दिखाना', 'नैन मटकाना', 'दीदे चमकाना', हाथ नचाना', 'नाक-भौं सिकोड़ना', 'उँ-आँ करना', 'सी-सी करना', 'हूँ-हूँ करना' इत्यादि-इत्यादि बहुत-से मुहावरे प्राकृतिक पदार्थों के घर्षण अथवा पशु-पक्षियों की ध्वनियों तथा मनुष्य के हाव-भाव, शारीरिक संकेत और स्वाभाविक स्पष्ट ध्वनियों के अनुकरण के आधार पर बने हैं। अनुकरण से हमारा अभिप्राय किसी ध्वनि की जड़, निष्प्राण और निष्क्रिय प्रतिध्वनि से नहीं, बल्कि एक चेतनायुक्त समझदार व्यक्ति पर उसकी जो छाप पड़ती है, जिसे बाद में वह अपनी वाक्-तंत्रियों के अनुकूल ध्वनि में व्यक्त करता है, उससे है। 'काँव-काँव' कौवे की बोली का ही अनुकरण है।

३०. 'सफरमैना की पलटन होना', 'लिबडी बरताना', 'गुदाम बना देना', 'बेहरागीरी करना' इत्यादि-इत्यादि बहुत-से मुहावरे विदेशी मुहावरों की ध्वनि के अनुकरण पर बनाये गये हैं। वास्तव में अँगरेजी, जर्मन या फ्रेंच न जाननेवाले किसी व्यक्ति के लिए उन भाषाओं की स्पष्ट ध्वनियों का भी उसकी अपनी अस्पष्ट ध्वनियों से अधिक कोई महत्त्व नहीं है। वह उनका अर्थ तो समझ लेता है, किन्तु उच्चारण के लिए अस्पष्ट ध्वनियों के अनुसार उसके मन पर उनकी जो छाप रह जाती है, अपनी वाक्-तंत्रियों के अनुकूल उन्हें व्यक्त करता है। 'साईपरस् और माईनरस्' का सफरमैना अथवा 'लिबर्टी और बेटन' का लिबडी बरताना हो जाना इसलिए स्वभाविक ही है।

३१. किसी वस्तु व्यक्ति घटना अथवा स्थान की विशेषता को लेकर भी कभी-कभी कुछ मुहावरे बन जाते हैं। 'ओलिम्पिक का खिलाड़ी होना', 'चन्द्रोदय देना', 'शिखंडी होना', 'तारा टूटना', 'दिल्ली दूर होना' इत्यादि इसी प्रकार के मुहावरे हैं। सन् ७७६ ई० पूर्व ग्रीस में एक विशेष जातीय उत्सव का प्रारम्भ हुआ, जिसके कारण इनमें कुछ एकसूत्रता आने लगी। यह उत्सव चतुर्वार्षिक खेल-प्रतियोगिता का था। इसमें न केवल सारे ग्रीस के ही, बल्कि विदेशों के खिलाड़ी भी भाग लेते थे। ओलिम्पिया का नगर इसका केन्द्र बना, जिसके आधार पर 'ओलिम्पिक खेल' वाक्य-खंड बना। इस वाक्य-खंड का आज प्रायः सर्वत्र किसी भी प्रकार की केंद्रीय खेल-प्रतियोगिता के अर्थ में प्रयोग होता है।[1]

हिन्दी-मुहावरों की संख्या जिस प्रकार अपरिमित है, उसी प्रकार उनकी उत्पत्ति और विकास के क्षेत्र भी असंख्य हैं। पहिले भी जैसा कहा गया है, इनमें से बहुतों के मूल आधार का तो पता चलाना ही असंभव है, फिर जिनका और जितनों का आसानी से पता चल भी सकता है, थीसिस के इस संकुचित क्षेत्र में उन सबको देना उनका दम घोटना होगा। अतएव, नमूने के

१. पृथ्वी का इतिहास, पृ० ६९-७०, सरस्वती-सिरीज।

तौर पर कुछ मुहावरों की उत्पत्ति और विकास का पूरा ब्योरा देने के उपरान्त अब हम साधारण व्यवसायों, खेल-तमाशों, कला-कौशल तथा शारीरिक अवयवों से आये हुए मुहावरों को लेकर उनके संक्षिप्त वर्गीकरण और विश्लेषण के द्वारा मुहावरों के आविर्भाव पर विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'वर्ड्स एण्ड इडियम्स' में अँगरेजी-मुहावरों के आविर्भाव पर प्रकाश डालने के लिए इसी प्रणाली का अनुसरण किया है।

कोई देश जितना ही अधिक सभ्य और संस्कृत होता है, उसकी भाषा उतनी ही अधिक परिमार्जित, सरल और मुहावरेदार होती है। फिर, शब्द और मुहावरों का जैसा लौके (Locke) ने कहा है, अपने में कोई अर्थ नहीं होता। वे तो जनसाधारण की विशिष्ट विचार-धारा के आश्रित रहते हैं। आलंकारिक भाषा में इसी बात को यों कह सकते हैं कि वे सफेद शीशे की बोतलों जैसे होते हैं, जिस रंग का पानी भर दीजिए, उस रंग के बन जाते हैं। मुहावरों का प्राण तो इसलिए विचार है। जैसी हमारी विचार-धारा होगी, वैसी ही हमारे शब्द और मुहावरों के प्रयोग। भारतीय सभ्यता चूँकि आदि सभ्यता है, उसके निवासियों की विचार-धारा पर इसलिए उसकी गहरी छाप होना स्वाभाविक ही है। विचारों के अनुरूप इसलिए भारतीय भाषाओं के अधिकांश मुहावरों का आविर्भाव यद्यपि प्राचीन रीति-रिवाज; सामाजिक कर्म-काण्ड और पौराणिक कथाओं इत्यादि के आधार पर हुआ है, तथापि ऐसे मुहावरों की भी उनमें और विशेष रूप से हिन्दी में कमी नहीं है, जिनकी उत्पत्ति भिन्न-भिन्न वस्तुओं, व्यापारों और प्राणियों के अवयव, रूप, रंग और कार्य इत्यादि के आधार पर हुई है। प्रस्तुत विषय के विशेष स्पष्टीकरण के लिए ऐसे प्रत्येक वर्ग के थोड़े-बहुत नमूने नीचे देते हैं।

मुहावरों का वर्गीकरण

"मुहावरों के अन्तर्गत" मेकमार्डी लिखता है, "हम विशेष शब्दों के विलक्षण प्रयोग भी जोड़ लेते हैं, विशेष वाक्यांश या उक्तियाँ जो दीर्घ काल से प्रयुक्त होने के कारण अँगरेजी में रूढ़ हो गये हैं, वे भी मुहावरों के ही अन्तर्गत आते हैं।"[1] अँगरेजों की तरह हिन्दी में भी ऐसे विलक्षण अथवा रूढ़ प्रयोगों को मुहावरे के ही अन्तर्गत मानना चाहिए।

अ

समुद्र तथा समुद्र-सम्बन्धी अन्य व्यापारों एवं सामुद्रिक जीव-जन्तुओं और अन्य पदार्थों के आधार पर बननेवाले मुहावरे :

१. स्पष्टतया सामुद्रिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरे—

अथाह में पड़ना, अगम पानी होना, अथाह की थाह लेना, उतार पर होना, उलटी गंगा बहाना या बहना, उछाला लेना, किनारा काटना, किनारे लगाना, किनारे करना, किनारे होना, किनारे बैठना, किनारे रहना, किनारे न लगना, किनारे-किनारे चलना, कोरी धार या बाढ़, किसी घाट लगना, गले-गले पानी में गोता लगाना, गोता देना, गोता खाना, गोता मारना, घटाव पर होना, घाट धरना, घाट-कुघाट फिरना, घाट में आना, घाट-घाट, घाट मारना, घाट लगना, घाट-घाट का पानी पीना, घाट-कुघाट, चुल्लू में समुद्र न समाना, चँवल लगना, जहाज का कौआ, काग या पक्षी, जहाज डूबना, जहाज का जहाज होना, डुबकी देना, डुबकी मारना या लगाना, डुबकी खाना, डूब मरना, डूबना-उतराना, डूबते को थाह मिलना, डूबने को जगह न होना, डूबते को तिनके का सहारा मिलना, डाँड़ मारना, तटस्थ होना या रहना, थाह लेना, थाह लगना, थाह न मिलना, थल बेड़ा लगना या लगाना, दलदल में फँसना, दो नावों पर पैर रखना, धार देना, धार टूटना, धार-धार होना, धर्म का बेड़ा पार होना, नदी-नाव संयोग, एक ही नाव में होना, नाव पार

---
१. इंगलिश इडियम्स, पृ० १३—१६, मेकमार्डी।

लगा देना, नाव में धूल उड़ाना, नमक की पुतली से समुद्र नापना, पानी का बुलबुला, पानी काटना, पानी टूटना, पानी में आग लगाना, पार लगना, पार करना, पानी पर नींव होना, पार न पाना, पानी में बहाना, परली पार होना, पानी निकालना, पानी उतरना, पानी के रेले में बहना या बहाना, पानी की लहरें गिनना, पानी-पानी होना, पानी फिरना या फिर जाना, पानी पीटना, पानी बाँधना, पानी तोड़ना, पानी की लकीर, पानी पर लिखना, पत्थर की नाव पर सवार होना, पानी सिर से ऊँचा होना, बाँसों पानी होना, बेड़ा पार करना या लगाना, बेड़ा डूबना, बेड़ा पार होना, बेड़ा पार लगना, बेड़ा बाँधना, बाढ़ पर चढ़ना, बाढ़ पर होना, भँवर में पड़ना या फँसना, मँझधार में छोड़ना, मँझधार में पड़ना, मौज आना, मौज में आना, मौजें मारना, रेला आना या होना, लहर आना, लहासी काटना, लहर-लहर, लहरों में आना, लहरें उठना, लंगर डालना, लंगर उठाना, ले डूबना, लासा लगना, सिर से पानी गुजरना।

२ समुद्र, तालाब या नदी से सम्बन्ध रखनेवाले स्पष्ट या अस्पष्ट मुहावरे—

अक्ल गादली होना, आपे में न रहना, आपे से बाहर होना, आ लगना, आर-पार, ओना लगना, उतार-चढ़ाव बताना, उभार लेना, उल्ला-पल्ला करना, उछाला लेना, उछल-कूद मचाना, उछल-उछल पड़ना, गंगा पार करना, गंगा दुहाई, गंगा-लाभ होना, गंगा नहा जाना, गहरे देखकर डूब मरना, गहरे में होना, गड़प से, गंदा पानी निकालना, गहरा हाथ मारना, गरीब की नस भारी होना, गट्ट करना, घर डूबना या डुबोना, घपची बाँधकर पानी में कूदना, चुल्लू-भर पानी में डूब मरना, चपनी-भर पानी में डूब मरना, छीछालेदर उड़ाना या करना, छेद ढूँढना या निकालना, छप्पर के छप्पर उलटना, जमीन पकड़ना, जमीन पर चढ़ना, जमीन दीखना, जमीन पैरों तले से निकलना, जल-थल एक होना, जंजाल में पड़ना या फँसना, जोड़े में मुँह धो आना, टप-टप होना, टक्कर लेना, ठिकाने पहुँचना, ठौर-कुठौर, ठौर न मिलना कहीं, डग-डग हालना, डाँवाडोल होना, डूब जाना, डूबा नाम उछालना, ढेला का मुँह होना, तह तोड़ना, तह तक पहुँचना, थलर-थलर करना, थर-थरी छूटना, दिल का कँवल खिलना, दरकिनार रहना, पानी में धँसना, नाम व निशान मिट जाना, नाम डूबना या डुबाना, निघर घट होना, निघर घट देना, मुक्का मारना या लगाना, पतला पड़ना, पाँव गाड़ना, पाँव फिसलना, पानी से क्या पतला, पुल टूटना, पाँव डालना, पाँव ठहरना, पानी होकर बह जाना, पार करना नाव इत्यादि, पानी फूटना, पानी थामना, पानी का हगा मुँह में आना, पानी की तरह बहाना, पानी हो जाना, पानी-पानी होना, पानी की पोट होना, फिसल जाना, फैला-फैला फिरना, फूट निकलना, फुसलाने में आना, बारह पानी का, बहता पानी, बह चलना या जाना, बात डुबो देना, बहा-बहा फिरना, बहती नदी में पाँव पखारना, बहती गंगा में हाथ धोना, बहता हुआ जोड़ा भँवर में पड़ना, वार-पार, रास्ते पर आना, खट्टा मारना या लगाना, सूखे में पानी में डूबना, स्टीम भरना, हिलकोरे लेना, तारीफ के पुल बाँधना, तरारा माटना, तीरघाट के मीरघाट।

३. कुएँ या स्वच्छ पानी तथा भूमि से सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरे—

अँगोछा पानी होना, आव-आव चिल्लाना, आग-पानी का बैर, कच्चा पानी, कुआँ या कुएँ झाँकना, कुआँ चलाना, कुआँ खोदना, कुएँ में बाँस पड़ना, कुएँ में डाल देना, कुएँ में गिरना, कुएँ में भाँग पड़ना, कुएँ की मिट्टी कुएँ, कुएँ में बोलना, इधर कुआँ उधर में लगना, खारा पानी, खाई होना, कुआँ होना (पेट में), खाक छानते फिरना, खाँड घुलना (कुएँ में), खेह खाना, गड्हा पाटना या भरना, खाक फाँकना, गड्हे में पड़ना, घूँट-घूँट करके पीना, गड्हा खोदना, घूँट-सी भर जाना, घड़ा भरना (पाप का), घूँट भरना, घड़ों पानी पड़ जाना, सूखे-सूखे में, घर-घाट मालूम होना, रास्ते खराब होना, सौ सौ घड़े पानी पड़ना, सूखे में नाव नहीं चलती, साथ पुरवना, डग-डगाकर पानी पीना, चेहरे पर धूल बरसना, जमीन नापना, नीर ढल जाना,

नरम पानी, नहर काटना या खोदना, नेकी कर कुएँ या नदी में डाल, दम सूखना, नहाते बाल न खिसना, पानी पर मलाई जमाना, पानी दम करना, पानी फेरना या फेर देना, पानी पी कर जाति पूछना, पानी देना, पानी माँग जाना, पानी डकोसना, पानी की ढुकास लगना, पानी पड़ा, पानी छानना, पानी के मोल बहाना, पानी की धोंकनी लगना, पानी पी-पीकर, पानी दिखाना, पक्का पानी, पुरवट नाधना, पानी चलाना, पानी लेना, पानी लगना, पानी न माँगना, पानी भरना, पानी-पानी करना, पानी बरसने से पहिले, पानी का बतासा, पत्थर पानी होना, घड़े फोड़ना, बूँद-बूँद-से घड़ा भरना, बेपानी करना, पानी मरना, भारी पानी, बूँद भर, पानी चढ़ाना, मुँहा-मुँह भरा होना, मुँह में पानी आना, पानी से पहिले पुल, पाड या बाँध बाँधना, मुँह पर पानी फिर जाना, बालू की भीत, भभके का पानी।

४. जल-जन्तु तथा उनके शिकार और जल में उत्पन्न होनेवाले अन्य पदार्थों से सम्बन्धित मुहावरे—

केकड़े की चाल होना, कूपमंडूक होना, ताल का मेढक, काँटा मारना, काँटे में आना, कमल खिलना, कमल के पत्ते की तरह पानी से अलग रहना, कमल का-सा फूल होना, झख मारना, झखी होना, जाल डालना या फेंकना, जाल मारना, जाल फैलाना या बिछाना, जाल में फँसाना या जाल में फँसना, जाल फैला हुआ होना, जोंक होकर लिपटना या चिमटना, जल तुरई, एक टाँग से खड़े होना, जोंक की तरह होना, डोर मजबूत होना, डोर भरना, डोर देना, डोर में होना, डोर में आना, डोरी लगना, डोरी ढीली छोड़ना, डोरी खींचना, डोरा डालना, डोरे छोड़ना, डोरे डालना, ढील देना या छोड़ना, पत्थर को जोंक लगाना, बगला-भक्त होना, बगले के-से पर होना, मल्लाही काँटा, मच्छी मारना, मछली देखना, मछली का शिकार, बिना जल की मछली, मच्छिया जाना, मच्छी फँसना (बड़ी), मगरमच्छ होना, मोती चुगना, मोती से टाँकना, मोती पिरोना, मोती-सा होना, रस्सी ढीली छोड़ना, शिस्त बाँधना, सिंगाड़े काटना।

५ इसी वर्ग के कुछ फुटकर मुहावरे (बोल-चाल में चलनेवाले)—

पिता तो मछली को भी होता है, भिगो-भिगोकर मारना, गंगा और मदार का साथ, सैकड़ों कुँओं का पानी पीना, पाताल से प्यासे आना, भैंसिया जोंक होना, अंधे कुएँ में ढकेलना... (आजाद कथा), झंडा नीचा करना, टक्करें खाना, समुद्री पेशा होना, हवा मुआफिक होना, नावें खोलना, बन्दरगाह छूना, हवा खिलाफ होना, पानी उलीचना, डाँड़ डाल देना, कुतुबनुमा घुमाना, तूफान में फँसना······इत्यादि इत्यादि।

आ

जंगली अथवा पालतू पशु, पक्षी और कीड़े-मकोड़ों, उनकी क्रियाओं तथा शिकार और खेती-बारी इत्यादि से सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरों के साधनों का विश्लेषण :

हमारा देश आरंभ से ही कृषि-प्रधान रहा है। एक कृषक का जीवन जितना अपने झोंपड़े में बीतता है, उससे कहीं अधिक जंगल में उसे रहना पड़ता है! इसलिए अपने घर के पालतू पशु-पक्षियों से उसकी जितनी पहिचान होती है, उतनी ही जंगल के खूँखार जानवरों, पक्षियों और कीट-पतंगों तथा सर्दी-गर्मी और धूप-छाँह की उसे परख होती है। पुरवा-पछवा हवा ही मौसम का ज्ञान करानेवाला उसका बैरोमीटर, ध्रुवतारा कुतुबनुमा तथा शुक्र, मंगल और सप्त ऋषि आदि आकाश के अन्य ग्रह ही उसकी प्रकृति-प्रदत्त घड़ी होती है। संक्षेप में प्रकृति के चप्पे-चप्पे का हिसाब उसकी जबान पर रहता है। यही कारण है कि हमारी भाषा में पशु-पक्षी, कीट-पतंग, खेती-बारी तथा ग्रह-नक्षत्र इत्यादि से सम्बन्ध रखनेवाले इतने अधिक मुहावरे

अबतक सुरक्षित हैं। स्थानाभाव के कारण इस प्रसंग में भी हम नमूने के तौर पर प्रत्येक वर्ग के कुछ चुने हुए मुहावरे हीं यहाँ देंगे।

१. गाय, भैंस, घोड़ा, गधा, हाथी इत्यादि घरेलू जानवरों तथा गाड़ी, इक्का, टाँगा इत्यादि वाहनों से सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरे—

अंड़ुए बैल की तरह, अंड़ुए बछड़े होना, अरई (आर) लगाना, अंकुश देना, होना या रहना, अक्ल चरने जाना, ऐबदारी करना, एकटक आशा देखना, एक लकड़ी से सबको हाँकना, कुत्ता होना, कुत्ते भोंकना, कुत्ता काटना, कुत्ते की मौत मरना या मारना, काट खाने को दौड़ना, कान फड़फड़ाना, कान न हिलाना, कंधा डालना, कंधे पर जुआ रखना, खूँटा तुड़ाना, खूँटा उखाड़ना, खूँटे के बल कूदना, खूँटा गाड़ना, आँख खोलना (कुत्ते या बिल्ली के बच्चों का) आवाज पर लगना, अक्ल के पीछे लट्ठ लिये फिरना, खूँटा गाड़कर बैठना, खस्सी करना या होना, खीर चटाना (बछड़े-बछिया को), खेप ढोना, ले जाना या करना, खुशामदी टट्टू होना, खाने के दाँत और दिखाने के और, गधे पर झूल पड़ना, गदहे का हल चलना, गदहा कहीं का, गाय होना, गऊ-दान होना, गहरेबाजी करना, गले में जंजीर पड़ना, गाय की तरह काँपना, गुड़ गोबर कर देना, गोबर करना, गोबर-गणेश होना, घोड़ा डालना, घोड़ा फेंकना, घोड़ा बेचकर सोना, घोड़े को क्या घर दूर, घास खाना, घोड़े पर चढ़े आना, घोड़े दौड़ाना (अक्ल के), चलती गाड़ी में रोड़ा अटकाना, चरबी छाना, चढ़ा-उतरी करना, चलती का नाम गाड़ी होना, चूमना-चाटना, चूमा-चाटी करना, चाटा-चूटी करना, पीटकर ठीक करना, चाट-पोंछकर खाना, चाल दिखाना, चाल पर लाना, जंजीर डालना, ज़बान में लगाम न होना, टट्टू भड़काना, टट्टू पार होना, टाँग उठाकर मूतना, टिटकारते हुए लाना, टिटकारी पर चलना, टिटकारी पर लगना, टँगड़ी देना, डाल जाना, तले बच्चा होना, तुर्रा चढ़ाना या जमाना, तेली का बैल, तोड़े डालना, तोड़े देना, थन लटकना, थान का सच्चा, थान में आना, अच्छे थान का घोड़ा। दहलीज का कुत्ता, दुम हिलाना, दबे पाँव निकल जाना, दुम में खटखटा होना, दुम हिलाकर बैठना, दुलत्ती फेंकना, दुख फैलना, दूध पिलाना, दूध निकालना, दुधारू गाय होना, दूध देनेवाली गाय, दाँत देखना, धन-धान्य (गोधन), धँगना देना या बाँधना, धाँग देना (घोड़े-गधे), धार निकालना, नकतोड़े तोड़ना या उठाना, नकेल हाथ रहना, नखास की घोड़ी, नमदा कसना, नम्बर दागना या लगाना, नाथ डालना या पड़ना, नाथ पकड़कर नाथना, नाक में नकेल करना, पहलवान होना, पट्टा तोड़ना या तुड़ाना, पट्टा डालकर रखना, पीठ लगाना, पीठ का कच्चा, पीठ पर लादना, पैर छाँदना-बाँधना, बन्दर को भाँग या पान देना, बन्दर को सीख देना, बदल जाना पशुओं का, बच्चा देना, बधिया करना, बधिया या बधिया-सी बैठ जाना, बछिया के ताऊ, उजेड़ा बछड़ा होना, बाग ढीली करना, बागडोर हाथ में होना, बे-लगाम होना, बैल का मुँह होना, बैल कहीं का, बैल जोड़ना, भाड़े का टट्टू, भाड़े का गदहा, भीगी बिल्ली होना, भेड़ा-चाल होना, भेड़िया-धसान होना, भेड़-बकरी समझना, भैंस काटना, अन्धा भैंसा होना, भैंसा-गाड़ी होना, भौं-भौं करना, भौंकना, भौंकने दो, म्याँव-म्याँव करना, म्याँव का ठौर होना, मंजिल के लगे हुए होना, मंजिल पार करना, मिमियाते फिरना, मुँह का कच्चा होना, मुँह में लगाम देना, मुँहजोरी करना, मैं के गले पर छुरी, रस्से तुड़ाना, रस्सा डालना, रंग-ढंग देखना, रकाब से पैर निकालना, रकाब पर पैर रखना या रकाब होना, रास्ते का कुत्ता, रथ-घोड़े, लगाम लिये फिरना, लंग करना, सराय का कुत्ता, सरपट दौड़ना, फेंकना या डालना, स्थन पीना-पिलाना, साँड़ की तरह घूमना, साँधा करना, सींग निकलना, सींग समाना, सिर पर सींग होना, सींग कटाकर बछड़ों में मिलना, सिर पर मिट्टी डालना, सूद के घोड़े दौड़ाना, हाथी झूमना (दरवाजे पर), हाथी के पैर में सबका पैर, हाथी का हाथी होना।

कुछ फुटकर प्रयोग—घोड़ा वम की तरफ जाता है, पहिले दिन बिल्ली को मारना, बावले कुत्ते का काटना, दबे पैर बिल्ली का चूहे से कान काटना, बकरा चढ़ाना, कुत्ते की दुम टेढ़ी ही निकलना, हाथी लेटेगा भी तो कहाँ तक, गधे के सिर से सींग जाना, जुगाली करना, मेल खाना, ऊटपटाँग ऊँट पर टाँग इत्यादि।

२. शेर, चीते आदि जंगली जानवरों, उनके जातिगत स्वभाव, तथा शिकार, शिकारी और उन्हें हलाल करनेवाले लोगों तथा उनके व्यवसाय और व्यवसाय-सम्बन्धी क्रियाओं के आधार पर निर्मित मुहावरे—

आँखों में धूल झोंकना, भेड़िया ऐसा करता है, अंधा करना, कलेजा खाना, कलेजा निकालना, काट खाने को दौड़ना, खेदा होना, खेद-खेदकर मारना, गले पर छुरी फेरना, गला रेतना, गीदड़-भभकी होना, गुर्रा देना, घात लगाना, घात में बैठना, घातें बताना, घेर-घेर मारना, चंगुल में फँसना, चौकड़ी भरना, चौकडी भुला देना, चौकड़ी भूल जाना, छल-छंदों फन्दों से दूर रहना, छुरी तेज करना या फेरना, जकड़बंद होना या करना, जान बचाकर भागना, जिवह करना, झंप छँलाँग उछाल देना, झुण्ड के झुण्ड, झाड़-झंकाड़ होना, टट्टी के आड़ में शिकार खेलना, टट्टी निकल पड़ना, टोह लेना, टोह में रहना, टाँग लेना, टाँग झाड़ना, ठट के ठट, डाढ़ को खून लगना, तलवा या तलवे चाटना, तेवर पहचानना, त्योरी वदलना, थूथनी फुलाना या फैलाना, थुड़ी-थुड़ी करना, दबे पाँव चलना, दम चुराना, दाँत चाटना या तेज करना, धोखे की टट्टी, नथना या नथने फूलना, नील गाय का शिकार होना, नशा हिरन होना, पंजे में करना या पड़ना, पंजे से निकलना, पंजा मारना, फाड़ खाने को दौड़ना, फँदा देना या लगाना, फंदा कटना या काटना, फिराक में फिरना या रहना, फाँस लाना, फेर में आना या पड़ना, विदक जाना, विफर जाना, बिल ढूँढ़ने लगना, भेजा निकल पड़ना, भूखा भेड़िया होना, मरे को मारना, मुँह खून लगना, मृगतृष्णा का जल पीना, मृग-मरीचिका होना, रँगा सियार होना, लहूलुहान होना, लहू चूसना, वधिक वीणा का मृग बनना, शिकार हाथ लगना, शिकार होना, शिकार का लगा हुआ होना, शेर का शिकार करना, शेर होना, शेर बनना, शेर लगना, शिकारी ब्याह, शेर के मुँह में हाथ डालना, शेर-वकरी एक घाट पानी पीना, शेर मारना, सिंहासन डोलना, सूकरों के आगे मोती फेंकना, सोता सिंह जागना, हिरन हो जाना, हिल जाना, हाँका होना।

कुछ फुटकर प्रयोग—आड़ ढूँढ़ना, ताक-झाँक करना, शेर की आँख देखना, शेर की माँद में घुसना, मचान पर बैठना, मचान की नींद होना, सूँघ-आना, गढ़ा खोदना (किसी के लिए), लकड़-भग्गा होना इत्यादि।

३. चिड़ियों, चिड़ीमारों, मुर्गी और उनके अंडे तथा इन सबके स्वभाव अथवा व्यवसाय से सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरे—

अंडा खटकना, ढीला होना, सरकना या सेना, अंडे का शाहजादा, अंडे-बच्चे होना, अंडे-मच्छी खाना, अंधे के हाथ बटेर लगना, अपना उल्लू सीधा करना, उल्लू कहीं का, आसमान पर उड़ना, आफ़त का परकाला, आधा तीतर आधा बटेर, उड़ चलना या आना, उड़ा जाना, उड़ान, घाई, उड़ान भरना, उड़ान लेना, उड़ंच होना, उड़ू-उड़ू होना, उड़ती चिड़िया पहचानना या परखना, कागा हाथ संदेश भेजना, काँय-काँय करना, काला कौआ होना, खाकी अंडा, खाने-खाने, गरुड़ दाँये होना, घात लगाना, चिड़िया फँसाना, चिड़ीमार होना, चील का मूत या पेशाब, चुटकियों पर उड़ाना, चूँ चरा करना, चूँ तक न करना, चूँ-चूँ का मुरब्बा, चें-चें करना, चें बोलना, चोंच दिखाना, चोंचें लड़ाना, चोंड़े पर, चुग़द कहीं का, चुग-चुगकर, छतरी पर बैठना, जाल लगाना, बिछाना या फैलाना, जाल में फँसना, झाड़ का पंछी होना, झपट्टा मारना, झपटना (किसी पर), तिनके चुनना या चुनवाना, तिनका-

तिनका करना, तिनके जमा करना या बटोरना, तीतर के मुँह सोना होना, तूती का पढ़ना, तोते चश्म होना, तोते उड़ाना, तोते उड़ाना हाथ के, तोते की तरह रहना, पढ़ना, दो-दो चोंच होना, दाना पानी उठना, नोंच-खसोट करना या मचाना, पर बाँध लेना, परिन्दा पर नहीं मारता, पर कैंच करना, पर लगना, पंजा मारना, प्राण-पखेरू उड़ना, फँस जाना, फाँस लेना, बसेरा देना या करना, बटेर का जगाना, बटेर लड़ाना, बटेर पालना, बाज की तरह झपटना, बाज़ छोड़ना, बूढ़े तोते को पढ़ाना, भुने तीतर उड़ जाना, मुर्गी की एक ही टाँग बताना, मुर्गी के, मुर्गी बोलना, मुर्गे लड़ाना, मुर्गी बनाना, मोर नाचना (जंगल में,) मन-मयूर होना, मैना पालना, सोने का अंडा देना, सोने की चिड़िया हाथ से जाना, रट्टू तोता होना।

कुछ फुटकर प्रयोग—उल्लू बोलना, उल्लू का गोश्त खिलाना, गिद्धदृष्टि होना, लोटन कबूतर होना, लोट-पोट हो जाना, चुग्गा पानी देना, चील कौओं की तरह, कौआ बोलना, दूध और पानी अलग-अलग कर देना, मोती चुगना, फुर्राटी मारना, फुर से उड़ जाना इत्यादि।

४. कीड़े-मकोड़े, मक्खी-मच्छर, साँप छुछूंदर इत्यादि से सम्बन्धित मुहावरे—

आस्तीन में साँप पालना, आस्तीन का साँप, उड़कर पड़ना, कलेजे पर साँप लोटना, कान पर जूँ तक न रेंगना, कान के कीड़े खाना, कीड़े-मकोड़े चढ़ना, कीड़े पड़ना, कीड़े लगना, कीड़े गिजविजाना, कीड़े का डर होना, केंचुल में आना या भरना, केंचुल बदलना, केंचुए बरसना, कौड़ि-याला होना, गुड़ चिऊँटी होना, गुड़ होगा तो मक्खियाँ बहुत, घुन लगना, गिरगिट की तरह रंग बदलना, घर पर चिऊँटी भी शेर होना, घुन झड़ना, चंदन से विषधर लिपटे होना, चिचड़ी-सा चिमटना, चींचड़ होना, चिऊँटी की चाल चलना, चिऊँटी के पर निकलना, चिऊँटी की गिरह पेट में रहना, चींटी से कमतर होना, चींटी की तरह मसलना, चीत मकोड़े करना, चूहे कूदना (पेट में), चूहे डंड पेलना (घर में), चूहे मरना, छाती पर साँप लोटना, छुछूंदर छोड़ना, छपकली गिरना, जीती मक्खी निगलना, जुँए मारना, जूँ की चाल चलना, जूँ की तरह रेंगना, झींगरी बोलना, टेढ़े-टेढ़े जाना, टिड्डी दल टूटना, डंक मारना, डंक जलना, दीमक चाट जाना, दीमक लगना, दाँत मारना (चूहे का), घनघनाना, नाक पर मक्खी न बैठने देना, नाग खेलना, नाग को दूध पिलाना, नाग फूँकना, नागिन कहीं की, नरक का कीड़ा होना, पतंग की तरह जलना, पीला भद्दक होना, बीछी चढ़ना, बिच्छू का डंक होना, बिल ढूँढते फिरना, बिल में हाथ डालना, भिन्न-भिन्न करना, भुन-भुन करना, भन-भन होना या करना, मुछे कुरा खा जाना, मोम होना या करना, मेढ़क-कुदान होना, मेघा तोल होना, मेढ़की को जुकाम होना, मच्छर-से काटना, मक्खी-मच्छर बहुत होना, मक्खी निगलना, मकड़ी का जाल होना, रंग बदलना, रंग-रंग के, लूता (मकड़ी) लगाना, सहद लगाकर चाटना, साँप को दूध पिलाना, साँप की चाल चलना, साँप के मुँह में, साँप की तरह केंचुल बदलना, साँप की लकीर, साँप खिलाना, सिरहाने का साँप, साँप-छुछूंदर की गति होना।

कुछ फुटकर मुहावरे—मक्खीचूस होना, जहरीले दाँत तोड़ना, दाँत तोड़ना, बर्रों के छत्ते में हाथ डालना या ढेला मारना, चुन-चुने लगना, साँप सलीएडा होना, साँप डसना, फुफकार मारना, दो जीभ होना इत्यादि।

५. आकाश, ग्रह, नक्षत्र इत्यादि तथा भाग्य एवं ज्यौतिष-विज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य मुहावरे—

अंगुलियों पर गिना जा सकना, अच्छे दिन देखना, अपने दिनों को रोना, आकाश के तारे तोड़ना, आकाश में छेद करना, आकाश-पाताल एक करना, आकाश में थेगरी लगाना, आकाश-गंगा में नहाना, आकाश फट या फूट पड़ना, आसमान पर दिमाग चढ़ाना, आसमान सिर पर उठाना, आसमान से बातें करना आसमान पर थूकना, आसमान पर उड़ना, आसमान

से गिरना, ईद का चाँद होना, एक-से दिन न रहना, एकादशी का खाया द्वादशी को निकलना, ओर-छोर न मिलना, औखे दिन आना, करतार रूठना, करम फूटना, कागज पूरे होना, कागज़ गुम होना, काल-चक्र में पड़ना, किस्मत फूटना, गगनभेदी पताका फहराना, घड़ी मुहूर्त्त देखना, घड़ी सायत पर होना, घड़ी आना, चाँद निकलना (किधर से) चार चाँद लगाना, चाला देखना, चाला निकालना, चाँदनी का खेत, चार दिन की चाँदनी होना, जीवन का दीपक बुझना, जीवन की घड़ियाँ गिनना, तारा डूबना, तारा हो जाना, तारा-सा चमकना, तारों-भरी रात, तारों की छाँह, तारे दिखलाई दे जाना, तारे दिखाना, तारे तोड़ लाना, तारे गिनना, दिन को तारे दिखाई देना, दूज का चाँद होना, नाम निकलवाना, नाम निकलना, पाँव में सनीचर होना, पाँव में चक्र होना, बारह बाट होना-जाना, मीन-मेष निकालना, मेष करना, मीन की सनीचरी, राशि बैठना, राशि मिलाना, कन्या राशि होना, सनीचर सवार होना, सनीचर सिर चढ़ना, सनीचर आना, सनीचर कहीं का, साढ़े साती आना या चढ़ना, सितारा बुलंद होना, सितारा गर्दिश में होना, सितारा चमकना, सितारा मिलना ।

कुछ फुटकर प्रयोग—चन्द्रमा बलवान् होना, राहु की दशा होना, ग्रह खराब होना या पड़ना, ग्रह-नक्षत्र देखना, नक्षत्र उचारना, ग्रह शान्त करना या कराना, ग्रह बलवान् होना, सनीचर की दशा आना, जन्म-पत्री मिलाना, ग्रहण पड़ना, ग्रहण के भंगी होना इत्यादि ।

६. वन, वृक्ष, कृषि और कृषि-सम्बन्धी समस्त व्यापार और वस्तुओं, फल और तरकारी तथा पुष्प-वाटिकाओं से सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरे—

अंगूर खट्टे होना (कहानी); अपनी ओसाना (नाज इत्यादि बरसाना); आँधी के आम, आँखों में सरसों फूलना, आँखों में टेसू फूलना, आँखों में तीसी फूलना, आग का बाम, ओसरा होना, आँठ उठाना (परती पड़े खेत को जोतना); इन तिलों तेल न होना, ईन्धन हो जाना, उपज की लेना, ऊसर में बीज डालना, ओसरा ताकना, कली खिलना (दिल की), कड़वी विडाल, क्या फूल झड़ जायेंगे, काँस में फँसना, कुसुम का रोग, कुदाल बजना, कोल्हू का कोल्हू होना, खड़े-खड़े सूखना, बढ़ना, खड़ी खेती चुगाना, खादर लगना, खेत रखना, खेती मारी जाना, खेती लेट जाना, खीरा-ककड़ी होना, गुलाब चटकना, गुल खिलना, गुलाब छिड़कना, गूलर का भुनगा, गूलर का फूल होना, गूलर का पेट फड़वाना, गोंदी-सा लदना, गोंद की तरह चिपकना, गोंद हो जाना, गोबर पानी करना, गोजी चलना, घर की खेती होना, घट्टा बन्द करना, घास-फूस समझना या लाना, घास छीलना, घास का स्वाद होना, कच्चा घास होना, घुमाना-फिराना, घेरे में आना, चलती गाड़ी में रोड़ा अटकाना, चंदन उतारना, चुसा हुआ आम, चौथी छूटना या छुड़ाना, छकड़ा लादना, छाँह में कमाना, छाँह न छूने देना, छाँह में बैठना, छोल पर जाना, जंगल जाना, जंगल में मंगल करना या होना, जरीब डालना, जई लेना, जड़ें ढीली करना, जड़ उखाड़ना या खोदना, जड़ जमना या जमाना, जड़ पकड़ना, जहर की गाँठ, जमींदारी होना, जान को झाड़ लगना, जोत, बोकर तैयार करना, जोत खोलना, झड़बेरी का काँटा, झड़बेरी के बेर होना, झाँवली में आना, झाँई बताना, झाड़ का काँटा, झाड़-झंकाड़ होना, झाड़ होकर लिपटना, झाड़ कम होना, झाऊ-झप होना, झाड़े फिरना, झुट-मुट मारना, झुर-झुर कर मरना, टपका हुआ आम, टेसू का फूल, ढाक के तीन पात बताना, ढाक तले की फूहड़, महुए तेल की सुघड़, ढेंकली चलना, डाल-डाल फिरना, डाल का, डालवाला, डाल का पका, डाल का टूटा, डाली लगाना, सजाना या देना, डाँगर घसीटना, डौल बाँधना या लगाना, डौल से लगाना, डौल-डाल होना, डौल पर लाना, डौल डालना, तरे बैठना, तख्ता लगाना, तख्ता उलटना, तृण-बराबर या समान, तिहाई मारी जाना, तुरई का फूल-सा, तूम्बा होकर बैठना, दूध पड़ना, दूब जमना, धरती बाहना या गोड़ना, धनकुट्टी करना, धनिये की खोपड़ी में पानी पिलाना, धरती का फूल, नारियल तोड़ना, नया गुल खिलाना, नीम की टहनी

हिलाना, कड़वा नीम होना, नींबू निचोड़ना, नौरोज़ करना, पड़ती छोड़ना, पड़ती उठाना, पटरा फेरना, पटरा होना या कर देना, पनीर जमाना, पलास फूलना, पान-फूल-सा, पान चीरना, पान-सुपारी, पुराल पीटना, पैंड भरना, पैंडे करना, पका हुआ फल होना, पलेज करना, पीपल पूजना, फली न फोड़ना या तोड़ना, फलना-फूलना, कली के दो टूक करना, फल पाना या मिलना, फल फलुँगा, फल-फूल खाना, फलाहार करना, फाल बाँधना, फाल भरना, फावड़ा बजाना, फावड़ा चलना या चलाना, फूट-सा खिलना, फूट पड़ना या डालना, फूट आना या निकलना, फूल लोढ़ना, फूल झड़ना, फूल नहीं पँखड़ी सही, फूलों की सेज, फूलों की छड़ी, फूलों का गहना, फूल सूँघकर रहना, फूल बरसना, फूल-पत्ती काटना या बनाना, फूस का पूला होना, बबूल बोना, बहार पर आना, बहार बेचना, बहार के दिन होना, बकुची बाँधना या मारना, बन का बन होना, बीच खेत में होना, बेंत की तरह काँपना, बीज बोना, भुस खाना, भुस के मोल मलीदा होना, भुस के भाव बहाना, भुस भरवा देना, मूली गाजर समझना, घर की मूली साग बराबर, मुँह तूम्बा करना, रग रेशे से परिचित होना, रेशा-रेशा करना, लह-लहा होना, लग्गा लगाना, शाख़ फूटना, शाख़ चलना, शिगूफ़ा खिलना, शिगूफ़ा छोड़ना, सरसों फूलना, सपाटा भरना, लगाना या मारना, सब्ज़-बाग़ नज़र आना, सिन्दूरिया आम होना, सिर से तिनका उतारना, सिल्ला बीनना या चुनना, सीर कराना, सुपारी लगाना, सूखकर तुम्बा होना, सूखकर लकड़ी होना, सूखे धान पर पानी पड़ना, सूखकर खंडक होना, सूखे खेत लहलहाना, सोने में सुगन्ध होना, सुगन्ध फैलाना, हराई फाँदना या फेरना, हल चलना, हेर-फेर करना।

कुछ फुटकर प्रयोग,—पेड़ गिनने या आम खाने, अमचूर होना, घास-पात की तरह, कटरुख कहीं का, कड़वे नीम के बराबर होना, फूल-काँटे का साथ होना, कुम्हड़े की बतिया, कड़वा करेला, नौ तोड़े करना, हरा लौका होना, जंगली होना, रोप लगाना इत्यादि।

७. आँधी तूफ़ान, वर्षा, बादल, सूर्य, ऋतु, पहाड़ तथा खुले मैदानों से सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरे—

अँधेरी रात होना, अँधेरा गुप होना, अग्नि-वर्षा होना, अगन बरसना, अबर होना, अँधेरे मुँह उठना, आँधी होना, आँधी उठना या उठाना, आँधी मचाना, आब-हवा बदलना, आग लगे मेह मिलना, आँधी-पानी आना, ओले पड़ना या गिरना, ओस पड़ना, या पड़ जाना, ओस चाटना, उदय से अस्त लौं, उदय होना (भाग्य) उजाला या उजेरा होना, उजाले-उजाले में, उजाले का तारा, उजाले-अँधेरे में, ऊँचा-नीचा, ऊँचे-नीचे पैर पड़ना, ऊँच-नीच होना, ऊँचे से गिरना, ऊँचे जाना, ऊँचे से देखना, ऊपर की ओर थूकना, ऊपर की ओर निगाह होना, ऊबड़-खाबड़ होना, किरन फूटना, कहीं की हवा खाना, काली गीदड़ी का ब्याह होना, खुली हवा में टहलना, खुला मैदान होना, खुल्लम-खुल्ला होना, गाज गिरना या पड़ना, गाज मारना, गर्जना-तर्जना, घाम खाना, घाम दिखाना, घिर-घिरकर आना, चल-विचल होना, चलती हवा से लड़ना, चढ़ाव-उतार की बातें करना, चोटी का, छाती पर का पत्थर या पहाड़, छाती पत्थर की करना, छाती पर पत्थर रखना, जमीन-आसमान एक करना, जाड़ों की रात होना, झड़ बाँधना, झड़ी लगना या बँधना, झड़ के दिन होना, झकाझोर होना, झोंके खाना, झुक आना, टप-टप होना, टपके का डर होना, टापा देना, टूट-टूटकर बरसना, ठंडा पड़ना, ठंडी के दिन होना, ठीहा होना, ठोकर खाते फिरना, ठोकरें खाना, डगर-डगर जाना, ढेले बरसाना, डगर न मिलना, तपन का महीना, तलमलाते फिरना, तुरफुरी मिटना, तिनक जाना, तूफान खड़ा करना, तूफान जोड़ना या बाँधना, तूफान करना, तूफान बेतमीजी मचाना, तूफानी दौरा होना, थर-थरी छूटना, थर्रा जाना, थर-थर काँपना, दिन ढलना, दाँत-से-दाँत बजना, दिल पर बिजली गिरना, दौंगड़ा बरसना, धड़ाके से, धुँध छा जाना, धुँधला दिखाई देना, धुँधले का वक्त, धूप देना या लेना, धूप में बाल सफेद करना, धूप

घुमाना, धूप पड़ना, धूल डालना, (किसी बात पर), धूल झाड़ना, धूल चाटना या फाँकना, धूल की रस्सी बटना, धूल उड़ाते फिरना, धूल से अटना, नूर बरसना, नूर का तड़का, नूर होना (खुदा का), पहाड़ से टक्कर लेना, पहाड़ काटना, पहाड़-का-पहाड़ होना, पत्थर बरसना, पत्थर पानी में, पत्थर पड़ना, पवन का भूसा होना, पाला मारना, पाला पड़ना या करना, फुरेरी चढ़ना, लेना या आना, बरस पड़ना, बसंत फूलना, बसंत की खबर न होना, बादल उठना, बादल घिरना, छाना या चढ़ना, बादलों से बातें करना, बादल झूमना, बादल का आँख न खोलना, बिजली कड़कना, चमकना, बिजली गिरना या पड़ना, बातों की झड़ी बाँधना या लगाना, मूसलाधार मेंह पड़ना, मेंह का आँख न खोलना, मेंह-बूँदी के दिन होना, वर्षा होना, बावाला पड़ना, लुएँ चलना, लुओं का मारा हुआ होना, लू लगना, रोशन होना, रास्ता चलते, रुख देखना, रुख फेरना, शक्ल पर नूर बरसना, शाम-सबेरे, शाम फूलना, संसार की हवा लगना, सर्दी लगना, सर्द हो जाना, समझ पर पत्थर पड़ना, सूरज ढलना, सूरज को दीपक दिखाना, सूरज पर धूल फेंकना, सूखा पड़ना, सूखे-सूखे में, हवा से बातें करना, हवा के मुँह पर जाना, हवा गाँठ में बाँधना, हवा का रंग देखना, हवा बाँधकर जाना, हवा से लड़ना।

अब इस वर्ग से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ अस्पष्ट तथा फुटकर मुहावरे नीचे देते हैं—

मूली गाजर बेचना, गाजरों में गुठली दिलाना, किस खेत का बथुआ हो, ढले ढोना, चकरडंड फिरना, टिड्डी होना, ततैया होना, रात पहाड़ होना, फूल के मकड़ी होना, कल्लर पड़ा होना, काढ़ना या करना, खूड़ काढ़ना (खेत जोतना), तूफान की तरह उठना, काला पहाड़ होना, उबल पड़ना, आसमान देखना, भुरकुस निकालना, कचूमर निकालना, आसरा टूटना, आग में पानी डालना, आँख चरने जाना, आँते कुलकुलाना, एकटक आशा लगाना, ओट आना, छूट पड़ना, छज्जे टूटना, जीता लहू, जीभ कसम करना, एकटक आशा लगाना, झक्की होना, झगड़े की जड़ टें होना, करना या बोलना, टें-टें करना, ठीक बैठना, ढंग का होना, तोबड़ा चढ़ाना, तरसते फिरना, धर उड़ाना, धड़ा-धड़ करना, धैंड़-धैंड़ करना, पनीर चटाना, भभकी में आना, भभकी देना, फफ्फस होना, फबती उड़ाना, संग लगना, सवारी गाँठना, साँस तक न लेना, सहम जाना, साया होना या डालना, साया पड़ना, सफ़ाया करना, इत्यादि।

ई

सार्वजनिक खेल-तमाशों, अखाड़ों, तीर-अन्दाजी तथा अन्य सेना और युद्ध तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले शस्त्रास्त्रों एवं कार्यों पर प्रकाश डालनेवाले भी असंख्य मुहावरे हमारी भाषा में चल पड़े हैं। अपनी सार्थकता, सरलता और अर्थ-गांभीर्य के कारण साहित्य में उनका अपना अलग स्थान बन गया है। भाषा को सम्पन्न और समृद्धिशाली बनाने में उनका भी बड़ा हाथ है। वर्गीकरण की सहूलियत के लिए हम इस वर्ग के मुहावरों को १. बैठकर खेले जाने-वाले खेल, २. खुले मैदान के खेल (भारतीय) ३. राष्ट्रीय और अन्तर-राष्ट्रीय और अन्य खेल ४. अखाड़ा, कुश्ती, योग आसन तथा गदका, फरी इत्यादि, ५. अस्त्र-शस्त्र, युद्ध और सेना तथा ६. तत्सम्बन्धी कुछ फुटकर प्रयोग, इन छह उपवर्गों में बाँट सकते हैं! नमूने के तौर पर कुछ उदाहरण नीचे देते हैं—

१. (क) **चौसर या चौपड़ के खेल से आनेवाले मुहावरे**—अट्ठे-पंजे लड़ाना, कौड़ियें फेंकना, गोटी मारना या मरना, गोटी जमाना या बैठाना, गोटी लाल होना, कच्ची गोटी न खेलना, चिड़ा बाँधना, चौसर का बाजार, छक्के छूटना या छुड़ाना, छक्का-पंजा भूलना, पटापटी की गोट, पासा

फेंकना, पासा उल्टा पड़ना, पासा पलटना या उलटना, पंजा या छक्का करना, पौ बारह करना—होना, पौ पचीस होना, पौ पड़ना, बाज़ी करना, सार फाँसे खेलना, शेखी और तीन काने।

(ख) **शतरंज से संबन्धित मुहावरे**—आड़े आना, आड़े पड़ना, अर्दभ में डालना या देना, अर्दभ देना, आड़ा-तिरछा होना, किसी के जोर पर कूदना, काँटे की बाजी होना, किश्त पड़ना, देना या लगना, ज़िच्च होना, ज़िच्च करना, जोर में आना, जोर में होना, जोरों पर होना, ज़ोरदार बाजी होना, तरतीब से रखना या लगाना, पैदली मात होना, बेजोर या बेजोरा होना, मात करना, मोहरा लेना, शतरंज की चाल होना, शतरंजी चाल होना, शै देना।

(ग) **ताश, जुआ, लट्टू, फिरकी इत्यादि से सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरे**—गुड़िये-गुड्डों का ब्याह होना, गुड़िया बना देना, दून की सूझना, गुड़ियों का खेल समझना या जानना, गुड़ियों का ब्याह, गुड़िये-गुड्डे खेलना, तुरफ लगाना, तुर्फ कार्ड होना, तुर्फ चाल होना, नादिरी चढ़ना, नसीब आज़माना, माल छीनना, नाल निकालना, पुतलियाँ बचाना, कठपुतली होना या बनना, फिरकी-सी घूमना, फिरकी की तरह फिरना, फिरकी-सी नाचना, बद कर कहना, बद-बदकर, बदा होना, बदनी बदना, पत्ते खेलना, पत्तेबाजी करना, पत्ते खोलकर सामने रखना, पत्ते आना, पत्तों की जीत, पत्ता पड़ना, रंग करना या कराना, रंग बदरंग होना, रंग होना, शर्त्त बद-बदकर, शर्त्त रहना या होना, शर्त्त पूरी करना, लट्टू होना (किसी पर), लट्टू करना, लेने के देने पड़ना।

२. पतंगबाजी, गिल्ली-डण्डा, कबड्डी, आती-पाती, डुडुडुडु-डुडुआ, गेंद बल्ला, झूला इत्यादि खुले मैदान में खेले जानेवाले खेलों के आधार पर बने हुए मुहावरे—

'अंटा चित होना', इसी मुहावरे का गलती से 'अंडा चित होना', ऐसा प्रयोग भी चल पड़ा है। देहात में इस खेल को लोग 'कुइया डाली' कहते हैं। कटारी के बीच, लालड़ी और बटन से लेकर पैसों तक से यह खेल खेला जाता है। कुछ दूर पर छोटी-सी एक कुइया में खेलनेवाले को पैसे इत्यादि फेंकने होते हैं, तत्पश्चात् कुइया से बाहर पड़े हुए पैसों में से अपने प्रतिद्वन्द्वी द्वारा बताये हुए किसी एक को खेलनेवाला किसी चीज से मारता है, इसी का नाम अंटा है। अंटा-गुड़गुड़ के खेल से भी कुछ लोग इसकी उत्पत्ति मानते हैं। अंटा-गुड़गुड़ होना, स्वयं एक स्वतंत्र मुहावरा बन गया है।

'शब्द-सागर' में 'अंटा' शब्द का जो अर्थ दिया है, उससे भी हमारे मत का ही समर्थन होता है। कोषकार लिखता है, "अंटा—संज्ञा पु० [सं० अंड] १. बड़ी गोली, गोला, २. सूत या रेशम का लच्छा, ३. बड़ी कौड़ी ४. एक खेल, जिसे अंगरेज हाथी-दाँत की गोलियों से मेज पर खेला करते हैं।" विलियर्ड।[1] शब्द सागर में 'अंटा' शब्द का अर्थ करते समय वास्तव में कोषकार का ध्यान देहातों की ओर न जाकर अँगरेजों के विलियर्ड खेल की ओर चला गया है। देहात के लोग आज भी हमारे अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग करते हैं। कुछ भी हो, इस मुहावरे का सम्बन्ध अंडे से तो किसी प्रकार है ही नहीं। 'अंडा ढीला होना वा सरकना', 'अंडा सटकाना', 'अंडा ढीला होना' इत्यादि मुहावरों का सम्बन्ध भी वास्तव में मुर्गी आदि के अंडों से न होकर इसी अंटा या संस्कृत अंड शब्द से है।

'अंटी करना', 'अंटी मारना', 'अंटी गर्म करना' इत्यादि मुहावरे कौड़ियों के द्वारा खेलें जानेवाले जूए से आये हैं। (जूआ खेलते समय कुछ लोग चालाकी से कौड़ी को उँगली के बीच में छिपा लिया करते हैं।) 'अड़चन डालना', 'अडंगा लगाना' इत्यादि मुहावरे भी दौड़ इत्यादि के खेलों से ही आये हैं। रथ और गाड़ियों की दौड़ हमारे देहातों में आज भी खूब प्रचलित है। (दौड़ के खेल से यहाँ हमारा अभिप्राय आज की Obstecle Race ऑबस्टेकिल रेस से नहीं है।) अब इस वर्ग के कुछ अधिक मुहावरे आगे देते हैं—

१. संक्षिप्त शब्द-सागर, पृ० ८।

आँख-मिचौनी होना, आँखों पर पट्टी बाँधना, आँख-बचे का चाँटा होना, आगे निकलना, उठे-उठे फिरना, एक चाल होना या जाना, ओत देना या लेना, ओत उतारना, ओत-पोत गाना, कबड्डी खेलना, घस्से देना, घिरनी या घिन्नी खाना, घस्सेबाजी करना, चक्कर काटना, चक्कर बँधना, चक्कर खाना या देना, चक्कर में आना, चक्कर या चक्कर लगाना, चड्ढी देना, चादर छिपौवल, छिपा छरद करना, जोड़ मिलाना, जोड़-तोड़ लगाना, जोड़े में होना, देना या रखना, झोंटा देना या खाना, टाँग अड़ाना, टँगड़ी देना, टाँय-टाँय फिस होना, टाँय टूँ टुस, ढील देना, दाँव लेना या देना, दाँव पर लगाना, दाँव पर चढ़ना, पत्ता तोड़कर भागना,[1] पत्ता तोड़ होना[2], पेंग मारना, पेंग बढ़ाना या चढ़ाना, पतंग काटना, पतंग बढ़ना, पेच पड़ना, काटना या डालना, पेच लड़ाना, पत्ता काटना, माँझा देना या सनना, मोहरा मरना, मोहरों की लड़ाई।

३. अन्तर-राष्ट्रीय खेलों के आधार पर बने हुए मुहावरे

आउट होना, करना या देना, आगे बढ़ना, कैच करना, लेना या देना, खेल खत्म होना, खिलाड़ी होना, गोल करना या मारना, गोल होना, कोड़ा फटकारना, चौआ मारना, छक्का मारना या लगाना, टीम की टीम होना, टोपी उछालना, तरतीब देना, तितर-बितर होना, ताली पीटना या बजाना, ताली बज जाना, फुटबॉल होना, फुटबॉल की तरह लुढ़कना, बल्ले पर गेंद नाचना, रस्सा-कशी होना, खिंच जाना, खींच लेना, हाफ साइड होना, हिप-हिप हुर्रा।

ऊपर दिये हुए वर्गों के कुछ फुटकर प्रयोग तथा जादूगरी इत्यादि खेल-तमाशों के आधार पर बने हुए मुहावरे—

आगे दौड़ पीछे चौड़ होना, एक-एक करके, एक ही थैली के चट्टे-बट्टे, खरा खेल, खिलवाड़ करना, खुलकर खेलना; खेल-खेल में, खेल समझना, खेल खिलाना। चट्टे-बट्टे लड़ना, छीन झपट्टा होना, झंडा खड़ा करना, जोर मारना या लगाना, टिक्की जमना, बैठना या लगना, टिक्की मारना, टिक्की उड़ाना, तमाशा करना या होना, तमाशे की बात, धौल धप्प होना, पगड़ी उछालना, पेट में पिट्ठू होना, फुलझड़ी छोड़ना, बाँस पर चढ़ाना या चढ़ना, भीड़ चीरना, छाँटना या पड़ना, मौका देना, साथ का खेला होना, हाथ चलाना, हाथ में आना।

४. अखाड़ा कुश्ती, मनका फेरी तथा योग-मुद्रा, आसन इत्यादि से सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरे—

अखाड़ा जमाना या जमना, अखाड़ेबाज़ होना, अखाड़े में उतरना, अखाड़िया होना, आस्तीन चढ़ाना, आसन लगाना, उठना या बैठना, उठक-बैठक करना, उठा-बैठा होना, उल्टे हाथ का दाँव, उठाकर पटक देना, उठाकर दे मारना, ऊपर सवार होना, एक न चलना, कमाई हुई हड्डी, या देह, खम ठोकना, बजाना या मारना, खम ठोककर, गहरी साँस भरना या लेना, गुद्दी पर हाथ मारना, गुद्दी नापना, घूसे मारकर निकाल देना, चारों खाने चित्त आना या गिरना, छाती ठोंकना या ठुकना, छाती फुलाना, छाती पर चढ़ना, छाती निकालकर चलना, छाती गजभर की होना, जोर करना, या मारना, जोर कराना, ठोंक-ठोंक कर लड़ना, डंड पेलना, निकालना, डंडा चलाना या खींचना, डंडा खाना, डंडे खेलना, डंडे बजाते फिरना, डंडे देना या मारना, तले ऊपर होना, ताल ठोंकना, दंगल में उतरना, दंगल करना, (दंगा करना), दाँव-पेंच दिखाना, दो-दो हाथ करना या होना।

---

१. २. 'आती पाती', यह गाँवों में प्रायः चाँदनी रात में खेला जानेवाला एक खेल होता है। एक आदमी अपने साथियों से विभिन्न वृक्षों की पत्तियाँ या पत्ते लाने को कहता है। जो आदमी पत्ता तोड़कर सबसे पहिले आता है, वही जीत जाता है। इसी से 'पत्ता तोड़' मुहावरा निकला है। पत्ता तोर भी एक महावरा है, जो 'पत्ता तोड़' और 'तीर की तरह जाना', इन दो विभिन्न मुहावरों के घपले से चल पड़ा है। —ले०

नीचे गिराना या डालना, नीचे आना या गिरना, नीचे देखना, नाली के डंड पेलना, पंजा लड़ाना या करना, पकड़ में आना, पेट चलाना या पतलाना, पैतरा बदलना, पैतरा दिखाना, पैर उखाड़ देना, पीठ जमीन से लगना, पीठ को धूल लगना, धुई लाना, भाँजी (भाँजना=मोड़ना) मारना, मुक्का लगना, लंगोट कसना, लंगर-लंगोट कसना, लाठी छीनना या चलाना।

कुछ फुटकर प्रयोग—कुंडा देना, गचका देना या खाना, पटखी खाना, हनमन्ती दाव होना, द्रविड़ी प्राणायाम करना, चित्त करना, उस्तादी के हाथ, बरेरी के हाथ दिखाना इत्यादि।

५. विभिन्न अस्त्र-शस्त्र और उनके चलाने की क्रियाओं, युद्ध और युद्ध-कला तथा सेना और सैनिकों की स्वाभाविक पदावली से सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरे—

अग्नि-बाण छोड़ना, आगे-आगे भागना, आगा लेना या रोकना, आगा-पीछा करना या सोचना, उँगलियाँ रह जाना, ऊपर चढ़ आना, कमान खींचना या चढ़ाना, कमान देना या बोलना, कमान पर होना या जाना, क़िला टूटना, क़िला फ़तेह करना, क़िलेबन्दी करना, केसरिया बाना पहनना, ख़बरदार, रहना, होना या करना, ख़ून बहाना, खेत रहना या आना, खेत छोड़ना, छोड़कर भागना, खेत हाथ रहना, गढ़ जीतना या तोड़ना, ग़ालिब आना (किसी पर), गिन्ती पर जाना, गोली मारो या मारो गोली, गोली बरसाना, गोलाबारी करना या होना, घोड़ा दबाना या उठाना, घेरा डालना, घर चढ़कर लड़ने आना, चकाबू (चक्रव्यूह) में पड़ना या फँसना, चढ़ा लाना, चक्कू मारना, चोट करना या बचाना, चोट खाली जाना, चौरंग उड़ाना वा काटना, छाती पर झेलना, छुरियाँ कटावन पड़ना, छुरी कटारी रहना, छुरियाँ चलाना, छुरीमार होना, छुरा भोंकना, ज़हर में बुझाना, ज़ंजीरी गोला होना, जीसन से हो जाना, डंके की चोट कहना, डंका बजाना, देना या पीटना, किसी का डंका बजना, तलवार बरसना, तलवार बन्दूक़ चलाना, तलवार का हाथ, तलवारों की छाँह में, तलवार बाँधना या लटकाना, तलवार पर हाथ रखना, ताँता बाँधना या बँधना, ताँता लगना, ताँत न टूटना, तीर चलाना, तीर की तरह जाना, तीर-सा लगना, तुक्का-सा, तोप की सलामी उतारना, तोप कीलना, तोप के मुँह हैं मेख़ ठोकना, तोप दम करना, तोप के मुँह पर रखकर उड़ाना, तोप रखी होना, तोप से उड़ाना, धनुष चढ़ाना, धावा बोलना, मारना या करना, धौंस में आना, धौंसा देना या बजाना, नाका छेकना या बाँधना, नाकेबन्दी करना, नाके घेरना, निशाना लगाना, होना या साधना, निशान बाँधना या बनाना, निशाने पर मारना, निशान का हाथी, निशाना चूकना, निशाना सच्चा होना, पलीता लगाना या देना, पैरों तले बारूद बिछी होना, फ़ायर करना, फ़ायर होना, बन्दूक छूटना, छोड़ना या मरना, बम टूटना, फटना या बरसना, वत्ती लगाना या दिखाना, बाढ़ दग़ना या उड़ाना, बाढ़ रखना, करना या लगाना, बाल बराबर लगी न रखना, भरती का, भरती शुरू होना, भाग खड़ा होना, मवासी क़िला तोड़ना, मवास करना, माल तीर करना, मुश्कें कसना या बाँधना, मैदान साफ होना, मैदान में आना, मोरचा बाँधना, मोरचेबन्दी करना, मोरचा मारना या जीतना, यूनीफार्म में होना, रंजक उड़ाना या चाट जाना, रंजक देना या पिलाना, रसद खाना, रक्तपात होना या करना, रक्तरंजित होना, लड़ाई खड़ी करना, लड़ाई चलना, लाम बाँधना, लाम पर जाना, लोहा बरसना, लोहा मानना, वार करना, बेचाना या सहना, वार न मिलना, वार खाली जाना, शस्त्र बाँधना, या लगाना, शस्त्रास्त्र से लैस होना, शिकस्त होना, देना, खाना या मानना, सनसे निकल जाना, सर करना, सर फ़राज़ करना, सामना करना, होना या पड़ना, सामने पड़ना, साँध मारना, सिर उतारना या काटना, सिर न उठाना, हिस्सा रसद आना या पाना।

६. **इस विभाग के कुछ फुटकर प्रयोग**—अंग ऐंड़ा करना, आसमान पर उड़ना, आगे का कदम पीछे पड़ना, आगा रुकना या रोकना, आराम करना या देना, इधर-उधर करना, इधर-उधर की बात, इधर की उधर करना या लगना, इधर-से-उधर फिरना, इधर-न-उधर, उलटा लटकना, उलटे पाँव फिरना, उलटे मुँह गिरना, उखाड़-पछाड़ करना, उचक-उचक कर देखना, एक हाथ से ताली

न बजना, ऐंड़ा-ऐंड़ा फिरना, औंधे मुँह गिरना, औंधा करना या पड़ना, औंधा हो जाना, औंधी खोपड़ी, ख़म खाना, न खाना, खुले मैदान, गति-विधि जानना, गाँसी लगना, गाँस निकालना, चक्र गिरना या पड़ना, चाल चलना, छटा हुआ, छँटे-छँटे फिरना या रहना, जंगी लाट, ज़ुबान में काँटे होना, जुंबिस न खाना, जूतों या लात-घूसों से आना, झाँका-झाँकी करना, झूम-झूम कर, ठट्ठा उड़ाना, मारना या लगाना, ठट्ठा न होना, ठट्ठा समझना, ठीक करना (किसी को), ठोकर लेना, ठोकर मारना, देना या जड़ना, डग रखना या भरना, डटा रहना, ढंग सिर रहना या बोलना'''तोबा बुलवाना, तमाचा जड़ना, लगाना या मारना, तमाचे खाना, तमाचा रसीद करना, दल बादल खड़ा होना, दल-बल लेकर आना, दलेल बोलना, द्वार टूटना, दूध की लाज रखना, धोखा देना या खाना, धमाचौकड़ी मचाना, धर दबाना या दबोचना, धौंस-पट्टी में आना, नये सिरे से, न इधर का न उधर का, नाक में तीर होना, निकाल देना, निचला बैठना, नोका-झोंकी रहना, नोक-झोंक होना, फाँद पड़ना, जाना या मारना, कूदते-फाँदते, पीठ ठोकना, भाप भरना या लेना, भाग-दौड़ करना, सत करना (किसी का), साँस चढ़ जाना, साँस रहते, साँस चढ़ाना, साँस भरना, साँस छोड़ना, साँस टूटना, साँस फूलना, सिर करना (कोई वस्तु), सिर से या सिरके बल चलना, सिर से खेलना, सिप्पा भिड़ाना या लड़ाना, सिलसिले में, सीध बाँधना या निकालना, सीधा करना, शोर-गुल मचाना, हार मानना, हार का टीका।

ई

कला, विशेष तौर से ललित कला– जैसे नृत्य, संगीत, चित्र-कला इत्यादि तथा व्यापार, कला-कौशल एवं किसी देश के इतिहास और भूगोल तथा पठन-पाठन इत्यादि से भी बहुत-से मुहावरों को उत्पत्ति हुई है। किन्तु उनमें से अधिकांश इनके अति-व्याप्त और लोक-प्रिय साधारण रूपों के आधार पर ही हुए हैं। मानव-जीवन से इन सबका किसी-न-किसी रूप में अति निकट सम्बन्ध होने के कारण उसकी भाषा के विशिष्ट प्रयोगों में इनकी थोड़ी बहुत छाप रहना अनिवार्य ही था। मुहावरों की दृष्टि से हमारी भाषा को समृद्धिशाली बनाने में इसलिए इनका काफी हाथ रहा है। चित्र-कला, संगीत अथवा नाट्य-कला से आये हुए मुहावरे अधिक कोमल और भावपूर्ण होते हैं। इस वर्ग के समस्त मुहावरों को हम सात उपवर्गों में इस प्रकार बाँट सकते हैं :

१. चित्र-कला, संगीत-नाट्य तथा नृत्य-कला इत्यादि से आनेवाले मुहावरे—

अपनी ही गाना, अभिनय करना, आँखों में नाचना, आवाज बैठना, आवाज़ में आवाज़ मिलना, आनन्द के तार या ढोल बजाना, उँगलियाँ नचाना, उँगलियों पर नाचना, एक तार, एक स्वर से कहना, कानों में रस पड़ना, खुली सोरठ कहना, खटराग फैलाना, गीत गाना, घुँघरू बाँधना, चंग पर चढ़ना, चंग पर चढ़ाना या चढ़ा देना, चंग बजाना, चित्र उतारना, चित्र-सा खिंच जाना, चित्रवत् रह जाना, चेहरा-मोहरा बदलना, चेहरा लगाना, चेहरा बिगड़ना, चैन की बंशी बजाना, छम-छम करते फिरना, छम्मों कहीं की, जितनी डफली उतने राग, झाँकी देना या होना, झमाझम होना, ठेका भरना, ठेंगा बजना, ढोला-मारू होना, ढोला गाते रहना, ढोल पीटना या बजाना, ढोल का ढोल होना, तसवीर बन जाना, तसवीर निकालना, तसवीर उतारना, तान भरना, मारना या लेना, तान छेड़ना, तार जमना या जमाना, तार बैठना या बँधना, तार लगना, ताल-बेताल होना, ताल देना या मारना, तार-सुर मिलाना, ताल-मेल खाना, तूती बोलना (किसी की), थाप देना, थपा-थप करना, ध्वनि उठना, नक्क़ारा बजाके, नक्क़ारा बजाते फिरना, नाच नचाना, नाचते फिरना, नाच-गाना होना, नेपथ्य में बोलना, पर्दा पड़ना या उठना, पर्दे की आड़ में बाजे बजना, मृदंग बजाना, मल्हार गाना, रंगरलियाँ होना, रस रंग, रजगा या रतजग्गा करना, राग गाना (किसी का,) राग अलापना, राग छेड़ना, रासलीला या रास होना, रास रंग जमना, रास करना, रूप भरना, रूप बदलना, रूप बनाना, रेख काढ़ना, रेख खींचना, रेखाएँ पहिचानना, लय मिलाना, लय देखना,

लहजा भर, समाँ बँधना या बाँधना, साज़ मिलाना, साज छेड़ना, स्वांग भरना, रचना या लाना, स्वांग बनाना, स्वांग होना, सुर भरना या चढ़ना, स्वर उतारना या मिलाना, सुर में सुर मिलाना, सुरीला होना, सुर उखड़ना, हृत्तन्त्री के तार बजना।

२. पाठशाला, पुस्तक तथा समाचार-पत्रों के पठन-पाठन एवं इतिहास और भूगोल के आधार पर बने हुए मुहावरे—

अक्स होना या उतारना, अक्षर घोटना, अक्षर से भेंट न होना, अक्षर पहिचानना, विधना के अक्षर, अछरौटी बर्त्तनी, अकबरी चाल होना, अजात-शत्रुता होना, अगस्त-आन्दोलन, आल्हा गाना, आल्हा का पँवारा, आगरे भेजना, इम्तहान देना, लेना या होना, इम्तहान पास करना, उल्टी पट्टी पढ़ना, काफ़िया मिलाना, काफ़िया तंग करना, किताबी कीड़ा होना, किताबी चेहरा, किताब का कीड़ा, क़िस्सा खत्म करना, ख़बर उड़ना या फैलना, ख़बर रखना, खैर-ख़बर मिलना, ख़ाका खींचना, ख़ाका उड़ाना या उतारना, गप्प उड़ना या उड़ाना, चुटकुला छोड़ना, चाणक्य होना, दे भालू को फूँक, तुक जोड़ना या मिलाना, तुकबन्दी करना, तुक क्या है, तख्ती लिखना, तख्ते स्याह पर आना, तुर्की तमाम होना, दुनिया गोल होना, दुनिया-भर की बातें, दिल्ली दूर होना, नक्श बैठना या बैठाना, नक्शे करना, नक्श निकालना या रोना, नक्शों पर लिखना, नक्शा खींचना, नाम-नक्श न मिलना, नाम चढ़ाना, काटना, नादिरशाही हुक्म होना, नादिरशाही करना या होना, पंचांग देखना, पँवाड़ा कहना या गाना, पर्चे उलटना, पहेली बुझाना या होना, पाटी पढ़ना, पोथी-पत्रा उठाना, पोथी की बेठन, पोथे-के-पोथे, पूछते-पूछते दिल्ली पहुँच जाना, फ़ारसी में बात करना, फेल-पास निकालना, वस्ता बाँधना, बिलोची होना, भगीरथ-प्रयत्न, मौहबेवाले, युधिष्ठिर का बड़ा भाई उखाड़ना, राष्ट्रीय सप्ताह, लिखना-पढ़ना, लेक्चर पूरे करना, लेखनी उठाना, शागिर्द हो जाना या होना, सबक़ देना, लेना, सकते की हालत में होना, स्कूल से निकलना, चंगेज़ खाँ होना, चुटकुले होना, छप जाना (अख़बारों में)।

३. विभिन्न रोगों, उनके उपचार, औषधियों एवं शरीर-विज्ञान इत्यादि से सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरे—

अंग-अंग ढीला होना, अंग-अंग फड़कना, अंजर-पंजर ढीले करना, आँख का सुरमा होना, आँखें दुखना, आठों गाँठ कुम्मैत उगल देना या पड़ना, उगलवा लेना, उँगली डालकर कै करना, उदरशूल होना, उलटी साँस चलना, उलटी-सीधी बातें करना, कान में पारा भरना, क़ारूरा मिलना, क्लोरोफार्म देना या सूँघना, कोढ़ की खाज, खरल करना या होना, खाज मिटाना, खुजली उठना, घाव हरा हो जाना, घुट-पिस जाना, घिस लगाने के नहीं, घिस-घिस करना, घोलकर पिला देना, चंगा होना या करना, चकत्ता मारना, चकाचौंधी आना, चमक मारना या देना, चमनप्रास का काम करना, चुनचुने लगना, चूर-चूर करना, चूर (चूर्ण) करना, छल छेव (घाव), छंद बंद-बाँधना, छाती मसलना, छाती में नासूर डालना, छाती धड़कना, छुतहा रोग होना, छूत उतारना, ज़ख्म पर नमक छिड़कना, ज़ख्म हरा करना, ज़रदी छाना, जले फफोले फोड़ना, ज़हर उगलना, देना या मारना, जान का गाहक होना, जाला-माँड़ा होना, जी बुरा होना या अच्छा होना, जुलाब पचना, ज्वर चढ़ना, झुर्रियें पड़ना या पड़ जाना, झुर्रियें निकना, टाँके आना या लगना, टाँके उधड़ना, खुलना या टूटना, टिकटिकी पर खड़ा करना, टीस मारना, टूटी बाँट गले पड़ना, ठंड लगना या बढ़ना, ठंडी के दिन होना, ठेंठी लगाना (कान में), ठचर बिगरना या बाँधना, ढब ढचर न आना, ढाई घड़ी का हैजा आना, ढाई घड़ी की आना, तन की तपन बुझाना, तबीयत बिगड़ना, तलवे सहलाना, थाईसिस का-सा मरीज, दवा-दारू करना, धातु गिरना, नब्ज़ हाथ न आना, नब्ज़ पकड़ने की तमीज़ न होना नब्ज़ छूटना, नकसीर भी न फूटना, नज़ला झाड़ना, नस या नसें ढीली पड़ जाना, नश्तर देना,

लगाना या लगना, नासूर डालना या भरना, नाड़ी छूट जाना, नील पड़ जाना, नीला-पीला हो जाना, नुसख़ा बताना, पथ्य मिलना या लगना, पारा गर्म होना, तेज़ होना या चढ़ना, पारापारा करना, पारा भरा होना, पीप चूना, पेट छूटना, फस्द खुलवाना या खोलना, फफोले फोड़ना, या फूटना, फँका मारना या करना, फ़ालिज गिरना, फाँस निकालना, फाँका मारना, फोकट में या फोकट का, फेफड़ी बाँधना, पड़ना, बहकी-बहकी बातें करना, बाव सरना, साइर का फल या गाँठ, मुँह-पेट चलना, मुसिल लेना या देना, मंदा साफ़ करना, मौसमी बुख़ार होना या चलना, रंग पीला या सफ़ेद पड़ना, रग पट्ठे से वाकिफ़ होना, रग चढ़ना या दबाना, रग पहचानना, रग-रग में, राय कायम करना, रूई लगाना (कानों में), लकवा मारना या मार जाना, लेप चढ़ाना, वाई की झोंक, विष बोना, विष की गाँठ, शिकायत रफा करना, शिगाफ़ देना या लगाना, शीशी सुँघाना, शोरे की पुतली, सिर सहलाना या फिरना, सलाई फेरना, सूखा लगना, सूखे का रोग, सूख चिड़ी होना, हलक़ में उँगली देकर निकालना, हाथ में शफ़ा होना, हीरे की कनी चाटना।

४. मुद्रा, मुद्रालय तथा विभिन्न धातुओं इत्यादि से सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरे—

एक ही सिक्के के दो पहलू होना, अशर्फियों की लूट होना, अधेला-पैसा, कंचन बरसना, कुन्दन हो जाना, कुन्दन-सा चमकना, कौड़ी के मोल बिकना, कौड़ी काम का न होना, कौड़ियें करना, खरा-खोटा परखना, खोटा पैसा, चाँदी का पहरा, चाँदी कटना, काटना या चार पैसा होना, चुटकी लगाना, चेक कटना या काटना, टके सीधे करना, टके गिनना, टेंट में कुछ होना, टेंट ढीली करना, ठप्पा मारना या करना, दाम दमड़े करना, दमड़ी-दमड़ी को मुहताज, दमड़ी-दमड़ी के तीन होना, थैली कटना या खोलना, पैसा परमेश्वर होना, पैसा-पैसा करना, पैसा खींचना, पैसे के तीन धेले भुनाना, पौने सोलह आने लेना, ब्लैंक चेक देना, रुपया पानी में फेंकना, रुपया ठीकरी करना, रुपया हो जाना, रुपये की मार या चोट, रुपया गलना, लाख रुपये या टके की बात, लाल उगलना, लाल लगे होना, सोना उगलना, सोने में सुगन्ध होना, सिक्का चेहरे शाही, सिक्का जमना या बैठना सोलह आने, सोलह-सोलह गंडे सुनाना।

५. गणित के अंकों अथवा गिनतियों इत्यादि से आये हुए मुहावरे—

अस्सी हजार फिरना, आठ के अस्सी करना, आधोआध करना, इक्कीस होना या निकलना, उँगलियों पर गिनना, ऊत चालीस सेरा, उन्नीस होना, उन्नीस-बीस होना, उन्नीस-बीस का फर्क, एक और एक ग्यारह होना या करना, एक-एक के दो-दो करना, एक से दस होना, एक से इक्कीस होना, एक की चार लगाना, एक की दस सुनाना, औने-पौने करना, गिन्ती होना, चार-पाँच करना, छटाँक भर का, डेढ़ पली खून बढ़ना, दो चार होना, दो चून के भी बुरे होना, दो-दो दाने को फिरना, दो दिन का, दो तीन या दो एक, दो चार, दो-दो होना, दो कौड़ी की इज्जत होना, दस पाँच, दस बीस, दस बारह या पन्द्रह, नौ-दो ग्यारह होना, नौ तेरह बाईस, निन्यानवें के फेर में पड़ना, पाँच-पच्चीस, बीसों-बिसे, बावन तोले पाव रत्ती, मुकर्रर-सिकर्रर, रत्ती-रत्ती, रत्ती-भर काम न करना, लाखों में एक, लाख से लखि होना, लेना एक न देना दो, सूखा चालिस सेरा, सूद पर लगाना या देना, सूद-दर सूद लेना, सूद के घोड़े दौड़ाना।

६. भारतवर्ष कृषि-प्रधान प्रदेश होते हुए भी कार-व्यापार, क्रय-विक्रय एवं दूकानदारी की कला में भी संसार के किसी राष्ट्र से कम उन्नत नहीं है, जिस समय युरोप में सभ्यता का स्वप्न भी किसी ने नहीं देखा था। भारतवर्ष जल और थल दोनों मार्गों से अरब और मिस्र इत्यादि के साथ व्यापार किया करता था। जो राष्ट्र वाणिज्य और व्यापार में इतना आगे बढ़ा-चढ़ा रहा हो, उसकी भाषा में छोटे-बड़े सभी प्रकार के वाणिज्य और दूकानदारी तथा उनके उपकरणों से होकर

हिसाब-किताब और रोकड़ रोजनामचे तक के बहुत-से मुहावरों का आ जाना स्वभाविक ही है। इन मुहावरों में बहुत-से थोक माल बेचनेवालों से आये हैं, तो थोड़े-बहुत खोंचा उठानेवाले या बकुचा ढोनेवालों से भी आये हैं। ग्राहकों को भी इस काम में कुछ कम श्रेय नहीं है। बनिया-पन दिखाना या डंडीमार होना इत्यादि मुहावरे ग्राहकों के व्यंग्य का ही फल है। संक्षेप में कुछ उदाहरण नीचे देते हैं—

अकरा मँहगा करके, अकरामद्दा, अकरे का समय, आँक डालना, इतना-उतना करना, उलट-पुलट कर देखना, उलट-उलटा कर देखना, उलटे काँटे तौलना, उधार खाये बैठना, उधार पानी भरना या होना, उधार की माँ न मरना, ऊँचा जाना (बाजार), एतबार जमना, उठना या खोना, एक रकम होना, एक मुस्त या मुट्ठ, ऐंठना (पेट), औने-पौने दामों में बेचना, ऋणी करना, ऋण मढ़ना, ऋण पटना या पटाना, ऋण से दबना, कच्चा चिट्ठा कहना, काँटे की तौल तौलना, काँटे में तुलना, ख़र्च खाते में डालना, खाते बाकी,ख़ाली हाथ होना, खोंचा उठाना या ढोना, गाहक पटाना या बनाना, गाहकी न होना, गाहक न होना (कोई), गद्दी पर बैठना, घाटे में रहना, चलता लेखा या खाता, चिट्ठी करना, छल-छिद्र होना, छाकटेबाजी चलना, ज़बानी जमा-ख़र्च करना, जमा मारना, जमा इकट्ठी करना, जीविका लगाना, झगड़ा मोल लेना, टाट उलटना, टाँको खाना या बजना, टाँकी लगाना, टोकरे पर हाथ रखना, टोटल मिलाना, ठेका लेना, करना या देना, ठेकेदार होना, ठेका होना (किसी का), ठोक-बजाकर लेना, ठोंकना-बजाना, डंडी या डंडी मारना, डंडी की तोल देना, ढेर-का-ढेर होना, ढेर लगाना, ढेरसारा होना, तराजू हो जाना, तोल-जोख-कर, थैला करना, थोकदार होना, थोक भाव पर देना, थोक करना, दर्शनी हुंडी होना, दाम खड़ा करना, दाम दमड़े करना, दिवाला निकलना या बोलना, दिवालिया होना, दिसावर लदना या भरना, दुकानदारी करना, दुकान बढ़ाना, दोनों की चाट पड़ना, दौलत का मेंह बरसना, घड़ियों के धोखे, घड़ियों होना, धड़ कटना या लगाना, धड़ा करना, धड़ा मारना, नाम बिकना, नफ़ा नुक़सान सोचना, नफ़ा ही क्या, पक्का काग़ज़, पासंग होना, पासंग-भर न होना, पलड़ा भारी होना, पड़ता न पड़ना, पड़ता फैलना, पट्टा लौटना या उलटना, फ़ायदे में रहना, फेरा-फारी करना, बनियापन दिखाना, बयाना देना या लेना, बकुच लादना, बट्टे खाते में पड़ना, बट्टे से बेचना या देना, बही पर चढ़ना, बाज़ार ठंडा होना, बाज़ार-भाव पीटना, बाज़ार चढ़ना, विध मिलना या मिलाना, बोहनी करना, बोहनी का वक्त, भाव चढ़ना या उतरना, भाव-के-भाव बेचना, भार उठाना, मेल बैठना या बैठाना, भंडी लगना या होना, मोल-भाव करना, मोल के-मोल बेचना, मोल न करना, मोल के दाम, रोकड़ मिलना, रोकड़ सौंपना, रोज़गार करना, रौल-रौल कर, वसूल करना, होना या पाना, व्यवहार चलाना, वायदा टालना, वायदा खिलाफी करना, वापिस करना, शरह तै करना, शरह से, शान में बट्टा लगना, सर्राफ़ के से टके, सस्ते का समय होना, सट्टी लगाना, सट्टा-बट्टा लड़ाना, साँई का माल होना, सौदा सुल्फ़ लेना।

इस वर्ग के कुछ फुटकर तथा कुछ ऐसे प्रयोग, जो किसी-न-किसी प्रकार इस क्षेत्र से सम्बन्धित हैं—

कूची लगाना, रंग भरना, पंचम सुर में अलापना, सरसाम होना, किताब का कीड़ा होना, किताबों में क़ब्र बनाना, अख़बारी दुनिया, काल कोठरी होना, सात समुद्र पार होना, हिटलरशाही होना, बहसत सवार होना, ठीक उतरना, थका-माँदा होना, राय-मशवरा करना इत्यादि-इत्यादि।

'उ'

(१) इस प्रसंग में हम अलग-अलग शीर्षक चुनकर मानव-जीवन एवं उसके निर्वाह के लिए आवश्यक उपकरणों और साधनों इत्यादि के आधार पर रचे हुए मुहावरो को लेंगे। अपने भावों

को व्यक्त करने के लिए हम प्रायः अपने आसपास के क्षेत्रों से ही शब्द ढूँढ़ते हैं, इसलिए और भी हमारे अधिकांश मुहावरे घरेलू वातावरण में पले हुए मालूम होते हैं। उदाहरण के लिए हम सबसे पहिले लुहार, बढ़ई, सुनार, रँगरेज, धुना, नाई, धोबी इत्यादि घरेलू उद्योग-धन्धा करनेवालों के व्यवसाय तथा कातने, बुनने, सीने-पिरोने इत्यादि-इत्यादि के उपकरणों से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ मुहावरे लेते हैं। देखिए—

अटेरन कर देना, अटेरन होना, अंजन चलाना, अपनी रूई सूत में उलाफना, आवे का आवा बिगड़ना, आँट पर चढ़ना, आड़ी करना, चाँदी-सोना, आँखों में तकला या टेकुआ चुभाना, उत्तू होना या करना, उजरत पर करना या कराना, उधेड़-बुन में रहना, उधेड़ डालना, उलटे छुरे या उस्तरे से मूँड़ना, उलझ टूटे सुलझाना, उलझा-पुलझा, एँठ निकालना, देना या लेना, एँठ उतारना, एँठे-एँठे फिरना, कतर-ब्योंत करना, किसी के तकले से बल निकालना, कोल्हू में पेलना, खराद पर चढ़ना या चढ़ाना, खराद करना, खरैरा करना, गला तैयार करना, गाला-सा, घड़ी करना, घानी करना, घानी का, चरखा चलाना, चलता पुरज़ा होना, चमक-दमक लाना, चमड़ी उधेड़ना, चमड़ा खींचना, जंतरी में खींचना, जूतियाँ गाँठना, जोड़-का-जोड़ मिलना, झोंक देना, झोल निकालना, झोल पड़ना, टप्पे डालना, भरना या मरना, टाँक लेना, टाँका मारना, ढालना साँचे में, तह करना, तह करके रखना, ताना-बाना करना, तान तोड़ना, तान तिशन करना, ताने सहना, तार-तार होना, तार बाँधना, ताव खा जाना, ताव देखना या दिखाना, ताव में आना, ताँत या ताँतड़ी-सा होना, तागा डालना, तुर्रा करना, तेल निकालना, तिलों से तेल निकालना, तोपा भरना, थिगली लगाना, धौंकनी लगना, धौंकते फिरना, धागा भरना, धार चढ़ाना, धो-धाकर साफ करना, धोब पड़ना, धोबी का छैला, धोया-धाया, नील देना, नन्हा कातना, नुक्का मारना, पच्ची हो जाना, पच्चर ठोकना या अड़ाना, पुरज़े झड़ना, पुरज़े-पुरज़े होना या करना, पुरज़े निकालना, पुरज़े ढीले करना, पेंच घुमाना, पेवंद लगाना, भाड़ झोंकना, भाड़ में पड़े या जाय, बल खोलना, बंद-बंद जुदा करना, बरतन पकाना, ब्योंत बाँधना या खाना, बखिया उधेड़ना, बात खटाई में पड़ना, बाल की खाल खींचना, मोती पिरोना, माट बिगड़ जाना, मुर्री देना, मूड़ लेना, राँड़ का चर्खा होना, रंग में रँगना, रंग चढ़ाना या जमाना, रफू करना या होना, रूई की तरह तूम डालना, रूई-सा धुन देना, रूई-सी पीन देना, राछ घुमाना (राछ=औजार) राज-मज़दूर लगना, लड़ मिलाना, लड़ में रहना, लड़ सुलझाना, वारनिश करना, शिकंजे में खींचना, शिकंजे ढीले करना, सान पर चढ़ना, सान देना या धरना, साँचे में ढालना, सूत धरना, सूधे-सूध, सूत बराबर।

(२) सार्वजनिक और व्यक्तिगत भवनों तथा साधारण कोटि के मकान और झोपड़ी को लक्ष्य करके बनाए हुए मुहावरे—

अँधा झोंपड़ा, अँधेरा घर, अंधे अपाहिजों का डेरा, आलीशान घर, काजल की कोठरी, कौले दिवाले लगना, खपरैल डालना, खाला जी का घर, घर फूँक तमाशा देखना, घर बसना या बसाना, घर उठाना, घर भरना, चबूतरे चढ़ना, चार दीवारी लाँघना, चुना हुआ, चूना छूना, फेरना या पोतना, छज्जेदार, छज्जे पर बैठना, छज्जे झाँकना, छप्पर पर फूस न होना, छप्पर टूट पड़ना, जी में घर करना, झोपड़ी डालना, झगड़े की झोपड़ी होना, टिकट-घर, टिकन देना, टेकन लगाना, डेरा डालना या पड़ना, डेरा-डंडा उखाड़ना, ड्योढ़ी दिखाना, ड्योढ़ी न झाँकना, ताक़ पर धरना या रखना, दीवार उठाना, दीवार खड़ी करना या धरन टलना, सरकना, नाबदान में मुँह मारना, नींव का पत्थर, नींव भरना, नींव देना (गहरी), नींव डालना, पलस्तर लेना या उड़ाना, बुनियाद डालना या पड़ना, बुनियाद कमज़ोर होना, भीत के बिना चित्र बनाना, भीत में दौड़ना, भीतर का कुँआ, मोरी पर जाना, मोढ़े पर होना (घर के), लीप-पोतकर रखना, रंगमहल में, शीश-महल का कुत्ता, सीढ़ी-सीढ़ी चढ़ना।

कुछ फुटकर प्रयोग—क़िले का क़िला, मकान होना, महल बनाना, सराय बनाना, धर्मशाला समझना, नानीजी का घर होना, आले-दिवाले, चूल-विचाले में, कोट-कचहरी इत्यादि।

३. रसोई-घर, उसके बर्त्तन तथा घर की झाड़ू-झपाड़ा तथा आग-पानी और धुएँ की आकृतियों तथा खाद्य पदार्थ, नशे की वस्तुओं और चिलम तमाखू इत्यादि से सम्बन्धित मुहावरे। (आग से हमारा अभिप्राय केवल रसोई-घर की आग से ही नहीं, वल्कि सब प्रकार और सब जगह की आग से है।)—

अमचूर बना देना, अफ़ीम खाकर काम करना, अफ़ीमची होना, अंगूरी पीना, अंगाकड़ी करना या लगाना, आग फाँकना, आग लगाकर तमाशा देखना, आग फूँक देना, आग-फूस का बैर, आँच न आना, आटे की आया, आधे पेट उठना या रहना, ओखली में सिर देना, उरद के आटे की तरह ऐंठना, उरद-भात होना, उलटा तवा, उठल्लू चूल्हा, उठाऊ चूल्हा, उँगलियाँ चाटना, कच्ची रसोई, कच्ची-पक्की खिलाना, कढ़ाई चढ़ना, काला तवा, खाना-पीना या खान-पीन, खा-पका डालना, खाजा बनना, ख़मीर बिगड़ना, खराई मारना, खिचड़ी पकाना, खील-खील करना, गहरी छनना या घुटना, गाढ़ी छनना, गोबर का स्वाद होना, धान लगाना, घंसले निगलना, घोल-मट्ठा करना, घोलकर पी जाना, चपाती-सा पेट होना, चटनी होना, चिनगारी छोड़ना, चित्ती पड़ना, चिकनी-चुपड़ी बातें करना, चुपड़ी हुई मिलना, चिलम चढ़ाना, चिलम भरना, चूल्हा-चक्की करना, चूल्हे आगन पलैंड़े पानी, चुल्लू में उल्लू होना, चौका-बरतन करना, चंडू खाने की उड़ाना, छनन-मनन होना, छान-बीन करना, छान-पछोड़ करना, छुन-छुन होना, छौंक-भूनकर, जली-कटी या जली-भुनी, ज्वाला जलना, ज़ियाफ़त करना, जूठे हाथ से कुत्ता न मारना, जोश देना, झाड़ना-बुहारना, झाड़ पोंछकर, झाड़ू से सिकोरना, झाड़ू-झपाड़ू करना, टिकड़ा लगाना, टुकड़ों पर पड़ना, टुकड़ गधा होना, ठंडी करके खाना, डटकर खाना, डाढ़ न कुरेदना, तवा चढ़ाना या रखना, तवे की बूँद, तवे की तेरी घई की मेरी, तवा-सा मुँह होना, तमाकू चढ़ाना, भरना या पीना, तलवों से आग लगना, तार देखना, ताज़ा करना, (हुक्का), तंदूर झोंकना, तिल चाटना, तिक्का-चोटी करना, तेल में हाथ डालना, थई लगाना, थाल सजाना, या परसना, दाल गलना, दाल रोटी से खुश, होना, दिल से धुआँ उठना, दूध का-सा उबाल, धतूरा खाये फिरना, धुआँ होना, करना, धुआँधार होना, धुएँ का धौरहर, धुएँ के बादल उड़ना, धुएँ उड़ाना, बहार तोड़ना, नशे में धुत होना, नशा-पानी करना, नशे में चूर होना, नमक खाना (किसी का), नमक-मिर्च लगाना, नमक होना, नमक अदा करना, नून तेल की फ़िक्र करना, पक्की रसोई, पक्का खाना, पलेथन निकालना, पाँचों उँगली घी में होना, प्याज के-से छिलके उतार देना, पिये हुए होना, पुराना चंडूल, फटकना-पछोरना, फटकने न देना, फटका न खाना, फूली-फूली खाना, फूँक-फाँक देना, बतासा-सा घुलना, बोतल ढालना, भट्ठी दहकना, भख करना, भभूके उठना, भंग छानना, भंग के भाड़े में जाना, भुरता करना या बनाना, भूखों मरना, भेजा खाना या निकालना, भोजन पेट में पड़ना, मुँह में आग लगना, मिर्चे लगना, रसोई तपना, रगड़े लगाना, रगड़ेबाज़ी करना, राई-काई होना, रिज़्क देना, रूखा-सूखा होना, रोटियों से तंग होना, रोटी पर रोटी रखकर खाना, रोटियाँ लगना, लोढ़ा बजना, लड्डू-पूरी होना, शराब ढलना, शरबत गुल गपाड़ा, सत्तू बाँधकर पीछे पड़ना, सटक जाना, स्वाद बना-बनाकर खाना, स्याही पुतना, सेवई पूरना या बटना, हाँडी में छेद करना, हँडिया डोई खड़कना, हुक्का-पानी बन्द करना।

४. घर-गृहस्थी के फर्नीचर तथा अन्य वस्तुओं के आधार पर बने हुए मुहावरे—

अलमारी किवाड़ी, अलगनी बाँधना, आईना होना, खाट तोड़ना, खाट पर पड़े खाना, खाट से लगना, खटिये पीढ़े बटोरना, घड़े मटके, घड़े रखना, चक्की हाथ में आना, चक्की का पाट, चारपाई तोड़ना, चिराग बत्ती करना, चिराग-से-चिराग जलाना, चिराग गुल होना, चूने दानी होना, छींका टूटना (बिल्ली के भागों), छलनी कर डालना, छलनी में डाल छाज में उड़ाना, छाज सी दाढ़ी,

छाजों मेंह पड़ना, तख्त हो जाना, ताला-कुंजी सौंपना, ताले में रखना, दराँती पड़ना, दीवट कहीं का, पलंग से पैर न उतारना, वर्त्तन भाँड़े, भाँड़ा फूट जाना, भाड़े भरना, बेपेंदी का लोटा, फूलकर मसक होना, शीशा-सा चमकना, शीशे में मुँह देखना, सुई का फावड़ा करना, सूप-से कान होना।

कुछ फुटकर प्रयोग—कुर्सी तोड़ना, कुर्सी देना, मेज़-कुर्सी होना, दरी-कालीन बिछाना, गद्देदार होना, गुदगुदा होना, चिक उठाना, मूढ़ा डालना, कुर्सी मूढ़े, आरामकुर्सी होना, गाँव तकिये इत्यादि-इत्यादि।

ऊ

समाज को यदि सचमुच स्वतंत्र व्यक्तियों की एक व्यवस्थित माला के सदृश मानें, तो सामाजिक रीति-रिवाज आचार-विचार और व्यवहार इत्यादि ही वे तन्तु हैं, जिनका सूत्र उन्हें युग-युगान्तर से इस प्रकार संगठित बनाये चला आ रहा है। इतना ही नहीं, बल्कि उस माला का प्रत्येक मोती जिस प्रकार सूत्र के रंग में सराबोर-सा रहता है, समाज का प्रत्येक प्राणी भी इन रीति-रिवाज इत्यादि में इतना घुल-मिल जाता है कि वह इन सबसे बाहर रहकर कुछ सोच-विचार ही नहीं सकता। यही रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार और नाते-रिश्ते इसलिए अपने मनोभावों को स्पष्ट और ओजपूर्ण ढंग से व्यक्त करने में उसे एक लोक-प्रिय मुहावरा-कोष का काम देते हैं। फिर चूँकि, हमारी सभ्यता और संस्कृति और इसलिए सामाजिक अवस्था भी बहुत पहिले से ही अधिक उन्नत और व्यापक रही है, हमारी भाषा पर उनका व्यापक प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। अलग-अलग शीर्षकों के अंतर्गत अब हम इस प्रकार के थोड़े-थोड़े उदाहरण लेकर अपने कथन की पुष्टि करेंगे।

१. विवाह-शादी, दान-दहेज, बनाव-शृंगार और तत्सम्बन्धी लोकाचार एवं पति-पत्नी सम्बन्ध, प्रजनन और शिशु-पालन इत्यादि से सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरे—

इमली घोंटना : विवाह के समय लड़के या लड़की का भैया उसको आम्रपल्लव दाँत से खोंटाता है और यथाशक्ति कुछ पैसे भी बाँटता है।

अँगूठी बदलना, अँगूठी छल्ले पहनाना, ओनी आना, कपड़ों से होना, कोथली भरना, कौल लेना, खसम करना, खसम जोरू होना, खसम की नानी, गले का हार, गृहस्थी सँभालना, गाँठ जोड़ना, गोद भरी रहना, गू-मूत करना, गोद खिलाना, गौना देना या लाना, घाँटी चौड़ी करना, घुटनों चलना, घुड़चढ़ी होना, घुट्टी में पड़ना, घूँघट उठाना, घोड़ी बन्ने गाना, चट मँगनी पट ब्याह, चूड़ियाँ पहनना, चूची पीना या चूसना, चूची-पीता बच्चा होना, चोटी करना, चोली-दामन का साथ होना, चौथी खेलना, छठी का दूध याद आना, छठी में पूजना, ज्योनार करना, जन्मघूटी का रस होना, जूड़े का फूल होना, झूंट छठी में पूजना, टिप्पन का मिलाना, टीका भेजना, देना या करना, डोला देना, ढोलक खड़कना, ताग पाट डालना, तले ऊपर के होना, तिल चावली देना, तिलक भेजना या चढ़ाना, तेल चढ़ाना, थाली बजना, दुलहन के-से नखरे, दाई से पेट छिपाना, दिखावे की तियल, नग-सा जड़ना, नाड़ा पल्ला देना, नाक चोटी में गिरफ्तार, नुत्फा ठहरना, नेग होना या करना, नौबत बजना, पत्तल खोलना, पत्तल लगाना, पट्टा फेर करना, पानदान का खर्च, पानी फेरना, पूतड़े धोना, पूरे दिनों से होना, फेरों की गुनहगार होना, फेरे फिरना, ब्याही बरी होना, ब्याह पीछे बरात, बधाई डालना, बचन में बाँधना, बच्चों का खेल, बच्चा जनना, बेटी ब्याहना, मेहर बाँधना, महीने से होना, मँगनी करना या होना, माँग पट्टी करना, माँग भरना, मिस्सी काजल करना, मेंहदी लगी होना, मूठ मारना, मौर बाँधना, लड्डू पूरी होना, लेना-देना हो जाना, लाली रचना, शकुन चढ़ना, शोभे में आना, स्त्री को दिन चढ़ना, संसारी होना, सिर पर सेहरा

होना, सुहाग रात होना, सुहाग बना रहे, सेहरा बँधना, सेंदूर चढ़ना, सौतिया डाह, सौत कहीं की, हार डालना, हाथ पकड़ना, हाथ पीले होना।

२. दाह-कर्म संस्कार तथा उसके बाद होनेवाले तत्सम्बन्धी कर्म अथवा क्रियाओं से सम्बन्धित मुहावरे—

अरथी पर रखना, अरथी के साथ जाना, आग देना, कंधा देना, काँड़ी कफन, कफ़न खसोट होना, कूँचा देना, ख़ाक डालना, चिता चुनना या बनाना, चिता में बैठना, चिता पर रखना, चिता सुलगना, चूड़ियाँ ठंडी करना, चूड़ी बिछुवे उतारना, छाती कूटना या पीटना, ज़मीन का पेवंद होना, ज़मीन में गाढ़ना, टीमकी देना, तीजा-तेरही करना, तीया-पाँचा करना, तिनका तोड़ना, न तीन में न तेरह में, पल्ला लेना, पानीदेवा न नामलेवा, पिंडा-पानी देना, पिंड छोड़ना, फूल चुनना, फूल सिलाना, या बहाना, मरने जीने में साथ देना, मिट्टी ठिकाने लगना, मुर्दा कहीं का, मुर्दे से शर्त बाँधकर सोना, मुर्दा होना, मुँह फूँकना, राँड़ होना, राँड़ कहीं की, सती होना, स्यापा पड़ना, श्राद्ध करना या होना।

कुछ फुटकर प्रयोग—क़ब्र खोदना, क़ब्र बनना, क़ब्र में पैर लटकाना, क्रिया-कर्म करना या क्रिया-कर्म में बैठना, जनाज़ा निकलना, तिलांजलि देना, सन्दूक़ बनाना, कपाल-क्रिया करना, शव के साथ जाना, चिता ठंडी करना इत्यादि।

३. तीज-त्योहार, व्रत-पूजा, नाते-रिश्ते, साधु-संत तथा व्यापक लोकाचार और लोक-व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरे—

आदाब अर्ज करना, इस्तिंजे का ढेला होना, ओढ़नी बदलना, औरतों को मात करना, कन-छेदन होना, ख़ानदान को बट्टा लगाना, गधे को बाप बनाना, गोद लेना, घंटे-घड़ियाल बजना, कंधे में झोली डालकर फिरना, ख़ानदानी होना, कढ़ाई करना या होना, चद्दर उतारना, लेना, चरण छूना, चाँद दीखे, चौर ढलना, झोली डालना या भरना, जनाने या जनानखाने में, जाहिरदारी बिगाड़ना, टोपी पैरों में रखना, टोपी-बदल भाई होना, तशरीफ़ लाना या रखना, तशरीफ़ का टोकरा, त्योहार मनाना, ताज़िया ठंडा होना या करना, तीज-त्योहार भेजना, दीदों की क़सम खाना, दुआ सलाम बनी रहना, दूर से सलाम करना, धूनी रमाना, निशान देना या खड़ा करना, नानी याद आना, नानी मर जाना, परदे में रहना, परदा करना, परदा रखना, परदे की बू-बू होना, पगड़ी पलटा पार, पिचकारी मारना, फ़कीर होना, फक्कड़ होना, फगुआ खेलना, बरस दिन के दिन, बाप-दादा का नाम डुबोना, बाप बनाना, बाप तक जाना, बाप रे, बेटे-पोते होना, बिरादरी से बाहर होना, बीड़ा डालना, बीड़ा उठाना, बेटी-रोटी करना, भभूत रमाना, भभूत झड़ना, मुहर्रम की पैदाइश होना, मेहमानी करना, मूँड़ मुड़ाना, रमते-भमते जीव होना, खाज में आना, राम-राम श्याम-श्याम, राम-राम करना, रूमाल हिलाना, रोजा खोलना, शऊर न होना, सदा देना या लगाना, संकल्प छोड़ना, साष्टांग प्रणाम करना, सिर सूँघना, सोटा चलाना, संगत में रहना, संगत का असर होना, होली-दिवाली पर।

४. कपड़े-लत्ते और शौच-सफाई से आनेवाले मुहावरे—

अंगिया के बंद टूटना, आँचल देना या पसारना, आँचल में बाँधना, उजलेपोश होना, ओढ़नी सिर पर रखना, ओढ़े या बिछावे, ओढ़नी उतारना, एक ही टाट के, करधनी टूटना, गद्दा करना, गली बार जाना, गली में जाना, चिखत्ती कर डालना, चीथड़ों लगना, चीथड़े लपेटना, चोली-दामन का साथ होना, टाट में पाट की बखिया, ढीली धोती, तिरछी टोपी, धज्जी उड़ा देना, धोतर होना (पतला), पतलून से बाहर होना, पगड़ी बाँधना, पग्गड़ बाँधना, फरागत पाना या जाना, फजीलत की पगड़ी, फूँसड़े निकलना, फेंट बाँधना या कसना, फाँड़ा बाँधना या कसना, बेहयाई का

जामा पहनना, बुरका उतारना, मैला-कुचैला रहना, मोटा पहनना, वेश-भूषा, वेष बदलना, लंगोटी लगाना, शिकन पड़ना, शौच जाना, साफा पानी करना।

५. चोर, डाकू, रंडी, भड़वे इत्यादि अभद्र पुरुष और उनके कृत्यों के आधार पर बने हुए मुहावरे—

उठाईगीरा होना, उठा के भागना, कुम्बल लगाना, चोर बनना, चोरों से पाला पड़ना, चोरों से मोर मरवाना, चोरी लगना, चोर के घर में छिछोरे, छिछोरापन करना, जेब काटना, छापा मारना, टट्टी हटाना, ठग-विद्या फैलाना, ठगोरी डालना, ठग के लड्डू खाना, ठग-ठगकर पूछना, ठगी करना, डाका डालना या मारना, डकैती होना या करना, नथनी उतारना, नकाब डालना, रखेल होना, रंडीपेशा करना या होना, रंडी का तमाशा होना, रंडीबाजी करना, रंडी कहीं की, रंडी-भड़वे नचाना, लुटेरा होना, लूट-खसोट करना, लूट-मार मचाना, लौंडे नचाना, सतीत्व बिगाड़ना या नष्ट करना, सेंध मारना या लगाना।

६. साधारण सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ फुटकर प्रयोग —

आसरा देना या तकना, आगे होकर लेना, अगवानी करना, ओढ़ना गले में डालना, इनाम-इकराम देना, ऊपरी अच्छे होना, कड़े हाथ में पड़ना, गाड़ी छूटना, गड़े मुर्दे उखाड़ना, गुलाम होना, जंजीर खींचना, जूतियाँ पड़ना, टहल में रहना, टिकट कटाना, ट्रेन छूटना, डंड पड़ना या डालना, तसवीह फेरना, तार देना, दुद्धी कूटना, धनी-मानी होना, धर्मखाते के नाम, पंच मानना या करना, पंच की भीख, पंचायत करना, भद्र होना, भाँड होना, भूखे मंगों, से पाला पड़ना, महधल मारना, मूँह काला करना, मूँछें ऐंठना, राम का नाम लो, लाल झंडी दिखाना, लदान बन्द होना, लेक्चर झाड़ना, लोक-लाज रखना, लोटा-नमक करना, साई बजाना, साई देना या लेना, साये होना।

ए

१. अदालत, कानून और पुलिस तथा उनके कार्यों और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले कागज-पत्रों के आधार पर बने हुए मुहावरे—

अदालत करना या होना, अर्जी गुजारना, अर्जी दावा, उलट देना, इत्तिला देना या करना, इत्तिफ़ाक़ राय से, इजलास खोलना या करना, एकतरफा डिग्री होना, एक आँख देखना, एक कलम बरखास्त करना, एकमत होना, कचहरी चढ़ना, कानून छाँटना या तोड़ना, कुर्की करना, कैद करना या कैद में डालना, कैद लगाना, खता करना, खतावार होना, गवाह सुनाना, देना या बनाना, गजट कराना, गश्त मारना या लगाना, गंगा उठाना, गरदन नापना, गंगजली उठाना, गिरफ्तारी निकालना चालान करना या भेजना, जब्ती में आना, जरे डिगरी, जिरह करना या निकालना, जेल का डर होना, जेल की हवा खाना, जेल काटना या कटवाना, जेल में डालना, झाड़ा लेना या देना, टिकट भरना या माँगना, टोह लगाना या लेना, डिगरी जारी कराना या होना, डुगडुगी पिटना, डुग्गी पिटना, डौंड़ी पीटना, डंड भरना, डंड देना या पड़ना, तहकीकात आना या करना, तनकीह कायम करना, तलबी आना, तय पाना या होना, तलाशी देना या लेना, तारीख पड़ना, थाने खाने तलाशी होना, थाने चढ़ना, थाने में जाना, दरख्वास्तें लगना, दफा लगना, दस्तक लेना, दावा खारिज होना, दायर होना, दौरा सुपुर्द होना, दौड़ आना या भेजना, धर-पकड़कर, धर्म लगती कहना, नजीर बनना या होना, न्याय की भीख माँगना, नालिश ठोकना, पकड़-धकड़ होना, पक्की रसीद देना, पहरा बदलना, पंच फैसला, पाँव में बेड़ी पड़ना, पेटी-वर्दी लैस होना, फरार होना, फर्द जुर्म में नाम होना, फाँसी चढ़ना, फाँसी का फंदा, फैसला सुनाना, फैसला करना, बहाल करना (हुक्म), बड़े घर की सैर करना, मिसिल उठाना, मिसली चोर या बदमाश, मियाद पूरी होना,

मुकदमा लड़ना, रसीद कराना, राय लेना, रु-रियायत न करना, लेदे पर पीछा छुड़ाना, वकालत करना, व्यवस्था देना, सवाल देना, सेशन सुपुर्द होना, सूली पर प्राण लटकाना, हवालात में डालना, हलफ से कहना, हाथ पर गंगाजली रखना, हाशिये का गवाह, हाजिर होना, हिरासत में लेना या करना।

२. राजा, प्रजा और राज्य-व्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य विभागों से सम्बन्धित मुहावरे—

अमन शान्ति रखना, अमले का अमला, अमलदारी होना, इनाम बँटना या रखना, इकबाल काम करना, ऊपर की आमदनी, ऐलानिया काम करना, ऐलान होना या करना, कागजी हुकूमत, कागज के घोड़े दौड़ाना, कोरट होना, गर्म दल के होना, चार्ज देना या लेना, चुगली खाना, चौकी बैठाना, छत्र-छाँह में रहना, छुट्टी न मिलना, छुट्टी मनाना, जय-जयकार मनाना, जवाब-तलब करना, जमानत माँगना, झंडा निकालना, झंडा लगाना, झंडी दिखाना, झंडा फहराना, झंडे तले की दोस्ती, झंडा गाड़ना, टकसाल चढ़ना, ठहराव होना, डाक से जाना, डाक लगाना, ढाल बाँधना, ढिढोंरा पीटना, तबादला उड़ना या उड़ाना, तातील मनाना, दरबार बरखास्त होना, दरबार लगना या जुड़ना, दफ्तर खोलना, दस्तखत लेना, दिल का बादशाह, दौर दौरा होना, दौरा करना, धरना देना, नोटिस देना, पड़ताल करना या होना, पार्सल करना, पिंशन देना या होना, पेटी उतारना, फर्ज अदा करना, भय दिखाना, मुकाम होना या देना रंक से राजा होना, राजगद्दी होना, राज देना, राज-काज, राज रजाना, राजनीति होना या समझना, राजरोग होना, राजस्व लेना, राम-राज्य होना, लाल झंडा होना, लिफाफा होना, लोक-तंत्र होना, व्यवस्था करना, विश्वास जमाना, वोट देना या माँगना, शासन करना या चलाना, शोषण करना, स्वतंत्र होना, सलामी लेना या देना, सलामी दगना, सल्तनत बैठना, सत्ता चलाना, सरकारी काम से, साका चलाना, सीमा से बाहर जाना, सूरमा होना, सौगात भेजना, हद बाँधना, हद व हिसाब न होना, हथियार जब्त करना, हरताल होना या कराना, हुकूमत चलाना, हरी झंडी होना, हुक्म चलाना, हाकिम हुक्काम, हुकूमत में रहना।

ऐ

वैदिक धर्म की जहाँ सबसे बड़ी एक यह विशेषता है कि वह मुसलमान, ईसाई और पारसियों के धर्मों की तरह एक और केवल एक ही सन्त या महात्मा की देन नहीं रहा है। उसका जो रूप आज हमारे धर्म-ग्रन्थों में बिखरा हुआ मिलता है, वह वास्तव में किसी एक ऋषि, महर्षि अथवा दिव्यद्रष्टा की बुद्धिमत्ता अथवा दार्शनिकता का कोरा काव्य नहीं है, उसका स्वाभाविक विकास हुआ है, आस्तिक और नास्तिक सभी विचारधाराओं के सन्तों ने अपनी निरन्तर तपस्या के बल से उसे विकसित और अति व्यापक बनाया है। संक्षेप में, जहाँ वह असंख्य ऋषि, मुनि और सन्त महात्माओं के सफल जीवन का समष्टि-केन्द्र रहा है, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की आवश्यकताओं की दृष्टि से वही उसका व्यष्टि रूप भी रहा है। मानव-जीवन को सुखमय और सफल बनानेवाले सभी साधनों को हमारे यहाँ धर्म का अंग मान लिया गया है। यही कारण है कि हमारी बातचीत में धार्मिक कथाओं, कथा-संकेतों और किंवदन्तियों का विशेष पुट रहता है। उदाहरण के तौर पर हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी में चलनेवाले इस प्रकार के कुछ प्रयोग विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत नीचे देते हैं।

१. प्राचीन कथा-संकेतों के आधार पर बने हुए मुहावरे—

'पंचत्व प्राप्त होना' एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है मरना, इस मुहावरे में, वास्तव में, हिन्दुओं के इस विश्वास की ओर संकेत किया गया है कि मनुष्य शरीर जिन पंच तत्त्वों से बनता है, मरने

के बाद फिर उन्हीं में मिल जाता है। इसी प्रकार, 'रामबाण होना' मुहावरा राम के अचूक निशाने की ओर संकेत करके किसी वस्तु के अचूक प्रभाव का लोगों के दिलों में विश्वास कराता है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण देखिए—

अरुन्धती-न्याय होना, अलख जगाना, अवतारी पुरुष होना, आयत हदीस होना, आसन डोलना, आत्मा को दुखाना, आपा बिसराना, ईद का चाँद होना, उम्र पूरी करना, ऊधो का लेना न माधो का देना, एक से अनेक होना, कर्मों का फल, कंठी देना, कुरबानी देना, कालू सईद की मदद, कुलतारा कहीं की, खाक डालना, खालसा करना, खुदा की मार, गंगाजल छिड़कना, ज्ञान-ध्यान में रहना, घट्टकुटीरप्रभात-न्याय, चरणामृत लेना, चोला छोड़ना, चौथ का चाँद, चौमुखा दिया जलाना, चौरासी का चक्र, जहन्नुम में जाय, जमीन में समा जाना, ज्योति जगाना, जिहाद बोलना, जियारत लगाना, तृण तोड़ना, त्राहि-त्राहि करना, त्रिकालदर्शी होना, दशम न्याय होना, दई का मारा, दाहिने होना, दीन दुनिया से जाना, दुआ देना, दूधों नहाओ पूतों फलो, दैव बरसना, धर्म में आना, धूनी रमाना, नर्क का कीड़ा, नारद मुनि होना, नाक-कान काटना, नौनिद्ध बारह सिद्ध होना, पहुँचा हुआ होना, पाताल की खबर लाना, पुरखे तर जाना, फाके करना, बनवास देना, वज्र पड़ना, बहरा भिड, बावन गज का, बिस्मिल्लाह करना, भद्रा उतारना, भीम के हाथी, माला फेरना, मार्कण्डेय की उम्र होना, मूसलों की मार पड़ना, यमदूत खड़े होना, यमराज के सोटे खाना, यम-लोक दिखाना, योग देना, यज्ञ का बकरा, राम-नाम सत्य है, रूह काँपना, राम-लक्ष्मण की सी जोड़ी, ऋषि-मुनि होना, लक्ष्मण की रेख होना, लीक खींचना, वंश डुबोना, विधना के अक्षर, शनैश्चर होना, शरई दाढी, शेर की सवारी करना, श्रीगणेश करना, श्रुति-वचन होना, सदका देना, सती-सावित्री होना, सत्य की सीता होना, सीता का श्राप होना, स्वाहा होना, सातधार होकर निकलना, सात परदे में रखना, स्वर्गवास होना, सुध-बुध खोना, हज को जाना।

२. भूत-प्रेत, झाड़ना-फूँकना, सगुन विचारना तथा चेला बनाना इत्यादि से सम्बन्ध रखने-वाले मुहावरे—

अच्छे सगुन होना, उतार-पुतारकर फेंकना, ऊतों का ऊधम मचाना, औघड़पना करना, ओझा बुलाना, कढ़ी में कोयला, कटोरा चलाना, कुछ पढ़कर मारना, कौआ बोलना, खप्पर भरना, खाली घड़ा देखना, गंडा तावीज करना, चेला मूड़ना, चिराग का हँसना, छलावा-सा, छाती का जम, छींक होना, छूमन्तर होना, जादू जगाना, जूते पर जूता चढ़ना, झाड़-फूँक करना, टोक लगना, टोटका करना, तलवा खुजाना, तावीज करना, तिलस्म तोड़ना, तेरी आखों में राई-नोन, नजर लगना, पढ़े जिन्न को शीशे में उतारना, प्रपंच फैलाना, प्रसाद बोलना, पानी पढ़ना, फूँक मारना, बला पीछे लगना, ब्रह्म लगना, भूत उतारना, मन्नत मानना, राई-नून उतारना, लटका बताना, मंत्र मारना, मरघट का भुतना, मसान जगाना, लौंग पढ़ना, लू लू से डराना, शकुन खराब होना, शैतान सवार होना, सखुन देना, सड़क काटना, सिर आना, सिर पर शैतान चढ़ना, हव्वा होना।

४. कहानी और कथाओं के आधार पर बने हुए मुहावरे—

हाथ में ठीकरा देना मुहावरे की कहानी इस प्रकार है—मिर्जा गालिब ने एक दिन किसी नौकर को ठीकरे से अंगारे उठाकर चिलम भरते हुए बड़बड़ाते देखकर कारण पूछा, तो उसने जवाब दिया कि आठ मास से वेतन नहीं मिला है, ठीकरा उठाकर भीख माँगनी पड़ेगी। 'तिरिया तेल हम्मीर हठ चढ़े न दूजी बार' इस मुहावरे का आधार ऐतिहासिक है। राजपुताने के अन्तर्गत जयपुर के पास रणथम्भौर गढ़ नाम का एक प्राचीन स्थान है यह पहिले बादशाह अलाउद्दीन खिलजी के समय में हम्मीरदेव नामक चौहान वंशीय राजपूत के अधीन था। अलाउद्दीन के मीर मुहम्मद मंगोल नाम के एक अपराधी ने

भागकर राजा हम्मीरदेव की शरण ली। उसी समय राजा ने यह उक्ति कही थी। बादशाह का फरमान आने पर भी हम्मीरदेव ने मंगोल को नहीं दिया। निदान सन् १३०० ई० में बड़ा भारी युद्ध हुआ। 'तीसमार खाँ', 'ढपोरशंख' इत्यादि की कहानियाँ भी बड़ी रोचक हैं। प्रत्येक मुहावरे की आधारभूत कहानी यहाँ देना न तो युक्तियुक्त ही है और न न्यायसंगत ही, इसलिए अब नीचे कुछ ऐसे मुहावरे देते हैं, जिनका आधार कोई कहानी अथवा कथा ही है। देखिए—

अंगूर खट्टे होना, अंधे के हाथ बटेर लगना, अंधे का रेवड़ी बाँटना, अंधे की औलाद होना, आँख का काँटा होना, आँखों की सूइयाँ निकालना, काना सीधा करना, खटाई में डालना, गले में ढोल डालकर कहना, चमन शाह होना, छप्पर फाड़कर देना, जड़ में मट्ठा देना, टेढ़ी खीर होना, ठग के लड्डू खाना, गढ़ी में तिनका होना, ढाई दिन की बादशाहत, तीसमार खाँ बनना या होना, पाँचों सवारों में होना, पिनाक होना, फूलों में तुलना, बन्दर-बाँट करना, भीगी बिल्ली होना, म्याँव का ठौर पकड़ना, मक्खीचूस होना, मार-मारकर हकीम बनाना, मुल्ला की दाढ़ी ताबीजों में, मूँछें नीची करना, रंगीले रसूल होना, लाख पर दिया जलना, लकीर का फकीर, शेखचिल्ली होना, सुरखाब का पर लगना, सोने में घुन लगना, सोने का अंडा देना, त्रिशंकु रहना, हाथ धोकर पीछे पड़ना, धन्ना सेठ होना, पंच परमेश्वर होना, दीवार में चुनना।

४. कुछ फुटकर प्रयोग—ऊपरवाला जाने, काले कौवे खाना, खलीफा होना, चौपहरा देना, जलती आग में घी डालना, ठन-ठन गोपाल, दान की मढ़ी पर बैठना, धूनी देना, पहिली बिस्मिल्ला गलत, पैर का धोवन न होना, पाप की गठरी, बज्र की छाती, ब्रह्मांड चटकना मिट्टी के माधव, मिस मेयो होना, शिष्टाचार करना, सिर मुँड़ाते ही ओले पड़ना, सिर पर सिर न होना।

ओ

पहले इसी अध्याय में मुहावरे कैसे बनते हैं, इस पर विचार करते हुए हमने स्मिथ के उन महत्त्वपूर्ण अनुभवों का सविस्तर उल्लेख किया है, जिनके आधार पर वह लिखता है, 'मुहावरे की आत्मा, उसका रहस्य-बिन्दु तो मुहावरेदार प्रयोगों के उन दो विशिष्ट वर्गों में मिलेगा, जो एक दूसरे के अति सन्निकट हैं। इन दो महान् क्षेत्रों में एक तो स्वयं मानव-शरीर ही है। मानव-शरीर के प्रायः सभी बाह्य और अधिकांश आन्तरिक अंग विलक्षण, विचित्र और भड़कीले अलंकारों और मुहावरों से बुरी तरह लदे हुए हैं।' स्मिथ का यह मत हिन्दी पर तो इसलिए और भी अधिक लागू होता कि जहाँ उसने केवल सैकड़ों ऐसे मुहावरे एकत्र किये थे। हमें हजारों तो केवल स्वर्गीय 'हरिऔध' जी की एक पुस्तक 'बोल चाल' से मिल गये हैं। आठ वर्ष तक भ्रमर बनकर हिन्दी-मुहावरों के उद्यान में सभी मौसमी और बे-मौसमी प्रयोग-प्रसूनों का छककर रस पीने के बाद स्वर्गीय गुरुवर को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए आज बड़ी नम्रता, किन्तु विश्वास और साहस के साथ हम इतना कह सकते हैं कि 'बोल चाल' में ही इस प्रकार के मुहावरों की इतिश्री नहीं हो जाती। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ', हिन्दी-भाषा के अथाह और अपार सागर में गहरे उतरकर खोजने पर कितने ही और भी इस प्रकार के सुन्दर प्रयोग मिल जायेंगे। थीसिस के इस संकुचित क्षेत्र में, शरीर के लगभग जिन ७५ अंगों-जैसे सिर और उसकी बनावट, कोहनी, हाथ और उँगलियाँ, पाँव, टखने और हृदय, अंगूठे, मन तथा शरीर के अन्दर का श्वास, छींक इत्यादि, जिनका अति स्पष्ट और मुहावरेदार प्रयोग हुआ है, सब पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालना शक्य नहीं है, इसलिए इस प्रसंग में हम प्रत्येक अंग से सम्बन्धित केवल दो प्रचलित मुहावरे देकर ही सन्तोष कर लेंगे।

बाल—बाल-बाल बचना, बाल-भर हटना। सिर—सिर सूँघना, सिर पर चढ़ना। खोपड़ी—खोपड़ी खाना, खोपड़ी गंजी करना। माथा—माथा टेकना, माथा ठनकना। भौंह-भौंह चढ़ना, भौंह टेढ़ी करना। आँख—आँख लगना, आँख आना। पलक—पलक मारते, पलकों में रहना। आँसू—आँसू पोंछना, आँसू पीना। दीठ—दीठ उतारना, दीठ चूकना। निगाह—निगाह रखना, निगाह पड़ना। तेवर—तेवर चढ़ना, तेवर बदलना। ताकना—ताकना-झाँकना, ताक-ताककर। पुतली—पुतली लौटना, पुतली न फिरना। रोना—रोना-धोना, रोना-पीटना। सिसकना—सिसकियाँ भरना, रोना सिसकना। नाक—नाक कटना, नाक पर मक्खी न बैठने देना। नथने—नथने फूलना, नथने बन्द होना। कान—कान फूटना, कान में तेल डालना। गाल—गाल बजाना, गाल फुला लेना। मुँह—मुँह न मारना, मुँह पर न रखा जाना। दाँत—दाँत होना (किसी वस्तु पर), दाँत तोड़ना। जीभ—जीभ काटना, जीभ करना। तालू—तालू सूखना, तालू से जीभ न लगना। होंठ—होंठों पर हँसी आना, होंठ काटना। हलक—हलक फाड़ना, हलक चीरना। हँसी—हँसी-हँसी में, हँसी-खुशी से। स्मिति—मुस्कराहट आना, मुस्कराते हुए। बात—बात बनना, बात लगाना। साँस—साँस फूलना, साँस चलना। दम—दम घुटना, दम दिलासा देना। आह—आह पड़ना, आह न लेना। छींक—छींक होना, छींकती घड़ी जाना। जँभाई—जँभाइयाँ आना, जँभाई लेना। थूक—थूक बिलोना, थूकों सत्तू सानना। राल—राल टपकना, राल चूना। बोली या बोल—बोली मारना, बोलते-बोलते। हिचकी—हिचकियाँ आना, हिचकी लगना। मूँछ—मूँछ नीची करना, मूँछों पर ताव देना। दाढ़ी—दाढ़ी मुड़ाना, दाढ़ी खींचना। सूरत—सूरत निकल आना, सूरत की मूरत। गला—गला काटना, गले पड़ना। गरदन—गरदन पर सवार होना, गरदन मारना। कंठ—कंठ सूखना, कंठ करना। सुर—सुर से गाना, सुर में सुर मिलाना। गाना—गाना-बजाना, गाना जमना। अलाप—अलाप भरना, राग अलापना। कंधा—कंधा देना, कंधा डालना। बाँह—बाँह पकड़ना, बाँह देना। बगल—बगलें झाँकना, बगल में दबाना। कलाई—कलाई मुरुकना, कलाई भारी होना। हथेली—हथेली लगना, हथेली टेकना। उँगली—उँगली उठाना, उँगली करना। अंगूठा—अंगूठा दिखाना, अंगूठा लगाना। नख—नख-सा बढ़ना, नाखून चबाना। चुटकी—चुटकी लेना, चुटकी भरना। पंजा—पंजा लड़ना, पंजा तोड़ना। मुक्का—मुक्का मारना, मुक्का दिखाना। मुट्ठी—मुट्ठी गरम होना, मुट्ठी में रखना। चपत—चपत लगाना, चपत मारना। ताली—ताली बजाना, ताली पीटना। ताल—ताल देना, ताल-बेताल होना। हाथ—हाथ मारना, हाथ बँधे होना। छाती—छाती पर सवार, छाती पर मूँग दलना। कलेजा—कलेजा मुँह को आना, कलेजा काँपना। दिल—दिल धड़कना, दिल न लगना। जी—जी न करना, जी पर आ बनना। मन—मन मिलना, मन न मानना। पेट—पेट में पाँव होना, पेट रहना। कोख—कोख की लाज रखना, कोख में रखना। पसली—पसली ढीली करना, पसलियाँ चलना। आँत—आँतें कुलकुलाना, आँतों का बल खुलना। हड्डी—हड्डी काटना, हड्डियाँ तोड़ना पीठ—पीठ का कच्चा होना, पीठ दिखाना। कमर—कमर कसना, कमर तोड़ना। जाँघ—जाँघ का भरोसा होना, जाँघ पर बिठाना। घुटना—घुटने तोड़ना, घुटने टेकना। एड़ी—एड़ियाँ रगड़ना, एड़ी से चोटी तक। लात—लात मार जाना, लात घूँसों से। पाँव—पाँव पड़ना, पाँवों में गिरना।

औ

कहावत अथवा लोकोक्तियों के आधार पर अथवा उनके किसी अंग को लेकर बने हुए मुहावरे—

आदि काल से ही लोकोक्तियों के प्रति मनुष्य का आकर्षण रहा है। भाषा को सजाने अथवा

अलंकृत करने के लिए वह इनका उपयोग करता था, अथवा अपने वक्तव्य की किलेबन्दी करने को। कुछ भी हो, उसके जीवन में इनका अपना एक विशेष महत्त्व है। एक पाश्चात्य विद्वान् ने लिखा है, "एक पूर्व वैदिककालीन सन्त (Prevedic sage) और आधुनिक उपन्यासकार, एक एलिजबेथ-कालीन पुरातन पंडित और आये दिन मकान बेचने या किराये पर उठाने की व्यवस्था करनेवाले हाउस एजेएटों की फर्म, इन सबने लोकोक्तियों में एक विशेष अर्थ पाया है।"[1] पाश्चात्य विद्वानों में सोलोमन (Solomon) सबसे पहिला व्यक्ति हुआ है, जिसने बुद्धिमान् पुरुषों के वचन और अस्पष्टोक्तियों (The words of the wise and their dark sayings) का संग्रह किया है। संग्रह करते समय वह क्या जानता था कि जिन युवकों के लिए वह यह संग्रह कर रहा है, वे स्वयं इन सबका अनुभव करना अच्छा समझेंगे। अठारहवीं शताब्दी के आते-आते जैसा बेन जोन्सन (Ben Jonson) ने लिखा है, सचमुच ऐसा ही हुआ भी, साहित्यिक शैली के रूप में लोकोक्तियों के प्रयोग की बाढ़ एकदम रुक-सी गई। लौकिक प्रयोग तो रहे, किन्तु वे भाषा के मुहावरे बन गये और अलक्ष्य रूप में विना किसी प्रयास के प्रयुक्त होने लगे। हिन्दी में चलनेवाले ऐसे मुहावरों के कुछ उदाहरण नीचे देते हैं—

अंधे के आगे रोना, अंधे की जोरू होना, अंधेरे घर का उजाला, अगस्तिक यात्रा होना, आचार के घड़े होना, अनहोते में औलाद, अनभिले की कुशल होना, अंधे को आँख मिलना, अंधे का हाथी होना, अति सर्वत्र वर्जयेत्, अदृष्ट वलवान् होना, अकलखुरा होना, अकेले-दुकेले, अगडम-बगडम, अटकल-पच्चू भिड़ाना, आई बात न रुकना, आँख का तारा होना, आँखों-देखी मानना, आँखों पर ठीकरी रखना, आँख के अंधे होना, ईश्वर की माया, ओस चाटना, गरजना ही गरजना है, गादला पीना, चादर से बाहर पाँव फैलाना, बड़ी-बड़ी बात करना, महलों का स्वप्न देखना, घर का भेदी, घड़े फोड़ना, धोबी का कुत्ता, तिनके का सहारा न होना, लातों के भूत होना, लातों से बाज आना, दुधार गाय होना, भैंस के आगे बीन बजाना, विधि का लिखा होना, अंधे का रेवड़ी बाँटना, अंधेर नगरी होना, अंधे का पीसना।

क

कहावत और लोकोक्तियों की तरह अच्छे लेखकों के गद्य और पद्य की कुछ विशेष पंक्तियाँ भी धीरे-धीरे इतनी अधिक लोगों के मुह चढ़ जाती हैं कि अन्त में उनके रचयिता का नाम तो उनसे अलग हो ही जाता है। कभी-कभी मुख-सुख के लिए उनके शब्द और शब्द-क्रम में भी कुछ उलट-फेर होकर भाषा के साधारण मुहावरों की तरह स्वभावतया उनका प्रयोग रूढ़ हो जाता है। ऐसे वाक्य अथवा वाक्य-खंडों का साधारण कवि अथवा लेखकों की रचनाओं से उद्धृत अन्य वाक्यों से कहीं अधिक और विशेष अर्थ एवं महत्त्व होता है, अपनी आवश्यकता के अनुसार उनके मूल अर्थ का कोई खास ध्यान न रखते हुए हम प्रायः उनका प्रयोग करने लगते हैं। डॉ० ब्रेडले ने जैसा कहा है—'वे साहित्य और दैनिक बोल-चाल के मुहावरों में ओत प्रोत हो गये हैं' और इसलिए अब वे 'न्याय पूर्वक अँगरेजी-भाषा के मुहावरों में गिने जा सकते हैं।' स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'वर्ड्स एएड इडियम्स' के पृष्ठ २२६ से २३१ तक शेक्सपीयर, मिल्टन, जोन डेनिस, स्विफ्ट, मैथ्यू आरनोल्ड प्रभृति अनेक विद्वानों के उदाहरण देकर डॉ० ब्रेडले के इस कथन की पुष्टि की है। डॉ० ब्रेडले यदि अपने इस वक्तव्य में भाषा के पहिले अँगरेजी यह विशेषण न जोड़ते तो भी

१. "A prevedic sage, and a modern novelist, an Elizbethan antiquary and a firm of house agents today. These have all found a 'Significance' in proverbs."

उनका वह कथन उतना ही तर्कपूर्ण और सत्य सिद्ध होता; क्योंकि हिन्दी, उर्दू, संस्कृत और फारसी के मुहावरों पर विचार करते समय हम भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ऐसे प्रयोगों की गिनती मुहावरों में ही होनी चाहिए और कहीं-कहीं हुई भी है। तुलसी की एक प्रसिद्ध चौपाई है—

जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।

आये दिन इसका खुलेआम मुहावरे के तौर पर प्रयोग होता है। प्रयोगकर्त्ता कभी यह जानने की इच्छा भी नहीं करता कि यह कहाँ, किस अवसर पर और किसके द्वारा तथा किसके लिए गोस्वामी जी ने कहलाया है। भारतवर्ष में रामायण इतना लोक-प्रिय ग्रन्थ हो गया है कि टूटे-फूटे झोंपड़ों से लेकर गगनचुम्बी प्रासादों तक में रहनेवाले व्यक्ति समान प्रेम-भावना और चाव से उसे पढ़ते हैं। उसकी कथा तो प्रायः सभी लोग जानते हैं। उसके एक-एक दो-दो पद भी, हमें विश्वास है, कम-से-कम हिन्दूमात्र को तो अवश्य ही कंठस्थ होंगे। यही कारण है कि रामायण की अनेक पंक्तियाँ मुहावरों की तरह लोकप्रसिद्ध हो गई हैं। 'मातृवत् परदारेषु', 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्', 'अप्रियं सत्यं मा ब्रूयात्' तथा 'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति' एवं 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इत्यादि-इत्यादि संस्कृत के भी ऐसे कितने ही उद्धरण आज मुहावरों की तरह प्रयुक्त हो रहे हैं। 'चश्म सफेद शुदन', 'अक्लमन्दान इशारा काफी अस्त', 'सखुनानेतू गौहर अन्द', 'बातों से मोती झड़ते हैं', 'दर बखुदा नजदीक अस्त' इत्यादि फारसी के वाक्यों की भी मुहावरों में गिनती होने लगी है। अब इसी प्रकार मुहावरों की तरह प्रयुक्त होनेवाले हिन्दी के कुछ उदाहरण लीजिए। 'घर आये नाग न पूजिए बामी पूजन जाय', 'मैं पीसूँ पधान के मेरे पीसे पिसनहारी', 'मेरे मन कुछ और है विधाता के मन कुछ और', 'जाको राखे साइयाँ मार सके न कोई', 'न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी', 'अंधेर नगरी चौपट राजा टके सेर भाजी टके सेर खाजा', 'आप खायें दाल भात दूसरों को बतायें एकादशी', 'आधी को छोड़ सारी को धावें, आधी रहे न सारी पावें', 'अमरौती खाकर आना', 'काले कौव्वे खाकर आना', कमजोर की लुगाई सबकी भाभी', 'निरक्षर भट्टाचार्य', 'अंधे की जोरू होना', 'अति सर्वत्र वर्जयेत्', इत्यादि-इत्यादि का आज प्रायः सर्वत्र मुहावरों की तरह खुलेआम प्रयोग होता है।

देहात के अनपढ़ लोगों से लेकर अच्छे-अच्छे विद्वानों तक को हमने अपनी बात के समर्थन में प्रायः इस प्रकार के वाक्यों को उद्धृत करते हुए देखा है। कभी-कभी तो 'हरि को भजे सो हरि का होई' इत्यादि छोटे-छोटे वाक्यों के द्वारा साधु-सन्त गूढ़-से-गूढ़ प्रश्नों का सहज में ही उत्तर दे देते हैं। ऐसी स्थिति में प्रामाणिक पुरुषों और लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों के इन विशिष्ट वाक्यों की मुहावरों में गणना करना अनुचित नहीं होगा। श्रीहरिऔधजी इसके समर्थन में एक स्थल पर लिखते हैं : "साधारण पुरुषों का विशेष वाक्य भी जब अधिकतर व्यवहार में आ जाता है, तब वह भी मुहावरा बन जाता है। ऐसी अवस्था में किसी विशेष पुरुष का कोई बहुव्यापक वाक्य यदि मुहावरे में गृहीत हो जाय, तो क्या आश्चर्य। अन्तर इतना ही है कि साधारण मनुष्यों के वाक्यों का प्रचार बोल-चाल द्वारा होता है और विद्वज्जनों का प्रायः पुस्तकों द्वारा। किन्तु काल पाकर यह पुस्तक का वाक्य भी बहुत-कुछ लोगों की जिह्वा पर चढ़ जाता है और साहित्य-पुस्तकों में भी व्यवहृत होने लगता है। उसी समय वह भी मुहावरों में परिगणित हो जाता है।"[1]

स्मिथ इसी प्रसंग में लिखता है : "बाइबिल के बाद जैसी आशा हो सकती थी, अँगरेजी-भाषा के मुहावरों की वृद्धि का सबसे अधिक समृद्ध साधन अथवा अवलम्ब शेक्सपीयर के नाटक हैं।"

१. बोलचाल : भूमिका, पृ० १६५।

After the bible, Shakespear's plays are as we must expect the richest literary source of English idioms." (W. I. N. 127)।

"यद्यपि शेक्सपीयर की पुस्तकों के द्वारा ही हमें इन सब मुहावरों का ज्ञान अथवा परिचय हुआ है, किन्तु तो भी इसका यह अर्थ नहीं है कि ये सब उसी के गढ़े हुए हैं। उसके नाटकों में साधारण बोलचाल के चुभते हुए प्रयोग भरे पड़े हैं। 'out of joint' मुहावरा हैमलेट के रचना-काल से तीन सौ वर्ष पूर्व बन चुका है।"[१]

स्मिथ ने जो राय शेक्सपीयर के नाटकों द्वारा अँगरेजी-भाषा में आये हुए प्रयोगों के सम्बन्ध में दी है, वही तुलसी और सूर इत्यादि के द्वारा हिन्दी में आये हुए प्रयोगों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। जिस शेक्सपीयर की रचनाओं के एक-एक शब्द को लोगों ने गिन डाला है, जब उसी के प्रयोगों की प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं है, तो फिर अपने यहाँ के कवि और लेखकों के प्रयोगों के सम्बन्ध में क्या कहें, उन्हें तो अभी लोगों ने पूरी तरह से पढ़ा और समझा भी नहीं है। अतएव, प्रसिद्ध कोषकार श्रीयुत वेवस्टर साहब के शब्दों में इन सब विशिष्ट विद्वानों के इस प्रकार के वाक्यों को एक प्रकार का अलग मुहावरा मान लेना ही ठीक है। संक्षेप में, इसलिए हम कह सकते हैं कि किसी भाषा के ख्यातिप्राप्त लोक-प्रिय कवि अथवा लेखकों के इस प्रकार के विशिष्ट प्रयोग भी मुहावरों के आविर्भाव का एक साधन होते हैं।

ख

मनुष्य की व्यक्तिगत आकृति, प्रकृति और स्वभाव तथा उसके मनोभावों और उनके व्यक्तीकरण के ढंग को लक्ष्य करके भी बहुत-से मुहावरे बन गये हैं। अब अति संक्षेप में दस पाँच उदाहरण देकर हम मुहावरों के इस पहलू पर प्रकाश डालेंगे।

१. व्यक्तिगत आकृति के आधार पर बने हुए मुहावरे : 'अष्टावक्र' एक बहुत बड़े ज्ञानी हुए हैं, जिन्होंने राजा जनक को ज्ञान दिया था। 'अष्टावक्र-गीता' के नाम से वेदान्त की एक अति उत्तम रचना भी उनकी है। उनके वक्र शरीर को लक्ष्य करके ही 'अष्टावक्र होना' यह मुहावरा चला है। इसी प्रकार, 'कुब्जा कहीं की' इस मुहावरे का आधार भगवान् कृष्ण की प्रेमपात्री कुब्जा है। 'कोतल गर्दन होना', 'लम्बा-तडंगा होना', 'बौनिया राय या बौना होना' 'लूला-लँगड़ा होना', 'टुंटा होना', 'मोटा गब्दू होना', 'हड्डियों का ढाँचा रह जाना', 'चितकबरा होना', 'लुंज-पुंज होना' इत्यादि मुहावरों की उत्पत्ति भी व्यक्तिगत आकृति के आधार पर ही हुई है।

२. कुंभकरण तामसी वृत्ति का पुरुष था। खाने और सोने के सिवा और किसी काम में उसकी रुचि नहीं थी। उसके इस स्वभाव के आधार पर ही 'कुंभकरण की नींद सोना', इस मुहावरे की उत्पत्ति हुई है। 'सत्य की सीता होना', मुहावरा भी इसी प्रकार माता सीता की एक-निष्ठ पति-भक्ति और सत्यनिष्ठा के आधार पर बना है। साधारण लोगों के व्यक्तिगत स्वभाव के आधार पर भी बहुत-से मुहावरे बन जाते हैं। देखिए :

फितरती होना, बुजदिल होना, शराबी कबाबी, सीधा-सादा होना, लड़ाका होना, बक्की-झक्की होना, अहसान फरामोश होना, बेईमान होना, मामलेदार होना, चंपत बनना या होना, चक्कर में डालना इत्यादि इसी प्रकार के मुहावरे हैं।

३. अँगरेजी की एक कहावत है कि चेहरा मनुष्य के मन की तालिका होता है, (Face is the index of mind)। यह बात बहुत हदतक ठीक ही है। क्रोध के समय चेहरा तमतमा जाना, नाक-भौं चढ़ जाना, माथे में बल या शिकन पड़ जाना तथा दाँत पीसना, उतना ही स्वभाविक है, जितना शीतकाल में नंगे बदन का कँपकँपाना या दाँतों का कटकटाना। प्रेम, उद्वेग,

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० १२६।

आवेग, आवेश और भय तथा घृणा के समय भी प्रायः हमारे अंगों की स्वाभाविक स्थिति कुछ विकृत हो जाती है। इसी के आधार पर नीचे दिये हुए मुहावरों की उत्पत्ति हुई है—

लाल पीला होना, आह खींचना, बाल खड़े हो जाना, रोंगटे खड़े होना, होंठ काटना, हाँथ-पाँव ठंडे होना, नथने फूलना, दाँत तले अँगुली देना, आँख निकालना, मूँछों पर ताव देना इत्यादि-इत्यादि।

ग

ऐसे मुहावरे भी प्रायः हरेक भाषा में काफी रहते हैं, जो किसी नई चीज के गुण अथवा रूप का वर्णन करने के लिए उसी के समान अथवा उससे मिलते-जुलते हुए और गुण के किसी लोकप्रसिद्ध पदार्थ से तुलना करने पर उसी अर्थ में रूढ़ होकर चल पड़ते हैं। राजशेखर के शब्दों में कहें तो यही हमारे साहित्य में समस्त अलंकारों का सिरमौर 'उपमा अलंकार' है, वह लिखता है : "अलङ्कार-शिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्, उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम।"[1] उपमा और मुहावरों की चर्चा पीछे हो चुकी है, इसलिए इस प्रसंग में हम इतना ही बताना चाहते हैं कि मुहावरों की दृष्टि से लुप्तोपमा ही अधिक व्यापक है। मुहावरों में उपमेय प्रायः गायब रहता है। 'तीर की तरह जाना' एक मुहावरा है। इसमें केवल उपमान और औपम्यवाची शब्द ही दिये हुए हैं, इसमें न तो उपमेय है और न सामान्य धर्म। 'बर्फ-सा ठंडा' एक दूसरा मुहावरा है, जिसमें केवल उपमेय ही गायब है। इसी मुहावरे का प्रयोग 'बर्फ होना' के रूप में भी होता है, जिसमें उपमान को छोड़कर बाकी तीनों अंग गायब हैं। अब हम एक और मुहावरा 'हृदय पत्थर की तरह कठोर होना' लेते हैं। यह पूर्णोपमा का एक सजीव उदाहरण है। और भी, ऐसे अनेक मुहावरे मिल जायेंगे, जिन्हें हम पूर्णोपमा के अन्तर्गत ले सकते हैं, किन्तु मुहावरा-कोष अथवा मुहावरा-संग्रह की दृष्टि से फिर भी यह मानना पड़ेगा कि प्रचुरता दूसरे वर्ग के मुहावरों की ही है। अब नीचे दोनों प्रकार के कुछ उदाहरण देते हैं, देखिए—

१. **पूर्णोपमा के रूढ़ प्रयोग अथवा मुहावरे**—कमल की तरह सुन्दर मुख, रूई की तरह मुलायम गात्र, छुरी-सी तेज जीभ, शरीर आग की तरह जलना।

२. **लुप्तोपमा के रूढ़ प्रयोग अथवा मुहावरे**—शेर की तरह गर्जना या दहाड़ना, शीशे की तरह भारी होना, समुद्र की तरह गंभीर होना, मीठा शहद होना, कड़वा बँडाल होना, रेशम-सा मुलायम, बिजली-सा तेज, काला कोयला होना, कालिदास होना, लाल अंगार होना।

घ

अब हम कुछ ऐसे व्यक्तिगत मुहावरों को लेंगे, जिनका, मुहावरा पड़ जाने के कारण कभी बामुहावरा तो कभी बेमुहावरा, लोग अपनी बातचीत के सिलसिले में प्रायः थोड़ी-थोड़ी देर के बाद, प्रयोग, संभवतः कुछ देर ठिठक कर, आगे की बात सोचने के लिए, समय निकालने में सहायता प्राप्त करने के लिए ही करते हैं। हमें याद है, हमारे एक अध्यापक महोदय ने एक बार ३५ मिनट के क्लास में करीब चालीस बार 'वस्तुतः' शब्द का प्रयोग किया था। इस वर्ग के उदाहरणों से पंडित वर्ग का कुछ लाभ हो या न हो, मनोविज्ञान के विद्यार्थियों का थोड़ा-बहुत मनोरंजन तो अवश्य ही होगा। और केवल इसी विश्वास से नीचे कुछ उदाहरण देते हैं—

ऐथी-ऐथी, मका, गोया, अना, अगर्चे, चुनांचे, दरहकीकत, वस्तुतः, अथवा, बरचोद, समझे साहब, समझे कि नहीं, समझे, राम भला करे, और साहब, और जी, समझ में नहीं आता, है ना, है कि नहीं, आया-समझ में, आया आपकी समझ में, बोले, कहिए, दरसल में, मेरी कसम, अपनी कसम,

१. अलङ्कारशेखर, पृ० ३२।

कसम से, हमारे एक मित्र, मेरी कसम, का ही प्रयोग करते है। ईमान से, सुनते हैं, है नहीं बात, देखें भला, भला देखो तो सही, ऐं जी, क्यों जी, जी हाँ, जी हजूर, जो है सो बात यह है, रामजी के मुँह में, खुदा की कसम, खुदा जाने, बाकी बात यह है, तेरे सर की कसम, नहीं तो, बराये खुदा, साला, समझे साहब इसका मरे मालक, क्या कही है, क्या कहने हैं, अनका, मनका क्या कहें, महापुरुष हैं, सुनी साहब, इलम कसम, विद्या कसम, गंगा कसम, अरे बाबा, बाप रे बाप, नहीं जी, निगोड़ी, खैर सवाल यह है, बस रहने दो, चीज यह है, तुम्हारी जान की कसम, आये साहब, बड़े आये साहब, चलो छोड़ा, चलो जाने दो, चलो हटो (स्त्रियों में विशेष रूप से), उत्ते, उत्ता कहीं का, हाय उत्ते, जले में, मरे में, मर गये में इत्यादि का प्रयोग ही अधिक होता है। इनके अतिरिक्त बहुत-से गन्दे मुहावरे भी हमने अच्छे-अच्छे लोगों को इसी प्रकार प्रयोग करते पाया है। जानबूझ-कर हम गन्दी चीजों से अपने इस प्रबन्ध को बचा रहे हैं। गन्दगी का जिक्र करना ही चूँकि उसपर मुहावरेदारी की मुहर लगाकर उसे और व्यापक बनाना है, हमने कहीं भी कोई अश्लील मुहावरा अपने प्रबन्ध में नहीं लिया है। आशा है, हमारे आलोचक और समालोचक इसे हमारी कमी नहीं, बल्कि साहित्य में प्रविष्ट इस कमी को कम करने का एक प्रयत्न समझकर हमें क्षमा करेंगे।

च

यों तो हजारों ऐसे भी मुहावरे हमारे पास हैं जिनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में न तो आज ही कुछ कहा जा सकता है और न शायद आगे चलकर ही कभी आसानी से उनकी जन्मकुंडली तैयार हो सकेगी। अतएव, उनके वर्गीकरण का मोह छोड़ते हुए अब हम केवल कुछ ऐसे प्रयोगों को लेंगे, जिनमें अमूर्त्त को मूर्त्त मानकर विचार किया गया है अथवा जिन प्रयोगों में क्रियाओं का विलक्षण अर्थ में अथवा मुहावरेदार प्रयोग किया गया है। इन दोनों के साथ ही कुछ मित्रों के अनुरोध से कुछ ऐसे प्रयोग अथवा मुहावरे भी हम यहाँ देना चाहते हैं, जो हमारे जेल-जीवन की, अर्जित कहिए अथवा उपार्जित सम्पत्ति हैं। विभिन्न जेलों में वर्गहीन समाज तो है ही, मुहावरों की अथवा भाषा की दृष्टि से भी आपको किसी जेल में पाकिस्तान और हिन्दुस्तान की विषैली तहरीक (आन्दोलन) देखने को नहीं मिलेगी।

१. 'आशाओं का करवट बदलना' एक मुहावरा है। आशा का कोई भौतिक अथवा मूर्त्तरूप नहीं होता, वह तो केवल एक भावना अथवा अस्थिर विचारमात्र है, फिर जब उसका कोई मूर्त्तरूप ही नहीं है, तो करवट उसकी कैसे हो सकती है। करवट की कल्पना से ही वह मूर्त्तिमान् हो जाती है, फिर यहाँ तो करवट ही नहीं है, बल्कि अदलने-बदलनेवाली करवट है। सारांश यह है कि मुहावराकार या प्रयोगकर्त्ता ने आशा को सजीव मूर्त्ति बना दिया है। 'अक्ल पर पत्थर पड़ जाना' इत्यादि मुहावरों में अक्ल को मूर्त्तरूप देकर ही उसके चरने जाने, अथवा पत्थर इत्यादि खाने की कल्पना हो सकती थी। अमूर्त्त की अपेक्षा चूँकि मूर्त्त का प्रभाव मनुष्य के चित्त पर अधिक पड़ता है और मुहावरों का उद्देश्य है सुननेवालों को प्रभावित करना। इसीलिए कदाचित् इस क्षेत्र में भी अमूर्त्त को मूर्त्तरूप देने की लहर लोगों में दौड़ी। हिन्दी में ऐसे मुहावरों की संख्या काफी बड़ी है, इसलिए बहुत थोड़े-से उदाहरण देकर इस प्रसंग को समाप्त करेंगे।

ईमान बगल में दबाना, किस्मत फोड़ना, जी ठंडा रहना, मामला गर्म होना, तकदीर ठोंकना, मौत के मुँह में, आहें बटोरना, नशा किरकिरा होना, हवा के साथ लड़ना।

१. क्रियाओं के मुहावरेदार प्रयोगों के कुछ उदाहरण—अकड़ना—अभिमान करना, उछलना—प्रसन्न होना। उठना-बैठना—मेलजोल होना। ऐंठना—असन्तुष्ट होना। कटना—लज्जित होना। काँपना—डरना। खटकना—सन्देह होना दबना—शान्त होना। फटकारना—बुरा-भला कहना। मुँड़ना—ठगना।

३. जेल के जीवन तथा वहाँ की व्यवस्था और अधिकारियों से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ मुहावरे—

'पगली होना', पगली एक प्रकार की खतरे की घंटी होती है। इस घंटी के बजते ही सब कैदियों को अन्दर चले जाना चाहिए। जेल के समस्त अधिकारी जेल की जाँच करते हैं, हाजिरी मिलाई जाती है। जेल के बाहर चारों ओर पुलिस खड़ी हो जाती है। जेल-जीवन में यह सब से मनोरंजनपूर्ण दिन होता है। कष्ट, यदि उसका कोई अस्तित्व है, तो कैदियों के लिए, यह प्रायः उसकी पूर्व सूचना भी होती है। 'पचासा होना', यह घंटी प्रति दिन दो बार होती है, एक बार दोपहर को १२ बजे और दूसरी बार शाम को ५ बजे। यह काम छोड़कर खाना इत्यादि लेने की घंटी होती है, इसलिए प्रायः लोग बड़ी उत्सुकता से इसकी प्रतीक्षा किया करते हैं। इसी प्रकार, डामिल होना, रागिया होना, रिपोर्ट लगाना या बढ़ाना, गिनती होना इत्यादि अन्य मुहावरों की भी बड़ी रोचक कहानियाँ हैं किन्तु स्थानाभाव के कारण हम अति संक्षेप में थोड़े-से उदाहरण और देकर इस प्रसंग को बन्द करेंगे—

काल कोठरी में डालना, पिंजरे में डालना, फाँसी पर लटकना या झूलना, रामबास कूटना, तसला बजाना या बजना, कोठरी देना, तिकड़म करना, दिन मिलना, जेल काटना, खड़ी हथकड़ी होना, सजा पड़ा, पेशी पर लाना, चक्की पीसना या पिसवाना, टाट-फट्टा उठाना, कम्बल परेड करना, जोड़े में होना, छर्रा चलाना; ताला, जंगला, लालटेन सब ठीक है हजूर, चाबी लगाना, डंडा पार करना, चारसौ बीसिया होना, दुनिया देखना, मुलाहिजे में आना, मन भाँग पड़ना, टिकटिकी से बाँधना इत्यादि।

अब अन्त में, हम ऐसे प्रयोगों के कुछ उदाहरण लेते हैं, जिनका व्यंग्यार्थ के कारण मुख्यार्थ से सर्वथा भिन्न अथवा उसके सर्वथा विपरीत अर्थ हो जाने के कारण वाक्य में विलक्षणता आ जाती है। 'पंचम स्वर में गाना' हिन्दी का एक प्रसिद्ध मुहावरा है। किसी खराब गानेवाले पर व्यंग्य करने के लिए ही हमारे यहाँ इसका प्रयोग होता है। अब इसके मुख्यार्थ को देखिए। संगीत-शास्त्र के अनुसार यह स्वर अति मधुर और कोमल समझा जाता है। कोकिल कंठ को उसके पंचम स्वर में गाने के कारण ही इतनी ख्याति मिली है। भैरव की पीत-गौर-वर्ण की कोमलांगी पत्नी स्फटिक आसन पर कमल की पंखड़ियाँ लेकर मंजीरों की कोमल मधुर ध्वनि के साथ कैलाश पर्वत के शृंगपर इसी पंचम स्वर में गाती हुई महादेवजी की स्तुति करती है। इसीलिए तो आज भी भैरवी राग सदैव प्रातःकाल और पंचम स्वर में गाया जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार के व्यंग्यात्मक विलक्षण प्रयोगों में हमारा मुख्य उद्देश्य किसी व्यक्ति अथवा वस्तु की अल्पज्ञता अथवा गुण-हीनता का मीठे शब्दों में उपहास करना रहता है। ऐसे प्रयोगों की प्रायः सभी भाषाओं में प्रचुरता रहती है। कभी-कभी तो केवल एक विशेष प्रकार के उच्चारण के कारण ही बहुत-से वाक्य, वाक्यांश और शब्द व्यंग्यार्थक हो जाते हैं। इस कारण बोलचाल में ही इस प्रकार के मुहावरों का अधिक प्रयोग होता है। 'अंगारे उगलना', 'अंगारों पर लोटना' या 'अंगार बरसना' इत्यादि मुहावरों में उनके मुख्यार्थ के सर्वथा प्रतिकूल व्यंग्यार्थ असह्य बातें मुँह से निकालना, कष्ट देना और कड़ी गर्मी पड़ना ही ग्रहण किये जाते हैं। इसी प्रकार 'अक्ल का अजीर्ण होना', 'अक्लमन्द की दुम बनना', 'ईमान बगल में दबाना', 'उल्टे छुरे से मूँड़ना', 'ऐंठकर चलना', 'ऐंठ दिखाना', 'कचहरी के कुत्ते', 'कागज पूरे होना', 'गला काटना (किसी का)', भस्म कर देना, तीसरा नेत्र खुलना इत्यादि-इत्यादि मुहावरे व्यंग्यार्थ के आधार पर बने हैं।

पाँचवाँ विचार

जन्म-भाषा (मूल) एवं (अन्य) संसर्ग-भाषाओं का मुहावरों पर प्रभाव

मुहावरों का आविर्भाव, उत्पत्ति तथा विकास किस प्रकार होता है, उसके क्या कारण और साधन हैं, उन पर भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों ही दृष्टियों से काफी विस्तार के साथ अभी हमने विचार किया है। थीसिस के आकार और प्रकार की दृष्टि से जहाँ तक संभव हो सका है, प्रायः प्रत्येक वर्ग के मुहावरों के पर्याप्त नमूने देने का भी हमने प्रयत्न किया है। आखिर गागर में सागर गागर-रूप होकर ही तो रह सकता है, किन्तु जिस प्रकार 'गागर-रूप' होने का अर्थ 'गागर' मात्र नहीं होता, उसी प्रकार थीसिस में उद्धृत इन मुहावरों को बृहद् मुहावरा-सागर का 'गागर-रूप' ही समझना चाहिए, 'गागर' मात्र नहीं। हमारा तो विश्वास है कि यदि दस-पाँच व्यक्ति मिलकर दस-पाँच वर्ष बराबर मुहावरों के एकत्रीकरण और वर्गीकरण का काम करें, तो कुछ हो सकता है। हमारा प्रयत्न तो फुटबॉल में लात मारकर उसे चलती कर देना मात्र था, उसका अन्तिम निर्णय तो आनेवाले खिलाड़ियों की सतर्कता, साहस और शक्ति पर निर्भर है।

मुहावरों के आविर्भाव का विवेचन करने के उपरान्त अब हम यह दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार वे मूल भाषा अथवा विजेताओं, व्यापारियों एवं विजितों की अन्य भाषाओं के आधार पर किसी भाषा में प्रचलित हो जाते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में, चूँकि हमारा उद्देश्य विशेष रूप से हिन्दी-मुहावरों पर ही विचार करना है, अतएव सर्वप्रथम उसकी मूल भाषा अथवा जन्मदात्री संस्कृत-भाषा को ही लेंगे। संस्कृत के विषय में पहिले तो कुछ लोगों की यही गलत धारणा हो गई है कि उसमें मुहावरे हैं ही नहीं, मुहावरों के लिए 'मुहावरा' जैसी कोई एक स्थिर अथवा निश्चित संज्ञा संस्कृत में नहीं है, यह बात मानी जा सकती है। निश्चित संज्ञा क्यों नहीं है, इस पर प्रथम अध्याय में ही हम विचार कर चुके हैं, किन्तु नाम के अभाव का अर्थ नामी का अभाव तो कदापि नहीं हो सकता। कोर जिबेस्की (Korzybski) तथा 'ओजन' और 'रिचार्ड्स' ने यद्यपि अलग-अलग दृष्टियों से 'अर्थ-विचार' की समस्या पर विचार किया है, तो भी "वे स्पष्ट रूप से एकमत होकर यह मानते हैं कि भाषा के प्रचलित प्रयोग में नाम और नामी की गड़बड़ी बेरोक-टोक चल रही है, विचार विनिमय की असफलता का यह मुख्य कारण है।"[1] अस्तु; कोई एक निश्चित संज्ञा न होने के कारण यह मान लेना कि संस्कृत में मुहावरे ही नहीं हैं, अयुक्त और अन्यायपूर्ण है। दूसरी और सबसे बड़ी गलती यह है कि हिन्दी में विशेष रूप से और संस्कृत से ही उत्पन्न अन्य भारतीय भाषाओं में साधारण रूप से, संस्कृत के जो कुछ रूपान्तरित मुहावरे मिलते हैं, उन्हें लोग संस्कृत-मुहावरों का अनुवाद समझ बैठते हैं, जबकि वास्तव में वे अनुवाद नहीं हैं। रूपान्तर अथवा परिवर्त्तन और अनुवाद में काफी अन्तर होता है। अनुवाद एक भाषा, जैसे अँगरेजी से अन्य भाषा जैसे हिन्दी, रशन, जर्मन इत्यादि में होता है किन्तु परिवर्त्तन किसी भाषा की अपनी परिधि के भीतर ही हुआ करता है। परिवर्त्तन का अर्थ यह है कि 'आँख मटकाना' की जगह 'नैन मटकाना', 'चक्षु मटकाना' अथवा 'नेत्र बनाना' इत्यादि का प्रयोग कर सकते हैं या नहीं। अभिप्राय यह है कि आँख को बदलकर उसकी जगह नयन, नेत्र

---

१. दिरेनी ऑफ् वर्ड्स, पृ० ६७।

इत्यादि उसका कोई पर्याय रख सकते हैं या नहीं। मुहावरों के शाब्दिक परिवर्त्तन के प्रसंग में विचार करते हुए हमने दिखाया है कि मूल भाषा के अनेक मुहावरे तत्प्रसूत भाषाओं में परिवर्त्तित रूप में पाये जाते हैं, वे देखने में अनूदित-से ज्ञात होते हैं, किन्तु वास्तव में ऐसे होते नहीं! वे चिर-कालिक क्रमिक परिवर्त्तन के परिणाम होते हैं। अस्तु; हिन्दी अथवा दूसरी चलती भाषाओं में जो बहुत-से ऐसे मुहावरे मिलते हैं, जो देखने में कहीं से प्रसूत जान पड़ते हैं, वास्तव में वे सब अनेक परिवर्त्तनों के ही परिणाम होते हैं, उनका अस्तित्व संस्कृत अथवा दूसरी मूल भाषा में अवश्य रहता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भाषा के मुहावरों के आविर्भाव का प्रथम और मुख्य क्षेत्र उसकी मूल भाषा है। हमारे अधिकांश मुहावरे संस्कृत से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से घूमते-घामते हिन्दी में आये हैं। इस प्रसंग में मुहावरों पर काम करने की रुचि और इच्छा रखनेवाले विद्यार्थियों से हम अनुरोध करते हैं कि वे संस्कृत से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश और अन्त में अपभ्रंश से हिन्दी में आते-आते मूल मुहावरों में जो परिवर्त्तन हुए हैं, उन्हें खोज निकालें। उनके मार्ग-दर्शन के लिए ऋग्वेद से लेकर गीता और उपनिषदों इत्यादि के संस्कृत-मुहावरे तथा उनके हिन्दी-रूप और नमूने के तौर पर दो चार प्राकृत एवं अपभ्रंश के रूप भी हम यहाँ दे रहे हैं।

संस्कृत मुहावरे तथा तत्प्रसूत भाषाओं पर उनका प्रभाव

ऋग्वेद-संहिता (प्रथम मंडल)

"अग्ने यं यज्ञं अध्वरं विश्वतः परिभूरसि स इद् देवेषु गच्छति', यहाँ अध्वर (अध्वर इति यज्ञ नाम, ध्वरति हिंसाकर्मातत्प्रतिषेधा) एक यज्ञ का नाम है, किन्तु मुहावरे में आकर अहिंसित का अर्थ देने लगा है। ध्वरो हिंसा तदभावो यत्र अविद्यमानोऽध्वरो यस्य सः। अहिंसित इत्यर्थः। हिन्दी मुहावरे 'धुर्रे उड़ाना', जिसका अर्थ है बहुत मारना-पीटना, में प्रयुक्त 'धुर्रा' शब्द इसी ध्वरे शब्द से, जिसका अर्थ है 'हिंसाकर्म', निकला है, हिन्दी-शब्द 'धूर' से नहीं, जैसा कि कुछ विद्वान् मानने लगे हैं। संक्षेप में हमारे कहने का अभिप्राय यही है कि वेदों में मुहावरेदारी की कमी नहीं है। जो लोग मुहावरेदारी का रस लेना चाहते हैं, उनके लिए हमारी राय है कि वे अधिक भी न पढ़ें, तो केवल वेद-वर्णित 'उषा-काल' के वर्णन को ही पढ़ लें, इतने से ही, हमें विश्वास है, जन्म-जन्मान्तर की उनकी प्यास बुझ जायगी। अब हम वेदों में आये हुए केवल उन्हीं कुछ मुहावरों वा मुहावरेदार प्रयोगों को लेंगे, जिनके रूपान्तरित प्रयोग हिन्दी में भी चलते हैं—

दिवे-दिवे (अग्निनारयिम्.........पोषमेवदिवे दिवे) दिन पर दिन, रोज-रोज।

दोषा वस्तुः (उपत्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्) दिन रात।

युवा कवाः सन्धिविग्रहः—बल देने के लिए दो विरोधी तत्त्वों को जोड़ देना मुहावरों की एक विशेषता है।

सुदुघामइव—दुधारू गाय के समान।

आत्वेता निषीदत—आइए विराजिए।

मुष्टि दत्यया (नियेन मुष्टि दत्यया नि वृत्रारुणधामहे) मुक्के मारकर।

अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा—आग से आग ही फैलती है।

घृतपृष्ठाः वह्नयः (अ० ४, सू० १४ : ६)—आग में घी डालना।

द्रुपदेषु बद्धः (अ० ६, सू० २४ : १३)—खूँटे से बँधा हुआ।

गृहे-गृहे—घर-घर।

शीर्षापराञ्चितवव्रुजुः (अ० ७, सू० ३३ : ५)— मुँह फेर लेना।

त्रिः-त्रिः—तिल-तिल ।
यमस्य पथा (अ० ८, सू० ३८ : ५)—यम के रास्ता या यमपुरी पहुँचाना इत्यादि ।
अच्छा वद (अच्छा वदा तनागिराजराये ब्रह्मणस्पतिम् अग्निर्मित्रं न दर्शनम्)—अच्छा बोल ।
तिरः पीपरत् (अ० ६, सू० ४६ : ६)—पार उतार दें ।
अप अधमः (अ० सू० ५१ : ५६)—दूर मार भगा ।
रोदसी विवाधते (अ० १०, सू० ५१ : १०)—जमीन-आसमान हिला देना ।
वातस्य मनोयुजः—हवा की तरह चलनेवाला मन ।
दिवा ज्योतिः न, धाम अनु (अ० १०, सू० ५२ : ११)—दिन की तरह स्पष्ट ।
अन्तः नहिपरिनसे (अ० १०, सू० ५४ १)—पार न पाना ।
गिरेः भृष्टिः न (अ० १०, सू० ६ : ३—पहाड़ की चोटी-सा ।
मधु जिह्वम्—मधुभाषी होना ।
ध्रुवच्युतः—ध्रुव को हिलानेवाला ।
शत हिमाः—सौ वर्षों तक ।
गुहा चतन्तम् (अ० ११, सू० ६५ : १)—गुफा में छिपे हुए ।
धेनुः न—गाय होना ।
दूरे अन्ति—दूर और पास सर्वत्र ।
दूरेपदीष्ट—दूर हो, अलग हो ।
उभया हस्त्या (अ० १३, सू० ८१ : ७)—दोनों हाथों से ।
नावा सिन्धु इव अतिपर्षत्—नदी-नाव-संयोग ।
उत्सवे च प्रसवे च—सुख-दुःख में ।
कूपे अवहिता (अ० १५, सू० १०५ : १७) डूबते हुए के समान ।
वार्हिः इव—तिनके के समान (कमजोर) ।
द्रविणम् प्रुषायद् (अ० १८, सू०१२१ : ३)—धन लुटा देना ।

ऋग्वेद-संहिता, भाग २

परशुः न वना (अ० १६, सू० १२७ : ३)—वन के लिए परसा होने के समान । नवीयसः नवीयसाः—नये-नये । शीर्ष्णः शीर्ष्णः—हर मुख से । चक्षुः सम् अयस्त (अ० २०, सू० १३६ : २)—आँख खुल जाना । अर्वाअनभीशुः—बे-लगाम घोड़ों-जैसा । अच्छिद्रा कर्णोत—दोष दूर करना । समुद्रस्य चित्पारे—समुद्र पार । अन्तिक आरात् च—दूर और पास कहीं भी । अश्नः मृगः न—भूखे सिंह के समान । रधतः नखस्य—रुके हुए नाले के समान । हृत्सु पीतम (अ० २३, सू० १७६ : ५)—हृदय में बैठा हुआ । काराधुनीव—नक्कारे की-सी आवाज । तस्करा : इव (अ० २४ सू० १६१ : ५)—तसगर होना । मधु चकार—मीठा कर देना ।

द्वितीय मंडल

दुहाना धेनुः (अ० १, सू० २ : ६)—दूध देनेवाली गाय । दूरे पारे—दूर दूर तक । शतं सहस्रं—सैकड़ों-हजारों । अन्यत् अन्यत्—और और, अन्यान्य । तोकं तनयं च (अ० ३, सू० २४ : ५—१)—बेटे-पोते । निमिषः चन—पलक मारने तक । पित्र्याम् प्रदिशम् अनु (अ० ४, सू० ४२ : २)—बाप-दादों से चली आई ।

तृतीय मंडल

जन्मन् जन्मन् (अ० १, सू० १ : २०)—जन्म-जन्म में । आयाहि आयाहि—आवा-जायी होना । सह मूलम् वृश्च (अ० २, सू० ३० : १७)—जड़ से काटना । अधोअक्षा-आँख नीची किये हुए ।

बृहतीः गिरः—बड़ा बोल। मायाः कृण्वानः (अ० ४, सू० ५३ : ८)—माया-सी फैलाना, जादू करना।

चतुर्थ मंडल

हृदिस्पृशम्—सुहृदय, बहुत प्यारा। द्यौः रेजत (अ० २, सू० १७ : २)—आकाश काँपता है। ऊधः पिबन् (अ० ३, सू० २३ : १)—दूध चूसता बच्चा। भ्रुवोः अधि—भौं के इशारे-मात्र से। दिविस्पृशं—गगनस्पर्शी, गगनचुम्बी। यथा यथा—जैसे-जैसे।

पंचम मंडल

प्रातः स्तवेत (अ० २, सू० १८ : १) प्रातःस्मरणीय। उभया हस्ति—दोनों हाथों से। नील पृष्ठं (अ० ३, सू० ४३ : ११)—दूसरों का सहायक। हिरण्यवर्णम्—सोना होना (निष्कपट)।

यजुर्वेद-संहिता

अग्रेगुवः (अ० १, मं० १२)—सब कामों में अगुवा होना। दक्षिणा बाहुः असि (अ० १, मं० २४)—दाहिना हाथ है। धाम्ने धाम्ने (अ० १, मं० २६)—स्थान-स्थान पर। मृत्योः बन्धनात् (अ० ३, मं० ६०)—मृत्यु के बन्धन से। व्रतं कृणात्—व्रत लेना या करना। अक्ष्णः कनीनकम् आरोह—आँखों पर चढ़कर। ध्रुवः असि (अ० ५, मं० १३)—ध्रुव होना। योजनाः मिमाना (अ० ६, मं० ११)—कोस नापते हुए। आशाः दिशः—दिशा-उपदिशाओं में। आत्मा पुरा नश्यति (अ० १२, मं० ८५)—पहिले ही प्राण निकलना। मानुषा युगा—स्त्री-पुरुष सभी। स्वर्गे लोके—स्वर्ग में होना। सहस्राणि सहस्रशः (अ० १६, मं० ५३)—हजारों-लाखों। अन्यः अन्यम् (अ० १६ मं० ४७)—एक दूसरे को। उरोः वरीयः (अ० १६, मं० ४६)—बहुत से-बहुत। चतस्रः प्रदिशः (मं० ३२)—चारों ओर का। तीव्रां तीव्रेण—जहर को जहर से। शतं समाः—सौ वर्ष तक। सत्यानृते रूपे—झूठ और सच। अनड्वान् गौः—अंडवा बछड़ा होना। चिश्चाकृणोति—चीं-चा करते हैं। मृत्युम् प्रति एति—मृत्यु को जीत लेना। सर्वाः प्रदिशः—सब दिशाओं को। ओतः प्रोतः च—ओत-प्रोत होना। तमः बाधते—अन्धेरा दूर करना। हृत् प्रतिष्ठम्—हृदय में स्थित, बैठा हुआ। पिता पुत्रम् इव—बाप बेटे की तरह। अन्धन्तमः—गहरे अंधकार में। अक्षिभुवः सत्यः (अ० २३, मं० २६)—आँखों-देखा सत्य।

सामवेद-संहिता

आग्नेय कांड, प्रथम अध्याय

पराः दिवि (खं० २ : १०)—द्यौलोक से भी परे, बहुत दूर। प्रतिदहस्म—भस्म कर डालना। शरणेआ (खं० ११ : १) शरण में आना। अप अस्य—दूर कर, अलग कर। सुपूर्णम् उदरम् पिब—खूब पेट भरकर खाओ। महा हस्ती (खं ६ : ३)—बड़ी हस्ती। कद उ—कुछ भी, तुच्छ-सा भी। यदा कदा च—यदा कदा, जब कभी। अव अतिष्ठत (खं० १० : १)—आश्रय लेता है। उभया हस्त्याभर। (खं० ११ : ४)—दोनों हाथों। त्रिकद्रुकेषु—तीनों लोकों में। अव्यं करं—अज्ञान का आवरण।

सामवेद-संहिता (उत्तरार्चिक)

प्रथम प्रपाठक

श्येनः न—बाज की तरह। पथः कृण्वते (अ० ३, खं० ५ : १५)—पथ दिखाना, करना। तन्द्रयुः मा उषुभवः—निकम्मा न रहना। तृषाणः ओकः (अ० ४ खं० ३ : १२)—प्यासा कुएँ के पास जाता है। दुः स्तुतिः न शस्यते—निंदा न करना। अद्यचित्—आज तक भी। महीरोदसी—आकाश और पृथ्वी दोनों। अर्भस्य महः—थोड़े-बहुत। अमृतत्वम् आयन् (अ० ८, खं० ३ : २)—अमर हो जाते हैं

रयिणाम् सदनं—सुख और ऐश्वर्य का घर। इमं लोकं अथा अमुं लोकं—इहलोक और परलोक। शतानि च सहस्राणि—सैकड़ों-हजारों। पावकवर्णः—अग्नि-रूप होना (तेजस्वी)। मध्ये मक्षः न—शहद पर मक्खी-सा। गर्भं दधिरे—गर्भ धारण करना। विश्वारूपाणि—नाना प्रकार के रूप। गृध्राणां अन्नम् अस्त—गिद्ध खायें। हनू विसज (अ० २१, खं० १ : ७)—दाढ़ तोड़ डाला।

अथर्ववेद-संहिता

उभे आर्त्नी इव (कां० १, सू० १ : ३)—दोनों छोरों को। अधः पदम् (कां० २, सू० ७ : २) पैर तले कुचलना। पाशं विमुंचता (सू० ८ : १ मं० २)—फन्दे काटना। पाशे बद्धः (सू० १२ : २)—फन्दे में फँसा हुआ, फँसा हुआ। पराचः प्रणुद (मं २, सू० २५ : ५)—दूर कर दे। साला वृकान् इव (सू० १७ : ५)—कुत्तों की तरह। लोम्नि लोम्नि (सूत्र ३३ : ७)—रोम-रोम में। पराम् परावतम् (कां० ३, सू० १८ : ४)—दूर ही दूर। नीचैः उच्चैः (कां० ४ सू० १ : ३)—नीचा-ऊँचा, नीच-ऊँच। बुध्न्यात् अभिअग्रम्—जड़ से फुंगल तक। मुष्कौ भिनद्मि—बधिया करना। अन्नम् एव मन्यते (का० ५, सू० १८ : ४)—दाल-भात का गस्सा समझना। अज अवय यथा (सू० २१ : ५)—भेड़ बकरियों की तरह। शिरः मिनद्मि (सू० २३ : १२)—शिर तोड़ डालूँ। मुखम् दहामि—मुँह फूँकना। जिह्वां निवृन्धि (सू० २९ : ४)—जीभ काट डाला। दतः प्रभृणीर्दि—दाँत भी तोड़ डाल। आमे सुपक्वे (सू० २९ : ६)—कच्चे-पक्के। आवतः आवतः—समीप से समीप। परावतः आवतः—दूर से भी दूर। ग्रीवाः कर्त्स्यामि (का० १०, सू० १ : २१)-गर्दन काट डालूँगा। अरुणाः लोहिनी—खून की तरह लाल। अधरान् पादयाति (सू० ३ : ३)—नीचे कर देता है। शीर्षभिधाय—सिर तोड़ने के लिए। न इव दृश्यते (सू० ८ : २५)—नहीं के बराबर होना। यथायथ—ठीक-ठीक। विद्युत् हनिष्यति (का० ११, सू० ३ : ४०)—बिजली मार जायगी। आयुः प्रातीतर—जीवन प्रदान करता है। निन्दाः च वा अनिन्दा च—बुराई-भलाई। निवाशाः घोषाः (सू० ९ : ११)—चिल्ल-पुकार। उरः प्रतिघ्नानाः—छाती पीटते हुए। कृधुंकर्णी च (सू० १० : ७)—कान दबाकर। प्राणत् एजत—जीता-जागता। पुरुषेषु स्त्रीषु (का० १२, सू० १ : २५)—स्त्री-पुरुषों से। अश्मा पांसु—धूल-पत्थर। दुन्दुभिः वदति (सू० १ :४ १)—नक्कारा बजता है। अ-नि-ओकाः—आवारागर्द। दूरात् दूरम् (सू० २ : १४)—दूर से दूर ही। कुम्भीम् परि-आदधाति (सू० २ : ५१)—दूसरे की हाँड़ी पर आशा लगाना। मृत्योः पड्वीशे (सू० ५ : १५)—मौत के पंजे में। मृत्युः भूत्वा—मुर्दा होकर। वृश्च प्रवृश्च-काट, अच्छी तरह काट। मूलम् वृश्चामि (कां० १३ सू० १ :५)—जड़ काट दूँ। पाशात् मा मोचि (कां० १६, सू० १ : २९)—फन्दे से न छूटना। पृष्टीः अपि शृणीहि (का० १६, सू० ७ : १२)—पसलियाँ तोड़ दें। वर्मणा परिवृतः (कां० १७, सू० १: २८)—कवच पहनकर। पुरु अर्णवं तिरः जगन्वान् (कां० १८, सू० १ : १)—संसार-सागर से पार जाना। धुरि युक्ते—जुए में जोतना। प्रथमस्य अहनः—पहिले दिन के सम्बन्ध में। सह शय्या—हमबिस्तर होना। पत्ये जाया इव (सू० १ : ८)—पति-पत्नी रूप में। बाहुं उपबर्बृहि (सू० १ : ११)—हाथ बढ़ाना। संपिपृग्धि—आलिंगन करना। न सं पपृच्यान्—आलिंगन नहीं करूँगा, संभोग करना। शयने शयीय—शय्या पर सोऊँ (भोग करूँ)। लिबुजा वृक्षं इव (सू० १ : १५)—वल्ली वृक्ष में लिपटी है जैसे। परिष्वजातौ—पार्श्व में लेना। द्यून भूषति (सू० १ : २४)—दिनों की शोभा बढ़ाता है। अनु अख्यन् (सू० १ : २७)—प्रसिद्ध किया है। यत्र-यत्र धूमः, तत्र-तत्र वह्निः—जहाँ धुआँ, वहाँ आग। अनुगुः—पीछे-पीछे चलते हैं। न वाजः अस्ति—बल और आश्रय नहीं है। वनं अग्निः न (सू० १ : ३९)-वन की आग की तरह। पूर्वासः अपरासः (सू० १ :४६)-आगे-पीछे के सब। कःचन न सहते (सू० १ : ४८)—सामने न टिक सकना। पूर्वे पितरः—पुरखा लोग। स्वाः पथ्याः अनु—अपने-अपने रास्ते जाना। विश्वं भुवनं समेति—सारा भुवन इकट्ठा होता है। पूर्वेभिः पथिभिः—

पहिले के मार्गों द्वारा। उत् आ अरुहन् (सू० १ : ६१)—ऊपर चढ़ते हैं। पथिकृद्भ्यः (सू० २ : २) —मार्गदर्शक। साधुना पथा द्रव (सू० २ : ११)—सुमार्ग पर चला। जना अनुचरतः—मनुष्यों के पीछे-पीछे फिरते हैं। उरु णसौ—लम्बी नाकवाले। अनृक्षरा—निष्कंटक। पृथिव्याः उरौ लोके (सू० २ : २०)—विशाल लोक में। मधुश्चुतः सन्तु—मधु बरसानेवाली हों। घासाद् घास इव—घास से घास बाँधी जाती है। गृहेभ्यः अप अरुधन्—घर से बाहर कर दिया है। यमस्य मृत्युः दूतः आसीत्—यम का दूत। परापुरः निपुरः—दूर और पास के। यमस्य सदनं—श्मशान। अन्धेन तमसा प्रावृता (सू० ३ : ३)—शोकाकुल। जरदष्टिं कृणोतु (सू० ३ : १२)—बड़ी उम्र हो। इतश्च अमुतश्च—यहाँ और वहाँ, सर्वत्र। सदः सदः सदत—घर-घर। अभयं कृणोतु—अभय करना। अमृतत्वे दधातु—अमरता दे। मृत्युः परा एतु—मृत्यु दूर भाग जाये। अभ्य चक्षत (सू० ३ : ६६) —साक्षात् दर्शन करना। घृतश्चुतः (सू० ३ : ६८)—घी चूना। पितृणां लोकं—पितृ-लोक। स्वर्गलोकं पतन्ति—स्वर्ग-लोक को जाते हैं। मधु भक्षयन्ति—आनन्द भोगते हैं। पृष्ठिवाहः अश्वा भूत्वा (सू० ४ :१०)—लद्दू घोड़ा होकर। सर्वान् पाशान् प्रमुंच (सू० ४ : ७५)—सब फन्दा काट दे। कामदुघाः भवन्तु—कामधेनु हों। पृथिव्यां प्रावेशयामि—मिट्टी में मिला देता हूँ। चतस्रः प्रादेशः (कां० १९, सू० ५ : ३)—चारों ओर से। रिक्तकुम्भान्—खाली घड़ों-जैसा। पुरः एतु—आगे-आगे चले। उत्तरात अधरात (सू० १५ : ५)—ऊपर-नीचे से। हृदयभिन्धि—हृदय को बींधना। अवधुनुते (सू० ३६ : ४)—धुन डालता है। अश्वा मृगा इव—तेज दौड़नेवाले हरिनों-जैसे। सायं प्रातः अथोदिवाः—सुबह-शाम या दोपहर। अनड्वान इव—अंडवे बैल की तरह। तृतीय स्याम दिवि— तीसरे आसमान में। चक्षुर्मन्त्रस्य—आँखों में बात करनेवाले। पृष्टी अपि शृण—कमर तोड़ डाल। पारं न दृशे—पार न पड़ना। अशीर्षाणम् कृणु—सिर धड़ से अलग कर देना। हनू जम्भय (सू० ४६ : ८)—जबड़े तोड़ डाल। शर्म यच्छ—शरण दे। शिरः प्रहनत् (सू० ४९ : ९)—सिर तोड़ दे। रात्रिम् रात्रिम् (सू० ५५ : १)—रात-रात-भर। पन्थाम आ अगन्म (सू० ६० : ३)—मार्ग लेना। जठरं पृणस्व (कां० २० सू० ३३ : १)—पेट भर ले। पित्रोः उपस्थे—माता-पिता की गोद में। तृषाणः ओकः आगमः—प्यासा कुएँ के पास आता है। मधुनः वः स्वादीयः—शहद से भी मीठा। त्रिषु योनिषु —तीनों लोकों में। आरात् दूरस् —दूर ही दूर से। जिह्वा क्षुरः चर्चरीति—जीभ छुरे के समान चले। छिन्नपक्षाय—परकटे। अक्षिभुवः सत्यस्थ (सू० १३६ : ४)—आँखों देखी। विमुक्तः अश्वः न—छूटे हुए घोड़े के समान। अंगानि दह्यन्ते—अंग जलने लगते हैं। विना अंगुरिम—विना उँगली लगाये। बुद्बुदयाशवः (सू० १ ३७ : १)—बुलबुले की तरह।

कठोपनिषद्, प्रथम अध्याय

द्वितीयं तृतीयं (वल्ली १ : ४)—दुबारा-तिबारा। आत्मप्रदानेनापि—आत्म-बलिदान करके भी। अजरामरो भवति—अजर-अमर होता है। मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् (व० १ : ११)—मौत के मुँह से निकला हुआ। अशनाय पिपासे—भूख-प्यास से (व० १ : १२)। निहितं गुहायाम् (व० १ : १४)— गुफा में छिपा हुआ। नृत्यगीते—नाच-गाने। सहस्रेषु कश्चित् (व० २ : ६)—हजारों में कोई। उत्कर्षापकर्षयोः—उत्कर्ष-अपकर्ष। विवृतम् सद्म (व० २ : १३)—दरवाजा खुला है। अणोरणीयान्महतो महीयान् (व० २ : २०)—छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा। मृत्युमुखात्प्रमुच्यते (व० ३ : १५)—मौत के मुँह से छूट जाता है।

द्वितीय अध्याय

पाशम् बद्ध्यते (व० १ : २)—पास में बँधते हैं। मातृपितृसहस्रेभ्योऽपि—हजारों माँ-बापों से भी। स्वतोऽवगम्यते—स्वयं सिद्ध है। कदलीस्तम्भः—केले का खम्भा। सुखदुःखोद्भूत—सुख-दुख से उत्पन्न। मरीच्युदकम्—मरीचि का जल। न संदृशे तिष्ठति (व० ३ : ९)—दृष्टि में नहीं ठहरता।

अमृताः भवन्ति (व० ३ : ६)—अमर हो जाते हैं। मूलतो विनाश—जड़ से नाश। ग्रन्थयः प्रभिद्यन्ते—गाँठ खुल जाती है, टूट जाती है। अंगुष्ठमात्रः (व० ३ : १७)—अंगूठे के बराबर।

ईशावास्योपनिषद् (शांकर भाष्य,)

पर्वतवदकम्प्यं—पर्वत के समान अटल। जीविते मरणे वा—जीने या मरने का। कर्मफलानि भुज्यन्ते—किये का फल भोगना। ध्रुवं निश्चलमिदं—ध्रुव की तरह अटल। लोके प्रसिद्धम्—दुनिया जानती है। वर्षकोटिशतैः—सैकड़ों-करोड़ों वर्ष। भस्मान्तं भूयात्—भस्मीभूत हो गया।

केनोपनिषद् (शांकर भाष्य, गीता प्रेस)

संसारान्मोक्षणं कृत्वा (पृष्ठ ३३)—संसार से मुक्त होकर। अमृता भवन्ति—अमर हो जाते हैं। चक्षुर्गच्छति (पृ० ३७)—निगाह पड़ना। प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः (पृष्ठ ४०)—प्रत्यक्ष प्रमाणों से। स्वप्नप्रतिबोधवत्—स्वप्न से जागे हुए के समान। भूतेषु भूतेषु—चराचर जीवों में। शशविषाण-कल्पमत्यन्तमेवासद्दृष्टम्—खरहे के सींग के समान। सान्तर्भयास्तद्विजिज्ञासवः—भीतर से डरते-डरते।

मांडूक्योपनिषद् गौडपादीय कारिका (शांकर भाष्य,)

निमीलिताक्षस्तदेव—नेत्र मूँद। पुनर्जायते—पुनर्जन्म होता है। सबाह्याभ्यन्तरो—बाहर और भीतर। भुक्त्वा पीत्वा—खा-पीकर। क्षुत्पिपासावार्तं—भूखा-प्यासा। स्वप्न-दृश्य-वत्—स्वप्न के समान। एक एवाद्वयः—अद्वितीय ही है।

तमः श्वभ्रनिभं दृष्टं वर्षबुद्बुदसंनिभम्।
नाशप्रायं सुखाद्धीनं नशोत्तरमभावगम् ॥
इति व्यासस्मृतेः।

ऊपर के पद में 'अंधेरे गढ़ के समान', 'वर्षा की बूँद के समान' इत्यादि कई मुहावरों का प्रयोग हुआ है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति—घोर अन्धकार में घुसना। यथापां निम्नदेशगमनादिलक्षण—नीचे में पानी भरता है। खे पश्यन्ति पदम्—आकाश में चरण-चिह्न देखते हैं। खं मुष्टिनापि जिघृक्षन्ति—आकाश को मुट्ठी में बंद करना। गत्यागमनकाले—आते-जाते समय। ख कुसुम—आकाश-कुसुम। ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं—उल्का का सीधे-टेढ़े घूमना।

मुंडकोपनिषद्

संव्यवहारविषयमोतं प्रोतं (खं० १, मुंडक २ : ५७)—ओत-प्रोत है। लक्ष्यं विद्धि—लक्ष्य पर मारना। दक्षिणतश्चोत्तरेण—दाँये-बाँये। अधश्चोर्ध्वं—नीचे-ऊपर। शुद्धबुद्धमुक्तस्वरूप—'सुध-बुध खोना' इसी का रूपान्तर है। पुण्यपापे विधूय—पाप-पुण्य धोकर। प्राणस्य प्राणं—प्राणों के प्राण। दूरात्सुदूरे (खं० १ मु० ३: ७)—दूर से भी दूर। निहितं गुहायाम्—गुफा में छिपा हुआ है।

श्वेताश्वतरोपनिषद्

मृत्युपाशांश्छिनत्ति—मृत्यु के फंदे काट देता है। अमृता भवन्ति—अमर हो जाता है। सुकृते दुष्कृते—पाप-पुण्य। भस्मसात्कुरुते—भस्म कर देता है। धर्मरज्ज्वा व्रजेदूर्ध्वं—धर्म की रस्सी ऊपर की ओर ले जाती है। युष्मदस्मदादि—मैं और तू का भाव। मुच्यते सर्वपाशैः—सब फंदों से छूट जाता है। हस्तस्थ पिण्डमुत्सृज्य—हाथ का गस्सा गिराकर। विश्वतश्चक्षुरुत—सब ओर आँख रखनेवाला। संसारमहोदधेः—संसार-सागर से। इतस्ततः—इधर-उधर। वैराग्यं जायते—वैराग्य हो जाना।

ऐतरेयोपनिषद्

अहोरात्रानसन्दधाम्यूतं—रात-दिन एक करना। गाढप्रसुप्तः—गाढ़ी नींद में। भेर्यां तत्कर्णमूले नाड्यमानायामेतमेव—कानपर ढोल बजाना। सीमाविदारण—हद तोड़ना। लोकेऽपि प्रसिद्धं—

संसार जानता है। उद्‌धृतचक्षुः—जिसकी आँखें निकाल ली गई हैं ऐसा, नीलपीतादि—नीला-पीला होना। पुनः पुनरावर्त्तमानो—बार-बार चक्कर लगाता हुआ। भारं निधायेत--भार छोड़कर।

प्रश्नोपनिषद्

प्रासादम् इवस्तम्भादयो—महल स्तम्भों पर ही रुकता है। अवशिथिलीकृत्य—शिथिल न होने देकर। बलि हरन्ति—बलि देता हूँ। वायुरापादतलमस्तक—सिर से पैर तक। श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति—सुनी-सुनाई बातें सुनता है। वर्षशतेनापि—सौ वर्ष में भी। प्राणान्तं—मरते दम तक। यथापादोदरस्त्वचाविनिर्मुच्यत—साँप की तरह केंचुली बदलना। शल्यमिव मे हृदिस्थितं—काँटे की तरह हृदय में चुभना। परं पारं तारयसीति—पल्ले पार कर दिया।

तैत्तिरीयोपनिषद्

कीर्त्तिः पृष्ठं गिरेरिव—पहाड़ की चोटी के समान यश।
विस्मृत्याप्यनृतं न वक्तव्यं—भूल से भी झूठ न बोलो।

मृगतृष्णाम्भसि स्नातः खपुष्पकृतशेखरः।
एष वन्ध्यासुतो याति शशशृङ्गो धनुर्धरः॥

ऊपर के पद में 'मृगतृष्णा के जल में स्नान करना', 'आकाशकुसुम का मुकुट', शशश्रृंग', अर्थात् 'खरहे के सींग', 'वन्ध्या का पुत्र' इत्यादि कितने ही मुहावरों का प्रयोग हुआ है।

मूषानिषिक्त प्रतिमावन्न—साँचे में ढली हुई मूर्त्ति के समान। यावद्यावत्तावत्तावद्विविक्तो—जितना-जितना, उतना-उतना। शतगुणोत्तरोत्तरोत्कर्ष—सौगुना आगे-आगे के। मधुराम्लादि—खट्टा-मीठा।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता

सिंहनादं विनद्योच्चैः—सिंह की तरह जोर से गरजना। हृदयानि व्यदारयत्—हृदय फाड़ दिये। नभश्च पृथिवीं च—आकाश और पृथिवी। गात्राणि सीदन्ति—अंग शिथिल होना। मुखञ्च परिशुष्यति—मुख सूखा जाता है। शरीरे वेपथुः च रोमहर्षः जायते—शरीर काँपता है और रोंगटे खड़े हो जाते हैं। त्वक् परिदह्यते—त्वचा बहुत जलती है। प्राणान् त्यक्त्वा—जीने की आशा छोड़कर। त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः—तीनों लोक के राज्य के लिए। वर्णसंकरः जायते—वर्णसंकर उत्पन्न होता है। नरके वासः भवति—नरक में वास होता है। भैक्ष्यम् भोक्तुम्—भीख माँगकर खाना। रुधिरप्रदिग्धान्—रुधिर से सने हुए। का परिदेवना—क्या चिन्ता है। अपावृतं स्वर्गद्वारम्—खुले हुए स्वर्ग-द्वार। मरणात् अतिरिच्यते—मरने से भी बुरा होता है। अवाच्यवादान् वदिष्यन्ति—अनकहनी कहेंगे। स्वर्गम् प्राप्स्यसि—स्वर्ग प्राप्त होगा। अभिक्रमनाशः—बीज का नाश। पुष्पिताम् वाचम्—दिखाऊ बात। सुकृतदुष्कृते—पुण्य-पाप। बन्धविनिर्मुक्ताः—बन्धन से छूटे हुए। मोहकलिलं—मोहरूपी दलदल। कूर्मः अंगानि इव—कछुए के अंगों की तरह। सः स्तेनः—वह चोर है। मोघम् जीवति—व्यर्थ ही जीता है। त्रिषु लोकेषु—तीनों लोकों में। सिद्धिः भवति—सिद्धि होती है। वृजिनम् संतरिष्यसि—पापमुक्त होगा। भस्मसात् कुरुते—भस्म कर देता है। अम्भसा पद्मपत्रम् इव—जल में जैसे कमल का पत्ता। समलोष्टाश्मकांचन—लोहा, पत्थर, सोना समान होना। वायोः इव सुदुष्करम्—वायु की भाँति अति दुष्कर। न इह न अमुत्र—न इस लोक में, न परलोक में। सूत्रे मणिगणा इव—माला के दानों की तरह। मायाम् तरन्ति—माया से छूट जाते हैं। प्रयाणकाले—अन्त समय में। प्रकृतेः वशात् अवशम्—स्वभाव के वश से परतंत्र हुए। अज्ञानजम् तमः—अज्ञानांधकार। तृप्तिः न

अस्ति—तृप्ति नहीं होती। शतशः अथ सहस्रशः—सैकड़ों और हजारों। संसारसागरात्—संसार-सागर से।

वेद, उपनिषद् और गीता की तरह स्मृति और पुराण इत्यादि अन्य ग्रन्थों में भी खोजने पर काफी मुहावरे मिल सकते हैं। पुराणों को तो यदि मुहावरा-कोष ही कहें, तो हमारे विचार से पुराणों अथवा मुहावरों के साथ कोई अन्याय न होगा। वाक्य, खंडवाक्य अथवा महावाक्य इत्यादि के आकार के ही नहीं, वरन् पूरी कथा के आकार के मुहावरे भी पुराणों में हमें मिलते हैं। श्रीमद्भागवतपुराण तथा एक-दो अन्य पुराण-ग्रन्थों को पढ़ने के बाद हमें तो यह विश्वास हो गया है और यदि इसे छोटा मुँह बड़ी बात न समझें, तो हम दावा करते हैं कि उनमें (पुराणों में) कहीं भी कोई अनर्गल, अतिरंजित अथवा ऐसी कपोलकल्पित बात नहीं है, जिसके कारण उन्हें झूठी गप कहकर उनकी उपेक्षा करना न्यायसिद्ध हो सके। आज भी बात-बात में आग उगलते हुए, जमीन और आसमान को हिला देनेवाली उनकी फुफकारों से अच्छे-अच्छों का कलेजा बाँसों उछलने लगता है, यह एक साधारण-सा वाक्य है। जो लोग 'आग उगलना', 'जमीन और आसमान हिलाना' तथा 'कलेजा बाँसों उछलना' इत्यादि मुहावरों का अर्थ जानते हैं, वे इस वाक्य की मुहावरेदारी पर लट्टू हो जायेंगे, किन्तु इसके प्रतिकूल जो लोग मुहावरों की उपेक्षा करके इस वाक्य के केवल अभिधेयार्थ को ही लेना चाहते हैं उनके कान खड़े होना स्वाभाविक हैं, वे इसे पगले का प्रलाप, चंडूखाने की गप अथवा असंगत और अतर्कपूर्ण बकवास, कुछ भी कह सकते हैं।

यों तो संस्कृत ही नहीं, बल्कि युरोप की सबसे प्राचीन समझी जानेवाली ग्रीक और लैटिन जैसी भाषाओं में भी मुहावरों की बहुत कमी है, किन्तु इस न्यूनता का कारण तत्कालीन साहित्यिकों की मुहावरों के प्रति अरुचि अथवा अज्ञान नहीं है। पहिले तो उस समय के समाज का कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत और विशिष्ट न था, दूसरे उन दिनों इतिवृत्तों, संवादों, कथोपकथन अथवा सम्भाषणों आदि को अधिकांश परम उदात्त, आदर्श और साहित्यिक रूप में रखने की ही चेष्टा की जाती थी, व्यावहारिक रूप में रखने की बहुत कम। उस युग के नायक और नायिकाएँ प्रायः अति उच्च श्रेणी के होते थे, अतएव कवि और लेखक उनकी बातचीत को प्रायः आदर्श रूप में ही अपनी रचनाओं में सजाया करते थे। इसके अतिरिक्त दूसरों के द्वारा प्रयुक्त उक्ति या पद को लेना उस समय के विद्वान् अपना अपमान भी समझते थे। वाल्मीकि, कालिदास आदि की रचनाओं में इसलिए मुहावरों का आधिक्य सम्भव ही नहीं था। समाज के कार्य-क्षेत्र के विस्तार तथा साहित्यिक क्षेत्र में आदर्शवाद की जगह वास्तविकता अथवा यथार्थवाद के अधिक प्रचार से मुहावरों की आशातीत अभिवृद्धि हुई है। यही कारण है कि मृच्छकटिक-नाटक इत्यादि बाद के ग्रन्थों में मुहावरों की काफी भरमार है। मिलने को शकुन्तला-नाटक, मेघदूत और रामायण इत्यादि ग्रन्थों में भी काफी मुहावरे मिलते हैं। संक्षेप में, न्यूनता का अर्थ प्रचुरता का अभाव है, सर्वथा अभाव नहीं, अतएव अब भी यह कहना कि संस्कृत में मुहावरे हैं ही नहीं, आँख मीचकर दिन को रात कहने के सिवा और क्या हो सकता है। शास्त्रकारों ने इसीलिए कहा भी है—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति॥

संस्कृत-साहित्य में विद्यमान मुहावरों की इस लड़ी को अविच्छिन्न सिद्ध करने के लिए अब हम रामायण, शकुन्तला-नाटक, पंचतंत्र इत्यादि के कुछ फुटकर मुहावरे तथा उनके रूपान्तरित हिन्दी-मुहावरे यहाँ देते हैं—

वाल्मीकीय रामायण

मृगीवोत्फुल्लनयना बभूवाश्रुपरिप्लुता—मृगनयनी, आँसुओं में नहा जाना। पश्यतस्तां तु रामस्य भूयः क्रोधो व्यवर्धत—क्रोध भड़क उठना। स बध्वा भ्रूकुटी वक्त्रे तिर्यकप्रेक्षित-लोचनः—भौंहें चढ़ाना, टेढ़ी निगाह से देखना। एतादृश दिशो भद्रे कर्यमस्ति न मे त्वया—मुझे तुमसे कोई मतलब या सरोकार नहीं। रावणाङ्कपरिभ्रष्टां दृष्टां दुष्टेन चक्षुषा—गोदी में बैठना, बुरी निगाह से देखना। भर्तृवचोरुक्ष—रूखे वचन, रूखी बात। वाक्शल्यैः—जबान का तीर, बात तीर-सी लगना। चक्षुषा प्रदहन्निव—आँखें जलना।

महानिर्वाण तंत्र

मृतका इव—मुर्दे के समान। पांचालिकाः यथा भित्तौ सर्वेन्द्रियसमन्विताः—भीत पर बनी हुई पुतली-जैसा। तृषितो जाह्नवीतीरे कूपं खनति दुर्मतिः—गंगा किनारे कुआँ खोदना।

नगरगमनस्य मनः कथमपि न करोति (श० ना०)—मन न करना। अरण्यरुदितं कृतं (कुवलयानन्द)—अरण्य-रोदन। अरण्ये मया रुदितमासीत् (श० ना०, पृ० ६१)—जंगल में रोना। चतुरकमुखम् अवलोकयति—मुँह देखना। भोः कृतघ्न मा मे त्वं स्वमुखम् दर्शय (पंचतंत्र)—मुँह न दिखाना। तत्र कतिचिद्दिनानि लगिष्यन्ति (पंचतंत्र)—वहाँ कुछ दिन लगेंगे। कर्णौ लगति—कान लगना। पदं मूर्ध्नि समाधत्ते केसरी मत्तदन्तिनः—सिर पर पाँव रखना। अधुना मन्मुखम् अवलोकयसि—मुँह देखना। पदमेकं चलितुं न शक्नोति—पग-भर न चल सकना। शिरस्ताडयन् प्रोवाच—सिर पीटकर कहना। घासमुष्टिमपि न प्रयच्छति—मुट्ठी-भर घास। कश्चित् तस्य ग्रीवायां लगति—गले लगना या मिलना। कर्णमुत्पाटयामि ते—कान उखाड़ना। मासानेतान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा—आँख मींचना (मेघदूत-'बोलचाल' से उद्धृत)।

संस्कृत-मुहावरों के, श्री 'हरिऔध' जी की 'बोलचाल' तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में इधर-उधर बिखरे हुए जो थोड़े-बहुत प्राकृत, पाली एवं अपभ्रंश रूप हमें मिले हैं, उनके आधार पर तथा जैसा श्रीयुत उदयनारायणजी तिवारी ने भोजपुरी-मुहावरों पर लिखते समय कहा है, 'आधुनिक भाषाओं का प्राकृत से अत्यन्त सन्निकट सम्बन्ध है। अतएव, इनमें मुहावरों का मिलना सर्वथा स्वाभाविक है, हम कह सकते हैं कि यदि प्राकृत, पाली और अपभ्रंश को जाननेवाले विद्वान् इस ओर कदम बढ़ायें और इनके मुहावरों का संकलनमात्र भी कर डालें, तो भाषा के स्वाभाविक विकास का प्रश्न दो और दो चार की तरह बिलकुल स्पष्ट, निश्चित और सरल हो जाये। मुहावरों के अपने इस अध्ययन को हम तो देश में चलनेवाले भाषा-सम्बन्धी इस महान् यज्ञ के शाकल्य के रूप में 'इदन्नमम' की पवित्र और आध्यात्मिक भावना से याज्ञिकों और अग्निहोत्रियों को अर्पण कर रहे हैं, वे जिस प्रकार चाहें इसका उपयोग करें, हमें तो न समिधाओं का ज्ञान है और न शाकल्य अथवा उसके उपकरण-अंशों और परिमाण का, जहाँ कहीं से जितना कुछ प्राप्त कर सके हैं, उतना अवश्य यहाँ दे रहे हैं—

१. संस्कृत-मुहावरों के प्राकृत और हिन्दी-रूप

न खलु दृष्टमात्रस्य तवाङ्कं समारोहति—ण क्खु दिट्ठमेतस्स तुह अंकं समारोहदि—गोद में बैठना। अन्यथावश्यं सिंचतं मे तिलोदकम्, अवस्सं सिंचध तिलोदअं—तिलोदक देना। जलाञ्जलिर्दीयते—जलंजली दिज्जदि—जलांजलि देना। भयोन्मुद्रितया जिह्वया तद्दीयते पिशुनलोक—भयाम्मुद्दिआये जीहाये तादिज्जये—खुली जीभ से कहना। मुखेषु मुद्रा, मुहेसुमुद्दा—मुँहपर मोहर लगाना। अरे का मां शब्दायते—अले के मं शद्दावेदि,—क्या मुझे बुलाते हो?

२. पाली-मुहावरे और उनके हिन्दी-रूप,

केवट्टा मंचे मच्छं विलोपन्ति—मछली-बाजार होना, मछली मारना। चित्तानि नमेन्ति—मन में बैठ जाना।

३. अपभ्रंश अथवा पुरानी हिन्दी के मुहावरे

हमारे अधिकांश मुहावरे, संस्कृत से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से घूमते-घामते आधुनिक हिन्दी में आये हैं। अपने कथन की पुष्टि के लिए हम यहाँ अपभ्रंश के कुछ ऐसे मुहावरे और मुहावरेदार प्रयोग देते हैं, जिनका आज की हिन्दी में भी उतने ही मान-सम्मान के साथ प्रयोग होता है। 'उँगली उठाना' हिन्दी का एक प्रसिद्ध मुहावरा है। अपभ्रंश में इसका प्रयोग इस प्रकार मिलता है, 'दुज्जन कर पल्लविहिं (उँगली) दंसिज्जतु भमिज्ज'। 'आग में जल मरना' मुहावरा भी तो 'अग्गिहिं पविस्सामि' के रूप में पुरानी हिन्दी में प्रयुक्त हुआ है। नीचे नमूने के तौर पर अपभ्रंश के ऐसे ही दस-पाँच उदाहरण और देकर प्रस्तुत प्रसंग को समाप्त करेंगे।

झोली तुट्टवि किं न हुउन छारह पुंजु।
हिंडइ दोरीबंधीयउ जिय मंकड ति मुंजु॥

जलकर मरना, फाँसी लगाकर मरना, जलकर राख का ढेर हो जाना इत्यादि मुहावरों का अच्छा प्रयोग हुआ है।

सिरि जर खण्डी लोअडी गलि मनिअडा न वीस।
तो वि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठवईस (उठक-बैठक कराना)।
अज्जवि नाहुमहुज्जि घर सिद्धत्था वन्देई।
ताउंजि विरहु गवक्खेहिं मक्कडुघुग्घिऊ देई (बन्दर-घुड़की देना)।
साव सलोणी गोरडी नवखी कवि विस गंठि (विष की गाँठ होना)।
भड्ड पच्चलिउ सो मरइ जासु न लग्गई कंठि।
जाउ म जन्तउ पल्लवह (पल्ला पकड़ना) देक्खउं कइ पय देई।
हिअइ तिरिच्छी हउंजि पर पिउ डम्बरइं करेइ (आडम्बर करना, रचना)
जामहिं विसमी कज्जगइं (बुरे दिन आना) जीवहिं मज्झे एइ।
तामहिं अच्छउ इयरु जणु सुअणुवि अन्तरु देइ (अलग होना, किनारा कसना)
सन्ता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहो बलि कीसु (बलिहारी जाना)।
तसु दइवेण विमुंडियउं जसु खल्लिहडउं सीसु।
महुहियउं तइंताए तुहुं सविअन्ने विनडिज्जइ।
पिअ काइं करउं हउं काइं तुहुं मच्छेमच्छुगिलिज्जइ (मच्छ मच्छ को खाता है)।
जे परदार परम्मुहा ते वुच्चहिं नरसीह।
जे परिरंभहिं पररमणिताहं फुसिज्जइ लीह (लीक मिटना)।
अज्जु विहाणउं अज्जुदिणु अज्जु सुवाउ पवत्तु।
अज्जु गलत्थिउ (गरदनिया देना) सयलु दुहुजं तुहुं मह घरिपत्तु।

संस्कृत-मुहावरों तथा उनके रूपान्तरित प्राकृत, पाली अपभ्रंश एवं हिन्दी-रूपों की मीमांसा करने के उपरान्त अब हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि हिन्दी अथवा संस्कृत-प्रसूत अन्य भाषाओं में प्रचलित समानार्थक मुहावरे न तो संस्कृत के किसी मुहावरे के अनुवाद हैं और न आपस में ही किसी एक दूसरे के अनुवाद है। 'कर्णे लगति' संस्कृत का एक मुहावरा है. जिसका हिन्दी-रूप कान लगना और भोजपुरी-रूप, 'काने लगल' है। 'कान लगना' और 'कर्णे लगति' को पास-पास रखने से ही स्पष्ट हो जाता है कि दोनों मुहावरे एक हैं। 'कान' वास्तव में कर्ण का अनुवाद नहीं, बल्कि करण

और कन्न से बिगड़कर कहिए या सुधरकर 'कान' हो गया है। अतएव, जिस प्रकार बनारस को वाराणसी का अनुवाद मानना भ्रमात्मक है, उसी प्रकार कान को कर्ण का अनुवाद समझकर 'कान लगना' मुहावरे को 'कर्णं लगति' का अनुवाद मानना एक बड़ी भारी हठधर्मी है. हाँ यदि 'कर्ण' की जगह अँगरेजी शब्द 'ईयर' अथवा अरबी 'गोश' रखकर उन भाषाओं में इस मुहावरे का प्रयोग होता, तो अवश्य ये नये प्रयोग संस्कृत-मुहावरे का अनुवाद समझे जाते। इसी प्रकार, 'पदं मूर्ध्नि समाधत्ते', 'मुखमवलोकयसि', 'क्रोधो व्यवर्धत', जाह्नवीतीरे कूपं खनति', 'वचो रुक्षं' इत्यादि के 'सिर पर पाँव रखना', 'मुँह देखना', 'क्रोध भड़कना', 'गंगा किनारे कुआँ खोदना' और 'रूखी बात' इत्यादि हिन्दी-प्रयोग संस्कृत-मुहावरों के रूपान्तरमात्र हैं, अनुवाद नहीं। इसी प्रकार हिन्दी, हिन्दुस्तानी या खड़ीबोली तथा संस्कृत-प्रसूत अन्य भाषाएँ विशेष कर व्रज-भाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली और मगही इत्यादि के मुहावरों में जो थोड़ा-बहुत शब्द-विभेद मिलता है वह, प्रान्तिक विभेद है, अनुवाद के कारण उत्पन्न हुआ परिवर्त्तन नहीं। 'एक तो करेला दूसरे चढ़े नीम पर', यह हिन्दी का एक प्रयोग है, किन्तु प्रान्तिक विभेद के कारण 'एक तो गिलो दूसरे चढ़ी नीम' तथा 'तितलौकी नीम चढ़ी' और 'कड़वे और नीम चढ़े' इत्यादि कई रूपों में इसका प्रयोग होता है। और भी, हमारे यहाँ एक मुहावरा है 'घर की मुर्गी दाल बराबर'। अभी हाल में अपने एक बिहारी मित्र के मुँह से हमने 'घर की मूली साग बराबर', ऐसा प्रयोग सुना। मालूम करने पर पता चला कि वहाँ प्रायः सभी लोग इस रूप में मुहावरे का प्रयोग करते हैं। यदि कोई चाहे, तो इसे मूल मुहावरे का शाकाहारी रूप भले ही कह दे, किन्तु उसका अनुवाद नहीं कह सकता। 'मुहावरों की शब्द-योजना' के अन्तर्गत द्वितीय अध्याय में प्रान्तिक शब्द-विभेद तथा अनुवाद दोनों ही दृष्टियों से संस्कृत-प्रसूत अन्य भाषाओं के काफी उदाहरण देकर हम पहिले ही सिद्ध कर चुके हैं कि हिन्दी के ऐसे मुहावरे जो प्रान्तिक भाषाओं की दृष्टि से एक दूसरे का अनुवाद मालूम होते हैं अथवा जिनमें शाब्दिक परिवर्त्तन ही होता है। वे तो अपनी प्रान्तिक वेषभूषा धारण किये हुए क्रमागत विकास के परिणाममात्र होते हैं। एक ही मुहावरे के व्रज-भाषा, अवधी और खड़ीबोली में मिलनेवाले विभिन्न रूप उनमें से प्रत्येक की स्वतन्त्र सत्ता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

मूल भाषा के मुहावरों और उनके क्रमागत विकास के परिणामस्वरूप मिलनेवाले आधुनिक रूपों का जो विवेचन ऊपर किया गया है, उससे यह भली भाँति समझ में आ जाता है कि मूल भाषा के मुहावरे किस प्रकार धीरे-धीरे रूपान्तरित होकर तत्प्रसूत प्रचलित भाषाओं में चल निकलते हैं। मूल भाषा के मुहावरों पर यदि थोड़ी देर के लिए विचार करना बंद कर दें,तो तत्प्रसूत प्रचलित भाषाओं में व्यवहृत मुहावरों के आविर्भाव के इतिहास में डंके की चोट हम यह एलान कर सकते हैं कि मूल-भाषा ही उनकी सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ श्री है, वहीं से उनके मुहावरों का आदि स्रोत प्रवाहित होता है, वही उनकी मुहावरा-गंगा का गंगोत्री और मानसरोवर है। अन्य भाषाओं से उद्भूत और भी बहुत-से नदी-नाले उसमें मिलकर उसके आकार और शक्ति में एक अद्भुत परिवर्त्तन कर देते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु फिर भी स्थान इनका उनके बाद ही है। अन्य भाषा अथवा भाषाओं से गृहीत ये मुहावरे अपने मूल अथवा थोड़े-बहुत रूपान्तरित रूप में तो बहुत ही थोड़े मिलते हैं। हिन्दी वा हिन्दुस्तानी को यदि अपनी इस मीमांसा की आधार-शिला मानकर चलें, तो हम कह सकते हैं कि अरबी और फारसी मुहावरों के तो कुछ मूल रूप इसमें मिल भी जायेंगे, लेकिन अँगेरेजी के, मुहावरों की दृष्टि से जिसका हमारी भाषा पर किसी अन्य विजेता जाति की भाषा से कम प्रभाव नहीं पड़ा है, मूलरूप तो बिलकुल नहीं के बराबर ही है। स्वर्गीय श्री 'हरिऔध' जी के शब्दों में कहें तो "अधिकांश वे पूर्ण अनुवादित किंवा अर्द्ध-अनुवादित रूप में देखे जाते हैं।" किसी भाषा में अन्य भाषाओं के मुहावरे क्यों और कैसे आ मिलते हैं, इस पर भी

उनका मत उल्लेखनीय है। 'बोलचाल' की भूमिका के पृष्ठ १४८ पर इस सम्बन्ध में आप लिखते हैं, "भिन्न-भिन्न जातियों के साहचर्य्य, परस्पर आदान-प्रदान, जेता और विजित जाति के विविध सम्बन्ध-सूत्रों से, जैसे बहुत-से व्यावहारिक वाक्य, विचार, आदर्श और नाना सिद्धान्त एक भाषा के दूसरी भाषा में प्रवेश कर जाते हैं, उसी प्रकार कुछ मुहावरे भी, अपेक्षित भाव का अभाव, माधुर्य्य की न्यूनता और लेखन-शैली की वांछित हृदयग्राहिता भी एक असमृद्ध भाषा को दूसरी समृद्ध भाषा से मुहावरे ग्रहण करने के लिए विवश करती है। यद्यपि एक भाषा के मुहावरे के अनुवाद दूसरी भाषा में प्रायः नहीं हो सकता, फिर भी यथासम्भव यह कार्य किया जाता है।"

संसर्ग-भाषाओं का प्रभाव

किसी भाषा में दूसरी भाषाओं के मुहावरे, जैसा 'हरिऔध' जी ने बताया है, प्रायः तीन प्रकार से आते हैं—(१) दोनों जातियों के पारस्परिक व्यापारिक, बौद्धिक अथवा राजनीतिक सम्बन्ध के द्वारा, (२) विजित और विजेताओं की भाषाओं के एक दूसरे पर प्रभाव के कारण और (३) अपनी कमियों को पूरा करने के लिए किसी असमृद्ध भाषा के दूसरी समृद्ध भाषा की ओर झुकने के कारण। चौथी बात, जिसकी इसी प्रसंग में चर्चा करना आवश्यक है कि इन दूसरी भाषाओं से जो मुहावरे आते हैं, वे किस रूप में आते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में चूँकि हमारा मुख्य विषय हिन्दी-मुहावरों का अध्ययन है, इसलिए हम यहाँ हिन्दी-मुहावरों पर ही विशेष रूप से दृष्टि रखकर इन चारों बातों पर विचार करेंगे।

हिन्दी-भाषा पर साधारण तौर से किन्तु हिन्दी-मुहावरों पर विशेष तौर से यदि किसी अन्य भाषा का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है, तो वह फारसी है। अरबी और तुर्की के भी बहुत-से शब्द और मुहावरे यद्यपि हमारी भाषा में मलते हैं, किन्तु पहिले तो उनमें से अधिकांश फारसी में होते हुए ही हमारे यहाँ आये हैं, दूसरे उनकी संख्या इतनी कम है कि हम यह नहीं मान सकते कि उनका भी कोई खास प्रभाव हिन्दुस्तानी भाषाओं पर पड़ा है। फारसी के बाद यदि इतना अधिक प्रभाव किसी और विदेशी भाषा का हमारे ऊपर पड़ा है, तो वह अँगरेजी है। फारसी की तरह अँगरेजी के द्वारा भी उसे प्रभावित करनेवाली फ्रेंच इत्यादि के कुछ प्रयोग हमारी भाषा में चल निकले हैं, किन्तु इनकी संख्या अरबी और तुर्की प्रयोगों से भी बहुत कम है। अतएव, संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तानी भाषाओं पर मुख्यतया फारसी और अँगरेजी का ही सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। फारसी और अँगरेजी में भी, हम कह सकते हैं कि फारसी का प्रभाव जितना अधिक और व्यापक है, उतना अँगरेजी का नहीं, अँगरेजी जहाँ शहर और वहाँ के शिक्षित-वर्ग तक ही सीमित है, किन्तु फारसी का प्रभाव हमारे शहर और देहात सर्वत्र दिखाई पड़ता है।

फारसी प्रयोगों के इतना अधिक व्यापक और लोक-प्रिय होने के कई कारण हैं। पहिले तो 'आबे हयात' के रचयिता मौलाना आजाद प्रभृति विद्वान् भी जैसा मानते हैं, फारसी और संस्कृत की प्रकृतियाँ एक दूसरे से बहुत अधिक मिलती-जुलती हैं। इसलिए उनके प्रयोगों का एक दूसरे में घुल-मिल जाना अस्वाभाविक नहीं है। दूसरे, अरब और फारसी से हमारा सम्बन्ध अँगरेजों की तरह केवल विजित और विजेताओं जैसा ही नहीं रहा है। भारतवर्ष पर मुसलमानों के हमलों के पूर्व ही नहीं, बल्कि इस्लाम के भी बहुत पहिले अरब और फारस के साथ जैसा अभी आगे चलकर हम दिखायेंगे, हमारा व्यापारिक और बौद्धिक सम्बन्ध काफी दृढ़ हो चुका था। तीसरा और सबसे प्रधान कारण देश-विजय के उपरान्त मुसलमानों का हिन्दुस्तानियों के साथ सर्वथा हिन्दुस्तानी बनकर रहने लगना है। मुसलमान विजेता जरूर थे, अपनी विजयों पर उन्हें नाज भी था, विजेताओं-जैसे जुल्म भी अपनी जनता पर उन्होंने किये, किन्तु फिर भी चूँकि अँगरेजों की तरह उन्होंने न तो कभी विदेशी ही बने रहने का प्रयत्न किया और न गोरे-काले का कोई भेद-भाव

ही रखा, इसलिए शीघ्र ही हिन्दुस्तान उनका अपना घर और हिन्दुस्तानी भाषाएँ बहुत-कुछ उनकी अपनी भाषाएँ बन गईं।

हिन्दुस्तानी भाषाओं में और खास तौर से हिन्दी में फारसी के अथवा फारसीमय मुहावरों को 'सूर और तुलसी' जैसे उच्चकोटि के भक्त कवियों की रचनाओं में यत्र-तत्र गुँथे हुए देखकर हमारे कुछ मित्र यहाँ तक अनुमान करने लगे हैं कि हिन्दी में मुहावरे और मुहावरेदारी आई ही फारसी और अरबी से है। फारसी और अरबी के शब्द एवं मुहावरों से, हम यह मानते हैं, हमारी भाषाओं के शब्द-कोष और भाव-व्यंजन-शक्ति में काफी प्रगति और प्रौढ़ता आई है, इस प्रकार के अनुवादित, अर्धानुवादित तथा ज्यों-के-त्यों हिन्दुस्तानी भाषाओं में प्रचलित मुहावरों की एक संक्षिप्त सूची भी हम आगे चलकर देंगे, किन्तु फिर भी हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि हमारी भाषाओं में मुहावरों का श्रीगणेश ही अरबी और फारसी की कृपा से हुआ है। इस प्रबन्ध में चूँकि हमारी नीति किसी के मत का खंडन या मंडन करने की नहीं है, हम भारत और मुस्लिम प्रदेशों के व्यापारिक और बौद्धिक सम्बन्ध का संक्षिप्त इतिहास देकर, इस प्रश्न को हल करने की एक तर्कपूर्ण कसौटी विचारकों के सामने रखकर, अन्तिम निर्णय उन्हीं के ऊपर छोड़ देना अच्छा समझते हैं।

किसी भाषा में अन्य भाषाओं के मुहावरे तीन ही प्रकार से आ सकते हैं—(१) अनुवादित, (२) अर्धानुवादित और (३) तत्सम रूप में। 'लिबड़ी बरताना' और 'सफर मैना' अँगरेजी के 'लिवरी एण्ड वेटन्स' और 'साईपर्स एण्ड माईनर्स' से तथा 'असबसा के अथवा अदबदा के' फारसी के 'अजबस्के' से बिगड़कर कहिए अथवा उनके तद्भव रूपों में चलनेवाले प्रयोग हैं। इस प्रकार के भी बहुत-से प्रयोग हमारी भाषा में हैं, किन्तु उनकी संख्या उँगलियों पर गिनने लायक है, इसलिए उनपर अधिक जोर न देकर इन तीन रूपों पर ही यहाँ विचार करेंगे। तत्सम रूपों के बारे में भी अधिक कहना व्यर्थ है; क्योंकि उनके अंग-प्रत्यंग ही उनकी राष्ट्रीयता के परिचायक हैं। 'पा व रकाब' फारसी का एक मुहावरा है, जो हमारे यहाँ प्रायः इसी रूप में चलता है, अतएव इसके अथवा इसके ही जैसे दूसरे तत्सम मुहावरों के बारे में तो हम तुरन्त कह सकते हैं कि कम-से-कम इनका ढाँचा तो अवश्य ही विदेशी है। 'ढाँचा' हमने जान-बूझकर रखा है, हमारी राय में मनुष्य के स्थूल शरीर और सूक्ष्म आत्मा की तरह मुहावरों के भी स्थूल और सूक्ष्म दो रूप होते हैं, स्थूल रूप में हम उसके शाब्दिक ढाँचे को लेते हैं और सूक्ष्म रूप में उस विचारधारा को, जिससे उस मुहावरे के तात्पर्यार्थ का सीधा सम्बन्ध है, अभी मुस्लिम प्रदेशों के साथ हमारे व्यापारिक और बौद्धिक सम्बन्ध का संक्षिप्त इतिहास देखते समय आप पायेंगे कि केवल गणित और ज्यौतिष-ग्रन्थों का ही नहीं, वरन् और भी कितने ही संस्कृत-ग्रन्थों का हजारों वर्ष पहिले अरबी और फारसी में अनुवाद हुआ था। एक से नौ तक की गिनती अरबवालों ने हिन्दुस्तानियों से ही सीखी है। अतएव, जो ज्ञान उन्होंने हमसे प्राप्त किया है, कम-से-कम तत्सम्बन्धी मुहावरों के सम्बन्ध में तो हम कह ही सकते हैं कि उनकी आत्मा भारतीय है, केवल ढाँचामात्र विदेशी है। तत्सम रूपों के बाद अर्धानुवादित और अनुवादित रूपों का प्रश्न आता है। अर्धानुवादित रूपों के सम्बन्ध में अपना निर्णय देने के पूर्व हमें यह देखना होगा कि मूल मुहावरा, जिसके अनुवाद का प्रयत्न इस नये प्रयोग में हुआ है, किस भाषा का है। ऐसे प्रयोगों में यह भी सम्भव है कि वे मूल और अन्य भाषा के दो स्वतन्त्र प्रयोगों की खिचड़ी से बन गये हों अथवा अनुकरण के आधार पर स्वतन्त्र मुहावरे गढ़ लिये गये हों। अब अन्त में हम अनुवादित मुहावरों के बारे में चर्चा करेंगे। अनुवादित मुहावरों के बारे में यह निर्णय करना कि वे किस भाषा के हैं, जरा टेढ़ी खीर है। दो भाषाओं में दो समानार्थक मुहावरों को देखकर हम पहिले तो यही नहीं कह सकते कि उनमें से कोई भी एक दूसरे का अनुवाद है, फिर कौन किसका अनुवाद है, यह कहना तो और भी कठिन है। हिन्दी का एक प्रयोग है 'मरना-जीना', इसी अर्थ को देनेवाला अरबी

का एक मुहावरा है 'मौत व जीस्त' और ईशावास्योपनिषद् के शांकरभाष्य 'में जीविते मरणे वा' आया है, उर्दू वाले 'जिन्दगी और मौत' ऐसा प्रयोग भी करते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखनेवाले यदि 'मरना-जीना' और 'मौत व जीस्त' के शब्द-क्रम को समान मानकर इसे अरबी का अनुवाद कहें, तो फिर प्रश्न उठेगा कि क्या 'जिन्दगी और मौत' 'जीविते मरणे वा' का अनुवाद है, क्योंकि इन दोनों का शब्द-क्रम भी समान है। इसी प्रकार 'मोहर लगाना' मुहावरे को संस्कृत के 'मुखेषु मुद्रा' का रूपान्तर कहें अथवा कुरान शरीफ़ के 'खतमल-लाहोअलाकुलूबेहिम' इस प्रयोग का अनुवाद और भी ऋग्वेद में 'मधुजिह्वम्' तथा 'मन्द्र-जिह्वा' ऐसे कितने ही प्रयोग मिलते हैं, इन्हीं का रूपान्तर हिन्दी में 'मीठा बोल' या 'मीठी बातचीत' हो गया है। कुछ लोगों को ये प्रयोग फ़ारसी के 'शीरीं क़लाम' के अनुवाद भी लग सकते हैं। हम यह नहीं कहते कि वास्तव में ये या ऐसे दूसरे प्रयोग अनुवाद हैं ही नहीं; क्योंकि ऐसा फ़तवा देना हमारे जैसे धर्मभीरु को तो पहाड़-सा लगता है। हम तो इसी विषय को लेकर विचार करनेवाले विचारकों के समक्ष मुहावरा-क्षेत्र की इन चौमुहानी और त्रिमुहानियों की ओर संकेतमात्र कर देते हैं, जिससे वे मुहावरा होकर 'चौक के बजाय सिगरा या सिगरा के बजाय चौक में' (बनारस के दो स्थान) भटकने की आशंका से बच जायँ। कोई मुहावरा अनुवादित है, रूपान्तरित है या परिवर्त्तित इसका निर्णय करना किसी समुद्र-मन्थन से कम बीहड़ और जटिल नहीं है। अस्पष्ट ध्वनियों के अनुकरण तथा शारीरिक चेष्टाओं और हाव-भाव तथा मानव-प्रकृति से सम्बन्ध रखनेवाले बहुत-से ऐसे मुहावरे संसार की विभिन्न भाषाओं में आपको मिलेंगे, जो अर्थ की दृष्टि से बिलकुल एक दूसरे का अनुवाद मालूम होते हैं, जबकि वास्तव में वे सब विभिन्न जातियों के अपने स्वाभाविक और स्वतंत्र प्रयोग हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो भूगोल-सम्बन्धी भी कुछ ऐसे मुहावरे मिल जाते हैं, जो भावार्थ की दृष्टि से एक दूसरे के अथवा किसी एक ही मुहावरे के अनुवाद-जैसे प्रतीत होते हैं। हमारे यहाँ किसी ऐसे स्थान पर या व्यक्ति के पास किसी ऐसी चीज के भेजने पर, जिसे वह स्वयं उपजाता या बनाता हो, 'उलटे बाँस बरेली को' इस मुहावरे का प्रायः सार्वजनिक रूप से प्रयोग होता है, अँगरेजी-भाषा में इसी अर्थ में 'कोल वैक टू न्यूकासिल'[1] तथा फारसी में 'जीरा बकिरमान'[2] ये मुहावरे चलते हैं। समान भाव के द्योतक होते हुए भी ये तीनों मुहावरे अपनी-अपनी भाषा के स्वतन्त्र प्रयोग हैं, उन्हें एक दूसरे का अथवा किसी एक ही मुहावरे का अनुवाद नहीं कह सकते। नीचे कुछ ऐसे मुहावरों की सूची देते हैं जिनके समानार्थक प्रयोग वेद, उपनिषद्, गीता और रामायण में भी मिलते हैं और अरबी-फारसी-साहित्य में भी।

संस्कृत	हिन्दी	फारसी
अग्रगुवः (यजुर्वेद अ० १, मं० १२)	आगे चलनेवाला	रहनुमाँ या पीरे मुर्गाँ
मधुजिह्व (,, ,, मं०१६)	मीठा बोलनेवाला	शीरीं कलाम
बुध्न्यात् अभिअग्रम् नख शिख	सिर से पाँव तक, जड़ से, फुंगल तक	अज सर तापा
गृहं गृहम् य गृहे गृहे,	घर-घर,	खाना ब खाना
सर्वाः प्रदिशाः या चतस्र प्रदिशः,	चारों ओर से	अज़ चहार तरफ़
आद्योपान्त	शुरू से आखीर तक,	अज़ अव्वल ता आख़ीर,
दोषा वस्तः	दिन-रात,	शबो रोज़
धाम्ने धाम्ने, स्थाने-स्थाने	स्थान-स्थान पर	जगह-ब-जगह

१. न्यूकासिल में कोयले की बड़ी-बड़ी खानें हैं।

२. किरमान, फारस के दक्षिण भाग का एक नगर है, यहाँ जीरा बहुत अधिक पैदा होता है। बाहर निर्यात भी होता है।—ले०

संस्कृत	हिन्दी	फारसी
भीममृगः न	शेर-सा बहादुर	दिलेर जुफ्तशेर
अर्भस्य महः	थोड़ा-बहुत	कमोवेश
अन्या अन्या	एक के बाद एक	पके बाप दीगरे
देववाणी	देववाणी	जुबाने इलाही
अधः पद	पैर के नीचे	पाइन पा
यदा कदा च	कभी-कदाक	गाह गाही, गाहे-ब-गाहे
पूर्वासः अपरासः	आगे-पीछे	पस या पेश, पसोपेश
भृकुटी वक्त्रे	भौं टेढ़ी करना	चीं वर अवरू उफ कन्दन
मृत्युमुखात्	मौत के मुँह से	दमे मर्ग

इस प्रकार के बहुत-से मुहावरे हमें मिले हैं, और खोज करने पर और भी अधिक मिल सकते हैं, किन्तु पहिले भी जैसा हमने कहा है, हमारा उद्देश्य हिन्दी को अरबी-फारसी और अरब तथा फारसवालों के प्रभाव से सर्वथा मुक्त सिद्ध करना नहीं है, हम तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को माननेवाले हैं, जिन अरबी और फारसी के मुहावरों को हमारे भक्तशिरोमणि तुलसी और सूर ने अपने काव्यों में गूँथकर राम और कृष्ण से जोड़ दिया है अथवा जिन अब्दुर्रहीम खानखाना, 'रसखान', 'रसलीन' और जायसी इत्यादि जैसे आदर्श हिन्दीसेवियों को हमारे प्रातःस्मरणीय श्रीभारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने (भक्तमाल के उत्तरार्द्ध में) 'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दुन वारिये' कहकर अपनी ही नहीं, वरन् हिन्द, हिन्दी और हिन्दूमात्र की ओर से श्रद्धांजलि कहिए या प्रेमांजलि अथवा सत्यांजलि अर्पित की है, उन्हें भला हम अपने से अलग कैसे कर सकते हैं। वे तो हमारी भाषा के मुकुट की अनमोल मणियाँ हैं, हमारी भाषा के गौरव हैं, उन्हें खोकर तो हम स्वयं पंगु हो जायँगे। इसके अतिरिक्त हमें इस बात का भी गर्व है कि हमारा देश और इसलिए हमारी देशभाषाएँ भी गुणों की पूजा एवं गुणग्राह्यता में सदैव आगे रही है और यही कारण है, जैसा आगे दी हुई मुहावरा-सूचियों से मालूम होगा कि हमारे मुहावरों पर अरबी और फारसी का ही नहीं, बल्कि अँगरेजी और फ्रेंच का भी प्रभाव पड़ा है। हाँ, अपने को भुलाकर हम दूसरों की पूजा नहीं करना चाहते; क्योंकि हमारा विश्वास है कि हमारे भविष्य का निर्माण यदि हमारे अति उज्ज्वल और उत्कृष्ट भूत की आधार-शिला पर होगा, तब और केवल तभी हम फिर से संसार को मानव-धर्म सिखानेवाले मनु और याज्ञवल्क्य उत्पन्न कर सकेंगे।

हिन्दी-मुहावरों पर अन्य भाषाओं के प्रभाव की समुचित और सम्यक् मीमांसा करना इतना गहन और गंभीर विषय है कि इस प्रबन्ध-जैसे एक-दो प्रबन्ध स्वतंत्र रूप से केवल उसी विषय को लेकर आसानी से लिखे जा सकते हैं। अतएव, अनुवादित, अर्धानुवादित, तत्सम और तद्भव मुहावरों के सम्बन्ध में अबतक हमने जो कुछ कहा है अथवा अरब और फारसवालों के साथ अपने व्यापारिक और बौद्धिक सम्बन्ध तथा विजित और विजेताओं की दृष्टि से हिन्दुस्तानी भाषाओं का जो थोड़ा इतिहास अब हम देंगे, उस सबको भावी विचारकों के लिए एक आकाशदीप से अधिक नहीं समझना चाहिए।

इस्लामी प्रदेशों और भारतवर्ष का सम्बन्ध महमूद गजनवी के ही पहिले नहीं, वरन् इस्लाम धर्म के प्रवर्त्तक मुहम्मद साहब के प्रादुर्भाव से भी कहीं पहिले, जबकि भारतवर्ष और फारस में निरन्तर विद्या का आदान-प्रदान हुआ करता था तथा अरब और भारत का व्यापारिक सम्बन्ध चल रहा था, स्थापित हो चुका था। मीर आजाद बिलग्रामी तो अपने 'सुबहतुलमरजान फी

आसारे हिन्दुस्तान' में यहाँ तक मानते हैं कि 'जब हजरत आदम सबसे पहिले भारतवर्ष में ही उतरे और यहीं उन पर वही (ईश्वरी आदेश) आई, तो यह समझना चाहिए कि यह देश है, जिसमें सबसे पहिले ईश्वर का सन्देश आया था। यह भी माना जाता है कि मुहम्मद साहब की ज्योति हजरत आदम के माल में अमानत के तौर पर रखी थी············इसलिए आपने कहा है, "मुझे भारतवर्ष की ओर से ईश्वरीय सुगन्ध आती है,"[1] यदि अनुपयुक्त न हो, तो इसी देश में विदेशी और विजेता बनकर रहने की इच्छा करनेवाले अपने जिनावादी भाइयों से हम अति विनम्र भाव से यह अनुरोध करेंगे कि वे भारतवर्ष को अपनी पुरुषानुक्रमिक और पैत्रिक जन्मभूमि तथा भारतीय भाषाओं को अपनी मातृभाषा या मादरी जबान समझें।

इस्लामी प्रदेशों का भारत से व्यापारिक, बौद्धिक और धार्मिक क्षेत्रों में कैसा सम्बन्ध था, इसके ऐतिहासिक पहलू पर विस्तार-भय के कारण कुछ न लिखकर हम यहाँ केवल भारत के कुछ अरब-यात्रियों और भूगोल-लेखकों तथा उन लेखकों और पुस्तकों का, जिनके आधार पर इस विषय की विशद विवेचना की जा सकती है, परिचय प्राप्त करने के लिए सैयद सुलेमान नदवी की उर्दू अथवा हिन्दी में अनुवादित पुस्तक 'अरब और भारत के सम्बन्ध' को पढ़ने की राय देकर इस प्रश्न के साहित्यिक पक्ष अथवा भाषागत पहलू को लेंगे।

अरबों और भारतीयों के इस सम्बन्ध की प्राचीनता प्रमाणित करने के लिए दूसरा साधन अरबी-भाषा में प्रयुक्त तथा अरबी-कोषों में दिये हुए संस्कृत और हिन्दी शब्दों की जाँच है। 'बारजा' हमारे बजड़े का शाब्दिक रूपान्तरमात्र है। अरब के मल्लाह 'बारजा' शब्द का खूब प्रयोग करते हैं। अरब में भारतवर्ष की बनी हुई तलवारों का प्रचार था। आज भी अरब के लोग 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' से तलवार का अर्थ लेते हैं। अब अरबी के कुछ ऐसे शब्दों की सूची नीचे देते हैं, जो संस्कृत और हिन्दी से उत्पन्न हुए हैं[2] —

अरबी	संस्कृत या हिन्दी	अरबी	संस्कृत या हिन्दी
सन्दल	चन्दन	मस्क	मूषिका, मुश्क
तम्बोल	ताम्बूल, तम्बोल, पान	कापूर	कर्पूर, कपूर, काफूर
करनफल	कनकफल, लौंग	फिलफिल,	पिप्पली, गोलमिर्च, पिप्पला
फ़ोफल	कोवल, गोपदल, सुपारी, डली	नीलोफर	नीलोत्पल
हेल	एला, इलायची,	जायफल	जायफल
इत्रीफल	त्रिफला, इत्रीफल,	हलीलज	हर्रे, हलीला
कर्फस	कार्पास (कर्पास से बना हुआ)	शीत	छींट
नीलज	नील	नारजील	नारियल
अम्बज	आम	लेमूं	निम्बू, लीमू

हाफिज इब्न हजर और हाफिज सुयूती ने कुरान शरीफ़ में प्रयुक्त अन्य भाषाओं के शब्दों की जो सूची बनाई है, हम भारतवासियों को भी इस बात का अभिमान है कि मस्क (मुश्क या कस्तूरी), जंजबील (सोंठ या अदरक) और काफूर (कर्पूर) सुगन्धित पदार्थों के ये तीन नाम उसमें सम्मिलित है। कुरान शरीफ़ के बारे में लोगों की धारणा थी कि वह शुद्ध अरबी में लिखा गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-शब्दों का कुरान के समय तक कितना अधिक और लोकव्यापी प्रयोग होने लगा था।

---

१. अरब और भारत का सम्बन्ध, पृ० ३।

२. वही, पृ० ५६-६०।

अब हम, अति संक्षेप में, संस्कृत के कुछ ऐसे ग्रन्थों का विवरण देंगे, जिनका अरबी में अनुवाद किया गया है, जो हमारे साथ अरबों के बौद्धिक सम्बन्ध अथवा ज्ञान के आदान-प्रदान की एक जीती-जागती यादगार और मूर्त्तिमान् इतिहास हैं। यों तो हिजरी की पहिली शताब्दी के मध्य से ही अरबों में दूसरी भाषाओं के शास्त्रीय ग्रन्थों आदि का अनुवाद कराने की लालसा जाग्रत् हो चुकी थी। परन्तु 'जब मंसूर के विद्या-प्रेम की चर्चा फैली, तब सन् १५४ हिजरी (सन् ७७१ ई०) में गणित और ज्योतिष आदि का एक बहुत बड़ा पंडित अपने साथ सिद्धान्त और कुछ बड़े-बड़े पंडितों को लेकर बगदाद पहुँचा[1] और खलीफा की आज्ञा से दरबार के एक गणितज्ञ इब्राहीम फिजारी की सहायता से उसने अरबी में सिद्धान्त का अनुवाद किया।[2] यह पहला दिन था कि भारत की योग्यता और पांडित्य का ज्ञान हुआ।"[3] अरबवाले स्पष्ट रूप से कहते हैं कि उन्होंने एक से नौ तक की गिनती (संख्या) लिखने का ढंग हिन्दुओं से सीखा और इसलिए वे अंकों को हिंदसा और इस प्रणाली को हिसाब-हिन्दी या हिन्दी-हिसाब कहते हैं। ये अंक आज भी अरबी-फारसी में उसकी प्रकृति के प्रतिकूल बायें से दायें को लिखे जाते हैं। सिद्धान्त के अतिरिक्त बृहस्पति-सिद्धान्त का 'अर्सिंद हिन्द' के नाम से 'आर्यभट्ट' का 'अरजबन्द' और 'खंडनखाद्यक' का 'अरकन्द' या 'अहरकन' नामों से अनुवाद मिलता है। इसके बाद बराम के संरक्षण में संस्कृत के चिकित्सा, गणित ज्योतिष, फलित ज्योतिष, साहित्य और नीति आदि सम्बन्धी जैसे 'सुश्रुत और चरक' तथा 'पशु-चिकित्सा' (शालिहोत्र) 'ज्योतिष और रमल', 'सर्प-विद्या,' 'संगीत-शास्त्र', 'महाभारत' (सन् ४१७ हि०), युद्धविद्या और राजनीति, कीमिया और 'रसायन', 'तर्क-शास्त्र', 'अलंकार-शास्त्र', 'इन्द्रजाल' एवं अनेक कथा-कहानी तथा सदाचार और नीति के ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद किया गया।

इन अनुवादों के कारण अरबवालों के हृदय में भारत के प्रति कितना सम्मान, प्रेम और इन सबसे बढ़कर शिष्य-गुरु भाव जाग्रत् हुआ, इसका अनुमान हम 'जाहिज', 'याकूबी', 'अबूजैद' और 'इब्न अबी उसैब' प्रभृति अरब के तत्कालीन विद्वान्-लेखक, दार्शनिक, तार्किक, इतिहासकार और यात्रियों की रचनाओं से अच्छी तरह से लगा सकते हैं। जाहिज बसरे का रहनेवाला एक बहुत प्रसिद्ध लेखक, दार्शनिक और तार्किक था। सन् २५५ हि० (सन् ८४२ ई०) के लगभग में इसका देहान्त हुआ। इसने संसार की गोरी और काली जातियों में कौन बढ़कर है, इसपर एक लेख लिखा था। उस लेख में वह भारत के सम्बन्ध में लिखता है–"परन्तु हम देखते हैं कि भारतनिवासी ज्योतिष और गणित में बढ़े हुए हैं और उनको एक विशेष भारतीय लिपि है। चिकित्सा में भी वे आगे हैं और इस शास्त्र के वे कई विलक्षण भेद जानते हैं, उनके पास भारी-भारी रोगों की विशेष औषधि होती है। फिर मूर्त्तियाँ बनाने, रंगों से चित्र बनाने और भवन आदि बनाने में भी वे लोग बहुत अधिक योग्य होते हैं। शतरंज का खेल उन्हीं का निकाला हुआ है, जो बुद्धिमत्ता और विचार का सबसे अच्छा खेल है। वे तलवारें बहुत अच्छी बनाते हैं और उनको चलाने के करतब जानते हैं। उनका संगीत भी बहुत मनोहर है। उनके एक साज का नाम 'कंकलः' है, जो कद्दू पर एक तार को तानकर बनाते हैं और जो सितार के तारों और झाँझ का काम देता है। उनके यहाँ सब प्रकार का नाच भी है। उनके यहाँ अनेक प्रकार की लिपियाँ हैं। कविता का भांडार भी है और भाषणों का अंश भी है। दर्शन, साहित्य और नीति के शास्त्र भी उनके पास हैं। उन्हींके यहाँ से 'कलेला दमना' नामक पुस्तक हमारे पास आई है। उनमें विचार और वीरता भी है और कई ऐसे गुण हैं, जो चीनियों में भी नहीं हैं। उनमें स्वच्छता और पवित्रता के भी गुण हैं।

---

१. किताबुल हिन्द, बैरुनी (लंदन), पृ० २०८।

२. अखबारुल हुकम किफ्ती (मिस्र) पृ० १७७।

३. अरब और भारत का संबंध, पृ० १-२।

सुन्दरता, लावण्य सुन्दर आकार और सुगन्धियाँ भी हैं। उन्हींके देश से बादशाहों के पास वह ऊद या अगर की लकड़ी आती है, जिसकी उपमा नहीं है। विचार और चिन्तन की विद्या भी उन्हींके पास से आई है। वे ऐसे मंत्र जानते हैं कि यदि उन्हें विष पर पढ़ दें, तो विष निरर्थक हो जाय। फिर गणित और ज्योतिष भी उन्हींने निकाली है। उनकी स्त्रियों को गाना और पुरुषों को भोजन बनाना बहुत अच्छा आत है। सर्राफ और रुपये-पैसे का कारबार करनेवाले लोग अपनी थैलियाँ और कोष उनके सिवा और किसी को नहीं सौंपते। जितने (इराक में) सर्राफ हैं, सबके यहाँ खजांची खास सिन्धी होगा या किसी सिन्धी का लड़का होगा; क्योंकि उनमें हिसाब-किताब रखने और सर्राफी का काम करने का स्वाभाविक गुण होता है। फिर ये लोग ईमानदार और स्वामिनिष्ठ भी होते हैं।"[1]

हिन्दू और अरबों के सम्बन्ध की यहीं इतिश्री नहीं हो जाती है, धार्मिक क्षेत्र में भी दोनों की खूब पटती थी। धार्मिक शास्त्रार्थ भी हुआ करते थे। भारतीय हिन्दू-राजाओं को शास्त्रार्थ में बड़ा आनन्द मिलता था। सन् २७० हि० यानी सन् ८८७ ई० के लगभग अलरा (सिन्ध का अलोर नामक स्थान) के राजा महरोग ने सिन्ध के अमीर अब्दुल्लाह बिन उमर के द्वारा भेजे हुए एक इराकी मुसलमान से, जो कई भारतीय भाषाएँ जानता था, कुरान का हिन्दी में अनुवाद कराया।[2]

भारत और अरब के सम्बन्ध में व्यापारिक, बौद्धिक और धार्मिक दृष्टि से ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह उस सम्बन्ध में मिलनेवाले लिखित विवरणों और प्रमाणों के महासागर की एक बूँद से अधिक नहीं है। अधिक की आवश्यकता भी नहीं थी; क्योंकि हमारा उद्देश्य भारत और अरब के सम्बन्ध का इतिहास लिखना नहीं है, हम तो इन दोनों जातियों के इस सम्बन्ध से केवल इतना ही सिद्ध करना चाहते हैं कि उस समय तक भाषा के क्षेत्र में छुआछूत का रोग नहीं घुसा था। लोग भावों के लिए ही भाषा को महत्त्व देते थे। जहाँ संस्कृत का एक विद्वान् बगदाद जाकर संस्कृत के अनेक अति उत्कृष्ट ग्रन्थों का अरबी में उल्था करने की क्षमता रखता था, वहाँ ईराक का एक मुसलमान कवि भारत में आकर हिन्दी में कुरान का अनुवाद भी कर सकता था। संस्कृत के जिन ग्रन्थों का अनुवाद अरबी में किया गया है तथा अरबी यात्री और लेखकों ने भारत के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उससे स्पष्ट है कि अरबवालों के जीवन और साहित्य और इसलिए भाषा पर भी सर्वांगीण प्रभाव पड़ा था। फिर अलंकार-शास्त्र का अरबी में अनुवाद तो इस बात का और भी पक्का सबूत है कि संस्कृत के न मालूम कितने विलक्षण प्रयोग अथवा मुहावरे अरबी में मिलकर अरबी हो गये होंगे। मुहावरों का एक भाषा से दूसरी भाषा में जाकर बदल जाना उतना अस्वाभाविक और आश्चर्यजनक नहीं है, जितना व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का। नदवी साहब अपनी 'अरब और भारत का संबंध' नाम की पुस्तक में इस सम्बन्ध में (१०६ पृष्ठ पर) लिखते हैं—"दुःख यह है कि उन पंडितों के भारतीय नाम अरबी रूप में जाकर ऐसे बदल गये हैं कि आज ग्यारह-बारह सौ बरसों के बाद उनका ठीक-ठीक रूप और उच्चारण समझना एक प्रकार से असम्भव-सा हो गया है।"

सोचने की बात है कि जब व्यक्तिवाचक संज्ञाओं की ऐसी कायापलट हो सकती है, तो हर 'कसो नाकस' की जबान पर घूमनेवाले बेचारे मुहावरों के कितने काया-कल्प हुए होंगे। फारसी का एक मुहावरा है 'बुत परस्ती', इसी बुत को लेकर फारसी और उनकी नकल पर उर्दू-कवियों ने भी 'बुतखाना', 'बुतकदा', 'बूते बे पीर' इत्यादि न मालूम कितने मुहावरों के आधार पर

---

१. अरब और भारत का सम्बन्ध, पृ० १०३, १०४; अनुवाद बामुहावरा नहीं है। रिसाला फखरुस सूदान अबाल बैजान जाहिज, मजमुआ रसायल जाहिज, पृ० ८१।

२. वही, पृ० १९८।

अपना एक नया संसार ही बना डाला है। 'बुतपरस्ती' का 'बुत', जिसे लोग फारसी समझते हैं और अरबी शब्द 'बुद' का रूपान्तर मानते हैं, कितने ऐसे व्यक्ति हैं, जो यह जानते हैं कि यह अरबी का 'बुद' या फारसी का 'बुत' नहीं, बल्कि हिन्दी का 'बुद्ध' ही है, जो हम सबको इस प्रकार बुद्धू बना रहा है। श्रीनदवी ने फेहरिस्त इब्न नदीम (पृ० ३४७), सफरनामा सुलेमान (पृ० ५५—५७), किताबुलविदअबत्तारीख, (पृ० १९) और मिललवनहल शहरिस्तानी (पृ० २४०) इत्यादि अरबी और फारसी के ग्रन्थों के आधार पर इस शब्द के बारे में लिखा है—

"इस अवसर पर एक और शब्द का भी विचार कर लेना आवश्यक है, और वह शब्द 'बुत' है, जिससे बुतपरस्त (मूर्त्तिपूजक) और बुतखाना (मन्दिर) शब्द बने हैं। साधारणतः, लोग 'बुत' को फारसी का शब्द समझते हैं। पर वास्तव में 'बुद्ध' शब्द से बुद और फिर बुद से बुत शब्द का अर्थ ही बुत या मूर्त्ति हो गया। इसीलिए, अरबी में इस बुत को 'बुद' कहते हैं और इसका बहुवचन रूप 'बुदूद' होता है।"[1]

'बारजा' शब्द की बात हम पहिले ही कह चुके हैं। अलबेरुनी ने बतलाया है कि वास्तव में यह हिन्दी का 'बेड़ा' शब्द है। अरबी में इसका रूप बारजा हुआ। हमारे यहाँ बनारस में बोला जानेवाला 'बजरा' शब्द सम्भवतः 'बेड़े' के अरबी रूप 'बारजा' के आधार पर ही बना है। बारजा शब्द की दुबारा हमने इसीलिए चर्चा की है कि अपने ही शब्द और मुहावरों को अरबी और फारसी वेश-भूषा तथा बोल-चाल के कारण किस प्रकार हम उन्हीं भाषाओं का मान बैठते हैं। इसी प्रकार, 'डोंगी' का 'दोनीज' एकवचन और 'दवानीज' बहुवचन बना लिया गया है। 'होड़ी' अब भी बम्बई में बोला जाता है, अरबी में इसे होरी कहते हैं। 'बलीज' (जहाज की छत) 'जोश' (नाव का रस्सा) और 'कनेर' (नारियल का रस्सी) ये तीनों शब्द भी भारतीय शब्दों से ही निकले हैं। हाफिज ने लिखा है, 'मा खुदा दारेम मारा नाखुदा दरकार नेस्त।' इस शेर का अर्थ है मेरे साथ खुदा है, मुझे नाखुदा (एक अर्थ ईश्वर-रहित और दूसरा मल्लाह) की दरकार नहीं है। उर्दू और फारसी के दूसरे ग्रन्थों में भी 'नाखुदा' का काफी प्रयोग हुआ है। अरबी में इसका रूप 'नाखूजा' है। भारतवाले इसके 'नाखुदा' फारसी रूप से ही अधिक परिचित हैं। इसके खेवनहार अर्थ अथवा 'नावखुदा' रूप से बहुत कम लोगों का परिचय होगा। किसी फारसी यात्री ने ही सम्भवतः किसी तूफान में फँसकर नावखिवैया या खेवनहार को नाव का खुदा कह दिया होगा, जो बाद में 'नावखुदा' और अब 'नाखुदा' बन गया है।

अरबी के साथ ही फारसी भाषा और उसके प्रयोगों के सम्बन्ध में भी दो चार शब्द कह देना उपयुक्त ही होगा। फारसी अपनी वंश-परम्परा के अनुसार तो संस्कृत के बहुत निकट है ही, दोनों के बहुत-से शब्द भी, 'आबे हयात' और 'सखुनदाने फारस' के विद्वान् लेखक जैसा मानते हैं, एक-से ही और एक ही अर्थ में आज भी प्रयुक्त होते हैं।[2] फारस पर अरबों के हमले के बाद अरबी का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। अधिकांश इस्लामी पुस्तकों के अरबी में होने के कारण भी इस्लाम के प्रचार के साथ ही अरबी के प्रयोग की भी फारस, ईरान और ईराक इत्यादि समस्त प्रदेशों में एक बाढ़-सी आ गई। तुर्की भाषा पर भी इसका बहुत काफी प्रभाव पड़ा। हमारे यहाँ जितने अरबी के प्रयोग आये हैं, उनमें से बहुत ज्यादा फारसी में होते ही आये हैं; क्योंकि मुसलमानों के यहाँ आकर राज्य करने के समय फारसी में ही राज्य का अधिकतर काम होता था। 'सखुनदाने फारस' में 'देव' शब्द की चर्चा करते हुए एक जगह लिखा है—'देव' संस्कृत में रूह पाक है। फारसी में भी अहये कदीम (प्राचीन काल) में रूह पाक को कहते थे। जब जरतुश्त ने मजहब में

---

१. अरब और भारत का सम्बन्ध, पृ० १८६-९०।

२. फा० बेद० सं० विष०, फा० अस्तन, सं० स्तम्भ इत्यादि।

फर्क डाला, तब अहले शैतान (शैतानों) को देव कहने लगे। 'पिदर', 'मादर' इत्यादि कितने ही फारसी शब्द 'पितृ' और 'मातृ' जैसे संस्कृत-शब्दों के ही विकृत रूप में आपको मिलेंगे। फारसी के कुछ मुहावरे हैं—'बराये खुदा', 'बकसम खुदा', 'करमेखुदा', ,बखुदा', 'खौफे खुदा' इत्यादि-इत्यादि। हमारे विद्वान् और मनस्वी लेखक श्रीसम्पूर्णानन्दजी ने अपनी पुस्तिका 'भारतीय सृष्टि-क्रम-विचार' के नवें पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में 'खुदा' शब्द को संस्कृत के 'स्वदा' शब्द का ही रूपान्तर बताया है। इस तथा इस जैसे ही अन्य प्रयोगों की प्रामाणिकता सिद्ध करने का न तो हमारे पास समय ही है और न स्थान ही। हाँ, इतना हम जरूर जानते हैं कि हर जबान में कुछ शब्द ऐसे होते हैं कि विभिन्नता के कारण दूसरे देश के आदमियों के लिए उनका साफ बोलना कठिन और कभी असम्भव होता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति ने प्रत्येक देश के शब्दों की ध्वनि ऐसी रखी है कि अन्य देश के लोगों को इनका उच्चारण करने में मुँह में कंकर-सी खटकती मालूम होती है। हाँ, जब भाषाविशेषज्ञ इसे अपने साँचे में ढाल लेते हैं. तब वह भी उसमें खप जाता है। उर्दू वाले एक मुहावरा 'जंगोजहद' (लड़ाई-झगड़ा) का प्रायः प्रयोग किया करते हैं, उन्हें मालूम नहीं कि यह शब्द जंगोजहद नहीं, बल्कि 'जंग ओहद' है। 'जंग ओहद' और 'जंग बदर' दोनों का मुस्लिम ग्रन्थों में वर्णन है। जंग ओहद में मुसलमान हारे थे।

अरबी और फारसी पर विचार कर लेने के उपरान्त अब हम अरबी, फारसी और हिन्दी तीनों में प्रयुक्त होनेवाले एक मुहावरे को लेकर अपनी पिछली बात पर आते हुए यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि एक भाषा के मुहावरों का अन्य भाषाओं में अनुवाद हो जाने से ही वे विदेशी नहीं हो जाते; क्योंकि विदेशी भाषाओं के प्रयोगों का अनुवाद करते समय हम केवल उनकी आत्मा की ओर ही ध्यान रखते हैं और रख सकते हैं, उनके शब्द-शरीर को तो बदलना ही पड़ता है, उसके विना तो हमारा काम ही नहीं चल सकता। अतएव, एक बार फिर विचारकों से हम यह निवेदन कर दें कि किसी मुहावरे के बाह्य शरीर को देखकर ही हम उसे देशी या विदेशी न कह दें, उसकी सच्ची कसौटी तो उसकी आत्मा, अर्थात् वह तात्पर्यार्थ है, जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है। हिन्दी का एक मुहावरा है, 'कान में रूई देना'। कविवर घनानन्दजीने (जिनका जन्म संवत् १७१५ और मृत्यु संवत् १७६६ में हुई थी) अपने एक कवित्त में इस मुहावरे को इस प्रकार रखा है। 'तेरे बहरावनि रूई है कान बीच हाय', यही मुहावरा ठीक कान में रूई लगाने के अर्थ में कुरान शरीफ की सूरतेअनाम (छठा अध्याय) में 'फी अजानेहिमवकरा' इस प्रकार आया है, और फारसीवाले 'पुम्बा दर गोश निहादन' के रूप में इस मुहावरे का प्रयोग करते हैं। एक ही मुहावरे के विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त इन तीन रूपों में कौन मूल मुहावरा है और कौन किसका अनुवाद है। यह निर्णय करने की न तो हममें क्षमता ही है और न हम इसकी कोई विशेष उपयोगिता ही देखते हैं। हम तो केवल यही बता देना चाहते हैं कि जिस रूई को लेकर ये तीनों मुहावरे बने हैं, वह सर्वप्रथम भारतवर्ष में ही पैदा हुई थी। श्रीजहाँगीरजी पटेल बम्बई के एक प्रख्यात रूई के व्यापारी हैं। सेवाग्राम हि० ता० संघ में रूई के सम्बन्ध में अपना एक लेख पढ़ते हुए आपने कपास का पूरा इतिहास बताया था। संक्षेप में आपने अपने उस निबन्ध में सप्रमाण यह सिद्ध किया था कि कपास की खेती संसार में सर्वप्रथम भारतवर्ष में की गई। वैदिक मंत्रों में भी, आपने, कपास के तन्तुओं का जिक्र है, ऐसा सिद्ध किया था। श्रीपटेलजी की बात का समर्थन अरब यात्रियों के उन वर्णनों से भी हो जाता है, जो भारतवर्ष से विदेशों में जानेवाले पदार्थों के सम्बन्ध में उन्होंने किये हैं। इन सब वर्णनों का निचोड़ देते हुए श्रीनदवी लिखते हैं—"भारत के बारीक कपड़ों की सदा से प्रशंसा होती आई है और प्रत्येक जाति के वर्णनों से इसका प्रमाण मिलता है कि यहाँ बहुत ही बारीक कपड़े बुने जाते थे। कहा जाता है कि मिस्र में जो ममी या पुराने मृत शरीर मिलते हैं,

वे जिन कपड़ों में लपेटे हुए मिलते हैं, वे भारत के ही बने हुए हैं।" खैर, यह तो अनुमान ही है, पर ई० आठवीं शताब्दी का अरब यात्री सुलेमान एक स्थान के सम्बन्ध में लिखता है - "यहाँ जैसे कपड़े बुने जाते हैं, वैसे और कहीं नहीं बुने जाते, और इतने बारीक होते हैं कि पूरा कपड़ा (या थान) एक अंगूठी में आ जाता है। ये कपड़े सूती होते हैं और हमने ये कपड़े स्वयं भी देखे हैं।"[1] इसके अतिरिक्त अरबी कोषों में मिलनेवाले हिन्दी नाम कर्फस (कार्पास, मलमल) शीत (छींट) और बौतः (पट, रूमाल) भी इस बात के साक्षी हैं कि अरबवालों को सूती कपड़े सबसे पहिले भारतवर्ष से ही मिले। भारत और अरब का व्यापारिक सम्बन्ध भी नदवी साहब के शब्दों में 'भारत के साथ अरबों का व्यापारिक सम्बन्ध ईसा से कम-से-कम दो हजार बरस पहिले का है।' इससे स्पष्ट हो जाता है कि जब मलमल-जैसे अति सुन्दर और बारीक कपड़ों का इतिहास इतना पुराना है, तो जिस रूई से वे तैयार होते थे, वह कितनी अधिक पुरानी होगी। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कुरान शरीफ के इस प्रयोग से बहुत पहिले अरब लोग रूई से और सम्भवतः रूई के आधार पर बने हुए ऐसे प्रयोगों से भी परिचित थे। भाषा की दृष्टि से अरब और भारत के सम्बन्ध की प्राचीनता स्वामी दयानन्द के अनुसार महाभारत काल तक तो पहुँच ही जाती है। आपने सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में लिखा है—"महाभारत में जब कौरवों ने लाख का घर (लाक्षागृह) बनाकर, पांडवों को उसके अन्दर जलाकर फूँक देना चाहा, तब विदुरजी ने युधिष्ठिर को यवन (अरबी) भाषा में बतलाया और युधिष्ठिर ने उसी यवन (अरबी) भाषा में उत्तर दिया।"

अरबी और फारसी के उपरान्त अब दो चार शब्दों में संस्कृत के सम्बन्ध में दूसरे लोगों का क्या मत था, उसका भी थोड़ा-सा परिचय दे देना अनुचित न होगा। पेरिस (फ्रांस) के रहनेवाले मोलुस्टकर (हिन्दी नाम जैकालयट) साहब अपनी पुस्तक 'बाइबिल इन इण्डिया' तथा 'दारा शिकोह' बादशाह उपनिषदों का भाषान्तर करते समय लिखते हैं—"सब विद्या और भलाइयों का भांडार आर्यावर्त्त देश है और सब विद्या तथा मत इसी देश से फैले हैं। और, परमात्मा की प्रार्थना करते हैं कि हे ईश्वर! जैसी उन्नति आर्यावर्त्त की पूर्व काल में थी, वैसी ही हमारे देश की कीजिए (दाराशिकोह)। "मैंने अरबी आदि बहुत-सी भाषाएँ पढ़ीं, परन्तु मेरे मन का सन्देह छूटकर आनन्द न हुआ। जब संस्कृत देखी और सुनी, तब निस्सन्देह मुझको बड़ा आनन्द हुआ है।"[2]

विजित देशों की भाषा और उस पर विजेताओं की भाषा का प्रभाव

भाषा के सम्बन्ध में विचार करते हुए पीछे एक स्थान पर हमने यह बताया है कि प्रायः किसी धार्मिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक आन्दोलन या उलट-फेर के समय भाषा में भी बहुत-कुछ उलट-फेर हो जाया करते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में हमारा अभिप्राय केवल राजनीतिक आन्दोलन तथा उसके भिन्न-भिन्न रूप एवं उनका भाषा पर कितना और कैसा प्रभाव पड़ता है इत्यादि बातों पर यथासंभव कार्यकारणात्मक रूप में विचार करना है। राजनीतिक आन्दोलनों का क्षेत्र अति विस्तृत और व्यापक है। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार इसके भिन्न-भिन्न रूप हो जाते हैं। यदि संसार के इतिहास को खोलकर देखें, तो सारे भूमंडल पर कोई प्रदेश तो क्या, सम्भवतः कोई प्रान्त भी ऐसा न मिलेगा, जहाँ कभी इस प्रकार की कोई राजनीतिक उथल-पुथल न हुई हो तथा जहाँ की भाषा पर इस प्रकार के आन्दोलनों का कुछ-न-कुछ प्रभाव न पड़ा हो। भेद केवल 'क्यों', 'कैसे', और 'कितना' में रहता है। जिन भाषाओं का अपना कोई साहित्य नहीं होता अथवा

१. अरब और भारत का सम्बन्ध, पृ० ६६।

२. सत्यार्थप्रकाश, ११वाँ समुल्लास।

जिनका विभिन्न देशों की डण्डा-डेरा उठाये फिरनेवाली खानाबदोश जातियों की तरह अपना कोई स्थिर रूप नहीं होता, वे तो कभी-कभी प्रायः आमूल बदल जाती है, किन्तु साथ ही जो भाषाएँ स्वतः सुसंस्कृत और सर्वप्रकार समृद्ध होती है अथवा जिनका साहित्य सर्वांगीण उच्च, उत्कृष्ट और अगम होता है, वे उल्टे विजेताओं की भाषा पर अपना प्रभुत्व जमा लेती है।

भाषा की परिभाषा करते समय इस एक बात को तो प्रायः सभी देश, काल और जाति के लोगों ने माना है कि इसका (भाषा का) सर्वप्रथम और सर्वोपरि गुण हमें परस्पर एक दूसरे के मनोभावों को समझने और समझाने में सहायता देना है। मनोभावों का व्यक्तीकरण शारीरिक चेष्टाओं, हाव-भाव, अस्पष्ट वनियों और शब्द-संकेतों आदि कितने ही प्रकार से हो सकता है। शारीरिक चेष्टाओं, हाव-भाव और स्पष्ट ध्वनियों के द्वारा जहाँ तक भाव-व्यक्ति का सम्बन्ध है, विजित और विजेता दोनों के मुहावरों में कोई अन्तर नहीं पड़ता। सर्दी लगने पर शरीर में कम्प होना, आनन्द के समय खिलखिलाकर हँसना तथा दुःख और शोक में फूट-फूटकर रोना इत्यादि मानव-स्वभाव के गुण हैं। उनका विजित और विजेताओं दोनों के मुहावरों में समान स्थान रहता है। इसी प्रकार, आग, पानी, हवा इत्यादि प्राकृतिक पदार्थों की ध्वनियाँ भी देश और विदेश अथवा विजित और विजेता का ध्यान करके कभी अपना स्वर नहीं बदलती और न कभी अरब, ब्रिटेन और भारत के कुत्ते-बिल्ली अरबी, अँगरेजी और हिन्दुस्तानी में भूँकते हैं। संक्षेप में कहने का अभिप्राय यह है कि शारीरिक चेष्टाओं, हाव-भाव तथा अस्पष्ट ध्वनियों के आधार पर बननेवाले मुहावरों पर इन आन्दोलनों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, प्रभाव पड़ता है तो केवल शब्द-संकेतों अथवा उनके आधार पर बने हुए मुहावरों पर। वास्तव में देखा जाय, तो इन शब्द-संकेतों को लेकर ही भाषा-विज्ञान के आचार्य भाषा के कलेवर को खड़ा करते है। स्थूल अथवा सूक्ष्म किसी भी भौतिक पदार्थ अथवा भाव को व्यक्त करने के ये सर्वथा सुलभ और सहज साधन हैं। शब्द अथवा नाम ही, जैसा पहिले भी एक दो वार हम कह चुके हैं, वास्तव में वस्तु, पदार्थ अथवा नामी नहीं है। उदाहरण के तौर पर यदि हम घोड़ा नाम के पशु और केवल घोड़ा शब्द को लें, तो हम देखेंगे कि घोड़ा नाम के पशु को देखकर अरब, इंगलिस्तान या हिंन्दुस्तान के किसी भी व्यक्ति को एक दूसरे का मुँह न ताकना पड़ेगा। सब लोग अपनी-अपनी भाषा में प्रचलित उसके नाम के अनुसार उसे सम्बोधन करके शान्त हो जायेंगे; क्योंकि घोड़ा पशु उनका परिचित पशु है, किन्तु यदि घोड़ा पशु के स्थान में 'घोड़ा' शब्द उनके सामने रखा जायगा, तो वे कुछ भी नहीं समझ पायेंगे। कारण यह कि इस पशुविशेष के लिए उनके यहाँ जो शब्द-संकेत चलता है, वह 'घोड़ा' शब्द से भिन्न है। ठीक यही दशा मुहावरों की भी है। अरबी, फारसी और अँगरेजी तथा हिन्दी के मुहावरों की यदि केवल भाव की दृष्टि से तुलना की जाय, तो उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं मालूम होगा, अन्तर तो वास्तव में शब्द-संकेतों और उनके क्रम की विलक्षणता के कारण पड़ता है। यही कारण है कि जब दो विभिन्न जाति अथवा देशों के लोग एक साथ रहने लगते हैं, तब उनके शब्द और मुहावरों में काफी उलट-फेर हो जाता है। कुछ का एक भाषा से दूसरी में अनुवाद हो जाता है, कुछ के दोनों भाषाओं में प्रचलित समानार्थक मुहावरे ढूँढ़ लिये जाते हैं और कुछ को एक दूसरे में मिलाकर कभी-कभी बिलकुल नये ही प्रयोग गढ़ लिये जाते हैं। इस प्रकार, शब्द-सांकर्य भी रूढ़ होकर प्रायः मुहावरे में आ जाता है। यदि देखा जाय, तो दो विभिन्न जातियों के सम्पर्क के कारण उनके शब्द-संकेतों और मुहावरों में बहुत-कुछ अदल-बदल अथवा उलट-फेर हो जाना स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

प्राचीन काल के इतिहास इस बात के प्रमाण हैं कि किस प्रकार किसी जाति अथवा देश-विशेष के लोग राज्य-विजय के लिए वर्षों तक दूसरे प्रदेशों में डेरे डालकर युद्ध किया करते थे। सौ वर्षों तक लगातार चलनेवाले युद्धों का वर्णन तो यूरोप के वर्त्तमान इतिहासकारों ने भी किया है।

दशकों और वर्षों तक चलनेवाले युद्धों की तो हमारे अपने इतिहास में भी कमी नहीं है. आदि काल से ही भारतवर्ष में युद्धों का कुछ ऐसा विधान रहा है, जिसके कारण यहाँ की भाषा और सभ्यता में सदैव परिवर्त्तन होते आये हैं, सबसे पहले, जैसा वर्त्तमान इतिहासकारों का अनुमान है द्राविड लोग भारतवर्ष में आये। उन्होंने यहाँ के मूल निवासी कोलों को उत्तर और पश्चिम की ओर भगाकर स्वयं अपना उपनिवेश बना लिया। कोल जाति के लोग संख्या में भी कम रहे होंगे : जंगलों में बिखरे हुए रहने के कारण, उनकी कोई सुसंस्कृत अथवा निश्चित भाषा होगी, ऐसा अनुमान करना भी कोई विशेष युक्तियुक्त अथवा न्यायसंगत नहीं मालूम होता। उन्होंने द्राविडों से कोई युद्ध नहीं किया : इनके डर से वे स्वयं ही घने जंगलों की ओर भाग गये। ऐसी दशा में इनकी उस अस्त-व्यस्त भाषा का द्राविडों पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ना संभव ही नहीं था, किन्तु फिर भी आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने मिडिंचिका (टिड्डी), 'ताम्बूल' और 'पूग' इत्यादि कुछ शब्दों को कोल भाषा के घोषित करके वर्त्तमान आर्यभाषाओं में उसकी (कोल भाषा की) एक यादगार कायम कर दी है। द्राविडों के पश्चात् इतिहासकार जैसा बताते हैं आर्य लोग भारतवर्ष में आये। (आर्यों का भारत में बाहर से आना अब भी विवादग्रस्त है, हम तो मानते हैं कि यहीं से आर्य बाहर गये, यहीं उनकी मातृ-भूमि थी, हमारे पास इसके कितने ही प्रमाण भी हैं,) अथवा यों कहिए कि भारतवर्ष में पूर्व-पश्चिम और दक्षिण की ओर उनका प्रसार हुआ, जिसके कारण इन भागों के मूल निवासी द्राविडों से इन्हें बराबर युद्ध करते रहना पड़ा। यही कारण है कि जहाँ एक ओर 'तामिल', 'तेलुगु', 'मलयालम', कन्नड इत्यादि द्राविड, भाषाओं पर आज तक संस्कृत की गहरी छाप है, वहाँ दूसरी ओर आर्यभाषाओं पर भी इसका (द्राविड भाषा का) कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य शेष है। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि हमारे आज के बहुत-से देवी-देवता, जिनमें स्वयं शिवलिंग की गणना है, द्राविडों से ही हमारे यहाँ आये हैं।

आर्य और द्राविडों के युद्ध के पश्चात् अब हम उस समय के इतिहास को लेते हैं जब मुसलमानों का भारतवर्ष में आना-जाना आरम्भ हो गया था। उस समय तक देश के कला-कौशल तथा विभिन्न उद्योग-धंधों की उन्नति के साथ ही धन-धान्य की भी यहाँ प्रचुरता थी। आर्यों की संस्कृति और सभ्यता उस समय पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। उनकी भाषा भी काफी समृद्ध और व्यवस्थित हो चुकी थी। प्रत्येक आर्य के हृदय में उसका अच्छा संस्कार जम गया था। उनका अधिकांश साहित्य और विशेष रूप से उनके प्रायः सभी धार्मिक ग्रन्थ उसी भाषा में लिखे होने के कारण उनका (आर्यों का) दैनिक जीवन और उसके विविध कार्य-क्षेत्रों का उनकी भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। लोग उसे प्रायः 'देववाणी' कहा करते थे। मुसलमानों के विजेता-रूप में भारतवर्ष में आते-आते यद्यपि आर्यों की इस भाषा के बहुत-से रूपान्तर हो चुके थे, तो भी इसका सर्वथा लोप नहीं हुआ था, लोग बराबर इसका अध्ययन-अध्यापन करते थे, पूजा-पाठ और यज्ञ-हवन आदि संस्कारों में बराबर इसीके द्वारा काम होता था। तत्कालीन इसके रूपान्तरों पर भी इसकी गहरी छाप थी। इसके असंख्य तत्सम शब्द और मुहावरे उसी प्रकार इन रूपान्तरित भाषाओं में प्रयुक्त होते चले आ रहे थे।

मुसलमान लोग प्रायः फारसी भाषा का ही प्रयोग करते थे। भारतवर्ष में आनेवाले मुसलमानों में, चूँकि अरब, पठान, मुगल और तुर्क इत्यादि सभी थे, इसलिए उनकी फारसी में अरबी और तुर्की का भी गहरा पुट रहता था। अरब और भारतवर्ष का यों तो, जैसा पीछे बताया जा चुका है, व्यापारिक धार्मिक और बौद्धिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से चला आ

रहा था, बहुत-से अरबी ग्रन्थों को हिन्दुस्तानी भाषाओं में और बेहिसाब संस्कृत-ग्रन्थों के अरबी के अनुवाद भी हुए थे, जिसके कारण इन भाषाओं के काफी शब्द और मुहावरे पहिले ही एक दूसरी भाषा में चल पड़े थे। किन्तु अब जबकि बड़ी संख्या में मुसलमान लोग डेरे डाल-डालकर वर्षों तक यहाँ रहने लगे, तो इन दोनों विभिन्न भाषाभाषी जातियों की भाषाओं पर एक दूसरे की भाषा का व्यापक रूप से प्रभाव पड़ना अनिवार्य हो गया।

एक भाषा का दूसरी भाषा पर प्रभाव सर्वप्रथम उस भाषा की बोलियों में ही देखा जाता है। बोली का सम्बन्ध किसी एक विशिष्ट वर्ग से नहीं होता। वह क्या एक सुसंस्कृत नागरिक और क्या निरक्षर ग्रामीण, समान रूप से सबके लिए और सबकी होती है। उसका आविर्भाव प्रायः अनुकरण के ही आधार पर होता है। बोलनेवाला एक साहित्यकार की नाईं शब्दों की व्युत्पत्ति इत्यादि के चक्कर में न पड़कर जैसे दूसरों को बोलते सुनता है, वैसे ही स्वयं भी बोलने लगता है। कभी-कभी तो किसी बड़े आदमी के मुँह से निकले हुए बिलकुल अप्रयुक्त शब्दों का भी धीरे-धीरे उस देश की बोलियों में अपना स्थान हो जाता है। एक बार लखनऊ के नवाब सआदत अलीखाँ ने मलाई को 'बालाई' कह दिया, अब क्या था, इससे उसने और उसने उससे जिसके मुंह पर देखों बालाई ही चढ़ी है। बोली वास्तव में स्वच्छ जल से भरे हुए एक निर्मल तालाब के सदृश है। जिसमें उसकी तटस्थ प्रत्येक वस्तु का (स्वदेशी हो या विदेशी) प्रतिबिम्ब पड़ता रहता है। विदेशी लोगों अथवा विदेशी भाषाभाषी लोगों के किसी प्रदेश में आकर वर्षों तक निरन्तर बसे रहने पर बहुत-से विदेशी शब्द तो उन विदेशी वस्तुओं के साथ, जो वे अपने साथ लाते हैं, वहाँ की बोलियों में मिल जाते हैं। 'जामा', 'मिर्जई' तथा 'कोट', 'पैंट' और हैट इत्यादि विदेशी शब्द क्रमशः मुसलमान और अँगरेजों के भारतवर्ष में आगमन के साथ ही हमारी बोलियों में आये हैं। कोल, द्राविड और फारसी इत्यादि का हमारी भाषाओं पर जो प्रभाव पड़ा है, उसका विशेष -अध्ययन करने की इच्छा रखनेवाले विद्यार्थियों को 'परशियन इन्फ्लुएन्स ऑन हिन्दी' तथा 'दि प्रीवैदिक एण्ड प्री ड्रेविडियन एलिमेण्ट इन इण्डो आर्य' (बागची), इन पुस्तकों से विशेष सहायता मिल सकती है।

देश-विजय की लालसा से आनेवाले लोगों में अधिकांश व्यक्ति लड़ाकू सैनिक ही होते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि दूसरे लोग इनके साथ होते ही नहीं। अच्छे-अच्छे विद्वान् भी प्रायः इन आक्रमणकारियों के साथ रहते हैं। और, इनकी संख्या अति अल्प होने पर भी विजित देशों की भाषा पर इनका सैनिकों से कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ विद्वद्वर्ग और सैनिक-वर्ग इन दोनों का प्रभाव अवश्य अलग-अलग होता है। सैनिक-वर्ग की कोई संस्कृत भाषा नहीं होती, उनका शब्द-संग्रह अधिकांश उनकी नित्य प्रति की आवश्यकताओं की वस्तुओं तक ही सीमित रहता है, इनका प्रेम शब्द-संकेतों से कहीं बढ़कर सांकेतिक वस्तु के प्रति होता है। गेहूँ और 'गन्दुम' शब्दों से केवल शब्दों के लिए उन्हें कोई सहानुभूति और प्रेम नहीं होता, उनका प्रेम तो वास्तव में इन शब्दों से संकेतित अनाज विशेष से होता है। चाहे वह गन्दुम कहने से मिले और चाहे गेहूँ। हमारा अपना अनुभव क्या, अभ्यास है और बहुत-से दूसरे, क्या पढ़े-लिखे विद्वान् और क्या वज्रमूर्ख, सबको हमने देखा है कि क्रेता विक्रेता की भाषा में और विक्रेता क्रेता की भाषा में बोलने का प्रयत्न करता है। व्याकरण और मुहावरे की दृष्टि से दोनों ही अशुद्ध बोलते हैं, किन्तु न तो उनमें से कोई एक दूसरे की गलतियों पर ध्यान देता है और न भाषा के बिगड़ने-सुधरने की चिन्ता ही करता है। कपड़े छाँटते समय धोबी लोग 'अण्डर वीयर' को 'अण्डरवार', 'शर्ट' को 'सट' तथा और भी इस प्रकार के कितने ही शब्दों का प्रयोग करते हैं। मजा यह है कि बाबू लोग भी उनसे बातें करते समय उन्हींकी शब्दावली का प्रयोग करते हैं।

और भी, कितनी ही बार हमने विश्वविद्यालय के अध्यापक और विद्यार्थी, प्रायः दोनों को इक्का, टाँगा या रिक्सा चलानेवालों से 'आठ (आर्ट्स) कालेज' अथवा 'नौ कालेज' ले चलने के लिए बातें करते सुना है। बनारस और हरिद्वार इत्यादि तीर्थस्थानों में हमने देखा है कि खास तौर से बड़े-बड़े मन्दिर और घाटों के आस-पास बैठनेवाले साधारण दूकानदार भी बहुत-सी प्रान्तीय भाषाओं के शब्द और मुहावरों से परिचित होते हैं। इसका कारण दूकानदारों का भाषा-प्रेम नहीं, बल्कि उन्हें बोलनेवाले विभिन्न प्रान्तों के यात्रियों के हाथ अपना माल बेचकर पैसा पैदा करना मात्र है। संक्षेप में ठीक यही दशा इन लड़ाकू सैनिक और इनकी आवश्यकताओं के सामान बेचनेवाले विक्रेताओं के हाथ में पड़कर दो भाषाओं अथवा उनके शब्द और मुहावरों की होती है। उच्चारण और कभी-कभी अर्थ की दृष्टि से तो उनमें बहुत-से उलट-फेर हो ही जाते हैं, कभी कभी, दोनों के अज्ञात अथवा अविवेकपूर्ण संमिश्रण से कुछ नये प्रयोग भी चल पड़ते हैं। फल यह होता है कि पहिले तो इन दूकानदारों की बोलचाल में यथावत् अथवा कुछ विकृत रूप में विदेशी शब्द और मुहावरे आ जाते हैं और फिर उनके द्वारा धीरे-धीरे जनता की बोली में भी इनका प्रवेश हो जाता है।

सैनिक-वर्ग के बाद अब हम विद्वद्वर्ग का भाषा पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस पर विचार करेंगे। विजेताओं के साथ आये हुए विद्वान् लोग आते ही सबसे पहिले उस देश (विजित देश) की जनता में बोली जानेवाली साधारण बोलचाल की भाषा सीखते हैं और तत्पश्चात् वहाँ की राष्ट्रभाषा अथवा मातृभाषा के द्वारा उनके साहित्य का अध्ययन करते हैं। किसी जाति पर शासन करने के लिए उसके साहित्य पर शासन करना अत्यन्त आवश्यक होता है। साहित्य पर शासन करने के लिए भी जाति पर शासन करने की तरह प्रेम और तलवार अथवा अहिंसा और हिंसात्मक दो ढंग हैं। मुसलमानों ने भारतवर्ष को जीता और बहुत कुछ हद तक तलवार से ही भारत-वासियों पर राज्य भी किया, इसमें कोई संदेह नहीं, किन्तु फिर भी साहित्य के क्षेत्र में इन्होंने कभी तलवार का नाम नहीं लिया। दाराशिकोह तो हिन्दी और संस्कृत का अच्छा ज्ञाता था ही. औरंगजेब को भी यहाँ की भाषाओं से कम प्रेम नहीं था। 'रुक्के आत आलमगीरी' में आया है कि उसने एक बार अपने पुत्र के द्वारा भेजे हुए आमों के नाम 'सुधारस' और 'रसना-विलास' रखे थे।

मुसलमानों के उपरान्त अँगरेजों ने भारतवर्ष में अपने पैर जमाये। ये लोग मुसलमानों की तरह भारतीय बनकर भारत के लिए ही भारत में रहने नहीं आये थे। इनका उद्देश्य तो भारत-वासियों को शरीर और मन दोनों से गुलाम बनाकर इस कामधेनु भारत-भूमि का अन्तिम बूंद तक दोहन करना था। फिर, ये किसी जाति की आत्मा उसके साहित्य की सुरक्षा का समर्थन कैसे कर सकते थे। वे तो 'न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी' के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। न तो मूल जातियों का कोई साहित्य उनके पास होगा और न वे स्वतंत्र होने के लिए कभी सिर उठायेंगे। अफ्रीका इत्यादि की तरह इसलिए भारतवर्ष में भी आते ही उन्होंने यहाँ के साहित्य का गला घोटने के अपने प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये। यह हमारे साहित्य की अजेय शक्ति ही थी कि जिसकी बदौलत आज हम उनके चंगुल से मुक्त होकर स्वतंत्र हो सके हैं। अँगरेजों ने हमारे पूर्वजों के इतिहास के नाम पर हमें उल्टी पट्टी पढ़ाना आरम्भ किया। हमें नंगे बदन अथवा पत्ते लपेटकर पेड़ों के नीचे और पहाड़ों की कन्दराओं में रहनेवाले जंगली लोगों की सन्तान बनाया गया, इतना ही नहीं, वैदिक वाङ्मय को गड़ेरियों के गीत घोषित करके धर्म, संस्कृति और इनकी पोषिका संस्कृत तीनों से हमें विमुख कर दिया। जिस संस्कृत को हम देववाणी कहते थे, उसे मृत भाषा (dead language) कहकर उन्होंने सचमुच हमारे लिए उसका अध्ययन एक हव्वा बना दिया। अँगरेजों की यह चालाकी चल तो गई, किन्तु इसका प्रभाव स्थायी इसलिए नहीं हो सकता था और जैसा हम

देख रहे हैं, हो भी नहीं सका; क्योंकि उनका तीर निशाने के दूसरे पहलू पर पड़ा, साहित्य के स्थान में साहित्य का अध्ययन और अध्यापन करनेवाले जनसाधारण उसका शिकार हो गये। दूसरी, अँगरेजों की भूल कहिए अथवा अँगरेजी-साहित्य की दरिद्रता, संस्कृत-साहित्य और प्रत्येक व्यक्ति के मुँह-चढ़े उसके लोकसिद्ध प्रयोगों की परसी-परसाई अक्षय थाली छीनने के पूर्व उनकी इस बौद्धिक क्षुधा-शान्ति का कोई अन्य साधन वे न जुटा सके। प्रकृति का नियम है, कोई स्थान रिक्त नहीं रहता। इटली के भौतिक विज्ञानशास्त्री श्रीटौरेसिली (Torrecelli) भी, 'प्रकृति अवकाश सहन नहीं कर सकती' (nature abhors vacuum) कहकर यही सिद्ध करते हैं। अतएव, फिर से हमारी आँख अपने पुरातन साहित्य की ओर लगी। हमारे राष्ट्रनिर्माता महात्मा गाँधी ने उसका (साहित्य का) मन्थन करके सेवा, त्याग, सहिष्णुता, प्रेम, सत्य और अहिंसा एवं स्वराज्य, स्वतंत्रता अथवा रामराज्य के अमृत-कणों को बटोरकर मृत-प्राय राष्ट्र में फिर से प्राण फूँक दिये। इधर हिन्दू-संस्कृति के प्रतीक महामना ने 'अपने देश में अपना राज्य' का शंखनाद किया उधर मनु के महामानव ने 'अँगरेजो भारत छोड़ो' की गगनभेदी घोषणा कर दी। आज हम स्वतंत्र हैं। कहना न होगा कि हमारी इस स्वतंत्रता का आधार शुद्ध साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक है। हमारे सिद्ध प्रयोग (मुहावरों) ने ही आत्मगौरव और स्वाभिमान के हमारे सुषुप्त भावों को पुनः जाग्रत् करके हमें अपने देश में अपने राज्य का दर्शन कराया है।

भाषा के आधार पर विजित और विजेताओं के व्यावहारिक संबंध की थोड़ी-बहुत चर्चा करके अब हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। किसी देश अथवा जाति पर शासन करने के लिए उस देश अथवा जाति की भाषा सीखना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना उन पर राज्य करना अथवा राज्य-संचालन-कार्य में उनकी सहायता और सहानुभूति प्राप्त करना प्रायः असम्भव-सा ही है। शासक और शासितों के भाव-विनिमय की भाषा एक होनी चाहिए, उनके बीच दुभाषियों से काम नहीं चल सकता। इसी प्रसंग में यह भी कह सकते हैं कि सुगमता की दृष्टि से विजेताओं को ही विजितों की भाषा विशेष रूप से सीखनी चाहिए। अबतक का इतिहास भी यही बताता है। अँगरेज शासकों ने यद्यपि हिन्दुस्तानी भाषाओं को सीखने का कभी प्रयत्न नहीं किया, किन्तु फिर भी आई० सी० एस्० अफसरों तक के लिए हिन्दुस्तानी की एक परीक्षा पास करना अनिवार्य करके उन्होंने इस सिद्धान्त को बनाये रखा।

विजेताओं से हमारा अभिप्राय शासकों से नहीं है; क्योंकि उनका, केवल भाषा के लिए न तो अपनी भाषा से प्रेम होता है और न विजितों की भाषा से। अतएव, उनके द्वारा किसी एक की भाषा पर, दूसरे की भाषा का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। प्रभाव तो वास्तव में उन साहित्यिकों के द्वारा पड़ता है, जो उनके कारण एक दूसरे के सम्पर्क में आ जाते हैं। शासक लोग शासितों की भाषा सीखते हैं, किन्तु केवल अपना काम चलाने की दृष्टि से, भाषा के माधुर्य अथवा साहित्य की उच्चता से प्रभावित होकर नहीं। यही कारण है कि उनकी भाषा प्रायः सदैव खिचड़ी भाषा रहती है। इस खिचड़ी भाषा से भी, इसमें सन्देह नहीं, यदा-कदा कुछ खिचड़ी मुहावरे इधर-उधर छिटक जाते हैं। वास्तव में भाषाओं पर जो प्रभाव पड़ता है, वह विजित और विजेताओं अथवा उनकी भाषाओं का नहीं, वरन् उनके साहित्य और साहित्यिक भाषा का पड़ता है। दोनों में जिसका साहित्य जितना ही अधिक उन्नत और समृद्ध, भाषा जितनी ही अधिक परिमार्जित तथा धार्मिक, भाव जितने ही अधिक गंभीर और व्यापक होंगे, वह (भाषा) उतनी ही अधिक दूसरे को प्रभावित कर सकेगी।

जिस समय भारतवर्ष में मुसलमानों के आक्रमण आरंभ हुए, हमारा साहित्य उच्चता के शिखर पर पहुँच चुका था। यही कारण है कि बहुत-से मुसलमान कवि तो हमारे साहित्य की रमणीयता में

ऐसे रम गये कि उन्हें अपनी भाषा, वेश-भूषा, यहाँ तक कि अपने देश की भी सुधि न रही, वे उसीमें अपने को भूल गये। उनमें 'या लकुटी अरु काँवरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं' की तीव्र भक्ति भावना जाग्रत् हो गई। अमीर खुसरो ने तो फारसी तक में भारतीय विचार-पद्धति के अनुसार रचना कर डाली। एक स्थल पर वह लिखता है—

तू शबानः मी नुमाई बेह बरे कि बूदी इम शब,
कि हनोज चश्म मस्तस्त असरे खुमार दारद।

यहाँ कवि ने फारसी पद्धति के प्रतिकूल नायिका से नायक को उपालम्भ दिला डाला है। इस प्रकार, हमारी साहित्यिक भाषा पर विजयी मुसलमानों की भाषा का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु, चूंकि विजेताओं द्वारा प्रयुक्त भाषा ही प्रायः राजभाषा होती है, अतएव बोल-चाल की भाषा उनके प्रभाव से सर्वथा युक्त न रह सकी, रह भी नहीं सकती थी। ज्यों-ज्यों मुसलमानों का राज्य पुराना होता गया, त्यों-त्यों अरबी और फारसी के शब्द और मुहावरे हमारी बोलियों में आते चले गये। 'सूर' और 'तुलसी' जैसे कवियों की रचनाओं में 'जमा-खर्च करना', 'फाजिल पड़ना', 'जमा बराबर करना' इत्यादि मुहावरे एवं 'तलवे', 'इस्तीफा', 'दाढी-जार', 'सरीकता' इत्यादि अन्य भाषाओं के शब्द बोल-चाल से ही आये हैं।

किसी भी देश की भाषा के इतिहास को ले लीजिए। विजेताओं की भाषा का विजितों की मूल भाषा पर कैसा और कितना प्रभाव पड़ता है, आपको मालूम हो जायगा। अरबों के हमलों से पहले की फारसी को और आज की फारसी को मिलाइए। अरबों की विजय के कारण फारसी पर अरबी का कितना प्रभाव पड़ा है, एक और एक दो की तरह स्पष्ट हो जायगा। जिस समय इंग्लिस्तान के प्राचीन निवासियों को नार्मन लोगों ने पराजित किया था, तो अँगरेजों की प्राचीन भाषा 'ऐंग्लो सैक्सन' की भी नार्मन फ्रेंच के हाथों यही दशा हुई थी। हिन्दी ने तो इस प्रकार के कितने ही उलट-फेर देखे और सहे हैं। मुसलमानों के राज्यकाल में जिस हिन्दी का झुकाव अरबी और फारसी के शब्द एवं मुहावरों की ओर था, अँगरेजों के यहाँ आकर जमने पर वही हिन्दी अँगरेजी-शब्द और प्रयोगों को पचाने में लग गई। 'डिगरी', 'कोट', 'कलट्टर' 'डिप्टी,' 'कमिश्नर', 'कप्तान', 'स्कूल', 'लम्प', 'माचिस' इत्यादि-इत्यादि न जाने कितने शब्द हिन्दी के अपने बन गये। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि अँगरेजों के आने पर हिन्दी ने अँगरेजी के शब्द और मुहावरों को लेना तो आरम्भ किया, किन्तु पहिले लिये हुए अरबी और फारसी प्रयोगों के बहिष्कार करने की नीति उसने नहीं अपनाई। आज भी, जबकि हम पूर्ण स्वतंत्र हैं, हमारा विश्वास है हिन्दी के प्रेमी अबतक उसमें प्रचलित अन्य भाषाओं के प्रयोगों को उसी मान और सम्मान के साथ अपने यहाँ चलने देंगे। उनके विरुद्ध किसी प्रकार के निष्कासन की व्यवस्था न देंगे, जिहाद न बोलेंगे।

विजेताओं की (अन्य) भाषाओं के मुहावरे

दो जातियों के व्यापारिक, धार्मिक एवं बौद्धिक अथवा राजनीतिक (विजित-विजेता) सम्बन्धों के कारण उनकी भाषाओं पर एक दूसरे का जो प्रभाव पड़ता है, संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वह विशेष कर उनकी बोल-चाल अथवा बातचीत और साहित्य के द्वारा ही पड़ता है। यह प्रभाव, जैसा पीछे दिखाया है, पड़ता तो दोनों जातियों की भाषाओं पर है, किन्तु मूल भाषा और उसके साहित्य की समृद्धि और उत्कृष्टता के अनुरूप किसी पर कुछ कम और किसी पर कुछ अधिक होता है। सिद्धान्त-रूप में इस बाह्य प्रभाव के दोनों पक्षों की साधारण चर्चा पीछे हो चुकी है, इसलिए यहाँ हम केवल हिन्दुस्तानी भाषाओं पर अन्य भाषाओं के साहित्य के कारण पड़नेवाले प्रभाव की ही मीमांसा करेंगे।

'साहित्य के द्वारा अन्य भाषाओं से गृहीत मुहावरों के मुख्यतः तीन रूप मिलते हैं—१. यथावत् (तत्सम), २. पूर्ण-अनुवादित और ३. अर्ध-अनुवादित। विदेशी मुहावरों के कुछ ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं, जो न तो यथावत् होते हैं और न पूर्ण, किंवा अर्ध-अनुवादित ही, उन्हें मूल मुहावरों का विकृत अथवा तद्भव रूप कह सकते हैं। इस प्रकार के मुहावरों का जन्म प्रायः ध्वनि के अनुकरण पर सर्वप्रथम अशिक्षित-वर्ग के लोगों में ही होता है, किन्तु वे धीरे-धीरे लोकप्रिय होते हुए बोलियों से विभाषा और विभाषा से राष्ट्रभाषा तक पहुँच जाते हैं। यथावत् रूप में भी बहुत ही कम मुहावरे एक भाषा से दूसरी भाषा में जाते हैं। वास्तव में मुहावरों का यह आदान-प्रदान अधिकांश पूर्ण किंवा अर्ध-अनुवादित रूपों में ही होता है। अनुवाद के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए पहले जैसा हम लिख चुके हैं अथवा स्मिथ का मत उद्धृत करके यहाँ भी जैसा संकेत हम करेंगे, एक भाषा के मुहावरे का अनुवाद दूसरी भाषा में प्रायः नहीं हो सकता, किन्तु फिर भी, अपेक्षित भाव का अभाव, माधुर्य की न्यूनता, लेखन-शैली की वांछित हृदय-ग्राहिता कहिए अथवा परिस्थितियों का दबाव, अनुवाद का यह कार्य यथासंभव किया सब जगह जाता है। अनुवाद के सम्बन्ध में स्मिथ लिखता है—

"अँगरेजी भाषा में स्वाभाविक व्यवहार से कुछ शब्द-समुदाय की रचना हो गई है, जिनका यदि हम अन्य भाषाओं में अनुवाद करना चाहें, तो हमें भाव-द्योतक शब्द-समुदाय ही देना पड़ेगा। शाब्दिक अनुवाद से काम नहीं चलेगा। अनुवाद किसी मुहावरे की सच्ची कसौटी होता है। कहीं-कहीं शब्दशः अनुवाद करने में अति साधारण वाक्यांशों की भी मुहावरेदारी नष्ट हो जाती है।[1]

"अन्य भाषाओं के अधिकांश मुहावरों का शाब्दिक अनुवाद काफी नहीं होता, उन्हें अपनी भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार फिर से गढ़ना चाहिए और उनका प्रचार करने के लिए उन्हें कोई रूढ़िगत रूप दे देना चाहिए। इतना ही नहीं इस काम के लिए उसका रूपक ही बदल देना चाहिए। (हिन्दी का एक मुहावरा है 'उल्टे बाँस बरेली को', इसका रूपक बदलकर यदि अँगरेजी या फारसी में अनुवाद करना हो, तो स्मिथ के अनुसार 'कोल बैक टू न्यूकैसिल' अथवा 'जीरा व किरमान' कहेंगे)।"[2]

मुहावरों की, अनुवाद-सम्बन्धी स्मिथ की, यह बात सब भाषाओं पर अँगरेजी के समान ही लागू होती है, किन्तु फिर भी जैसा स्मिथ स्वयं भी मानता है, व्यावहारिक दृष्टि से यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि मुहावरों का भावानुवाद के साथ ही, शाब्दिक अनुवाद भी होता है और अधिकतर होता है। जहाँ मुहावरों के पूर्ण अथवा अर्ध शाब्दिक अनुवाद से काम चल जाता है, वहाँ कम-से-कम साधारण कोटि के व्यक्ति की तो भावानुवाद की ओर दृष्टि जाती ही नहीं। अधिकांश व्यक्ति तो शाब्दिक अनुवाद में सर्वथा असफल रहने पर ही हारकर भावानुवाद की शरण लेते हैं। पत्रकारों की बात छोड़ दीजिए। उनके पास तो ऐसा करने के बहुत-से बहाने भी हैं, किन्तु साधारण लेखक और अनुवादक क्यों इस ओर ध्यान नहीं देते, यह बात चिन्ता की है। डी० एल० राय के एक ड्रामा का अनुवाद करते समय अनुवादक महोदय ने 'प्रोजेइक (Prosaic) 'विवाह' का अनुवाद 'गद्यमय विवाह' किया है। इसी प्रकार, 'स्टिल चाइल्ड (Still Child) का 'शान्त बच्चा', 'प्लेयिंग आन बीना' का 'वह बीन पर खेल रही है,, 'कोल्ड क्रीम' का 'ठंडी मलाई', 'हाऊस ब्रेकर' का 'मकान तोड़नेवाला', 'शुक्ल यजुर्वेद' का 'ह्वाइट यजुर्वेद' और 'कृष्ण

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० १७६-७७।

२. वही, पृ० २४०।

यजुर्वेद' का 'ब्लैक यजुर्वेद' इत्यादि-इत्यादि रूपों में भी अनुवाद किया गया है।[1] इसी प्रसंग में अँगरेजी-भाषा को लक्ष्य करके श्रीस्मिथ लिखते हैं।

"हमारी भाषा पर बाइबिल के अँगरेजी-अनुवादों का प्रायः बहुत गहरा प्रभाव देखा जाता है। शताब्दियों तक इंगलैंड में बाइबिल से अधिक कोई अन्य पुस्तक पढ़ी अथवा उद्धृत नहीं की गई। केवल बहुत-से शब्द ही नहीं, बल्कि बहुत-से ऐसे मुहावरेदार प्रयोग भी, जो 'हिब्रू' या ग्रीक मुहावरों के अक्षरशः अनुवाद हैं, इससे (बाइबिल से) हमारी भाषा में सम्मिलित कर लिये गये हैं।"[2]

अन्य भाषाओं से गृहीत मुहावरों के सम्बन्ध में, सम्भवतः स्मिथ से प्रभावित होकर ही श्री 'हरिऔधजी' ने अँगरेजी-भाषा को विशेष रूप से लक्ष्य करके उसके समर्थन में इस प्रकार अपने विचार प्रकट किये हैं। आप लिखते हैं :

"गुणग्राहिता योग्यता लाभ की कुंजी है, रत्नचय का संग्रह समृद्धता का प्रधान उपकरण है। सद्वस्तु की आकांक्षा सफलता-लाभ का साधन है, और कुसुम-चयन सौन्दर्यप्रियता की सामग्री। उन्नत जातियों में इन गुणों का विकास पूर्णरूप में पाया जाता है, वे उनसे लाभ उठाते हैं, और जीवन के उपयोगी साधनों को इनके द्वारा अलंकृत करते रहते हैं। अँगरेज जाति भी एक समुन्नत जाति है, इसीलिए उनमें भी इस प्रकार के गुणों का विकास उचित मात्रा में पाया जाता है। यही कारण है कि उनकी मातृभाषा को हम उपयोगी उपकरणों से सुसज्जित पाते हैं, और उसमें अन्य भाषाओं के बहुत-से सुन्दर मुहावरे, रत्न-समान जगमगाते मिलते हैं। इन रत्नों का उन लोगों ने अनेक स्थानों से संग्रह किया है और अपनी भाषा में उनको उचित स्थान दिया है। कहीं वे मुख्य रूप में पाये जाते हैं, कहीं उनमें उचित परिवर्त्तन मिलता है।"[3]

स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'वर्ड्स ऐण्ड इडियम्स' में अँगरेजी भाषा की इस प्रवृत्ति का और भी अधिक विस्तार से वर्णन किया है। उसमें किस उदारता से अन्य भाषाओं के मुहावरे ग्रहण किये गये हैं, और वे कितने व्यापक हो गये हैं, इस सम्बन्ध में श्रीस्मिथ लिखते हैं :

"जिन मुहावरों का अँगरेजी में अनुवाद हो गया है, उनको छोड़कर लैटिन, फ्रेंच तथा इटालियन तक के बहुत बड़ी संख्या में कितने ही और भी ऐसे मुहावरे हैं, जिन्हें हमने अपनी भाषा का कोई रूप दिये बिना ही ज्यों-का-त्यों ले लिया है।" लैटिन, फ्रेंच या इटालियन भाषा से अँगरेजी में ज्यों-के-त्यों अथवा अनुवादित रूप में आये हुए मुहावरों का जो लोग विशेष अध्ययन करना चाहते हैं, वे स्मिथ की 'वर्ड्स ऐण्ड इडियम्स' अथवा अन्त में दी हुई सहायक ग्रन्थों की सूची में से पुस्तकें चुनकर पढ़ सकते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में हम उनके उदाहरण न देकर केवल फ्रेंच और अँगरेजी के उन मुहावरों की एक संक्षिप्त सूची आगे चलकर देंगे, जिनके आधार पर बने हुए अथवा अनुवादित अथवा जिनके समानार्थक स्वतंत्र मुहावरे हिन्दी में प्रचलित हैं।

श्रीस्मिथ ने अँगरेजी में लैटिन, फ्रेंच इत्यादि यूरोपीय भाषाओं के मुहावरों की ज्यों-के-त्यों, अनुवादित अथवा अर्ध-अनुवादित आदि रूपों में गृहीत होने की, जो बात कही है वह अरबी, फारसी और अँगरेजी इत्यादि जिन भाषाओं से अथवा उन भाषाओं के द्वारा तुर्की, फ्रेंच इत्यादि जिन भाषाओं से हिन्दी का सम्बन्ध रहा है, उनपर भी अक्षरशः समान रूप से लागू होती है। हिन्दी में अरबी, फारसी, तुर्की, अँगरेजी और फ्रेंच इत्यादि अन्य भाषाओं के मुहावरों की कमी नहीं है। कुछ कमी है, तो वह उनके यथावत् रूपों की कही जा सकती है। हिन्दी में अरबी, फारसी के मुहावरों के मुख्य रूप तो थोड़े बहुत अवश्य मिल जायेंगे, किन्तु अँगरेजी के नहीं। हाँ,

---

१. विशेष जानकारी के लिए 'अ० हि०' पृ० २०६ से २२० तक देखिए।

२. डब्ल्यू० आई०, पृ० २२२।

३. 'बोल-चाल' (भूमिका), पृ० १५०-५१।

पढ़े-लिखे आदमियों की बोल-चाल में अरबी, फारसी और अँगरेजी तीनों के ही काफी मुहावरे ज्यों-के-त्यों प्रयुक्त होते हैं। अँगरेजों के इतने लम्बे समय तक भारतवर्ष में राज्य करते हुए भी अँगरेजी-मुहावरों के अधिक व्यापक न होने का कारण मुख्यतया रंग-भेद के कारण भारतवर्ष की साधारण जनता से उनकी सर्वथा अलग रहने की मनोवृत्ति है। अँगरेजी भारतवर्ष की राज्य-भाषा तो रही, किन्तु लोकभाषा न बन सकी। इतना ही नहीं, उसने लोकभाषा के साथ गठबन्धन करने के बजाय सदैव उसकी जड़ में मट्ठा देने की ही कोशिश की और इसमें उसे काफी सफलता भी मिली, अँगरेजी पढ़े-लिखे स्वयं भारतवासी उसे अशिष्ट और निम्नकोटि की समझकर उसकी उपेक्षा करने लगे। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी बातें हैं, जिनके कारण हिन्दी-साहित्य में अँगरेजी-मुहावरे अपने मुख्य रूप में नहीं मिलते। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी में अँगरेजी से मुहावरे आये ही नहीं, मुहावरे तो बहुत-से आये हैं, किन्तु प्रायः सब अनुवाद के रूप में ही आये हैं। 'अँगूर खट्टे होना' ग्रीक कहानी के आधार पर अँगरेजी के 'ग्रेप्स आर सावर' (grapes are sour) का अनुवाद है। 'नक्राश्रु' भी 'क्रोकोडाइल टीयर्स' का शाब्दिक अनुवाद है। इसी प्रकार 'प्रकाश डालना', 'दिलचस्पी लेना' और 'दो ध्रुवों का अन्तर अथवा दूरी होना' इत्यादि मुहावरे क्रमशः टु थ्रो लाइट (to throw light), टू टेक इण्ट्रेस्ट (to take interest) तथा टू पोल्स एपार्ट (two poles apart) इत्यादि अँगरेजी-मुहावरों के अनुवादमात्र हैं।

अँगरेजी के उपरान्त, अब हम अरबी और फारसी से आनेवाले मुहावरों के भिन्न-भिन्न उदाहरण लेकर, वे किस प्रकार हिन्दुस्तानी भाषाओं में आये हैं, इसका विवेचन करेंगे। उर्दू-भाषा कोई अन्य स्वतंत्र भाषा नहीं है। घरेलू झगड़ों के कारण मुँह फेरे हुए हिन्दी-भाषा का ही एक रूपान्तरमात्र है। हमने तो उसे हिन्दी की एक विभाषा ही माना है। खैर, कुछ भी हो, हिन्दी और उर्दू में भाषा की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है। उर्दू में अरबी और फारसी के मुहावरे मुख्य रूप में काफी प्रयुक्त होते हैं, हिन्दी अथवा शुद्ध हिन्दी में भी इस प्रकार के प्रयोग होते हैं, परन्तु कम। मौलाना आजाद अपनी, 'पुस्तक 'आबे हयात' के पृष्ठ ४१ पर लिखते हैं—

"एक जबान (भाषा) के मुहावरे को दूसरी जबान में तरजुमा (अनुवाद) करना जायज (उचित) नहीं मगर इन दोनों जबानों (फारसी और उर्दू) में ऐसा इत्तिहाद (मेल) हो गया कि यह फर्क भी उठ गया और अपने कारआदम (उपयोगी) खयालों को अदा करने के लिए दिलपजीर (हृदयग्राही) और दिलकश (आकर्षक) और पसन्दीदा मुहावरात, जो फारसी में देखे गये, उन्हें कभी वजिन्स ही और कभी तरजुमा करके लिया।"

दिलदादन—फारसी का एक मुहावरा है, जो आसक्त होने के अर्थ प्रयुक्त होता है। 'मीर' ने इसे ज्यों-का-त्यों लेकर अपने शेर में इस प्रकार बाँधा है—

ऐसा न हो दिलदादः कोई जाँ से गुजर जाये।

तरदामन—इस फारसी मुहावरे का अर्थ पापी होना है। 'मीर दर्द' कहते हैं—

तरदामनी प शेख हमारी न जाइयो
दामन निचोड़ दूँ तो फरिश्ते वजू करें।

चिरागे सहरी—का अर्थ मरणोन्मुख है। मीर साहब कहते हैं—

टुक मीर जिगर सोख्ता की जल्द खबर ले
क्या यार भरोसा है चिरागे सहरी का।

'पुम्बा दहन', 'दराज़ जबान' और 'चिराग़े मुरदा' भी फारसी के मुहावरे हैं। जिनका अर्थ मुँह में रुआब ठुँसा होना, कम बोलना, लम्बी जीभ होना, बहुत बोलना और बुझा हुआ दीया है। 'जौक' कहते हैं—

शशिये मैं की यह दराज़ जबान।
उस प है यह सितम कि पुम्बा दहाँ॥
शमा मुर्दा के लिए है दमे ईसा आतश।
सोजिशे इश्क से जिन्दा हों मुहब्बत के कतील॥

ऊपर के शेरों में फारसी मुहावरे मुख्य रूप में प्रयुक्त हुए हैं, उनमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं किया गया है। उर्दू-शेरों में इस प्रकार के प्रयोग बहुत काफी हुए हैं। अब हिन्दी-रचनाओं में ऐसे प्रयोगों के कुछ नमूने देखिए : (फूलों का गुच्छा—हरिश्चन्द्र)[1]—

हम चश्मों में किया क्यों मुझे ऐ मेरे प्यारे रुसवा।
जीस्त नहीं है सरासर बस सर गरदानी है वह॥
है ज़िन्दा दर गोर वह जिसको मरने का आज़ार न हो।
वहीं दौड़े उठके पियादापा तुम्हें याद हो कि न याद हो॥
यहाँ तो आँ तलब हैं जब से सावन की चढ़ाई है।

ऊपर के पद्यों में जिन वाक्यों के नीचे लकीर खिंची है, वे मुख्य रूप में प्रयुक्त शुद्ध फारसी मुहावरे हैं। पूर्ण अथवा अर्ध-अनुवादित रूप में भी अरबी और फारसी के काफी मुहावरों का हिन्दी में प्रयोग हुआ है। इस प्रकार के कुछ और उदाहरण नीचे देते हैं, देखिए—

तुम्हारी कृपा हमरे अवगुण जमा खरच कर देखे।
फ़ाजिल पड़े अपराध हमारे इस्तीफा के लेखे॥
अव्वल हरफ़ हरफसानी को जमा बराबर कीजै।
सनद बुरद के हाथ हमारे तलब बराबर दीजै॥

ऐसी अमल जनायो।
दसखत म.फ करो तिहि ऊपर।
सूर स्याम गुन गायो ......

मेरी नाम गाय हाय जादू कियो मन में
गुल खिलते हैं गाते हैं रो-रो बुलबुल॥
सजते हैं बाग़ो ब्याबाँ।
लड़ती हैं फौजें मर-मर, फिरते हैं योगी दर-दर।—'रसखान'

कहै 'मैं विभीषन की कछु न सबील की'
देव तो दयानिकेत देतदादि दीनन की।—'तुलसी'

ऊपर के पदों में जिन वाक्यों को भिन्न टाइप में दिया गया है, उनको देखने से ही स्पष्ट हो जाता है कि वे फारसी मुहावरों के ही अनुसार अथवा रूपान्तर हैं। ऊपर उर्दू के जो शेर दिये गये हैं, जिनमें फारसी मुहावरों का मुख्य रूप में प्रयोग हुआ है, वे सब 'आबे हयात' से लिये गये हैं। अब उसीसे तथा कुछ शेर इधर-उधर से भी लेकर अनुवादित मुहावरों के कुछ उदाहरण हम यहाँ देंगे। 'बर आमदन', 'बसर आमदन', 'पैमाना पुर करदन', 'अज जामा बेरूँ शुदन', 'दिल अजदस्त रफ्तन', 'दिल दादन', 'अज जान गुजश्तन', 'हर्फ आमद', 'दिल खूँ शुदन', 'बाज आना', 'बाग़-बाग़ होना' इत्यादि फारसी मुहावरों को विभिन्न कवियों ने अपने शेरों में इस प्रकार बाँधा है—

---

१. 'बीसवाब' (भूमिका), पृ० १५४।

इस दिल के तुफे आह से कब शोला बर आये।
अफई की यह ताकत है कि उससे बसर आये ॥—'सौदा'
साकी चमन में छोड़ के मुझको किधर चला।
पैमाना मेरी उम्र का जालिम तू भर चला ॥—'सौदा'
कब सबा आई तेरे कूचे से अय यार की मैं।
जो हुआ वे लबे जू जामा से बाहर न हुआ ॥—'जौक'
निकला पड़े है जामे से कुछ इन दिनों रकीब।
थोड़े ही दम दिलासे में इतना अफर चला ॥—'सौदा'
हाथ से जाता रहा दिल देख महबूबाँ की चाल।—'सौदा'
दिल देके जान पर अपनी बुरी बनी।
शारी कलामी आपकी मीठी छुरी बनी ॥—'जफर'
वहाँ जाये वही जो जान से जाये गुजर पहिले।
हफ मुझ पै आये देखिए किसके किसके नाम से ॥
इस दर्द से अफीक का दिल खू यमन में है।
मैं बाज आया दिल के लगाने से।—'हुपरी'
याँ तक न दिल आजार खलायक हो कि कोई।
मलकर लहू मुँह से सफ महशर में दर आये।—'जौक'
ऐ 'वली' गुल बदन को बाग में देख।
दिल सद वर्ग बाग़-बाग़ हुआ ॥—'वली'

ऊपर दिये हुए शेरों में जो वाक्य भिन्न टाइप में हैं, वे सब फारसी के ऐसे मुहावरे हैं, जिनका पूर्ण अनुवाद नहीं हुआ है, फारसी मुहावरे का कोई-न-कोई शब्द उनमें मौजूद है। ऐसे भी काफी मुहावरे हैं, जिनका पूर्ण अनुवाद करके प्रयोग हुआ है। अर्क-अर्क शुदन फारसी का एक मुहावरा है, जिसका पानी-पानी हो जाना के रूप में हिन्दी और उर्दू दोनों में प्रयोग होता है। जौक का एक शेर है—

आग दोजख भी हो जायगी पानी-पानी।
जब ये आसी करके शर्म में तर जायेंगे—'जौक'

कोमल तन सुन्दर बदन, रंग रूप की रानी।
लख छबि जाकी मदन मद, हुआ पानी-पानी—'निशंक'

'पोस्त कशीदन' भी फारसी का मुहावरा है, जिसका हिन्दी और उर्दू में 'खाल खींचना' रूप में प्रयोग होता है। आगे चलकर फारसी और हिन्दी मुहावरों की जो सूची देंगे, उसमें इस प्रकार के और भी बहुत-से मुहावरे मिल जायेंगे। कितने ही ऐसे भी मुहावरे हमारी भाषा में चलते हैं, जो फारसी मुहावरों के अनुवाद—अर्द्ध या पूर्ण अनुवाद-से लगते हैं, पर वास्तव में हैं नहीं। उनकी उत्पत्ति फारसी और हिन्दी-शब्दों के सहयोग से स्वाभाविक रीति अथवा प्रयोग-प्रवाह के कारण हुई है। 'हवा बाँधना', 'हवा हो जाना', 'हवा बतलाना', 'हवा खाना', 'हवा से बातें करना', 'मुँह पर हवाइयाँ उड़ना', 'तूफान बाँधना', 'तूफान खड़ा करना', 'खबर लेना', 'आसमान सि[illegible] उठाना' इत्यादि इसी प्रकार के मुहावरे हैं।

हिन्दी में इस प्रकार के मुहावरे बहुत काफी हैं। इनकी उत्पत्ति आवश्यकता के अनुसार प्रायः बोल-चाल के आधार पर होती है, अतएव सर्व साधारण में इनका काफी प्रयोग होता है। इसके विरुद्ध अनुवादित होकर जो मुहावरे आये हैं, वे न तो इतने व्यापक और लोकप्रिय ही हैं

और न जन-साधारण ही उन्हें समझते हैं, केवल सुशिक्षित समाज तक ही उनका व्यवहार परिमित रहता है। ठीक भी है, किसी मुहावरे को अच्छी तरह से समझने के लिए उसकी पृष्ठभूमिका को, जिसकी उस पर गहरी छाप रहती है, समझना बहुत आवश्यक होता है। फारसी का एक मुहावरा है, 'शजरहे मुन्हैया', यदि इसका अनुवाद करके 'वर्जित वृक्ष' रखें तो मूल फारसी मुहावरे की पृष्ठभूमिका, अर्थात् आदम और ईव के शैतान के बहकाने-फुसलाने पर वर्जित वृक्ष के फल चख लेने की कथा जिन्हें मालूम है, वे तो 'वर्जित वृक्ष' का ठीक-ठीक व्यवहार कर और समझ सकते हैं, अन्यथा सर्व साधारण के लिए इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। अन्य भाषाओं से अनुवादित प्रायः सभी मुहावरों में यह दोष रहता है। (मुहावरे के शब्दों का अनुवाद तो हो जाता है, किन्तु उस पर विशिष्ट देश, काल और परिस्थिति की जो स्वाभाविक छाप रहती है वह अनुवादक की पकड़ में नहीं आती, उसकी शक्ति से बाहर हो जाती है।) यही कारण है कि कभी-कभी अनुवादित मुहावरे मूल मुहावरों के तात्पर्यार्थ से बिलकुल भिन्न एवं नये ही अर्थ में चल पड़ते हैं। फारसी का एक मुहावरा 'चलाक दस्त' है। फारसी में इसका अर्थ टेढ़े-मेढ़े हाथवाला होता है। अब इसी का अनुवादित हिन्दी-रूप 'हाथ चलाक' या 'हाथ चलक' देखिए। हिन्दी में 'हाथ चलक' चोर या जिसे चोरी करने की कुटेव हो उसे कहते हैं। 'सैर करना' या 'सैर तमाशा' आदि प्रयोगों का भी हिन्दी में आकर बहुत-कुछ अर्थ बदल गया है। अनुवादित मुहावरों के सम्बन्ध में श्री 'हरिऔध' जी का मत भी उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं—

"सत्य बात तो यही है कि किसी भाषा के मुहावरे का दूसरी भाषा में अनुवाद होना प्राय असम्भव है। तरदामनी, पुम्बा दहन, दराज़ जबान, चिरागे सहरी आदि मुहावरे, जो अपने मुख्य रूप ही में गृहीत हुए हैं, यदि उनका शाब्दिक अनुवाद करके रख दिया जाय, तो हिन्दी में वे उन भावों के द्योतक न होंगे, जिन भावों के द्योतक वे फारसी में हैं। चिरागे सहरी का अनुवाद हम 'प्रभात-प्रदीप' कर दें, तो उसका अर्थ 'प्रातःकाल का दीप' तो हो जायगा, किन्तु उसका भावार्थ मरणोन्मुख अथवा कुछ क्षण का मेहमान समझा जाना दुस्तर होगा। कारण यह है कि इस अर्थ में हिन्दी में प्रभात-प्रदीप का प्रयोग नहीं होता।"[1]

अँगरेजी में स्मिथ के उद्धरण देते हुए जैसा पीछे कहा गया है, इस प्रकार के जो मुहावरे लिये गये हैं, स्मिथ के शब्दों में ही यह भी कहा जा सकता है कि उनमें वांछित सफलता नहीं हुई है। वह लिखता है—

"एडिसन के कथनानुसार मिल्टन ने हिब्रू, ग्रीक और लैटिन भाषा के प्रयोगों द्वारा भी अपनी भाषा को उन्नत और समृद्धशाली बनाया है, किन्तु इन प्रयोगों में से कोई भी हमारी भाषा के साथ एकरस और एकतार नहीं हो पाया है। उनमें साहित्यिक वैलक्षण्य और विनोदपूर्ण पांडित्य-प्रदर्शन तो है, किन्तु हमारी मुहावरेदारी को समृद्ध करने की शक्ति नहीं।"[2]

सिद्धान्त के तौर पर देखा जाय, तो यह बात बिलकुल सही है। हिन्दी और उर्दू में भी जो मुहावरे इस प्रकार अनुवादित (पूर्ण या अर्द्ध-अनुवादित) होकर आये हैं, वे हमारी भाषा की प्रकृति से पूरी तरह मेल नहीं खाते, वास्तव में एक भाषा के मुहावरे का सफलतापूर्वक दूसरी भाषा में तभी अनुवाद हो सकता है, जब उनमें भाव अथवा विचारसाम्य हो। क्रियापदों की बात जाने दीजिए; क्योंकि उनमें प्रायः अभिधा-शक्ति से ही काम लिया जाता है और उनका प्रयोग भी प्रायः अपने रूप में ही होता है, इसलिए उनके अनुवाद में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। अर्ध-अनुवादित मुहावरों में भी उनका लाक्षणिक अर्थ समझने में अधिक कठिनाई

१. बोलचाल (भूमिका), पृ० १५१।
२. डब्ल्यू० आई०, पृ० २४७-४८।

नहीं होती। उर्दू में फारसी के अधिकांश मुहावरे अर्ध-अनुवादित करके ही लिये गये हैं। इसलिए उनका लाक्षणिक अर्थ समझने में सुविधा होती है। कठिनाई तो वास्तव में ऐसे मुहावरों के पूर्ण अनुवाद में होती है। भावानुवाद अथवा अन्य भाषा के मुहावरों से मिलता-जुलता अनुवाद भी चल जाता है, किन्तु शाब्दिक अनुवाद तो सचमुच विनोदमात्र ही रहता है।

अब हम फ्रेंच, अँगरेजी और हिन्दी तथा अरबी, फारसी और हिन्दी में समानार्थ में चलनेवाले मुहावरों की कुछ सूचियाँ देंगे। इन सूचियों के देने से पहिले अच्छा होगा कि हम एक बार फिर याद दिला दें कि पाठक इन सूचियों में दिये हुए विभिन्न भाषाओं के समानार्थक मुहावरों को एक दूसरे का अनुवाद ही न मान बैठें; क्योंकि बहुत-से मुहावरे, मनुष्य की शारीरिक क्रियाओं, हाव-भाव, अस्पष्ट ध्वनियों तथा मानव-स्वभाव से संबंधित होने के कारण देश और काल के बन्धन से मुक्त होकर प्रायः सभी भाषाओं में समान स्वतन्त्र रूप से चलते रहते हैं। कभी-कभी दो विभिन्न भाषाओं के स्वतन्त्र शब्दों के सहयोग से स्वाभाविक रूप में भी कुछ मुहावरे बन जाते हैं। ऐसे प्रयोगों में कौन किसका अनुवाद है, यह निश्चय करना भी सहल नहीं होता। इन सूचियों से इसलिए केवल सूचना का ही काम लिया जाये। कौन किसका अनुवाद है, यह सिद्ध करने का नहीं। दो मुहावरों की समानार्थकता उनके एक दूसरे का अनुवाद होने की दलील नहीं है, रामगुलाम और गुलाम नबी दोनों न केवल समानार्थक है, बल्कि अर्ध-अनुवादित-से भी लगते हैं, किन्तु वास्तव में ये दोनों दो स्वतन्त्र प्रयोग है, कोई भी किसी का अनुवाद नहीं है।

अब हम सबसे पहले फ्रेंच, अँगरेजी और हिन्दी तीनों में चलनेवाले समानार्थक मुहावरों की संक्षिप्त सूची देते हैं—[1]

फ्रेंच	अँगरेजी	हिन्दी
Saccordex comme chienet chat	To live a cat and dog life	कुत्ते बिल्ली की तरह रहना
Unhomme quise noie saccroche a tout	A drowning man catches at a straw	डूबते को तिनके का सहारा बहुत होता
Le bien mal acquis ne profite gamais	Ill gotten gains benefit no one	बेईमानी न फलना
Les affaires ne vont pas	Trade is dull	बाजार मंदा होना
Aura affaire a moi	He will have to deal with me.	पाला पड़ना
Lefils fait affronta Sa famille	The son is a disgrace to his family	कुल का कलंक होना
De fil en aiguille	Bit by bit	बूँद-बूँद से
Desputer sur la pointe d'une aiguille	To split hairs	बाल की खाल निकालना
Aimer quelqu uncomme la prunelle de sesyeux	To love some body like the apple of one's aye	आँख की पुतली समझना
Faire l' appel	To call the roll	हाजिरी लेना

१. French idioms and proverbs by De. V. Payen Payne.

फ्रेंच	अँगरेजी	हिन्दी
Bon appetit	Good appetite	अच्छी भूख होना
Attacher le grelot	To bell the cat	म्याऊँ का ठौर पकड़ना
Deux avis valent mieux qu'un.	To heads are better than one.	एक से दो अच्छे होते हैं
Il se retira l' oreille basse.	He went away with his tail between his legs.	दुम दबाकर भागना
Il est plante la comme une borne	He stand there like a port	ठूँठ की तरह खड़े होना
Rire Comme unbossu	To split sides with laughter;	हँसते-हँसते कोख फटना (तनना)
Rendre un homme camus	To stop a man's mouth	मुँह बन्द करना
Battre les carts	To shuffle the cords	पत्ते फाँटना
Se cosser le nez	To fall on one's face	मुँह के बल गिरना
Faire des chateaux en Espange	To build castle in the air	हवाई किले बनाना
Remuer ciel et terre	To move heaven and earth	आकाश-पाताल एक करना
Qui ne did mot consent	Silence gives consent	खामोशी नीम रज़ा
Courir comme unde rate	To go like a shot	तीर की तरह जाना
A dieu ne plaise	God forbid	ईश्वर ऐसा न करे
Pour tout dire	In a word	एक शब्द में
Chanter faux	To sing out of tune	गर्दभ स्वर में गाना
Au fil de leau	With the stream	बहाव में बह जाना
La foi du charbonnier	Blind faith	अन्धविश्वास
En plein four	In broad day light	दिन दहाड़े
En Venir aux main	To come to blows	घूँसों की नौबत आना
En petit	On a small scale	छोटे पैमाने पर
Si peuque rien	Next to nothing	नहीं के बराबर
Faine Souche	To found a family	घर बसाना
Nu Comme un Ver	Stark naked	निरम नंगा, नंगा-धड़ंगा
De vive voix	By word of mouth	मुँहजबानी

अब अति संक्षेप में दस पाँच लैटिन, ग्रीक, अँगरेजी और हिन्दी सबमें समान अर्थ में चलनेवाले मुहावरे यहाँ देते हैं—

	अँगरेजी	हिन्दी
Ab imopectore (L)	From the bottom of the heart;	अंतःकरण से
Ab sit invidea (L)	Keeping envy apart	द्वेष छोड़कर
Ab unodisce omnes (L)	From one learn the rest	खिचड़ी का एक चावल देखना
A capite ad calcem (L)	From head to heel;	सिर से पैर तक

	अँगरेजी	हिन्दी
Ad literam (L)	To the letter	अक्षर-अक्षर
Ad patres (L)	Dead	पितृलोक जाना
A giorno (It)	Like day light	दिन की तरह चमकना
Alea jacta est (L)	The die has been cast	सिप्पा भिड़ना टिप्पस लगाना
Anguis in herba (L)	Snake in the grass	मारजेर काह (फा०) घास में का साँप
Aristonmen bydor (Gr.)	Nothing like water	पानी से क्या पतला
Che Sara Sara (It.)	What will be will be	होना है सो होगा ही
Deus avertat (L)	God forbid	ईश्वर न करे
Errare est humanum (L)	To err is human	मनुष्य ही भूल करता है
In loco parentis (L)	Like parents	माई-बाप होना
Intra muros (L)	With the walls	चारदीवारी के अंदर
Jacta est alea (L)	The die is cost	साँचे में ढला हुआ
Meum et tuum (L)	Mine and thine	मेरा-तेरा
Onus probandi (L)	The burden of proof	बारे सबूत
Quid Proquo (L)	Tit for tat	जैसे को तैसा
Ruse contre ruse (L)	Cunning against cunning	शठं प्रति शाठ्यं समाचरेत्
Similia similibus curantur (L)	Like things cure the like	जहर जहर को मारता है
Una Voce (L)	With one voice	एक स्वर में
Faire'd une purre deux coups (Fr.)	To kill two birds with one stone	एक पत्थर से दो चिड़िया मारना, एक पंथ दो काज
Grossir un neant en montagne (Fr.)	To make a mountain out of a mole hill,	राई का पर्वत करना
E sparits il merlo (It)	The black bird is flown	चिड़िया उड़ गई
Battere il noce (It)	To pound the nut	पत्थर को पिघलाना
Buscar trespiesalgate (Spn.)	To seek three feet to the cat	मुर्गी की डेढ़ टाँग बताना
Echar chispas (Spn.)	To throw off sporks	आग उगलना
Vivir a pierna Suelta (Spn.)	To live by stretched out.	पाँव फैलाकर सोना
Einen stein aufdem herzen haben (Gr.)	To have a stone on one's heart	छाती पर पत्थर रखना

लैटिन, ग्रीक, फ्रेंच, इटालियन, स्पेनिश, जर्मन इत्यादि यूरोपीय भाषाओं के जो मुहावरे हमने दिये हैं, हम नहीं कह सकते कि उनके समानार्थक हिन्दी-मुहावरे देने में हम कहाँ तक सफल

रहे हैं; क्योंकि ये सब भाषाएँ न जानने के कारण हमें विभिन्न लेखकों और कोषकारों के द्वारा किये गये अँगरेजी-अनुवाद की ही शरण लेनी पड़ी है। जैसा स्मिथ और दूसरे लोग मानते हैं, अँगरेजी ने इन सब भाषाओं से काफी मुहावरे लिये हैं, उसी प्रकार अँगरेजी से, जैसा अभी अँगरेजी-हिन्दी मुहावरों की सूची में भी आप देखेंगे, हिन्दी में भी काफी मुहावरे आये हैं। इसलिए हम या कोई भी जबतक एक-एक मुहावरे का विशेष अध्ययन न करें, यह दावा नहीं किया जा सकता कि हिन्दी में प्रचलित उनके समानार्थक मुहावरों में सभी अनुवाद हैं या कोई भी अनुवाद नहीं है, किंवा कौन और किसका अनुवाद है। अँगरेजी और हिन्दी तथा फारसी-हिन्दी एवं अरबी हिन्दी के उपरान्त हम कुछ ऐसे प्रयोगों की सूची देंगे, जो हमारा विश्वास है, संसार की प्रायः सभी भाषाओं में चलते हैं। विभिन्न भाषाओं में प्रचलित समानार्थक मुहावरों को यहाँ देने अथवा उनका अध्ययन करने से भाषा की दृष्टि से भले ही अधिक लाभ न हो, किन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से तो आप इन्हीं मुहावरों के आधार पर एक नई दुनिया का पता चला सकते हैं। जीवित व्यक्तियों के मस्तिष्क की जाँच तो, हम मानते हैं, आप आला लगाकर कर लेंगे, किन्तु उनके पूर्वजों के लिए आप कौन-से आले से काम लेंगे। आज का वैज्ञानिक-वर्ग यदि मुहावरों के इस सर्वदर्शी यंत्र की ओर ध्यान दे, तो उसे भूत और वर्त्तमान तो क्या, भावी मस्तिष्क की जाँच के लिए भी किसी और आले की जरूरत न पड़े। अँगरेजी की एक कहावत है 'सभी महान् व्यक्ति एक तरह से सोचते हैं' (All great men think alike)। यदि इसमें निहित सत्य के मूल बिन्दु को जानना है, तो गीता के वटवृक्ष की तरह इसे उलट कर देखिए और कल्पना कीजिए आदिपुरुष और प्रकृति अथवा आदम और ईव की। कहावत का यह सत्य उस समय भी था; क्योंकि यदि दोनों एक तरह न सोचते तो सृष्टि की रचना ही न होती, हाँ उस समय इसका रूप 'ईच मैन थिंक एलाइक' था। सृष्टि के विकास-क्रम के साथ-साथ इस सत्य का भी विकास होता गया। 'ईच' की जगह 'एवरी' और 'एवरी' की जगह 'ऑल' आया। किन्तु, ज्यों-ज्यों परिवार बढ़ता गया, त्यों-त्यों कुटुम्बकत्व की उनकी भावना नष्ट होती गई, यहाँ तक कि अन्ततोगत्वा गांधी-जैसे बहुत ही थोड़े ऐसे व्यक्ति रह गये, जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श को लेकर चिन्तन और मनन करते हैं। इसलिए ऑल के साथ 'ग्रेट' शब्द भी जोड़ना पड़ा। सचमुच जो लोग प्राणी-मात्र को अपना कुटुम्बी समझते हैं, वही महान् हैं और ऐसे ही महान् व्यक्ति एक तरह से सोच सकते हैं और सोचते हैं। इसी प्रकार, यदि संसार की विभिन्न भाषाओं में प्रचलित समस्त समानार्थक मुहावरों को एकत्रित करके उनके आधार पर संसार के पिछले इतिहास का अध्ययन किया जाय, तो निस्सन्देह हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यह सारा संसार जिसे हम देख रहे हैं, उसी एक परमात्मा का विराट् रूप है।

अब हम अँगरेजी और हिन्दी के कुछ ऐसे मुहावरे देते हैं, जो भाषा की दृष्टि से अलग-अलग होते हुए भी भावों की दृष्टि से एक हैं।

अँगरेजी	हिन्दी
To turn up one's nose at	नाक सिकोड़ना
To turn one's head	सिर फिर जाना
To be in the same boat with	एक ही नाव में होना
To sink or swim	डूबना-उतराना
To make way	रास्ता बनाना
A fish out of water	जल बिना मछली
To poison the wells	जहर घोलना

अँगरेजी	हिन्दी
Bag and baggage	बोरिया-बिस्तरा
To die like a dog or a dog's death	कुत्ते की मौत मरना
To follow like sheep	भेड़ा-चाल होना
A bird of passage	उड़ता पंछी
To slay the slain	मरे हुए को मारना
To play with fire	आग से खेलना
To add fuel to the fire	आग में घी डालना
To take the bread out of some one's mouth	मुँह का गुस्सा छीनना
To have one's bread buttered on both sides	चुपड़ी हुई मिलना
To live hand to mouth[1]	किसी प्रकार पेट भरना
To be at stake	दाँव पर रखना, होना या लगाना
Broad day light	दिन धौले
Ahair breadth escape	बाल-बाल बचना
Half hearted	दिल आधा होना या टूटना
A haunted house	भूतों का डेरा
A dying couch	मृत्यु-शय्या, विस्तरुल मर्ग
Open hearted	खुले दिल
A right hand m...	दाहिना हाथ होना
Spare time	खाली वक्त
White lie	सफेद झूठ
The apple of one's eye	आँख की पुतली होना
Body and soul	तन-मन से
Heart and soul	जी-जान से
Castle in the air	हवाई किले
A fresh base of life	नया जन्म होना
A rope of sand	धूल की रस्सी बटना
Throngh thick and thin	गाढ़ पतले में
Hole and corner	चूल्हे विचाले में
Grind the poor	गरीबों को पीसना
To throw dust in one's eye	आँखों में धूल झोंकना
All moon shine	सब्ज बाग दिखाना
To go with the current	बहाव में बह जाना

अँगरेजी और हिन्दी की तरह अब हम थोड़े-बहुत फारसी और हिन्दी तथा अरबी और हिन्दी में चलनेवाले समानार्थक मुहावरे यहाँ देते हैं। इस प्रकार के मुहावरे एकत्र तो हमने करीब दो हजार के किये हैं, लेकिन स्थानाभाव के कारण यहाँ केवल नमूने के तौर पर कुछ अति प्रसिद्ध प्रयोग ही लेंगे।

१. फारसी में (दस्त कशी बदहनश रसीदन)

फारसी मुहावरे

	फारसी	हिन्दी
राजनीतिक	दस्तवेत शुदन	शपथ ग्रहण करना
	इजलास फरमूदन	तख़्त पर बैठना, इजलास करना
स्थिति और दूरी	ई सर आँ सर	इधर-उधर
	अज़ चहार तरफ़	चारों ओर से
कृषि	क़लम करदम	कलम करना
ग्रह-नक्षत्र	ताल अश दरतरक़्क़ीयस्त	किसी का तारा चमकना।
गृह-निर्माण	शालदह अन्दख़्तन	नींव डालना
दंड-विधान	कतोपा, वफ़ालका, वस्तन	हाथ-पैर बाँधना
	गर्दन ज़दन	गला काटना
चरित्र	दहन लक़	मुँह बिगाड़ना
	दिमाग वाला रफ्तन	दिमाग आसमान पर होना
व्यापार	वाजार सर्द अस्त	वाजार ठंडा होना
	शराकत वहम खुरदन	साझा बाँटना, अलगोजा होना
	ताजा दस्त न खुरदा	नया नकोर
	गोश कसी बुरीदन	कान काटना, धोखा देना
साधारण तुलना	सुर्ख मिस्ल आतिश	लाल अंगारा
	शीरीं मानिन्द असल	मीठा शुद्ध
दाह-कर्म	दम पश कशीदन	अंतिम साँस लेना
	दर चंग मर्ग बूदन	मृत्यु के मुख में होना
	खाक करदन	धूल में मिलाना
खान-पीन	शिकम सैर खुरदन	पेट भरकर खाना
	पाक खुरदन	साफ कर जाना
शिक्षा	सर सीनह करदन	कंठ करना, मुहजबानी याद करना
व्यायाम	रियाजत करदन	व्यायाम करना
	चल कदमी करदन	घूमते फिरना, चहलकदमी करना
भाव	दस्तो पायम सर्द शुद	हाथ-पाँव ठंडे होना
	चीन वर अवरु उफकन्दन	भौं सिकोड़ना
	अज खुद दर रफतन	आपे से बाहर होना
	अंगुश्त नुमाकर दन	अंगूठा दिखा देना
	दस्त पा चह करदन	हाथ-पाँव फुलाना
खेल	दस्त निशान दादन	हाथ दिखाना
	गिरो वस्तन	दाँव लगाना

	फारसी	हिन्दी
शिकार	दर हवा ज़दन	उड़ती हुई चिड़िया मारना
	क़ादिर अन्दाज	अचूक निशाना
अदालत	सौगन्द दादन	सौगंध देना, खाना
विवाह	शीरनी खोराँ फिसख करदन	सम्बन्ध तोड़ना, सगाई
औषधि	नब्ज दीदन	नाड़ी देखना
	साहब फराश बदून	खटिया पर पड़ना
	अज चंग मर्गे राह करदन	मृत्यु के मुख से निकलना
	बखुद आमदन	होश में आना
सेना	पस या शुदन	पैर पीछे हटाना
	परागन्दा शुदन	तितर-बितर होना
	दम शमशेर निहादन	तलवार के घाट उतारना
	तेग कशीदन	तलवार खींचना
संगीत	नवा जदन	ताल लगाना, देना
समुद्र	किनारा गिरफ्तन	किनारे या तीर लगना
संख्या	पंज कस या ज्यादह	पाँच या छह
	खैली-खैली	अधिक-से-अधिक
बात-चीत	सरजबाँश दास्त	मुँह पर हीया
	तू गोशी गुफ्तन	कान में कहना
	गोश गिरफ्तन	कान देना या लगाना
व्यक्तिगत	ओ बारीक शुदा	वह दुबला हो गया
	ओपोस्तो इस्तख्वान वेश नुमान्दा,	अस्थि-पंजर रह जाना
	दमे मर्ग	मृत्यु के मुख में
	आबदीदा शुदन	फूट-फूटकर रोना
फुटकर	अज़अव्वल ता आखीर	आद्योपान्त
	पेश चश्मत	आँखों के सामने
	म्याना बहम खुरदन	बोल-चाल न होना
	अज़ किसी रु गर्दान शुदन	पीठ फेरना (किसी से)
	मुहाशरत बाज गिरफ्तन	हुक्का-पानी या रोटी-बेटी बन्द
	गाह गाही	कभी-कदाक
	संग अन्दाखतन	रोड़े अटकाना
	दस्त कशीदन	हाथ खींचना
	गंज कारू	कुबेर का खजाना
	गुफ्तम सखुनत शकिस्ता	टूटे-फूटे शब्दों में बोलना
	दस्त पाक बूदन	हाथ का सच्चा होना

फारसी	हिन्दी
मौका बदस्त आवुरदन	मौका हाथ आना
अफवाह बे सरो पा	बेसिर-पैर की उड़ाना
बसीहत वजाहिल करदन	बन्दर की सीख देना
जंग जरगरी करदन	सुनारों की लड़ाई
बुखार दिल दर आवुरदन	दिल का बुखार निकालना
अज़ साया खुद तरसीदन	अपनी परछाईं से डरना
रोजिश सर आमदह	दिन गिनना
उम्र दो बारह गिरफ्तन	दूसरा जन्म होना
नक्श वर आव	पानी पर लिखना
लुक्का वर इस्म कसी बूदन	नाम पर कलंक लगाना
वरोज दादन	प्रकाश में लाना
आव दर दीदह नदारद	आँख का पानी मर जाना
गौहर दर गोश कशीदन	मोती पिरोना
रोगन अज़ संग मीकुशद	पत्थर से तेल निकालना, पत्थर में जोंक लगाना
दामन अफशान्दह वर्खीरस्तन	कपड़े झाड़कर चलना
दस्ते दरी कार दारद	सिद्धहस्त होना
आफताव दादन	धूप देना, दिखाना
बदयाँ गिरफ्तन	दाँत तले उँगली देना
बरसर आमदन	सिर पर चढ़ना

अरबी मुहावरे

अरबी	हिन्दी
वगैर हिसाब	असंख्य, बे हिसाब, बेहद
खिला मिला	हिला-मिला
हुक्मे शाह	राजाज्ञा
मुरादे दिल	मनोकामनाएँ
वाकिफे राज	रहस्य जानना
गोशमाली	कान मलना
मौतो जीस्त	मरना-जीना
यक कलम मौकूफ	एक कलम बरखास्त
कारे खैर	परोपकार का काम
खतमल्लाहो अली कलूबे हिम	दिल पर मुहर होना
रद कलील	अति सूक्ष्म, बहुत थोड़ा
इन्नी कुन्तु मिनज्जाल मीनह	मैं ही अन्धकार में हूँ
तव कुल अलल्लहा	ईश्वर पर भरोसा रखना
इन्नल्लाह अलीमुम्बे जातिस्सुदूर	दिल की बात जानना
गलतुल अव्वाम फसीह	महाजनो येन गतः स पन्थाः
फी अजाने हिम वकरा	कान में रूई ठूँसना
कुल नफ्स जायकुलमौन	मौत का मजा
हू-ब-हू	ज्यों-का-त्यों

यूरोप की विभिन्न भाषाओं, फ़ारसी और अरबी तथा उन्हींके समानार्थक हिन्दी में चलनेवाले मुहावरों की जो सूचियाँ हमने ऊपर दी हैं तथा इन सब विभिन्न भाषाओं के अन्य मुहावरों का अध्ययन करने से पता चलता है कि बहुत-से मुहावरे आज भी समान अर्थ में इन समस्त भाषाओं में चलते हैं। 'आँख की पुतली होना या समझना' हिन्दी का एक मुहावरा है। ठीक इसी अर्थ में अरबी और फ़ारसी दोनों में 'कुरहतुल ऐन' तथा फ्रेंच और अँगरेजी में क्रम से 'Aimer quelqu uncomme la prunelle de ses yeux' और 'to love some body like the apple of one's eye.' इन रूपों में इसका प्रयोग होता है। 'बहाव में वह जाने के लिए भी' फ्रेंच में 'Aufil de leau' तथा अँगरेजी में 'to go with the current' इन मुहावरों का प्रयोग होता है। हिन्दी का एक और मुहावरा मृत्यु-शय्या है, इसके लिए फारसी और अरबी में विस्तुरुल मर्ग तथा अँगरेजी में 'A dying couch' आते हैं। इसी प्रकार, फारसी का एक मुहावरा है 'दस्त कसी बदहन्श रसीदन' इसी अर्थ और ठीक इसी रूप में अँगरेजी में 'to live hand to mouth' ऐसा प्रयोग चलता है। खोजने पर इस प्रकार देश और विदेश की विभिन्न भाषाओं में चलनेवाले और भी कितने ही समानार्थक मुहावरे मिल सकते हैं। अब हम हिन्दी के कुछ ऐसे मुहावरे देते हैं, जो यूरोप की विभिन्न भाषाओं के साथ ही अरबी और फारसी में भी प्रायः उसी अर्थ में चलते हैं। 'हथियार डालना', 'मैदान मारना', 'झंडा नीचा करना', 'जड़ पकड़ना', 'सिर ऊँचा करना', 'सिर घूमना या फिरना', 'रोंगटे खड़े होना', 'नाक की सीध में जाना', 'आँखों में धूल झोंकना', 'कान बहरे करना', 'राल टपकना', 'मुँह में पानी आना', 'दाँत दिखाना', 'जबान पर होना', 'हाथ पैर जकड़ना', 'पर्दा डालना', 'नकाब उठाना', 'काल-यापन या वक्त काटना', 'अच्छे दिन होना', 'हवाई किले बनाना', 'मनादी करना' इत्यादि-इत्यादि मुहावरे प्रायः सभी उन्नत भाषाओं में मिलते हैं।

भारत की अन्य भाषाएँ भी यद्यपि रूप-विचार की दृष्टि से हिन्दी से भिन्न मालूम होती है, तथापि सब की सब एक ही मूल-भाषा संस्कृत की रूपान्तर होने के कारण एक दूसरे की छोटी-बड़ी बहनें हैं, शासक अथवा शासित नहीं। सबने एक ही माता संस्कृत का दुग्ध-पान किया और उसी की छत्रच्छाया में सबका पालन-पोषण हुआ है, अतएव एक ही मुहावरे के उनमें शब्द-योजना अथवा उनके रूपों की दृष्टि से अलग-अलग रूप होते हुए भी उन्हें न तो एक दूसरे का अनुवाद ही कह सकते हैं और न यही कह सकते हैं कि वे किसी एक भाषा के प्रभाव से दूसरी में आये हैं। 'लंगोटिया यार होना' हिन्दी का एक मुहावरा है, इसी का भोजपुरी में 'लंगोटिया इआर भइल' और मैथिली तथा मगही में क्रम से 'लंगोटिया इआर मेलाई और 'लंगोटिया इआर मेल' रूप होते हैं। इसी प्रकार के और भी बहुत-से उदाहरण मिल सकते हैं। श्रीउदयनारायण तिवारी ने भोजपुरी तथा बिहार की अन्य बोलियों के मुहावरों की तुलना करते हुए लिखा है, "मेरा तो खयाल है कि अन्य मागध भाषाओं, जैसे बँगला, उड़िया आदि में भी थोड़े बहुत परिवर्त्तन के साथ ये मुहावरे मिलेंगे। भोजपुरी का एक मुहावरा है, 'हरस दीरिघ के ज्ञान ना भइल, इसका प्रयोग है 'ओकरा हरस दीरिघ के ज्ञान नइखे'। बँगला में भी यह मुहावरा इसी रूप में मिलता है। इसका प्रयोग है, 'ताहार ह्रस्व दीर्घेर ज्ञान नाई।' तिवारीजी ने जो बात मागध भाषाओं के सम्बन्ध में कही है, वही व्रजभाषा, अवधी और खड़ीबोली तथा खड़ीबोली और मागध भाषाओं के संबंध में है। 'आँखि मुना गइल', 'आँखि के पुतरी भइले, 'ओठ चबाइल' इत्यादि भोजपुरी मुहावरों के ठीक अनुरूप 'आँख मुँद जाना', 'ऊबड-खाबड़ होना', 'ओठ चबाना' मुहावरे हिन्दी में चलते हैं। इसी प्रकार, व्रजभाषा और अवधी तथा खड़ीबोली के मुहावरों में भी कोई विशेष अन्तर नहीं होता। जो थोड़ा-बहुत अन्तर होता भी है, वह प्रान्तिक विशेषता के फल-स्वरूप होता है, एक दूसरे के अनुवाद अथवा और किसी प्रकार के प्रभाव के कारण नहीं। अन्य भाषाओं में इसलिए

केवल उन्हीं विदेशी भाषाओं को गिनना चाहिए, जिनका हिन्दी की मूल भाषा संस्कृत से कोई पारिवारिक सम्बन्ध नहीं है।

अँगरेजी, तथा फ्रेंच, लैटिन और ग्रीक इत्यादि यूरोप की अन्य भाषाओं तथा फारसी और अरबी के मुहावरों का जो विवेचन ऊपर किया गया है, उससे इतना तो स्पष्ट ही है कि हिन्दी पर इन सब भाषाओं का काफी प्रभाव पड़ा है। किसी-न-किसी रूप में विजेताओं की भाषा होने के कारण विजितों की भाषा पर, जैसा पीछे कहा गया है, इनका थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ना ही चाहिए था, उससे कोई इनकार नहीं कर सकता। इतना ही नहीं यदि भारतवर्ष का अपना साहित्य इतना समृद्ध, सुसंस्कृत और उत्कृष्ट न होता तो कदाचित् विदेशी शासन की जिन विध्वंसात्मक परिस्थितियों में होकर इसे गुजरना पड़ा है, इसके मुहावरों का तो क्या, कदाचित् भाषा का भी मुहावरा लोगों को न रहता। ऐसी स्थिति में यदि हिन्दुस्तानी भाषाओं में अरबी-फारसी या अँगरेजी मुहावरों की थोड़ी-बहुत झलक कहीं दिखाई पड़ जाये, तो हमें चौंकना नहीं चाहिए, और न जैसा पहिले भी हम सावधान कर चुके हैं, अपनी भाषा में अन्य भाषाओं के इन मुहावरों को इधर-उधर फैला हुआ देखकर हमें यही समझ बैठना चाहिए कि हमारे यहाँ मुहावरों का प्रादुर्भाव ही विदेशी भाषाओं के प्रताप से हुआ है। वास्तव में कौन प्रयोग किस भाषा का है और कब और कैसे किसी दूसरी भाषा में आया है, इसका पता चलाने के लिए एक विशेष प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता है। किसी मुहावरे में प्रयुक्त विदेशी शब्द या शब्दों को देखकर ही हम उस मुहावरे को विदेशी नहीं कह सकते; क्योंकि कितने ही ऐसे मुहावरे भी हमारे यहाँ प्रचलित हैं, जो अरबी, फारसी अथवा अँगरेजी के न तत्सम रूप हैं और न अनुवाद ही, बल्कि अरबी, फारसी या अँगरेजी और हिन्दी-शब्दों के सहयोग से स्वाभाविक रीति से उनकी उत्पत्ति हुई है। 'कलम चलाना', 'मौत सिर पर नाचना,' 'रोब गाँठना', 'हलक फाड़ना या चीरना', 'होश उड़ना' इत्यादि मुहावरों में 'कलम', 'मौत,' 'रोब,' 'हलक' और 'होश' अरबी और फारसी के शब्द हैं, किन्तु 'गाँठना', 'फाड़ना', 'उड़ना' इत्यादि हिन्दी-शब्द हैं। इसी प्रकार, 'ढिबरी टैट करना', 'मशीन की तरह काम करना', 'जेल काटना' इत्यादि मुहावरे अँगरेजी और हिन्दी-शब्दों के सहयोग से बने हुए स्वतंत्र प्रयोग हैं। हिन्दी में इस प्रकार के मुहावरे बहुत हैं, बोलचाल के आधार पर आवश्यकतानुसार बराबर इनकी उत्पत्ति होती रहती है। शब्दों के बाद अन्य भाषाओं से आये हुए मुहावरों को पहचानने का दूसरा साधन भावों की समानता है, किन्तु इसे भी मुहावरों की परख की सच्ची कसौटी नहीं समझना चाहिए; क्योंकि प्रायः प्रत्येक भाषा में उसके कुछ ऐसे स्वतंत्र मुहावरे रहते हैं, जो भावों की दृष्टि से एक दूसरे के अनुवाद-से जान पड़ते हैं।

शब्द और भावों के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में एक बात और भी ध्यान देने की है। कभी-कभी कुछ मुहावरे एक भाषा में अप्रचलित होकर दूसरी भाषा में चल पड़ते हैं और फिर कुछ दिनों के बाद पुनः उसी भाषा में आ जाते हैं। अँगरेजी के 'नीयर बाई' (near by) तथा 'टू हैव ए गुड टाइम' (to have a good time) इन मुहावरों के सम्बन्ध में स्मिथ लिखता है कि ये पहिले अँगरेजी के मुहावरे थे, जो इंगलैण्ड में अप्रचलित होकर अमेरिका में चल निकले और फिर उस देश से इंगलैण्ड में वापिस आये।[1] ऐसी दशा में उनके आविर्भाव का ठीक-ठीक पता चलाना कितना कठिन हो जाता है, यह इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है।

अन्य भाषाओं के प्रभाव के सम्बन्ध में एक बात और कहकर अब हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। हम जानते हैं कि निरर्थक शब्दों के लिए किसी भाषा में कोई स्थान नहीं होता। इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि किसी शब्द के अर्थ से ही, वह किस भाषा का है, इस बात का

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० २४६।

पता चलता है। उदाहरण के लिए सीधा-सीधा 'काम' शब्द लीजिए। हम हिन्दीवाले 'काम-वासना' इत्यादि के रूप में इसका अर्थ विषय-वासना करते हैं, फारसी के प्रभाव से इसी का 'कार्य' अर्थ हो जाता है। अँगरेजीवाले इन दोनों से भिन्न एक तीसरा ही अर्थ 'शान्त' करते हैं। संसार की अन्यान्य भाषाओं में न मालूम इसके और कितने विचित्र अर्थ होते होंगे। ऐसी स्थिति में जब तक किसी शब्द का किसी एक विशेष भाषा में चलनेवाला अर्थ उससे न लिया जाये, उसे उस भाषा का शब्द नहीं कह सकते। काम का 'शान्त' अर्थ होने पर ही हम उसे अँगरेजी-भाषा का शब्द कह सकते हैं, 'कार्य' अथवा 'काम-वासना' इत्यादि अर्थों में नहीं। अब इस दृष्टि से 'खसम का सिर', 'खसम करना', 'खसम की नानी' इत्यादि हिन्दी में चलनेवाले मुहावरों का विश्लेषण कीजिए। 'खसम' शब्द अरबी का बताया जाता है, किन्तु अरबी में इसका अर्थ शत्रु होता है। जबकि हिन्दी के इन मुहावरों में प्रयुक्त 'खसम'[1] शब्द का अर्थ पति अथवा प्राणनाथ और प्राण-प्रिय होता है। ऐसी स्थिति में हमारी समझ में नहीं आता कि क्यों नहीं इसे हिन्दी का ही एक देशज शब्द मान लिया जाता।[2] 'मुर्गा', 'मुर्गी' शब्द भी इस दृष्टि से अरबी-फारसी नहीं हैं। अतएव जिन मुहावरों में इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है, उन्हें तो ठेठ हिन्दी के मुहावरों में ही समझना चाहिए। शब्दों के साथ ही कुछ मुहावरे भी ऐसे हैं, जिनके हिन्दी और फारसी अर्थों में आकाश-पाताल का अन्तर है अथवा हो गया है, जैसे 'चलाक दस्त' का फारसी में टेढ़े-मेढ़े हाथ-वाला अर्थ होता है, किन्तु इससे मिलता-जुलता ही 'हाथ चलाक या हाथ चलक' होना, हिन्दी का एक मुहावरा है, जिसका प्रयोग प्रायः चोर के अर्थ में होता है। ऐसी दशा में 'हाथ चलाक या चलक' को 'चलाक दस्त' का अनुवाद मानना हमें तो हिन्दी के स्वतंत्र प्रयोगों के साथ जबरदस्ती करना ही लगता है। अतएव एक बार फिर हम यह निवेदन कर देना चाहते हैं कि हिन्दी-मुहावरों अथवा हिन्दी में आये हुए मुहावरों की राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय करने के पूर्व उनके देशी या विदेशी होने की बड़ी सावधानी से जाँच हो जानी चाहिए। केवल रूप-रंग अथवा भाव-साम्य इस बात का निर्णय करने के लिए काफी नहीं हैं।

---

१. कवि गंग ने तो इस शब्द का 'खसमाना' रूप बनाकर इसके विदेशीपन को बिलकुल ही दूर कर दिया है। वह लिखता है—

कहै कवि गंग हूल समुद के चहूँ फूल।
कियो न करत कबूल तिय खसमाना जू॥

२. परिशिष्ट 'अ' में इसपर अधिक प्रकाश डाला गया है।—ले०

छठा विचार

मुहावरों की मुख्य विशेषताएँ

विभक्ति और अव्ययों के विचित्र प्रयोग

अर्थ, भाव और ध्वनि तथा वाक्य-रचना एवं व्याकरण-सम्बन्धी अपनी भाषा की उन विशिष्ट विशेषताओं के सम्बन्ध में, जो व्याकरण अथवा तर्क के सर्वथा अनुकूल है, हमें बहुत थोड़ा कहना है। वास्तव में यह विषय बहुत बड़ा है, एक ग्रन्थ में इसके सब अंगों पर विचार ही करना पहिले तो असम्भव है, फिर इन सब अंगों पर विचार करने की अपने में योग्यता भी नहीं है! इस प्रसंग में विशेष ध्यान देने की बात यह है कि दूसरी भाषाओं की तरह हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी में भी विभक्तियों और अव्ययों का प्रयोग, खास तौर से विचित्र होता है। विभक्ति और अव्यय के प्रयोगों में जैसा प्रो० जैंसपरसन ने स्वयं बताया है, 'हरेक भाषा का कुछ-न-कुछ अपना अनोखा और अविहित रहस्य रहता है।' विभक्तियों के द्वारा जिस सम्बन्ध की सूचना दी जाती है, वह प्रायः इतना अनिश्चित और अस्थिर होता है कि साधारणतया 'को' और 'का' में किस विभक्ति का प्रयोग सही है और किसका गलत, कुछ पता नहीं चलता, किन्तु मुहावरे की दृष्टि से, जिसका स्वप्न में भी खयाल नहीं था, विचार करने पर 'का' की जगह 'को' रखने की अपनी भूल जब हिमालय बनकर सामने आती है, तो नीचे का दम नीचे और ऊपर का दम ऊपर रह जाता है। अँगरेजी का प्रभाव कहें अथवा अपना दुर्भाग्य, आज हमारे बहुत-से पत्रकार और लेखक साधारण विभक्तियों और कुछ विशिष्ट अव्ययों के प्रयोग में प्रायः ऐसी भूलें किया करते हैं। उदाहरण के तौर पर प्रत्येक विभक्ति के एक-एक दो-दो प्रयोग लेकर यहाँ विचार करेंगे।

'ने' का प्रयोग वर्त्तमान या भविष्यत् काल अथवा विधि-निषेध आदि में न होकर केवल सकर्मक क्रियाओं के भूतकाल में ही होना चाहिए। 'हमने वहाँ जाना है' अथवा 'मैंने बाला को पुस्तक देनी है' आदि प्रयोग बे-मुहावरा है। मुहावरे की दृष्टि से इन वाक्यों में 'हमने' की जगह 'हमें' और 'मैंने' की जगह 'मुझे' होना चाहिए।

हिन्दी के समस्त विभक्ति-चिह्नों और अव्ययों में 'को' का ही कदाचित् सबसे अधिक दुरुपयोग होता है! कहीं व्यर्थ में ही इसका प्रयोग होता है, तो कहीं कुछ लोग 'पर', 'का', 'से', 'के लिए', और 'के हाथ' आदि के स्थान में भी भूल से इसका प्रयोग कर जाते हैं। 'को' के इस बे-मुहावरा प्रयोग से वाक्य में भद्दापन तो आ ही जाता है, कभी-कभी लिंग-सम्बन्धी भूलें भी हो जाती हैं। 'उसने प्रार्थना-सभा में गोले को फेंका' इस वाक्य में 'को' फालतू ही नहीं है, बल्कि उससे वाक्य में बहुत-कुछ भद्दापन भी आ गया है। एक और वाक्य है 'पुस्तक को जहाँ से ली थी, वहीं रख दो।' इस वाक्य में को' ने भाषा को भद्दा तो कर ही दिया, साथ ही लिंगभेद की दृष्टि से अशुद्ध भी बना दिया। 'को' के उपरान्त 'लिया था' आना चाहिए, 'ली थी' नहीं। 'उसको', 'हमको', 'तुमको', 'तुझको', 'मुझको', आदि की जगह भी 'उसे', 'हमें', 'तुम्हें', 'तुझे', 'मुझे', आदि का प्रयोग करना अधिक बा-मुहावरा और सुसंगत है। अब हम 'को' या 'का', 'को लेकर', 'का' और 'के', 'का' या 'के', 'का' या 'पर', 'के अन्दर' या 'के बीच', 'के ऊपर' और 'पर', 'से', 'में', 'केवल', 'मात्र', 'भर' और 'ही', 'भी', 'सा', 'कर' तथा 'एकत्र' आदि अन्य विभक्ति-चिह्नों और कतिपय अव्ययों के एक-एक दो-दो बे-मुहावरा दृष्टान्त लेकर उनकी मीमांसा करेंगे।

'अरब लोग लड़की का गला घोंटकर मार डालते थे।' इस वाक्य में प्रयुक्त 'मार डालते थे' पद कान में पड़ते ही 'किसे' मार डालते थे, यह जानने की इच्छा होती है। 'किसे' के उत्तर में स्वभावतया 'लड़की को' आयगा। अतएव इसका बा-मुहावरा रूप 'अरब लोग लड़की को गला घोंटकर मार डालते थे' अथवा '...लड़की का गला घोंटकर उसे मार डालते थे' होना चाहिए।

'महात्मा गांधी साम्प्रदायिकता के प्रश्न को लेकर दुःखी थे' अथवा 'दिल्ली के झगड़े को लेकर उन्होंने उपवास आरम्भ किया था' इत्यादि वाक्यों में 'को लेकर' का बहुत ही भद्दा, निरर्थक और कहीं-कहीं भ्रामक प्रयोग हुआ है। श्रीयुक्त रामचन्द्र वर्मा इस सम्बन्ध में कहते हैं, 'हमारे यहाँ यह 'को लेकर' बहुत-कुछ बँगला की कृपा से और कुछ-कुछ मराठी की कृपा से आया है', हमारी समझ में तो यह अँगरेजी के 'Taking up the question' का ही अनुवाद है। कुछ भी हो, पर है यह सर्वथा त्याज्य। लेखकों को इससे बचना चाहिए।

'को' की तरह 'का' या 'के' का भी प्रायः लोग फालतू प्रयोग करते हैं। 'यह लड़का महा का पाजी है', 'वहाँ घमासान की लड़ाई हो रही है' तथा 'गाँधी-जयन्ती के मनाने में इस वर्ष काफी रुपया खर्च हुआ' आदि वाक्यों में 'का', 'की' और 'के' शब्द अनावश्यक हैं। अँगरेजी प्रभाव के कारण कुछ लोग 'बनारस का शहर' भी लिखने लगे हैं। कहीं-कहीं तो इस 'का' के नितान्त अशुद्ध और भ्रामक प्रयोग भी देखने में आते हैं। जैसे, 'श्रीमती सत्यवती देवी के प्रतिबन्ध हटे।' वास्तव में प्रतिबन्ध तो सत्यवती देवी पर से हटे हैं, किन्तु इस वाक्य का यह अर्थ होता या हो सकता है कि श्रीमती सत्यवती देवी ने जो प्रतिबन्ध लगाये थे, वे हटे।

कहीं-कहीं 'का' या 'के' क्या रखें, यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। 'गिर पड़ोगे, तो सिर एक के दो हो जायेंगे' तथा 'उनके यहाँ एक का चार हो रहा है', वाक्यों में मुहावरे की दृष्टि से क्रमशः 'सिर एक का दो हो जायगा' और 'एक के चार हो रहे हैं' होना चाहिए। कारण यह है कि सिर तो एक ही है और एक ही रहेगा। हाँ, टूटकर दो टुकड़े हो सकता है। पर, रुपया या धन चौगुना होता है। जहाँ एक रुपया होता है, वहाँ चार रुपये हो जाते हैं।

'किसी का उपकार करना' और 'किसी पर उपकार करना' दो सर्वथा अलग-अलग प्रयोग हैं। पहिले का अर्थ साधारण रूप से किसी की भलाई करना है और दूसरा एहसान या निहोरे का सूचक है। 'का' या 'पर', कहाँ किसकी आवश्यकता है, यह न जानने के कारण, इनके प्रायः बे-मुहावरा प्रयोग हो जाते हैं। जैसे, 'आपने अनेक ग्रन्थ लिखकर हिन्दी पर उपकार किया है' इस वाक्य में 'पर' बे-मुहावरा है, उसकी जगह 'का' होना चाहिए।

'के अन्दर' और 'के बीच' का भी हमारे यहाँ प्रायः बिलकुल निरर्थक और भद्दा प्रयोग होता है। 'मकान या सन्दूक के अन्दर' अथवा 'दाँतों के बीच' कहना तो बा-मुहावरा है। किन्तु 'आत्मा के अन्दर', 'पुस्तक के अन्दर' अथवा 'उपवास के अन्दर' तथा 'हिन्दुओं के बीच', 'वार्त्ता के बीच', 'लाड़-प्यार के बीच' और 'हमलोगों के बीच' इत्यादि प्रयोग बिलकुल बे-मुहावरा और भद्दे हैं। इस प्रकार के बे-मुहावरा प्रयोगों से कहीं-कहीं तो सारा वाक्य ही भ्रामक बन जाता है। जैसे 'तालाब के अन्दर छोटा-सा शिवालय था' इस वाक्य का यह भी आशय हो सकता है कि पानी सूख जाने पर यों ही अथवा कुछ खुदाई इत्यादि होने पर पता चला कि उसके अन्दर एक पुराना शिवालय भी था, इसलिए 'तालाब में छोटा-सा शिवालय था' कहना ही ठीक है।

'के ऊपर' और 'पर' के अन्तर को भूलकर इन दोनों का भी लोग प्रायः अदल-बदलकर प्रयोग कर देते हैं। 'उसकी पीठ पर कोड़े लगे', कहना तो बा-मुहावरा है, किन्तु 'उसकी पीठ के

ऊपर कोड़े लगे', 'कहना नहीं गुरु के ऊपर भक्ति रखना', 'किसी के ऊपर अभियोग लगाना', 'देर से आने पर क्षमाप्रार्थी होना' तथा 'गाँव पर सर्पों का प्रकोप होना' इत्यादि प्रयोग बे-मुहावरा और भद्दे हैं।

प्रायः 'में', पर' अथवा 'बाद' की जगह असावधानता के कारण लोग 'से' का प्रयोग कर जाते हैं। और 'से' की जगह 'में' इत्यादि रख जाते हैं। जैसे, 'वह और काम से (में चाहिए) लगेगा', वह इस कीमत से (पर चाहिए) नहीं मिल सकता', 'फिर कुछ देर से (बाद चाहिए) उसने कहा', 'उनकी योग्यता हर काम में (से चाहिए) प्रकट होती है। सर्वनामों के प्रसंग में इस प्रकार की भूलें और भी अधिक देखी जाती हैं। 'तुम मुझे प्रेम करना न छोड़ो', इस वाक्य में मुझे की जगह 'मुझसे' होना चाहिए। 'से' के भ्रामक प्रयोग भी होते हैं। जैसे, 'देखने से पहिले जान पड़ता है कि यह कचनार ही है।' इसका 'देखने से पहिले' पद बहुत ही भ्रामक है। होना चाहिए 'पहिले देखने पर ...'।

'में' जैसी साधारण विभक्ति के भी बे-मुहावरा प्रयोग देखने में आते हैं। बँगला में 'निज' के स्थान में 'निजे' बोला जाता है, उसके प्रभाव से हिन्दी में भी कुछ लोग 'निज में' का प्रयोग करने लगे हैं। 'नाजायज़ शराब में गिरफ्तारी', 'सड़क में भारी भीड़ लगी थी', 'बाला गाड़ी में कालिज जाती है', 'उन्होंने गुरु के चरणों में सिर रख दिया' आदि वाक्यों में 'में' का बे-मुहावरा प्रयोग होने के कारण भद्दापन और भ्रामकता आ गई है।

'केवल', 'मात्र' और 'भर' बहुत-कुछ समानार्थक शब्द है, और 'ही' भी प्रायः 'केवल' अथवा 'मात्र' जैसा ही भाव सूचित करता है। जैसे—'केवल कह देना काफी है' को 'कह देना मात्र' या 'कह देना भर' या 'कह-देना ही काफी है' किसी प्रकार भी लिख सकते हैं। अतएव इनमें से कोई दो शब्दों का साथ-साथ लाना ठीक नहीं है। 'शब्द केवल संकेतमात्र होते हैं।' इस वाक्य में 'केवल' और 'मात्र' दोनों के होने से कोई विशेष जोर नहीं पड़ता। इनका बे-मुहावरा प्रयोग करने से वाक्यों में भद्दापन तो आ ही जाता है, वे भ्रामक भी बन जाते हैं।

'का', 'को' और 'ही' की तरह 'भी' के प्रयोग पर भी विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। 'भी' का प्रयोग प्रायः किसी बात के प्रति कुछ उपेक्षा और किसी व्यक्ति के प्रति आग्रह दिखाने के लिए भी होता है। जैसे 'कुछ देर बैठिए भी', 'चलो जाने भी दो' इत्यादि। आज जिस प्रकार और अव्ययों के साथ अन्धाधुन्धी चल रही है, इसका भी अनेक अवसरों पर अनावश्यक रूप से व्यर्थ ही भद्दा और बे-मुहावरा प्रयोग किया जाता। 'किसी भी', 'कोई भी', 'कहाँ भी', 'कहीं भी', 'किन्हीं भी', 'जो भी', 'जितना भी' आदि में केवल 'किसी', 'कोई' और 'कहाँ' इत्यादि से ही ठीक अर्थ निकलता है। उनमें 'भी' जोड़ने से वाक्य भद्दा हो जाता है।

'सा' (अव्यय) प्रायः दो अर्थों में प्रयुक्त होता है, 'सादृश्य' के अर्थ में और दूसरे 'मान' या 'परिमाण' के अर्थ में। जैसे—'काला-सा होना', 'थोड़ा-सा दूध' इत्यादि। अब इसके कुछ बे-मुहावरा प्रयोग देखिए—'मुझे तुम अपना छोटा-सा भाई समझो', बहुत-से दिन बीत गये' लेखक का आशय वास्तव में 'अपने छोटे भाई के सदृश समझो' और 'बहुत दिन बीत गये', कहने का है। 'छोटा' के साथ 'सा' जोड़ने से सारा अर्थ ही बदल जाता है। 'बहुत' और 'बहुत-सा' में भी बहुत अन्तर है। कुछ लोग 'सा' की जगह 'सारा' या 'सारे' का भी प्रयोग करते हैं। जैसे--'बहुत सारे चोर', 'बहुत सारा पानी', ये स्थानिक प्रयोग हैं। लिखने में इनका उपयोग न करना ही ठीक है।

'कर' के भी कुछ क्रियाओं के साथ विलक्षण और भद्दे प्रयोग मिलते हैं। 'होकर' और 'लगाकर' ऐसे ही प्रयोग हैं। कुछ लोग 'लेकर' की जगह 'लगाकर' लिखते हैं। वास्तव में ये

सब अँगरेजी की छाया हैं। 'वह उसे हास्यकर होकर तनिक भी न लगा' तथा 'काश्मीर से लगाकर कन्याकुमारी तक' इसी प्रकार के बे-मुहावरा प्रयोगों के नमूने हैं।

संस्कृत का 'एकत्र' शब्द वास्तव में अव्यय है, किन्तु हिन्दी में उसका व्यवहार विशेषण के समान होता है। हिन्दीवालों ने उसका रूप भी 'एकत्र' से 'एकत्रित' कर दिया है। जिसे देखिए वह 'एकत्रित' ही लिखता दिखाई पड़ता है। व्याकरण की दृष्टि से यह अशुद्ध अवश्य है, किन्तु फिर भी, चूँकि अधिकांश लोगों के मुहावरे में आ गया है, इसलिए इसे छोड़ने की सलाह हम नहीं देंगे।

विभक्ति-चिह्नों और अव्ययों की तरह विशेषणों और क्रिया-विशेषणों के भी आजकल काफी बे-मुहावरा प्रयोग होते हैं। प्रयोग और प्रथा की बात है कि विशेषणों के साथ दूसरे फालतू विशेषण या क्रिया-विशेषण नहीं लगाने चाहिए। 'गुप्त रहस्य', 'घोर घमासान', 'बहुत काफी', 'पुरानी परम्परा', 'परम उत्तम' आदि प्रयोगों में 'रहस्य', 'घमासान' और 'परम्परा' इत्यादि में किसी अन्य विशेषण की आवश्यकता नहीं है। वे स्वयं यथेष्ट हैं। इसी प्रकार, 'दर असल', 'असल में' या 'वास्तव में' तो मुहावरेदार प्रयोग हैं, किन्तु 'दर असल' में एक और 'में' जोड़कर 'दर असल में' बोलना निहायत भद्दा और बे-मुहावरा है। कहने का अभिप्राय यह है कि विशेषणों और क्रिया-विशेषणों के प्रयोग में भी मुहावरेदारी का ध्यान रखना आवश्यक है। हिन्दी की प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार उसके विशेषणों और क्रिया-विशेषणों के मुहावरेदार प्रयोगों का यदि कोई कोष बन जाये, तो हमें आशा है, इनके प्रयोगों में चलनेवाली अन्धाधुन्धी और मनमानी मिटकर अँगरेजी की तरह इनके रूप और प्रयोग स्थिर हो जायेंगे।

किसी भाषा के मुहावरों की विशेषता उनकी विशिष्ट शब्द-योजना और अर्थ की विलक्षणता के अतिरिक्त संगति और भाव के विचार से वाक्य या वाक्यों में उनकी स्थिति पर भी निर्भर रहती है। जिस प्रकार सुन्दर-से-सुन्दर फूल भी यथाक्रम और यथास्थान न होने से सारे गुलदस्ते की शोभा को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार सुन्दर-से-सुन्दर मुहावरा भी सुप्रयुक्त न होने से पूरे वाक्य को भद्दा और दोषयुक्त कर देता है। इस प्रकार के अनियमित वाक्य-विन्यास के कारण भाषा में अस्पष्टता, शिथिलता, जटिलता, भ्रामकता और अर्थहीनता आदि कितने ही दोष आ जाते हैं। संक्षेप में, मुहावरे की मुख्य विशेषता संगीत और भाव के विचार से भाषा में उसके उपयुक्त स्थान और अविरल प्रवाह में है। एक वाक्य अथवा वाक्यांश की, अर्थ की दृष्टि से दूसरे वाक्य या वाक्यांश के साथ पूरी संगति बैठनी चाहिए। 'बाल-बाल बिंधा होना', हिन्दी का एक मुहावरा है। प्रायः लोग कहा करते हैं, 'कर्ज से उसका बाल-बाल बिंधा हुआ है' यदि इस वाक्य में कर्ज के स्थान में सम्पत्ति रखकर 'सम्पत्ति से उसका बाल-बाल बिंधा हुआ है' ऐसा कहें, तो न तो मुहावरे में कोई परिवर्तन होता है और न वाक्य में ही व्याकरण-सम्बन्धी कोई दोष आता है, किन्तु फिर भी पहिला जितना श्रुति-प्रिय है, दूसरा उतना ही कर्ण-कटु मालूम होता है। हिन्दी की तरह दूसरी भाषाओं में भी मुहावरों के इस प्रकार के अनिर्वहित प्रयोगों की कमी नहीं है। कारण यह है कि मुहावरों की शब्द-योजना पर तो लोगों ने काफी विचार किया है, किन्तु उनकी सुप्रयुक्तता की ओर अभी लोगों का उतना ध्यान नहीं गया है। सुप्रयोग केवल उन्हीं प्रयोगों को कहा जा सकता है, जो जिस प्रसंग में भी आये हों, ऐसा लगे, मानों उसी प्रसंग विशेष के लिए खास तौर से उनकी रचना हुई है। वास्तव में कोई वाक्य सुन्दर भी तब ही लगता है, जब आदि से अन्त तक उसके सब शब्द और मुहावरे एक ही मेल के हों। मुहावरों की भंसाल भरने से भाषा में सौन्दर्य नहीं आता। सच्चा सौन्दर्य तो अर्थ-संगति की दृष्टि से, उपयुक्त स्थान और क्रम के अनुसार भाषा में उन्हें गूँथने पर आता है।

प्रयोग-सम्बन्धी विशेषता की ओर संकेत करने के उपरान्त अब हम शब्द-योजना और शब्दार्थ की दृष्टि से मुहावरों की निम्नांकित मुख्य-मुख्य विशेषताओं का अति संक्षेप में अलग-अलग विवेचन करेंगे। अँगरेजी की तरह हिन्दी-मुहावरों में भी एक बहुत बड़ी संख्या ऐसे प्रयोगों की है जिनमें—

१. प्रायः स्वभाव से ही एक-शब्द साथ-साथ दो बार अथवा दो शब्द सदैव साथ-साथ आते हैं।

२. रचना और अर्थ-पूर्त्ति के लिए जिन शब्दों का होना आवश्यक था, उनका अभाव अथवा लोप रहता है। लाघव अथवा शब्द-लोप।

३. प्रायः बहुत-से अप्रचलित शब्द तथा बहुत-से शब्दों के अप्रचलित अर्थ, भी सुरक्षित रहते हैं। अप्रचलित शब्दों का प्रयोग।

४. दो निरर्थक शब्द एक साथ मिलकर ऐसा अर्थ देने लगते हैं, जो सबके लिए सरल और बोधगम्य होता है। निरर्थकता में सार्थकता।

५. प्रायः उपलक्षित अथवा अलंकार-युक्त पद रहते हैं, जो बहुत-कुछ पारदर्शी होते हैं। उपलक्षित अथवा अलंकार-युक्त मुहावरे।

६. प्रायः प्रत्येक शब्द अपने से भिन्न किसी भी दूसरे शब्द-भेद के स्थान में प्रयुक्त होकर उसका काम कर लेता है। एक शब्द का विभिन्न शब्द-भेदों में प्रयोग।

७. व्याकरण और तर्क आदि के नियमों का पालन नहीं होता। मुहावरों की विद्रोही प्रकृति।

शब्द-योजना और शब्दार्थ की दृष्टि से मुहावरों की जिन ७ विशेषताओं की ओर अभी हमने संकेत किया है, उन्हें ७ हजार का मूल बिन्दु मानकर ही हम उनकी चर्चा कर रहे हैं। मुहावरों की विशेषताओं पर इस पुस्तक के सीमित क्षेत्र में इससे अधिक लिखना सम्भव ही नहीं है। स्वतन्त्र रूप से इस पर विचार करनेवाले विद्वानों को सचमुच ७ नहीं, ७ हजार विशेषताएँ इनमें मिल जायेंगी। हम तो वास्तव में इस प्रकार के कार्य की नींव डाल रहे हैं। देश और काल के अनुसार उपयोगी एवं सुन्दर भवन तो हमारे बाद काम करनेवाले साहित्यिक और कलाकार ही खड़ा करेंगे।

स्वाभाविक पुनरुक्ति और सह-प्रयोग

अब हम सबसे पहिले उस वर्ग के मुहावरों को लेते हैं, जिनमें किसी बात को विशेष जोर देकर कहने के लिए एक ही शब्द साथ-साथ दो बार आता है अथवा दो शब्द स्वभावतया सदैव साथ-साथ प्रयुक्त होते हैं।[1] इस वर्ग के भी इस प्रकार दो उपवर्ग बन जाते हैं—१. जिनमें एक ही शब्द दो बार आता है और २. जिनमें दो विभिन्न शब्द एक साथ आते हैं। इन दो शब्दों की भिन्नता भी दो प्रकार की होगी—१. अर्थ की दृष्टि से दोनों समान हों, जैसे 'दिन-दहाड़े' में दिन और दहाड़ा दोनों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं, किन्तु फिर भी अलग-अलग हैं। २. अर्थ की दृष्टि से भी दोनों भिन्न हों। अर्थ की दृष्टि से भिन्नता कई प्रकार की होती है, किन्तु हम उसके केवल दो ही पक्षों पर विचार करेंगे। १. जब वे एक दूसरे के विलोमार्थी होते हैं। २. जब एक दूसरे के समान अर्थ से परे कोई भिन्न अर्थ देते हैं। पहिले वर्ग के मुहावरों को इस प्रकार संक्षेप में तीन उपवर्गों में बाँटा जा सकता है—१. द्विरुक्तियाँ, अर्थात् जहाँ एक ही शब्द साथ-साथ दो बार आता है। २. जहाँ दो भिन्न शब्द समानार्थ में साथ-साथ आते हैं। ३. जहाँ दो विलोमार्थी शब्द साथ-साथ आते हैं। अब हम इनमें से प्रत्येक की प्रकृति-प्रवृत्ति पर कुछ प्रकाश डालकर उदाहरणस्वरूप हरेक प्रसंग के कुछ मुहावरे देंगे।

हम जो कुछ कहना चाहते हैं उसकी गम्भीरता और गौरव को बढ़ाने के लिए ही प्रायः एक शब्द का साथ-साथ दो बार प्रयोग करते हैं। काल के अन्तर को घटाकर बिलकुल नगण्य करने

---

१. देखिए परिशिष्ट 'आ'।

अथवा बढ़ाकर नित्यता की सीमा तक पहुँचाने अथवा ध्रुवता और समग्रता के भाव व्यक्त करने में इस प्रकार के प्रयोगों से बहुत अधिक सहायता मिलती है। उदाहरण के तौर पर 'अभी' और 'अभी-अभी' दोनों प्रयोगों के अन्तर पर विचार कीजिए। 'अभी' में यद्यपि काल का अन्तर बहुत ही सूक्ष्म है, किन्तु फिर भी सन्देह का स्थान रह जाता है। जैसे, 'बाला अभी गई है', इस वाक्य का अर्थ कोई भी साधारण व्यक्ति यही करेगा कि उसे गये बहुत देर नहीं हुई है। लेकिन, अगर कहा जाय 'बाला अभी-अभी गई है', तो इसका अर्थ होगा, उसे गये बिलकुल भी देर नहीं हुई। इसी प्रकार 'घड़ी-घड़ी' अथवा 'रोज-रोज' आदि मुहावरों से ध्रुवता या स्थिरता की, 'खड़े-खड़े' या 'पड़े-पड़े' से निरन्तरता की और 'चूर-चूर' या 'खील-खील' इत्यादि से समग्रता की सूचना मिलती है। इस प्रकार की द्विरुक्तियों में बहुत-से प्रयोग ऐसे भी मिलते हैं, जहाँ एक ही शब्द की तद्वत् पुनरावृत्ति न होकर उसके किंचित् विकृत रूप के साथ उसका संयोग होता है। जैसे, 'बैठे-बिठाये', 'हँसते-हँसते' इत्यादि। यदि और भी सूक्ष्म दृष्टि से इनका विश्लेषण किया जाय, तो हमें विश्वास है और भी कितने ही भेद-प्रभेद इनके हो जायेंगे। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ इस प्रकार के मुहावरों के यथेष्ट उदाहरण देकर तुरन्त आगे बढ़ जायेंगे। उदाहरणों को हमने यथाशक्ति अकारादि क्रम से रखने का प्रयत्न किया है। देखिए—

अकेले-अकेले, अच्छा-अच्छा, अलग-अलग, आगे-आगे, आढ़-आढ़ करना (टाल-मटोल), आमीं-आमीं करनेवाला (खुशामदी), आहिस्ता-आहिस्ता, ऐसे-ऐसे, और-और, करते-करते तो करेंगे, कूद-कूदकर, खंड-खंड करना, खड़े-खड़े, ख़ास-ख़ास, गले-गले पानी में, गोल-गोल, घड़ी-घड़ी, घुल-घुलकर (मरना), चबड़-चबड़ करना ×, चूल-चूल हिलना, चोरी-चोरी, छोटे-छोटे, जगह-जगह, जनम-जनम, जब-जब, जैसे-जैसे, झुक-झुक पड़ना, टर-टर फिस होना ×, टर-टर करना ×, टाँय-टाँय फिस होना ×, ठाँय-ठाँय (मारना), डौल-डौल, ढूँढ़-ढूँढ़कर (मारना) ताक-ताक कर, तिल-तिल, तोबा-तोबा, थोड़-थोड़ा, दिल्लगी-दिल्लगी में, दौड़े-दौड़े फिरना, धू-धू अथवा धुआ-धू करना ×, नित-नित, नेती-नेती ×, पास-पास, पैसा-पैसा करके, पोरी-पोरी में या करना, फरक-फरक होना, फिर-फिरकर, बन-बनकर, बातों-बातों में, बाग़-बाग़ होना ×, बाल-बाल बचना ×, बाहर-बाहर (जाना), बैठते-बैठते, बोलते-बोलते मरना, भाँति-भाँति के ×, मजाक-मजाक में, मजे-मजे में, यारी-यारी में, राजी-राजी, रास्ते-रास्ते, रुच-रुच, रो-रोकर, लियो-लियो करना, लौट-लौटकर, वाह-वाह होना ×, शनैः-शनैः ×, साथ-साथ, सीधे-सीधे, सुनते-सुनते, सुखी-सुखी सुनाना, हा हा हा हा होना, हाँजो-हाँजी करना ×, हियाव-हियाव करना ×, ही-ही करना, हौले-हौले।

उदाहरण-स्वरूप इस प्रकार के (द्विरुक्तियाँ) जो थोड़े-बहुत मुहावरे ऊपर दिये गये हैं, उनका अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि एक ही शब्द जहाँ कभी-कभी एक विशेष अर्थ के लिए दो बार साथ-साथ रखा जाता है, वहाँ 'चबड़-चबड़ करना, 'टाँय-टाँय करना' इत्यादि (ऐसे प्रयोगों पर × इस प्रकार का चिह्न लगा है) ऐसे भी काफी प्रयोग हैं, जिनमें प्रयुक्त शब्द अकेले कभी आते ही नहीं। 'हा हा हा हा होना', 'दुर-दुर फिर-फिर होना', 'घे-घें पें-पें करना' अथवा 'हाँजी-हाँजी करना' इत्यादि कुछ ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं, जिनमें एक शब्द के बजाय एक पद की पुनरावृत्ति होती है।

अब ऐसी द्विरुक्तियों के कुछ नमूने देखिए, जिनमें एक ही शब्द अपने किसी विकृत रूप के साथ प्रयुक्त होता है। इन प्रयोगों में दूसरा शब्द पहिले शब्द का ही कोई विकृत सार्थक अथवा निरर्थक रूप होता है। जैसे 'घूम-घुमाकर' पद में घूम और घुमा दोनों एक ही धातु के विकृत (अकर्मक और सकर्मक) सार्थक रूप हैं, किन्तु 'टटोला-टटाली' अथवा 'देखा-दाखी' में 'टटाली' और 'दाखी' दोनों का स्वतन्त्र कोई अर्थ नहीं है, इस प्रकार के कुछ और उदाहरण आगे देते हैं।

आधो-आध, आधम-आधा, कसमा-कसमी होना, खड़ा-खड़ी में, खींच-खाँच होना, खींचा-खाँची करना, खुल्लम-खुल्ला (कहना), गाँव-गँवई, गूँथ-गाँथकर, घूमते-घामते, घोटना-घाटना, घोल-घालकर, घोटम-घोट होना, चकाचक होना, चँ-चरा न करना, छान-छून कर, झोंटा-झोंटी होना, टटोला-टटोली करना, टाल-टूल करना, ठेला-ठाली करना, देखा-देखी होना या करना, धींगा-धींगी करना, धींग-धागकर, नौत-नातकर, पकी-पकाई मिलना, पढ़ा-पढ़ाया, पीस-पासकर, पूरम-पूर होना, फैल-फालकर, बिगड़ा-बिगड़ी होना, भोला-भाला होना, मसमसा जाना, मुसे-मुसाये, मुँहा-मुँही होना, लथेड़ा-लथेड़ी होना, लहूलुहान होना, लीप-लापकर रख देना, लूट-लाट लेना, लुढ़कते-लुढ़काते पार होना, सुनी-सुनाई बात, सँघ-साँघ रखना, सूद-साद लगना।

दो समानार्थक अथवा समानध्वनि और भाववाले शब्दों के संयोग द्वारा बने हुए मुहावरों अथवा मुहावरेदार प्रयोगों की भी हमारी भाषा में कमी नहीं है। समग्रता के भाव व्यक्त करने में इनसे भी बड़ी सहायता मिलती है। थोड़े-से शब्दों में बड़ी गम्भीरता और गौरव के साथ पूरे भाव को व्यक्त करने की इनमें अद्भुत शक्ति होती है। इनके कुछ उदाहरण नीचे देते है। देखिए—

आँख-दीदे से डरना, आँचल-पल्लू, काठ-कबाड़, कोने-विचाले में, गया-गुजरा, गाँव-गिराँव गँवाँर-गरदस, गोल-चकोर, चोरी-छिप्पा से, चुरा-छिपा कर, दिन-दहाड़े या दिहाड़े, दिन-धौले, मरनी-खपनी, माल-मत्ता या मताल, नाह-नूह करना, राह-रास्ते पर लाना, रेल-पेल होना, रोक-टोक रखना, रोक-थाम करना, लुकते-छिपते फिरना, लाल सुर्ख होना, शरम-लिहाज न होना, संग-साथ में, सीधा-सादा।

फुटकर प्रयोग—

कील-काँटा उखाड़ना, बोरिया-बिस्तरा बाँधना, ईंट-गारे का काम, हड्डी-पसली तोड़ना, औने-पौने करना, भून-भुलसकर रख देना, भूल-चूक होना, जला-भुना होना, ताम-झाम उठाकर भागना, चीर-बत्ती करना।

समानार्थी शब्दों के उपरान्त अब हम दो विलोमार्थी अथवा वैकल्पिक शब्दों के योग से बने हुए मुहावरों का विवेचन करेंगे। दो विलोमार्थी शब्दों का एक साथ प्रयोग प्रायः जीवन की विभिन्न परिस्थितियों अथवा विरोधी अवस्थाओं पर खूब अच्छी तरह से विचार करके कुछ निर्णय करने के भाव को व्यक्त करने या किसी गुण या संख्या की अनिश्चितता बताने अथवा प्रत्येक अवस्था में ऐसा भाव व्यक्त करनेवाले संयुक्त पद बनाने के लिए ही विशेष रूप से होता है। 'नीच-ऊँच देखना' या 'आगा-पीछा सोचना' इत्यादि इस प्रकार के मुहावरों का मुख्य उद्देश्य ही अच्छी और बुरी सब प्रकार की परिस्थितियों से मनुष्य को आगाह कर देना है। जिस समय हम कोई नया काम आरम्भ करते हैं, तब हमारे वयोवृद्ध सम्बन्धी, गुरुजन और मित्र सबसे पहिले यही पूछते हैं कि क्या खूब 'नफा-नुक्सान' सोचकर हम यह काम आरम्भ कर रहे हैं। इस छोटे से पद में वास्तव में उनकी पूरी शिक्षा का सार निहित रहता है। वे चाहते हैं कि हम किसी भी नये काम को छेड़ने से पूर्व तत्सम्बन्धी अ से लेकर ह तक सब बातों का अध्ययन करने के उपरान्त यदि यह समझें कि अमुक काम हम सफलतापूर्वक कर सकते हैं अथवा उसके करने से हमें लाभ होगा, तब उसे आरम्भ करें। 'आगा- पीछा', 'कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य' तथा 'खाद्य-अखाद्य' इत्यादि इस प्रकार के सभी प्रयोगों में परिस्थिति की विचित्रता से मनुष्य को सावधान करना मुख्य उद्देश्य रहता है। इसी प्रकार 'थोड़ा-बहुत', 'देर-सबेर', 'कच्चा-पक्का' अथवा 'बुरा-भला' इत्यादि प्रयोगों से गुण अथवा संख्या की अनिश्चितता स्पष्ट हो जाती है। 'थोड़ा-बहुत' से 'कुछ है' इतना तो मालूम हो जाता है, किन्तु वह 'कुछ' कितना बड़ा अथवा कितना छोटा है, इसका कोई निश्चित परिमाण नहीं मालूम होता। 'देर सबेर जब चाहो, आ जाया करो' इस वाक्य में किसी नियत समय से पहिले या बाद में जब सुविधा हो, आ जाने को कहा गया है। यहाँ 'पहिले' या 'बाद' में

यह तो अनिश्चित है ही, कितना पहिले अथवा कितना बाद में, यह भी अनिश्चित है। 'कच्चा-पक्का' अथवा 'बुरा-भला' या 'खट्टा मीठा' इत्यादि प्रयोगों में कच्चा है या पक्का, बुरा है या भला, खट्टा है या मीठा कोई भी निश्चित रूप से नहीं बतला सकता कि प्रयोगकर्त्ता का संकेत किस गुण-विशेष की ओर है। कभी-कभी 'सोते-जागते' अथवा 'उठते-बैठते' इत्यादि मुहावरों का प्रयोग 'सोते और जागते' तथा 'उठते और बैठते', अर्थात् प्रत्येक अवस्था में, ऐसे अर्थ में होता है। इस वर्ग के मुहावरे आपस में इतने मिलते-जुलते होते हैं कि अलग-अलग पदों को देखने से सरलतापूर्वक उनका भेद मालूम नहीं होता। प्रयोगकर्त्ता के मुँह से सुनकर अथवा प्रसंग-ज्ञान के आधार पर ही उनके तात्पर्यार्थ का ज्ञान होता है। ऊपर जो कुछ बताया गया है उसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए इस वर्ग के मुहावरों की एक सूची नीचे देते हैं—

अनाप-सनाप बकना, अथ से इति तक, अकेले-दुकेले, अमीर-गरीब, अपना-पराया, अपना-बिराना, आगे-पीछे, आगा-पीछा, आता-जाता, (कुछ नहीं) आते-जाते (किसी को) आये-गये होना, आया-गया, इधर-उधर करना, उठना-बैठना, उठ-बैठ होना, उठाना-धरना, उठाई-धरी का काम, उठते-बैठते, उठा रखना या छोड़ना, उलट-सुलट करना, उलटी-सीधी जड़ना, (सुनाना, सुनवाना, सुनना,) उलझना-सुलझना, उल्ला-पल्ला करना, ऊपर-नीचे करना, ऊँचे-नीचे में पाँव पड़ना, ऊँच-नीच होना, कहन-सुनन हो जाना, कहना-सुनना, कह-सुनकर, कुछ एक, खट्टा-मीठा खाना, खट्टे-मीठे दिन होना, खरी-खोटी कहना, सुनना या सुनाना, खरा-खोटा परखना, खोल भेदकर देखना, गर्मी-सर्दी सहना, जाना-आना, झूठ-सच कहना, टेढ़ी-सीधी सुनाना, ठहर जाना, तले-ऊपर होना या करना, दाहिने-बायें, दायें-बायें, दुःख-सुख में, नरम-गरम उठाना, निगोड़ा-नाथा होना, नेकी-बदी, बहुत-कुछ, बैठते-उठते, बिन आई में आना, मान-अपमान सहना, मेले-ठेले में, यदा-कदा, रात-दिन, लेने के देने पड़ना, सख्त-सुस्त सहना, स्याह-सफेद करना, सुबह-शाम, सुनी-अनसुनी, हल्का-भारी करना।

वैकल्पिक अथवा विलोमार्थी शब्दों से बने हुए कुछ ऐसे प्रयोग भी हमारी भाषा में मिलते हैं, जिनके द्वारा दो विरोधी पक्षों अथवा अवस्थाओं का ज्ञान कराके किसी एक के ग्रहण की ओर संकेत होता है अथवा किसी एक की निश्चितता प्रकट की जाती है। सन् १९४२ ई० में अगस्त की महान् क्रान्ति के अवसर पर हमारे राष्ट्र अथवा समस्त संसार के महान् सेनानी श्रद्धेय महात्मा गांधी ने इसी प्रकार का एक मुहावरा-मंत्र 'करो या मरो' भारत की पददलित, पीड़ित और पराधीन जनता को दिया था। महात्मा गांधी का वह प्रयोग आज हमारे साहित्य का महा-वाक्य और हमारे राष्ट्रीय जीवन को उद्बुद्ध करनेवाला महा-मंत्र होकर हमारे मुहावरे में आ रहा है। इस पद के द्वारा महात्मा गांधी ने लोगों को गुलामी से छूटने के दो ही रास्ते बताये थे—करना या मरना। सचमुच वह समय हमारे लिए घोर संकट का समय था। यदि उस समय हमने महात्मा गांधी की उस परम सामयिक शिक्षा को मानकर प्राण-पन से स्वातन्त्र्य-युद्ध में योग न दिया होता तो हम कहीं के न रहते, मर जाते। संक्षेप में, 'इधर या उधर', 'जीत या मौत' तथा 'हार या जीत' इत्यादि इस प्रकार के अन्य सभी मुहावरों अथवा मुहावरेदार प्रयोगों में प्रयोग-कर्त्ता का उद्देश्य इधर रहेंगे या इधर जाना पड़ेगा, हारेंगे या जीतेंगे इत्यादि इस प्रकार के मानसिक द्वन्द्व को समाप्त करके क्या होगा, इधर रहेंगे या उधर अथवा हारेंगे या जीतेंगे, इस सबकी चिन्ता छोड़कर काम में लग जाने की ओर संकेत करना रहता है। कभी-कभी किसी कार्य में लगे हुए व्यक्तियों को अन्त तक बहादुरी से उसमें लगे रहने के लिए प्रोत्साहन देने को भी ऐसे मुहावरे काम में लाये जाते हैं। 'करो या मरो' तथा 'जीत या मौत' इत्यादि में, अपने को स्वतन्त्र करेंगे, नहीं तो मर जायेंगे अथवा युद्ध में या तो शत्रु को परास्त करके विजयी होंगे अथवा मर जायेंगे, किन्तु पीठ दिखाकर भागेंगे नहीं, अर्थात् इन दो के अतिरिक्त कोई तीसरा मार्ग नहीं ग्रहण करेंगे, इस भाव की प्रधानता रहती है।

'पास हो या फेल', 'मरे या जीये', 'इस पार या उस पार', 'नफा हो या नुक्सान', 'चित्त या पट्ट', 'लगा तो तीर, नहीं तो तुक्का', 'जाये या रहे', 'मरेंगे या मारेंगे', 'मारो या उबारो', 'बनाओ या बिगाड़ो', 'स्याह करो या सफेद', 'थोड़ा कम या वर्ती', 'बचे या जाये' तथा 'बदनामी या नेकनामी' इत्यादि इस प्रकार के और भी बहुत-से मुहावरे हमारी भाषा में आज खूब चल रहे हैं। इसी वर्ग के अन्तर्गत हम उन कुछ थोड़े-से प्रयोगों को भी ले सकते हैं, जो प्रायः किसी तटस्थ अथवा बेखबर आदमी को 'न वहाँ न वहाँ आखिर हो कहाँ' के रूप में चेतावनी देते हुए अथवा वक्रोक्ति के द्वारा किसी निश्चित पथ पर लाने के लिए काम में लाये जाते हैं अथवा लाये जा सकते हैं। 'न यहाँ न वहाँ', 'न इनमें न उनमें', 'न कोई तुक न तर्क', 'न इधर न उधर', 'न कहीं आना न कहीं जाना', 'न किसी के तीन में न तेरह में', 'न किसी के लेन में न देन में' इत्यादि इसी प्रकार के मुहावरे हैं। इनमें 'न इधर न उधर' तथा 'न किसी के लेन में न देन में' इत्यादि कुछ ऐसे भी मुहावरे हैं, जिनके द्वारा प्रयोगकर्त्ता दोनों पक्षों से अपना अलग रहना बताकर अपनी तटस्थता के भाव व्यक्त करता है। अब तक इस वर्ग के जितने भी मुहावरों पर विचार किया गया है, उनके आधार पर संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि इन मुहावरों का प्रयोग प्रायः दो प्रकार से होता है—१. किन्हीं दो विरोधी पक्षों में से किसी एक को ग्रहण करने का आदेश और उपदेश देने की दृष्टि से, जैसे करो या करो।[1] २. दोनों पक्षों से अलग रहना बताकर अपनी तटस्थता को व्यक्त करने की दृष्टि से, जैसे न किसी के लेने में न किसी के देने में।

कहीं-कहीं मुहावरों के शब्दों अथवा पदों में अनुप्रास होने के कारण भी उनमें विशेष गम्भीरता और ओज आ जाता है। उनके प्रभाव को बढ़ाने में मुहावरों के तुकान्त शब्द अथवा पद भी खूब सहायता करते हैं। अपने नित्य प्रति के जीवन में ही हम रोज अनुभव करते हैं कि एक कवि की सुन्दर उक्ति का हमारे ऊपर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना किसी अच्छे-से-अच्छे लेखक की अतुकान्त और अनुप्रासहीन उक्तियों का नहीं। पद्यबद्ध उक्तियों में एक नया ओज और आकर्षण आ जाता है। चूँकि, कविता का सम्बन्ध सीधा हृदय से होता है, इसलिए एक कवि जितनी जल्दी किसी भी रस की अनुभूति अपने पाठकों अथवा श्रोताओं को करा सकता है, उन्हें हँसा और रुला सकता है और कोई कलाकार नहीं। हृदयस्पर्शी होने के साथ ही ऐसी पद्यमय उक्तियाँ मन में टिकती बहुत दिनों तक हैं। यही कारण है कि एक निरक्षर देहाती किसान को भी 'सूर' और 'तुलसी' के दो-चार पद जरूर याद रहते हैं। सच पूछिए तो जात-बिरादरी की किसी पंचायत अथवा चिलम-चौकड़ी में लोगों को प्रभावित करने अथवा अपने किसी विरोधी का मुँह बन्द करने के लिए यह मुहावरेदार पद्य ही उसके अस्त्र-शस्त्र का काम करते हैं। पद्यमय मुहावरों का भी इसलिए लोगों पर अधिक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। तुकान्त शब्दों अथवा पदों के कारण मुहावरों का अभिप्राय भी अधिक स्पष्ट और सरल हो जाता है, फिर सानुप्रासिक शब्द अथवा पदों के कारण तो ओज की दृष्टि से उनमें और भी चार चाँद लग जाते हैं। सानुप्रास और तुकान्त होने के कारण प्रायः बहुत-से निरर्थक शब्द भी मुहावरों में आकर एक विशेष अर्थ देने लगते हैं। जैसे, आँय-बाँय-साँय (बकना) मुहावरे में प्रयुक्त तीनों शब्द निरर्थक होते हुए भी यहाँ एक विशेष अर्थ के द्योतक हैं। बानगी के लिए इस वर्ग के कुछ मुहावरे उदाहरण स्वरूप नीचे देते है। देखिए—

अंजर-पंजर ढीला होना, तोड़ना या अलग होना, अंट-शंट खाना या बकना, अंड-बंड बकना, अंड का बंड कहना, अगल-बगल में, अनाप-सनाप, अगड़-बगड़ खाना, अबे-तबे करना, अड़ोस-

---

१. किसी तटस्थ अथवा असावधान व्यक्ति को व्यंग्यात्मक ढंग से वस्तुस्थिति का ज्ञान कराके किसी एक पक्ष के ग्रहण करने की सलाह देने की दृष्टि से, जैसे 'न कोई तुक न तर्क'।—ले०

पड़ोस में, अगर-मगर करना या लगाना अलल्ले-तलल्ले होना, आगा-तागा लेना, इनाम-इकराम देना, ऊल-जूल डालना, ओने-कोने झाँकना, ओले-कौले से लगना, ऐंड़े-बैंड़े जवाब देना, ऐरा-गैरा नत्थू खैरा, ऐसी की तैसी उसकी, ऐरे-गैरे पचकल्यान, कसर-मसर होना, कचर-मचर होना, कमाना-धमाना, काठ-कबाड़, कुली-कबाड़ी, कोसना-काटना, खादड़-खूदड़, गाँव-गिराँव पूछना, गाली-गलौज होना, गाली-गुफ्तार होना, गोल-मटोल, घें घें पें पें करना, चूल्हे-बिचाले में, चक्की-चूल्हा, छाईया-बाईया होना, जहाँ-तहाँ, जहाँ की तहाँ, जिधर-तिधर, जैसे-तैसे करके, ज्यों-त्यों करके, ज्यों-का-त्यों, जब-तब, झाँई-माँई होना, झूठ-मूठ बहकाना, झगड़ा-टएटा करना, टस से मस न होना, टूटरूँ-टूँ हो जाना, टिर्र-फिर्र करना, तिड़ी-बिड़ी करना, तोबा-तिल्ला करना, दुर-दुर फिट-फिट, धूम-धड़क्का मचाना, धूम-धाम से, धौल-धप्पा होना, पिट्टस पड़ना या मचना, पुराना-धुराना, पूछ-ताछ होना, फकीर-फुकरे, बक-बक झक-झक करना, बनना-ठनना, बाजा-गाजा, भीग-भाग जाना, भूला-भटका, माल-मताल, माल-टाल, गिस्सा-कुस्सा, मोटा-झोटा, रगड़ा-झगड़ा, रफा-दफा करना, रंग-रवैया, लल्लो-चप्पो करना, लाख का घर खाक होना, लुढ़कते-पुढ़कते, लोथ-पोथ होना, लोहा-लाट होना, लौंडे-लपाड़े, संड-मुसंड फिरना, सिट्टी-पिट्टी गुम होना, हल्ला-गुल्ला करना, हबका-बक्का रह जाना, हा हा ही ही करना, हिचर-मिचर होना।

तुकान्त पदों की ओर सर्वसाधारण की कितनी अधिक रुचि और प्रवृत्ति है, इसका परिचय हिन्दी के 'ऊट पर टाँग' मुहावरे को 'ऊट पटाँग' बना देने से ही काफी मिल जाता है। विशेष अनुसन्धान करने पर इस प्रकार के और भी कितने ही विकृत प्रयोग हिन्दी-भाषा में मिल जायेंगे।

इस वर्ग के मुहावरों की अन्तिम विशेषता, जिसपर अपनी योजना के अनुसार हमें अब विचार करना है, वह किसी मूर्त्त पदार्थ के सर्व प्रधान गुण की उपमा देकर किसी अमूर्त्त भाव अथवा प्रभाव को व्यक्त करना है। 'लाल अँगारा होना' हिन्दी का एक मुहावरा है। इसका प्रयोग प्रायः आग से तपने के कारण आई हुई लाली को व्यक्त करने के लिए होता है, वह आग चाहे क्रोध की हो, फोड़े आदि के रूप में प्रकट होनेवाली शरीर की हो और चाहे चूल्हे, भट्टी या अलाव की। क्रोध के मारे उसका मुँह लाल अँगारा हो गया। उसका फोड़ा लाल अँगारा हो रहा है, देखा नहीं जाता तथा तपाते-तपाते लाल अँगारा तो हो गया और कितना तपायें, इत्यादि ऐसे सभी भावों को व्यक्त करने के लिए यह मुहावरा समान रूप से प्रयुक्त होता है। जिनलोगों ने देखा और अनुभव किया है, वे जानते हैं कि क्रोध में मनुष्य का मुँह और कान केवल लाल ही नहीं हो जाते, जलने भी लगते हैं। फोड़े-फुंसी की लाली में भी काफी गर्मी रहती है, फिर साधारण आग की लाली का तो कहना ही क्या है? 'पत्थर-सा कठोर', 'बर्फ-सा ठंडा 'मीठा शहद', 'पतला पानी' इत्यादि इसी प्रकार के मुहावरे हैं। 'पत्थर-सा कठोर' और बर्फ-सा ठंडा' की जगह 'कड़ा पत्थर' और 'ठंडा बर्फ' आदि का भी प्रयोग होता है। इस वर्ग के मुहावरों की रचना-सम्बन्धी विशेषता पर आगे चलकर विचार करेंगे। यहाँ केवल इतना कह देना काफी होगा कि इस प्रकार के प्रयोगों में प्रयोगकर्त्ता का प्रयत्न किसी भौतिक पदार्थ के भौतिक गुण की याद दिलाकर किसी भाव अथवा प्रभाव की गंभीरता बताना रहता है। संसार की प्रायः सभी भाषाओं में इस प्रकार के काफी मुहावरे मिलते हैं। 'सुर्ख मिस्ल आतिश' फारसी का प्रयोग है, इससे मिलता-जुलता ही हमारा 'लाल अँगारा' मुहावरा है। 'शीशे की तरह भारी होना', 'काला कोयला होना', 'सफेद बुर्राक', 'रेशम-सा मुलायम', 'कड़वा जहर होना', 'कड़वी बिरएडाल होना' 'खट्टा चूक होना', 'सिन्दूरिया आम होना', 'मोम हो जाना' इत्यादि और भी कितने ही ऐसे मुहावरे हमारी भाषा में चलते हैं।

प्रतीतार्थ शब्दों का अप्रयोग
(लाघव अथवा शब्द-लोप.)

लाघव अथवा शब्द-लोप मुहावरों की दूसरी विशेषता है। 'मुँह चढ़ा होना', 'बर्फ होना', 'अँगारा होना' तथा 'आँधी के आम होना' इत्यादि मुहावरों का जिन्हें ज्ञान नहीं है, वे केवल इन पदों को सुनकर प्रयोगकर्त्ता का अभिप्राय नहीं समझ सकते। रचना और भाव दोनों ही दृष्टियों से उन्हें ये पद कुछ अपूर्ण-से मालूम होंगे। वास्तव में है भी ऐसा ही, मुहावरों में बहुत-से ऐसे शब्द, जिनकी किसी वाक्य की रचना अथवा उसके तात्पर्यार्थ को पूरा करने के लिए आवश्यकता होती है, छोड़ दिये जाते हैं। बोलचाल की साधारण भाषाओं में जहाँ इस प्रकार का लाघव या शब्द-लोप भ्रम में डालनेवाला एक दोष समझा जाता है, मुहावरे में उसी रूप और उसी अर्थ में बार-बार प्रयुक्त होने के कारण वह सर्व-साधारण के लिए अपने पूर्ण रूप का स्मृति-चिह्न बन जाता है। 'बर्फ होना' पद के कान में पड़ते ही, किसी पदार्थ के बर्फ-जैसा ठंडा होने की कल्पना सुननेवाले को हो जाती है। वास्तव में एक शब्दवाले मुहावरों तक का अर्थ समझ में आ जाने का रहस्य प्रयोगबाहुल्य के कारण उनका स्वयं वाक्य-रूप बन जाना ही है।

मुहावरों के साथ ही भाषा के अन्य क्षेत्रों में भी 'लाघव' के इस तत्त्व का महत्त्व है। शब्दों की बचत के साथ ही उसके द्वारा भाषा में चुस्ती और चलतापन आ जाते हैं। 'आचार्य बिनोवा भी उतने ही एकनिष्ठ हैं, जितने महात्मा गांधी', इस वाक्य के अन्त में 'है' न रखने से वाक्य का भारीपन दूर होकर उसमें विशेष चुस्ती आ गई है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हर जगह 'लाघव' करने लग जायँ। बेमुहावरा 'लाघव' करने से वाक्य बोल-चाल के प्रतिकूल होकर या तो निरर्थक हो जायगा या अनर्थक। बौद्ध स्तोत्र और माहात्म्य हिन्दुओं के-से हैं तथा उनके सब काम हमारे-से हैं, आदि इस प्रकार के वाक्य बोलचाल में भले ही चलते हों, परन्तु जहाँ ठीक अर्थ और भाव प्रकः करने की आवश्यकता होती है, वहाँ ऐसे वाक्य प्रायः भ्रम में डाल देते हैं।

भापा की लाघव अथवा शब्द-लोप की इस प्रवृत्ति का प्रभाव वाक्य की व्याकरण-सम्बन्धी गठन पर ही नहीं पड़ता, बल्कि उसके तात्पर्यार्थ पर भी पड़ता है। वास्तव में वक्ता के तात्पर्य को समझकर तदनुरूप उसके वाक्यों का अर्थ करना ही प्रसंगानुकूल अथवा सुसम्बद्ध अर्थ कहलाता है। शब्द-लोप के कारण इसलिए किसी साधारण वाक्य अथवा मुहावरे का अर्थ समझने में सबसे बड़ी कठिनाई, मैलीनॉस्की (Malenoweski) के शब्दों में कहें, तो कथा-प्रसंग को समझने में होती है। मैलीनॉस्की तो यहाँ तक लिखता है कि कथा-प्रसंग से अलग करके किसी कथन का अपना कोई मूल्य नहीं।[१] 'आँख लगना' हिन्दी का एक मुहावरा है। भिन्न-भिन्न प्रसंगों में 'नींद आना', 'प्रेम करना या प्रीति होना', 'टकटकी बँधना', 'दृष्टि जमना' इत्यादि इसके भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। इस प्रकार, एक ही मुहावरे के इन तीन विभिन्न अर्थों को समझने के लिए किस परिस्थिति और प्रसंग में इनका प्रयोग हुआ है, यह जानना बहुत जरूरी है। 'पढ़ते-पढ़ते आँख लग गई' कहने पर आँख लगने का अर्थ 'नींद आगई' ही कर सकते है 'प्रेम हो गया' या 'दृष्टि जम गई' नहीं। 'नींद आना' और प्रेम होना' दोनों एक ही 'आँख लगना' मुहावरे के अर्थ होते हुए भी दोनों की परिस्थितियों और प्रसंगों में आकाश-पाताल का अन्तर है। संक्षेप में इसलिए हम कह सकते हैं कि किसी वाक्य अथवा वाक्यांश का अर्थ समझने के लिए किस परिस्थिति और प्रसंग में उसका प्रयोग हुआ है, इसका ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता, भाषा की

---

१. पलू० आर०, पृ० १६७।

लाघव अथवा शब्द-लोप की इस प्रवृत्ति के कारण ही होती है। मुहावरों की बँधी हुई शब्द-योजना और निश्चित-अर्थ परम्परा के कारण साधारणतया भ्रम में डाल देनेवाला लाघव का यह तत्त्व भी उनकी एक विशेषता बन गया है।

यों तो प्रायः सभी मुहावरों में रचना अथवा अर्थ-पूर्त्ति के लिए आवश्यक कुछ-न-कुछ शब्दों का लोप अथवा लोप-सा रहता है। किन्तु उपमा के आधार पर बने हुए मुहावरों में विशेष रूप से इस तत्त्व (लाघव) की प्रधानता रहती है। हमारे यहाँ उपमा के सामान्यधर्म औपम्यवाची पद, उपमेय और उपमान ये चार अंग माने गये हैं। मुहावरों में प्रायः एक, दो और कभी-कभी तीन-तीन अंग तक लुप्त रहते हैं। साहित्यदर्पणकार ने इस प्रकार के प्रयोगों को लुप्तोपमा के अन्तर्गत मानकर उनका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

> लुप्ता सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः।
> त्रयाणां वानुपादाने श्रौत्यार्थी सापि पूर्ववत् ॥१७॥[1]

'पत्थर-सा कठोर होना', 'बर्फ-सा ठंडा होना', 'रूई-सी पीनना' इत्यादि मुहावरों में उपमेय का, 'ठंडा बर्फ', 'मीठा शहद', 'कड़वा जहर' तथा 'खट्टा चूक' इत्यादि में उपमेय और औपम्य-वाची पद का और 'बर्फ होना', 'पत्थर होना', 'जहर होना' इत्यादि प्रयोगों में उपमेय, सामान्य धर्म और औपम्यवाची पद तीनों का लोप हो गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के मुहावरों में उपमा का कोई-न-कोई अंग प्रायः सदैव ही लुप्त रहता है।

इस प्रकार के प्रयोगों में उच्चारण-भेद से भी प्रायः अर्थ-भेद हो जाता है। उच्चारण की ओर ध्यान न देने के कारण कभी-कभी अच्छे-अच्छे विद्वान् भी 'ठंडा बर्फ', 'लाल अंगारा', 'कड़ा पत्थर', 'कड़वा बिंडाल', 'मीठा शहद' इत्यादि मुहावरों में औपम्यवाची पद का लोप हो गया है, ऐसा न मानकर उन्हें विशेषण और विशेष्य-युक्त पद मान लेते हैं। श्रीयुत रामचन्द्र वर्मा इसी भ्रम में पड़कर ऐसे प्रयोगों की टीका करते हुए एक स्थल पर लिखते हैं—"विशेषणों के सम्बन्ध में ध्यान रखने योग्य और भी कई बातें हैं। पहली बात तो यह है कि विशेषणों के साथ दूसरे फालतू विशेषण या क्रिया-विशेषण नहीं आने चाहिए। जैसे 'गरम आग' या 'ठंडा बरफ' कहना ठीक नहीं है।"[2] जहाँ तक सिद्धान्त का सम्बन्ध है, हर कोई व्यक्ति वर्माजी से सहमत होगा; क्योंकि जो चीज़ सदा स्वभाव से ही गर्म, ठंडी या कड़ी अथवा मुलायम रहती हो, उसके साथ उसी गुण का सूचक कोई विशेषण लगाना सर्वथा अनुपयुक्त है। किन्तु जिन दृष्टान्तों के आधार पर वर्माजी ने इस सिद्धान्त को खड़ा किया है, वे वास्तव में लुप्तोपमा के उदाहरण हैं। विशेषण और विशेष्य के संयुक्त पद नहीं। 'ठंडा बर्फ' कहने से अभिप्राय 'बर्फ के समान ठंडा', अर्थात् बहुत अधिक ठंडा यह बताना ही है, बर्फ का गुणगान करना नहीं। इसी प्रकार, 'लाल अंगारा', 'कड़ा पत्थर', 'कड़वा बिंडाल' तथा 'मीठा शहद' इत्यादि मुहावरों का आशय 'अंगारा-जैसा लाल', 'पत्थर-जैसा कड़ा', 'बिंडाल-जैसा कड़वा' तथा 'शहद-जैसा मीठा' इन स्वाभाविक तुलनाओं के द्वारा किसी पदार्थ की कड़वाहट और मिठास इत्यादि गुणों की तीव्रता पर प्रकाश डालना-मात्र है।

मुहावरों में लाघव अथवा शब्द-लोप की प्रधानता होते हुए भी क्यों वह उनकी विशेषता समझा जाता है, दोष नहीं। इस पर भी अन्त में एक निगाह डाल लेना आवश्यक है। किसी भी भाषा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य के मनोभावों और विचारों की पूर्णाभिव्यक्ति है। फिर, जो भाषा जितने ही कम शब्दों में अधिक-से-अधिक भावों को व्यक्त करने की सामर्थ्य रखती है, वह उतनी ही उन्नत और परिमार्जित समझी जाती है। संक्षेप में भाषा की विशेषता शब्दों की सजावट में नहीं,

---

१. साहित्यदर्पण, पृ० ३८।

२. अ० हिं०, पृ० ११३।

बल्कि एक दूसरे के भावों को मूर्त्तिमान् करने में है। जब गांधी शब्द से ही राष्ट्रपिता स्वर्गीय मोहनदास कर्मचन्द गांधी की कल्पना हो जाती है, तब फिर इतने अधिक शब्दों को बटोरने से क्या लाभ? उन सबका लोप करके केवल गांधी शब्द ही रखना मुहावरेदारी है। युगों के निरन्तर प्रयोग के कारण जिस प्रकार एक 'गांधी' शब्द में उतना बड़ा नाम घनीभूत होकर समा गया है, उसी प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी के सतत प्रयोगों के कारण मुहावरों के इतने विस्तृत और विचित्र अर्थ कुछ बँधी-बँधाई शब्द-योजनाओं के साथ ऐसे जुड़ गये हैं कि उन्हें सुनकर यह कल्पना ही नहीं होती कि उनमें किसी प्रकार का लाघव अथवा शब्द-लोप हुआ है : अर्थ की दृष्टि से वे वाक्य-जैसे ही पूर्ण रहते हैं। साधारण बोल-चाल में जिस प्रकार ऐसे प्रयोगों का अर्थ समझने के लिए व्याकरण अथवा युक्ति की टेक लेकर वाक्य को पूरा करनेवाले अन्य शब्दों का अध्याहार करना पड़ता है, मुहावरों के कान में पड़ते ही उनका तात्पर्यार्थ मूर्त्तिमान् हो जाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वाक्य-रचना अथवा तर्क की दृष्टि से मुहावरों की भाषा में लाघव का तत्त्व विद्यमान होते हुए भी भावार्थ की दृष्टि से वे सर्वथा पूर्ण होते हैं। एक शब्द में यही उनकी विशेषता का मूल-बिन्दु है। उदाहरणस्वरूप इस प्रकार के कुछ प्रयोग नीचे देते हैं। देखिए—

अंक भरना, अंगूठी का नगीना होना, अन्न मिट्टी होना, अमचूर हो जाना, आँखों में कहना, आईना होना, उँगली लगाना, लड़ चलना, उल्लू बोलना, एक लाठी हाँकना, काटने दौड़ना, कौड़ी कोस दौड़ना, गंगा उठाना, घी-खिचड़ी होना, चूल्हा न्योतना, छुरी फेरना, जबान सीना, टोटा देना दाल-रोटी चलना, पत्तल लगाना, माँग भरना, लगती कहना, सरसों फूलना, हवा बाँधना।

अप्रसिद्ध और भिन्नार्थक शब्दों का प्रयोग

सर्व-साधारण के प्रयोग में आनेवाले बहुत-से मुहावरों की एक अद्भुत विशेषता यह होती है कि उनमें बहुत-से ऐसे अप्रचलित अथवा अति प्राचीन शब्द भी सुरक्षित रहते चले आते हैं, जिनका साधारण बोलचाल की भाषा में प्रायः बिलकुल ही प्रयोग नहीं होता और यदि कभी-कदाक होता भी है, तो केवल किसी विशेष पद में ही। 'निसोत पानी होना' हिन्दी का एक-मुहावरा है, इसमें निसोत शब्द 'निःसंयुक्त' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, किन्तु बोल-चाल की साधारण भाषा में आज इसका प्रयोग नहीं होता। इसी प्रकार, 'जंदरा (जांत-यंत्र) ढीला होना', 'सांके करना', 'झांवली में आना' इत्यादि मुहावरों में प्रयुक्त जंदरा, सांका और झांवली शब्द स्वतन्त्र रूप से आज हमारी भाषा में नहीं चलते। किन्तु आज नहीं चलते, इसका यह अर्थ नहीं है कि पहले भी कभी नहीं चलते थे। कोई समय रहा होगा, जब चक्की-चूल्हे की तरह ये सब शब्द भी जन-साधारण की जबान पर खूब चढ़े होंगे।

किसी भाषा के प्रचलित शब्द ही किस प्रकार धीरे-धीरे अप्रचलित और अव्याप्त होते चले जाते हैं, इसका भी बड़ा मनोरंजक इतिहास है। प्रामाणिक अथवा पढ़े-लिखे लोगों की भाषा में शब्द-दारिद्र्य की व्याधि हमेशा रहती है, जिससे सर्वथा मुक्त होना उनके लिए प्रायः असम्भव होता है। एक लहर-सी आती है जो हमारे बहुत-से अति प्राचीन, सुन्दर और अर्थपूर्ण शब्दों पर ऐसा पानी फेर देती है कि गद्य में प्रयुक्त होते हुए भी वे बोल-चाल के लिए सर्वथा अनुपयुक्त और अयोग्य समझे जाने लगते हैं। कुछ समय और बीतने पर पहले तो गद्य से केवल पद्य के लिए ही उन्हें सीमित कर दिया जाता है, किन्तु फिर पद्य से भी हटाकर सर्वदा के लिए प्राचीनता की उन बेठनों से बाँधकर डाल दिया जाता है, जहाँ उन्हीं के भाई-बन्धु कितने ही और भी ऐसे ही सुन्दर-सुन्दर शब्द पहिले से दम तोड़ रहे हैं। कुछ शब्द अवश्य ऐसे होते हैं, जो बहुत अधिक प्रयोग अथवा चौराहे की चीज बन जाने के कारण अप्रतिभ

होकर नष्ट हो जाते हैं, किन्तु इनके साथ तो बात बिलकुल ही उल्टी है, अल्प-प्रयोग के कारण वे इतने प्रतिभाशाली और पवित्र मान लिये जाते हैं कि साधारण प्रसंगों के लिए वे आवश्यकता से अधिक उत्कृष्ट और उन्नत दिखाई देने लगते हैं। धन्यवाद है उन बे-पढ़े-लिखे गरीब किसान और मजदूरों को, जो अपनी भाषा से प्रेम होने के कारण अबतक पीढ़ी-दर-पीढ़ी किसी प्रकार अपनी बोलियों और मुहावरों में इन्हें सुरक्षित रखते चले आ रहे हैं। 'चैल' हमारी भाषा का एक अति प्राचीन शब्द है, किन्तु 'चैलाजिनकुशोत्तरम्' गीता में अथवा 'चैलवच्चर्मणां-शुद्धिः' मनुस्मृति में तथा इसी प्रकार के कुछ अन्य ग्रन्थों को छोड़कर राष्ट्रभाषा में कहीं इसका प्रयोग नहीं मिलता। किन्तु, देहातों में आज भी 'सचैल स्नान करना' अथवा 'चैली (चिलम पीते समय काम में आनेवाला कपड़ा) भिगोना' रूपों में अथवा मैला-कुचैला इत्यादि प्रयोगों के रूप में वह शब्द उसी रूप में प्रचलित अथवा जीवित है। 'कल्ला खाना या फिरना', 'अलख जगाना', 'अत्र-कुशलम् तत्रास्तु', 'किं बहुना', 'नरो वा कुञ्जरो वा', 'कुटुम्ब-कबीला', 'बाँछे खिलना' इत्यादि प्रयोगों में प्रयुक्त 'कल्ला', 'अलख', कुंजर', 'कबीला', 'बाँछे' इत्यादि प्रायः सभी शब्द अप्रचलित हैं।

अप्रचलित शब्दों के साथ ही बहुत-से प्रचलित शब्दों के अप्रचलित अर्थ भी मुहावरों में सुरक्षित रह जाते हैं। भाषा-विज्ञान के पण्डित बतलाते हैं कि जिस प्रकार किसी भाषा में प्राचीन शब्द धीरे-धीरे अ-प्रचलित और अ-प्रख्यात होकर लुप्त होते चले जाते हैं और उनकी जगह नये शब्द उसके कोष में आते जाते हैं, उसी प्रकार बहुत-से शब्दों के प्राचीन अर्थ भी प्रायः बदलते रहते हैं। 'दुष्ट' शब्द का गीताकार ने 'स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः' कहकर 'दुराचारणी' के अर्थ में प्रयोग किया है, किन्तु आज-कल प्यार में अपने छोटे भाई-बहिनों को भिड़कने के लिए इसका खुले-आम प्रयोग होता है। 'बल' का गीताकार ने 'सेना' के अर्थ में प्रयोग किया है, किन्तु आज शारीरिक शक्ति के अर्थ में उसका प्रयोग होता है। जैसे, मोहन बड़ा बलवान् अथवा बली है। 'दल-बल के साथ' हमारी भाषा का एक प्रचलित प्रयोग है। 'दल-बल' में बल अपने उसी प्राचीन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार, 'कूट' शब्द का प्रयोग एक समय भारतवर्ष में यत्र-तत्र फैले हुए छोटे-छोटे प्रजातन्त्रों के लिए होता था। कालीकट से आये हुए हमारे एक मलयाली मित्र अभी बतला रहे थे कि उनकी भाषा में आज भी 'कूटं' शब्द संघ के अर्थ में आता है। अप्रैल, १९४० ई० की हिन्दुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' में पंडित विश्वेश्वरनाथ रेउ ने 'दक्षिण के राष्ट्रकूट-नरेश······' शीर्षक लेख में शीर्षक के अतिरिक्त और कई जगह 'राष्ट्रकूट' शब्द का प्रयोग करके 'कूट' शब्द के प्राचीन अर्थ को पुनर्जीवित कर दिया है। कूटनीति से काम लेना इत्यादि मुहावरों में भी यह शब्द अपने प्राचीन अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। 'काठ में पाँव देना', 'कोठा बिगड़ना', 'अंटी मारना', 'मृगया करना', 'मृगतृष्णा होना', 'भय्या-बहिन करना' इत्यादि इसी प्रकार के प्रयोग हैं।

'अप्रचलित और अप्रख्यात शब्दों तथा प्रचलित शब्दों के अप्रचलित और अप्रख्यात अर्थों की खोज करते हुए जब स्थानिक बोलियों का अध्ययन करते हैं, तब यह देखकर आँखे खुल जाती हैं कि जिन भोले-भाले गरीब किसान मजदूरों को हम गँवार और दहकानी कहकर उनकी सर्वथा उपेक्षा करते चले आये हैं, उनकी उसी अशिष्ट अथवा गँवारू भाषा में कसे खजाने छिपे पड़े हैं! जिन दिव्य प्रसूनों को हम रोज़ पैरों तले रौंदते हुए चलते हैं, क्या कभी हमने उनकी सुकोमल पंखुड़ियों और जीवनदायिनी सुगन्ध की ओर भी ध्यान दिया है। यदि कहा जाय कि हमारी भाषा के मुहावरों में जो ओज और अर्थ-प्रकाशन-शक्ति है, उसका बहुत-कुछ श्रेय हमारी बोलियों और विभाषाओं को है, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। स्मिथ अपने यहाँ की विभाषाओं के सम्बन्ध में बहुत-कुछ इसी प्रकार लिखता है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'शब्द और मुहावरे' (Words and Ideoms) के पृष्ठ १३६ पर वह लिखता है—

"एक साहित्यप्रेमी अँगरेजी की विभाषाओं में जो सबसे पहली विशेषता पाता है, वह यह है कि उनमें आज भी बहुत-से ऐसे प्राचीन शब्द सुरक्षित हैं, जिनका हमारी राष्ट्रभाषा में कोई प्रयोग नहीं होता। सब लोग जानते हैं कि नार्मन लोगों की जीत के बाद फ्रांन्सीसी आक्रमणकारियों के द्वारा 'कोर्ट' और 'हाल' के आधार पर बनाये हुए ऐंग्लो-सेक्सन कोष के अधिकांश अंश टूटे-फूटे झोपड़ों में छिपे हुए हैं और आज भी ग्रामीण जनता की बोलियों में उसी ओज और प्रवाह के साथ चलते हैं। आधुनिक साहित्य में न चलते हुए भी अशिक्षित वर्ग में बराबर बोले जानेवाले इन प्राचीन सेक्सन शब्दों की यदि कोई सूची दी जाय, तो कितने ही पृष्ठ भर जायें, इनकी रक्षा सम्भवतः ग्रामीणों के भाषा-प्रेम के कारण ही हुई है, साहित्य प्रेम के कारण नहीं, यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इन ग्रामीण शब्दों और मुहावरों में कुछ तो हमारी भाषा के उस प्रतिष्ठित और सुसंस्कृत वर्ग से आये हुए हैं, जिसका सम्बन्ध न केवल उस ट्यूटोनिक वर्ग से है, जो हमारे पूर्वज जर्मनों के साथ आये थे, बल्कि उससे भी बहुत पहिले आर्यों की प्राचीन भाषा से है······इन प्राचीन अँगरेजी और फ्रेञ्च-शब्दों में से अधिकांश ऐसे हैं, जिन्हें पढ़े-लिखे लोग नहीं समझते अथवा प्राचीन कवियों की रचनाओं के द्वारा उन्हें उनका ज्ञान होता है।"

स्मिथ ने जो बात अँगरेजी की विभाषाओं के सम्बन्ध में लिखी है, संस्कृत की दृष्टि से ठीक वही बात हमारी बोलियों और विभाषाओं में मिलती है। संस्कृत के कितने ही शब्द तो क्या, पूरे पद तक गाँव की बोलियों में छिपे पड़े हैं। परती के खेत को जोतने के लिए आज भी गाँववाले औंठ उठाना कहते हैं। जहाँ 'औंठ' शब्द संस्कृत ओष्ठ ही है। 'ओनामासीधम' भी 'ओ३म् नमः सिद्धम्' के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अपने मत की पुष्टि करने के लिए अब हम नीचे एक बड़ी संख्या में वे मुहावरे देते हैं, जिनमें ऐसे अप्रचलित और अप्रख्यात शब्दों का प्रयोग हुआ है।

अंक (हृदय) देना, अंक भरना, अँकवार भरना, अँचरा पसारना, अंछर मारना, अंजर-पंजर ढीला होना, अंटाचित होना, अंटी मारना, अंडा (पिंड, शरीर) ढीला होना, अगिया बैताल, अथ से इति तक, अघौड़ी तनना, टके सीधे करना, अपने ओसाना (आवर्षण), अपनी खाल (क्षाल) में मस्त रहना, अलल (अल्हड़) बछेड़ा, इन्द्रायण का फल, कंठी (करीर) बाँधना, कछनी काछना, काठ में पैर देना, कुप्पा (चमड़े का थैला) होना, काँध मारना, कन्नी काटना, कल्ला (करीर) दबाना, खाला (मराठी नीचा)-ऊँचा, खिल्ली में उड़ाना, खीस काढ़ना, खुगीर की भर्त्ती, गतालखाते में जाना, चंड-मुंड लड़ाना, चट्टे-बट्टे लड़ाना, चोला बदलना, जामे से बाहर होना, झख मारना, झाँई बताना, झांवली देना, झोंटा-झोंटी होना, झोल निकालना (बच्चे देना), टापा देना, टुंच लगाना, ठाठ पड़ा रहना, ठेपी मुँह में देना, तुर्रा यह कि, तूती बोलना, दीदा दलेल समझना, दुगदुगी में दम होना, धुर्रे उड़ाना, धौंक लगना, धौल कसना या जड़ना, नीर ढलना, पसँगा भी न होना, पट्टी पढ़ाना, पिंड छोड़ना, बार लगाना, बारह बाट करना, भाँजी मारना, मुँह बाकर सुनना, लग्गा लगाना, सोंटे मारे जाना, सोलह-सोलह गंडे सुनाना।

ऊपर के समस्त उदाहरण श्रीरामदहिनमिश्र की 'हिन्दी-मुहावरे' पुस्तक से लिये गये हैं। अब हम इसी वर्ग के कुछ फुटकर प्रयोग और देकर इस प्रसंग को बन्द करेंगे। 'चाँईया होना', 'ढींढ़ा गिराना या फूलना', 'ढुँढियाँ चढ़ाना', 'झोंफ मारना', 'झापड़ मारना', 'ओली लेना या ओड़ना', 'ओना लगाना', 'शौक चर्राना', 'थपड़ी पीटना', 'टही में रहना', 'टसुये बहाना', 'तोपा भरना', 'सिप्पा भिड़ाना', 'खरका करना', 'घेंसले निगलना' 'दिन बहुरना', 'दस्तक देना', 'मोहड़ा लगाना', 'मवासी तोड़ना', लूता लगाना', 'चपनी-भर पानी में डूब मरना', ओला वाला करना', 'धींगा (सं० डिंगर)-मस्ती करना', सत्त छोड़ना', 'सत न रहना' [सत=बल जैसे, सतः सतः= प्रत्येक बलवान पुरुष का], समा बदलना [ऋतु शतं समाः आदि], फाँड़ा पकड़ना, डंगर कहीं का,

टाँट गंजी होना; भख करना, जल-पान करना या पानी पीना [इन मुहावरों का अर्थ कुछ खाना होता है 'इदं वसां सुतम् अन्धः (अन्न), पिव सुपूर्णमुदरम्' में 'सुपूर्णम् उदरम् पिव' मुहावरे का अर्थ भी खूब पेट भरकर खा' ही है, पी नहीं ।] तथा ठंडा सुन होना [सुन श्रवण के अर्थ में आया है. कान ही प्रायः सबसे अधिक ठंडे रहते हैं, कहते भी हैं, जरा कान गरम कर दो, इसलिए ठंडा सुन' कान-जैसा ठंडा के अर्थ में आया है] इत्यादि-इत्यादि इस प्रकार के और भी बहुत-से मुहावरे मिलते हैं ।

निरर्थकता में सार्थकता

वैयाकरणों ने अर्थ की दृष्टि से शब्दों के 'सार्थक' और 'निरर्थक' दो भाग किये हैं । निरर्थक से जैसा हम मानते हैं, उनका अभिप्राय, उन शब्दों से है, जिनका जन-साधारण में उपयोग तो होता है, किन्तु किसी विशेष लक्ष्य को रखकर अथवा किसी विशेष वस्तु, व्यक्ति अथवा स्थान का निर्देश करने या किसी विशेष भाव को व्यक्त करने के लिए जान-बूझकर स्वतन्त्र रूप से नहीं । निरर्थक का यह अर्थ नहीं है कि उसके जीवन का कोई उद्देश्य ही नहीं था अथवा विना किसी बीज-रूप भाव के ही वह हमारी भाषा में कहीं से आ टपका । विना कारण के कभी कोई ध्वनि अथवा शब्द नहीं होता और यही कारण वास्तव में किसी शब्द का मूल अर्थ होता है । अतएव मूल अर्थ की दृष्टि से तो कोई शब्द कभी निरर्थक होता ही नहीं । निरर्थक वह उसी समय तक रहता है, जबतक उसके कारण का प्रत्यक्ष ज्ञान हमको नहीं होता । फिर, चूँकि ऐसे शब्द एक तो प्रायः देश, काल और व्यक्ति से बँधे हुए होते हैं, दूसरे स्वतन्त्र रूप से अकेले उनका प्रयोग बहुत ही कम होता है, इसलिए जन-साधारण में उनका प्रचलन होते हुए भी उनके लिए वे निरर्थक-से ही रहते हैं । अनुपयोगिता ही वास्तव में निरर्थकता है । शब्दों की उपयोगिता को लक्ष्य करके ही कदाचित् फरार [Farrar] ने कहा है कि 'शब्द स्वतः निरर्थक होते हैं ।' जब-तक वे किसी लौकिक विचार, वस्तु या व्यक्ति से सम्बद्ध नहीं होते, उनका कोई मूल्य नहीं होता । बिरला-भवन गांधीजी के वहाँ ठहरने से पूर्व भी 'बिरला-भवन' ही कहलाता था, किन्तु बिरला-परिवार और उनके नौकर-चाकरों को छोड़कर संसार के अन्य व्यक्तियों के लिए इस पद की कोई सार्थकता न थी । गांधीजी ने अपने प्राण देकर आज उसी बिरला-भवन में रामनाम की प्राण-प्रतिष्ठा कर दी है । अब वही छोटा-सा पद 'बिरला-भवन' प्राणी-मात्र के लिए 'करो या मरो' तथा सत्य, अहिंसा और प्रेम की अजेयता' और ईश्वर अल्लाह तेरे नाम, सबको सन्मति दे भगवान' आदि कितने ही दिव्य उपदेश देनेवाला महावाक्य अथवा महामुहावरा बन गया है ।

किसी भाषा में सार्थक और निरर्थक शब्दों की स्थिति ठीक वैसी ही होती है, जैसी एक बड़े शर्बतवाले की दुकान में सजी हुई रंग-बिरंगे शर्बतों से युक्त और खाली बोतलों की । प्रत्येक शब्द अपने में एक खाली बोतल से अधिक नहीं है । जित रंग का शर्बत भर दिया जाता है, उसी रंग का हो जाता है । एक ही बोतल में जिस प्रकार कभी-कभी कालान्तर से क्रमशः दो-तीन तरह के शर्बत भी रख दिये जाते हैं, उसी प्रकार एक ही शब्द के बदलते-बदलते कभी-कभी कई अर्थ हो जाते हैं । मुहावरों का अध्ययन करने से केवल इतना ही पता नहीं चलता कि भाषा में खाली बोतलों में नये शर्बत भरने और भरी हुई बोतलों को खाली करने के साथ ही पहले से भरी हुई किन्हीं विशिष्ट शर्बतों की बोतलों पर उनके रूप और गुण से सर्वथा भिन्न आशय के लेबिल लगाने का काम भी निरन्तर होता रहता है । 'जड़ काटना' हिन्दी का एक मुहावरा है । इसका प्रयोग 'जड़' और 'काटना' शब्दों के अभिधेयार्थ से सर्वथा भिन्न किसी को गहरा नुकसान पहुँचाने के अर्थ में होता है । 'बिजली गिराना', 'आसमान टूटना', 'हाथ के तोते उड़ना', 'पर कैंच करना', 'आग से खेलना', 'अंगारों पर लोटना' इत्यादि-इत्यादि और भी कितने ही ऐसे

मुहावरे हमारी भाषा में मिलते हैं, जिनका उपयोग जिन शब्दों के संयोग से वे बनते हैं, उनके अभिधेयार्थ से सर्वथा भिन्न किसी अर्थ में ही होता है।

प्रस्तुत प्रसंग में चूँकि हमारा उद्देश्य शब्दों की सार्थकता अथवा निरर्थकता पर विचार न करके यह दिखाना है कि मुहावरे में आकर किस प्रकार निरर्थक अथवा अनुपयोगी शब्द भी सार्थक और उपयोगी हो जाते हैं, इसलिए कोई शब्द कब और कैसे सार्थक अथवा निरर्थक होता है, अब इसपर अधिक बहस नहीं करेंगे। जैसा ऊपर दिखाने का प्रयत्न किया है, प्रायः प्रत्येक भाषा में कुछ-न-कुछ ऐसे शब्द होते हैं, जिनका कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता। बहुत-से लोग पानी के साथ वानी, आनी या गानी लगाकर 'पानी-वानी', 'पानी-आनी' या 'पानी-गानी' इस प्रकार बोलते हैं। यहाँ इन वानी, आनी इत्यादि शब्दों का कोई उद्देश्य ही नहीं है, ऐसी बात नहीं, 'पानी पीलो' और 'पानी वानी पी लो' दोनों प्रयोगों के तात्पर्यार्थ में भी भेद है। पानी पीलो में जहाँ केवल पानी पीने का ही भाव रहता है, 'पानी-वानी पीलो' में काम छोड़कर थोड़ा आराम लेने की ओर भी संकेत रहता है। किन्तु वानी, आनी इत्यादि का स्वतन्त्र रूप से चूँकि कहीं कोई प्रयोग नहीं होता, इसलिए कोषकारों ने उन्हें निरर्थक कहकर छोड़ दिया है। लेकिन जनता तो कोषकार की अनुगामी होती नहीं, कोषकार ही जनता का अनुगामी होता है, इसलिए निरर्थक होने पर भी सार्थक शब्दों के सहायक, सहयोगी अथवा पूरक के रूप में ही नहीं, बल्कि पुनरुक्त शब्दों के रूप में भी उनके प्रयोग जनता में चल निकले। वही दो शब्द, जो अलग-अलग देखने में निरर्थक लगते थे, साथ-साथ प्रयुक्त होने के कारण लौकिक मुहावरे बन गये हैं, ओज, प्रवाह और प्रभाव की दृष्टि से देखा जाय, तो निरर्थक शब्दों के संयोग से बने हुए ये मुहावरे कहीं अधिक उपयोगी और सार्थक होते हैं। 'चबड़-चबड़ करना' हिन्दी का एक मुहावरा है। इसका प्रयोग प्रायः निरर्थक और निरुद्देश्य बातों की भर्त्सना करने के लिए होता है। चबड़-चबड़' में अकेले चबड़ का न तो कहीं प्रयोग होता है और न कोई अर्थ। 'तिली-लिली भर होना', 'आँय-बाँय-साँय बकना', 'गलबल-गलबल करना', 'तिड़ी-बिड़ी होना', 'ऐसी की तैसी होना', 'टिर्र-फिर्र करना', 'टैड़-बैड़ करना', 'चिल्ल-पों मचना', 'घें घें पें पें करना', 'टाँय-टाँय करना', 'ऊल-जलूल बकना', 'हिचिर-मिचिर करना', 'हड़बड़ी मचना', 'बैड़-बैड़ करना', वायबैला मचाना' इत्यादि इस प्रकार के और भी बहुत-से प्रयोग मिलते हैं।

औपचारिक प्रयोगों की पारदर्शिता

रिक्टर के शब्दों में कहें तो 'प्रत्येक भाषा अस्पष्ट औपचारिक प्रयोगों का कोष होती है।' अस्पष्ट इसलिए कि बहुत अधिक प्रयुक्त और प्रचलित होने के कारण उनकी आलंकारिकता नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार 'कुशाग्र' और 'कुशल' का प्रयोगाधिक्य के कारण आज सीधे-सीधे अभिधेयार्थ में ही प्रयोग होने लगा है, कुश के अग्रभाग तथा कुश लानेवाले की ओर ध्यान ही नहीं जाता। हो सकता है, सारे शब्द ही अपने उत्पत्ति-काल में औपचारिक प्रयोग रहे हों। कुछ भी हो, इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि सदाचार, मानसिक शक्ति, आध्यात्मिक सत्य और आत्म-ज्ञान-सम्बन्धी विचार, इनमें से किसी एक की भी सादृश्य अथवा रूपक की सहायता के बिना पूर्णाभिव्यक्ति कभी नहीं हो सकती। समय-समय पर उठनेवाले मन के विचारों भावों और विकारों को व्यक्त करने के लिए अस्पष्ट ध्वनियाँ, हाव-भाव और शारीरिक चेष्टाएँ जिस प्रकार यान्त्रिक स्विच का काम करती हैं, उसी प्रकार गूढ़ विचारों और अमूर्त्त तत्त्वों का ज्ञान कराने के लिए सादृश्य और रूपक बौद्धिक स्विच का काम करते हैं। फरार तो इन्हें (सादृश्य, रूपक) मनुष्य के ज्ञान-रूपी विस्तृत क्षेत्र को सींचनेवाले भावाभिव्यक्ति के दो स्रोत ही मानता है।

मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ स्वभाव से ही बहिर्मुखी होती है। वह अपने बाहर के पदार्थों की ओर ही सबसे पहले आकृष्ट होता है। इसलिए उनका ही नामकरण भी सबसे पहिले होता है।

किन्तु बाद में जब वह अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी करके देखता है, उसे दिव्य चक्षु मिल जाते हैं। वह भगवान् के विराट्-रूप इस संसार को अपने अन्दर देखने लगता है। वही बौद्धिक तत्त्व, जिनकी अवतक उसे एक क्षीण-सी झलक मिली थी, बिलकुल स्पष्ट होकर उसके सामने आ जाते हैं। अब यदि वह आत्मा और परमात्मा-सम्बन्धी अपने आंतरिक विचारों और अनुभूतियों को व्यक्त करना चाहता है, तो सादृश्य उसे इन लक्षणों और अनुभवों का बाह्य पदार्थों के पूर्व लक्षणों और अनुभवों पर आरोप करके उन्हीं शब्दों में इन्हें व्यक्त करने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करता है। औपचारिक प्रयोग इसीलिए अधिकांश पारदर्शी होते हैं।

जिन पदार्थों को हमने पहिले कभी नहीं देखा है, उन्हें उनसे बिलकुल मिलते-जुलते हुए अपने पूर्व परिचित पदार्थों के नाम से पुकारने की प्रवृत्ति नई नहीं है। बच्चा शुरू-शुरू में प्रत्येक पुरुष को 'पिता' और प्रत्येक स्त्री को 'माता' कहकर पुकारता है। इससे सिद्ध होता है कि अपरिचित और अज्ञात वस्तुओं के लिए परिचित वस्तुओं के पूर्वनिर्दिष्ट नामों का उपयोग करना आवश्यक हो या न हो, स्वाभाविक अवश्य है। कुछ ऐसी मानसिक स्थितियाँ भी होती हैं, जिन्हें व्यक्त करने के लिए स्वभाव से ही हम उनसे बिलकुल मिलती-जुलती हुई प्रकृतिवाले भौतिक पदार्थों से उनकी तुलना कर देते हैं। रविबाला को गऊ कहने का अर्थ है कि वह गाय-जैसी सरल, सुशील और निष्कपट है। 'मृगनयनी' 'गजगामिनी', कोकिलवयनी', 'नरपुंगव', 'वृकोदर' इत्यादि प्रयोग हमारी इस अन्तःप्रवृत्ति के ही फल हैं। प्रकाश और अन्धकार तो हम समझते हैं। संसार की प्रायः सभी भाषाओं में ज्ञान और अज्ञान के लिए प्रयुक्त होते हैं। फरार ने लिखा है, "भावों की तीव्रता का लक्षण ही अपनी इच्छानुसार उन्हें चित्रित करना है।"[१]

रूपक अथवा लाक्षणिक प्रयोगों की इस आवश्यकता के सम्बन्ध में अब और कुछ कहना व्यर्थ है; क्योंकि जो लोग इसका विशेष अध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए इस प्रकार की बहुत अधिक सामग्री हमारे यहाँ उपलब्ध है। हम स्वयं आगे चलकर इतने उदाहरण देनेवाले हैं कि यदि कोई चाहे, तो केवल उन्हींके द्वारा इस विषय का पूरा अध्ययन कर सकता है। इन मूर्त्त पदार्थों के द्वारा जिन अमूर्त्त भावों को व्यक्त किया जाता है, तत्त्व-ज्ञान-सम्बन्धी उनकी जाँच ही एक अति रोचक और अमूल्य खोज है। वे औपचारिक अथवा अलंकार-युक्त मुहावरे जिनका उपयोग करने के लिए हमें बाध्य होना पड़ता है या तो हमारे पूर्वजों के तीव्र ज्ञान, कविसुलभ अन्तःप्रेरणा और गम्भीर चिन्तन के जीते-जागते स्मारक हैं अथवा इसके प्रतिकूल उनकी मौज अथवा तरंग की अकथनीय उड़ानों, लौकिक दोषों और निराधार मान्यताओं की शाश्वत बपौती। अपने अन्तिम उपवास के बाद एक पत्र में अमरात्मा बापू ने 'मेरे बाद यादवी न मच जाय'। ऐसा एक वाक्य लिखा था। 'यादवी मचना' इस छोटे से पद में कितनी बड़ी चेतावनी है, कितनी बड़ी शिक्षा है, बापू के तीव्र ज्ञान, गम्भीर चिन्तन और समयोचित दूरदर्शिता का यह कितना अच्छा उदाहरण है। भगवान् कृष्ण भी यदि तीर लगने से पहले अपने लोगों को सावधान कर देते, तो सम्भव था, उस समय भी कृष्ण के बाद होनेवाले भीषण रक्तपात से हमारा देश बच जाता। बापू का दूसरा प्रयोग 'करो या मरो' का है, इसमें तो अपने प्राण देकर ही बापू ने 'मुहावरा' की प्राणप्रतिष्ठा की है, अतएव इसके प्रयोग द्वारा तो हम उनका साक्षात् दर्शन ही कर सकते हैं। 'रामबाण होना'. 'द्रौपदी का चीर होना', 'तार टूटना', 'नौ-दो ग्यारह होना' इत्यादि इसी प्रकार के मुहावरे हैं। 'सिर पर पाँव रखकर भागना' मुहावरा आज हमारे यहाँ खूब चलता है, कोई भी 'एक नार तरुवर से उतरी, उसके सिर पर पाँव। ऐसी नार कुनार को मैना देखन जाव' वाली इस पहेली के 'सिर पर पाँव' का सिर पर और पाँव यह अर्थ करके, अपने पूर्वजों द्वारा की

---

१. Spontaneous imagery is the characteristic of all passionate thought.

हुई गलती को सुधारकर, इस मुहावरे का प्रयोग नहीं रोक पा रहा है। 'पेट में चूहे कूदना', 'अपनी आँख का शहतीर न देखना', 'आँत गले में आना', 'आसमान में थेकली लगाना' इत्यादि भी इसी प्रकार के मुहावरे हैं। प्राचीन काल से चली आती हुई इन बुराइयों के और भी बहुत-से नमूने हमारे सामने हैं। स्थानाभाव के कारण जिन्हें हम यहाँ नहीं दे रहे हैं।

इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों में मुख्य के द्वारा अमुख्य का का ज्ञान, 'मुख्येन अमुख्यार्थो लक्ष्यते' 'यत्सा लक्षणा' अवश्य कराया जाता है, किन्तु फिर भी मुख्यार्थ-सम्बन्ध नष्ट नहीं होता। स्मिथ ने इसीलिए ऐसे प्रयोगों को पारदर्शी कहा है। ज्यों-ज्यों मुख्यार्थ सम्बन्ध विच्छिन्न होता जाता है, इनकी पारदर्शकता भी लुप्त होती जाती है। कुशल का मुख्यार्थ 'कुशाँल्लातीति' कुश लेनेवाला या कुश एकत्रित करनेवाला था। कुश का अग्रभाग बहुत तीक्ष्ण होता है। कुश उखाड़नेवालों की उँगलियाँ प्रायः चिर जाती थीं। बड़ी होशियारी से कुश उखाड़ते थे। कुश उखाड़ने में चूँकि होशियारी की आवश्यकता होती थी, इसलिए कुश उखाड़नेवाले को होशियार समझा जाता था। धीरे-धीरे 'कुशल' से कुश लानेवाले का सम्बन्ध, अर्थात् मुख्यार्थसम्बन्ध क्षीण होता गया, यहाँ तक कि आज 'कुशल' का अर्थ ही (अभिधेयार्थ) चतुर हो गया है। 'कुशल से होना', 'कुशल-क्षेम पूछना', 'कुशल न होना' आदि प्रयोगों में तो सुख और सुरक्षा इत्यादि अर्थों में इसका प्रयोग होता है।

एक बार किसी राजा ने अपने पड़ोसी दूसरे राजा के बल और बुद्धि की परीक्षा करने के लिए उसके यहाँ एक बोरी भरकर बाजरा भिजवाया। इसका अर्थ था कि उसके पास असंख्य सेना है, दूसरे राजा ने बाजरे के जवाब में एक पिंजरा भरकर कबूतर भिजवाये। कबूतर बाजरे को खा जाते हैं। इस मुख्यार्थ के द्वारा उसने अपनी सेना के पौरुष तथा अपनी निर्भीकता का सन्देश अपने पड़ोसी राजा के यहाँ भिजवा दिया। मगेरियनों ने स्पार्टावालों से सहायता माँगने के लिए खाद्यान्न के खाली बोरे उनके सामने डाल दिये। खाली बोरे फेंकने का अर्थ खाद्यान्न का अभाव है। हमारे यहाँ भी 'तप्पड़ लौट देना', 'पतीली लौट देना' इत्यादि कार्यों के द्वारा अभाव की सूचना दी जाती थी। सीथियन राजदूतों ने डेरियस को उनके देश पर चढ़ाई करने से रोकने के लिए घंटों तक उसे समझाने-बुझाने के बजाय एक चिड़िया, एक चूहा, एक मेढ़क और दो तीर उसके सामने रख दिये। इन चार चीजों के द्वारा सीथियन राजदूतों ने अपने देश की राजनीतिक और भौगोलिक दोनों प्रकार की स्थिति बहुत थोड़े में, किन्तु बड़े प्रभाव के साथ डेरियस को समझा दी। डेरियस समझ गया कि सीथियनों से लड़ने के लिए उसके आदमियों को चिड़ियों की तरह बिना किसी सहारे ऊँचे-नीचे में जाना होगा, चूहों की तरह बिल बनाकर रहना होगा और मेढ़कों की तरह वहाँ की दलदलों में छिपना पड़ेगा। ज्यूज के इतिहास से तो पता चलता है कि उनके 'प्रोफेट' भी अपने अशिक्षित और असभ्य अनुयायियों को जीते-जागते दृष्टान्त लेकर ही अपनी भाषा समझाया करते थे। हमारे यहाँ का तो प्रायः सारे-का-सारा साहित्य ही इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों से भरा पड़ा है।

किन्तु जब इस प्रकार के भौतिक दृष्टान्त देना असम्भव हो जाता है, तब उन्हीं दृष्टान्तों को शब्दों में चित्रित करके उनकी शब्द-मूर्त्ति से काम लेते हैं। किसी भाषा के मुहावरे अधिकांश इसी प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग होते हैं। जब हम अधिक गर्मी पड़ने पर 'अंगार बरसना' सर्दी में 'बर्फ कटना या पड़ना', 'छिपते हुए सूर्य का शर्माना, निकलते हुए सूर्य का मुस्कराना इत्यादि प्रयोग करते हैं, तब हमारी भाषा जल्दी लोगों की समझ में आ जाती है। 'अंगार बरसना' तथा 'बर्फ कटना या पड़ना' इत्यादि घटनाओं की गम्भीरता से उनका पूर्व परिचय होने के कारण इन घटनाओं के प्रकाश में कही हुई बातें भी उनपर अधिक प्रभाव डालती हैं। मुहावरों में यदि पारदर्शकता का यह गुण न होता, तो भाषा के अन्य शब्द और प्रयोगों की तरह इनका प्रभाव भी इतना तीव्र और प्रभावशाली न होता। और यदि कहीं ऐसे मुहावरे ही भाषा में न होते, तो भाषा का क्या रूप होता,

फरार (Farrar) इस सम्बन्ध में लिखता है, "यदि कोई व्यक्ति लाक्षणिक अथवा मुहावरेदार और प्रयत्नपूर्वक मुहावरों का बहिष्कार करके बनाई हुई तथा यथासम्भव शुद्ध अभिधेयार्थ में प्रयुक्त इन दोनों भाषाओं के अन्तर की तुलना करना चाहता है, तो उसे विज्ञान की शब्दावलि और उसके समानान्तर जनसाधारण में बोले जानेवाले शब्दों और पदों के अन्तर का अध्ययन करना चाहिए।"[1]

"विना किसी संज्ञा के स्वतः किसी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। जो चीजें प्रत्यक्ष रूप में हमारे सामने हैं, उनका हमारी इन्द्रियों पर जिस प्रकार प्रभाव पड़ता है, तदनुरूप हम उनका नाम रखते हैं, किन्तु अप्रत्यक्ष अथवा अदृश्य पदार्थों का चित्रण हम, जिस प्रकार हमारा मन उनसे प्रभावित होता है, उसीके अनुरूप, सादृश्य के आधार पर करते हैं। संसार में समान गुणोंवाली चीजों की कमी नहीं है, फिर ईश्वर ने हमें बुद्धि दी है, जिसके द्वारा हम उन्हें जान सकते हैं। जान सकते हैं, इतना ही नहीं, बल्कि जिन शब्दों में हम अपने भौतिक अनुभवों का वर्णन करते हैं, बड़े विश्वास के साथ ज्ञानपूर्वक उन्हीं शब्दों में उन्हें व्यक्त भी कर सकते हैं।" सिरीज (Serach) के पुत्र ने बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है, "एक दूसरे के विरुद्ध समस्त पदार्थों के जोड़े हैं, और भगवान् ने कोई भी वस्तु अपूर्ण नहीं बनाई है।" इसी भाव को एक उर्दू-कवि ने इस प्रकार बाँधा है—'हर शै के उसने बनाये हैं जोड़े'......। भौतिक और आध्यात्मिक पदार्थों में, कितना ही अस्पष्ट क्यों न हो, काफी घना सादृश्य होता है। अपने भावों और विचारों की बाह्य संसार के परिवर्त्तनों से तुलना करते हुए हम प्रायः क्रोध करने के लिए 'आग उगलना', सीधेपन के लिए 'गाय या गऊ होना', कृपणता के लिए 'मक्खी चूस होना' तथा दानी के लिए 'कर्ण होना' इत्यादि मुहावरों का प्रयोग किया करते हैं। भावाभिव्यक्ति के इस ढंग को हम केवल कल्पना की उड़ान कहकर नहीं टाल सकते। यह तो स्रष्टा के एक ही विचार को ऐसी दो भाषाओं में व्यक्त करना है, जो एक दूसरे की व्याख्या करती है। 'प्रकृति प्रत्यक्ष आत्मा और आत्मा अप्रत्यक्ष प्रकृति है' मनुष्य अपने चारों ओर फैली हुई चीजों को दर्पण की तरह अपने मन में देख लेता है। इसे कोई 'अन्धे की लकड़ी' अथवा अकस्मात् 'धूल में लट्ठ लगना' नहीं कह सकता। आत्मा और प्रकृति के अ योन्याश्रय सम्बन्ध के कारण ही ऐसा होता है।

"आज की बात जाने दो, आज तो एक-एक शब्द के प्रयोग पर इतना वाद-प्रतिवाद और तर्क-वितर्क होता है कि हमारी बुद्धि काम ही नहीं करती। हमारी कल्पना इतनी कुंठित और शुष्क हो गई है कि अरबी और फारसी के साहित्य में यदि आँख की तुलना नरगिस से कर दी गई है, तो नरगिस का फूल हमने भले ही न देखा हो, किन्तु हमारे माशूक की आँख जरूर हमें नरगिस-जैसी लगनी चाहिए। इसी प्रकार, संस्कृत-प्रेमी लोग जहाँ कुछ कठिनाई आई और लगे 'कालिदास', 'भवभूति' और 'माघ' की तिजोरियाँ तोड़ने। मतलब यह है कि रूपकों की दृष्टि से हमारी भाषा बिलकुल अस्पष्ट होती जा रही है। उसकी वह पारदर्शकता, जो उसके उत्पत्ति-काल में थी, अब धीरे-धीरे खत्म होती जा रही है। एमरसन ने ठीक ही कहा है, "ऐतिहासिक दृष्टि से हम जितना ही पीछे जाते हैं, भाषा बराबर चित्रवत् स्पष्ट होती चली जाती है, यहाँ तक कि शैशवावस्था में तो यह बिलकुल काव्य-रूप हो जाती है, समस्त आध्यात्मिक तत्त्व भौतिक संकेतों अथवा चिह्नों के द्वारा ही व्यक्त होते हैं।"[2] आदिम पुरुष के लिए उसके शब्द काँच के उन टुकड़ों-जैसे थे, जिनमें अलग-अलग कोणों से देखने पर अलग-अलग प्रकार के रंग दिखाई पड़ते हैं। वह तुरन्त कितने ही अर्थों में उनका प्रयोग कर लेता था। मानसिक भावों के परिवर्त्तन के साथ ही तुरन्त उसके शब्दों का अर्थ और प्रभाव भी बदल जाता था। इन नये विचारों को भी उसके वे शब्द उतनी ही सरलता स्पष्टता

१. ओरिजिन ऑफ् लैंग्वेज, पृ० १३४।
२. वही, पृ० १४०।

और सौष्ठव के साथ व्यक्त करने में समर्थ थे। कोई पूछे, क्यों ? तो कारण स्पष्ट है। उसकी भावनाएँ स्वतन्त्र होती थीं। प्रकृति के साथ उसका सीधा सम्बन्ध था, प्राकृतिक दृश्य, उनके परिवर्त्तन तथा अन्य भौतिक पदार्थ ही उसके शब्द और मुहावरा-कोष थे। चन्द्रमा और उसकी शीतलता और सरलता का उसे प्रत्यक्ष अनुभव था। इसलिए सरल और सुन्दर प्रकृति को वह 'सोम' (चन्द्रमा) के रूप में देखता है। आज तो हम प्रकृति और प्राकृतिक दृश्यों से बहुत दूर बन्द कमरे के किसी कोने में बैठकर अपने अस्पष्ट और अधकचरे भावों को व्यक्त करने के लिए विवश होकर इन भौतिक उपकरणों का उपभोग करते हैं। यही कारण है कि हमें हरेक प्रयोग के लिए प्रमाण की और प्रमाण के लिए वाद-प्रतिवाद, तर्क और प्राचीन उदाहरणों की आवश्यकता पड़ती है। फिर, एक से दूसरे और दूसरे से तीसरे और चौथे के इस चक्कर में पड़कर मूल-शब्दों के रूप और ध्वनि में भी इतना परिवर्त्तन हो जाता है कि उसमें प्रतिबिम्बित मूल चित्र धीरे-धीरे बिलकुल लुप्त-सा हो जाता है, उनकी लाक्षणिकता नष्ट हो जाती है। अथवा यों कहिए कि वे पारदर्शी नहीं रहते। इसके विरुद्ध किसी भाषा के मुहावरे चूँकि अधिकांश पहले तो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की अपनी प्रत्यक्ष अनुभूतियाँ होती हैं, दूसरे पीढ़ियों के बाद भी उनके ढाँचे में कोई अन्तर नहीं आता, इसलिए वे बहुधा काफी अंश में पारदर्शी होते हैं। 'पक्के पान होना' हिन्दी का एक मुहावरा है। यह तम्बोलियों की भाषा से लिया हुआ एक अति सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग है। किस अर्थ में वे लोग इसका प्रयोग करते हैं, यह भी इससे स्पष्ट हो जाता है। 'चंगुल में फँसना', 'राह देना', 'झंडा गाड़ना (नाम का)', 'मुर्गे लड़ाना', 'चक्की पीसना या पिसवाना', 'बेड़ी पड़ना', 'मटर भुनाना', 'ढिंढोरा पीटना' इत्यादि मुहावरों से भी साफ पता चल जाता है कि वे चिड़िमारों, पतंगबाजों, सैनिकों तथा इसी प्रकार अन्य व्यवसाय करनेवालों की बोलचाल से आये हैं। ये लोग किस अर्थ में इनका प्रयोग करते थे, यह भी इन मुहावरों को देखने से मालूम हो जाता है विशेष अध्ययन के लिए इस प्रकार के कुछ अधिक मुहावरे नीचे देते हैं—

अंगूठा चूमना, अंटाचित होना, अड़ियल टट्टू होना, आंट पड़ना, आटा गीला होना, ईंट तक बिकवाना, उड़ती चिड़िया पहचानना, एक लाठी हाँकना, ऐंठ लेना या रखना, ओखली में सिर देना, औलिया होना, कंठी बाँधना, कूण्डा होना या करना, कोदों दलना, खम ठोककर, खूँटा गाड़ना, गला फँसाना, गिरह लगाना, घास काटना या खोदना, चन्द्रमा बलवान् होना, चलता-पुरजा होना, चोली-दामन का साथ होना, छक्का-पंजा भूलना, छुरी फेरना, जबान में लगाम न होना, जहर का बुझा होना, झाड़ का काँटा होना, टट्टू पार होना, टाट उलटना, ठोकना-बजाना, डंके की चोट कहना, डलिया-टोकरी उठाना, ढोल पीटना, तवे की बूँद होना, तिलांजलि देना, तीर मारना, थैला करना, दफ्तर खोलना, दाँव खेलना, धूनी रमाना, धौंकनी लगना, नक्शा खिंच जाना, पट्टी पढ़ाना, फातिहा पढ़ना, बखिया उधेड़ना, भेड़ा-चाल होना, मात खाना, मूली-गाजर होना, रंग बिगड़ना, लंगर उठाना, हींग हगना।

एक पद (शब्द) का विभिन्न पदजातों (शब्द-भेदों) में प्रयोग

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' गीता के इस वाक्य से मिलता-जुलता ही तुलसी का 'जिन्हके रही भावना जैसी प्रभु मूरत देखी तिन तैसी' यह पद है। वास्तव में परमात्मा ही नहीं, किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में जैसी हमारी भावना होती है, उसका वैसा ही चित्र हमारे सामने आता है। फिर, किसी वस्तु के सम्बन्ध में मनुष्य की जैसी भावनाएँ होती है अथवा उस वस्तु का जैसा चित्र उसके सामने आता है, उसका वर्णन करने के लिए वैसे ही शब्द और उनके रूपान्तर भी होते हैं। भावना-भेद ही शब्द-भेद का मूल कारण है।

मान लें, हम गाँधीजी के विषय में विचार करते हैं। विचार करते ही एक मूर्त्ति हमारे सामने आती है, जिसे हम गांधी, बापू, महात्मा या मोहनदास कर्मचन्द गांधी आदि शब्दों से

सम्बोधित करते हैं। जो लोग उनके कार्य-क्रम से परिचित हैं, वे यदि उनका ध्यान करके उनके विषय में कुछ कहना चाहें, तो लिखना, टहलना, कातना, खाना इत्यादि कोई दूसरा शब्द लगाकर 'गांधीजी लिखते हैं' या 'टहलते हैं' इत्यादि कहेंगे। 'गाधीजी' और 'कातना' दोनों अलग-अलग प्रकार के शब्द हैं। गांधी एक व्यक्ति का नाम बताता है और 'कातना' शब्द से हम इस शब्द के सम्बन्ध में कुछ विधान करते हैं। उनके आलोचक उनकी विशेषताओं को सूचित करने के लिए 'सत्य-निष्ठ', 'कर्त्तव्य-निष्ठ', 'व्यक्ति-निष्ठ' इत्यादि शब्द भी गांधी शब्द के साथ जोड़ देंगे। अब यदि एक ही प्रसंग में कई बार गांधीजी का नाम रखना है, तो एक ही शब्द की बार-बार आवृत्ति करने के बजाय, वह या उनका इत्यादि शब्द रख देते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि अपने विचार प्रकट करने के लिए हमें भिन्न-भिन्न भावनाओं के अनुसार एक शब्द को बहुधा कई रूपों में कहना पड़ता है। प्रयोग के अनुसार शब्दों की इन भिन्न-भिन्न जातियों को ही शब्द-भेद कहते हैं।

हिन्दी-व्याकरणों में शब्द-भेद किस प्रकार अथवा किस आधार पर किया गया है, इस पर थोड़ा प्रकाश डालने के बाद हम शब्द-भेद की दृष्टि से मुहावरों में प्रयुक्त शब्दों का विवेचन करेंगे। संस्कृत में शब्दों के[1] १. संज्ञा, २. क्रिया और ३. अव्यय, केवल ये तीन ही भेद होते हैं। इसी आधार पर हिन्दी के अधिकांश व्याकरणों में भी शब्दों के तीन भेद माने गये हैं। संस्कृत रूपान्तरशील भाषा है, उसमें शब्दों का प्रयोग वा अर्थ बहुधा उनके रूपों से ही जाना जाता है। हिन्दी में शब्द के रूपमात्र से उसका अर्थ या प्रयोग सदा प्रकट नहीं होता। आगे बहुत से उदाहरण देकर बतायेंगे कि हिन्दी में कभी-कभी विना रूपान्तर के, एक ही शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न शब्द-भेदों में होता है, जैसे' साथ-साथ फिरना' या 'साथ लगना', 'साथ देना', 'गेहूँ के साथ घुन पिसना' इत्यादि मुहावरों में प्रयुक्त 'साथ' शब्द क्रमशः क्रिया-विशेषण, संज्ञा और सम्बन्धसूचक रूपों में आया है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी में संस्कृत के समान केवल रूप के आधार पर शब्द-भेद मानने से उनका ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो सकता। सम्भवतः, इसी कारण कुछ वैयाकरणों ने सर्वनाम तथा विशेषण और जोड़कर इनकी कुल संख्या पाँच कर दी है। कोई-कोई लोग तीन भेदों के उपभेद करके और कोई उपसर्ग और प्रत्यय को भी शब्द मानकर अव्यय में उनकी गणना कर लेते हैं और इस प्रकार शब्द-भेदों की संख्या बढ़ा लेते हैं। हिन्दी की तरह अँगरेजी भी पूर्णतया रूपान्तरशील भाषा नहीं है। अँगरेजीवालों का भी शब्द-भेदों के सम्बन्ध में पूर्ण मतैक्य नहीं है। "उन लोगों में किसी ने दो, किसी ने चार, किसी ने आठ और किसी-किसी ने तो नौ तक भेद माने हैं। इस मतभेद का कारण यह है कि ये वर्गीकरण पूर्णतया शास्त्रीय आधार पर नहीं किये गये। कुछ विद्वानों ने इन शब्द-भेदों को न्याय-संगत आधार देने की चेष्टा की है।"[2] इस प्रकार, प्रायः प्रत्येक भाषा में शब्द-भेदों की संख्या में बहुत मतभेद है।

प्रस्तुत प्रसंग में चूँकि हमारा मूल उद्देश्य शब्द-भेदों की संख्या निर्धारित करना अथवा पहिले से निर्धारित संख्या पर टीका-टिप्पणी करना नहीं है, इसलिए इस विषय को इतना ही संकेत करके छोड़ देते हैं। हमारा अभिप्राय तो वास्तव में यह दिखाना है कि एक ही शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न शब्द-भेदों में होता है। स्मिथ के शब्दों में कहें, तो "मुहावरों में, शब्दों का प्रायः प्रत्येक भेद किसी दूसरे भेद का स्थान ले सकता और कार्य कर सकता है।" व्याकरण के ज्ञाता और पढ़े-लिखे लोगों की भाषा में जब एक ही शब्द भिन्न-भिन्न शब्द-भेदों में प्रयुक्त हो सकता है, तब व्याकरण से बहुत दूर गाँव के निरक्षर किसान और मजदूरों की भाषा में तो ऐसे प्रयोगों की

१. प्रातिपदिक, धातु और अव्यय।
२. हि० व्या० (गुरु)।

संभावना और भी अधिक है। फिर चूँकि, मुहावरों का उनकी भाषा से काफी घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए स्मिथ का इतने विश्वास के साथ यह कहना कि मुहावरों में प्रयुक्त शब्द प्रायः प्रत्येक शब्द-भेद की तरह प्रयुक्त हो सकते हैं, सर्वथा उचित और ठीक ही है। मुहावरों में, जैसा आगे चलकर विस्तारपूर्वक बतायेंगे, व्याकरण के और भी कितने ही नियमों का व्यतिक्रम पाया जाता है। किन्तु, जबकि भाषा के साधारण प्रयोगों में इस प्रकार का कोई भी व्यतिक्रम दोष माना जाता है, मुहावरों में वही दोष उनकी विशेषता बन जाता है। अँगरेजी-मुहावरों के उदाहरण लेकर स्मिथ ने इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, हिन्दी-मुहावरों पर भी विना किसी उलट-फेर या न्यूनाधिक्य के वह बात उतनी ही लागू होती है। अतएव हम यहाँ अपने उदाहरणों से पुष्ट करते हुए स्मिथ का मत देते हैं। वह कहता है—"ऐसे मुहावरों के साथ ही कि जिनमें व्याकरण के नियमों की खुले आम उपेक्षा की गई है, हमारी मुहावरेदार भाषा में बहुत-से ऐसे प्रयोग भी मिलते हैं, जिनमें नियमों का (भाषा, व्याकरण अथवा तर्क-सम्बन्धी) बहुत ही सूक्ष्म विरोध हुआ है। हमारे अधिकांश मुहावरे जन-साधारण की उस लोकप्रिय भाषा से आते हैं, जिसमें आज भी व्याकरण-सम्बन्धी वही स्वतन्त्रता सुरक्षित है, जो हमारी भाषा के प्राचीन इतिहास की एक विशेषता थी। इस प्रकार एलिजबेथ-कालीन अँगरेजी की तरह मुहावरों में शब्दों का प्रायः कोई भी एक भेद किसी दूसरे भेद के स्थान में प्रयुक्त हो सकता है और उसका काम कर सकता है। संज्ञा और विशेषणों को क्रिया-रूप में बदलकर प्रयोग करना तो हमारी भाषा के लिए एक साधारण बात है, बहुत-से मुहावरों में क्रियाविशेषण और उपसर्ग संज्ञा की तरह प्रयुक्त होते हैं। ('क्यों और कैसे में न पड़ना', 'अगर-मगर करना', 'नीच-ऊँच देखना'। 'अति' संस्कृत का उपसर्ग है, किन्तु, 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' में संज्ञा की तरह प्रयुक्त हुआ है; 'दुर' भी उपसर्ग है, किन्तु 'दुर दुर करना' मुहावरे में संज्ञा की तरह प्रयुक्त हुआ है।) उपसर्ग क्रिया-रूप हो जाते हैं (हिन्दी में इस प्रकार के प्रयोग हमें नहीं मिले, अँगरेजी में अवश्य 'to out with', 'to up and' इत्यादि प्रयोग मिलते हैं, और क्रियाएँ संज्ञाओं की तरह प्रयुक्त होती हैं ('खाना-पीना होना', 'आना-जाना बन्द होना', 'रोने रोना)। कभी अकर्मक क्रया का सकर्मक रूप में प्रयोग होता है, जैसे उचकना अकर्मक क्रिया है, किन्तु 'किसी का माल उचक लेना' आदि प्रयोगों में सकर्मक की तरह इसका प्रयोग होता है और कर्तृवाच्य का कर्मवाच्य-जैसा अर्थ होता है। 'देशावर लदना' इसी प्रकार का प्रयोग है, किन्तु वास्तव में इस प्रकार की स्वतन्त्रताओं की कोई सीमा निर्धारित करना कठिन है। 'But me no buts' मुहावरों के इस प्रयोग-स्वातन्त्र्य का एक विलक्षण उदाहरण है।[1]

कामताप्रसाद गुरु अपने हिन्दी-व्याकरण में संज्ञा के स्थान में आनेवाले शब्दों की मीमांसा करते हुए लिखते हैं[2]—'सर्वनाम का उपयोग संज्ञा के स्थान में होता है', 'विशेषण कभी-कभी संज्ञा के स्थान में आता है', 'कोई-कोई क्रियाविशेषण संज्ञाओं के समान उपयोग में आते हैं', 'कभी-कभी विस्मयादिबोधक शब्द संज्ञा के समान प्रयुक्त होता है', 'कोई भी शब्द वा अक्षर केवल उसी शब्द वा अक्षर के अर्थ में संज्ञा के समान उपयोग में आ सकता है'। गुरुजी ने भाषा के साधारण प्रयोगों की छान-बीन कर ही इतनी विशेषताएँ अथवा अपवाद एकत्रित किये हैं, कहीं मुहावरों के क्षेत्र में जा निकलते, तो पग-पग पर दायें-बायें, नीचे-ऊपर, आगे-पीछे सब जगह इसी प्रकार के प्रयोग लहराते हुए देखकर हम समझते हैं कि एक बार तो अवश्य ही वे इस भ्रम में पड़ जाते कि मुहावरों को व्याकरण का अपवाद कहें अथवा व्याकरण को मुहावरों का अपवाद। उदाहरण के लिए इस प्रकार के कुछ मुहावरे आगे देते हैं —

१. डब्ल्यू० आई०; पृ० १८२-८३।

२. हि० व्या० (का० प्र० गु०) पृ० ८१-८२।

तू-तू मैं-मैं होना, तेरा-मेरा करना, छोटा-बड़ा देखकर बात करना, अट्ठे-पंजे लड़ाना, अच्छे आना, अच्छा-भला होना, बाहर-भीतर करना, अन्धाधुन्ध उड़ाना, जब-तब करना, जल्दी मचाना, ही-ही करना, हू-हू मचाना, हाय-हाय मची रहना, वाह-वाह होना, टीं-टीं करना, अगर-मगर करना, गाना-बजाना होना, अमचूर बना देना, अवाई-तवाई होना, अवाई उड़ाना, आखिर अच्छा होना, सूरदास होना, जयचन्दों से बचना, सरपट फेंकना।

इस प्रकार के काफी उदाहरणों की जाँच करने से स्पष्ट हो जाता है कि सर्वनाम, विशेषण, क्रियाविशेषण तथा विस्मयादिबोधक शब्दों के संज्ञा-रूप में प्रयुक्त होने के साथ ही हिन्दी-मुहावरों में ऐसे भी काफी प्रयोग मिलते हैं, जिनमें व्यक्तिवाचक संज्ञा का जातिवाचक के रूप में (सूरदास होना, जयचन्दों से बचना) भाववाचक का जातिवाचक के रूप में (पहनावे से पहिचानना, सूखा पड़ना) जातिवाचक का व्यक्तिवाचक के रूप में (सन्-संवत न जानना, गांधी बनना), व्यक्तिवाचक संज्ञा विशेषण के रूप में (रामबाण होना, जवाहर बंडी, गांधी कैप), जातिवाचक संज्ञा विशेषण के रूप में (शहद होना, बर्फ होना, ज़हर होना), जातिवाचक संज्ञा सर्वनाम के रूप में (मोहन का आदमी आया था, उसका आदमी मर गया इत्यादि प्रयोगों में आदमी क्रमशः नौकर और पति के लिए आया है), अव्यय संज्ञा के रूप में (अगर-मगर करना, अवाई-तवाई होना, अवाई उड़ाना), क्रियाविशेषण संज्ञा के रूप में (जब-तब करना, यहाँ-वहाँ करना) तथा इसी प्रकार के बहुत-से दूसरे शब्द विभिन्न शब्द-भेदों में प्रयुक्त होते हैं।

मुहावरों की निरंकुशता

इस अध्याय में अबतक मुहावरों की प्रकृति, स्वभाव अथवा मुख्य-मुख्य विशेषताओं पर ही विचार किया गया है। संक्षेप में, हमारी भाषा के मुहावरों को, शब्द-योजना और तात्पर्यार्थ दोनों दृष्टियों से प्रायः सभी प्रमुख विशेषताएँ इनमें आ जाती हैं। मुहावरों में वाग्वैचित्र्य के साथ ही जब भाषा के किसी नियम का उल्लंघन अथवा व्यतिरेक होता है या अन्य किसी प्रकार की कोई अव्यवस्था रहती है, तब उनकी इन विशेषताओं में और भी चार चाँद लग जाते हैं, वे पहले से दूनी रुचिकर और चुभनेवाली बन जाती हैं। मुहावरों का यह विद्रोह प्रायः दो प्रकार का होता है—१. जबकि व्याकरण के नियमों को तोड़ा जाता है। २. जबकि तर्क के नियमों को तोड़ा जाता है। व्याकरण और तर्क के अतिरिक्त भाषा के कुछ और भी ऐसे नियम हैं, जिनका मुहावरों में सदा पालन नहीं होता। इस प्रकार, मुहावरों के विरोध का एक तीसरा प्रकार भाषा के नियमों को तोड़ना भी मान सकते हैं। मुहावरों की इस तीसरी विशेषता का अबतब काफी विवेचन हो चुका है। अप्रयुक्त अथवा लुप्तप्राय शब्दों का प्रयोग, द्विरुक्तियाँ और पुनरुक्तियाँ इत्यादि सब भाषा के दोष ही हैं, उसके नियमों का उल्लंघन ही करते हैं। अतएव उनको फिर से न लेकर इस सम्बन्ध में जो कुछ नई बात हमें कहना है, उसे कहकर बाद में मुहावरों की इन पहिली और दूसरी प्रकार की प्रवृत्तियों का विवेचन करेंगे।

किसी भाषा में जिस प्रकार अधिकांश शब्दों के एक से अधिक अर्थ होते हैं, उसी प्रकार अधिकांश भावों के सूचक कई-कई शब्द भी होते हैं। पर उन सबमें कुछ-न-कुछ अन्तर होता है। हर समय और हर जगह एक का दूसरे के स्थान में प्रयोग नहीं हो सकता। अतः, प्रत्येक अवसर पर व्यवहार में लाने के पूर्व बड़े सावधान होकर भाव की दृष्टि से उनकी उपयुक्तता पर विचार करके शब्दों का चुनाव करना चाहिए। उदाहरण के लिए एक शब्द लीजिए—मोटा! मोटा आदमी भी होता है और मोटा कपड़ा भी। मुहावरों में अक्ल के लिए भी 'मोटा' विशेषण लगाकर 'मोटी अक्ल का होना' अथवा 'अक्ल मोटी होना' आदि प्रयोग चलते हैं। 'मोटा खाकर रहना', 'मोटी बात होना', 'मोटा नाज' इत्यादि प्रयोग भी खूब चलते हैं। अब 'मोटा' शब्द का दूसरा

पक्ष अथवा विलोमार्थक शब्द लीजिए—'मोटा' का विरोधी भाव सूचित करनेवाले महीन, बारीक, पतला, दुबला और सूक्ष्म इत्यादि कई शब्द हैं। कागज पतला होता है, कपड़ा महीन, रस्सी बारीक और बुद्धि सूक्ष्म होती है। आटा महीन तो हो सकता है, किन्तु पतला, दुबला या सूक्ष्म नहीं। 'पतला' शब्द का विरोधी भाव सूचित करने के लिए 'मोटा' शब्द के अतिरिक्त 'गाढ़ा' शब्द भी आता है। पतला आदमी और मोटा आदमी कहना तो ठीक है, किन्तु पतला आदमी और गाढ़ा आदमी नहीं कह सकते। दाल पतली या गाढ़ी हो सकती है, आदमी नहीं। मतलब यह है कि ये सब विशेषण अलग-अलग भावों के सूचक हैं और अलग-अलग पदार्थों के साथ अलग-अलग अवस्थाओं में प्रयुक्त होते हैं। जैसे, चावल मोटा एक अर्थ में होता है और दाल पतली बिलकुल दूसरे अर्थ में। फिर जिस अर्थ में दाल पतली होती है, रोटी उस अर्थ में पतली नहीं होती। इसी प्रकार के अवसरों पर ठीक और उपयुक्त शब्द चुनने की आवश्यकता होती है। दुबली रोटी, सूक्ष्माहार, गाढ़े दिन, बारीक बात, आग्रह-ग्रस्त होना इत्यादि प्रयोग आये दिन धड़ल्ले से चलते हैं। माशूक को नमकीन और उसकी बातों को लज़ीज कहनेवाले भी काफी शोरा हैं।

"जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अथवा पदार्थ की कुछ विशिष्ट प्रकृति होती है, उसी प्रकार प्रत्येक भाषा की भी कुछ विशिष्ट प्रकृति होती है और जिस प्रकार स्थान और जलवायु या देश-काल आदि का मनुष्यों के वर्गों अथवा जातियों आदि की प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार बोलनेवालों की प्रकृति का उनकी भाषा पर भी बहुत-कुछ प्रभाव पड़ता है। बल्कि हम कह सकते हैं कि किसी भाषा की प्रकृति पर उसके बोलनेवालों की प्रकृति की बहुत-कुछ छाप रहती है। यह प्रकृति उसके व्याकरण, भाव-व्यंजन की प्रणालियों, मुहावरों, क्रिया-प्रयोगों और तद्भव शब्दों के रूपों या बनावटों आदि में निहित रहती है।'[1] इसी प्रसंग में थोड़ा आगे बढ़कर पृष्ठ ३२ पर वर्माजी फिर कहते हैं—'भाषा की प्रकृति भी बहुत-कुछ मनुष्य की प्रकृति के समान होती है। मनुष्य वही चीज़ खा और पचा सकता है, जो उसकी प्रकृति के अनुकूल हो। यदि वह प्रकृति-विरुद्ध चीजें खाने और पचाने का प्रयत्न करे, तो यह निश्चय है कि या तो उसे सफलता ही न होगी या वह बीमार पड़ जायगा। भाषा भी वे ही तत्त्व ग्रहण कर सकती है, जो उसकी प्रकृति के अनुकूल हों।"

वर्माजी ने भाषा की प्रकृति के सम्बन्ध में जो बातें कही हैं, उनसे किसी का विरोध नहीं हो सकता। भाषा की अपनी एक विशेष प्रकृति होती है, जिसके विरुद्ध जाने पर भाषा की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है, उसमें कृत्रिमता, अस्पष्टता और भद्दापन आ जाता है। फिर, मुहावरों में भाषा की तथाकथित प्रवृत्ति के विरोधी तत्त्व रहते हुए भी क्यों ऐसे प्रयोगों से भाषा में कृत्रिमता या भद्दापन नहीं आता, इसका उत्तर चिर-प्रयोग अथवा अवान्तर अभ्यास के कारण इन विरोधी-तत्त्वों का उसकी प्रकृति बन जाना ही है। कहा भी है कि, 'अभ्यास से ही प्रकृति बनती है।' इसके अतिरिक्त भाषा की प्रकृति, आखिर है तो उसके बोलनेवालों की प्रकृति का प्रतिबिम्ब ही। जैसे-जैसे उनकी प्रवृत्ति बदलती जाती है, वैसे-वैसे उनकी भाषा की प्रकृति में भी परिवर्त्तन होते जाते हैं। मुहावरे एक प्रकार से मनुष्य की स्वभावोक्तियाँ अथवा आदिकवि वाल्मीकि के मुख से अनायास निकले हुए उद्गार-जैसे होते हैं, अतएव भाषा के नियमों के विरुद्ध होते हुए भी वे अत्यन्त भावपूर्ण और मनमोहक होते हैं।

भाषा के नियमों का उल्लघंन करते हुए भी मुहावरों के इस विद्रोही तत्त्व को उनका दोष न कहकर एक विशेषता बताने का अर्थ, आज के पढ़े-लिखे लोगों में भाषा के नियमों का इच्छापूर्वक उल्लंघन करने की, बढ़ती हुई प्रवृत्ति को प्रोत्साहन या प्रश्रय देना कदापि नहीं है। दूसरी भाषाओं के प्रभाव में पड़कर अपनी भाषा की प्रकृति की लेश-मात्र चिन्ता न करते हुए

१. अ० हि०, पृ० २८।

अनुपयुक्त और असंगत प्रयोगों की हम घोर निन्दा करते हैं। किसी भी देश और काल में ऐसी निरंकुशता भाषा की प्रगति को रोककर उसे अशक्त और अव्यवस्थित ही बनाती है, उसके प्रचार और प्रसार में किसी प्रकार सहायक नहीं होती। हिन्दी का हित चाहनेवाले भाई-बहनों से इसलिए हमारा नम्र निवेदन है कि वे खास तौर से दूसरी भाषाओं से अपनी भाषा में अनुवाद करते समय अपनी भाषा की प्रकृति का अच्छी तरह से ध्यान रखें। 'I am going to say it' अँगरेजी के इस वाक्य का 'मैं यह कहने जा रहा हूँ' ऐसा अनुवाद करना निश्चय ही हमारी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध है। इसलिए ऐसे अवसरों पर हमें बड़ी सतर्कता से काम करना चाहिए। 'मैं यह कहनेवाला हूँ' या 'मैं यह कहूँगा' ऐसे बामुहावरा प्रयोग जब हम कर सकते हैं, तब फिर 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' का अनुसरण करके अपने दिवालियेपन का ढिंढोरा क्यों पीटें। इसी प्रसंग में ऐसे लोगों को भी सचेत करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं, जो भाषा की प्रकृति के नाम पर-हर किसी की जबान पर चढ़े हुए लोकप्रिय प्रयोगों क भी बहिष्कार करने के स्वप्न देख रहे हैं। नियमों का उल्लंघन करते हुए भी मुहावरे भाषा की प्रकृति का विरोध नहीं करते, यही उनकी विशेषता है।

व्याकरण के नियमों का उल्लंघन

मुहावरों का विशेष अध्ययन करनेवाले लोगों को एक बहुत बड़ी संख्या ऐसे प्रयोगों की मिल जायगी, जो व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करते हुए भी हमारी भाषा में चलते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि उसके प्राण समझे जाते हैं। शिष्ट और अशिष्ट प्रायः सभी लोग बड़े गर्व के साथ उनका प्रयोग करते हैं। भाषा के अन्य साधारण प्रयोगों में जहाँ इस प्रकार की व्याकरण-सम्बन्धी कोई भी छोटी-सी भूल अक्षम्य समझी जाती है, वहाँ मुहावरों में क्यों वही एक विशेषता हो जाती है, इसका एक रहस्य है। शब्दों के शुद्ध रूप और प्रयोग के नियमों का निरूपण करना ही व्याकरण का मुख्य उद्देश्य है। जिस प्रकार जिस जाति के रीति-रिवाज इत्यादि के आधार पर कोई कानून बनता है, वह उसी जाति पर लागू होता है, दूसरी पर नहीं। हिन्दुओं का कानून हिन्दुओं पर ही लागू होगा, ईसाई या मुसलमानों पर नहीं, उसी प्रकार जिस भाषा अथवा उसके जिस रूप के आधार पर कोई व्याकरण बनता है, वह उसी भाषा अथवा उसके उसी रूप तक सीमित रहना चाहिए। जिस व्याकरण की तुला पर आज मुहावरों को तौला जाता है, उसके बटखरे किस आधार पर बने हैं, उस ओर अबतक लोगों की दृष्टि गई ही नहीं है। गलत बटखरों से तौलने पर यदि माल बावन तोले पाव रत्ती ठीक न उतरे, तो हम समझते हैं कि माल का इसमें कोई दोष नहीं है। प्रसिद्ध वैयाकरण श्रीकामताप्रसाद गुरु, व्याकरण के नियम किस आधार पर बनते हैं, इस प्रसंग में अपनी पुस्तक हिन्दी-व्याकरण के पृष्ठ ५ पर लिखते हैं—"व्याकरण के नियम बहुधा लिखी हुई भाषा के आधार पर निश्चित किये जाते हैं; क्योंकि उसमें शब्दों का प्रयोग बोली हुई भाषा की अपेक्षा अधिक सावधानी से किया जाता है। व्याकरण (वि + आ + करण) शब्द का अर्थ 'भली भाँति समझना' है। व्याकरण में वे नियम समझाये जाते हैं, जो शिष्ट जनों के द्वारा स्वीकृत शब्दों के रूपों और प्रयोगों में दिखाई देते हैं।"

गुरु के इस वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि शिष्ट जनों के द्वारा स्वीकृत, लिखी हुई भाषा में मिलनेवाले शब्दों के रूपों और प्रयोगोंके आधार पर ही व्याकरण के ये नियम स्थिर किये जाते हैं। इसलिए, शिष्ट जनों के द्वारा व्यवहृत शब्दों तक ही इन नियमों का क्षेत्र सीमित रहना चाहिए। उनसे आगे बढ़कर अशिष्ट अथवा अशिक्षित किसान और मजदूरों के मुख से भावावेश में निकले हुए शब्द-पिंडों की जाँच इनके आधार पर नहीं होनी चाहिए। मुहावरों का जन्म, जैसा पहले भी कई बार लिख चुके हैं, अधिकांश गाँव के रहनेवाले अशिक्षित बढ़ई, लुहार आदि

मजदूर और किसानों की स्वाभाविक घरेलू बोलचाल से होता है। मुहावरों में प्रयुक्त शब्द स्वतन्त्र रूप से अवश्य अधिकतर शिष्ट जनों के द्वारा स्वीकृत होते हैं, किन्तु मुहावरों में रहते हुए चूँकि उनकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, इसलिए उनके मुहावरा-गत रूप और प्रयोग पर व्याकरण का कोई नियम लागू नहीं हो सकता। फिर चूँकि, व्याकरण की रचना भाषा को नियम-बद्ध करने के लिए नहीं होती, भाषा पहले बोली जाती है और तब उसके आधार पर व्याकरण के नियम बनाये जाते हैं, इसलिए यह मानना चाहिए कि मुहावरों के रूप और प्रयोग को देखकर अभी तक कोई व्याकरण बना ही नहीं है। इस व्याकरण को जबरदस्ती मुहावरों के मत्थे मढ़कर उन्हें नियमोल्लंघन- का दोष लगाना अन्याय है। मुहावरों के रूपों और प्रयोगों के आधार पर स्वतन्त्र रूप से जबतक कोई नियम नहीं बन जाते, तबतक उनके सम्बन्ध में नियमोल्लंघन की बात ही कहाँ उठती है। जिन रूपों में उनका प्रयोग होता है, वही इसलिए उनके आदर्श उदाहरण या नियम हैं।

व्याकरण, यदि वास्तव में भाषा और उसके प्रयोगों के अधीन है और उन्हींके अनुसार बदलता रहता है, तो मुहावरों का उससे कभी कोई संघर्ष हो ही नहीं सकता। हाँ, जैसा स्मिथ कहता है—"यदि व्याकरण, जिस अर्थ में हम प्रायः इसे लेते हैं, अर्थात् हमारी भाषा के प्रयोगों का बिलकुल तटस्थ रहकर हिसाब रखने, उनके आधार पर नये नियम बनाने आदि से बढ़कर तर्क और सादृश्य के नियमों के अनुसार उन्हें कैसा होना चाहिए, इसकी व्यवस्था करने का आदर्श लेकर चलता है, तो निस्सन्देह वह मुहावरों का जन्म-जात शत्रु है और निरन्तर उन्हें नष्ट करने में लगा रहता है।"

विभिन्न भाषाओं के इतिहास देखने से पता चलता है कि शिशुओं की तरह अपने शैशव काल में भाषाएँ भी अनियन्त्रित और अव्यवस्थित रहती हैं, उनके रूपों और प्रयोगों का वैज्ञानिक विश्लेषण और वर्गीकरण तो बाद में होता है। यही कारण है कि जिन प्राचीन भाषाओं के व्याकरण बहुत ज्यादा बाद में बने हैं, वे बहुत लम्बे हैं। उस समय तक के सब अनियमित प्रयोग भी नियमित मानकर उन व्याकरणों में ले लिये गये हैं। ठीक भी है, जब कोई नियम ही नहीं, तो फिर अनियमित किसे कहें। मुहावरों के रूप और प्रयोग के आधार पर भी चूँकि अबतक इस प्रकार के कोई नियम नहीं बने हैं, इसलिए व्याकरण की दृष्टि से यदि उनपर विचार ही करना है तो या तो उनके लिए नये नियम बना लें या फिर पुराने नियमों को अपवाद मानकर उन्हें भी व्याकरण का एक अंग मान लें। हमें प्रसन्नता है कि हिन्दी के प्रसिद्ध वैयाकरण श्रीकामताप्रसाद गुरु ने सर्वप्रथम इस ओर कदम बढ़ाया है। अपनी पुस्तक 'हिन्दी-व्याकरण' में आपने प्रायः प्रत्येक शब्द-भेद का विवेचन करते हुए नमूने के तौर पर कुछ ऐसे लोक-प्रचलित प्रयोग प्रस्तुत नियम के अपवाद-स्वरूप दे दिये हैं।

आधुनिक वैयाकरणों की प्रवृत्ति बदल रही है। वे मुहावरों या मुहावरेदार प्रयोगों का बहिष्कार नहीं करते, बल्कि इतिहास और मनोविज्ञान के द्वारा उन्हें समझाने का प्रयत्न करते हैं। 'गलबहियाँ डालना' हिन्दी का एक मुहावरा है। व्याकरण की दृष्टि से इसका शुद्ध रूप 'गले में बाहें या बहियाँ डालना' होना चाहिए। व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करने के कारण यह प्रयोग वर्जित होना चाहिए। आज का वैयाकरण इस प्रयोग को स्वीकार करके क्यों और कैसे उसका प्रचार हुआ, इस पर विचार करता है। वह, स्मिथ ने जैसा लिखा है, पुराने वैयाकरणों की तरह ऐसे प्रयोगों का बहिष्कार नहीं करता। "......किन्तु प्राचीन वैयाकरणों की धारणा थी कि उनका उद्देश्य इससे ऊँचा था। लैटिन के अध्ययन और यूरोप की विभिन्न भाषाओं की तुलना के आधार पर उन्हें यह विश्वास हो गया था कि तर्क-शास्त्र और मनुष्य की चित्त-वृत्तियों के आधार पर एक लोक व्यापक व्याकरण हो सकता है। प्रत्येक देश के वैयाकरणों ने डॉक्टर

जॉनसन के शब्दों में 'व्याकरण की दृष्टि से भाषा को शुद्ध करने के लिए' अपनी-अपनी भाषाओं से यथासम्भव स्थानिक स्वभावोक्तियों को निकालने तथा नियम-विरुद्ध प्रयोगों और अपवादों को नष्ट करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया। अपने ही शब्द-कोश को सँभल-सँभलकर काम में लाने की व्यवस्था करने का भी उन्होंने प्रयत्न किया। इन वैयाकरणों के प्रयत्नों के कारण अँगरेजी के बहुत-से मुहावरेदार प्रयोग अशुद्ध समझे जाने लगे और हमारी शिष्ट भाषा से निकाल दिये गये। इनमें सबसे प्रमुख कदाचित् दो निषेधार्थक शब्दों का साथ-साथ प्रयोग करना है। चौसर के समय में ये प्रयोग बिलकुल शुद्ध समझे जाते थे। शेक्सपीयर के समय भी इनका प्रयोग हुआ और आज भी बहुत बड़ी संख्या में अँगरेज लोग इनका प्रयोग करते हैं। ग्रीक-भाषा में यह प्रयोग शुद्ध माना जाता था। फ्रांस, स्पेन और रूस की भाषाओं में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं। (हिन्दी में भी मत ना जाओ' इत्यादि के रूप में दो निषेधार्थक शब्दों के साथ-साथ प्रयोग मिलते हैं।) किन्तु तर्क के अनुरूप (पर मनोविज्ञान के बिलकुल विरुद्ध), चूँकि यह समझा जाता है कि दो निषेधार्थक शब्दों के एक साथ प्रयोग करने से किसी प्रयोग की शक्ति बढ़ने के बजाय नष्ट होती है, इसलिए आधुनिक अँगरेजी में ऐसे प्रयोग बहुत ही अशिष्ट और भद्दे समझे जाते हैं। इसी प्रकार बहुत ज्यादा अच्छा more better......, अति निकटतर more nearer आदि 'तर' और 'तम' की द्विरुक्तियाँ भी, जो शेक्सपीयर की रचनाओं में मिलती हैं, आजकल सर्वथा अशुद्ध मानी जाती हैं। किन्तु, जैसा डॉक्टर एबोट (Abbott) कहते हैं—'इस प्रकार की अनियमित रचनाएँ उस वृत्ति का स्वाभाविक फल हैं, जो तर्क-संगत से कहीं अधिक स्पष्ट और ओजपूर्ण अभिव्यक्ति को पसन्द करती है।"[1]

हमारी भाषा हिन्दी को अपने पैरों पर खड़े हुए अभी जुमा-जुमा आठ दिन भी नहीं हुए हैं। युगों की दासता से मुक्त होकर अभी उसने जरा साँस ली है। अनेक उपभाषाओं के होने तथा अरबी-फारसी-मिश्रित उर्दू के साथ लगातार वर्षों तक इसका सम्पर्क रहने के कारण इसकी रचना-शैली तथा अँगरेजी के रंग में सराबोर अनुवादित भाषा लिखनेवाले हमारे अधिकांश आधुनिक लेखकों और पत्रकारों के कारण इसके शब्दों के रूप और प्रयोग अभी तक प्रायः इतने अस्थिर हैं कि इसके वैयाकरण को व्यापक नियम बनाने में बड़ी कठनाइयों का सामना करना पड़ता है। यही कारण है कि आज भी हिन्दी का कोई ऐसा व्याकरण नहीं मिलता, जिसे सर्वांगपूर्ण कहा जा सके, जिसमें मूल विषय के साथ-साथ छंद-निरूपण, रस-अलंकार, कहावत, मुहावरे तथा भाषा के अन्य रूपान्तरों और प्रयोगों का इतिहास आदि विषयों का विवेचन हो। हिन्दी के जो कुछ व्याकरण मिलते हैं, वे भी, जैसा आगे बतायेंगे, सौ वर्ष से अधिक पहले के नहीं हैं। ऐसी स्थिति में हम यह तो नहीं कह सकते कि हमारी भाषा और उसके मुहावरों के प्रति वैयाकरणों का कभी इतना कड़ा रुख रहा है, किन्तु कौन जानता है कि आगे चलकर कब वे ऐसा रुख ले लेंगे, इसलिए स्मिथ की इस चेतावनी से हमें फायदा उठाना चाहिए। हिन्दी-व्याकरण का संक्षिप्त इतिहास देते हुए श्रीकामता प्रसाद गुरु ने लिखा है—

"......इससे जाना जाता है कि हिन्दी-भाषा के जितने व्याकरण आज तक हिन्दी में लिखे गये हैं, वे विशेषकर पाठशालाओं के छोटे-छोटे विद्यार्थियों के लिए निर्मित हुए हैं। उनमें बहुधा साधारण (स्थूल) नियम ही पाये जाते हैं, जिनसे भाषा की व्यापकता पर पूरा प्रकाश नहीं पड़ सकता। शिक्षित समाज ने उनमें से किसी भी व्याकरण को अभी तक विशेष रूप से प्रामाणिक नहीं माना है। हिन्दी-व्याकरण के इतिहास में एक विशेषता यह भी है कि अन्य भाषा-भाषी भारतीयों ने

---

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० १७९—८०।

भी इस भाषा का व्याकरण लिखने का उद्योग किया है, जिससे हमारी भाषा की व्यापकता, इसके प्रामाणिक व्याकरण की आवश्यकता और साथ ही हिन्दीभाषी वैयाकरणों का अभाव अथवा उनकी उदासीनता ध्वनित होती है। आजकल हिन्दी-भाषा के लिए यह एक शुभ चिह्न है कि कुछ दिनों से हिन्दीभाषी लेखकों (विशेषकर शिक्षकों) का ध्यान इस विषय की ओर आकृष्ट हो रहा है।"[१] इसी भूमिका में आगे चलकर पृष्ठ ११ पर वह लिखते हैं—"......हिन्दी-भाषा के आरम्भ-काल में समय-समय पर (प्रायः एक-एक शताब्दी में) बदलनेवाले रूपों और प्रयोगों के प्रामाणिक उदाहरण, जहाँ तक हमें पता लगा है, उपलब्ध नहीं हैं।' गुरु हिन्दी के एक संभ्रान्त वैयाकरण हैं। काफी छान-पछोड़ और खोजा-खाजी के बाद ही उन्होंने यह मत स्थिर किया होगा। इसलिए हिन्दी-मुहावरों के साथ अबतक किसने कैसा वर्त्ताव किया, इसकी आलोचना न करके वर्त्तमान वैयाकरणों क प्रवृत्ति किस ओर है, संक्षेप में इस पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

हिन्दी-शब्दों के रूपों और प्रयोगों पर व्याकरण की दृष्टि से विचार करनेवालों में कामताप्रसाद गुरु और आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करनेवालों में रामचन्द्र वर्मा, यही दो प्रमुख व्यक्ति हैं। कामताप्रसाद गुरु ने तो यह कहकर कि "यद्यपि ये सब विषय कहावतें, मुहावरे इत्यादि भाषा-ज्ञान की पूर्णता के लिए आवश्यक है, तो भी ये सब स्वतन्त्र विषय हैं और व्याकरण से इनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है" कहावत और मुहावरों पर विचार ही नहीं किया है। रहे वर्माजी, उन्होंने तो इस पर विचार ही खुलेआम छिद्रान्वेषण की दृष्टि से किया है, इसलिए कुछ अच्छे खासे चलते हुए मुहावरों का भी गेहूँ के साथ घुन की तरह उनकी चपेट में आ जाना स्वाभाविक था। हिन्दी-भाषा में चलनेवाले अनियमित, अशुद्ध और उच्छृंखल प्रयोगों की निन्दा करके वर्माजी ने हिन्दी-भाषा की बहुत बड़ी सेवा की है। इस दोष-दर्शन में भी चूँकि वर्माजी का उद्देश्य पवित्र ही था, इसलिए व्याकरण अथवा तर्क की दृष्टि से कुछ अनियमित मुहावरों को यदि उन्होंने अशुद्ध समझ लिया, तो इसके लिए हम उन्हें दोष नहीं देते। हम जानते हैं कि अनजाने में ही सही, इसके द्वारा भी उन्होंने हमारा उपकार ही किया है। भावी वैयाकरणों का हिन्दी-मुहावरों के प्रति क्या रुख होगा, उन्होंने पहले से ही इसकी सूचना हमें दे दी है। मुहावरों का महत्त्व उनके व्याकरण अथवा तर्क की दृष्टि से सर्वथा विशुद्ध रूपों में नहीं, बल्कि सबकी जबान पर चढ़े हुए लोक-व्यापक प्रयोगों में है। जले पर नमक छिड़कने में कोई तर्क नहीं है, जले पर नमक लगाने से तो उल्टे जलन मिटती है, किन्तु फिर भी चूँकि जनता ने दुःखी को और दुःख देने के अर्थ में इस मुहावरे को अपना लिया है, इसलिए तुलसीदास-जैसे भाषा-मर्मज्ञ ने जनमत के विरुद्ध न जाकर 'जले पर नमक छिड़कना' मुहावरे का ही प्रयोग किया है—'अति कटु बचन कहति कैकेई, मानहु लोन जरे पर देई'। कहने का अभिप्राय यह है कि मुहावरों में व्याकरण और तर्क के नियमों का पालन होना आवश्यक नहीं है।

हिन्दी ही नहीं, संसार की अन्य भाषाओं में भी मुहावरों के तर्क अथवा व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग खूब चलते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम मनमाने ढंग से उनका प्रयोग करने लग जायें, या मार-कूट कर जबरदस्ती उन्हें नियम विरुद्ध बनायें। दुर्भाग्य से आज हमारे लेखक और पत्रकार इस विषय में इतने निरंकुश हो गये हैं कि जिस ओर उनकी कलम चल देती है, वही उनके लिए मुहावरेदार प्रयोग बन जाता है। समाचार-पत्रों या भाषणों में यदि कहीं इस प्रकार के अशुद्ध प्रयोग हो जायें, तो सहन किया जा सकता है, किन्तु पाठ्य-पुस्तकों और व्याकरण की पुस्तकों में जब ऐसे अशुद्ध प्रयोग देखने को मिलते हैं, तब बहुत बुरा लगता है।

---

१. हिन्दी-व्याकरण (गुरु), पृ० ६।

हिन्दीवालों की इस बढ़ती हुई कुवृत्ति से खीझकर ही वर्माजी ने उन्हें इस कदर आड़े हाथों लिया है। व्याकरण के कठोर नियमों से जकड़ी जाने पर जिस प्रकार भाषा में उसके विरुद्ध क्रान्ति होती है, उसी प्रकार उसके नितान्त अव्यवस्थित, अनियमित और असंयत हो जाने पर पुनः उसे व्याकरण और तर्क के छन्ने में छानकर शुद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। डॉ० जॉनसन के व्याकरण के विशुद्धता-आन्दोलन में आकर जिस प्रकार ड्राइडन ने अपनी पुस्तक 'एस्से ऑन ड्रे मेटिक पोइजी' के दूसरे संस्करण में इस प्रकार के मुहावरों को निकाल डाला, उसी प्रकार वर्माजी के इस आन्दोलन के कारण कहीं हमारे मुहावरों की भी ऐसी ही दुर्गति न हो जाय : हम पहले से ही इसपर विचार कर लेना उचित समझते हैं। इस प्रकार के अनियमित मुहावरों के कुछ उदाहरण देने के उपरान्त, इसलिए क्यों और कहाँ तक उनकी यह स्वतन्त्रता क्षम्य है, इसकी मीमांसा कर लेना आवश्यक है। 'सिट्टी भूल जाना' या 'सिट्टी-पिट्टी भूल जाना' हिन्दी का प्रसिद्ध मुहावरा है। 'हिन्दी-मुहाविरे' पुस्तक के पृष्ठ ४६८ पर दिनकरशर्मा ने इसका प्रयोग इस प्रकार किया है—"किसी दिन उस दुष्ट को ऐसा पीटूँगा कि वह सब सिट्टी-पिट्टी भूल जायगा।" इसीसे मिलता-जुलता एक दूसरा मुहावरा 'सिट्टी गुम होना' है। वर्माजी ने सम्भवतः इसीके आधार पर 'वह सिट्टी भूल गई'—इस प्रयोग को अशुद्ध मानकर 'उसकी सिट्टी भूल गई'[1] इसे शुद्ध माना है। 'उसकी सिट्टी गुम हो गई' तो ठीक है; किन्तु 'उसकी सिट्टी भूल गई'—ऐसा प्रयोग कम-से-कम खड़ीबोली के, क्षेत्रों में तो नहीं होता। 'मटियामेट करे देना' और 'मलियामेट कर देना या होना' दोनों मुहावरे बराबर चलते हैं। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में इतने लोकप्रिय हो गये हैं कि उनके शुद्ध और अशुद्ध प्रयोग की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। प्रयोगकर्त्ता, 'वह किस खेत से निकला है' इस ओर ध्यान नहीं देता; वह तो केवल यह देखता है कि उसका आशय इस मुहावरे से प्रकट होता है अथवा नहीं। 'मटियामेट करना' मुहावरे की लोक-प्रसिद्धि का सबसे बड़ा सबूत रामदहिन मिश्र की 'हिन्दी-मुहावरे' पुस्तक है। मिश्रजी ने 'मटियामेट कर देना' मुहावरा ही रखा है। 'मलियामेट करना' नहीं। इसलिए जैसा वर्माजी ने कहा है, वास्तव में यह मुहावरों की दुर्दशा नहीं है। दुर्दशा तो अब 'मटियामेट' को मटियामेट करके 'मलियामेट' करने में होगी। 'सत्यानाश होना' मुहावरे को यदि व्याकरण की दृष्टि से ठीक करके 'सत्तानाश होना' कहा जाय, तो मुहावरे की सत्ता का सत्यानाश हो जाये। 'कसर न रखना' या 'कसर बाकी न रखना' अथवा 'कसर न उठा रखना' आदि मुहावरे, हम मानते हैं, 'कसर न करना' और 'कुछ उठा न रखना'—इन दो मुहावरों की खिचड़ी-जैसे हैं, किन्तु चूँकि वे जनता के मुहावरे में आ चुके हैं, इसलिए भाषा में उनका भी वही स्थान होना चाहिए जो 'कसर न रखना' या 'कुछ उठा न रखना' का है। अब व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध किन्तु मुहावरे की दृष्टि से बिलकुल चुस्त और चलनेवाले कुछ प्रयोगों पर विचार करेंगे। 'अपनी बीती कहना या सुनना'[2] हिन्दी का एक मुहावरा है। व्याकरण की दृष्टि से इसका शुद्ध रूप 'अपने पर बीती हुई' होना चाहिए। इसी मुहावरे का प्रयोग 'आप बीती कहना' के रूप में भी खूब चलता है। 'आप बीती' में 'आप' सर्वनाम का काम कर रहा है और 'बीती' भूतकालिक क्रिया का। व्याकरण की दृष्टि से इसका कोई अर्थ ही नहीं है। 'आप आप को' या आप आप की' इत्यादि भी इसी प्रकार के व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग हैं। 'खून मुँह लगना' मुहावरे का व्याकरण की दृष्टि से किसी प्रकार अन्वय या विश्लेषण कीजिए। उसका 'मुँह को खून का जायका लगना' ऐसा अर्थ कभी नहीं निकलेगा; किन्तु मुहावरे में आने के कारण बच्चा-बच्चा विना किसी प्रयत्न के ही इसका ठीक अर्थ समझ लेता है।

---

१. अ० हि०, पृ० १३२।

२. अपने ऊपर बीती हुई के अर्थ में आता है।

'अपनी गाना', 'आवाज कसना', 'उलट-पेंच की बात करना', 'एक टाँग खड़ा रहना', 'कचहरी चढ़ना', 'कनखियों लगना', 'चढ़ा-ऊपरी लगना', 'जनाना करना', 'पित्ता पानी पड़ना' इत्यादि इस प्रकार के और भी बहुत-से मुहावरे हमारे यहाँ चलते हैं।

व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करते हुए भी, चूँकि ऐसे मुहावरे इतने लोकप्रिय हो गये हैं कि बच्चा-बच्चा उनके अर्थ और प्रयोग से परिचित है, इसलिए अब उनका बहिष्कार करने से भाषा की उलटी हानि ही होगी, लाभ नहीं। इसके सिवा यदि कोई वैयाकरण हमें यह विश्वास दिला दे कि एक बार व्याकरण-विरुद्ध इन सब प्रयोगों को अपनी भाषा से निकाल देने पर फिर कभी ऐसी अव्यवस्था न होने पायगी, तो हम बड़ी खुशी से सब कुछ सहकर भी उन्हें अपनी जिद पूरी करने का अवसर दे दें। लेकिन वास्तव में इससे होगा यह कि 'साँप तो नहीं मरेगा,' हाँ, 'लाठी अवश्य टूट जायगी', मुहावरों का कोश शायद छिन्न-भिन्न हो जाये, किन्तु अनादिकाल से चली आती हुई नियमों के विरुद्ध विद्रोह करनेवाली मनुष्य की प्रकृति नहीं बदल सकती। पाणिनि तथा उसके पहले और बाद में भी कितने ही अच्छे-अच्छे वैयाकरण हुए हैं, जिन्होंने अपने-अपने समय में प्रचलित भाषा के ऐसे अनियमित और अव्यवस्थित प्रयोगों को निकालकर कितनी ही बार भाषा को शुद्ध किया है, किन्तु फिर भी जब आज वही अव्यवस्था हमारे देखने में आती है, तब हमें लगता है कि व्याकरण भाषा को बदल सकती है, मनुष्य की प्रकृति को नहीं। फिर चूँकि भाषा एक प्रकार से मनुष्य की प्रकृति का ही प्रतिबिम्ब होती है, इसलिए बिम्ब को बिना सुधारे प्रतिबिम्ब को सुधारने का प्रयत्न करना बबूल बोकर आम की आशा करने से कम नहीं है।

"हिन्दुस्तान के इतिहास में भाषा का सबसे पुराना नमूना ऋग्वेद में मिलता है। पर ऋग्वेद की पेचीदा संस्कृत, साहित्य की और ऊँचे वर्गों की ही भाषा मालूम होती है, साधारण जनता की नहीं। कुछ भी हो, संसार की और सब भाषाओं की तरह ऋग्वेद की संस्कृत भी धीरे-धीरे बदलने लगी। उसपर आर्य-लोक-भाषा और अनार्य-भाषाओं का प्रभाव अवश्य ही पड़ा होगा। पिछली संहिताओं की भाषा ऋग्वेद से कुछ भिन्न है। ब्राह्मणों और आरण्यकों में भेद और भी बढ़ गया है, उपनिषदों में एक नई भाषा-सी नजर आती है। इस समय वैयाकरण उत्पन्न हुए, जिन्होंने संस्कृत को नियमों में जकड़ दिया और विकास बहुत-कुछ बन्द कर दिया। व्याकरणों में सबसे ऊँचा स्थान पाणिनि की अष्टाध्यायी ने पाया, जो ई० पू० सातवीं और चौथी सदी के बीच में किसी समय रची गई थी। इसके सूत्र अबतक प्रामाणिक माने जाते हैं। पर थोड़ा-सा परिवर्त्तन होता ही गया, वीर-काव्य की भाषा कहीं-कहीं पाणिनि के नियमों का उल्लंघन कर गई है। साहित्य की भाषा जो वैदिक समय से ही केवल पढ़े-लिखे आदमियों की भाषा थी, व्याकरण के प्रभाव से, लगातार बदलती हुई लोक-भाषा से बहुत दूर हट गई। यह लोकभाषा देश के अनुसार अनेक रूप धारण करती हुई बोलचाल के सुभीते और अनार्य-भाषाओं के संसर्ग से प्रत्येक समय में नये शब्द बढ़ाती हुई, पुराने शब्द छोड़ती हुई, क्रिया, उपसर्ग, वचन, लिंग और काल में सादगी की ओर जाती हुई, प्राकृत भाषाओं के रूप में दृष्टिगोचर हुई। इनका प्रचार संस्कृत से ज्यादा था; क्योंकि सब लोग इन्हें समझते थे।"[1]

भाषा का जो थोड़ा-बहुत इतिहास ऊपर दिया गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण ने जब-जब लोकभाषा के लोकप्रिय प्रयोगों को नियमों में जकड़ने का प्रयत्न किया है तब-तब उनका उल्लंघन करके कोई नई लोकभाषा चली है। वीर-काव्य में पाणिनि के नियमों का भी उल्लंघन मिलता है। भावोत्कर्ष और भावावेश की भूमिका में ही चूँकि वीर-काव्य का जन्म होता है, इसलिए आवेशपूर्ण उक्तियों में व्याकरण अथवा तर्क के नियमों का समुचित रूप से पालन न होना

---

१. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, पृ० २५३-५४।

स्वाभाविक ही है। 'फरार' ने यही बात मुहावरों के सम्बन्ध में कही है। वह लिखता है—"अत्यन्त ओजपूर्ण और धारा-प्रवाह पदों में प्रायः समस्त भाषाओं के मुहावरे एक-दूसरे के बहुत अधिक निकट आ जाते हैं, यहाँ चित्तक्षोभ का न्याय तर्क से बढ़ जाता है और व्याकरण के नियम भावुकता की विभीषिकाओं में विलीन होकर भस्मीभूत हो जाते हैं।"[1] स्मिथ भी एक प्रकार से इसी मत का समर्थन करते हुए लिखता है—"यह विचार-तत्त्व जो बुद्धिवाद के नियमों का विद्रोही है, जो अमूर्त्त की अपेक्षा मूर्त्त को, व्याकरण की अपेक्षा लाघव या संक्षेप को और तर्क की अपेक्षा प्रभाव को अधिक अच्छा समझता है, संक्षेप में वस्तुओं का वह अयुक्त अथवा तर्कहीन, किन्तु सजीव ज्ञान है, जो युक्तिसिद्ध भाषा के मुहावरेदार छिद्रों से झाँककर हमारी ओर देखता है और लोक-भाषा के उन अशिष्ट प्रयोगों, अश्लील मुहावरों और अनियमित सन्धियों के द्वारा, डॉक्टर जॉनसन के शब्दों में, जिन्होंने अँगरेजी-भाषा की व्याकरण-सम्बन्धी शुद्धता को दूषित कर दिया है, हमारी ज्ञानेन्द्रियों से बातें करता है।[2]

फरार और स्मिथ की तरह और भी बहुत-से विद्वान् हैं, जिन्होंने भाषा और उसके विशिष्ट प्रयोगों (मुहावरे) का व्याकरण से क्या सम्बन्ध है, इसपर बड़ी गम्भीरता से विचार किया है और इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि व्याकरण भाषा का अनुगामी है, भाषा व्याकरण की नहीं। भाषा की अपनी एक स्वतन्त्र प्रकृति है, जो कभी किसी प्रकार के बाह्य नियन्त्रण को सहन नहीं करती। ऋग्वेद-काल से आज तक हमारी भाषा में जितने और जो-जो परिवर्त्तन हुए हैं, उनके इतिहास का पन्ना-पन्ना, व्याकरण और तर्क के विरुद्ध समय-समय पर जो विद्रोह हुए हैं, उनकी एक स्वतन्त्र कहानी है। जब-जब हमारे वैयाकरणों ने व्याकरण के दुर्भेद्य किले में कैद करके लोकभाषा को संस्कृत करने का प्रयत्न किया है, तब-तब प्राकृतों का प्रचार और प्रसार अधिक हुआ है। भाषा को यदि एक बड़ा साम्राज्य मानें, तो उसके प्रयोग राजा हैं और व्याकरण उनके पीछे-पीछे चलता हुआ राजमार्ग। राजा के चलने के कारण कोई मार्ग राज-मार्ग बनता है, राजमार्ग पर चलने के कारण कोई व्यक्ति राजा नहीं बनता, फिर किसी भी उन्नत भाषा में मुहावरे ही उसके सरताज होते हैं, उनके विना वह अनाथ और असहायों की तरह निस्तेज और निर्बल रहती है, इसलिए मुहावरों को व्याकरण के नियमों से बाँधना अस्वाभाविक तो है ही, असम्भव भी है। मुहावरे एक सबल सेवाभावी लोकप्रिय राजा की तरह सर्वत्र स्वतन्त्रतापूर्वक विचरते हैं। सभी मार्ग उनके लिए राजमार्ग की तरह सुरक्षित और सुगम्य हैं। शब्द, पदार्थ, वाक्यार्थ, वचन, कारक और लिंग आदि सबमें मुहावरों का अपना स्वतन्त्र क्षेत्र रहता है। चन्द्रालोक (९ : १६) में कहा भी गया है—

> शब्दे पदार्थे वाक्यार्थे संख्यायां कारके तथा।
> लिङ्गे चेदमलङ्काराङ्कुरबीजतया स्थिता॥

संस्कृत-साहित्य में समूहवाचक बहुत-से ऐसे शब्द मिलते हैं, जिनका प्रयोग किसी विशेष जाति अथवा पदार्थों के लिए होता है, गाय और घोड़े की ललाई के लिए भी संस्कृत में अलग-अलग शब्द हैं, बहुत-सी क्रियाओं के भी लाक्षणिक प्रयोग होते हैं। पदार्थ और वाक्यार्थ के साथ ही लिंग, वचन और कारकों तक के बहुत-से लाक्षणिक अथवा मुहावरेदार प्रयोग हमारी भाषा में मिलते हैं। अलंकारों के प्रसंग में पहले अध्याय में जैसा बताया गया है, उनकी विशेषताएँ, स्पष्ट ही लक्षणा से होती हैं। फिर रूढ़ लाक्षणिक प्रयोग चूँकि मुहावरा ही होते हैं, इसलिए शब्दों का कोई भी भेद अथवा प्रयोग ऐसा नहीं है, जहाँ लक्षणा की पहुँच हो और मुहावरे की नहीं।

---

१. ओरिजिन ऑफ् लैंग्वेज, पृ० १३१।

२. डब्ल्यू० आई०, पृ० २७१।

संसार की विभिन्न भाषाओं के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन करने पर बार-बार यही अनुभव होता है कि भाषा का एक चेतना-युक्त जीवन है। वह निरन्तर बनती और विकसित एवं विस्तृत होती है। उसे तर्क या व्याकरण से पूछ-पूछकर कदम रखने की फ़ुरसत ही कहाँ है, वह तो अबाध गति से निरन्तर आगे ही बढ़ती जाती है। इसलिए व्याकरण अथवा तर्क के कठोर बन्धनों में जकड़कर उसे कोई सर्वथा स्थायी और सार्वलौकिक रूप देना उसकी प्रकृति के बिलकुल विरुद्ध होगा। जिसका जीवन ही वृद्धि और विकास की भित्ति पर स्थित है, उसे भला सदा और सर्वदा के लिए एक ही जगह खूँटा गाड़कर बैठने को कैसे कहा जा सकता है। आज जबकि दुनिया बड़ी तेजी से आगे बढ़ रही है, नित्य-प्रति नये-नये आविष्कार और अनुसन्धान हो रहे हैं, मनुष्य के मन में नये विचार, नई कल्पनाएँ और नई-नई योजनाएँ आ रही हैं, तब उन्हें व्यक्त करने के एकमात्र साधन भाषा को हम व्याकरण और तर्क की ताला-कुंजी लगाकर सामयिक परिवर्त्तनों के प्रभाव से कैसे बचा सकते हैं। किसी भाषा का एक ही स्थायी रूप होना या तो उसके बोलनेवालों के बिलकुल पशु हो जाने पर संभव है (पशुओं की भाषा प्रायः स्थायी और सार्वभौम होती है) और बिलकुल देवता, जिनकी कोई इच्छा और आवश्यकता ही न हो। 'मर्त्यों की बहुत-सी भाषाएँ होती हैं, अमर्त्यों की केवल एक।'[1]

व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करना भी मुहावरों की एक विशेषता है। उनकी इस विशेषता पर भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार करने के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि किसी भाषा या उसके मुहावरों में व्याकरण-सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन वास्तव में उनकी विशेषता नहीं; बल्कि मानव-मस्तिष्क की विशेषता है। फरार ने इसीलिए कहा भी है—"मानव-मस्तिष्क को जड़ व्याकरण की निरंकुशता का गुलाम बनाना बुरा है।"[2]

बचपन से ही लोहे के जूते पहना दिये जाने के कारण जिस प्रकार चीनी स्त्रियों के पैरों की स्वाभाविक वृद्धि और विकास रुक जाते हैं, उसी प्रकार व्याकरण के कठोर नियमों में जकड़ जाने पर भी भाषा की स्वाभाविक प्रगति, वृद्धि और विकास रुक जाते हैं। स्त्रियों के पैर छोटे होना सौन्दर्य का एक लक्षण है, उनके मुँह पर तिल और ठोढ़ी में गढ़ा होना भी कहीं-कहीं सौन्दर्य के लक्षण माने जाते हैं। कवियों ने तो उनकी आँख, नाक, कान और बालों की लम्बाइयाँ तक बता दी हैं। अब यदि कोई व्यक्ति अपनी किसी नायिका को सुन्दर बनाने के लिए जबर्दस्ती उसकी ठोढ़ी में गढ़ा करता है या डॉक्टरों से तिल बनवाता है, तो सोचिए, बेचारी नायिका की क्या दुर्दशा होगी। वास्तव में सौन्दर्य तो लोकप्रियता में रहता है, प्रकृति-प्रदत्त होता है, ऊपर से लादा हुआ कृत्रिम सौन्दर्य सौन्दर्य नहीं होता। ठीक यही दशा भाषा की भी है। भाषा में नियमित, सुव्यवस्थित और शिष्ट प्रयोग अच्छे लगते हैं। वास्तव में, उनकी शिष्टता और सुव्यवस्था आदि का मूल्य ही इसलिए है कि वे अच्छे लगते हैं, लोकप्रिय हैं। लोकप्रियता ही इसलिए भाषा के सौन्दर्य और सौष्ठव का माप-दण्ड होनी चाहिए, व्याकरण नहीं। मुहावरे लोकप्रिय होते हैं, इसलिए उनकी शिष्टता और सुव्यवस्था आदि पर कोई उँगली नहीं उठा सकता।

व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करनेवाले इस प्रकार के मुहावरों की विवेचना करते हुए अन्त में स्मिथ ने लिखा है—"क्या जो व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ हमारी लोक-भाषा के मुहावरे में आ चुकी हैं, उनके सम्बन्ध में भी कुछ कहने को बाकी रह जाता है? क्या यह मान लेना संभव नहीं है कि इस प्रकार के छोटे-छोटे व्यतिक्रम, जो मुहावरों में चल पड़े हैं तथा प्राचीन पद्धति के प्रतिकूल जो प्रमाणित प्रयोग मिलते हैं, उनकी भी अपनी कोई ऐसी विशेषता और कीमत है, जिसकी तुलना संभवतः उद्योग-धन्धों, चित्र-कला, मूर्त्ति-कला, वस्तु-कला तथा चमड़े,

१. "Mortals have many languages, the immortals one alone."

२. ओरिजिन ऑफ़ लैंग्वेज, पृ० १७५।

शीशे या धातु आदि के कामों में रही हुई उन छोटी-छोटी बुराइयों और कमियों से की जा सकती है, जिनके कारण इन सबमें प्रयुक्त पदार्थ को पहचानने में सहायता मिलती है ? किसी सख्त पदार्थ पर जब कुछ बनाना चाहते हैं या उसे किसी विशेष रूप में बदलना चाहते हैं, तब थोड़ी बहुत कठिनाई के बाद वह बदल तो जाता है, किन्तु उसमें कोई-न-कोई ऐसा अपरिवर्त्तित तत्त्व अवश्य रह जाता है, जिससे उसकी मूल बनावट, प्रकार और प्रवृत्ति का संकेत मिलता रहता है। हमने कल्पना और मानव-स्वभाव-सिद्ध अपनी अप्रमाणिकता पर अपने तर्क को बुरी तरह से लाद दिया है, भाषा की प्रवृत्ति भी कारक-प्रक्रिया और वाक्य-रचना-प्रकार की समानता तथा बिना किसी परिवर्त्तन के यन्त्रवत् उन्हीं पुराने प्रयोगों को दुहराते रहने की ओर झुक गई है, बोल-चाल और सबसे बढ़कर हमारी लेखन-कला तर्कयुक्त वाक्य-शैली के सार्वभौम साँचों में ढलकर चलने के लिए इतनी तत्पर रहने लगी है कि जैसे ही कोई विलक्षण अक्षर-विन्यास, अनियमित बहुवचन, त्रुटि या संशय अथवा व्याकरण या तर्क का अनुचित उल्लंघन सामने आता है, कान खड़े हो जाते हैं। क्या ऐसा नहीं होता ? अपने अनियमित और अव्यवस्थित रूप के कारण ऐसे प्रयोग अर्थ-बोध भी अधिक स्पष्टता से करा देते हैं।"[1]

अपने इस वक्तव्य में स्मिथ ने किसी गूढ़ सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है। भौतिक संसार के मूर्त्त पदार्थों को लेकर अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही उसने भाषा के इन अनियमित और अव्यवस्थित प्रयोगों पर विचार किया है, इसलिए उसका यह अनुभव सबका अनुभव है और सब भाषाओं पर समान रूप से लागू होता है। इसी प्रसंग में सत्रहवीं शताब्दी के फ्रांस के वैयाकरणों के सम्बन्ध में वह लिखता है—

"सत्रहवीं शताब्दी में भाषा की शुद्धता के पक्षपाती फ्रान्सवाले लोग कई प्रकार से बहुत कट्टर थे, किन्तु फिर भी (एक शताब्दी बाद के, हमारे भाषा की शुद्धता के पक्षपातियों की तरह नहीं) वे व्याकरण-सम्बन्धी इन अशुद्ध प्रयोगों के आकर्षण की सत्यता स्वीकार करते थे। उनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध व्यक्ति क्लांडे-डि-बोगलस (Clande-de-Vaugelas) लिखता है—'भाषा का सौन्दर्य वास्तव में इस प्रकार की अतर्कतापूर्ण बातचीत में ही है, इतना अवश्य है कि इसपर मुहावरे की मुहर होनी चाहिए।' वह आगे फिर लिखता है—'यह बात याद रखने की है कि व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करनेवाले बोल-चाल के उन सब प्रकारों को, जो मुहावरों में मँज चुके हैं, अशिष्ट समझने और दूषित प्रयोगों की तरह, उनकी उपेक्षा करने के बजाय उल्टे भाषा के शृंगार की तरह जो जीवित और मृत सभी सुन्दर भाषाओं में रहता है, उनकी स्मृति बनाये रखना चाहिए।"[2]

इस प्रकार के अनियमित और अव्यवस्थित प्राचीन प्रयोगों को भाषा से निकाल देने पर उसका शृंगार और सौन्दर्य बढ़ेगा या घटेगा, यह भी विचारणीय अवश्य है, किन्तु यहाँ प्रश्न नफे-नुकसान का नहीं है, किसी पद के शृंगार अथवा सौन्दर्य के घटने-बढ़ने का उतना मूल्य नहीं है, जितना इस प्रकार के प्रयोगों को अशिष्ट, अयुक्त और दूषित बताकर व्याकरण-सम्बन्धी शुद्धता के प्रचार द्वारा उत्पन्न होनेवाली जन-साधारण की मानसिक प्रतिक्रिया का है। हम जानते हैं कि व्याकरण-सम्बन्धी शुद्धता का भूत सदैव हमारे सिर पर न रहता, तो वर्षों तक गुजराती और मराठी बोलनेवालों के साथ रहने पर भी हम उनकी बोल-चाल से यों ही कोरे न रह जाते। जब कभी हम गुजराती या मराठी में बोलने का प्रयत्न करते थे, व्याकरण का डंडा हमें आगे बढ़ने से रोक देता था। हम समझते हैं, व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध बोलने के पागलपन के कारण दूसरी भाषाओं को सीखने में जो कठिनाइयाँ हमारे सामने आई हैं, व्याकरण-सम्बन्धी

---

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० २६६-६७।

२. वही, पृ० २६७।

शुद्धता का व्यापक प्रचार होने के बाद लोगों को वही कठिनाइयाँ अपनी भाषा को सीखने में पड़ने लगेंगी। लोगों की भाषा में, भाषा द्वारा भावों में और भावों द्वारा नित्यप्रति के व्यवहार में कृत्रिमता आ जायेगी।

अयुक्त प्रयोग

भाषा और व्याकरण-सम्बन्धी अनियमित प्रयोगों पर विचार कर लेने के उपरान्त अब हम अयुक्त (illogical) प्रयोगों की मीमांसा करेंगे। जॉन स्टुअर्ट मिल ने जैसा कहा है—"व्याकरण तर्क का अति प्रारंभिक भाग है..........प्रत्येक वाक्य की रचना तर्क का एक पाठ है।" व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, बहुत कुछ वही इनके सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। शब्दों के रूपों और प्रयोगों का प्रभाव चूँकि उनके अर्थ पर भी काफी पड़ता है, इसलिए व्याकरण, जिसका सम्बन्ध शब्दों के रूपों और प्रयोगों से होता है और तर्क, जिसका सम्बन्ध शब्दार्थ से होता है, एक-दूसरे के काफी निकट हैं। यही बात दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि व्याकरण का सम्बन्ध भाषा के मूर्त्त रूप, अर्थात् शब्दों से होता है और तर्क का सम्बन्ध उसके अमूर्त्त रूप, अर्थात् शब्दार्थ से होता है। इसलिए व्याकरण और तर्क में वही सम्बन्ध समझना चाहिए, जो शब्द और उसके अर्थ में होता है। "अठारहवीं शताब्दी में दार्शनिक या स्वाभाविक व्याकरण की बात प्रायः चला करती थी। यह व्याकरण सब भाषाओं में समान समझा जाता था अथवा यों कहिए, समस्त अलग-अलग भाषाओं के विशिष्ट व्याकरणों में इसका समान रूप से भाग रहता था। प्रत्येक भाषा में लोक-प्रसिद्ध अपवाद मुहावरे (ideotisms) कहलाते थे।"[१]

अठारहवीं शताब्दी का यह मत बहुत पुराना हो गया है। आज चारों ओर से इसके विरुद्ध आवाजें आती हैं। भाषा-विज्ञान के पंडित, जैसा पिछले प्रसंगों में हम दिखा भी चुके हैं, भाषाओं की विभिन्नता पर जोर देते हुए किसी भी सार्वलौकिक व्याकरण का बनना ही असंभव बताते हैं। इसी प्रकार तार्किकों का विरोध भी कुछ कम प्रबल नहीं है। "ये लोग सिद्धान्ततया स्वाभाविक भाषा के तर्कपूर्ण रूप की संभाव्यता को ही स्वीकार नहीं करते। प्रत्येक वाक्य की रचना 'तर्क का एक पाठ' नहीं है; क्योंकि व्याकरण के नियमों का विरोध करना ही उसका मुख्य उद्देश्य रहता है। विश्लेषण (तर्क की दृष्टि से विश्लेषण) करने पर बोलचाल के बहुत-से प्रयोगों का अर्थ उनके शब्दार्थ से सर्वथा भिन्न सिद्ध होता है। 'बहुतों से' का कोई न्याय-युक्त अर्थ होता ही नहीं। बातचीत का प्रस्तुत विषय ही सदैव वास्तविक विषय नहीं होता और बहुत-से व्यक्त वाक्य वास्तविक वाक्य नहीं होते। संक्षेप में पिछले अध्याय में जिन्हें हमने 'भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ' कहा है, वे प्रायः भ्रान्ति में डालकर झूठे तत्त्व-ज्ञान की शब्द-सम्बन्धी आलोचना में हमें फँसा देती हैं।"[२] भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति, जैसा पीछे भी बहुत-से उद्धरण और उदाहरण देकर समझाया गया है, व्याकरण और तर्क के नियमों से सर्वथा मुक्त रहकर आगे बढ़ने की है। अरबन के मत से इसलिए स्वाभाविक भाषा का न तो कोई एक व्याकरण हो सकता है और न न्याययुक्त कोई विशेष रूप। फिर जब व्याकरण और तर्क का भाषा पर कोई नियन्त्रण ही नहीं है, तब उनका अपवाद कैसा ?

तर्क के नियमों का उल्लंघन करनेवाले प्रयोगों अथवा अपवादों की मीमांसा करते हुए स्मिथ भी अन्त में एक प्रकार से इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस प्रकार के मुहावरे व्याकरण अथवा तर्क के अपवाद नहीं, बल्कि भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति के लोक-प्रसिद्ध उदाहरण होते हैं। वह लिखता है—"तर्क की दृष्टि से अनियमित प्रयोग वे हैं, जिनमें हम कान से जितना सुनते हैं,

१. एल्० आर्०, पृ० २८३।
२. वही, पृ० २८४।

उससे अधिक अर्थ रहता है (अभिधेयार्थ से आगे लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ भी रहता है), जिनमें किसी मुहावरे का अर्थ जिन शब्दों के योग से वह बना है, उनके अर्थ से भिन्न होता है। बातचीत करने का वह ढंग, जिसका यदि एक भाषा से दूसरी भाषा में शब्दशः अनुवाद किया जाये, तो कोई दूसरा ही अर्थ हो जाये अथवा बिल्कुल निरर्थक-सा प्रतीत हो। अँगरेजी में अब भी इस प्रकार के मुहावरे बहुत अधिक हैं। यह भी हमारी भाषा की विलक्षण और विचित्र स्वाभाविक विशेषताओं के नमूनों में से एक है।"[1] स्मिथ और अरबन की विचार-सरणि में केवल इतना ही अन्तर है कि स्मिथ इस प्रकार के अनियमित प्रयोगों की व्याख्या करते हुए अन्त में इन्हें भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति का द्योतक बताता है, जबकि अरबन इस प्रकार की अनियमता को पहले से ही भाषा का स्वभाव मानकर चलता है। सामने दिये हुए रेखा-चित्र से दोनों के
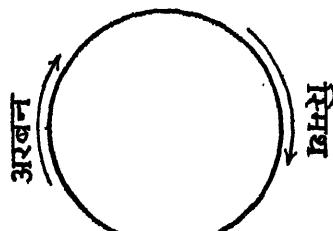
विचार बिलकुल स्पष्ट हो जाते हैं। 'अनियमता' शब्द ही नियम, व्याकरण अथवा तर्क के अस्तित्व का द्योतक है। इसलिए अनियमित प्रयोगों का अर्थ हुआ नियम-भंग। नियम-भंग करना दोष ही है, विशेषता नहीं। फिर जिन नियमों का स्वभावतया पालन नहीं हो सकता, वे कृत्रिम और साम्राज्यवादी कानून की तरह बाहर से लादे हुए होते हैं। अरबन ने इसीलिए व्याकरण और तर्क का ठीक ही विरोध किया है। वास्तव में इस प्रकार के मुहावरे भाषा की स्वाभाविक प्रगति के परम्परा-प्राप्त उदाहरण होते हैं और इसलिए सर्वथा निर्दोष और निरपवाद होते हैं। संसार की अन्य भाषाओं की तरह हिन्दी में भी इस प्रकार के मुहावरों की कमी नहीं है। उदाहरण-स्वरूप ऐसे कुछ मुहावरे नीचे देते हैं—

'आँखों में भंग घुलना' हिन्दी का एक मुहावरा है। भंग घुलनेवाली चीज़ नहीं है, फिर आँख कोई पानी का बरतन नहीं है, जिसमें कोई चीज़ घोली जा सके। इसलिए यदि इस प्रयोग का केवल अभिधेयार्थ लें, तो कोई तुक ही समझ में न आये। इसी प्रकार 'उल्लू की मिट्टी पढ़ना', 'कान के कीड़े मर जाना', 'पेट में चूहे कूदना', 'चौखट चूमना', 'टुकड़े लग जाना' इत्यादि मुहावरे हैं, इनका तात्पर्यार्थ इनके शब्दार्थ से सर्वथा भिन्न है। 'गोल चकोर होना' हिन्दी का एक दूसरा मुहावरा है। 'चकोर' का अर्थ है चार कोनेवाला। कोई भी चीज़ एक ही साथ गोल और चकोर दोनों नहीं हो सकती। इसका न्याययुक्त कोई शब्दार्थ हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार 'ईद के चाँद होना', 'बीरबल की खिचड़ी होना', 'बैल होना', 'बीड़ा उठाना', 'घोलकर पी जाना' आदि मुहावरों में वर्णित प्रस्तुत विषय ही वास्तविक विषय नहीं होता। कभी-कभी तो हमें जो कुछ कहना रहता है, उसके सर्वथा प्रतिकूल अर्थ देनेवाले वाक्यों अथवा मुहावरों के द्वारा उस भाव को

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० १८५।

व्यक्त करते हैं। 'मूर्ख' बताने के लिए 'पंडित' शब्द का प्रयोग खूब चलता है, अधिक खानेवाले को प्रायः कहा करते हैं, 'यह तो कुछ खाते ही नहीं, मोटे-ताजे को 'पतला-दुबला' और कम दीखने पर 'बहुत दीखता है' आदि का भी खूब प्रयोग होता है। 'अम्बर के तारे गिनना', 'अम्बर फाड़ना', 'आकाश से बातें करना', 'आसमान सिर पर उठाना', 'आसमान टूटना', 'सूई की तेज धार होना', 'ज्वाला सागर होना', 'फीकीपानी चलना' (दवात), सायंकाल का समय, 'सोमवार के दिन धूल की रस्सी होना', 'आग धोना', 'सींकिया पहलवान होना', 'गाड़ियों बुखार चढ़ना' इत्यादि इस प्रकार के मुहावरे हमारी भाषा में भरे-पड़े हैं। जितना सुनते हैं, उससे कहीं अधिक इन मुहावरों का आशय होता है, कभी-कभी तो सुनने में कुछ आता है और वास्तविक अर्थ कुछ और ही होता है। 'पानी-पानी होना', 'बारह बाट करना', 'हिचर-मिचर करना', 'पोल पट्टी जानना', 'पान चीरना, इत्यादि ऐसे भी काफी मुहावरे मिलते हैं, जिनका किसी दूसरी भाषा में या तो उल्था हो ही नहीं सकता और यदि हुआ भी तो उनका भाव किसी की समझ में नहीं आ सकता। 'पानी-पानी होना' का अँगरेजी में अनुवाद करके 'to become water water' कहना मूल मुहावरे को गला घोंट-कर मारना है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि इस प्रकार के मुहावरे हमारी भाषा की विलक्षण स्वाभाविक प्रगति के नमूने हैं, अनियमित या अयुक्त प्रयोग नहीं।

तर्क अथवा न्याय की दृष्टि से भले ही इन मुहावरों का कोई प्रत्यक्ष अर्थ न हो, किन्तु सुननेवाला तो मंत्र-मुग्ध-सा हो जाता है, वक्ता का अर्थ समझने के लिए उसे न तो कोई कोष टटोलना पड़ता है, और न व्याकरण या तर्क के दरवाजे झाँकना। अयुक्त और अनियमित दिखाई पड़नेवाले इन मुहावरों में छिपी हुई अर्थ-व्यक्त करने की इस महती शक्ति को देखकर लगता है कि मानव-मस्तिष्क में कुछ-न-कुछ असम्बद्धता तथा असंगत, अयुक्त और अशिष्ट पदार्थों के लिए प्रेम अवश्य है। मनोविज्ञानवेत्ता पंडित भी इसीलिए कहते हैं कि मनुष्य स्वभाव से ही नियम और बन्धनों का विरोधी होता है। किसी पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है—'प्रेम तर्क-कुतर्क नहीं देखता' (Love sees no logic)। इसलिए हमारी बातचीत में जब हृदय-पक्ष प्रबल हो जाता है, तब तर्क के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं और शब्दों से अधिक महत्त्व भावों का हो जाता है। अपने भावों को व्यक्त करने के लिए हमारी इच्छा होती है कि शुद्ध और सार्थक शब्दों का प्रयोग करें, किन्तु फिर भी कभी-कभी भावावेश में अथवा यों ही विनोद के लिए हम उनके अनुपयुक्त और ऊटपटाँग प्रयोगों को ही अधिक पसन्द करते हैं। उस समय ऐसा लगता है कि उनकी असम्बद्धता और अयोग्यता से ही उनका सौन्दर्य बढ़ता है, उनमें शक्ति आती है। क्लांडे-डि-बोगलस ने इसीलिए कहा है-—"भाषा का सौन्दर्य वास्तव में इस प्रकार की अयुक्त और असंगत बातचीत में ही है…………।"

व्याकरण और तर्क की दृष्टि से अनियमित और अव्यवस्थित तथा अयुक्त मुहावरों का समर्थन करके न तो हम व्याकरण या तर्क का खंडन कर रहे हैं और न भाषा में अनियम और अव्यवस्था को प्रोत्साहन ही दे रहे हैं। हम जानते हैं, कोई भी भाषा केवल अनियमित और अयोग्य प्रयोगों के बल पर विचार-विनिमय का सफल साधन नहीं हो सकती। सब लोग सबकी बातें समझ सकें, इसके लिए कुछ सामान्य नियमों और प्रतिबन्धों का होना आवश्यक है, किन्तु फिर भी चूँकि संसार की प्रायः सभी भाषाओं में कुछ-न-कुछ इस प्रकार के अयुक्त और अनियमित प्रयोग चलते ही हैं, इतना ही नहीं, बल्कि अशिष्ट समाज से आये हुए और बिलकुल असंस्कृत और कभी-कभी अश्लील होते हुए भी वे प्रायः हमारे गद्य और पद्य तथा कोश और व्याकरणों में अपना स्थान बना लेते हैं। इससे सिद्ध होता है कि इनके द्वारा घरेलू बातचीत में शब्दों की काफी बचत हो जाती है। 'टुकड़ों पर पड़ना' या 'टुकड़ गदाई करना' हिन्दी के दो प्रसिद्ध मुहावरे हैं। तीन-तीन शब्दों के इन खण्ड-वाक्यों द्वारा जितनी बात कही गई है, वह शायद तीस-तीस शब्द कहने पर भी उतनी स्पष्ट और प्रभावोत्पादक न होती। संक्षेप में, इन मुहावरों के द्वारा

सुननेवालों को बुद्धिगत विचारों का वैसा ही अनुभव होने लगता है, जैसा इन विचारों के बनते समय हुआ था, उनका एक बिलकुल स्पष्ट और चाक्षुष रेखा-चित्र-सा सामने आ जाता है। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो शरीर के अंग-प्रत्यंग फड़क उठते हैं और इन्द्रियाँ स्वयं काम में लग जाती हैं। अखाड़ों और खेल के मैदानों में कितने ही लोगों ने अनुभव किया होगा कि उस्ताद और कप्तान के एक शब्द पर किस तरह पहलवान और खिलाड़ी के अंग-अंग में नई स्फूर्ति और नया उत्साह भर जाता है।

मुहावरों का तर्क की कसौटी पर खरा न उतरना अथवा अपने शब्दार्थ से भिन्न कोई नया अर्थ देना अथवा दूसरी भाषाओं में अनुवाद किये जाने के अयोग्य होना आदि कोई दोष नहीं हैं, जिनके कारण उनकी किसी प्रकार उपेक्षा की जाय। संसारव्यापी जीवन के विविध अनुभवों के अनमोल रत्न-भांडार इन मुहावरों में भरे-पड़े हैं। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि मुहावरे ही किसी भाषा का सुहाग और श्रृंगार होते हैं; इसलिए जैसे भी संभव हो, उनकी रक्षा करनी चाहिए।

सातवाँ विचार

मुहावरों की उपयोगिता

मुहावरों के आकार-प्रकार और विशेषताओं पर विचार कर लेने के उपरान्त अब उनकी योग्यता और उपयोगिता पर भी दृष्टि डाल लेना उपयुक्त होगा। उनका मुख्य रूप से प्रतिपादित विषय क्या है, जीवन के किन-किन पक्षों और अनुभवों की उनमें अभिव्यक्ति हुई है, कितने ऋषि, मुनि, त्यागी, महात्मा और देशभक्त शहीदों की पुण्य-स्मृतियाँ उनमें गूँथी हुई हैं और कैसे-कैसे सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवर्त्तनों की छाप उनपर पड़ी है, इन सबकी छान-बीन करना कुछ कम शिक्षाप्रद और रुचिकर नहीं होगा। "भाषा" जैसा कि हीगल ने कहा है, "संस्कृति की प्रत्यक्ष छाया (प्रतिबिम्ब) है, उसमें सन्देह करना संस्कृति में सन्देह करना है।" यदि हीगल के मत को लेकर चलें तो कहना होगा कि मुहावरे ही वे साधन हैं, जिनके द्वारा उस छाया का प्रत्यक्षीकरण या उससे किसी का साक्षात्कार होता है। यदि थोड़ी और व्यापक दृष्टि से विचार किया जाय, तो लगेगा कि भाषा न केवल संस्कृति की, बल्कि किसी देश, जाति अथवा राष्ट्र के जीवन के सभी पक्षों की प्रत्यक्ष छाया अथवा दैनिक नोट-बही (नोट-बुक) है।

मुहावरों का अध्ययन करते समय जैसा अलग-अलग प्रसंगों में बार-बार हमने देखा है, हमारे यहाँ के अथवा बाहर से आये हुए हमारे अधिकांश मुहावरों की उत्पत्ति का श्रेय गरीब किसान-मजदूर और अशिक्षित तथा अशिष्ट कही जानेवाली ग्रामीण जनता को ही है, इसलिए उनमें किसी गूढ़ तत्त्व-चिंतन, वैज्ञानिक निरूपण, सौन्दर्य-समीक्षा अथवा किसी प्रकार के अति सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के मूर्त्तिमान् होने की आशा ही नहीं होनी चाहिए। उनमें इस प्रकार के प्रायः समस्त भावों का अभाव रहता है। मुहावरों में प्रायः मानव-जीवन के साधारण व्यापारों के ही चित्र रहते हैं। 'डूबती नाव को पार लगाना' तथा 'काली हाँड़ी सिर पर रखना' इत्यादि मुहावरे जिस प्रकार मनुष्य-जीवन के विद्वत्तापूर्ण और मूर्खतापूर्ण दो विभिन्न व्यापारों का परिचय देते हैं, उसी प्रकार दूसरे मुहावरे जीवन को सफलता या असफलता, उन्नति या अवनति, उत्थान या पतन तथा हार अथवा जीत पर प्रकाश डालते हैं। मुहावरों की उत्पत्ति, जैसा पीछे भी दिखाया है, प्रायः अधिकांश भावावेग के कारण ही होती है। पं० रामदहिन मिश्र भी लिखते हैं—'मुहावरे प्रायः वहाँ विशेष करके आपही निकल पड़ते हैं, जहाँ कारणवश आप से बाहर होकर कुछ लिखना पड़ता है। यदि किसी के ऊपर कटाक्ष करना होता है या व्यंग्य की बौछार छोड़नी होती है, तो वहाँ भी एक तरह से मुहावरों की छूट-सी हो जाती है और मुहावरे विना प्रयास कलम से निकल पड़ते हैं।"[1] आगे कहते हैं—"जहाँ बढ़ा-चढ़ाकर कुछ वर्णन करना होता है, वहाँ भी मुहावरे की कमी नहीं होती।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि समाज में एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से कैसा सम्बन्ध है, दो मित्रों में किस प्रकार बातचीत, कहा-सुनी या गाली-गलौज होता है, एक-दूसरे का कहाँ तक साथ देते हैं, कहाँ तक प्रतिकार और प्रतिशोध के भाव हमारे मन में आते हैं इत्यादि-इत्यादि पारस्परिक व्यवहार और व्यापार के भाव ही अधिकतर उनमें रहते हैं। कृषि, वाणिज्य, शिल्प-कला इत्यादि उद्योग-धन्धों तथा आँधी-पानी, ओले-बिजली, धूप-छाँह इत्यादि प्राकृतिक स्थूल परिवर्त्तनों का भी उनसे काफी परिचय मिल जाता है। मनुष्य की

१. हि० मु०, रा० द० मि०, पृ० १४ (भूमिका)।

प्रकृति, प्रवृत्ति तथा उसके व्यक्तिगत सामाजिक और राजनीतिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले भी काफी मुहावरे हमारी भाषा में मिलते हैं। संक्षेप में लेण्डर का उद्धरण देते हुए हम कह सकते हैं—"प्रत्येक अच्छे लेखक की रचनाओं में मुहावरों का बाहुल्य रहता है, मुहावरे भाषा का जीवन और प्राण होते हैं।"

मुहावरों को हम जिस भाषा का जीवन और प्राण मानते हैं, वह स्वयं कितनी उपयोगी है, यह जान लेने पर, हमारा विश्वास है, मुहावरों की उपयोगिता बहुत-कुछ अपने-आप ही समझ में आ जायगी।

"जिस प्रकार भू-गर्भ-निहित सूखे-सड़े हुए कुछ अवशिष्ट पदार्थों में कोमल पत्तियोंवाले सुशोभित पौधों और रीढ़वाली सुन्दर छिपकिलियों इत्यादि के अति विलक्षण और सुन्दर रूप, जो सहस्रों वर्ष पूर्व लुप्त हो चुके हैं, पत्थरों से सटकर अपने अस्तित्व को बचाये हुए दिखाई देते हैं, उसी प्रकार शब्दों (मुहावरों) में भी जो लोग कभी के जीवन-मुक्त हो चुके हैं तथा जिनके नामों तक का आज कोई पता नहीं चलता, उनके सुन्दर-सुन्दर विचार, भावना-चित्र, कल्पनाएँ और अतीत के अनुभव जो अन्यथा उन्हींके साथ विनाश और विस्मृति के गर्त में विलीन हो गये होते, सदा के लिए जीवित और सुरक्षित हैं।" यही लेखक थोड़ा आगे चलकर फिर कहता है—"भाषा केवल काव्यावशेष ही नहीं, बल्कि नीतिशास्त्र और इतिहास का भी स्मृति-अवशेष है।" यहाँ भाषा के साधारण-से-साधारण शब्द-प्रयोगों को लक्ष्य करके लेखक ने उन्हें काव्य, नीतिशास्त्र और इतिहास का स्मृति-अवशेष बताया है। इसलिए, मुहावरे, जो किसी भाषा के अवशिष्ट प्रयोग होते हैं, उन्हें तो आँख मूँदकर किसी देश, जाति अथवा राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति का घटना-बद्ध इतिहास तथा मानव-जीवन के धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक इत्यादि सभी क्षेत्रों की अनुपम उक्तियों और अनुभूतियों के सजीव स्मारक कह सकते हैं।

'कन्या-राशि होना', 'वैतरणी पार करना', 'कृष्ण मुख करना', 'मृगतृष्णा होना', 'पारस होना', 'साढ़े साती आना', 'तिल का ताड़ करना' इत्यादि मुहावरों में न मालूम किस-किस की अनुभूतियाँ मूर्तिमान् होकर उनकी यादगार बनाये हुए हैं। कन्या बारह राशियों में छठी राशि का नाम है। 'कन्या-राशि' उस व्यक्ति को कहते हैं, जिसके जन्म के समय चन्द्रमा कन्या-राशि में थे। मुहावरे में इसका अर्थ सत्यानाशी या चौपट होता है। इस छोटे-से प्रयोग में न मालूम कितने कन्या-राशि व्यक्तियों की परीक्षा के उपरान्त किसने और कब यह अनुभव किया होगा। उस व्यक्ति के नाम और ग्राम का पता न होते हुए भी उसका यह अनुभव उसी प्रकार सजीव और सुरक्षित है। पारस-पत्थर की कल्पना किसने और कब की थी, इतिहास यद्यपि इस विषय में बिलकुल चुप है, किन्तु भाषा के क्षेत्र में सर्वत्र घूमता हुआ यह मुहावरा फिर भी उसकी कल्पना को अमर बनाये हुए है। मुहावरों को इसलिए काव्य-स्मृति-अवशेष कहना सर्वथा उचित और न्याय ही है।

काव्य-पक्ष के उपरान्त अब हम उनके नीतिशास्त्र और इतिहास-सम्बन्धी पक्षों पर विचार करेंगे। भाषा के इन विशिष्ट प्रयोगों पर लगता है कि ईश्वर ने सत्य की ऐसी गहरी मुहर लगा दी है कि जब कभी किसीको किसी गूढ़ तत्त्व का विवेचन अथवा किसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन करना होता है, तब वह इन्हीं मुहावरों के द्वारा अपना काम चलाता है। उसके लिए मुहावरों का समाज में चलते हुए सिक्कों से कोई अधिक महत्त्व नहीं है। हमारे समाजवादी भाई आज खुले आम राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के 'करो या मरो' इस विशिष्ट पद का अपने वक्तव्यों और भाषणों में प्रयोग कर रहे हैं। महात्मा गांधी के इस मुहावरा-मन्त्र के पीछे जो आध्यात्मिक या ईश्वरीय शक्ति का रहस्य है, उससे इन्हें कोई मतलब नहीं। ये लोग तो केवल अपना काम

निकालने के लिए इस मुहावरे का प्रयोग करते हैं; क्योंकि ये जानते हैं कि आज की जनता को खरीदने के लिए इसी प्रकार के सिक्कों की जरूरत है। 'तिलांजलि देना', 'हाथ पकड़ना या पकड़ाना', 'फेरे पड़ना', 'सिन्दूर चढ़ना', 'सोहाग या सुहाग लुटना', 'आड़े में साथ देना' इत्यादि मुहावरे इसी प्रकार के चालू सिक्के हैं, जिनके द्वारा हम आचार-विचार-सम्बन्धी गूढ़-से-गूढ़ तत्त्वों का नित्य प्रति विवेचन और प्रतिपादन करते रहते हैं।

मुहावरे इतिहास की भी उसी प्रकार रक्षा करते आ रहे हैं जैसे, काव्य और नीतिशास्त्र की। 'द्रौपदी का चीर होना', 'जयचन्द होना', 'रामबाण होना', 'हम्मीर हठ', 'अग्नि-परीक्षा होना' इत्यादि छोटे-से-छोटे पदों में कितनी बड़ी-बड़ी सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्रान्तियों के वृहद् इतिहास छिपे पड़े हैं, कौन जानता है ? जिसने महाभारत पढ़ा है, वह जानता है कि 'द्रौपदी के चीर' के पीछे कितना बड़ा इतिहास है। जयचन्द ने किस प्रकार अपने भाई पृथ्वीराज के विरुद्ध मुहम्मद गोरी से मिलकर अपने राष्ट्र को क्षति पहुँचाई है, इतिहास के विद्यार्थी भली भाँति जानते हैं। इसी प्रकार, रामायण का जिन्होंने अध्ययन किया है, 'राम-बाण' और 'अग्नि-परीक्षा' मुहावरों के कान में पड़ते ही राम-रावण-युद्ध और सीता-ग्रहण के समय अग्निदेव की साक्षी इत्यादि का पूरा चित्र उनकी आँखों के सामने आ जायगा। इसी प्रकार 'सन् सत्तावन मचाना', 'नादिरशाही होना', 'हैलेटशाही' और 'आस्टि चिमूर काण्ड' इत्यादि पदों को सुनकर आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं, वही मार-काट, दमन और लूट-मार के चित्र आँखों के सामने फिर से घूम जाते हैं। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि किसी भाषा के मुहावरे उसे बोलनेवालों की प्रवृत्ति-प्रकृति, आचार-विचार और रीति-रिवाज एवं व्यवहार आदि की संक्षिप्त जन्म-कुंडली होते हैं, जिनके आधार पर कुशल पंडित उनकी प्राचीन-से-प्राचीन सभ्यता, संस्कृति और इतिहास तथा साहित्य का पूरा चित्र उतार सकते हैं।

भाषा अर्थवाहक होती है। इस दृष्टि से यदि मुहावरों की परीक्षा करें, तो कहेंगे कि वे एक युग का बौद्धिक रत्नागार आनेवाले दूसरे युग को भेंट कर देते हैं। इतने अमूल्य रत्नों से भरा हुआ मुहावरों का यह जहाज काल के उन भयानक समुद्रों में से होता हुआ बिलकुल सुरक्षित किनारे जा लगता है, जहाँ बड़े-बड़े साम्राज्यों के बेड़े गर्क हो चुके हैं और साधारण जीवन की कितनी ही भाषाएँ विस्मृति के घने अंधकार में विलीन हो चुकी हैं। मुहावरों की इस भारी सफलता को देखकर ही कदाचित् कॉलरिज ने भाषा को मानव-मस्तिष्क का शस्त्रागार बताते हुए लिखा है—

"भाषा, मानव-मस्तिष्क की वह शस्त्रशाला है, जिसमें अतीत की सफलताओं के जय-स्मारक और भावी सफलताओं के लिए अस्त्र-शस्त्र, एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह साथ-साथ रहते हैं।" कॉलरिज के मत को थोड़ा और स्पष्ट करते हुए हम कह सकते हैं कि मुहावरे एक ओर तो हमारे पूर्वजों की सफलताओं का पूरा विवरण हमें देते हैं और दूसरी ओर भावी सफलताओं के लिए हमें पर्याप्त अस्त्र-शस्त्र से लैस कर देते हैं।

मुहावरों की उपयोगिता पर प्रकाश डालने का दूसरा रास्ता उनके महत्त्व की मीमांसा करना है। मुहावरों के सम्बन्ध में महत्त्व का अर्थ उपयोगिता से अधिक कुछ नहीं होता। अब इसलिए उनके महत्त्व पर कतिपय विद्वानों के मत देकर प्रस्तुत प्रसंग को बन्द करेंगे। स्मिथ लिखता है—"शब्दों के अतिरिक्त भाषा की सौन्दर्य-वृद्धि के लिए अन्य बातों की भी अपेक्षा होती है। वे परम आवश्यक हैं। इनको हम मुहावरा कह सकते हैं।" एक दूसरे स्थान पर फिर वह लिखता है।

"मुहावरे हमारी बोलचाल में जीवन और स्फूर्ति की चमकती हुई छोटी-छोटी चिरगारियाँ हैं। वे, हमारे भोजन को पौष्टिक और स्वास्थ्यकर बनानेवाले उन तत्त्वों के समान हैं, जिन्हें

हम जीवन-तत्त्व कहते हैं। मुहावरों से वंचित भाषा शीघ्र ही निस्तेज, नीरस और निष्प्राण हो जाती है। इसलिए मुहावरों के बिलकुल न होने से विजातीय मुहावरों को ले लेना कहीं अच्छा है।"

"विज्ञानवेत्ताओं, पाठशालाओं के अध्यापकों और लकीर के फकीर वैयाकरणों के लिए मुहावरे का बहुत ही कम महत्त्व होता है, किन्तु अच्छे लेखक इसे प्रेम करते हैं; क्योंकि वास्तव में यही भाषा का जीवन और प्राण है।" इन्हें हम काव्य की सहोदरा मान सकते हैं, चूँकि कविता की ही तरह ये भी हमारे भावों को जीते-जागते अनुभवों के रूप में प्रकाशित करते हैं।"

रामदहिन मिश्र 'हिन्दी मुहावरे' की भूमिका (पृष्ठ १५) में लिखते हैं—"बोलचाल के अनुसार भाषा लिखने तथा विशिष्ट मुहावरों के प्रयोग करने से तात्पर्य यही है कि उसमें माधुर्य, सौन्दर्य, ओज, अर्थ-व्यक्ति आदि गुणों का यथेष्ट विकास हो। यदि यह उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ, तो कुछ लिखना समय नष्ट करना है; क्योंकि वह कौड़ी के मोल का भी नहीं होता। मुहावरों की उपयोगिता पर एक छोटी-सी टिप्पणी में गयाप्रसाद शुक्ल लिखते हैं—"मुहावरों की उपयोगिता के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आज इनके बिना हमारा काम ही नहीं चल सकता। बोलचाल और साहित्य, दोनों के लिए ये अनिवार्य हैं। मुहावरों के प्रयोग से वाणी में हृदयग्राहिता और मार्मिकता की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। किसी छोटे-से मुहावरे में जो भाव निहित है, उसकी यथार्थ व्यंजना श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ शब्दावली में भी नहीं हो सकती। मुहावरों में थोड़े-से-थोड़े अक्षरों में बहुत-सा भाव भरने की शक्ति होती है, अस्तु; वे भाषा की समास-शक्ति को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। कितने ही मुहावरे सामाजिक नियम, रीति-रिवाज आदि के स्मारक-स्वरूप हैं।

मौलाना अलताफ हुसेन हाली लिखते हैं: "मुहावरा अगर उम्दा तौर से बाँधा जाय, तो बिला शुबहा पस्त शेर को बुलन्द और बुलन्द को बुलन्दतर कर देता है।" इस प्रसंग में अरबन का मत भी उल्लेखनीय है। वह लिखता है—"मुहावरा, तब केवल अलंकार ही नहीं है, बल्कि सही घटनाओं का वर्णन भी है; क्योंकि भाषा, जैसा हमने देखा है, खाली चिल्ल-पों और गुर्राहट ही नहीं है और न कागज पर बने हुए शब्द-संकेत अथवा वाक्य-रचना ही, जिससे इसका (भाषा का) ढाँचा खड़ा होता है, उसका सर्वेसर्वा है। तात्पर्यार्थ स्वयं भाषा की कल्पना का अंग है (विना तात्पर्यार्थ के भाषा पंगु है)।"

हिन्दी-मुहावरा-कोश के रचयिता सर हिन्दी अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं—"मुहावरे प्रत्येक भाषा की वह निधि हैं, जिसपर पर भाषा जीवित रहती है। मुहावरों का कुंठित हो जाना तथा जन-साधारण की बोलचाल से उनका उठ जाना भाषा का मरना है। ये, जन-साधारण की सम्पत्ति होते हैं। ये व्याकरण के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों होते हैं। ये भाषा की सजीवता के चिह्न हैं। इसीलिए विद्वान्, साहित्यिक, रसिक इन्हें अपनाते हैं। उर्दू में भी इनका वही स्थान है। दाग़ सरलता के लिए अमर है। उसकी सरलता है उसके मुहावरे। प्रेमचन्द में भी ये भरे-पड़े हैं।"

विभिन्न लेखकों की इन पंक्तियों में मुहावरों का जो और जितना महत्त्व दिखाया गया है, उससे उनकी उपयोगिता के प्रकार और प्रसार पर काफी प्रकाश पड़ जाता है। इनकी उपयोगिता के प्रत्येक अंग अथवा पक्ष को लेकर अलग-अलग विचार कर लेने के पूर्व हम 'हरिऔध' जी के विचार और पाठकों के समक्ष रख देना उचित समझते हैं। 'हरिऔध' जी 'बोलचाल' (पृष्ठ २७०) में लिखते हैं, "जितने मुहावरे होते हैं, वे प्रायः व्यंजना-प्रधान होते हैं। हिन्दी-शब्द-सागर के प्रणेताओं ने भी यह बात मानी है। यह स्वीकृत है कि साधारण वाक्य से उस वाक्य में विशेषता होती है और वह अधिक भावमय समझा जाता है, जिसमें लक्षणा अथवा व्यंजना मिलती है। ऐसे वाक्य में भावुकता विशेष होती है और अनेक भावों का वह सच्चा दर्पण भी होता है।

उसमें थोड़े शब्दों में बहुत अधिक बातें होती हैं और अनेक दशाओं में वह कितने मानसिक भावों का सूचक होता है।"

'हरिऔध' जी एक अच्छे विचारक थे। हिन्दी-मुहावरों के अंग-प्रत्यंग पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करनेवालों में वे सर्वप्रथम हैं। उन्होंने यथासम्भव पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों दृष्टियों से विचार करके ही कुछ लिखा है। हमारे यहाँ व्यजना को ही काव्य की आत्मा माना गया है। प्रतापरुद्रीय ग्रन्थकार, साहित्य-दर्पणकार और अप्पय दीक्षित प्रभृति विद्वानों ने भी 'शब्दार्थौ मूर्त्तिराख्यातौ जीवितं व्यंग्यवैभवम्, हारादिवदलङ्कारास्तत्र स्युरुपमादयः।' 'वाच्यातिशायिनि व्यंग्ये ध्वनिस्त काव्यमुत्तमम्' तथा 'यत्र वाच्यातिशायि व्यंग्यं स ध्वनिः' इत्यादि वाक्यों द्वारा इसी मत का समर्थन किया है। ध्वनिमूलक व्यंजना ही वास्तव में अधिकांश मुहावरों का आधार होती है। इसलिए उनकी उपयोगिता और भी स्पष्ट हो जाती है। प्रतापरुद्रीय ग्रंथ में व्यंजना को अलंकारों से ऊँचा माना गया है। साहित्यदर्पणकार भी व्यंजना-प्रधान काव्य को ही उत्तम मानता है। फिर व्यंजना ही जिनका सर्वस्व है, उन मुहावरों की उपयोगिता और उपादेयता की कौन दाद न देगा।

मुहावरों के महत्त्व और उनकी उपयोगिता पर जितने विद्वानों के मत ऊपर दिये गये हैं तथा स्थानाभाव के कारण जिनका जान-बूझकर उल्लेख नहीं किया गया है, उन सबके आधार पर मुहावरों की उपयोगिता के इस प्रकरण को निम्नलिखित भागों में बाँटकर उस पर विचार कर सकते हैं—

१. कम शब्दों से काम चल जाता है और पुनरुक्ति भी नहीं होती।
२. मनुष्य की भिन्न-भिन्न अनुभूतियों के सजीव चित्र उपस्थित करने के कारण उनमें सौन्दर्य और आकर्षण बढ़ जाता है।
३. मुहावरेदार प्रयोग पायः ओजपूर्ण, सुन्दर, संक्षिप्त और स्पष्ट होते हैं।
४. मुहावरेदार प्रयोगों का साधारण प्रयोगों से कहीं अधिक और शीघ्र प्रभाव पड़ता है।
५. मुहावरों में प्रायः पुराने ऋषि-मुनि, संत, महात्मा और देशभक्त शहीदों की स्मृतियाँ सुरक्षित रहती हैं।
६. मुहावरों के द्वारा भाषा-मूलक पुरातत्त्व ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिलती है।
७. मुहावरे विशेषतया किसी समाज के किन्तु साधारणतया पूरे राष्ट्र के सांस्कृतिक परिवर्त्तनों पर प्रकाश डालते रहते हैं।
८. उनमें प्राचीन सभ्यता, संस्कृति और मत-मतान्तरों के भिन्न-भिन्न रूपों की सजीव कल्पना रहती है।
९. उनमें किसी राष्ट्र का अतीत निश्चित और स्पष्ट ढंग से सुरक्षित रहता है।

शब्द-लाघव

अपने मनोगत भावों को दूसरों पर व्यक्त करने के लिए ही मनुष्य भाषा का उपयोग करता है। वह शब्दों के द्वारा ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देना चाहता है कि उसके पाठक और श्रोता ठीक उसी की तरह सोचने-समझने और अनुभव करने लगें। संक्षेप में शब्द सूक्ष्म विचारों का ज्ञान करानेवाले, स्थूल साधन-मात्र हैं। ललित कलाओं में जिस प्रकार स्थूल साधनों का जितना ही कम उपयोग होता है, उतने ही ऊँचे दर्जे की वे समझी जाती हैं। भाषा में जितने ही कम शब्दों के द्वारा अधिक-से-अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति होगी, वह उतनी ही उन्नत, विकसित और मुहावरेदार कहलायेगी। यही कारण है कि आज संसार की प्रायः सभी उन्नत और विकसित भाषाएँ शब्दों के अनावश्यक और अधिक प्रयोग को बड़ी तेजी से छोड़ती जा रही हैं। गोस्वामी

तुलसीदास की भाषा के सम्बन्ध में एक बार किसी विद्वान् ने लिखा था कि उनके शब्द बिलकुल नपे-तुले और सुप्रयुक्त होते हैं, कहीं भी अर्थ का अनर्थ किये विना न तो कोई शब्द घटाया-बढ़ाया जा सकता है और न किसी शब्द को निकालकर उसका पर्याय ही वहाँ रखा जा सकता है। इसी गुण के कारण महात्मा गांधी की भाषा को भी कई पाश्चात्य विद्वानों ने कितने ही स्वयं अँगरेजी-भाषा-भाषी विद्वानों से अधिक सुन्दर, स्पष्ट, सरल और ओजपूर्ण एवं मुहावरेदार बताया है।

शब्दों की तरह भावों की पुनरावृत्ति भी भाषा का दोष ही समझना चाहिए। एक ही बात को बार-बार कहने अथवा बहुत अधिक घुमा-फिराकर कहने से भी भाषा का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। आदिकाल में जबकि समाज का संगठन और इसलिए भाषा का कोई व्यवस्थित रूप नहीं था, इस प्रकार के अधिक और अनावश्यक शब्दों का आना तथा समान प्रयोगों और भावों की पुनरावृत्ति होना स्वाभाविक था। भाषा के क्रमिक विकास पर विचार करते हुए फरार ने भी यही लिखा है—"विचारों की आदि अपरिपक्वावस्था में, ऐसा लगता है, शब्दाधिक्य आवश्यक ही था; क्योंकि शब्द और पद दोनों में यह दोष मिलता है। पूरे हिब्रू-काव्य में बल और विचित्रता लाने के लिए एक ही मौलिक विचार को बार-बार दुहराया और दृढ़ किया गया है। बच्चों में, हम देखते हैं, एक ही बात को दो बार दुहराने की आदत होती है, एक बार हाँ के रूप में, एक बार ना के, मानों दो बार कह लेने से उन्हें कुछ अधिक विश्वास हो जाता है। 'यह आप नहीं बल्कि मैं', 'यह अक्षर अ नहीं है व है'—इस प्रकार के प्रयोग, जिन लोगों ने धाय-घरों की भाषा सुनी है, वे खूब अच्छी तरह जानते हैं।"[1]

आज भी जब इस उन्नत और विकसित भाषा में उस प्रकार के अनावश्यक और अप्रयुक्त प्रयोग देखने में आते हैं, तब आश्चर्य होता है। 'थोड़े-बहुत नहीं, लाखों कबीलेवालों ने कश्मीर पर हमला बोल दिया', इस वाक्य में आवश्यकता से अधिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। हम मानते हैं कि शब्द और भाव दोनों की पुनरावृत्ति कहीं-कहीं, किसी बात पर जोर देकर संक्षेप में समझाने में काफी सहायता करती है, किन्तु फिर भी उनके कारण लोगों को किसी वाक्य के अर्थ को तोड़ने-मरोड़ने का काफी मौका मिल जाता है। इसलिए लिखते या बोलते समय इस बात का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है कि जो कुछ लिखा या कहा जाय, वह बिलकुल स्पष्ट हो, सबकी समझ में तुरन्त आ जाय। यदि लिखी या कही हुई बात किसी की समझ में ही न आये, या उसे समझाने के लिए कुछ अतिरिक्त प्रयत्न करना पड़े अथवा आवश्यकता से अधिक समय लगाना पड़े, तो उस लिखने अथवा कहने को दोषपूर्ण ही समझना चाहिए। इसलिए हमारी भाषा ऐसी होनी चाहिए, जिसमें कहीं कोई खटक या रुकावट न हो, शब्दों का प्रवाह बिलकुल ठीक तरह से चलता रहे। जैसे ही कहनेवाले का मुँह खुले, सुननेवाला तुरन्त उसका तात्पर्य समझ जाय, उसका अर्थ मूर्तिमान् हो जाय। राजा दिलीप के मुँह से 'नन्दिनी' शब्द निकला और नन्दिनी सामने आ गई, क्यों? केवल इसलिए कि नन्दिनी शब्द राजा का सिद्ध प्रयोग था। 'नन्दिनी' शब्द के बजाय यदि राजा दिलीप यह कहते—'ओ मुनि वसिष्ठ की वह कामधेनु-गाय, जिसकी मैंने सिंह से रक्षा की थी, यहाँ आओ' तो सम्भवतः राजा दिलीप चिल्लाते ही रह जाते और कामधेनु तो क्या शायद उसकी आकृति भी उनकी आँखों के सामने न आती। अपनी बहिनों को ही जब हम रवि या हेम कहकर पुकारते अथवा सम्बोधन करते हैं, तब उनके इन संक्षिप्त नामों में जितना माधुर्य, ओज और सरलता रहती है, वह उन्हें रविबाला गुप्ता या हेमलता रानी कहकर पुकारने में नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि जो भाषा जितनी ही अधिक संक्षिप्त अथवा मुहावरेदार होगी, अर्थ-व्यक्ति की दृष्टि से वह उतनी ही सरल, सुबोध और लोकप्रिय होगी।

---

१. ओरिजिन् ऑफ् लैंग्वेज, पृ० १६८।

अच्छा या बुरा जो कुछ भी मुँह से निकल जाता है, ध्यानपूर्वक उस पर विचार करना पड़ता है। इसीलिए तो कभी-कभी किसी के लिए एक भी अप्रिय, अनावश्यक अथवा अधिक शब्द मुँह से निकल जाने पर मनुष्य दुःख और ग्लानि से पागल-जैसा हो जाता है, दुनिया के किसी काम में उसका ध्यान नहीं जमता, घूम-फिरकर बार-बार उसी शब्द पर विचार करने लगता है। वह बराबर यही सोचता रहता है कि 'यदि यह शब्द न कहा होता, तो अच्छा रहता' इसका अर्थ है कि 'मुँह से निकला हुआ प्रत्येक शब्द मनोयोग पर भार देता हुआ विचारों में जगह घेर लेता है।'[1] ऐसी परिस्थिति में जब शब्दों का उपयोग केवल अर्थ-व्यक्ति के साधन-स्वरूप ही होता है, तो अर्थ की योग्य अभिव्यक्ति के अनुरूप उनके कलेवर को यथासम्भव संकुचित और संक्षिप्त कर देना चाहिए। भाषा के लिए, सुन्दर, सरल, ओजपूर्ण और गठी हुई इत्यादि जिन विशेषणों का प्रयोग होता है, उन सब का मूलकारण शब्दों का संक्षिप्त कलेवर ही है। हमारे वैयाकरण तो सूत्र-रचना में आधी मात्रा के लाघव को भी पुत्रोत्सव के समान समझते थे।[2] बेन के शब्दों में इसलिए 'कम-से-कम मूल्य देकर उद्देश्य-पूर्त्ति के सिद्धान्तानुसार, लाघव, भाषा का एक गुण है।'

लाघव भाषा का एक गुण है, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु दुष्प्रयोग के कारण जिस प्रकार अमृत भी कभी-कभी विष बन जाता है, उसी प्रकार देश-काल और परिस्थिति अथवा व्यक्ति की उपेक्षा के कारण यही लाघव भाषा का एक बड़ा दोष और कलंक भी बन जाता है। सी० पी० में 'बाई' शब्द प्रायः सभी उच्च कुल की प्रतिष्ठित महिलाओं के लिए प्रयुक्त होता है। मराठी (भाषा) का यही शिष्ट प्रयोग हमारे यहाँ प्रायः वेश्याओं के लिए प्रयुक्त होने के कारण हिन्दी में अशिष्ट और अश्लील समझा जाता है। देश-भेद के कारण अर्थ-भेद के और भी बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। काल और परिस्थिति अथवा व्यक्ति के कारण भी, इसी प्रकार कभी-कभी अर्थ में भेद पड़ जाता है। इसलिए ऐसे प्रयोगों में देश, काल और व्यक्ति की ओर से बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है। हमारा कोई भी प्रयोग ऐसा न हो, जिसके कारण भाषा की सुबोधता, सरलता और मुहावरेदारी पर कोई हरफ आये।

पुनरावृत्ति अधिक और अनावश्यक शब्दों का प्रयोग तथा बहुत घुमा-फिराकर किसी बात को कहना, इत्यादि भाषा के कुछ ऐसे दोष हैं, जिनके कारण वह कभी-कभी बिलकुल भूल-भुलैया-जैसी बन जाती है। इसलिए भाषा को सरल, सुगठित और सुव्यवस्थित रखने के लिए ही जबतक भावों की पूर्णाभिव्यक्ति अथवा किसी बात पर विशेष जोर देना आदि के लिए अधिक शब्दों का लाना अनिवार्य न हो जाय, तबतक एक ही बात को भिन्न-भिन्न शब्दों में दुहराने, अथवा किसी स्पष्ट बात को और बढ़ाने या अधिक विस्तार के साथ कहने की आवश्यकता नहीं है। 'जले को और जलाना' इतना कहने मात्र से जब किसी दुःखी या व्यथित व्यक्ति के दुःख या व्यथा को और अधिक बढ़ाने के भाव की पूर्णाभिव्यक्ति हो जाती है, तो फिर व्यर्थ ही कुछ और शब्द जोड़कर 'जले हुए को जलाना और झुलसाना', 'जले हुए को और जलाकर उसकी व्यथा बढ़ाना', 'जले हुए को और दहकती हुई आग में झोंककर जलाना' इत्यादि के द्वारा भाषा की स्थूलता बढ़ाने की क्या आवश्यकता है?

'लाघव' से क्या अभिप्राय है, भाषा में क्यों उसका इतना अधिक महत्त्व है तथा कैसे भाषा उससे वंचित हो जाती है, इन सब पक्षों पर विचार कर लेने के उपरान्त अब हम इस समस्या के विधायक अथवा रचनात्मक पक्ष को लेते हैं। भाषा को साधारणतया भावाभिव्यक्ति का साधन

---

१. Every word uttered taxes the attention occupies space in the thoughts. —Bain.

२. 'अर्द्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।'

माना जाता है। किन्तु भावाभिव्यक्ति के चूँकि मुख्य दो उद्देश्य होते हैं, इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि किसी को कुछ बताने या समझाने तथा उससे कुछ करवाने के लिए ही हम भाषा का प्रयोग करते हैं। फिर यह भी एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हम जो कुछ कहना चाहते हैं, उसे पूरे का पूरा एकदम कह डालने की हमारी इच्छा होती है। इसी प्रकार जब किसी से कुछ काम कराना होता है, तब हम चाहते हैं कि इधर हमारे मुँह से शब्द निकले, उधर काम शुरू हो जाय। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वही भाषा अधिक उपयोगी और इसलिए अधिक सुन्दर हो सकती है, जो जल्दी-जल्दी, अर्थात् थोड़े-से-थोड़े शब्दों में हमारे उद्देश्य को पूरा करने में सफल हो जाय। अपने भावों को व्यक्त करने के लिए हम सदैव ऐसे शब्दों की खोज में रहते हैं, जो सुननेवाले के सामने अधिक स्पष्टता से उनका चित्रण कर सकें अथवा किसी काम को तुरन्त कर डालने के लिए उसे उत्तेजित कर सकें। संक्षेप में, या तो वे अधिक स्पष्टता से किसी विचार को बोधगम्य करा सकें और या बड़ी तीव्रता से उसकी भावनाओं को उद्‌बुद्ध और उत्तेजित करके उसे तुरन्त क्रियाशील बनाने में सफल हो सकें।

भाव से अभिप्राय स्थायी भाव है। स्थायी भाव, जैसा साहित्यदर्पणकार तथा अन्य विद्वान् मानते हैं, विभाव की अन्तिम सीढ़ी है। कहा है—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥

इससे स्पष्ट है कि स्थायी होने के उपरान्त भी किसी भाव में उसके विभाव, अनुभाव और संचारी भाव की छाया रहती ही है। प्रत्येक विचार जिसे हम व्यक्त करना चाहते हैं, एक चित्र के समान होता है। जिस प्रकार किसी चित्र से निकलनेवाली व्यंजना को समझने के लिए उसकी पृष्ठभूमिका ज्ञान होना आवश्यक है, उसी प्रकार किसी विचार को समझने के लिए उसकी पृष्ठभूमिका को समझना आवश्यक है। हमारे शब्दों में इसलिए, किसी विचार को व्यक्त करने के साथ ही, जिस परिस्थिति में वह विचार उत्पन्न हुआ है, उसे भी व्यंजित करने की शक्ति होनी चाहिए। बेन ने, उपयुक्त शब्दों के चुनाव, वाक्य-रचना-प्रणाली और अलंकारों को इस तत्त्व का मुख्य साधन माना है। शब्दों के चुनाव के लिए कोई विशेष नियम नहीं बता सकते; देश, काल और परिस्थिति के अनुसार ही उन्हें चुनना पड़ता है। वाक्य-रचना प्रणाली के सम्बन्ध में भी थोड़े-बहुत अन्तर के साथ यही बात है। बच्चों से बातचीत करते समय हम प्रायः उन्हीं की टूटी-फूटी वाक्य-रचना-प्रणाली का अनुसरण करते हैं। इसका अर्थ है— सुननेवाला जिस प्रकार के शब्द और वाक्य-रचना-प्रणाली का आदी हो, उससे बातचीत करने समय वे ही उपयुक्त शब्द और वही उपयुक्त प्रणाली है। उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, लोकोक्ति आदि अलंकारों द्वारा भी प्रायः शब्दों की काफी बचत हो जाती है। इस सम्बन्ध में हमें केवल इतना ही कहना है कि इन अलंकारों के केवल रूढ़ प्रयोगों से ही हम अपनी बात अधिक सरलता से दूसरों को समझा सकते हैं। प्रचलित और अप्रचलित सब प्रकार के प्रयोगों से नहीं। पशु बुद्धि-हीनता का उद्‌बोधक है! जब किसी व्यक्ति को बुद्धिहीन कहना होता है, तब प्रायः उसे पशु या बैल या गधा कहा करते हैं। (तुम तो बिलकुल पशु हो, बैल हो ······।) शेर भी बैल और गधे की तरह ही पशु और बुद्धिहीन है। अलंकार की दृष्टि से तो इसलिए 'शेर होना' का अर्थ भी मूर्ख होना हो सकता है, किन्तु यह उस अर्थ में रूढ़ नहीं है, इसलिए मूर्ख होने के अर्थ में इसका प्रयोग नहीं हो सकता। बेन ने लाक्षणिक प्रयोगों पर विचार नहीं किया है। वास्तव में लाघव का एक मुख्य साधन शब्दों का लाक्षणिक प्रयोग भी है। अलंकारों की तरह लक्षणा और व्यंजना के भी केवल रूढ़ प्रयोग ही भाषा की इस कमी को पूरा कर सकते हैं।

'उल्टी गंगा बहाना' हिन्दी का एक लोक-प्रसिद्ध प्रयोग है। इससे 'जो काम कभी नहीं हुआ उसे करना' की ध्वनि निकलती है। गंगा के स्थान में यदि उसी के पर्याय 'जह्नुसुता', 'विष्णु-पदी', 'ध्रुवनन्दा', 'देवापगा', अथवा 'सुरनिम्नगा' रखकर उल्टी जह्नुसुता बहाना इत्यादि कहें, तो व्यंजना की शर्त्त तो पूरी हो जायगी, किन्तु लाघव की नहीं। 'उल्टी गंगा बहाना' चूँकि चिरप्रयोग के कारण रूढ़ हो गया है, इसलिए उसके कान में पड़ते ही सुननेवाले के सामने पूरी परिस्थिति का चित्र आ जाता है।

लाघव के उद्देश्यों और साधनों पर विचार कर लेने के उपरान्त हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी भाषा के मुहावरे ही ऐसे प्रयोग हैं, जिनके द्वारा हमारा यह मनोरथ सिद्ध हो सकता है। मुहावरों में ही ऐसी दिव्य शक्ति है, जिसके द्वारा थोड़े-से-थोड़े शब्दों में हम सब कुछ कह और करवा सकते हैं। स्मिथ लिखता है—"......इस प्रकार के उत्तेजनापूर्ण संवादों में मुहावरे क्यों विशेष रूप से उपयुक्त होते हैं, इसके कारण हैं। उनकी छाप (सुनने-वालों पर) बहुत गहरी और तेजी से पड़ती है, इसके अतिरिक्त शरीर के अंग-प्रत्यंगों से लिये हुए इनके रूपक तथा मुहावरेदार क्रिया-प्रयोगों में स्नायु-संसर्ग की ऐसी अपूर्व शक्ति भरी रहती है, जिसके कारण ये सुननेवालों को केवल अभिप्रेत अर्थ का ज्ञान ही नहीं करा देते, बल्कि उनके उस नाड़ी-मण्डल को भी उद्बुद्ध कर देते हैं, जहाँ से स्नायुओं का कार्य आरम्भ होता है।" इसके अतिरिक्त लाघव के समस्त साधनों का भी मुहावरों में समावेश हो जाता है। अतएव, अब हम कह सकते हैं कि किसी भाषा के मुहावरे अथवा मुहावरेदार प्रयोग ही किसी भाषा की वह संक्षिप्त वाक्य-शैली है, जिनके द्वारा पुनरावृत्ति को रोककर शब्दों की बचत की जा सकती है अथवा भाषा के अनावश्यक विस्तार को रोककर मनुष्य की मानसिक शक्ति के अनुरूप उसे नियमित और नियंत्रित किया जा सकता है। मुहावरों के इस गुण पर अधिक प्रकाश डालने के लिए अब हम कुछ उदाहरण लेकर उनकी उपयोगिता पर विचार करेंगे।

'बाल की खाल निकालना' हिन्दी का एक प्रसिद्ध मुहावरा है। जब हम किसी से कहते हैं, 'तुम बाल की खाल निकालते हो' तो हम केवल इतना ही प्रकट नहीं करते कि वह असाध्य साधन में लगा हुआ है या कोई ऐसा कार्य कर रहा है, जो बहुत ही कष्टसाध्य है, बल्कि इस वाक्य के द्वारा, वह बाल के स्वरूप, उसकी बारीकी, उसकी खाल का अनस्तित्व, उसके उतारने की चेष्टा की निष्प्रयोजनीयता, कार्यकर्त्ता की असमर्थता और उसकी अनुचित प्रवृत्ति आदि सभी की सूचना अत्यन्त थोड़े में और बहुत ही गुप्त रीति से उसको दे देता है। यदि मुहावरे का प्रयोग न करके साधारण भाषा में यह सब बातें बतानी होतीं, तो भाषा का कलेवर तो बहुत ज्यादा बढ़ ही जाता, सुननेवाले की समझ में भी इतनी स्पष्टता से सब बातें न आतीं। 'टेढ़ी खीर होना' एक दूसरा मुहावरा है। जब किसी कार्य की दुरूहता से घबराकर कोई कहता है कि 'इस काम को करना टेढ़ी खीर है' अथवा 'मेरे लिए यह काम करना टेढ़ी खीर है', तो वह केवल इतना ही नहीं सूचित करता कि उससे यह कार्य नहीं हो सकता। यदि इतना ही कहना होता, तो वह सीधे-सीधे ये ही शब्द कह देता, उसे टेढ़ी खीर न बताता। टेढ़ी खीर बताने का अर्थ ही यह है कि वह इस छोटे-से वाक्य के द्वारा उन सब जटिलताओं और कठिनाइयों का उद्बोधन करना चाहता है, जिनका सम्बन्ध इस संकेत-वाक्य से है। ऐसे भी बहुत-से लोग हैं, जो इस मुहावरे से सम्बन्ध रखनेवाले कथा-नक को बिलकुल नहीं जानते, किन्तु इसका प्रयोग खूब करते हैं। वे लोग इतना अवश्य जानते हैं कि किस अवसर पर इसका प्रयोग होता है, और उनका वही ज्ञान उनके लिए पर्याप्त होता है। उसी के आधार पर वे अपने समस्त मानसिक भावों को श्रोता पर प्रकट कर देते हैं। सभी लोग किसी कार्य में अपनी असमर्थता खुले शब्दों में प्रकट करने में संकोच करते हैं, प्रकट भी करते हैं,

तो ढूँढ़-ढाँढ़कर ऐसे शब्दों का प्रयोग करेंगे, जिसमें उनका कलंक पूरी तरह से स्पष्ट ही न हो, साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे, बात भी कह दें और कलंक से भी बहुत-कुछ बच जायँ। 'टेढ़ी खीर' वाक्य किसी कार्य की कठिनाइयों से डरकर उससे अलग रहनेवाले व्यक्ति के लिए इसी प्रकार की एक ढाल है, जिसके द्वारा वह अपने मनोभाव को प्रकट भी कर देता है और उसके लांछन पर उस कार्य की दुरूहता का पर्दा भी डाल देता है। मुहावरों की उपयोगिता का इसलिए यह भी एक मुख्य अंग है कि उनके द्वारा अनेक मानसिक भावों को थोड़े में प्रकट किया जा सकता है और बहुत-सी आन्तरिक उलझनों का भी उनके द्वारा आसानी से निराकरण हो जाता है।

भाषा के सौन्दर्य और आकर्षण में वृद्धि

सौन्दर्य में आकर्षण होता है और आकर्षण में आत्म-विस्मृति। आत्म-विस्मृति का अर्थ है किसी पदार्थ में मनसा-वाचा-कर्मणा तल्लीन होकर सर्वथा तद्रूप और तदाकार हो जाना, अपने को बिलकुल भूल जाना। जबतक किसी पदार्थ के प्रति इतनी तल्लीनता नहीं होती, उसके सौन्दर्य का आनन्द, सत् और चित् से युक्त आनन्द, प्राप्त नहीं होता। ऋग्वेद ने भी सौन्दर्य को परखने की यही कसौटी रखी है। ऋग्वेद के दसवें मंडल के ७१वें सूत्र में भाषा के (मुहावरों के) सौन्दर्य को परखनेवालों का परिचय देते हुए चौथे मंत्र में आया है—

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतोत्वस्मैतन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

जिस प्रकार एक नववधू को देखकर और उससे बोलकर भी दूसरे लोग उसके रूप और गुण का सच्चा ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, उसी प्रकार मुहावरों के सौन्दर्य और आकर्षण का आनन्द लेने के लिए भी प्रिया-रूप में उन्हें ग्रहण करने की आवश्यकता है। प्रिया का अर्थ है प्रेम की अन्तिम परिधि। जिसे प्राप्त करके संसार में उससे बड़ा और कुछ प्राप्त करने को रह ही न जाय, उसका नाम है प्रिया। इसीको उलटकर यों भी कह सकते हैं कि कोई स्त्री कितनी ही रूपवती और गुणवती क्यों न हो, जबतक कोई सहृदय पति उसे ग्रहण नहीं करता, वह प्रिया नहीं बनती। भामह ने इसी दृष्टिकोण को लेकर लिखा है—

तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥

सहृदय व्यक्ति के ग्रहण करने पर ही किसी वस्तु में गुणों का उदय होता है। कमल सूर्य की किरणों से अनुगृहीत होकर ही कमल कहलाता है। हिन्दी में भी कहा है—

प्रिया में सौन्दर्य कहाँ, कहाँ शशि में प्रकाश।
पति की चरम चाह एक, एक मित्र का वास॥ —'निशंक'

'मजनू होना' मुहावरे का कभी यथावत् और कभी थोड़ा-बहुत तोड़-मरोड़कर प्रयोग तो आज भी लोग करते हैं, किन्तु उनमें कितने ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्हें दूसरों की दृष्टि में काली-कलूटी लैला में अपूर्व सौन्दर्य का दर्शन करते हुए उसके सामने साक्षात् भगवान् को भी धता बता देनेवाले मजनू के अपार आनन्दोदधि की एक बूँद भी प्राप्त हुई है, जिन्होंने कभी स्वप्न में भी "लैला के फस्द खुले और मजनू की रगों से खून निकले' प्रिय और प्रिया के इस दिव्य एकीकरण का अनुभव किया हो। 'एक जान और दो कालिब (शरीर)' की कोटि का प्रेम भी इसके सामने हेय है। यहाँ तो कालिब भी एक ही हो गया है, मैं और तू का भेद ही बिलकुल मिट गया है। वास्तव में मुहावरों में भी शब्द और अर्थ दोनों लैला और मजनू की तरह अभिन्न हो गये हैं। कालिदास ने 'अस्ति उत्तरस्याम् नगाधिराजः' कह दिया है, तो अब उसका 'नगाधिराजः उत्तरस्याम् अस्ति' अथवा 'अस्ति नगाधिराजः उत्तरस्याम्' नहीं किया जा सकता। ठीक भी है, 'अस्ति उत्तरस्याम्

नगाधिराजः' कहने से पूर्वापर के भावों का जो ज्ञान प्राप्त होता है तथा उसके द्वारा कालिदास के हृदय का जो दर्शन होता है, वह दूसरे प्रयोगों से नहीं हो सकता। 'मजनू होना' तथा इसी प्रकार के दूसरे मुहावरों के अकृत्रिम सौन्दर्य और अद्भुत आकर्षण को देखने के लिए अतएव मजनू का हृदय, मजनू की तल्लीनता और एकनिष्ठता होना आवश्यक है।

किसी वस्तु से काम निकाल लेना और उसके सौन्दर्य का दर्शन करना उससे आकर्षित होना ये दोनों अलग-अलग चीजें हैं। आज तो हमारी प्रवृत्ति ही बदल गई है, बिलकुल बनिया-प्रवृत्ति हो गई है, न केवल साधारण व्यवहार के क्षेत्र में साहित्य के क्षेत्र में भी किसी प्रकार अपना काम निकालना ही हमारा उद्देश्य रहता है। कमल-वन में खिले हुए पुष्पों को हमने देखा हो या न देखा हो, जहाँ किसी सुन्दरी के अंग-विकास का वर्णन करना होता है, चट कमल-वन से उपमा दे देते हैं। एक मुहावरा है, इसके पीछे एक परम्परा है और उस परम्परा का एक इतिहास है। आज न तो लोग परम्परा की परवाह करते हैं और न उसके इतिहास का ध्यान, उन्हें तो दृढ़ संकल्प करने अथवा किसी काम को करने का जिम्मा लेने के अपने भाव को व्यक्त करना है। उसमें कितना सौन्दर्य है, कैसा आकर्षण है—इन सब बातों से उन्हें कोई सरोकार नहीं, काल की कैसी विडम्बना है, इकन्नी में रुपये को बेचकर भी हम अपने को बड़ा पंडित समझते हैं। जिन मुहावरों से सोलह आने लाभ हो सकता था, उनका सोलहवाँ अंश पाकर ही हम सन्तुष्ट कहिए अथवा निष्क्रिय हो जाते हैं। यही कारण है कि किसी के हाथ यदि नाक लग गई तो वह नाक ले भागता है, कान लग गया तो कान, आँख लग गई तो आँख, गरज़ जिस तरह जिसकी इच्छा होती है, वह तोड़-मरोड़कर अथवा काट-छाँट और घटा-बढ़ाकर मुहावरों का प्रयोग कर लेता है। इधर कुछ दिनों से बराबर एक नया क्या, बिलकुल अनर्गल, अशिष्ट और उच्छृंखल प्रयोग' 'बोरियत होना' हमारे कान में पड़ रहा है। सचमुच यदि समय रहते हुए इन अन्धे-बूचे प्रयोगों से भाषा को न बचाया गया, तो वह कुरूप हो जायगी, उसमें कोई सौन्दर्य न रहेगा, उसकी मुहावरेदारी नष्ट हो जायेगी। पूर्णिमा का चन्द्रमा सोलहों कलाओं से पूर्ण होता है; इसीलिए सुन्दर लगता है, आकर्षक होता है, शुष्क हृदय खारा समुद्र भी उसके सौन्दर्य पर रीझकर उसकी ओर खिंचा चला जाता है। मुहावरा पूर्णिमा का पूर्ण चन्द्र है, उसके पूर्ण रूप से विकसित सौन्दर्य को देखने के लिए दूज, तीज, चौथ इत्यादि काल के अनेक व्यूह अवश्य भेदने पड़ते हैं।

अर्थ-व्यक्ति की दृष्टि से भाषा को यदि सौन्दर्य और आकर्षण का अथाह रत्नाकर कहें, तो मुहावरे उस सौन्दर्य और आकर्षण को उसमें भरनेवाली परम सुहावनी सरिताएँ हैं। जो लोग मुग्ध होकर बार-बार इनमें गोते लगाते हैं, उन्हीं को वास्तव में इनके सौन्दर्य का खुला दर्शन होता है। ऋग्वेद में स्वयं भगवान् बृहस्पति ने कहा है—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूव।
आदघ्नास उपकक्षास उत्वे ह्रदा इव स्नात्वा उत्वे ददृशे॥

आँख भी हैं, कान भी हैं और एक-दूसरे के अर्थ को समझनेवाला सखा-भाव भी है, किन्तु फिर भी दौड़ में एक-दूसरे के आगे-पीछे हो जाते हैं। क्यों? केवल इसलिए कि कोई जंघा तक, कोई गले तक जाकर ही संतुष्ट हो जाते हैं। असली आनन्द तो वास्तव में उन्हें मिलता है, जो बार-बार उसमें डुबकियाँ लगाते हैं। एक ही लाल जैसे जौहरी के लिए बड़ी भारी नेमत और दहक़ानी के लिए एक पत्थर या खिलौने से अधिक नहीं होता, उसी प्रकार मुहावरे डुबकियाँ लगानेवाले पारखियों के लिए सौन्दर्य और आकर्षण का अक्षय पुंज होते हैं। नाक़दर दोनों के लिए तो जैसा उर्दू के किसी कवि ने कहा है—'पत्थर और गौहर में कोई अन्तर ही नहीं होता।' उसने लिखा है—

कहीं एक लाल कीचड़ में पड़ा था, न कद में, बल्कि कीमत में बड़ा था।
कोई दहक़ा उठा ले गया उसे घर, वह क्या जाने पत्थर है कि गौहर।
लाल जो बच्चे को दिखाया, अहा हा, खिलौना हमने पाया।
हुई जब लाल की वहाँ यह मलामत, लगा कहने ये नाक़द्रदानी तुझ पै लानत।

मुहावरा-सौन्दर्य-दर्शन के योग्य पात्र और प्रयत्न की मीमांसा करने के उपरान्त अब हम भाषा में उनके कारण सौन्दर्य और आकर्षण क्यों बढ़ जाता है, इसपर विचार करेंगे तथा प्रचलित मुहावरों के कुछ उदाहरण लेकर यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि वे मानव-अनुभूतियों के रंग-विरंगे सजीव चित्र हमारी आँखों के सामने खड़े करके हमारी कल्पनाओं को अथवा हमारे सुषुप्त कवि को जागरूक कर देते हैं।

जीवन के अन्य क्षेत्रों में जिस प्रकार अपनी जान-पहिचान के किसी व्यक्ति, वस्तु अथवा पदार्थ के अचानक मिल जाने पर अत्यन्त हर्ष होता है, उसकी ओर हमारा विशेष आकर्षण हो जाता है, उसी प्रकार भाषा के क्षेत्र में भी जब हम किसी दूसरे के मुख से अपने मन की बात सुनते हैं, तो हमें अपार आनन्द होता है। कभी-कभी तो दो मित्रों की साधारण बातचीत में भी ऐसे प्रसंग आ जाते हैं, जब एक-दूसरे से आनन्द-मग्न होकर कहता है-'तुमने मेरे मुँह की बात छीन ली।' राष्ट्रपिता बापू की मुक्ति हुई, जनता विह्वल होकर रो पड़ी। उसका हृदय वेदना के भार से बैठ गया, वाणी को आँसुओं की शृंखलाओं ने जकड़ लिया, भाव और भाषा दोनों अन्तःस्थल के महाप्रलय में विलीन हो गये, वह सब तरह से गूँगी-बहरी होकर छटपटाने लगी। ईश्वर ने उसका मूक आर्त्तनाद सुना, कवि के रूप में उसे वाणी प्रदान कर दी। कवि के साथ वह गाने लगी—

ग्रामीणों के प्राण हाय ! बापू क्या सचमुच चले गये!
....

हरिजन-भूषण बापू ! देखो तो, हरिजन तुम्हें निहार रहे!
क्यों नहीं खोलते नेत्र हाय ! क्या उनसे भी तुम रूठ गये!

बस, कवि और जन-साधारण में यही अन्तर है। कवि मूक जनता की अनुभूतियों और कल्पनाओं को शब्दों में सजाकर उसके सामने रख देता है। यही कारण है कि वह कवि के साथ ही रोने, गाने लगती है। वास्तव में इस रोने-गाने का कारण कवि नहीं है। वह तो एक साधन-मात्र है। कारण तो उसकी उक्तियों के द्वारा अपनी अनुभूतियों का सजग हो जाना है। मुहावरों का सम्बन्ध, जैसा पीछे भी कई जगह बताया गया है, जन-साधारण की अनुभूतियों और कल्पनाओं से ही अधिकांश रहता है। प्रत्येक मुहावरा किसी विशिष्ट परिस्थिति का एक रेखाचित्र होता है, इसलिए केवल अर्थ व्यक्त करते ही वह पूर्ण नहीं हो जाता, बल्कि वस्तुस्थिति का एक सजीव चित्र भी वह सुननेवालों के सामने खड़ा कर देता है। 'तिलाञ्जलि देना' मुहावरे से यदि केवल 'त्याग देना' ही अर्थ होता, तो उसमें कोई विशेष सौन्दर्य और आकर्षण न रहता। उसमें सौन्दर्य और आकर्षण तो इसलिए मालूम होता है कि उसके कान में पड़ते ही हमारी आँखों के सामने अपने किसी परम प्रिय का दाह करने के उपरान्त तिलाञ्जलि देनेवाली पूरी घटना का चित्र आ जाता है। मौलाना हाली इसीलिए क्या गद्य और क्या पद्य दोनों में रोजमर्रा और मुहावरेदारी की पाबन्दी लाज़मी समझते हैं। मुहावरों को आपने भाषा के शरीर के सुन्दर अंग बताया है। 'हरिऔध' जी ने तो स्पष्ट शब्दों में अपना निर्णय दे दिया है कि मुहावरों का सर्जन ही भाषा को सुन्दर और आकर्षक बनाने के लिए हुआ है। वह लिखते हैं—"रोजमर्रा का सहारा न लेने से प्रायः वाक्य जटिल हो जाता है, जो दुरूहता का कारण होता है। कवि का निज-रचित वाक्य सुन्दर हो सकता है, किन्तु यदि

उसमें रोजमर्रा का पुट नहीं है, तो यह भी हो सकता है कि वह यथार्थ बोधगम्य न हो। इसके अतिरिक्त यदि कहीं उसने रोजमर्रा की टाँग तोड़ी, तब तो चन्द्रमा के समान वह उस कलंक से कलंकित हो जाता है, जिसपर प्रायः लोगों की दृष्टि पड़ती है। मुहावरों के विषय में भी ऐसी ही बात कही जा सकती है। मुहावरे भाषा के शृंगार हैं, सुविधा एवं सौन्दर्य-सृष्टि अथवा भाव-विकास के लिए उनका सर्जन हुआ है। उनकी उपेक्षा उचित नहीं। वे उस आधार-स्तम्भ के समान हैं, जिनके अवलम्ब से अनेक सुविचार-मन्दिरों का निर्माण सुगमता से हो सकता है। भाव-साम्राज्य में उनके विशेष अधिकार हैं, उनको छोड़ हम अनेक उचित स्वत्वों से वंचित हो सकते हैं।" [1] लांडर ने तो जॉनसन-जैसे कट्टर विरोधियों के युग में एलानिया कह दिया था—"प्रत्येक अच्छे लेखक की भाषा में मुहावरों का बाहुल्य रहता है। मुहावरे भाषा के जीवन और प्राण होते हैं।" [2] जहाँ जीवन है, वहाँ आकर्षण है, जबतक प्राण है, तबतक सौन्दर्य है, निर्जीव और निष्प्राण में कोई सौन्दर्य अथवा आकर्षण नहीं रहता। मुहावरों की दृष्टि से हिन्दी और उर्दू-कविता की तुलना करते हुए एक स्थल पर 'हरिऔध' जी ने लिखा है—"आजकल प्रायः यह चर्चा सुनी जाती है कि खड़ीबोली की हिन्दी-कविता उर्दू-भाषा-जैसी सुन्दर और हृदयग्राहिणी नहीं होती। इस कथन में बहुत-कुछ सत्यता है, कारण यह है कि बोलचाल अथवा रोजमर्रा और मुहावरों पर जितना उर्दू-कवियों का अधिकार है, जिस सुन्दरता से वे इनका प्रयोग अपनी कविताओं में करते हैं, खड़ीबोली के कवियों को न वह अधिकार ही प्राप्त है, न वह योग्यता ही। उनकी दृष्टि भी जैसी चाहिए, वैसी उधर नहीं, इसलिए उन्हें उर्दू-कवियों-जैसी सफलता भी नहीं मिलती।" [3] हिन्दी कवियों के अधिकार और योग्यता पर 'हरिऔध' जी ने जो कुछ कहा है, उससे हमें कोई प्रयोजन नहीं है। हमें तो केवल इतना ही बताना है कि हिन्दी-भाषा के उर्दू-जैसी सुन्दर और हृदयग्राहिणी न होने का कारण वे मुहावरों के समुचित प्रयोग की कमी को मानते हैं। मुहावरों के विना किसी कवि या लेखक को सफलता नहीं मिल सकती, इसका अर्थ ही यह है कि मुहावरों के विना उनकी भाषा में सौन्दर्य और आकर्षण नहीं आ सकता। अनीस का एक शेर है—

अनीस दम का भरोसा नहीं ठहर जाओ,
चिराग लेके कहाँ सामने हवा के चले।

इस शेर में जो सौन्दर्य, हृदयग्राहिता, सरलता और प्रवाह है, उसका एकमात्र कारण मुहावरों का सुप्रयोग है। सुननेवाले के सामने पूरी परिस्थिति का चित्र-सा खिंच जाता है। वे एकदम स्तम्भित-से हो जाते हैं। शेर सुनने के बहुत देर बाद तक भी इन मुहावरों की व्यंजना उनके कानों में गूँजती रहती है। नीचे कुछ अधिक उदाहरण देकर इसी तत्त्व का कुछ विस्तार से विवेचन करेंगे।

था व्यक्ति सोचता आलस में चेतना सजग रहती दुहरी,
कानों के कान खोल करके सुनती थी कोई ध्वनि गहरी। —'प्रसाद'

कहु कपि केहि बिधि राखौं प्राना, तुमहूँ तात कहत अब जाना।
तुमहिं देखि सीतल भई छाती, पुनि मोकहँ सोइ दिन सोइ राती। —तुलसी

सिन उसका घटा था जो दिले राना बढ़ा था।
मुँह की वही खाता था जो मुँह उसके चढ़ा था। —दबीर

---

१. अ० हि०, पृ० २१६।
२. डब्ल्यू० आई०, पृ० २६४।
३. अ० हि०, पृ० २१०-२११।

तुमसे हमने बदले गिन-गिनके लिए
हमने क्या चाहा था इस दिन के लिए।
फैसला हो आज मेरा आपका,
यह उठा रखा है किस दिन के लिए। —अकबर

अकबर पथर अनेक, के भूपत मेला किया,
हाथ न लागो हेक, पारस राणा प्रताप सी। —राजस्थानी कवि

ऊपर के उदाहरणों में जो सौन्दर्य, जो आकर्षण और जो हृदयग्राहिता है, उसका श्रेय कवि की कल्पना को नहीं, बल्कि उसकी मुहावरेदारी को है। उसने जन-साधारण के जीवन, उनकी अनुभूतियों, कल्पनाओं और विचारों को आईने की तरह स्पष्ट रूप में उनके सामने खड़ा कर दिया है। 'कान खोलकर सुनना', 'छाती ठंडी होना', 'मुँह की खाना', 'मुँह चढ़ना', 'गिन-गिन-कर बदले लेना', 'पारस होना' इत्यादि मुहावरों को उन्होंने 'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो'''' "सत्तू की तरह अपने चिरप्रयोग की चलनी में बार-बार छानकर परिष्कृत किया है, इसलिए उनका ऐसे प्रयोगों से प्रभावित होना स्वाभाविक" ही है। स्मिथ स्वयं मुहावरों को कविता अथवा कवि की उक्तियों से अधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण बताता है। वह लिखता है: "मुहावरों के द्वारा भाषा के ताने-बाने में जो चित्र बिन दिये जाते हैं, वे जन-साधारण के जीवन की सामान्य घटनाओं के दृश्य होते हैं और या परिचित पशु-पक्षियों के रूप-रंग के उपलक्षित प्रयोग। उनमें विचारों की ऊँची उड़ान तो नहीं होती, किन्तु उच्च कोटि की उक्तियों और अलंकारों से एक विशेषता होती है। वे प्रायः मजबूत और घरेलू साधनों से बनते हैं और ऐसे मालूम होते हैं, मानों कभी नष्ट ही नहीं होंगे। कवियों की उक्तियों को बार-बार पढ़ने से हम उकता जाते हैं, भाषा के उद्यान के फूल मुरझा जाते हैं, उच्च कोटि के अलंकार पुराने-से पड़ जाते हैं, किन्तु 'तवा परात', 'दिया बढ़ाना' इत्यादि से मिलनेवाली शिक्षा में कमी नहीं आती और न हम उन अमरात्मा 'गँवारों के गाड़ी से कटरा बाँधने, 'कुएँ में भाँग घोलने' इत्यादि प्रयोगों से कभी उकताते हैं।" [1] स्मिथ ने ठीक ही कहा है—"मुहावरों के बार-बार प्रयुक्त होने पर भी सुननेवाले उकताते नहीं। हर बार उनसे एक नई व्यंजना निकलती हुई दिखाई पड़ती है। संक्षेप में वे कभी पुराने नहीं पड़ते, इसलिए उनके सौन्दर्य और आकर्षण में भी कभी कोई कमी नहीं आती।"

अल्प प्रयास से पूर्ण अर्थ-व्यक्ति

"मुहावरेदार प्रयोग बहुधा ओजपूर्ण, संक्षिप्त, सुन्दर और स्पष्ट होते हैं, एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति दूसरे शब्दों अथवा दूसरे ढंगों से भी हो सकती है, किन्तु उतनी ही ओजपूर्ण और उतने ही अल्प प्रयास से नहीं।" [2] मेकमार्डी ने एक प्रकार से सूत्र-रूप में प्रस्तुत प्रसंग का पूरा सार दे दिया है। वास्तव में हमारे शब्द जितने ही ओजपूर्ण, संक्षिप्त और स्पष्ट होंगे, उतने ही थोड़े प्रयास में हम अपने मन की बात दूसरों को समझा सकते हैं। 'उत्तम रचना' की मीमांसा करते हुए रामचन्द्र वर्मा ने अपनी पुस्तक 'अच्छी हिन्दी' में जिन बातों पर विशेष जोर दिया है, थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ उनका आशय भी यही है कि किसी भी उत्तम रचना की शैली में मुहावरों के ये सब गुण रहने ही चाहिए। देश-विदेश के प्रायः सभी शिक्षा-शास्त्री और समालोचक कम-से-कम इस बात में तो एकमत हैं ही कि हम जो कुछ कहना चाहते हैं, श्रोता के सामने उसका

---

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० २६६। उदाहरण बदल दिये हैं।
२. ई० आई० (डब्ल्यू० एम० सी०), पृ० १५।

एक अति स्पष्ट और सरल चित्र खड़ा हो जाना चाहिए। जैसे घोड़े को देखकर उसके रूप, रंग-आदि के बारे में कुछ पूछना नहीं रहता, सब बातें स्वतः समझ में आ जाती हैं, उसी प्रकार हमारे वाक्यों में हमारे भावों को मूर्त्तिमान् करने की शक्ति होनी चाहिए।

अर्थ को मूर्त्तिमान् या चित्रित करने की बात को हमने जान-बूझकर बार-बार दुहराया है। किसी भाव की साधारण अभिव्यक्ति और उसके चित्र में बहुत अन्तर हो जाता है। किसी पदार्थ को देखकर हमें एक प्रकार का अनुभव, ज्ञान या बोध-सा होता है। अपने उस अनुभव को दूसरों पर व्यक्त करने के लिए हमारे पास दो ही साधन हैं—उस घटना का चित्र खींचकर रख देना अथवा शब्दों में अपने अनुभव को व्यक्त कर देना। चित्र रखने से उस पदार्थ या घटना का स्वरूप तो देखनेवाले को मिल जायगा, किन्तु उसे देखकर यह आवश्यक नहीं है कि वह भी हमारे ही समान अनुभव करे। जैसा प्रायः होता है, उसका अनुभव हमारे अनुभव से सर्वथा भिन्न भी हो सकता है। इसलिए चित्र (रेखा-चित्र) द्वारा उस पदार्थ या घटना का प्रत्यक्ष दर्शन कराने के साथ ही तत्सम्बन्धी अपने अनुभव का भी ज्ञान करा देना सम्भव नहीं है। काव्य को ललित-कलाओं में चित्रकला से इसीलिए ऊँचा स्थान दिया गया है कि उसके द्वारा किसी पदार्थ या घटना के वस्तु-ज्ञान के साथ ही तत्सम्बन्धी अपने अनुभव का भी हम दूसरों को यथावत् ज्ञान करा सकते हैं। कालिदास का प्रसिद्ध वाक्य 'अस्ति उत्तरस्याम् नगाधिराजः'—हिमालय पर्वत उत्तर में है, इस वस्तु-ज्ञान के साथ ही, इस अनुभूति का कालिदास के ऊपर कैसा प्रभाव पड़ा है, उसका भी पूर्ण परिचय दे देता है। संक्षेप में, किसी भाषा के साधारण प्रयोगों और मुहावरों में यही अन्तर है कि मुहावरे किसी व्यक्ति के अभिप्राय को सरलता और स्पष्टता से व्यक्त करने के साथ ही उसके तत्सम्बन्धी उत्साह, पराक्रम, शक्ति, उत्कृष्टता अथवा करुणा के भावों का भी ज्ञान करा देते हैं। बंगाल, बिहार, पंजाब और दिल्ली के नृशंस हत्याकाण्डों को देखकर जहाँ एक ओर लोग क्षुब्ध होकर आँसू बहा रहे थे, वहाँ दूसरी ओर बापूजी अपना खून-पसीना एक करके उस आग में इधर-उधर दौड़कर लोगों के आँसू पोंछ रहे थे। बापू और दूसरे लोगों के दृष्टान्त वास्तव में मानव-स्वभाव के क्रियाशील और निष्क्रिय दो पक्ष हैं। क्रियाशीलता में ओज रहता है, उत्साह रहता है, निष्क्रियता में करुणा रहती है, क्षोभ रहता है। इस प्रकार जैसा मैकमार्डी ने गिनाया है, मुहावरों में, सरलता, स्पष्टता, ओज, सौन्दर्य और बुद्धि-विलास इत्यादि उत्तम शैली के प्रायः सभी तत्त्व आ जाते हैं। अब इसलिए प्रत्येक तत्त्व पर अलग-अलग विचार करके यह देखेंगे कि अर्थ-व्यक्ति में इनसे कहाँ तक सहायता मिलती है।

सरलता—सरलता का सबसे सरल अर्थ है, जो आसानी से सबकी समझ में आ जाय। यों तो जिससे हम बातचीत करते हैं, उसकी योग्यता और समझने की शक्ति को ही सरलता का साधारण मापदंड होना चाहिए, किन्तु फिर भी इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जिनके कारण कहनेवाले का अभिप्राय जल्दी और ठीक-ठीक समझ में आ जाता है।

पद और रचना दोनों ही सरल होने चाहिए। गूढ़ पद और गूढ़ रचना दोनों ही लोगों को भूल-भुलैया में डाल देते हैं। ब्राउनिंग की तरह संस्कृत और हिन्दी में भी ऐसे पद मिलते हैं, काफी माथापच्ची करने के बाद भी जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। माघ के कुछ ऐसे जटिल पद हैं, जिनकी टीका करने में मल्लिनाथ, जैसे सफल टीकाकार को अपनी समस्त आयु ही लगानी पड़ी। कहते भी हैं—"मेघे माघे गतं वयः।" कबीर के कुछ पद और सूर के दृष्टकूट भी बहुत जटिल और गूढ़ हैं। उनका भी अर्थ करना लोहे के चने चबाना है। केशव और देव से जिनका पाला पड़ा है, वे जानते हैं कि उनके पद और वाक्य-विन्यास दोनों ही कितने विलक्षण

और गूढ़ होते हैं। एक वाक्य है-'लाज के निगड़ गड़दार अड़दार चहूँ चौंकि चितवन चरखीन चमकारे हैं।' इसका अर्थ समझने में साधारण बुद्धि के व्यक्ति को तो क्या कहें, अच्छे-अच्छे प्रतिभाशाली विद्वान् भी सिर खुजलाने लगते हैं। इसलिए अल्प प्रयास से 'पूर्ण अर्थ-व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि हम साधारण जीवन के चिरपरिचित पदार्थों, कार्यों और अनुभवों से सम्बन्धित लोकप्रिय प्रयोगों का ही अपनी भाषा में प्रयोग करें। 'तिल का ताड़ या राई का पर्वत करना, किसी छोटी-सी बात को बहुत अधिक बढ़ाकर कहने के लिए प्रयुक्त होता है। यहाँ तिल, ताड़, राई और पर्वत कोई भी ऐसी संज्ञा नहीं है, जिसका सर्वसाधारण से कोई परिचय न हो। यहाँ ताड़ की जगह अश्वत्थ और पर्वत की जगह नगाधिराज कर दें, तो शब्दार्थ की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर न होते हुए भी सर्वसाधारण की समझ में आसानी से नहीं आ सकते। बेन ने इसीलिए कहा है"—हमारे स्थानीय सेक्शन प्रयोग तथा वे विदेशी प्रयोग, जो आमतौर से जनता में चलते हैं, अशिक्षित वर्ग के लिए सबसे अधिक बोधगम्य और सहल हैं। हमारी भाषा का लैटिन-गर्भित अंश उनकी समझ में बहुत कम आता है। विज्ञान की पदावलि उन विषयों को जाननेवालों के लिए ही सहल है। कानून, औषधोपचार, जहाजी-विद्या इत्यादि विशिष्ट कला और उद्योगों की भाषा सब लोगों की समझ में नहीं आती। पौराणिक कथाओं तथा अति प्राचीन जातियों के रीति-रिवाजों की ओर संकेत करनेवाले बहुत-से ऐसे पांडित्यपूर्ण प्रयोग भी होते हैं, जिनका सर्वसाधारण को कोई ज्ञान नहीं होता।"

बेन की यह बात सब भाषाओं पर समान रूप से लागू होती है। जो विषय जन-साधारण को मुहावरेदार भाषा में समझाया जाता है, वह बहुत जल्दी सबकी समझ में आ जाता है और लोकप्रिय हो जाता है। बौद्धधर्म के प्रचार और प्रसार का मुख्य कारण लोकभाषा और उसके मुहावरों के द्वारा धर्म के तत्त्वों को समझाना था। इस युग में भी महात्मा गांधी और आचार्य विनोबा को आत्मा और परमात्मा के गहन-से-गहन विचारों को चर्खा, फावड़ा और कुदाल इत्यादि की भाषा में समझाते हुए हमने देखा है। वास्तव में, जो विषय, विचार या तत्त्व जितना ही अधिक सूक्ष्म और अस्पष्ट होता है, उतनी ही कठिनाई से वह हृदयंगम होता है। एक सुपरिचित पर्वत, नदी, वृक्ष अथवा मकान या किसी विशेष व्यक्ति, पशु या समाज की कल्पना करना बहुत आसान है। इसलिए उनके रूप-गुण और आकार-प्रकार के आधार पर समझाये हुए सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्व भी लोगों की समझ में बड़ी सरलता से आ जाते हैं। पत्थर की कठोरता, वायु की गति और मधु की मिठास सब लोगों के नित्य-प्रति के अनुभव की चीज है। इसलिए 'दिल पत्थर होना,' 'बात हवा होना' और 'शहद की छुरी' होना इत्यादि मुहावरों से निकलनेवाली व्यंजना को समझने में किसी को प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसलिए मुहावरों की सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि वे विशिष्ट व्यक्ति या मूर्त्त के द्वारा अमूर्त्त और अस्पष्ट का ज्ञान कराने में हमारी बड़ी सहायता करते हैं। उनके द्वारा किसी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्व का हिमालय-जैसे स्थूल पिंड के रूप में ज्ञान करा देना बायें हाथ का खेल है। मनुष्य की देवी और आसुरी वृत्तियों के नित्य-प्रति होनेवाले द्वन्द्व को समझाने के लिए न मालूम, कितनी बार और कितने राम और रावण तथा कौरव और पांडव इत्यादि स्थूल पिंडों की हमारे ऋषि, मुनि और कवियों ने कल्पना की है। आज भी जब कभी सदाचार, कर्त्तव्यपरायणता, कष्ट-सहिष्णुता, सत्यनिष्ठता इत्यादि आचार-विचार-सम्बन्धी सूक्ष्म तत्त्वों का किसी साधारण कोटि के व्यक्ति को ज्ञान कराना होता है, तो प्रायः महात्मा गांधी का दृष्टान्त लेकर लोग समझाया करते हैं।

स्पष्टता—"स्पष्टता" जैसा बेन ने कहा है, "क्लिष्टता, सन्दिग्धता, अनिश्चितता अथवा अव्यवस्था की विरोधी होती है।" अपने इस वक्तव्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए वह आगे लिखता है—

"कोई वक्तव्य, जब उसके साथ कोई दूसरा अर्थ जुड़ सकने की बिलकुल सम्भावना न हो, स्पष्ट कहलाता है।"

भाषा को हम मानव-हृदय का दर्पण मानते हैं। जितना ही किसी का हृदय शुद्ध और सात्त्विक होगा, उतनी ही उसकी भाषा शुद्ध और स्पष्ट होगी। महाभारतकार ने एक स्थल पर युधिष्ठिर से कहलाया है कि मैंने खेल-खेल में भी कभी असत्य-भाषण नहीं किया है, फिर मेरी वाणी से जो कुछ निकला है, वह असत्य कैसे हो सकता है। सत्य सर्वदा स्पष्ट होता है, उसमें 'नरो वा कुञ्जरो वा' जोड़ने की जरूरत नहीं पड़ती। 'नरो वा कुञ्जरो वा' का पर्दा डालने से असत्य-भाषण का पाप मिट नहीं सकता, उसके लिए नरक-यात्रा करनी ही पड़ेगी। भगवान् व्यास ने युधिष्ठिर के असत्य-भाषण और उसके दण्ड-स्वरूप उनकी नरक-यात्रा का वर्णन करके अपनी भाषा को स्पष्ट रखने की जो चेतावनी हमें दी थी, उसे यदि हमने समझा होता, तो आज फिर से संसारव्यापी इन महाभारतों की पुनरावृत्ति न होती। भाषा की दृष्टि से विचार करने पर हमें विश्वास हो गया है कि संसार-भर में फैली हुई इस अशान्ति, असन्तोष और अव्यवस्था का मूल कारण हमारी भाषा की अस्पष्टता और सन्दिग्धता ही है। हृदय से अधिक आज हम कोष को महत्त्व देते हैं। यही कारण है कि वक्ता के रहते हुए भी उसके वक्तव्य का अर्थ करने के लिए वकीलों की जरूरत पड़ती है। वास्तव में बात तो यह है कि आज हम हृदय और भाषा के बिम्ब-प्रतिबिम्ब-सम्बन्ध की सर्वथा उपेक्षा करके सब जगह पहेली बुझानेवाली भाषा का प्रयोग करते हैं।

सचमुच, यदि हम चाहते हैं कि बिना किसी प्रयास के अथवा अल्प प्रयास में ही लोग हमारी बात को पूरी तरह समझ लें, तो हमें अपनी भाषा के प्रत्येक प्रयोग को स्पष्ट बनाना होगा। एक से अधिक अर्थवाले शब्दों को इस प्रकार रखना होगा कि उनका इच्छित अर्थ के अतिरिक्त और दूसरा अर्थ हो ही न सके। क्लिष्टता और अनिश्चितता भी जैसा बेन ने कहा है, 'स्पष्टता के जन्मजात शत्रु हैं, इसलिए इनसे बचना भी आवश्यक है।' क्लिष्टता का मुख्य कारण बे-मुहावरा प्रयोग होते हैं। उससे बचने के लिए, अतएव हमारा प्रत्येक शब्द और प्रयोग सुप्रयुक्त और बा-मुहावरा होना चाहिए। कभी-कभी बा-मुहावरा होने पर भी सुप्रयुक्त न होने के कारण हमारे प्रयोग भद्दे और अस्पष्ट हो जाते हैं। 'कान काटना' एक मुहावरा है, किन्तु यदि कहें, 'अहिंसा-व्रत पालन में तो महात्मा गान्धी महात्मा बुद्ध और महात्मा ईसा के भी कान काटते थे', तो यहाँ मुहावरा होते हुए भी यह दुष्प्रयोग ही कहलायगा। अतएव स्पष्टता के लिए किसी भाषा के प्रयोगों का लोक-प्रचलित, मुहावरेदार और सुप्रयुक्त होना बहुत आवश्यक है।

ओज—जब हम किसी से बात-चीत करते हैं, तब हमारी केवल इतनी ही इच्छा नहीं रहती कि वह हमारे शब्दों का अर्थमात्र समझ ले, वास्तव में हम चाहते हैं और इसलिए प्रयत्न भी करते हैं कि सुननेवाले के मन में एक प्रकार का आनन्द, उत्साह और उमंग पैदा हो जाय, वह हमारी बात को सुनकर एक प्रकार की नई शक्ति, स्फूर्त्ति और प्रगति का-सा अनुभव करने लगे, उसे लगे कि उसकी अबतक की सारी दुर्बलता, सारी कायरता, सारा भय और सारी घबराहट बिलकुल मिट गई है। मन को प्रफुल्लित और प्रोत्साहित कर देनेवाली भाषा की इसी संजीवनी शक्ति का नाम ओज है। इसी को शक्ति, प्रभाव तेज, पौरुष, प्रौढता और उच्चता इत्यादि अलग-अलग नामों से भी लोग पुकारते हैं।

भाषा भावों की बाह्य पोशाक है। सुन्दर कपड़ा और सुन्दर सिलाई इत्यादि किसी पोशाक के अपने विशिष्ट गुण होते हुए भी जिस प्रकार उसका विशेष प्रभाव पहननेवाले के रूप-रंग और शारीरिक गठन इत्यादि के सर्वथा अनुरूप होने पर ही पड़ता है, उसी प्रकार भाषा की जिस विशिष्ट शक्ति को हम ओज कहते हैं, वह भी विशिष्ट भावों को विशिष्ट शैली में व्यक्त करने पर ही प्रकट

होती है। भाषा का महत्त्व भावों के कारण होता है। महात्मा गांधी की ढाई हाथ की कछनी का जो प्रभाव उनके शरीर पर रहते हुए पड़ता था, क्या वह नत्थू-बुद्धू सबकी कछनी का पड़ सकता है। वास्तव में गांधीजी की कछनी में उनका व्यक्तित्व रहता था। किसी भाषा के मुहावरों को भी यदि कछनी मानें, तो कहना होगा, उस कछनी को धारण करनेवाले भाव जितने उत्कृष्ट और आकर्षक होंगे, उतना ही अधिक उनका प्रभाव जनता पर पड़ेगा। 'दाल-भात का गस्सा होना' एक मुहावरा है, जिसका प्रयोग प्रायः व्यंग्यार्थ में ही होता है। काँगरेस कोई दाल-भात का गस्सा तो है नहीं कि समाजवादी एकदम निगल जायेंगे, इस वाक्य के साथ ही 'बच्चे को दाल-भात का गस्सा खिलाया है' इत्यादि वाक्यों को रखकर देखिए जहाँ पहिले वाक्य को सुनकर एक ओर काँगरेसवाले गर्व करते हैं, तो दूसरी ओर समाजवादियों के कान खड़े हो जाते हैं, तहाँ दूसरा वाक्य वहीं समाप्त हो जाता है। उसे सुनकर न तो किसी की बाँछें खिलती हैं और न भौंहें चढ़ती हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि किसी वाक्य का हमारे ऊपर जो प्रभाव पड़ता है, वह भावों के कारण ही ज्यादा पड़ता है, भाषा के कारण नहीं। मुहावरों का क्यों हमारे ऊपर जादू का-सा असर पड़ता है, इसे समझाने के लिए, अतएव हम पहले उन भावों और परिस्थितियों पर विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं, जिनके कारण स्वभावतया मनुष्य का मन आन्दोलित हो जाता है।

मनुष्य प्रायः जब किसी प्रकार की दुर्बलता, असमर्थता, बन्धन अथवा भय से अचानक मुक्त होकर ऊँचा उठता है, तब उसे सच्ची प्रसन्नता होती है। इस प्रकार की अद्भुत शक्ति और पराक्रम को दूसरों में देखकर भी लोग आनन्द ले सकते हैं। अखाड़े में लड़ते हुए पहलवानों के दाव-पेंच को देखकर हम प्रायः अपने को भूल-सा जाते हैं। बेन लिखता है, "किसी विशाल-काय स्थायी पिंड को घुमा देने अथवा घूमते हुए किसी पिंड को रोक देने इत्यादि किसी प्रकार के अद्भुत पराक्रम को शक्ति का लक्षण मानते हैं, उसके द्वारा एक प्रकार के आत्म-गौरव और बड़प्पन का-सा अनुभव होता है। कर्त्ता, जब बिना किसी प्रयत्न के ही ऐसे कार्य कर डालता है, तब उसका प्रभाव और भी अधिक बढ़ जाता है। साहित्य में प्रायः ऐसे प्रयत्न होते हैं, खास तौर से एक दीन खनक के पुत्र के द्वारा संसार की काया-पलट करा देने जैसे छोटे और अल्प प्रभाववाले व्यक्तियों के द्वारा आरम्भ किये हुए छोटे-छोटे कार्यों के इतने महत्त्वपूर्ण परिणाम दिखाकर।" क्रोध भी, जब और जहाँतक समाज उसे आवश्यक समझता है और उसका समर्थन करता है, अच्छा लगता है। भरत का, राम-वनवास के बाद अपनी माता कैकेयी पर क्रोध करना कितना स्वाभाविक लगता है—

जबते कुमति कुमत जिय ठयऊ,
खंड-खंड होई हृदय न गयऊ।
वर मांगत मन भई नहिं पीरा,
गिरि न जीह मुँह परेउ न कीरा।

भरतजी का प्रत्येक शब्द क्रोध-रूपी ज्वालामुखी के भयंकर विस्फोट-सा लगता है, किन्तु फिर भी उनके इन शब्दों को सुनकर लोग फड़क उठते हैं। क्यों, केवल इसलिए कि भरतजी के साथ सबकी सहानुभूति हो जाती है।

समुद्र की उत्ताल तरंगों, आँधी और तूफान के भयंकर झोंकों तथा बिजली की कड़कड़ाहट इत्यादि नैसर्गिक शक्तियों का तमाशा देखकर अथवा उसकी कल्पना करके भी इसीलिए हमारे मन में एक प्रकार का आनन्दोल्लास होता है कि हम उन्हें भी अपने ही जैसे किसी विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति का पराक्रम समझकर उसके प्रति सहानुभूति करने लगते हैं। आदिकाल में इन सब नैसर्गिक शक्तियों पर नियन्त्रण रखनेवाले भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं की कल्पना भी

हमारे पूर्वजों ने कर रखी थी। सम्भवतः नदी, पहाड़ और आँधी, तूफान इत्यादि को जीवधारियों की तरह सम्बोधन करने का आदि कारण भी यही है। 'तूफान मचाना', 'तारा-सा चमकना', 'पहाड़-का-पहाड़ होना', 'आसमान टूटना', 'बिजली गिरना' इत्यादि मुहावरों का इन नैसर्गिक शक्तियों के अद्‌भुत प्रदर्शन के साथ सम्बन्ध और सहानुभूति होने के कारण ही सुननेवालों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ता है।

शक्तिशाली व्यक्तियों और अद्‌भुत गुणोंवाले अन्य पदार्थों के वर्णन के द्वारा भी मनुष्य का मानसिक उत्थान कराया जा सकता है। एक कुशल लेखक किसी क्रान्तिकारी जन-आन्दोलन अथवा किसी वीर सत्याग्रही का या किसी तूफान अथवा जल-प्रलय का इतना अच्छा वर्णन कर सकता है कि उसका उतना ही प्रभाव पड़े, जितना आँखों देखे दृश्य का पड़ता है। कल्पित घटनाओं के दोषों को वह मुहावरों के कलापूर्ण प्रयोग से पूरा कर लेता है। इस प्रकार के उपायों के द्वारा जब उसे अपनी इच्छा के अनुसार मनुष्य को हँसाने, रुलाने अथवा उत्तेजित और उत्साहित करने में सफलता मिल जाती है, तब उसकी रचनाओं में उत्कृष्टता और ओज आ जाता है।

जन-साधारण की अनुभूतियों और आकांक्षाओं के सजीव चित्र होने के अतिरिक्त मुहावरों में और भी बहुत-से ऐसे गुण होते हैं, जिनके कारण भावों के सफल और शीघ्र आदान-प्रदान की दृष्टि से वे भाषा के व्यवहार में दर्शनी हुण्डी जैसे प्रामाणिक और सुविधाजनक समझे जाते हैं। सादृश्य, विरोध और लोक-न्याय इत्यादि मुहावरों के कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जिनके कारण थोड़े-से शब्दों में बड़ी-से-बड़ी बात समझाई जा सकती है। इतना ही नहीं, बल्कि तदनुरूप काम करने की प्रेरणा भी लोगों को दी जा सकती है। "दो परिणामों के आपस में स्वभावतया एक दूसरे का समर्थन करने से कल्पना करने का बौद्धिक परिश्रम बहुत कम हो जाता है।" आँख में पीड़ा होने पर प्रायः उसमें कुछ लाली आ जाती है। जितनी ही अधिक लाली होती है, उतनी ही अधिक पीड़ा समझी जाती है। इसलिए 'आँख लाल अंगारा हो रही है', ऐसा सुनकर फिर सोचना नहीं पड़ता कि उसे कितनी पीड़ा है अथवा उसकी आँख में कितनी लाली है। 'आग उगलना', 'बर्फ होना', 'ईद का चाँद होना', 'हवा से बातें करना', 'पत्थर का दिल होना' इत्यादि मुहावरों की परीक्षा करने से स्पष्ट हो जाता है कि उपमेय और उपमान का सादृश्य, परिस्थिति और भाषा का प्रवाह इत्यादि उत्कृष्ट और ओजपूर्ण भाषा के जितने तत्त्व होते हैं, उन सबका इनमें सुन्दर एकीकरण हुआ है। वर्णित विषय की उत्कृष्टता और महानता, शक्तिशाली पदार्थों के रूप में वर्णन करना, मौलिकता तथा भाषा का उतार-चढ़ाव और प्रवाह इत्यादि सबका मनुष्य पर प्रभाव पड़ता है।

विचित्रता में भी सादृश्य से कम आकर्षण नहीं होता। जिना और जवाहरलाल के वास्तविक चित्रों की अपेक्षा उनके कार्टूनों में क्यों विशेष आनन्द आता है। केवल इसीलिए कि उनमें एक प्रकार की विचित्रता रहती है। तात्पर्यार्थ की दृष्टि से देखें, तो हम कह सकते हैं कि मुहावरे भाव और परिस्थिति की विचित्रता को अभिव्यंजित करनेवाले कार्टून ही होते हैं। 'गिरगिट की तरह से रंग बदलना' हिन्दी का एक मुहावरा है। अभी हाल में ही डॉ० अम्बेडकर ने लखनऊ में भाषण करते हुए हरिजनों को एक स्वतन्त्र दल बनाने की सलाह दी थी। अम्बेडकर अबतक काँगरेस-मंत्रिमंडल के साथ हैं। उनके इस प्रकार गिरगिट की तरह रंग बदलने को कार्टून बनानेवाले ने गिरगिट के शरीर पर अम्बेडकर का सिर लगा कर, अर्थात् गिरगिट के रूप में उनका चित्र बनाकर व्यक्त किया था। गिरगिटाकृति अम्बेडकर से उसके गिरगिट की तरह रंग बदलने के अतिरिक्त और किसी भाव की व्यंजना नहीं होती। गिरगिट या अम्बेडकर, यों तो दोनों में कोई विचित्रता नहीं है, किन्तु सिर अथवा शरीर में थोड़ा परिवर्त्तन

कर देने से एक विशेष विलक्षणता आ गई है। 'बछिया का ताऊ', 'गधे का बच्चा', 'उल्लू का पट्ठा' इत्यादि मुहावरों का उनकी विचित्रता के कारण ही इतना प्रभाव पड़ता है। बहुत दिनों से जिस वस्तु, व्यक्ति या घटना को भूल गये हैं, अचानक उसकी याद आ जाने पर भी हमें कुछ नयापन-सा लगता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सर्वथा नवीन अथवा मौलिक न होने पर भी विचित्र प्रयोजनों के कारण किसी रचना में उत्कृष्टता और बल आ जाता है। यों तो, साहित्य-रचना के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में ही विचित्रता की माँग रहती है। किन्तु मुहावरों में विशेष तौर से इसका स्थान रहता है। कोई-कोई विद्वान् तो सम्भवतया इसलिए प्रयोग-वैचित्र्य अथवा वाग्वैचित्र्य को ही मुहावरा कहते हैं।

अब अन्त में हम सामान्य और अमूर्त की जगह विशिष्ट और मूर्त पदार्थ को रखने से जो उत्कृष्टता आती है, उस पर विचार करेंगे। वाह्य संसार और उसके मूर्त पदार्थों के वर्णन में जितनी रोचकता और आकर्षण रहता है, आत्मा और परमात्मा के गूढ़ तत्त्व-चिन्तन में नहीं। क्यों? केवल इसीलिए कि हमारी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं। बाह्य संसार और उसके मूर्त पदार्थों से उनका पूर्व परिचय रहता है, उनकी कल्पना करते ही उनका साक्षात् चित्र आँखों के सामने आ जाता है। अन्तर्दर्शन के लिए वृत्तियों का अन्तर्मुखी होना आवश्यक है और वृत्तियों को अन्तर्मुखी करना बच्चों का खेल नहीं है, उसके लिए घोर तपस्या और पूर्ण आत्म-निग्रह की आवश्यकता होती है। शास्त्रकारों ने सर्वसाधारण की इस कठिनाई को देखकर ही सम्भवतः तत्त्व-चिन्तन के मर्म और माहात्म्य को उन तक पहुँचाने के लिए विशिष्ट और मूर्त आधार को लेकर शास्त्रों की रचना की है। गीता के विशिष्ट और सदेह दिखाई पड़नेवाले अर्जुन और कृष्ण वास्तव में विदेह आत्मा और परमात्मा ही हैं। पाण्डु और वसुदेव के पुत्र नहीं।

मनुष्य शारीरिक और मानसिक हर प्रकार की कठिनाई और परिश्रम से डरता है, बचने का प्रयत्न करता है। यही कारण है कि बहुत-से लोग परिश्रम की कल्पना-मात्र से डरकर रोने लगते हैं। रविवार को जिनके यहाँ छुट्टी रहती है, उनकी मस्ती को देखिए। चार्ल्स चैपलिन एक प्रसिद्ध अभिनेता है। कुछ वर्ष पहले उसने 'आधुनिक युग' (Modern Times) नाम का एक चलचित्र तैयार किया था। इस चित्र में उसने शारीरिक परिश्रम और कठिनाई से बचकर केवल बटन दबाकर खाने-पीने तक का सब काम यन्त्रों के द्वारा चलानेवाले लोगों की मौज-बहार पर व्यंग्य किया था। इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि मनुष्य स्वभाव से ही हमेशा ऐसे प्रयत्न करता रहता है कि थोड़े-से-थोड़े प्रयास और परिश्रम में उसे उसकी इच्छित वस्तुएँ मिल जायँ। कल्पतरु, कामधेनु इत्यादि की कल्पना भी मनुष्य की इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। ठीक ऐसा ही भाषा के क्षेत्र में, जिन किन्हीं प्रयोगों के द्वारा सरलतापूर्वक भावों का स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है, उन्हीं का विशेष प्रभाव लोगों पर पड़ता है। और, वही उत्कृष्टता और ओज के साधन समझे जाते हैं। असम्बद्ध चित्रों की धमाचौकड़ी से मन ऊब जाता है। क्रमबद्धता, सादृश्य और संख्या की लघुता से एक प्रकार के संतोष का-सा अनुभव होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति के अभिप्राय को आसानी से समझने और हृदयंगम करने में जिस साधन से भी सहायता मिले, उससे भाषा की शक्ति बढ़ती है। ओज के सम्बन्ध में अबतक जो कुछ कहा गया है, उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि मुहावरे किसी भाषा के परम उत्कृष्ट और ओजपूर्ण प्रयोग होते हैं और इसलिए उनके द्वारा अल्प प्रयास में ही अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है।

कोमल वृत्तियाँ—उत्कृष्टता, ओज और उत्साह के भावों के ठीक प्रतिकूल मनुष्य में कुछ कोमल वृत्तियाँ भी होती हैं। स्नेह, प्रेम, सहानुभूति, दया और करुणा इत्यादि मनुष्य की कोमल वृत्तियों के

ही लक्षण हैं। मनुष्य-जीवन में आनन्द देनेवाले समस्त साधनों में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। इनमें एक दूसरे के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने की अपूर्व शक्ति होती है। अपार दुःख, शोक और खिन्नता के वातावरण में भी इनका प्रभाव आनन्द और प्रोत्साहन प्रदान करता है। नोआखाली जाते समय बापू के बटवे में अपूर्व और अथाह प्रेम के अतिरिक्त और कोई पूँजी नहीं थी। उसी के बल पर उन्होंने वहाँ की रोती और बिलबिलाती हुई भयभीत जनता का भय दूर करके उसे फिर से हँसना और हँसते हुए सिर ऊँचा करके चलना सिखाया था। सहानुभूति, दया और करुणा इत्यादि सब उसी प्रेम-रूपी रुपये की अठन्नियाँ, चवन्नियाँ और दुअन्नियाँ हैं। प्रभाव की दृष्टि से देखें, तो सचमुच इन कोमल वृत्तियों में संजीवनी शक्ति होती है।

साधारणतया अपने प्रियजनों के कारण अथवा प्रत्यक्ष लोक-सेवा और लोक-हित के भावों को देखकर और या किसी को दु.खी, सन्तप्त या रुग्ण देखकर ही मनुष्य की कोमल वृत्तियाँ सजग और सक्रिय होती हैं। बापू की निर्मम हत्या का लोगों पर अलग अलग-प्रभाव पड़ा। जवाहरलाल जहाँ बापू के सीने पर सिर डालकर बच्चों की तरह चीख उठते थे, वहाँ पटेल एक अचल शैल-खंड की तरह मौन मुद्रा में समाधिस्थ बैठे थे। बापू के साथियों में जहाँ एक ओर शोक किन्तु साहस, दुःख और क्षोभ, किन्तु दया और करुणा से पूर्ण भाव थे, वहाँ उनके अनेक भक्त क्रोध से पागल होकर प्रतिकार की आग भड़का रहे थे। इससे स्पष्ट है कि अति मार्मिक और हृदय स्पर्शी परिस्थितियों में इस प्रकार के बहुत-से तत्त्व एक साथ काम करने लगते हैं।

यहाँ हमें इन घटनाओं और परिस्थितियों को प्रत्यक्ष रूप में देखकर नहीं, बल्कि उनका वर्णन सुन या पढ़कर जो प्रभाव पड़ता है, उसी से काम है। रिक्टर (Richter) कहता है, "उस व्यक्ति का दुर्भाग्य है, जो अपनी माता से सब माताओं में अनुराग रखना नहीं सीखता।"[1]

माता से यदि हम उस विशिष्ट घटना या परिस्थिति का अर्थ लें, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हमें है, तो कहना चाहिए, उसी के समान घटनाओं या परिस्थितियों का हाल सुन या पढ़कर भी हमारे ऊपर वैसा ही प्रभाव पड़ना चाहिए, यदि नहीं पड़ता है, तो रिक्टर के शब्दों में यह हमारा दुर्भाग्य है। भूखे-नंगे भिखारियों को कुछ पा जाने की आशा से अपने और दूसरों के सामने बार-बार हाथ फैलाते हुए देखकर हमारे मन में यह बात बैठ गई है कि किसी के सामने हाथ फैलाने का अर्थ है भीख के लिए गिड़गिड़ाना। यही कारण है कि आज जब भी 'किसी के सामने हाथ फैलाने की बात' हमारे कान में पड़ती है, उन भूखे-नंगे भिखमंगों का भीख के लिए गिड़गिड़ाना इत्यादि सब कुछ पूर्ववत् हमारी आँखों के सामने आ जाता है। मुहावरों में चूँकि इस प्रकार की घटनाओं और परिस्थितियों के सजीव चित्र होते हैं, इसलिए उनके द्वारा संकेत-मात्र में जितनी बात कहीं जा सकती है या जितना प्रभाव डाला जा सकता है। दूसरी तरह से शायद वह दस-पाँच वाक्यों में भी नहीं हो सकता।

प्रेम, करुणा, दया और सहानुभूति इत्यादि की तरह ही हास, परिहास और वक्रोक्ति के द्वारा भी थोड़े-से शब्दों में बहुत-कुछ समझाया जा सकता है। हमारे यहाँ नाटकों में विदूषक का काम ही यह होता है कि वह हास-परिहास के द्वारा आनेवाली गम्भीर घटनाओं की ओर संकेत करता चले और साथ ही अपने हाव-भाव और शारीरिक चेष्टाओं के द्वारा उनकी आलोचना भी करता रहे। शैली की दृष्टि से, अतएव हम कह सकते हैं कि मुहावरे सरल, स्पष्ट, ओजपूर्ण, संक्षिप्त और इसलिए अल्प प्रयास में अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति करनेवाले होते हैं।

---

१. "Unhappy is the man whose mother does not make all mothers interesting."

मुहावरे और साधारण प्रयोग

बोलचाल के साधारण प्रयोगों की अपेक्षा मुहावरों का लोगों पर कहीं अधिक प्रभाव पड़ता है। भट्टलोल्लट और दूसरे लोग जैसा मानते हैं—"यथा बलवता प्रेरित इषुरेकेनैव वेगाख्येन व्यापारेण वर्मच्छेदमुरोभेदप्राणहरणं च रिपोर्विधत्ते तथैक एव शब्द एकेनैवाभिधाख्यव्यापारेण पदार्थस्मृतिं वाक्यार्थानुभवं व्यंग्यप्रतीतिं च विधत्ते ?"[1] अर्थात्, जिस प्रकार एक बलवान् पुरुष का छोड़ा हुआ एक ही बाण, एक ही बार में शत्रु का कवच तोड़कर उसके मर्मस्थल में घुसकर उसे मार डालता है, उसी प्रकार एक अकेला शब्द अकेली अभिधा-शक्ति के द्वारा पदार्थ-स्मृति, अर्थात् शब्दार्थ, वाक्यार्थानुभव, अर्थात् वाक्यगत अर्थ और उससे निकलनेवाली व्यंजना का ज्ञान हमें करा देता है। अभिनवगुप्त इत्यादि भट्टलोल्लट इत्यादि के मत का समर्थन नहीं करते। हम इन विद्वानों के मत-मतान्तर में नहीं पड़ेंगे। हमें तो मुहावरों की दृष्टि से ही इस उद्धरण पर विचार करना है। रचना की दृष्टि से जैसा पहिले भी कई बार लिख चुके हैं, प्रत्येक मुहावरा एक अविभाज्य इकाई होता है। इसलिए भट्टलोल्लट इत्यादि ने अकेले शब्द की अकेली शक्ति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, मुहावरे के सम्बन्ध में ठीक वैसा ही कहा जा सकता है। मुहावरों का प्रयोग (सु-प्रयोग) वास्तव में कतिपय कुशल व्यक्ति ही जानते है और करते हैं। इसलिए कुशल व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त (सु-प्रयुक्त) मुहावरे गति अथवा प्रभाव में किसी प्रकार भी अर्जुन के तीर से कम नहीं होते। वे इतनी-गति से काम करते हैं कि कब कवच तोड़ा, कब वर्म-भेदन किया और कब मार दिया इस सब का कुछ पता ही नहीं चलता। इधर अर्जुन के धनुष से तीर चला, उधर गुरु द्रोण के आशीर्वाद की बौछार होने लगी, कब और कैसे लक्ष्य-भेदन हुआ, इसको देखने का अवकाश ही नहीं मिला। इसलिए, मुहावरों के सम्बन्ध में यह कहना सर्वथा उचित ही है, कि वे अर्जुन के तीर की तरह बड़ी तीव्र गति से सीधे लक्ष्य-बिन्दु पर ही पहुँचते हैं।

भाषा की उपयोगिता पर विचार करते हुए एक पाश्चात्य विद्वान् ने लिखा है, "भाषा की उपयोगिता केवल एक दूसरे पर अपना आशय प्रकट करने के माध्यम तक ही सीमित नहीं है। वह विचारों के साधन के रूप में भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण काम नहीं करती; क्योंकि वह उनकी वाहक-मात्र ही नहीं है, बल्कि उड़ान भरने के लिए उन्हें पंख भी दे देती हैं।" उड़ान भरने से लेखक का आशय अभिधेयार्थ को छोड़कर जो एक नये अर्थ की अभिव्यंजना किसी वाक्य से होती है, उस तात्पर्यार्थ से ही है। 'तेली का बैल होना' हिन्दी का एक मुहावरा है। किसी बैल को लक्ष्य करके यदि इसका प्रयोग होता, अथवा बैल को छोड़कर और किसी के लिए इसका प्रयोग न होता, तो भाषा की इस शक्ति को हम विचारों को प्रकट अथवा वहन करनेवाली शक्ति ही कहते, किन्तु हम देखते हैं कि हर समय काम में लगे रहनेवाले नासमझ व्यक्ति के लिए भी इसका प्रयोग होता है। तेली का बैल दिन-भर से न मालूम कितनी मंजिलें तय कर लेता है, किन्तु फिर भी उसे पता नहीं चलता कि वह कितना चला। तेली के बैल की इस विशेषता को लेकर हम बैल से उड़ान भरकर मनुष्य पर जा पहुँचते हैं। बैल और आदमी का अन्तर मिट जाता है, केवल उनकी समान विशेषता ही कानों में गूँजने लगती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जब किसी वाक्य के अलग-अलग शब्द अपना अर्थ कह चुकते हैं, अर्थात् जब उनकी अभिधा-शक्ति का काम पूरा हो जाता है, तब पूरे वाक्य का वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ बताने के लिए उसकी तात्पर्याख्या वृत्ति अथवा मुहावरा-शक्ति आगे बढ़ती है। 'तेली का बैल होना' मुहावरे का प्रभाव उसके अलग-अलग शब्दों के अर्थ के कारण नहीं पड़ता, बल्कि पूरे शब्द-समूह से अविवेकपूर्ण काम करने की जो व्यंजना निकलती है, उसके कारण पड़ता है।

---

१. साहित्यदर्पण, पृ० ६४, काशी की टीका।

साधारण व्यावहारिक जीवन में भी हम किसी वाक्य का अर्थ सबसे पहिले उसके वाक्यार्थ अथवा तात्पर्यार्थ के आधार पर ही समझते हैं। यही कारण है कि कभी-कभी गलत शब्दों का प्रयोग हो जाने पर भी सुननेवाले वाक्यार्थ समझने में गलती नहीं करते, शब्दों की गलती पर उनका ध्यान एकदम जाता ही नहीं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि शब्दार्थ का कोई महत्त्व ही नहीं, वास्तव में शब्दार्थ के अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति में असफल हो जाने पर ही तात्पर्यार्थ से काम लिया जाता है। 'पेट में आग लगाना' हिन्दी का एक प्रसिद्ध प्रयोग है। शब्दार्थ की दृष्टि से उसका भावार्थ समझने में असफल होने पर ही मुहावरे के आधार पर इसका तात्पर्यार्थ लिया जाता है। भाषा की दृष्टि से यद्यपि शब्दार्थ और वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ दोनों समान रूप से ही उपयोगी हैं, किन्तु हमें चूँकि मुहावरों की उपयोगिता पर ही विचार करना है, इसलिए हम यहाँ केवल तात्पर्यार्थ की ही मीमांसा करेंगे।

तात्पर्याख्या वृत्ति के सम्बन्ध में जैसा मुहावरे और शब्द-शक्तियों पर विचार करते हुए हम पहिले लिख चुके हैं, पूर्व मीमांसा के पक्षपाती अभिहितान्वयवादियों और उनके विरुद्ध मतवाले अन्विताभिधानवादियों (मम्मट इत्यादि) में काफी मत-विरोध रहा है, कोई शब्द-शक्तियों से सर्वथा स्वतन्त्र इसे एक चौथी शक्ति मानता है, तो कोई उन्हीं में इसकी गणना कर लेता है। हम इन लोगों के विवाद में नहीं पड़ना चाहते। हमारा अभिप्राय तो केवल इतना बता देना है कि प्रत्येक वाक्य या खंड-वाक्य में शब्दार्थ के साथ ही उससे एक ऐसी ध्वनि या व्यंजना भी निकलती है, जिसका सुननेवाले पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है अथवा जो तीर के समान सीधे लक्ष्य-बिन्दु को वेधकर मनुष्य को क्रियाशील बना देती है। मुहावरों की इस विलक्षण व्यंजना-शक्ति के आधार पर ही पाश्चात्य विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि साधारण प्रयोगों की अपेक्षा मुहावरेदार प्रयोगों का हम पर अधिक प्रभाव पड़ता है तथा वे तेजी के साथ प्रत्यक्ष रूप में अपने लक्ष्य-बिन्दु को वेधकर अर्थ को दिन की तरह स्पष्ट कर देते हैं।

गुरुवर 'हरिऔध' जी एक प्रकार से अपनी परम्परा के अनुसार पाश्चात्य विद्वानों के इस मत का समर्थन करते हुए लिखते हैं, "यह ध्वनिमूलक व्यंजना ही अधिकतर मुहावरों का आधार होती है। ऐसी अवस्था में उनकी उपयोगिता अप्रकट नहीं है। प्रतापरुद्रीय ग्रन्थ के कर्त्ता ने अलंकारों पर भी व्यंजना को प्रधानता दी है। व्यंजना का जिसमें अधिक विकास हो, उसी काव्य को साहित्यदर्पणकार ने उत्तम माना है, फिर व्यंजना-सर्वस्व मुहावरों की उपादेयता समर्थित क्यों न होगी ?"[१] वास्तव में बात भी यही है, जब कस्तूरी के पुटमात्र से कोई पदार्थ हमें मस्त कर सकता है, तब स्वतः कस्तूरी को पाकर हमारी मस्ती कहाँ समायगी। काव्य में व्यंजना का केवल पुट रहता है, किन्तु फिर भी वह मुर्दों में जान डाल देती है, तो फिर व्यंजना ही जिनका सर्वस्व हो, ऐसे मुहावरों की उपयोगिता और उपादेयता पर कौन उँगली उठा सकता है। मुहावरों का काव्य की अपेक्षा अधिक तेजी और प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ने का एक कारण यह भी है कि मुहावरों में जो व्यंग्य रहता है, वह इतना स्पष्ट, सरल, और स्वाभाविक होता है कि उसे समझने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

घर में चूल्हे के सामने बैठकर बातें करते समय तथा रंगमंच पर खड़े होकर भरी सभा में भाषण करते हुए प्रायः सर्वत्र सुननेवालों को प्रभावित और प्रोत्साहित करने के लिए लोग काव्य का सहारा लेते हैं। साधारण बातचीत की अपेक्षा काव्य की इन अनूठी उक्तियों का, जैसा कभी-न-कभी प्रायः सभी ने अनुभव किया होगा, प्रभाव भी बहुत जल्दी और बहुत तेजी से पड़ता है। साधारण भाषा में जिस बात को समझाने के लिए एक पूरे वक्तव्य की

१. बोलचाल की भूमिका, पृ० २०८।

आवश्यकता पड़ती और फिर भी इसका कोई प्रभाव पड़ेगा या नहीं, यह अनिश्चित ही रहता, बिहारी ने एक छोटे से दोहे के द्वारा राजा जयसिंह की पूरी स्थिति का उन्हें ज्ञान कराके, साथ ही उससे मुक्त होने का उपदेश और आदेश भी दे दिया। राजा जयसिंह अपनी नवोढ़ा पत्नी के बन्धन में इतना जकड़ गये थे कि राज्य-कार्य की भी उन्हें कुछ सुधि न रह गई थी, प्रायः सदैव महल में ही रहने लगे थे। अन्य सब प्रयत्नों के असफल होने पर बिहारी ने उन्हें यह दोहा लिखकर भेजा—

नहीं पराग नहीं मधुर मधु, नहि विकास यहि काल।
अली कली ही सों बंध्यो, आगे कवन हवाल॥

जैसा लोग कहते हैं, राजा जयसिंह पर इसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा और वे पुनः अपने राजकाल में लग गये। महाराणा प्रताप भी जब एक समय अकबर को बादशाह मान लेने की सोचने लगे थे, तब बीकानेर के राजा रायसिंह के छोटे भाई पृथ्वीराज राठौर के द्वारा भेजे हुए दो दोहों को पढ़कर फिर से दुगनी-चौगुनी शक्ति और साहस प्राप्त कर स्वतन्त्रता के युद्ध में लग गये। उन्होंने पृथ्वीराज के इन दोहों [1] के उत्तर में, तीन दोहे लिखकर भेज दिये। इन दोहों का एक दूसरे पर क्या प्रभाव पड़ा होगा, वह इनसे निकलनेवाली व्यंजना से अपने-आप स्पष्ट हो जाता है। पृथ्वीराज ने लिखा था [2]—

पातल जो पतसाह, बोलै मुखहू ता वयण।
मिहर पछ्म दिसनाह, उगे कासप राव उत॥ १
पटकूं मूंछा पाण के, पटकूं निज तन करद।
दीजे लिख दीवाण, इण दो माहली बात इक॥ २॥

अर्थात्, जिस प्रकार सूर्य का पश्चिम में उदय होना असम्भव है, उसी प्रकार प्रताप के मुख से अकबर के लिए बादशाह शब्द का प्रयोग होना असम्भव है। यदि यह हुआ, तो लिखिए कि मैं अपनी मूँछों पर ताव दूँ अथवा आत्महत्या कर लूँ। सूरज, पश्चिम में उगना, मूँछों पर हाथ फेरना, मूँछों पर ताव देना तथा आत्महत्या करने के भाव में तन पटकना इत्यादि मुहावरों का इन छन्दों में प्रयोग हुआ है। राणा प्रताप ने उत्तर में लिखा है—

तुरक कहासी मुखपतौ, इण तनसूं इकलिंग।
ऊगे जांही ऊगसी, प्राची बीच पतंग॥ १॥
खुसी हूंत पथिल कमध, पटको मूंछा पाण।
पछटण है जैते पतौ, कलमा सिर कैवाण॥ २॥
सांग मूंड सहसीस को, समजस जहर सवाद।
भड़ पथिल जीतो भला, वैण तुरक सूं वाद॥ ३॥

अर्थात्, इस शरीर से बादशाह तुर्क ही कहलायगा। सूर्य पूर्व दिशा में ही उगेगा। हे वीर राठौर पृथ्वीराज! जबतक प्रताप की तलवार मुसलमानों के सिर पर है, तबतक आप अपनी मूँछों पर आनन्दपूर्वक ताव दें। बराबरवाले का यश जहर के समान होता है, इसलिए प्रताप उसे न सहकर सिर पर सांग का प्रहार सहेगा। आप तुर्क के विवाद में विजयी हों। महाराणा प्रताप के ये दोहे भाषा की दृष्टि से मुहावरा-मणि के अनमोल हार हैं।

कतिपय इतिहासकारों के अनुसार यदि वास्तव में महाराणा प्रताप ने दुःखी होकर अकबर का आधिपत्य स्वीकार कर लेने का निश्चय कर लिया था, तो उन्हें फिर से अपने व्रत पर दृढ़ रखने

१. पृथ्वीराज ने सोरठे लिखे थे, दोहे नहीं।
२. राजपूताने का इतिहास, प्र० भाग (जगदीशसिंह गहलोत), पृ० २३८-४०।

के लिए इसी प्रकार की हृदयस्पर्शी व्यंजना की आवश्यकता थी, तर्क और बुद्धि से काम नहीं चल सकता था। व्यंजनामूलक काव्य का कितना गहरा और कितनी जल्दी प्रभाव पड़ता है, इसका एक और प्रत्यक्ष उदाहरण लेकर अब हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। सन् १९०१ ई० में दिल्ली में एक बड़ा भारी दरबार हुआ था। सभी राजे-महराजे उस दरबार में सम्मिलित होने के लिए दिल्ली आये थे। उदयपुर के महाराणा फतेहसिंह जी भी एक स्पेशल ट्रेन से दिल्ली के लिए चल चुके थे। जिस समय महाराणा की गाड़ी दिल्ली के पास आ गई, उन्हें बारहट केसरी सिंहजी का एक पत्र मिला, केसरीसिंहजी ने १३ छन्द लिखकर महाराणा साहब की धमनियों में फिर से महाराणा प्रताप का खून भर दिया। महाराणा प्रताप की आन ने मूर्त्तिमान् होकर उन्हें दरबार में जाने से रोक लिया और वे उल्टे पाँव घर वापिस आ गये। नमूने के तौर पर उनमें से कुछ छंद यहाँ देते हैं—

पग पग भम्या पहाड़, धरा छांड़ राख्यो धरम।
(ई० सू०) महाराणा क मेवाड़, हिरदै बसिया हिन्द रै ॥१॥
घण घलिया धमसाण, (तोई) राणा सदा रहिया निडर।
(अब) पेखता फुरमान, हलचल किम फतम लू हुवै ॥२॥
गिरद गजा घमसाण, न हचै घर भाई नहीं।
(ऊ) मावै किमि महाराणा, गज दो सै रा गिरद माँ ॥३॥
नरिपंद सह नजराण, झुक करसी सरसी जिका।
पसरे लो किम पाण, पाण छताथारो फता ॥५॥
सिर झुकिया सह साह, सीहांसण जिन साम्हने।
(अब) रलणो पंगत राह, फावे किम तोनै फता। ...... ॥६॥
देखला हिन्दुवाण, निज सूरज दिस नेह सूं ॥८॥
पण तारा परमाण, निरख निसा सा न्हाऊसी।
अब लग सारा असर, राणा रीत कुल राखसी।
रहो सारी सुख रास, एकलिंग प्रभु आपरे ॥१२॥

भावार्थ—१. मेवाड़ के महाराणा पहाड़ों में पैदल भटके, राज्य को छोड़कर धर्म की रक्षा की, इसी से आप, महाराणा और मेवाड़ भारतवासियों के हृदय में बसते हैं।

२. राणाओं ने अनेक घमासान युद्ध किये, पर वे कभी विचलित नहीं हुए। पर आज आज्ञा-पत्र को देखकर हे फतेहसिंह, तुम क्यों विचलित हो गये ?

३. जिनके हाथियों की धूल युद्ध-भूमि में समाती नहीं थी, आज वह महाराणा सौ-दो सौ गज के घेरे में कैसे समा सकेगा ?

५. हे राणा, सारे राजा सिर झुकाकर सम्राट् को नज़रें देंगे, पर फतेहसिंह, शक्ति रहते नज़र के लिए तेरा हाथ कैसे आगे बढ़ेगा ?

६. जिन राणा के सिंहासन के सामने बादशाहों के भी सिर झुक गये थे, उन्हीं के वंशज फतेहसिंह को आज राहगीरों की पंक्ति में मिलना कैसे शोभा दे सकता है ?

८. सारे हिन्दू अपने सूर्य (हिन्दू आसूर्य राणाओं की ख़िताब है) की ओर बड़े स्नेह से देखेंगे, पर जब उसे तारे के समान (स्टार ऑफ् इण्डिया) पायेंगे, तब बड़े उदास होकर निःश्वास छोड़ेंगे।

१२. अब भी सब को यही आशा है कि आप अपने कुल की रीति को रखेंगे। सुख देनेवाले भगवान् एकलिंग जी आपकी रक्षा करें।

ऊपर जितने उदाहरण दिये गये हैं, वे व्यंजनामूलक काव्य और उसके द्वारा पड़नेवाले प्रत्यक्ष प्रभाव के एक कण-मात्र हैं। हमने इन उदाहरणों को केवल उनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता के लिए ही चुना है, अन्यथा सूर, तुलसी और जायसी से प्रसाद, पन्त और निराला तक इस प्रकार के व्यंजनामूलक काव्य के कितने ही और भी ऐसे उदाहरण मिल जाते, जिनका उनके पात्रों पर जादू का-सा प्रभाव पड़ा है अथवा जिनके कारण उनके जीवन की काया पलट गई है। बिहारी, पृथ्वीराज और केसरीसिंहजी का इन राजाओं पर जो इतना गहरा प्रभाव पड़ा है, वह न तो इन कवियों के व्यक्तित्व के कारण पड़ा है और न इनके छन्दों की शब्दावलि के कारण। वास्तव में उन्हें इतना अधिक प्रभावित तो इन छन्दों से निकलनेवाली व्यंजना ने किया है। अतएव केवल व्यंजनामूलक काव्य का जब इतना प्रभाव पड़ सकता है, तब 'हरिऔध' जी के शब्दों में व्यंजना-सर्वस्व मुहावरों का इससे कितने गुना अधिक प्रभाव पड़ेगा, पाठक स्वयं इसका अनुमान लगा सकते हैं, इसलिए मुहावरों के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का यह कहना कि उनका प्रभाव बहुत तेजी से और प्रत्यक्ष रूप में पड़ता है तथा वक्ता के अभिप्राय का दर्शन-जैसा करा देते हैं, सर्वथा उचित और ठीक ही है।

मुहावरेदार भाषा, यदि फरार के शब्दों में कहें तो हमेशा बिजली और बादलों की गर्जन-तर्जन जैसी समझी जाती है; क्योंकि उसका हमारे मन पर बिलकुल ऐसा ही प्रभाव पड़ता है, जैसा अचानक किसी तूफान आ जाने का। मुहावरेदार भाषा के सम्बन्ध में लिखते हुए वह कहता है, 'जब हम मुहावरेदार भाषा का प्रयोग करते हैं, तब कदाचित् हमारी भाषा अधिक तेजी से समझी जाती है और साधारण गद्य की भाषा के प्रयोगों की अपेक्षा इनके द्वारा हमारे मन की बात भी अधिक स्पष्टता से व्यक्त हो जाती है।'[1]

मुहावरे विशिष्ट पुरुषों के स्मृति-चिह्न
(मुहावरे साधु-सन्त, देशसेवक और शहीदों आदि के स्मृति-चिह्न होते हैं।)

मुहावरों के सम्बन्ध में, जैसा अभी पीछे लिख चुके हैं, वे व्यंजना-सर्वस्व होते हैं। इसी बात को यदि और अधिक व्यावहारिक भाषा में कहें, तो कहना होगा कि वे शब्दों के साधारण अर्थ को छोड़कर एक विशेष अर्थ की ओर संकेत करते हैं। साहित्यदर्पणकार व्यंजना की व्याख्या करते हुए लिखता है—

वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययोः।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च ॥
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत्सार्थसम्भवा।

—सा० द०, परिच्छेद २, कारिका १६

अर्थात् वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य, अन्यसंनिधि, वाच्य, प्रस्ताव या प्रकरण तथा देश, काल, काकु, चेष्टादि की विशिष्टता के कारण जिसके द्वारा किसी अन्य अर्थ की ओर संकेत हो, उसे व्यंजना कहते हैं। विश्वनाथ इसीको अपना उदाहरण लेकर और संक्षेप में इस प्रकार कहता है, "तत्रवक्तृवाक्यप्रस्तावदेशकालवैशिष्टये……………", अर्थात् जहाँ वक्ता, वाक्य, प्रकरण तथा देश और काल की विशिष्टता रहती है, वहाँ एक नये अर्थ की अभिव्यंजना होती है।

प्रस्तुत प्रकरण की दृष्टि से यदि मम्मट और विश्वनाथ की इस व्याख्या को और अधिक संक्षिप्त करके रखें, तो कहेंगे कि वाच्य की विशिष्टता के आधार पर जब गुणी के द्वारा उसके गुणों की

१. ओरिजिन ऑफ़् लैंग्वेज, पृ० १२६ : भावार्थ ही लिया है।

ओर संकेत किया जाता है, तब व्यंग्यार्थ अथवा व्यंजना-सर्वस्व मुहावरे की सृष्टि होती है! 'सूरदास होना' हिन्दी का एक मुहावरा है, जिसका प्रयोग प्रायः नेत्रविहीन गाने-बजानेवालों के लिए होता है। सूरदास, जैसा लोकप्रसिद्ध है, जन्म के अंधे थे। वे प्रायः मन्दिर में बैठकर बड़े मधुर स्वर में कृष्ण-भक्ति के स्वरचित पद लोगों को सुनाया करते थे। धीरे-धीरे वह चारों ओर इतने अधिक प्रसिद्ध हो गये कि दूर-दूर से लोग उनके दर्शन करने आने लगे। जिन लोगों ने उन्हें कभी देखा नहीं था, उनके लिए तो पहिले आँख, फिर कंठ ये ही दो ऐसे साधन थे, जिनके आधार पर वे सूरदास को पहचान सकते थे। ऐसी स्थिति में किसी भी अन्धे को देखकर सूरदास की कल्पना करना और उससे गाना सुनने की आशा रखना स्वाभाविक ही था। संक्षेप में यही कारण है कि एक समय सूरदास का अर्थ अन्धा गायक और अन्धे गायक का अर्थ सूरदास हो गया था। सूरदास की तरह से ही और भी कितने ऐसे साधु-सन्त, देशसेवक और शहीद हैं, जिनकी स्मृतियाँ आज भी हमारे मुहावरों में सुरक्षित हैं। साधु-सन्त, देशसेवक और शहीद शब्दों को यदि व्यापक दृष्टि से देखें, तो ऋषि-मुनि, सिद्ध-साधक और विद्वान्-कलाकार इत्यादि प्रायः सभी लोकप्रिय जनसेवकों और ऐतिहासिक पुरुषों की गणना इनके अन्तर्गत हो सकती है। अतएव, अब हम इसी व्यापक दृष्टि से मुहावरों के दृष्टान्त लेकर प्रस्तुत विषय पर विचार करेंगे।

हम बड़े-बड़े लोगों के स्मारक बनाते हैं, स्मृति-चिह्न एकत्रित करते हैं, जीवन-वृत्त लिखते हैं। क्यों, केवल इसीलिए कि उनके दर्शन, मनन और चिन्तन के द्वारा उनका अनुसरण करते हुए हम भी ऊँचे उठें। योगिराज कृष्ण, भक्त प्रह्लाद, सत्य हरिश्चन्द्र, दानी कर्ण, त्यागी दधीचि और सेवक लक्ष्मण इत्यादि के स्मृतिचिह्न-स्वरूप सैकड़ों मुहावरों के हमारी बोलचाल में होते हुए भी क्यों हम आज बराबर नीचे ही गिरते जाते हैं, क्यों हमारा अधःपतन हो रहा है। जिधर देखिए, उधर असन्तोष, अविश्वास और असहिष्णुता की आग धधक रही है, मनुष्य मनुष्य के रक्त का प्यासा हो रहा है। इसका एकमात्र कारण है हमारा मनुष्यता से गिर जाना! आदर्श मनुष्यों के आदर्श को समझने से पूर्व इसीलिए मनुष्य के आदर्श का दर्शन, मनन और चिन्तन करना अधिक आवश्यक है। हिन्दी में ऐसे मुहावरों की कमी नहीं है, जो बार-बार पाशविकता के स्तर से उठकर मनुष्य बनने की चेतावनी हमें देते आते हैं।

मनुष्य के आदर्श का सामवेद में इस प्रकार वर्णन मिलता है—

त्वमग्ने वसूँ रिह रुद्राँ आदित्याँ उत।
यजा स्वध्वरं जनं मनुजातं घृतपुषम्॥ —अ॰ १, खं॰ १०,६

अर्थात्, मनुष्य सब प्राणियों में (१) 'मनुजात' मननशक्ति से बना हुआ, (२) 'घृतपुषम्' अपना तेज दूसरों पर फैलानेवाला और (३) 'स्वध्वरं' किसी प्राणी की हिंसा न करनेवाला होने से ही उन्नत है। इन तीनों गुणों के कारण वह परमात्मा के संग का लाभ करता है और देवतुल्य हो जाता है। 'आदमी बन जाना', 'पशुता छोड़ना', 'देवता बनना' इत्यादि मुहावरे बराबर इन्हीं तीन गुणों का विकास करने की हमें याद दिलाते रहते हैं। हमें विश्वास है कि जिस दिन ये तीनों गुण फिर से हमारे अन्दर जग जायेंगे, हम मनुष्य बन जायेंगे, हमारी दैवी वृत्तियाँ जागरूक होकर देवत्व की ओर बढ़ने में हमारी सहायता करने लगेंगी। अब कुछ ऐसे मुहावरे देते हैं, जो हमें साधु-सन्त देशसेवक और देश, जाति तथा धर्म के नाम पर शहीद होनेवाले आदर्श व्यक्तियों की याद दिलाते हैं।

अलख जगाना, धूनी रमाना, दण्ड कमण्डल उठाकर चलना, हवा पीकर रहना, सन्त होना, साधु स्वभाव होना, भस्म कर देना इत्यादि मुहावरे भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के साधु-सन्तों की अच्छी यादगार है। यह हमारा दुर्भाग्य है कि आज हम साधु-सन्तों के इन स्मृति-चिह्नों का दुरुपयोग करने लगे हैं। इनके आध्यात्मिक पक्ष को हमने बिलकुल भुला दिया है। यही कारण है कि आज इस

प्रकार के अधिकांश मुहावरों का प्रयोग व्यंग्य के रूप में होने लगा है। नाथपन्थी योगी अलख (अलक्ष्य) जगाते हैं। इसी शब्द से इष्टदेव का ध्यान करते हैं और इसी से भिक्षा भी करते हैं। उनके शिष्य गुरु के 'अलक्ष्य' कहने पर 'आदेश' कहकर सम्बोधन का उत्तर देते हैं। इन मंत्रों का लक्ष्य वही प्रणव-रूपी परम पुरुष है, जो वेदों और उपनिषदों का ध्येय है। साधुओं में भौतिकवाद के जड़ पकड़ लेने के कारण प्रायः ये लोग कुछ न मिलने पर गालियाँ तक देने लगते हैं, स्वयं गोस्वामी तुलसीदास को एकबार ऐसे किसी साधु को झिड़ककर कहना पड़ा था—

हम लख हमहि हमार लख, हम हमाके बीच।
तुलसी अलखहिं का लखे, रामनाम जपु नीच॥

इस प्रकार 'अलख जगाना' मुहावरे से अलखनामियों के साथ ही सन्त तुलसीदास जैसे राम-भक्तों की भी हमें याद आ जाती है। 'धूनी रमाना' मुहावरा उन साधुओं का ध्यान हमें दिलाता है, जो संसार से विरक्त होकर किसी एक स्थान पर बैठकर तपस्या करने लगते हैं। आज भी शरीर तपाना, तप करना, साधु हो जाना इत्यादि अर्थों में इसका प्रयोग होता है। धूनी रमाने में एक-निष्ठता की भावना छिपी रहती है, इसलिए किसी काम में एकनिष्ठ होकर रम जाने के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है, जैसे "नाम पै धूनी उसके रमाकर, आन को रखा जान गँवाकर"। एक-निष्ठता भी सन्तों में ही मिलती है। 'दण्ड-कमण्डल उठाकर चलना' मुहावरे से असंग्रही साधुओं का परिचय हमें मिलता है। संन्यासी लोग प्रायः दण्ड और कमण्डल ही रखते हैं। 'हवा पीकर रहने-वाले सन्तों का भी हमारे धर्म-ग्रन्थों में वर्णन मिलता है। अपने तेज से भस्म कर देने की शक्ति तो प्रायः सभी ऋषियों में होती थी। हमारा देश चूँकि आदिकाल से ही तत्त्व-चिन्तन करनेवाले आत्म-द्रष्टा ऋषि और मुनियों की तपोभूमि रहा है। इसलिए हमारी भाषा में आरम्भ से ही सन्त-स्वभाव और साधु-जीवन की याद दिलानेवाले असंख्य मुहावरे चले आ रहे हैं।

असंख्य ऋषि, मुनि और साधु-सन्तों की तरह ही साहित्यकारों, कलाकारों और दार्शनिकों तथा देश, धर्म और जाति पर मर मिटनेवाले देशभक्तों और शहीदों की भी हमारे देश में कभी कमी नहीं रही है। आज के इस गये-बीते युग में भी अमर शहीद महात्मा गांधी जैसे आत्म-द्रष्टा ऋषि निरन्तर पूर्ण निष्काम भाव से सेवा-कार्य में लगे हुए तपस्वी और करो या मरो का बीड़ा उठाकर नित्य आगे ही बढ़नेवाले वीर सेनानी को पैदा करने का श्रेय हमारे देश को है। हमारे साहित्य पर इसलिए इन महारथियों की गहरी छाप होना स्वाभाविक ही है। व्यक्तिगत रूप से इनका परिचय देनेवाले मुहावरों की हमारे यहाँ भले ही कमी मालूम हो, किन्तु उनके पाण्डित्य और कला-कौशल का ज्ञान करानेवाले लोकप्रिय स्मारकों की हमारी भाषा में कोई कमी नहीं है। हमारे साहित्य का आदर्श ही चूँकि आरम्भ से विभिन्न दृष्टिकोणों और विचार-धाराओं को स्पष्ट करना रहा है, व्यक्तियों का प्रचार और प्रदर्शन नहीं, इसलिए यह कमी खटकनी नहीं चाहिए।

प्रायः प्रत्येक भाषा में जैसा पीछे भी एक अध्याय में लिख चुके हैं, कभी-कभी व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का जातिवाचक संज्ञाओं तथा विशेषणों की तरह भी प्रयोग होता है। कुछ ऐसे विशिष्ट योग्यता के व्यक्ति होते हैं कि योग्यता के लिए दूर-दूर उनका नाम फैल जाता है। उनके भौतिक शरीर के साथ ही उनके गुण और योग्यता का एक सूक्ष्म शरीर भी उनके साथ जुड़ जाता है। धीरे-धीरे यह सूक्ष्म शरीर इतना लोकप्रिय हो जाता है कि भौतिक शरीर का ज्ञान ही नहीं रहता। उनके नाम और गुणों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हो जाता है। उनका नाम पंच-महाभूतों से निर्मित शरीर के लिए नहीं, बल्कि बुद्धि, विवेक और आत्मज्ञान इत्यादि के आधार पर प्राप्त ख्याति का सूचक हो जाता है। 'धन्वन्तरि होना' प्रयोग में धन्वन्तरि शब्द का अर्थ धन्वन्तरि के समान कुशल

वैद्य होना है। इसी प्रकार के कुछ मुहावरे नीचे देते हैं। जिनके देखने मात्र से पुरानी स्मृतियाँ फिर हरी हो जाती हैं—

सत्य हरिश्चन्द्र, दानी कर्ण, शिखंडी, शकुनि, जयचन्द, विभीषण, चार्वाक, राजा नल, अष्टावक्र, कारू, कुबेर, चाणक्य, राजा भोज, भगीरथ, अफलातून, हम्मीर हठ, हातिम, रुस्तम, गामा, राममूर्त्ति इत्यादि नामों के आधार पर हमारी भाषा में असंख्य मुहावरे प्रचलित हैं। 'भुने तीतर उड़ना,' 'हाथों के तोते उड़ जाना', 'खूँटी का हार निगलना', 'सुदामा के तन्दुल होना' इत्यादि असंख्य ऐसे स्वतन्त्र प्रयोग भी हैं, जो बराबर ऐसे लोगों की याद दिलाते रहते हैं।

मुहावरों के द्वारा भाषामूलक पुरातत्त्व-ज्ञान

एक हजार वर्ष तक हमारा देश पहिले मुसलमानों का और फिर अँगरेजों का गुलाम रहा है। गुलामी चाहे मुसलमानों की हो, चाहे अँगरेजों की, गुलामी ही है। भाषा के स्वाभाविक विकास और स्वतन्त्र प्रगति पर उसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। मुसलमानों की भाषा प्रायः फारसी होती थी। फारसी और संस्कृत, जैसा भाषाविज्ञान के पंडित मानते हैं, एक ही परिवार और प्रकृति की होने के कारण संस्कृत से उत्पन्न हमारी भाषाओं पर फारसी का प्रभाव तो पड़ा, किन्तु वह प्रभाव हमारे शब्दकोष तक ही सीमित रहा, मूल शब्दार्थ में उसके कारण कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। हमारी संस्कृति और भाषा पर वास्तव में यदि किसी का घातक हमला हुआ है, तो वह अँगरेजों और अँगरेजी का है। अँगरेजी ने तो सचमुच हमारे मूल शब्दों की आत्मा का गला ही घोंट दिया है। आज जब हम कुछ लिखने के लिए कलम उठाते हैं, तब अपनी भाषा के जो शब्द और मुहावरे हमारे सामने आते हैं, वे एक प्रकार से अनूदित होते हैं। अँगरेजी में सोचकर हिन्दी में लिखे होते हैं, इस प्रकार लिखने से सर्वत्र अर्थ का अनर्थ भले ही न हुआ हो या न होता हो, उनका परम्परागत अर्थ तो प्रायः सर्वत्र नष्ट हो ही जाता है।

"भाषा", जैसा स्मिथ ने लिखा है "समस्त जनता के योगदान का ही फल होती है। वह आचार्यों और वैयाकरणों की नहीं, बल्कि असंस्कृत और अशिक्षित लोगों की ही कृति होती है।"[१] और "इन अशिक्षित लोगों में कोष-परम्परा-प्राप्त अर्थ की शुद्धि, कठिन उच्चारण और रूढ़ प्रयोगों के लिए अद्भुत अनुराग होता है। वे जिस तरह से उनका प्रयोग करने लगते हैं, बराबर उसी तरह प्रयोग करने में काफी मौलिकता दिखाते हैं।"[२] सचमुच यदि इन अशिक्षित कहे जानेवाले किसान और मजदूरों का अनुग्रह न होता, तो मुहावरों में जो कहीं इधर-उधर कुछ परम्परानुगत प्रयोग बच गये हैं, वे भी हाथ न आते। भाषामूलक पुरातत्त्व-विचार में मुहावरों से जो कुछ सहायता मिलती है, उसका सारा श्रेय इसलिए इन्हीं किसान और मजदूरों को मिलना चाहिए। यदि देखा जाय, तो कम-से-कम पुरातत्त्व-विचार की दृष्टि से तो अवश्य ही मुहावरों में ये लोग जितने अच्छे प्रमाण हो सकते हैं, साहित्य और शास्त्र नहीं। ऋग्वेद के दसवें मंडल के ७१वें सूक्त में वाक्, वचन या भाषा के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह इसी बात का स्पष्टीकरण-सा मालूम होता है। देखिए—

ब्रह्मज्ञान देवता, बृहस्पति ऋषि, त्रिष्टुप् और जगती छन्द :

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥१॥
सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥२॥

---

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० १६६।

२. वही, पृ० १४२।

यज्ञेन वाचः पदवीयमयन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुषा तां सप्त रेभा अभि संनवन्ते ॥३॥
उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥४॥
उतो त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं सुश्रवा अफलामपुष्पाम् ॥५॥
यस्तित्याज स चिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥६॥
अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उत्वे ह्रदा इव स्नात्वा उत्वे ददृशे ॥७॥

भावार्थ—१. हे बृहस्पति, तुम तो वाणी (भाषा) के उत्तरोत्तर बढ़नेवाले रूप को जानते हो! हम अपने अनुभूत ज्ञान के अनुसार वाणी के विस्तार का परिचय देते हैं। बालक प्रथम पदार्थों का नाम-भर ('तात' आदि) रखते हैं। यह उनकी भाषा-शिक्षा का प्रथम सोपान है। इनका जो उत्कृष्ट और निर्दोष ज्ञान (वेदार्थ-ज्ञान) गोपनीय है, वह सरस्वती के प्रेम से प्रकट होता है।

२. जैसे छलनी से सत्तू को परिष्कृत किया जाता है, वैसे ही बुद्धिमान् लोग बुद्धि-बल से परिष्कृत भाषा को प्रस्तुत करते हैं। उस समय विद्वान् लोग अपने अभ्युदय को जानते हैं। इनके वचन में मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती हैं।

३. बुद्धिमान् लोग यज्ञ के द्वारा वाणी (भाषा) का मार्ग पाते हैं। ऋषियों के अन्तःकरण में जो वाक् (भाषा) थी, उसको उन्होंने प्राप्त किया। उस भाषा को लेकर उन्होंने सारे मनुष्यों को पढ़ाया, सातों छन्द इसी भाषा में स्तुति करते हैं।

४. कोई-कोई समझकर वा देखकर भी भाषा को नहीं समझते या देखते, कोई-कोई उसे सुनकर भी नहीं सुनते। किसी-किसी के पास वाग्देवी स्वयं वैसे ही प्रकट होती हैं, जैसे संभोगाभिलाषी भार्या सुन्दर वस्त्र धारण करके अपने स्वामी के पास अपने शरीर को प्रकट करती है।

५. विद्वन्मण्डली में किसी-किसी की यह प्रतिष्ठा है कि वह उत्तम भाव-ग्राही है और उसके विना कोई कार्य नहीं हो सकता (ऐसे लोगों के कारण ही वेदार्थ-ज्ञान होता है)। कोई-कोई असार वाक्य का अभ्यास करते हैं। वे वास्तविक धेनु नहीं हैं। काल्पनिक, मायामात्र धेनु हैं।

६–७. जो विद्वान् मित्र को छोड़ देता है, उसकी वाणी से कोई फल नहीं है। वह जो कुछ सुनता है, व्यर्थ ही सुनता है। वह सत्कर्म का मार्ग नहीं जान सकता, जिन्हें आँखें हैं, कान हैं, ऐसे सखा (समान ज्ञानी) मन के भाव को (ज्ञान को) प्रकाश करने में असाधारण होते है। कोई-कोई मुख तक जलवाले पुष्कर और कोई-कोई कटिपर्यन्त जलवाले तड़ाग के समान होते हैं। कोई-कोई स्नान करने के उपयुक्त गम्भीर ह्रद के समान होते हैं।

भाषा के विस्तार का जो परिचय ऋग्वेद में दिया है, उसके आधार पर थोड़े-से शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि पहिले नामधारण करते हुए भाषा से जो प्रेरणा मिलती है, वह हृदय में छिपी रहती है। समय पाकर सरस्वती की कृपा और ऋषियों के सत्संग से वही नाम-रूप बीज वैखरी भाषा के रूप में प्रकट होता है। विद्वान् लोग सत्तू की तरह सम्भवतया लोकप्रियता की छलनी में बार-बार छानकर उसे खूब परिष्कृत करके उसका प्रचार करते हैं, जिसे चलने-फिरनेवाले गायक तथा अन्य लोग लेकर चारों ओर फैला देते हैं। यह अलग-अलग लोगों की योग्यता और विवेक-बुद्धि पर निर्भर रहता है कि वे उसके तात्पर्यार्थ में कितने गहरे उतरते हैं, कुछ लोग देखकर भी नहीं देखते, सुनकर भी नहीं सुनते, इसी प्रकार दूसरे कुछ लोग अभिधेयार्थ से ही सन्तुष्ट हो

जाते हैं, कुछ लक्ष्यार्थ तक पहुँचते हैं और कुछ इन दोनों से भी गहरे उतरकर मुहावरा-सरोवर में डुबकियाँ मार-मारकर व्यंजना का आनन्द लेते हैं। साथ ही कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं, जो असार वाक्य का अभ्यास करते हैं। असार वाक्य से अभिप्राय परम्परागत अर्थ को छोड़कर किसी नये अर्थ में प्रयुक्त अथवा बेमुहावरा वाक्य हो सकता है। अच्छा लगे या बुरा, चूँकि सत्य है, इस लिए कहना ही पड़ता है कि आज तो इसी प्रकार की 'काल्पनिक माया-मात्र धेनुओं' की ही संख्या अधिक है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यही निष्कर्ष निकलता है, कि मुहावरों में प्रयुक्त शब्दों के प्राचीन अर्थ बहुत-कुछ सुरक्षित रहते हैं, उनकी सहायता से पुरातत्त्व-विचार के क्षेत्र में बहुत-कुछ काम हो सकता है। हमारा मुख्य विषय, चूँकि पुरातत्त्व-विचार के क्षेत्र में भी मुहावरों से सहायता मिल सकती है, यह है 'पुरातत्त्व-विचार' स्वयं नहीं, इसलिए उदाहरण-स्वरूप कुछ मुहावरों पर इस दृष्टि से विचार करके प्रस्तुत प्रसंग की इतिश्री करेंगे।

कर्म शब्द का हिन्दी-मुहावरों में कई अर्थों में प्रयोग हुआ है—जैसे १. कर्म फूटना या फोड़ना, कर्म में लिखा होना, कर्म में न होना, कम दिल्लदरी होना, कर्म को रोना इत्यादि में भाग्य के अर्थ में; २. कर्म जागना, कर्मों का फल होना इत्यादि में पूर्व जन्म के किये हुए कार्यों के अर्थ में; ३. कुकर्मी होना, अच्छे कर्म करना, बुरे कर्म करना इत्यादि में साधारण काम के अर्थ में; ४. क्रिया-कर्म करना, विवाह-कर्म होना, कर्म कराना इत्यादि में संस्कार के अर्थ में; ५. कर्मवीर होना, कर्मठ होना इत्यादि में कर्त्तव्य या धर्म में; ६. सब कर्म कर डालना, उन्हीं के कर्म हैं, सातों कर्म हो जाना, (अश्लील अर्थ में आता है) इत्यादि में बुरे अर्थ में (विघ्नमय जीवन की सूचना देने के लिए) और ७. नित्य कर्म इत्यादि में साधकों का आनन्दमय जीवनवाला भाव है।

कोषकारों ने भी इस शब्द के बहुत-से अर्थ दिये हैं। शब्दसागर में इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है—कर्म संज्ञा पुं० (सं० कर्मन् का प्रथमा रूप) १. वह जो किया जाय। क्रिया, कार्य, काम, करनी (वैशेषिक के छह पदार्थों में से एक); २. यज्ञ, याग आदि कर्म (मीमांसा); ३ व्याकरण में वह शब्द, जिसके वाच्य पर कर्त्ता की क्रिया का प्रभाव पड़े; ४. वह कार्य या क्रिया, जिसका करना कर्त्तव्य हो, जैसे ब्राह्मणों के षट्कर्म; ५. भाग्य, प्रारब्ध, किस्मत और ६. मृतक-संस्कार, क्रिया कर्म।

अब हम ऋग्वेद-काल से जिन-जिन अर्थों में इसका प्रयोग होता चला आ रहा है, उस पर विचार करेंगे।

ऋग्वेद 'में कर्मन्कर्मन्' और 'कर्मणिकर्मणि' का प्रत्येक कार्य में ऐसा अर्थ किया गया है। देखिए :

> यो अश्वानां यो गवां गोपतिर्वशी य आरित : कर्मणिकर्मणि स्थिर :।
> पीलोश्चिदिन्द्रो यो असुन्वतो वधोमरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ॥४॥

उपनिषदों और गीता में भी कर्म शब्द का अर्थ बराबर कार्य ही किया गया है। गीता में कर्म, अकर्म और विकर्म उसके तीन भाग कर दिये हैं, देखिए—

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा :।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥ —ईशोपनिषद्

> कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
> अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गति : ॥१७॥ —गीता, अ० ४

मीमांसा में कर्म और धर्म का भेद हो गया है, वहाँ कर्मकांड के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है, मीमांसा-शास्त्र कर्मकाण्ड का प्रतिपादक है, इसकी गणना अनीश्वरवादी दर्शनों में है, पूर्व-मीमांसा-दर्शन की मीमांसा करते हुए इसलिए रामदास गौड़ लिखते हैं—

"मीमांसकों का तर्क यह है कि सब कर्म फल के उद्देश्य-से होते हैं, फल की प्राप्ति कर्म द्वारा ही होती है, अतः वे कहते हैं कि कर्म और उसके प्रतिपादक वचनों के अतिरिक्त ऊपर से और किसी देवता या ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता है।"[1]

आदिपुराण के रचयिता जिनसेन भी अनीश्वरवादी थे, उन्होंने भी पूर्वमीमांसा की तरह कर्म का अर्थ यज्ञ, योग आदि कर्म ही लिया है, पुराणों में उसके कृत और कर्म दो भेद हो गये हैं। आदिपुराण के चौथे पर्व में आया है—

कर्मापेक्षः शरीरादिः देहिनो घटयेद्यदि।
नन्वेवमीश्वरो न स्यात्पारतन्त्र्य.त्कुविन्दवत् ॥११॥

दार्शनिकों ने इसके कर्म, अकर्म, विकर्म, सुकर्म, कुकर्म आदि भाग कर दिये हैं। जैन और बौद्ध पुराण के अनुसार कर्म ही ईश्वर या विश्वकर्मा है। गौड़जी इसी प्रसंग में एक जगह लिखते हैं—"अतएव यह जगत् कर्मों की विचित्रता से नानात्मक, अर्थात् अनेक प्रकार का होता हुआ अपने विश्वकर्मा-रूप कर्म सारथी को साधता है, अर्थात् यह सिद्ध करता है कि जगत् का कर्त्ता कर्म है। कोई पुरुष विशेष नहीं है। विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत कर्म और ईश्वर ये सब कर्म-रूपी ब्रह्मा के ही पर्यायवाची नाम हैं।"[2] हमारा विचार है, हाय करम, कर्म मेरे, कर्म का मारा, कर्म की मार, कर्म की गति इत्यादि मुहावरे इसी भाव के द्योतक हैं।

कबीर ने रहस्यवादी अर्थ में आनन्दप्राप्त जीवन की सूचना इस शब्द से दी है, देखिए—

करम कमण्डल कर लिये वैरागी दो नैन।
चारवेद रसमधुकरी छके रहैं दिन रैन॥

और तुलसी ने भाग्य के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग किया है—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहिं सो तस फल चाखा॥

अब अन्त में 'प्रसाद' को लेते हैं। 'प्रसाद' ने कामायनी में एक पूरा सर्ग ही कर्म पर लिखा है। उन्होंने इस शब्द के साधक और असाधक दोनों दृष्टियों से विचार करते हुए 'आनन्द-मय जीवन' और 'विघ्नमय जीवन' दोनों की ओर संकेत किया है, वह लिखते हैं—

परम्परागत कर्मों की वे कितनी सुन्दर लड़ियाँ।
जीवन-साधन की उलझी हैं जिनमें सुख की घड़ियाँ॥

कर्म शब्द के मुहावरागत अर्थों को, ऋग्वेद-काल से अबतक जिन विभिन्न अर्थों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है, उनके साथ रखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषामूलक पुरातत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति में मुहावरों से बहुत काफी सहायता मिल सकती है। विस्तार-भय से अब हम और इसकी व्याख्या न करके इसी प्रकार के दो-चार और उदाहरणों में प्रस्तुत प्रसंग को समाप्त कर देंगे।

भाग करना, भाग निकालना, भाग देना, भाग होना इत्यादि की तरह आजकल 'भाग लेना' प्रयोग भी खूब चलता है। प्राचीन काल में यज्ञ के समय समस्त देवताओं को हवि दिया जाता था। इसमें अलग-अलग भाग होते थे, किसी को आधा दिया जाता था, किसी को चौथाई और किसी को कोई दूसरा अंश। इस प्रकार, पूरे हवि को अलग-अलग भाग करके देवताओं को अर्पण किये जाते थे। देवता लोग आकर स्वयं नहीं लेते थे। इसलिए भाग देना, करना इत्यादि प्रयोग तो ठीक है, किन्तु भाग लेना भारतीय परम्परा (यज्ञ की) से मेल नहीं खाता। हमें लगता है, यह प्रयोग

---

१. हिन्दुत्व, पृ० ५५०।
२. वही, पृ० ४२३-२४।

अँगरेजी के 'टू टेक पार्ट' (to take part) का अनुवाद है, 'भाग लेना' इत्यादि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। ऋग्वेद में उसका प्रयोग 'न तस्य भागोस्ति' के रूप में हुआ है।

हमारे यहाँ जलपान करने का अर्थ कुछ खाना-पीना ही होता है। 'जलपान' में पीने पर उतना जोर नहीं होता, जितना खाने पर। हम देखते हैं कि प्राचीन काल में भी 'पिव' का प्रयोग खाने के अर्थ में होता था। सामवेद (आग्नेय कांड, अध्याय २, ख० १ । १०) में आया है—

इदं वसो सुतम् अन्धः (अन्न) पिवा सम्पूर्णमुदरम्।

फारसी का एक प्रयोग है 'जोरावर', इसी के आधार पर हमारे यहाँ बोलचाल में 'जोरावरी करना', 'जोरावर बनना' तथा 'जोरावरी ले जाना' इत्यादि प्रयोग खूब चलते हैं। फारसी में 'आवर', 'आवुरदन' धातु से निकलकर लानेवाला के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जोरावर का अर्थ इसलिए जोर लानेवाला है, ताकतवर नहीं।

'कृष्णमुख होना या करना' मुहावरे में 'कृष्ण' शब्द का प्रयोग काले के अर्थ में हुआ है। भगवान् कृष्ण काले थे, इसलिए उनको लक्ष्य करके कृष्ण का काले के अर्थ में प्रयोग होता हो, ऐसी बात नहीं है। बहुत पहिले ऋग्वेद-काल में भी इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग होता था। ऋग्वेद के दूसरे मंडल के २०वें सूत्र के ७वें मंत्र में इसी अर्थ में कृष्ण शब्द का प्रयोग हुआ है। देखिए—

स वृत्रहेन्द्रः कृष्णयोनी: पुरन्दरो दासी रैरयद्वि।
अजनयन्मनवे चामपश्च सत्रा शंसं यजमानस्य तूतीत ॥ ७ ॥

इसी प्रकार, 'निसोत पानी होना' में निसोत शब्द 'निःसंयुक्त' का रूपान्तर है। 'मैला-कुचैला' में चैला शब्द बहुत प्राचीन काल में कपड़े के अर्थ में प्रयुक्त होता था। बनारस में अब भी प्रायः 'सचैल स्नान करना' यह प्रयोग चलता है। गीता में भी 'चैलाजिनकुशोत्तरम्' के रूप में चैल का कपड़े के अर्थ में प्रयोग हुआ है। दुष्टता करना, या दुष्ट होना इत्यादि में प्रयुक्त शब्द का हमारे यहाँ दुर्जन और दुराचारी अर्थ होता है। कभी-कभी प्रेम में भी लोगों को दुष्ट कह देते हैं। गीता के 'स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः' पद में दूषित दुश्चरित्र के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में विषमता के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। जैसा—'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा..................'।

मुहावरों में सांस्कृतिक परिवर्त्तनों की झलक

सांस्कृतिक परिवर्त्तनों को छेड़ने से पहिले अपने मानसिक परिवर्त्तन के सम्बन्ध में दो शब्द कह देना आवश्यक है। संस्कृत और हिन्दी शब्दों का अर्थ करने के लिए ऑक्सफोर्ड और चेम्बर्स कोषों के पन्ने उलटने को आप मानसिक परिवर्त्तन कहें, मानसिक दासता या मानसिक प्रमाद कुछ भी कहें, पढ़े-लिखे लोगों में आज इस रोग ने बुरी तरह से घर कर लिया है। संस्कृति शब्द के साथ भी यही अत्याचार हुआ है। कल्चर (Culture) शब्द का अर्थ देखकर ही आजकल प्रायः संस्कृति की व्याख्या की जाती है। हम भूल जाते हैं कि संस्कृति की हमारी जो व्याख्या है; वह उस रूप में न तो चीन, जापान और ब्रह्मा के बौद्धों में है और न मुसलमान और ईसाई आदि में ही। हाँ, सिक्खों में, जैनों में, भारतीय बौद्धों में और उन ब्रह्म-समाजियों में, जो विदेशी नहीं हो गये हैं, उन आगाखानियों में, जो जबरदस्ती मुस्लिम लीगी नहीं बना लिये गये हैं। इतना ही नहीं, बल्कि देहात के रहनेवाले उन मुसलमानों में भी कि जो दो राष्ट्र के हलाहल से मुक्त हैं, यह संस्कृति विद्यमान है। कबीरपंथी, नानकशाही और राधास्वामी भी हमारी ही संस्कृति में पले हैं। हमारी संस्कृति उस अत्यन्त अतीत काल में उत्पन्न हुई थी, जब अन्य धर्मों और संस्कृतियों का गर्भाधान तो क्या,

कल्पना ने उनका सुदूर स्वप्न भी नहीं देखा था। भारतीय संस्कृति को समझने के लिए अतएव किसी भी विदेशी संस्कृति का आश्रय लेना एक जापानी या जर्मन बबुए को लेकर राम और कृष्ण का अध्ययन करने जैसा ही होगा।

हिन्दू-संस्कृति की व्याख्या करने के लिए यद्यपि यह न तो उपयुक्त स्थान है और न अवसर, तो भी सांस्कृतिक परिवर्त्तनों को समझने के लिए चूँकि उनका थोड़ा-बहुत ज्ञान होना आवश्यक है, इसलिए अति संक्षेप में शास्त्रकारों के तत्सम्बन्धी विचारों का निचोड़ यहाँ दे देते हैं। "संयमी जीवन संस्कारों को सम्पन्न करता है। और, संस्कार का फल होता है शरीर और जीवात्मा का उत्तरोत्तर विकास। धर्म पहले सन्मार्ग का उपदेश है, उन्नति के लिए नियम है, संयम उस उपदेश या नियम का पालन है, संस्कार उस संयमों का सामूहिक फल है और किसी विशेष देश, काल और निमित्त में विशेष प्रकार की उन्नत अवस्था में प्रवेश करने का द्वार है, और सब संस्कारों का अन्तिम कार्य विकास है। 'संयम संस्कार विकास' या 'संयम संस्कार अभ्युदयनिःश्रेयस' यह धर्मानुकूल कर्त्तव्य का क्रियात्मक रूप है। ये सभी मिलकर 'संस्कृति का इतिहास' बनाते हैं। धर्म यदि आत्म और अनात्म की विधायक वृत्ति है, तो संस्कृति उसका क्रियात्मक रूप है, धर्मानुकूल आचरण का फल है, धर्म-जनित विकास है।

"धर्मेण गमनमूर्ध्वम्, गमनमधस्तात् भवत्यधर्मेण', धर्म आत्म और अनात्म का, जीवात्मा और शरीर का विधायक है, संस्कार हर जीवात्मा और हर शरीर का विकास करनेवाला है। धर्म व्यक्ति की तरह समाज का भी विधायक है, 'धर्मो धारयति प्रजाः' और संस्कार समाज का विकास करनेवाला है, उसे ऊँचा उठानेवाला है। दोष, पाप, दुष्कृत अधर्म हैं, इन्हें दूर करने का साधन संस्कार है। अज्ञान अधर्म है, इसे दूर करनेवाले शिक्षादि संस्कार हैं। भारत में धर्म और और संस्कृति का अटूट सम्बन्ध है।"[१]

संस्कृति को हमारे यहाँ, जैसा ऊपर दिखाया है, धर्म का क्रियात्मक रूप माना है। इसलिए, धर्म का जो रूप स्थिर होगा संस्कृति भी उसी के अनुरूप बन जायगी। धर्म और अधर्म का निर्णय करने के लिए यों तो कर्म-मीमांसा इत्यादि ने बहुत-से उपाय बताये हैं, किन्तु भगवान् मनु ने जो कसौटी रखी है, वह अधिक सरल और व्यापक है।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥—मनु० २। १२

वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मा को सन्तोष, धर्म-अधर्म की यह कसौटी तो बहुत अच्छी है, किन्तु हमारे यहाँ तो जैसा चार्वाक सरीखे नास्तिक आचार्यों की प्रवृत्ति से प्रकट है, श्रुति-स्मृति से भी लोगों का विरोध रहा है, इसलिए यहाँ जैनों की तरह या तो अपनी-अपनी श्रुति और स्मृति का प्रमाण ग्रहण होता रहा, तत्तत् सम्प्रदायों के ग्रन्थों का आदेश माना जाता रहा, अथवा केवल सदाचार और आत्मतुष्टि ही प्रमाण रहे। यही कारण है कि हमारे यहाँ विभिन्न सम्प्रदायों, मत-मतान्तरों और फिर एक दूसरे के खंडन-मंडन की धूम मच गई। महाभारत-काल में भी यहाँ अनेक मत और सम्प्रदाय प्रचलित थे। महाभारत-काल से अबतक का भारतीय इतिहास एक प्रकार से भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों के खंडन-मंडन और सुधारकों तथा उनके अपने पन्थ और सम्प्रदायों अथवा संघों का इतिहास है।

मुहावरे चूँकि जनता के हृदय का चित्र होते हैं, उनसे लोगों के मन में चलनेवाली उथल-पुथल और क्रान्ति का पूरा पता मिल जाता है, इसलिए यह कहना कि मुहावरों के द्वारा किसी राष्ट्र

१. हिन्दुत्व, पृ० ११।

अथवा समाज में समय-समय पर होनेवाले सांस्कृतिक परिवर्त्तनों का अध्ययन करने में सहायता मिलती है, ठीक ही है। हमारे यहाँ जितना लम्बा हमारी संस्कृति का इतिहास है उतनी ही बड़ी संख्या उससे सम्बन्धित अथवा उसका परिचय देनेवाले मुहावरों की है। अपनी संस्कृति का थोड़ा-बहुत जो कुछ इतिहास हमने पढ़ा है और अपनी भाषा के साहित्यिक और बोलचाल दोनों के जितने कुछ मुहावरे हमने देखे और एकत्र किये हैं, उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि यदि इतिहास न भी मिले, तो केवल मुहावरों के आधार पर फिर से पूरा इतिहास लिखा जा सकता है। मनुष्य के विचारों में जब कोई परिवर्त्तन होता है, तब कलतक जो चीज, धर्म का अंग और पूजनीय थी, वही आज व्यंग्य और उपहास की चीज़ बन जाती है। एक समय था, जब शक्ति की पूजा होती थी। लोग बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ बकरे का बलिदान करते थे। उस समय वह बकरा बकरा नहीं रह जाता था, देवता की तरह उसकी पूजा होती थी। उसके बाद लोगों की विचार-धारा में परिवर्त्तन हुआ। बलिदान को वे बुरा समझने लगे। बलिदान के बकरे में अब वे एक मासूम और बेगुनाह की हत्या को छोड़कर श्रुति, सदाचार या आत्मसन्तोष का कोई लक्षण नहीं देखते। यही कारण है कि जीवन के साधारणतम व्यापारों में भी जहाँ कहीं वे किसी निर्दोष और निस्सहाय व्यक्ति पर अत्याचार होते देखते हैं, उन्हें बलिदान के बकरे की याद आ जाती है। बलि चढ़ा देना, बलिदान का बकरा होना, मरी का बकरा होना इत्यादि मुहावरे इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वसिष्ठ-स्मृति में देवता और अतिथि की पूजा में पशुवध करने की प्रथा का वर्णन है। उस समय ऐसे अवसरों पर पशुवध करने को लोग अपना धर्म समझते थे। और भी, कितनी जगह पशुवध की प्रथा का जिक्र हमारे शास्त्रकारों ने किया है। यह अनुभव की बात है कि जब किसी धर्म में, उसके क्रियात्मक अथवा व्यावहारिक रूप में जड़ता[1] आ जाती है, तब उसका विरोध होने लगता है। यही विरोध धीरे-धीरे प्रत्यक्ष खंडन-मंडन का रूप ले लेता है। बहुत-से सुधारक पैदा हो जाते हैं और नये-नये सुधारक सम्प्रदाय और संघ कायम हो जाते हैं। इस प्रकार-एक ही मुहावरे से समाज की वर्त्तमान, भूत और दोनों के बीच की संघर्षावस्था सबका पता मिल जाता है। गान्धर्व वेद साम का उपवेद है। संगीत, वाद्य और नृत्य तीनों कलाओं की सांगोपांग व्याख्या, मीमांसा और उनका पूरा शास्त्र इसमें दिया है। एक समय था, जब हमारे देश के लोग इस विद्या में पारंगत थे। आज भी जब साधारण-सी बातों में हमलोगों को यह कहते सुनते हैं कि अमुक व्यक्ति से हमारी ताल नहीं मिलती, अमुक व्यक्ति हमेशा अपना ही राग अलापता है तथा इसी प्रकार बात-बात में राग गाना, राग छेड़ना, गीत गाना, बेसुरा होना, ताल-स्वर जानना, स्वर में स्वर मिलाना, ताल बेताल होना, पंचम स्वर में गाना इत्यादि ऐसे ही और भी कितने मुहावरों का प्रयोग करते सुनते हैं, तो हमें लगता है कि गांधर्व विद्या का अनुशीलन और व्यवहार प्रारम्भ

---

१. शास्त्रों की भाषा प्रायः आलंकारिक होती है। उसे समझने के लिए संयोग, साहचर्य और संनिधि इत्यादि के आधार पर विचार करना चाहिए। जिस पशुवध का हमारे शास्त्रों में जिक्र आया है, जैसा महाकाल-संहिता और महानिर्वाणतन्त्र से प्रकट है, उसका अर्थ काम और क्रोध रूपी विघ्नकारी पशुओं का वध है, भेड़, बकरे या भैंसे का बलिदान नहीं।

सात्त्विको जीवहत्या वै कदाचिदपि नाचरेत्।
इक्षुदण्डश्च कूष्माण्डं तथा वन्यफलादिकम्।
क्षीरपिण्डैः शालिचूर्णैः पशुं कृत्वाचरेद्बलिम्॥—महाकाल-साहित्य।
कामक्रोधौ द्वौ पशू इमावेव मनसा बलिमर्पयेत्।
कामक्रोधौ विघ्नकृतौ बलिं दत्वा जपं चरेत्॥—महानिर्वाणतन्त्र।

—'कल्याण', शक्ति-अंक, पृ० १६१-६२ :

अज्ञान के कारण पहिले तो काम-क्रोध की जगह भेड़-बकरी और भैंसे का बलिदान आरम्भ किया, फिर जीभ के स्वाद के कारण देवता और अतिथि की मर्यादा को तोड़कर बलि को जड़ व्यापार बना दिया।

से अबतक कभी सर्वथा नष्ट नहीं हुआ। उसका सिलसिला बराबर जारी रहा है। नाच-गाने और गाने-बजाने इत्यादि प्रयोगों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गाना, बजाना और नाचना तीनों का आनुषंगिक सम्बन्ध है। गाने का अनुसरण बाजा करता है और बाजे का नाच। पुराणों में बार-बार नारदजी का नाम संगीत-विद्या के आचार्य की तरह आया है। अन्य ऋषि भी प्राचीन काल में संगीत-विद्या के आचार्य समझे जाते थे। गान्धर्व स्तुति-रूप या गीत-रूप वाक्यों या रश्मियों का धारण करनेवाला माना गया है। गाने, बजाने और नाचनेवाले ये गांधर्व स्वयं देवजातियों के थे। दुर्भाग्य से बाद में यह शास्त्र ऐसे लोगों के हाथ में पड़ गया, जो वैदिक संस्कार और आचार की दृष्टि से उसके अधिकारी नहीं थे। भजन, स्तुति और प्रार्थना का स्थान धीरे-धीरे शृंगार के अश्लील गानों ने ले लिया। गाने, बजाने और नाचनेवालों के घर व्यभिचार और व्यसन के अड्डे बन गये, यही कारण है कि वही लोग जो एक समय स्वयं इस विद्या के पंडित और पुजारी थे, इससे दूर भागने लगे। गाना, बजाना और नाचना उनकी दृष्टि में इतना गिर गया कि विद्या को सीखना तो क्या, उसको सुनना और देखना भी वे कुलीन लोगों के लिए वर्जित समझने लगे। नाचते फिरना, नचनिया बनना, नाच नचाना, नाचने-गानेवाले, गाना-बजाना, गाने बजाने से ही फ़ुरसत न मिलना इत्यादि मुहावरों में उपेक्षा और व्यंग्य के सिवा और क्या है। गाने, बजाने और नाचने के काम से तो बेशक लोगों को घृणा हो गई, किन्तु उसे सुनने और देखने की उनकी रुचि अब भी बनी हुई थी। जिसके कारण जैसा लौंडे नचाना, रण्डी नचाना, नाच-गाने करना, सांग करना, महफ़िल जमाना, रण्डी-भण्डेले नचाना इत्यादि मुहावरों से प्रकट है, रण्डी, लौंडे और भण्डेले इस काम के लिए बुलाये जाने लगे। रंडी-भंडेलों के साथ ही इसलिए मांस, मदिरा इत्यादि भी चला। इससे भी जब समाज उकता गया, तब फिर कुछ सुधारवादी आये और उन्होंने रंडी-भंडेलों का खुले आम बहिष्कार करके संगीत-विद्या की ओर फिर ध्यान दिया। हमारे स्कूल और कालिजों में फिर से इस कला का अध्ययन और अध्यापन शुरू किया।

हमारी संस्कृति का इतिहास जैसा पीछे आया है, बहुत लम्बा और बहुमुखी है। फिर हमारा ध्येय भी इतिहास लिखना नहीं है। हमें तो थोड़े-बहुत उदाहरण लेकर केवल यह देखना है कि मुहावरों से कहाँतक हमारे सांस्कृतिक परिवर्त्तनों का पता चल सकता है। अबतक जितने उदाहरण दिये हैं या जो एक दो आगे देंगे, वे सब बहुत थोड़े तो हैं ही, अपने में भी पूर्ण नहीं हैं, केवल संकेतमात्र हैं। हरेक परिवर्त्तन से पहिले एक प्रकार की उथल-पुथल और क्रान्ति हुआ करती है। हमारे देश में अद्वैत और द्वैत के झगड़े, शैव और वैष्णवों का विरोध और फिर सबसे जोरदार आस्तिक और नास्तिक मतों का प्रचार बहुत पहिले से ही न मालूम कितने प्रकार के खंडन-मंडन और सुधार के पन्थ चले आ रहे हैं। हम ऐसा मानते हैं कि दुनिया में जितने भी सम्प्रदाय, धर्म अथवा मत-मतान्तर हैं, उन सबमें कोई भेद नहीं है। भेद तो वास्तव में उनके अनुयायियों के अज्ञान, प्रमाद और आलस्य के कारण होता है। लोग स्वार्थवश अपने-अपने मन का अर्थ करने लगते हैं। एक समय था, जबकि हमारे यहाँ तान्त्रिकों का जोर था। तंत्र, चूँकि गुह्य तत्त्व समझा जाता था। यथार्थ दीक्षित और अभिषिक्त के सिवा किसी के सामने इस शास्त्र को प्रकट करना निषिद्ध था। कुलार्णवतन्त्रों में तो यहाँ तक कह दिया है कि "धन देना, स्त्री देना, अपने प्राण तक देना, पर यह गुह्य शास्त्र अन्य किसी के सामने प्रकट न करना।" हम समझते हैं, गुह्य रखने के कारण ही तन्त्र के वास्तविक अर्थ को न समझकर लोगों ने पंचमकार आदि के आध्यात्मिक रहस्य को भुला दिया है और मुद्रा, मांस, मीन, मदिरा और मैथुन के जड़ भौतिक रूपों में फँस गये। यही कारण है कि 'ततर-मंतर करना' इत्यादि मुहावरों से जैसा प्रकट होता है, लोग तन्त्र की उपेक्षा करने लगे। तांत्रिकों को ढोंगी और पाखण्डी समझा जाने लगा। पद्मपुराण,

भागवत और 'गौड़ीय वैष्णव वर्ग के ग्रन्थों को पढ़ने से जैसा मालूम होता है, चैतन्य देव ने भी तान्त्रिकों को पाखण्डी कहा है'। तान्त्रिकों के पाँच आचार हैं। पंचमकार के बिना तान्त्रिक को किसी भी कार्य में अधिकार नहीं है। पंचमकार को तन्त्र का प्राण-स्वरूप मानते हैं। इनके बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। इसके सम्बन्ध में अब और अधिक चर्चा न करके हम कुछ मुहावरे यहाँ देते हैं, जिनके आधार पर लोग खुद समझ लेंगे कि जनता की तन्त्र और उसके आचारों तथा पंचमकारों के सम्बन्ध में क्या राय है। पंचमकारों को माननेवाला मकारी भी कहलाता था। पंचमकारों के प्रति लोगों की घृणा के कारण ही सम्भवतः 'मक्कारी करना', 'मक्कार होना' इत्यादि मुहावरे बन गये है। प्रपंच रचना, प्रपंची होना, डाकिनी होना, ढग्गापन करना, पाखण्डी होना, पाखण्ड करना या फैलाना, गुरु-मंत्र देना, गुरु करना, गुरु होना, गुरुघंटाल होना, मंत्र फूँकना (दक्षिणाचार-सम्बन्धित) भांग छानना, भांग-बूटी छानना, शिव का प्रसाद होना, भांग खाये होना, भांग पिये होना इत्यादि (शैवाचार); सुरापान करना, मद्यप होना, शराब का नशा होना, (सिद्धान्ताचार); मकर करना, मकर गाँठना, मक्कार कहीं का, काली की भेंट चढ़ाना, चमुंडा कहीं की, चंडका कहीं की, मुण्डो कहीं की, चक्कर देना, चक्कर खाना या काटना (कौलाचार)। तांत्रिक पंचमकारों के अतिरिक्त चक्र-पूजा भी श्रेष्ठ मानते थे।

ऊपर दिये हुए मुहावरों से तांत्रिकों के आचार-विचार, खान-पान और पूजा-पाठ की विधियों आदि का काफी परिचय मिल जाता है। शैव, वैष्णव और शाक्तों के साथ ही बौद्ध भी काफी बड़ी संख्या में तन्त्र-शास्त्र के अनुयायी थे। एक समय था कि सारे भारतवर्ष में इन तांत्रिकों का सिक्का जम गया था। वैष्णव, शैव और बौद्ध भी कार्यतः अधिकांश शाक्त ही हो गये थे। मांस, मछली और मदिरा के अतिरिक्त भांग आदि दूसरे नशे का भी खूब प्रचार हुआ था। काली, चामुण्डा, चंडका, मुण्डो आदि कितनी ही देवियों की पूजा होती थी। बंगाल तांत्रिकों का गढ़ समझा जाता था। यहाँ से गुजरात तक जाकर लोग मन्त्र दीक्षा देते थे। आज भी हमारे समाज में मंत्र-गुरु की जो प्रथा है, मालूम होता है, वह बंगाली गुरुओं से ही आई है। बंगाले का जादू होना, भेड़-बकरी बना लेना इत्यादि मुहावरों से प्रकट होता है कि इन तान्त्रिकों को लोग जादूगर-जैसा समझने लगे थे। आज भी हम बहुत-कुछ तान्त्रिकों के ढंग पर ही पूजा-पाठ करते हैं। वास्तव में तन्त्र कहते ही थे नाना प्रकार के देवताओं की उपासना के मार्ग का प्रतिपादन करनेवाले विशेष ग्रन्थों को। यह सारी गड़बड़ी तो, जैसा हम समझते हैं, मदिरा, मीन, मांस, मुद्रा और मैथुन के आध्यात्मिक रहस्य को न समझकर पंचमकार के फल का प्रचार करने से ही हुई है। महा-निर्वाणतन्त्र में आया है, "मद्यपान करने से अष्टैश्वर्य और परामोक्ष तथा मांस के भक्षणमात्र से साक्षात् नारायणत्व लाभ होता है। मत्स्य (मछली) भक्षण करते समय ही काली का दर्शन होता है मुद्रा के सेवनमात्र से विष्णु-रूप प्राप्त होता है। मैथुन द्वारा मेरे (शिव के) तुल्य होता है, इसमें संशय नही।"[1]

अब अन्त में हम पन्थ चलाना, पन्थी होना इत्यादि मुहावरों के आधार पर उस काल में आ जाते हैं, जब हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के जबरदस्त संघर्ष के कारण ऊँचे विचारों के क्षेत्र में वेदान्त के विविध सम्प्रदायों की जागृति और विकास हुआ था। फिर, बहिष्कार करना, बिरादरी से बाहर करना, जाति बाहर करना, हुक्का-पानी बन्द करना, शास्त्रार्थ करना, खंडन करना इत्यादि मुहावरों से जैसा प्रकट होता है, ये सुधारक लोग अपने से भिन्न मतों और सम्प्रदायों को एक सूत्र में बाँधकर एक झण्डे के नीचे लाने के बजाय मुसलमानों की देखादेखी व्यक्तिगत रूप से सार्वभौम बनने का दावा करने लगे, जिसके कारण परस्पर खूब शास्त्रार्थ और संघर्ष हुए। फल यह

---

१. हिन्दुत्व, पृ० ४१५।

हुआ कि हिन्दू जनता पर मुस्लिम मत की प्रबल धारा का घोर आतंक छा गया। हिन्दू धड़ल्ले से मुसलमान होने लगे। अब फिर कुछ सुधारक आये और उन्होंने 'जात पाँत पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई' इत्यादि का प्रचार करके वर्णाश्रम-धर्म, अवतारवाद, बहुदेवोपासना, मूर्त्ति-पूजा, साकारवाद आदि हिन्दुत्व की विशेषताओं को हटाकर उपासना-विधि मुसलमानों की तरह सरल कर दी। कबीर-पन्थ, दादू-पन्थ, नानक-पन्थ इत्यादि इसीलिए जोरों से फैले और इनके कारण हिन्दुओं की बहुत बड़ी संख्या मुसलमान बनने से बच गई। नाम सुमरना, नाम की माला फेरना, कंठी देना, कंठी बाँधना, कंठी उठाना या छूना, नागा बाबा होना, बैराग होना, (बैरागी लोगों से बना है), अघोरी होना इत्यादि मुहावरे इन्हीं सुधारकों के विभिन्न पन्थों और सम्प्रदायों के स्मृति-चिह्न हैं।

प्रस्तुत विषय अतिविशद और रोचक है। कितने ही स्वतन्त्र ग्रन्थ उस पर लिखे जा सकते हैं। इसके प्रतिकूल हमारा क्षेत्र अति संकुचित और सीमित है, इसलिए अब केवल एक बात और कह कर इस प्रसंग को पूरा करेंगे। हमारा विचार है कि सांस्कृतिक परिवर्त्तन शब्द भी हमने अँगरेजी के Cultural vicissitudes का अनुवाद करके अपनी संस्कृति के ऊपर लाद दिया है। परिवर्त्तनों का वास्तविक अर्थ तो किसी वस्तु का सत्त्वहीन होकर फिर किसी नई सूरत में पैदा होना है। हमारी संस्कृति में इस तरह का परिवर्त्तन कभी नहीं हुआ है। बहुत-सी उथल-पुथल हुई है, क्रान्तियाँ हुई है, खंडन-मंडन भी हुए हैं। किन्तु जहाँतक हम समझते हैं धर्म और संस्कृति के मौलिक सिद्धान्तों में कभी कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ है। सांस्कृतिक परिवर्त्तन से इसलिए हमारा अभिप्राय सांस्कृतिक उथल-पुथल ही है, यथार्थ परिवर्त्तन नहीं।

मुहावरे अतीत स्थिति के चित्र

(धर्म, सभ्यता और संस्कृति इत्यादि की दृष्टि से मुहावरे अतीत के कल्पना-चित्र होते हैं।)

भाषा और उसके विशिष्ट प्रयोगों के द्वारा किस प्रकार हम किसी जाति अथवा राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति इत्यादि के अतीत का पता चला सकते है, इस सम्बन्ध में विचार करते हुए एक बार किसी विद्वान् ने लिखा था, "राष्ट्रों और जातियों की परीक्षा अन्त में, मनुष्य-जीवन और उसके विचारों को उन्नत बनाने में उन्होंने कितना योगदान किया है, अर्थात् सभ्यता के साधारण निधि में उन्होंने कितनी वृद्धि की है, इसके आधार पर इतिहास के न्यायालय में होगी। हिन्दू-राष्ट्र और आर्य-जाति के सम्बन्ध में इतिहास का अन्तिम निर्णय क्या होगा, हम उसकी पूर्व कल्पना नहीं कर सकते, किन्तु भाषा और उसके विशिष्ट प्रयोगों की परीक्षा तथा सभ्यता-सम्बन्धी पदावली में अबतक हमने क्या बढ़ाया है, उसकी जाँच करने से हम कम-से-कम अपनी जाति की पूर्व सफलताओं के बारे में एक राय कायम करने के योग्य अवश्य बन जाते हैं।"[१]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी जाति अथवा राष्ट्र के अतीत का अन्तिम निर्णय उसके इतिहास के द्वारा ही हो सकता है। किसी राष्ट्र या जाति की सफलता आचार-विचार और कला-

१. "Races and nations are ultimately judged in the Court of History by their contribution to the life and thought of man by what they have added to the common fund of civilization. What the final verdict of history will be on the Hindu nation and on the Aryan race, it is not for us to anticipate, but our linguistic test, our examination of what we have so far added to the language of civilization, enables us at least to form an opinion about the past achievements of our race."

कौशल की उन्नति के द्वारा आध्यात्मिक और भौतिक दोनों दृष्टियों से मानव-जीवन को अधिकाधिक शान्त और सुखमय बनाने में है। व्यक्ति का विकास ही समाज के विकास की कुंजी है। जबतक व्यक्ति का सर्वांगीण विकास नहीं होता, कोईदेश, जाति अथवा समाज सभ्य और सुसंस्कृत नहीं बन सकता। फिर चूँकि भाषा, व्यक्ति और समाज दोनों के खून और पसीने की गाढ़ी कमाई होती है, दोनों के जीवन की डायरी होती है। इसलिए, विद्वान् लेखक ने जैसा ऊपर कहा है, किसी भाषा और उसके प्रयोगों की जाँच करने से भी किसी जाति की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति इत्यादि का बहुत-कुछ परिचय मिल जाता है, ठीक ही है। भाषा के स्थान में यदि 'भाषा के विशिष्ट प्रयोग और मुहावरे' होता, तो हम समझते हैं, इस उद्धरण का महत्त्व और भी बढ़ जाता; क्योंकि किसी भाषा के मुहावरे हो वास्तव में किसी जाति के इतिहास के पद-चिह्न होते हैं। मुहावरों के आधार पर ही किसी जाति अथवा राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति इत्यादि का अनुमान लगाया जा सकता है। हिन्दी-मुहावरों के सम्बन्ध में तो यह बात और भी अधिक इसलिए लागू होती है कि हमारा आदर्श, जैसा एक बार किसी पाश्चात्य विद्वान् ने कहा था, हमेशा आत्मा के सौन्दर्य को बढ़ाना रहा है। पश्चिमवालों की तरह शरीर के सौन्दर्य को नहीं। यही कारण है कि हजारों वर्ष की गुलामी के बाद भी हमारे यहाँ के नंगे फकीरों को ही आज महात्मा गांधी जैसे सच्चे ऋषि को पैदा करने का श्रेय मिला है। इसीलिए कदाचित् हमारे यहाँ शरीर के धर्म से कहीं अधिक महत्त्व जीव के धर्म को दिया गया है। गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक जितने कार्य होते हैं, सब संस्कार माने जाते हैं, धर्म-स्वरूप होते हैं। हमारा धर्म शब्द शुद्ध भारतीय है, भारत की ही विशेषता है। संसार की किसी भाषा में इसके समानार्थक कोई शब्द नहीं मिलता। वैशेषिक दर्शन ने इसकी बड़ी सुन्दर और वैज्ञानिक परिभाषा 'यतोभ्युदय निः श्रेयससिद्धिः स धर्म्मः' इस सूत्र में दी है। धर्म वह है, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि हो। वेद और ऋषि आदि के द्वारा जिस कर्म को करने की प्रेरणा हो, वही धर्म है। धर्म के प्रतिकूल काम करने से ह्रास और अनुकूल करने से उन्नति होती है। धर्म और कर्म का हमारे यहाँ इतना गहरा और महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है कि उस पर विचार करने के लिए 'कर्म-मीमांसा' दर्शन ही बन गई है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि हमारे यहाँ कोई व्यक्ति जो कुछ भी करता या सोचता है, वह संस्कार के रूप में, धर्म की भावना से ही करता या सोचता है। जिस तरह से मकड़ी अपने शरीर से निकले हुए तन्तुओं का एक नया संसार, नया वातावरण अपने लिए तैयार करके सदैव उसी में रहती है, बाहर की सब चीजें उसे विदेशी और विजातीय मालूम होती है, उसी प्रकार भारतीय लोग अपने धार्मिक विचारों के वातावरण में रहकर ही सब कुछ सोचते और करते हैं। उनके साहित्य में उनकी बातचीत में खास तौर से उनके मुहावरों में इसलिए उनके इस धार्मिक वातावरण की गहरी छाप रहती है।

अपने मन की बात दूसरों पर प्रकट करने के लिए हम प्रायः शारीरिक चेष्टाओं, संकेतों, अस्पष्ट ध्वनियों अथवा शब्दों से ही काम लेते हैं। यहाँ देखना यह है कि क्या केवल शारीरिक चेष्टा संकेत, अस्पष्ट ध्वनि या व्यक्त भाषा ही प्रेक्षण के लिए पर्याप्त होती है और या किसी अन्य प्रयत्न की भी उसके प्रेक्षण के लिए आवश्यकता होती है। यदि केवल शारीरिक चेष्टा और संकेत इत्यादि से काम चल सकता होता, तो सब की बात आसानी से सब समझ लिया करते और दुनिया बहुत-से द्वन्द्वों से बच जाती। लेकिन आज ठीक इसके विरुद्ध बात है, एक ही भाषा बोलनेवाले दो भाइयों को भी कभी-कभी एक दूसरे की बात समझने के लिए राजदंड का आश्रय लेना पड़ता है। क्यों? केवल इसीलिए कि उनकी शारीरिक चेष्टा और संकेत इत्यादि के द्वारा वायुमंडल में जो कम्पन होता है, देखने और सुननेवालों पर उसका प्रभाव पड़ते हुए भी उसके द्वारा

दोनों के हृदयों में तादात्म्यता उत्पन्न करनेवाली समान अनुभूति नहीं होती। एक जर्मन या फ्रेंच जब हमारे सामने बोलता है, तब उसके शब्दों की ध्वनि तो हमारे कान में पड़ती है। किन्तु, चूँकि वक्ता की जैसी कोई अनुभूति हमें नहीं होती, हम उसके मन की बात नहीं समझ पाते। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जितनी ही जल्दी, और पूर्णता के साथ हम अपने मन की बात किसी को बताना चाहते हैं, हमें चाहिए कि उसे प्रकट करने के लिए इस प्रकार के और ऐसे शब्द और मुहावरों का प्रयोग करें, जो अति अल्प प्रयत्न में उसकी तत्सम्बन्धी पूर्व समानानुभूति को तुरन्त सजग कर दें। हमारे यहाँ खाट पर मरना अच्छा नहीं समझा जाता, इसलिए जब सब डॉक्टर जवाब दे देते हैं, तब रोगी को खाट से नीचे जमीन पर उतार लेते हैं। रोगी के प्रसंग में जमीन पर उतारने का अर्थ ही इसलिए मृत्यु हो गया है। जहाँ जमीन पर उतारने की बात कान में पड़ी और पूर्वानुभव के आधार पर रोगी की गम्भीरतम स्थिति का पूरा चित्र आँखों के सामने आया। यही कारण है कि ऐसी स्थिति में किसी रोगी की इस अन्तिम अवस्था की गम्भीरता का शीघ्रातिशीघ्र किसी दूसरे को ज्ञान कराने के लिए हमारे यहाँ प्रायः 'जमीन पर उतार लेना' मुहावरे का प्रयोग होता है। प्रेक्षण (Communication) की व्याख्या करते हुए रिचर्ड्स लिखता है, "प्रेक्षण की क्रिया उस समय होती है, जब एक व्यक्ति अपनी शारीरिक चेष्टाओं और संकेतों इत्यादि के द्वारा अपने आसपास के वायुमण्डल में इस प्रकार का कम्पन उत्पन्न कर देता है कि दूसरा व्यक्ति उससे प्रभावित होता है और एक प्रकार का ऐसा अनुभव करता है, जो पहिले व्यक्ति के अनुभव के सदृश होता है और उसी के किसी अंश की प्रेरणा से उत्पन्न होता है।"[१]

प्रेक्षण के सम्बन्ध में ऊपर जितना कुछ कहा गया है, उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि अपनी बात दूसरों को समझाने के लिए वक्ता को चाहिए कि वह श्रोता की परिचित पदावली में बातचीत करे और सदैव ढूँढ़-ढूँढ़कर ऐसे मुहावरों के द्वारा अपने भावों को प्रकट करे, जो उसकी (श्रोता की) तत्सम्बन्धी पूर्वानुभूतियों को सजग करके उसके (वक्ता के) अभिप्रायः को आईने की तरह साफ कर दे। धर्म, सभ्यता और संस्कृति इत्यादि चूँकि हमारे जीवन की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो जीवन के अन्य क्षेत्रों में अलग-अलग होते हुए भी हमें एक सूत्र में बाँधे हुए हैं। विधि और निषेधवाले जो संस्कारों के नियम हमारे यहाँ हैं, हम समझते हैं, थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ सारे भारतवर्ष में ही उनका पालन किया जाता है। इन सबमें जन्म, विवाह और अन्त्येष्टि आदि कई तो ऐसे संस्कार हैं, जिनके नियम संसार-भर में किसी-न-किसी भिन्न, शास्त्रीय वा अशास्त्रीय, रूप में माने ही जाते हैं। इसलिए धर्म, सभ्यता और संस्कृति की पदावली से प्रायः सबका आरम्भ से ही परिचय होता और बढ़ता जाता है। इसलिए हमारे यहाँ के मुहावरों में हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के काफी चिह्न मिलते हैं। नीचे दिये हुए मुहावरों का विश्लेषण करने से हमें पूर्ण विश्वास है, यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी कि धर्म, सभ्यता और संस्कृति आदि की दृष्टि से मुहावरे अतीत के कल्पना-चित्र होते हैं।

'दाहिना हाथ होना' हिन्दी का एक मुहावरा है। वैदिक काल से ही हमारे यहाँ सारे संस्कार दाहिने हाथ से किये जाते हैं। वेदों में भी 'दक्षिणा बाहुः असि' का कितने ही स्थलों पर प्रयोग हुआ है। आजकल सबसे बड़े सहायक व्यक्ति के लिए इसका प्रयोग होता है। प्राचीन काल में यज्ञादि संस्कार ही मनुष्य जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य समझे जाते थे और उन सबका सम्पादन दाहिने हाथ से होता था, इसलिए मनुष्य-जीवन में दाहिने हाथ का ही सबसे अधिक महत्त्व था। उसी भावना से प्रेरित होकर इस मुहावरे की उत्पत्ति हुई है। हिन्दी या हिन्दुस्तानियों के मुहावरों के

१. "Principles of Literary Criticism" by I. A. Richards, ch. XII (a theory of Communication)

सम्बन्ध में एक बात और कह देना उपयुक्त जान पड़ता है। और, वह यह कि हमारे यहाँ के अधिकांश मुहावरों की पृष्ठभूमि धार्मिक है, वे किसी-न-किसी प्रकार के साहित्यिक धार्मिक अथ वा सांस्कृतिक तथ्यों के आधार पर ही बने हैं। गाली-गलौज, निन्दा, दोषारोपण अथवा दूसरों की भर्त्सना करनेवाले प्रयोगों की भी हमारी भाषा में कमी नहीं है, फर्क इतना ही है कि हम ारे यहाँ अँगरेजी इत्यादि की तरह केवल इन्हीं भावों को व्यक्त करने के लिए उनकी (मुहावरों की) सृष्टि नहीं हुई है। हमारे एक मित्र को हिन्दी से हमेशा यही शिकायत रहती थी कि उसमें गाली-गुफ्तार करने और डाटने-फटकारने के लिए शब्द ही नहीं हैं। वास्तव में बात भी ऐसी ही है। हमारे यहाँ इस प्रकार के व्यक्तिगत आचरणों के आधार पर बने हुए मुहावरे प्रायः नहीं के बराबर है। हमें जहाँ कहीं इस प्रकार किसी को बुरा-भला कहना होता है, किसी पर दोषारोपण करना या कलंक लगाना होता है अथवा किसी के दुर्गुण दिखाने होते हैं, तो हम या तो दूसरी भाषाओं के मुहावरों का प्रयोग करते हैं या व्यंग्य का सहारा लेकर प्रचलित मुहावरों से ही काम लेते हैं और या अपने शास्त्रों में से ऐसे देव, दानव, राक्षस, और भूत-पिशाच आदि के दृष्टन्त खोजकर अपने भावों को व्यक्त करते हैं जो अपनी दुष्टता, क्रूरता और दुराचार आदि के लिए लोकप्रसिद्ध होते हैं। हरामजादा कहीं का, हरामी भूत होना इत्यादि जितने भी अश्लील और अशिष्ट प्रयोग आजकल हमारे यहाँ चल रहे हैं, सब विदेशी भाषाओं से उधार लिये हुए हैं। चरित्रहीन व्यक्ति के लिए 'बहुत पहुँचे हुए होना' अथवा 'सात घाट का पानी पिये होना' इत्यादि मुहावरों का प्रयोग भी प्रायः होता है। बहुत पहुँचे हुए होना वास्तव में सिद्ध पुरुषों के लिए आता है, किन्तु व्यंग्य के द्वारा इसका अर्थ बिलकुल उलट जाता है। अब अन्त में हम इस वर्ग के उन मुहावरों को लेते हैं, जिनका आधार शास्त्रीय है, जैसे 'चाण्डाल कहीं का'। पाखंडी होना, राक्षस कहीं का, नौसिरा होना, बेसिरा होना, बेड़ होना (बिड्डू राक्षस के आधार पर बना है), शैतान होना, हड़म्पा कहीं की (हिडिम्बा राक्षसी से) इत्यादि-इत्यादि। कहने का अभिप्राय यह है कि उपालंभ और उलाहने इत्यादि तक के भावों को व्यक्त करनेवाले मुहावरे हमें हमारे अतीत की याद दिलाते हैं।

'श्रीगणेश करना' हिन्दी का एक मुहावरा है, जिसका प्रयोग किसी कार्य को आरम्भ करने के अर्थ में होता है। किसी भी कार्य को आरम्भ करने के पूर्व देवताओं की पूजा और प्रार्थना करना हमारे यहाँ की अति प्राचीन प्रथा है। गणेश, जैसा उनके नाम से ही मालूम होता है, समस्त विघ्नकारी शक्तियों के स्वामी समझे जाते थे। प्रत्येक कार्य को विना किसी विघ्न-बाधा के समाप्त करने की दृष्टि से इसलिए लोग पहिले से ही गणेशजी को प्रसन्न कर लेना अच्छा समझते थे। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ आदि काल से ही प्रार्थना-वन्दना तथा ईश्वर और उसकी भिन्न-भिन्न शक्तियों देवी-देवताओं के नाम का जप करने में लोगों का दृढ़ विश्वास रहा है। वे मानते थे कि इस प्रकार ईश्वर की स्तुति और वन्दना करने तथा उसका नाम जपने से आत्मिक उन्नति के अतिरिक्त मनुष्य के सब प्रकार के दुःख और कष्ट दूर हो जाते हैं। दुष्काल और महामारी के अवसरों पर इसीलिए आज भी बड़े-बड़े यज्ञ, पूजा-पाठ और प्रार्थनाएँ होती हैं। भारतवासियों के इस विश्वास ने मानव-समाज को इन नियमों में यहाँ तक जकड़ दिया है कि जब दो आदमी मिलते हैं, तब 'राम-राम', 'जै राम' इत्यादि से ही एक दूसरे का अभिवादन करते हैं। बात-बात में ईश्वर के पवित्र नाम और वन्दना को लाने का प्रयत्न करते हैं। दुःख में 'हाय राम', 'राम रे', सुख में 'राम की कृपा है', 'राम ने सुन ली', 'राम की देन है' इत्यादि प्रयोग इसीलिए विशेष रूप से चलते हैं। 'राम का नाम लो', 'राम की माया, 'राम की दुहाई', 'राम नाम सत्य होना', देवता कूँच करना, मनौती मनाना, देवी दुर्गे पूजना, नाम जपना (किसी का), नाम की माला फेरना इत्यादि मुहावरे हमारे उसी धार्मिक विश्वास के स्मृति-चिह्न हैं।

'गंगा नहा जाना' एक और मुहावरा है, जो किसी बड़े कार्य से निवृत्त होने अथवा कृतार्थ होने या छुट्टी पा जाने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस मुहावरे से हमारे पूर्वजों के ज्ञान-विज्ञान कीं एक झलक मिल जाती है। भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति ही कुछ ऐसी है कि यहाँ वर्षा खूब होने के कारण खूब घास-पात होता है, जिसके कारण खूब बीमारियाँ आदि भी फैलती हैं। हिन्दुओं ने इसी आधार पर साल के दो हिस्से कर दिये हैं। जिनमें पहिला हिस्सा असाढ़ से क्वार तक, अर्थात् चार महीने का और दूसरा कार्त्तिक से ज्येष्ठ तक, अर्थात् आठ महीने का होता है। असाढ़ से क्वार तक का समय बड़ा खराब और तरह-तरह की आपत्तियों से भरा हुआ होता है। नदी-नाले सब गन्दे रहते हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना बड़ा मुश्किल होता है। लोग बराबर अनेक प्रकार के जीव-जन्तुओं और महामारियों से बचने में ही लगे रहते हैं। क्वार के अन्त तक कहीं उनकी इन आपत्तियों का अन्त होता है और वे सुख की साँस लेते हैं। इन आपत्तियों से बचने की खुशी में वे सबसे पहले शरद् पूर्णिमा का पर्व मनाते हैं। शरद् पूर्णिमा को ही पहला गंगा-स्नान होता है। 'गंगा नहा जाने' का छुट्टी पा जाने या कृतार्थ होने के अर्थ में प्रयुक्त होना इसलिए हमारी सभ्याता की एक पुरानी यादगार ही है। गंगा-जली उठाना, गंगालाभ होना, गंगा उठाना, गंगा पार उतारना, ब्रह्मवाक्य होना, मोहनी फेर देना, मोहनी मंत्र फूँकना और पैर में चक्कर होना सामुद्रिक शास्त्र के आधार पर बना है, टोटका करना, गृह-नक्षत्र खराब होना, साँप को दूध पिलाना, तन्त्र-मन्त्र पढ़ना, गुरु-मन्त्र देना, गोरखधन्धा होना, आगम चलना, समाधि लेना, तीर्थ-व्रत करना, इत्यादि मुहावरे भी इसी प्रकार हमारी प्राचीन सभ्यता संस्कृति और धार्मिक विश्वासों इत्यादि के कल्पना-चित्र ही हैं। अपने धर्म, सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान इत्यादि का पहिले से ही अध्ययन कर लेने के उपरान्त यदि मुहावरों पर विचार किया जाय, तो हमें विश्वास है, हमारा प्रत्येक मुहावरा अतीत के इतिहास का एक रहस्यपूर्ण नुस्खा साबित होगा।

मुहावरे इतिहास के दीपक

(मुहावरों में ऐतिहासिक तथ्य सुरक्षित रहते हैं।)

सैकड़ों वर्ष से विद्वानों की शिकायत है कि पुराने समय में हिन्दुस्तानियों ने इतिहास बहुत कम लिखा। अपनी किताबों या इमारतों या मूर्त्तियों पर तारीख डालने की परवा नहीं की और अब हमारे लिए इतिहास लिखना असम्भव-सा कर दिया। राजनीतिक इतिहास के लिए तो आज बहुत-सी खोज के बाद भी यह शिकायत ठीक है। सभ्यता के इतिहास में भी तिथियों के न होने से विकास का क्रम अच्छी तरह स्थिर नहीं होता। हमारा विचार है, तिथियों को छोड़कर जो कठिनाई पड़ती है, वह सामग्री की कमी से नहीं, बल्कि उसकी बहुतायत के कारण पैदा होती है। संस्कृत और पाली के साहित्य इतने विशाल हैं कि बरसों की लगातार मेहनत के बाद कहीं थोड़ा-सा अधिकार उन पर होता है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ही बरसों के लिए काफी हैं। उनके बाद अठारहवीं ई० सदी तक बहुत-से सूत्र, वीरकाव्य, बौद्ध साहित्य तथा अन्य साहित्य मिलते हैं, जिनमें सभ्यता के इतिहास की सामग्री भी है, जो साहित्य की कमी को बिलकुल तो नहीं, पर बहुत-कुछ पूरा कर देती है। हमारे यहाँ ऐसे कितने ही मुहावरे हैं, जिनसे सैकड़ों राजाओं और महाराजाधिराजों की करनी-धरनी मालूम पड़ती है, राजशासन का चित्र खिंच जाता है और कभी समाज, आर्थिक स्थिति और साहित्य की बातों का भी पता चल जाता है। कुछ मुहावरे तो धार्मिक और सामाजिक समस्याओं को मानों चमत्कार से हल कर देते हैं।

किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा राष्ट्र के क्रमिक विकास और वृद्धि के आद्योपान्त विवरण का नाम ही इतिहास है। फिर चूँकि "मन और शरीर" जैसा मनोविज्ञान के पंडित एच्० जे० वाट० का कहना है, "दोनों एक साथ बँधे हुए हैं।.........बाह्य पदार्थों के निरीक्षण से विचारों का पोषण होता है और विचार, भावना तथा संकल्प, बाद में हाव-भाव या वाक्-शैली के रूप में शरीर पर प्रभाव डालते हैं।" ग्रिम ने भी एक स्थान पर कहा है, "......चूँकि शब्द, जो भाषा के मूल हैं, मनुष्य की आदि बौद्धिक स्वतन्त्रता से निकलते हैं, इसलिए उनपर मानव-स्वभाव के इतिहास की पर्याप्त छाप है।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुहावरों पर किसी राष्ट्र के विकास और वृद्धि का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। स्मिथ ने लिखा है, "हमारी जन्मभूमि में एक प्रकार की सुगन्ध है, जो पूर्वी देशों के समस्त सुगन्धित द्रव्यों से उत्तम है और यद्यपि हमारे मुहावरों में, जैसा हमने देखा है, युरोप के लोक-जीवन से आये हुए लाक्षणिक प्रयोगों और पदों की भरमार है, तो भी उनकी रोचकता, उनकी रसिकता, उनकी उक्तियों और रूपकों में राष्ट्रीय गुण अवश्य रहते हैं, उनकी प्रकृति, जिस मिट्टी से वे बने हैं, भूमितल के जिस विशिष्ट भाग देहातों खेतों और चरागाहों की जिस चिर परिचित भूमि से प्रत्येक राष्ट्र, भाषा और राष्ट्रीय व्यवसाय का जन्म होता है तथा जहाँ फिर से शक्ति प्राप्त करने के लिए समय-समय पर उन्हें जाना चाहिए, उनके सर्वथा अनुरूप होती है।"[१]

स्मिथ इत्यादि विद्वानों की दृष्टि से जब हम अपने यहाँ के मुहावरों पर विचार करते हैं, तब जैसा आगे आनेवाले उदाहरणों से मालूम होगा, हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे यहाँ के मुहावरों में अँगरेजी मुहावरों की अपेक्षा कहीं अधिक ऐतिहासिक तथ्य सुरक्षित है। हम तो यहाँ तक कहते हैं कि यदि इतिहास के कोई विद्वान् हमारे यहाँ के मुहावरों का अध्ययन करें, तो अन्त में उन्हें कहना पड़ेगा कि मुहावरों के आधार पर पूरा इतिहास लिखा जा सकता है। हमें तो दुःख होता है कि हमारा पुरातत्त्व-विभाग प्राचीन शिला-लेखों और ताम्र या ताल-पत्रों को पढ़ने और पढ़वाने में जितनी माथा-पच्ची करता है, जितना समय और रुपया बरबाद करता है, उसका एक अंश भी मुहावरों की खोज और उनके वैज्ञानिक विश्लेषण पर क्यों नहीं व्यय करता। जब प्राचीन शिलालेखों के आधार पर तत्कालीन सभ्यता और सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का इतिहास खड़ा किया जा सकता है, तब शब्दों और मुहावरों के द्वारा मानव-इतिहास का तो और भी सुगमता और सरलता से पता चलाया जा सकता है। फिर, शब्द और मुहावरे तो संगीत, काव्य, चित्रकारी अथवा अन्य ललित कलाओं की तरह किसी विशेष समाज, समूह, संघ या व्यक्ति की चीज़ भी नहीं है। वे तो मानव-मात्र की सम्मिलित सम्पत्ति है। सभी ने उनके उद्भव और विकास में योग दिया है। सभी की यादगार उनके अक्षर-सम्प्रदाय में अंकित है।

अधिकांश पाश्चात्य इतिहासकार मिस्र और बेबिलोनिया की सभ्यता को ही सबसे प्राचीन सभ्यता मानते हैं। मोहनजोदाड़ो की खुदाई के बाद भी इन लोगों की आँखें नहीं खुलीं। ये लोग उसे मिस्र और बेबिलोनिया से आई हुई सभ्यता की ही देन समझते रहे। मोहनजोदाड़ो की बात तो टल गई; क्योंकि उसका अर्थ करना इसके हाथ में था। किन्तु इन मुहावरों का मुँह ये लोग कैसे बन्द करेंगे, जो खुले आम चिल्लाकर इनके अज्ञान की पोल खोल रहे हैं। अभी कुछ दिन पहिले हम गोनाल्ड ए० मैकेंजी की 'इजिप्शियन मिथ एण्ड लीजेण्ड' पुस्तक पढ़ रहे थे। उसमें हमें कितने ही ऐसे किस्से-कहानी, देवी-देवताओं के नाम तथा तत्कालीन रीति-रिवाज के दृष्टान्त और मुहावरे मिले, जिनके आधार पर बड़ी दृढ़ता से यह कहा जा सकता है कि मिस्र की सभ्यता उस समय से अधिक पुरानी नहीं है, जब हमारे यहाँ तन्त्र-शास्त्र का खूब प्रचार था,

---

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० २७७-७८।

शक्ति की पूजा होती थी और मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि क्रियाओं में लोगों का खूब विश्वास था। यहाँ हमारे पास न तो समय है और न स्थान ही, इसलिए इस प्रसंग में दो-चार मुख्य-मुख्य बातों का जिक्र करके इतिहास के अपने मुख्य विषय पर आयेंगे। मिस्र के लोगों का विश्वास था कि बलि देने से प्राणों की रक्षा होती है, इसलिए वे गुलामों, बैलों और पशुओं की बलि दिया करते थे।[1] 'टैम्पिल कैटिल' का भी उनकी कहानियों में कई जगह जिक्र आया है। हमारा विचार है, 'बकरा बोलना', 'बकरा चढ़ाना,' 'विजार छोड़ना,' 'नरबलि देना', 'भैंसा चढ़ाना', 'खप्पर भरना' इत्यादि मुहावरे मिस्री सभ्यता के प्रभाव के ही चिह्न हैं। हमारे यहाँ, जैसा पहिले भी किसी प्रसंग में बतला चुके हैं, पशु-हिंसा को भारी पाप माना गया है। तन्त्र-ग्रन्थों में जहाँ कहीं पशुवध की बात आई भी है, वह सब लाक्षणिक है। देखिए—

पुण्यापुण्यपशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित्।
परे लयं नयेत् चित्तं मांसाशी स निगद्यते।
कामक्रोधौ पशू तुल्यौ बलिं दत्वा जपं चरेत्॥

अर्थात्, पुण्यपाप-रूपी पशु को ज्ञान-रूपी खड्ग से मारकर जो योगी मन को ब्रह्म में लीन करता है, वही मांसाहारी है। तथा काम, क्रोध, लोभ और मोह इत्यादि की पशु के समान बलि देकर जप करना चाहिए। इसी प्रकार नू (Nu) और आइसिस (Isis) की बातचीत से यह भी पता चलता है कि मिस्र के लोग जादू में बहुत ज्यादा विश्वास करते थे। आइसिस कहती है, मैं जादू कर दूँगी (I shall weave spells), मैं जादू से तेरे शत्रु को हरा दूँगी (I shall thwort thine enemy) इत्यादि-इत्यादि जादू करना, जादू के जोर से, गंडे ताबीज करना, गले में डोरा बाँधना, भूत भगाना इत्यादि मुहावरे भी मिस्री लोगों के विश्वासों की ही याद दिलाते हैं। हड़प्पा और मोहनजोदाड़ो की सभ्यता के बारे में लिखते हुए डॉ० बेनीप्रसाद ने लिखा है, "मिस्र और बेबिलोनिया की सभ्यता से तुलना करने पर मालूम होता है कि उस पुराने समय में भी हिन्दुस्तान में उनकी अपेक्षा जीवन के सुखों का अच्छा प्रबन्ध था।"[2] इससे भी यही सिद्ध होता है कि भारतीय सभ्यता मिस्र की सभ्यता से बहुत पुरानी है।

अन्य देशों की तरह हिन्दुस्तान के इतिहास के भी तीन भाग किये जा सकते हैं—१. प्राचीन, जो बहुत ही पुराने समय से बारहवीं ईसवी सदी तक रहा, २. बारहवीं सदी से अठारहवीं सदी तक का माध्यमिक भाग, ३. अठारहवीं सदी से अबतक का अर्वाचीन भाग। प्रथम भाग में सभ्यता की परम्परा कभी नहीं टूटी और धर्म, समाज, राजनीति, साहित्य और कला इत्यादि की धाराएँ सारे देश में एक खास ढंग से बराबर चलती रहीं। बारहवीं सदी में उत्तर-पश्चिम से नई जातियों, नये धर्मों और नई सभ्यताओं के आने से देश की राजनीतिक अवस्था बिलकुल बदल गई। समाज, भाषा और साहित्य पर भी उनका खूब प्रभाव पड़ा। अठारहवीं सदी से हमारे इतिहास का अर्वाचीन भाग आरम्भ होता है, जिसमें युरोपियन प्रभावों से देश की राजनीतिक और आर्थिक अवस्था फिर से बदल गई। यदि देखा जाय, तो १५ अगस्त, सन् १९४७ ई० के बाद से हमारे इतिहास का एक चौथा भाग भी शुरू हो गया है।

भारतीय इतिहास पर एक दृष्टि डालने के उपरान्त जब हम अपनी भाषा के मुहावरों पर आते हैं, तब हम देखते हैं कि हजारों की संख्या में आज भी ऐसे मुहावरे हमारे यहाँ चल रहे हैं, जिनका सम्बन्ध हमारे प्राचीन इतिहास से है। हमारी कितनी ही वर्तमान ऐसी गुत्थियाँ हैं, जो प्राचीन इतिहास की सहायता के विना सुलझ ही नहीं सकतीं। इसका कारण यही है कि बहुत-से पुराने

१. इजिप्शियन मिथ एण्ड लीजेण्ड, पृ० ३६।
२. हि० क्री० पु० सभ्यता, पृ० २०।

विचार, रीति-रिवाज़ और विश्वास अबतक हमारे यहाँ कायम है। पुराने वेदान्त की प्रभुता अब तक बनी हुई है, पुराना संस्कृत-साहित्य आज भी भाषा-साहित्यों पर पूरा प्रभाव डाल रहा है। पुराने धर्मों के सिद्धान्त अबतक माने जाते हैं। पुरानी भाषा, कथा धर्म, काव्य, गणित, ज्यौतिष और सामाजिक तथा राजनीतिक संगठनों का प्रभाव अब भी है। पुराने जमाने में बहुत-सी ऐसी रचनाएँ हुई हैं, जो आजकल की सामाजिक विद्याओं, दर्शनों और भाषा इत्यादि के विज्ञानों के बड़े काम की हैं। इसलिए हमारे मुहावरों की एक बड़ी संख्या का प्राचीन इतिहास से सम्बन्धित होना स्वाभाविक ही है। रही माध्यमिक और अर्वाचीन अथवा आधुनिक भागों की बात, वह तो हमारी भाषा की उत्पत्ति और विकास का काल है, उनके आधार पर तो हमारे मुहावरे बने ही हैं, इसलिए उनके प्रायः प्रत्येक अंग का आजकल के मुहावरों में प्रतिबिम्बित होना अनिवार्य ही था। अब हम मुहावरों के कुछ ऐसे उदाहरण लेकर, जिनसे भारतीय इतिहास के इन सब भागों पर थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ता है, प्रस्तुत प्रसंग को समाप्त करेंगे।

'सुजिह्वा', 'मन्दजिह्वा', 'मधुजिह्वम्', 'बृहतः गिरः' इत्यादि के साथ ही 'श्लोकं कृण्वन्ति' इत्यादि ऋग्वेद के मुहावरों से सिद्ध होता है कि उस समय तक लेखन-कला का प्रचार नहीं था; क्योंकि यदि वास्तव में उस समय लेखन-कला का प्रचार होता, तो 'सुलेख' या 'लिपिबद्ध' या 'श्लोकं लिखन्ति' इत्यादि वाक्यांशों का भी कहीं-न-कहीं जरूर जिक्र होता। 'यम के दूत' मुहावरे का प्रयोग आज भी मृत्यु के अर्थ में होता है। यम का अर्थ अब जरूर बदल गया है। अथर्ववेद में १८वें कांड के दूसरे सूत्र के २७वें श्लोक में 'मृत्युः यमस्य दूत आसीत' ऐसा आया है। इससे वैदिक काल से अबतक के भारतीय इतिहास की एकसूत्रता का पता चल जाता है। इस प्रकार वेद, उपवेद, वेदांग, सूत्र, रामायण, महाभारत, पुराण, धर्मशास्त्र, तंत्र और दर्शन-शास्त्रों के आधार पर बने हुए मुहावरों के द्वारा सातवीं शताब्दी ई० पू० से पहिले के इतिहास का थोड़ा-बहुत पता चलाकर भारतीय इतिहास को शृंखलाबद्ध किया जा सकता है। ७वीं शताब्दी ई० पू० से, अर्थात् अशोक के बाद से अबतक का इतिहास तो हमारी आँखों के सामने है ही। उसके लिए विशेष माथापच्ची करने की जरूरत नहीं है।

ऐसे मुहावरों की भी कमी नहीं है, जिनके आधार पर ऋग्वेद के समय से अबतक का भारतीय सभ्यता का थोड़ा इतिहास लिखा जा सकता है। जो कुछ कठिनाई पड़ेगी, वह इस काल के साधारण राजनीतिक इतिहास का पता लगाने में ही। विशे विशे (प्रत्येक प्रजा या संघ), हवे हवे या बाजे बाजे, रणे-रणे (प्रत्येक संग्राम में), कशीका इव (चाबुक के समान) तथा देवः देवः (प्रत्येक कर देनेवाला पुरुष) इत्यादि वेदों में आये हुए मुहावरों से उस समय की राजनीतिक स्थिति की थोड़ी-बहुत झलक मिल जाती है। राजाओं और उनके युद्धों का और भी कितनी जगह वर्णन आया है। इससे पता चलता है कि वैदिक काल में राजा लोग प्रायः आपस में युद्ध किया करते थे, प्रजा से कर लिया करते थे। 'हिरण्यशृङ्गः इन्द्रः' से यह भी पता चलता है कि वे लोग सोने का मुकुट (छत्र) भी सिर पर धारण करते थे। इसी प्रकार, रामायण और महाभारत में भी राजाओं और राज-व्यवस्था का काफी उल्लेख हुआ है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी कुछ राजाओं के नाम आये हैं। इनसे सिद्ध होता है कि इन नाम के राजाओं ने राज्य किया। मुहावरों के आधार पर जो इतिहास लिखा जायगा, उसकी सबसे बड़ी कमी तिथियों का अभाव होगी। अब हम नीचे कुछ मुहावरे देते हैं, जिनसे हमारे इतिहास के इस प्राचीन भाग का सम्बन्ध है, हरिश्चन्द्र का अवतार होना, वज्र गिराना, राम-राज्य होना, अग्नि-परीक्षा होना, सोने की लंका न रह जाना, विभीषण होना, संजीवनी बूटी होना, कर्ण-सा दानी, विदुर का साग, सुदामा के तन्दुल, द्रौपदी-चीर होना, भीष्म-प्रतिज्ञा होना, तकदीर सिकन्दर होना,

चाणक्य होना, अंग-भंग करना, पंच बनना, गुलामी करना, सती होना, दिग्विजय करके आना या गढ़ जीतके आना, जयचन्द होना, जौहर दिखाना इत्यादि मुहावरों में वैदिक काल से बारहवीं शताब्दी के अन्त में मुसलमानों की विजय तक के इतिहास की बहुत-कुछ सामग्री हमें मिल जाती है।

माध्यमिक युग और अर्वाचीन अथवा आधुनिक युग का इतिहास, चूँकि हमें अच्छी तरह से मालूम है, इसलिए हमारे भाव और भाषा अथवा मुहावरों में उसकी छाया रहना स्वाभाविक ही है। इसके सम्बन्ध में इसलिए और कुछ न कहकर अब हम कुछ उदाहरण देकर इस प्रसंग को पूरा करते हैं। नादिरशाही होना, बीरबल की खिचड़ी होना, दीवार में चिनवाना, शीशे में मुँह देखना, राजपूती शान होना, सिर न झुकाना, डोला देना, पानीपत मचाना, चौथ वसूल करना, जजिया लेना, सलीमशाही होना, साल नौ मनाना (कहा जाता है कि अकबर के समय में इसका नाम साल नौ रखा गया था। फसली सन् इसीसे शुरू होता है) इत्यादि मुहावरे माध्यमिक इतिहास की याद दिलाते हैं और सन् सत्तावन मचाना, काल कोठरी होना, झाँसी की रानी होना, जलियानवाला बाग कर देना, डायर होना, गोलमेज करना, काला कानून, बन्दर-बाँट करना, ईस्ट इंडिया कम्पनी होना, हैलेटशाही करना, सत्याग्रह करना, गोली बरसाना, घोड़े दौड़ाना, बॉकाट करना, धरना देना, भूख-हड़ताल करना, मिस मेयो होना इत्यादि मुहावरे प्राचीन शिला-लेख और ताम्र-पत्रों की तरह युग-युगान्तर तक भारत में अँगरेजी राज के कलंक के साक्षी रहेंगे।

हमारे इतिहास का चौथा भाग अभी आरम्भ ही हुआ है। १५ अगस्त को बीते अभी कुछ वर्ष ही हुए हैं, किन्तु इसी थोड़े-से समय में कितनी ऐसी घटनाएँ हो गई, जिन्हें शायद हमारे आनेवाले इतिहासकार भुलाने पर भी नहीं भूल सकते। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की हत्या करनेवाले नाथूराम के प्रति अभी से लोगों की घृणा इतनी बढ़ रही है कि बूढ़े-बूढ़े लोग अपने नाम बदल रहे हैं। बच्चे को नाथूराम नाम न देने के प्रस्ताव पास हो रहे हैं। इस नाम के प्रति लोगों की घृणा इसी प्रकार बढ़ती रही, तो कौन जानता है एक दिन 'नाथूराम होना' पद हत्यारे के अर्थ में ही रूढ़ नहीं हो जायगा। अहिंसा, ब्रह्मचर्य, संयम त्याग, ज्ञान की खोज, तर्क और सहनशीलता के जो अद्भुत आदर्श गांधीजी हमारे सामने छोड़ गये हैं, यदि 'करो या मरो' का दृढ़ व्रत लेकर हम उनके रचनात्मक कार्यों में लिपटे रहे, तो हमें विश्वास है कि एक दिन ये सब न केवल हमारे, बल्कि समस्त संसार के मुहावरे के मुख्य अंग होंगे। हमारे ये सिद्धान्त भविष्य में सारे जगत् पर फिर प्रभाव डालेंगे और मानव-जाति को नया मार्ग दिखायेंगे।

आठवाँ विचार

भाषा, मुहावरे और लोकोक्तियाँ

भाषा की उत्पत्ति

मुहावरों की उपयोगिता और उपादेयता पर हमने अभी विस्तारपूर्वक विचार किया है। वे क्या हैं, क्यों और कैसे उनकी उत्पत्ति और विकास होता है, उनकी मुख्य-मुख्य विशेषताएँ क्या हैं इत्यादि उनके विभिन्न पक्षों पर भी पहिले ही काफी विवेचनात्मक ढंग से लिखा जा चुका है। मुहावरों के इस शास्त्रीय विवेचन को पूर्ण करने के पहिले भाषा में उनका क्या स्थान है और लोकोक्तियाँ, जो इन्हीं के समान किसी भाषा का भूषण समझी जाती हैं, उनसे इनका क्या सम्बन्ध है इत्यादि कतिपय बातों पर और विचार कर लेना आवश्यक है।

यों तो पिछले कितने ही प्रसंगों में भाषा की अनेक व्याख्याएँ भी हो चुकी हैं और अनेक प्रकार से उसमें (भाषा में) मुहावरों का क्या महत्त्व है, इस पर भी यत्र-तत्र कितने ही स्थलों पर विचार किया जा चुका है, किन्तु फिर भी विषय के महत्त्व की दृष्टि से, हमें विश्वास है इस पर एक बार और स्वतन्त्र रूप से विचार कर लेना किसी प्रकार अनुपयुक्त और अनुपयोगी न होगा। किसी भाषा में मुहावरों का क्या स्थान है, लोग क्यों मुहावरों के पीछे इतने दीवाने रहते हैं और भाषा पर क्यों और कैसे उनका इतना प्रभाव पड़ता है इत्यादि बातों को जानने और समझने के लिए चूँकि भाषा के विकास और बोली, विभाषा और राष्ट्रभाषा के पारस्परिक सम्बन्ध का थोड़ा-बहुत ज्ञान होना बहुत जरूरी है, इसलिए अब हम अति संक्षेप में हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा की वर्त्तमान स्थिति पर एक उड़ती हुई नजर डालकर उसकी उत्पत्ति, व्याख्या और परिभाषा पर प्रकाश डालते हुए सबसे पहिले बोली, विभाषा और राष्ट्र-भाषा के पारस्परिक सम्बन्ध की ही मीमांसा करेंगे।

सत्य कड़वा अवश्य होता है, किन्तु असत्य के सरसाम को दूर करने के लिए चूँकि वही एक मात्र रामबाण औषधि है, इसलिए हमें कहना पड़ता है कि जिस हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का पद दिलाने के लिए हमारे हिन्दीप्रेमी लेखक और पत्रकार एक ओर खूब जोरों से चिल्ला रहे हैं, दूसरी ओर वे ही अपने निरंकुश प्रयोगों और मनमानी वाक्य-रचनाओं के कारण उसकी जड़ खोखली करते जा रहे हैं। यही कारण है कि आज हिन्दी-भाषा और साहित्य के प्रचार और प्रसार के लिए यद्यपि हमारे देश में नागरी-प्रचारणी सभा और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन जैसी और भी कितनी ही अखिलभारतीय, प्रान्तीय और स्थानीय संस्थाएँ जी तोड़कर परिश्रम कर रही हैं, किन्तु फिर भी भाषा की अशुद्धता और अप्रामाणिकता में तिल बराबर फर्क नहीं पड़ा है। श्रीयुत रामचन्द्र वर्मा हिन्दी-भाषा के मर्मज्ञ और एक बड़े अनुभवशील व्यक्ति हैं। आज क्या तो कुशल साहित्यकार और क्या जनसाधारण, सब लोग जिस प्रकार भाषा के क्षेत्र में अपनी-अपनी मनमानी कर रहे हैं, उसे अपनी आँख और कान की कसौटी पर कसकर आपने लिखा है, "समाचार-पत्र, मासिक पत्र, पुस्तकें सभी कुछ देख जाइए। सबमें भाषा की समान रूप से दुर्दशा दिखाई देगी। छोटे और बड़े सभी तरह के लेखक भूलें करते हैं, और प्रायः बहुत बड़ी-बड़ी भूलें करते हैं। हिन्दी में बहुत बड़े और प्रतिष्ठित माने जानेवाले ऐसे अनेक लेखक और पत्र हैं, जिनकी एक ही पुस्तक अथवा एक ही अंक में से भाषा-सम्बन्धी सैकड़ों बार की भूलों के उदाहरण एकत्र किये जा सकते हैं। पर आश्चर्य है कि बहुत ही कम लोगों का ध्यान उन भूलों की ओर जाता है।

भाषा में भूलें करना बिलकुल आम बात हो गई है। विद्यार्थियों के लिए लिखी जानेवाली पाठ्य-पुस्तकों तक की भाषा बहुत लचर होती है। यहाँ तक कि व्याकरण भी, जो शुद्ध भाषा सिखलाने के लिए लिखे जाते हैं, भाषा-सम्बन्धी दोषों से रहित नहीं होते। जिन क्षेत्रों में हमें सबसे अधिक शुद्ध और परिमार्जित भाषा मिलनी चाहिए, जब उन्हीं क्षेत्रों में हमें भद्दी और गलत भाषा मिलती है, तब बहुत अधिक दुःख और निराशा होती है।"[1]

श्रीवर्माजी की यह मनोव्यथा बिलकुल स्वाभाविक है। किसी भी हिन्दी के सच्चे प्रेमी को उसकी इस दुर्दशा पर दुःख होगा। संस्कृत की एक उक्ति है, 'अस्माकूनां नैयायिकेषां अर्थनि तात्पर्यम् शब्दनि कोश्चिन्ता'। हम देखते हैं कि भाषा के क्षेत्र में प्रायः सर्वत्र यही उक्ति चरितार्थ हो रही है। जिसके जी में जो आता है, वह वही लिख भागता है और वही हिन्दी हो जाती है। वर्माजी ने अपनी पुस्तक 'अच्छी हिन्दी' में भाषा की वर्त्तमान अराजकता और अव्यवस्था का जो नग्न चित्र खींचा है, उसका अध्ययन करने से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि भाषा-सम्बन्धी इस भ्रष्टाचार का मुख्य कारण हमारी रचनाओं में मुहावरेदारी का सर्वथा अभाव है। जिस दिन भी कोई भाषाप्रेमी मुहावरेदारी का अंकुश लेकर इन लेखकों और पत्रकारों के पीछे पड़ जायगा, हमें विश्वास है, भाषा का भाग्योदय हो जायगा, उसके अच्छे दिन आ जायेंगे, वह राष्ट्रभाषा बनने के योग्य हो जायगी। किन्तु चूँकि अंकुश उठाने से पूर्व जिस प्रकार एक हाथीवान को उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति का पूरा-पूरा ज्ञान होना आवश्यक है, उसी प्रकार एक भाषा-सुधारक को भी अगला कोई कदम उठाने से पूर्व भाषा की उत्पत्ति, वृद्धि और विकास का यथोचित ज्ञान प्राप्त कर लेना जरूरी है; इसलिए अब हम अति संक्षेप में भाषा की उत्पत्ति और विकास आदि का विवेचन करेंगे।

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अलग-अलग विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। स्केलेगल (Schlegel) इत्यादि विद्वानों का मत है कि भाषा ईश्वरप्रदत्त है। वह लिखता है, "......तर्क की ईश्वर-प्रदत्त दासी; भाषाएँ बनी-बनाई हुई ईश्वर के द्वारा उत्पन्न की जाती हैं"।[2] तर्कसंग्रह में दिया हुआ अन्नम्भट्ट का "अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छा संकेतः शक्तिः", अर्थात् अमुक-अमुक शब्दों के अमुक-अमुक अर्थ ही लिये जायँ, ईश्वर की इस इच्छा का नाम ही शक्ति है, यह मत भी इसी सिद्धान्त से मिलता-जुलता हुआ है। वदिक वाङ्मय में सम्भवत. इसीलिए भाषा को देववाणी अथवा आदिम भाषा माना गया है। "आदिम भाषा" नाम पड़ने का इससे मिलता जुलता ही एक कारण, "यह विश्वास भी हो सकता है कि ईश्वर समस्त प्राणियों को यह देखने के लिए आदम के पास लाया कि वह उन्हें किस नाम से पुकारता है और आदम ने जिस प्राणी को जिस नाम से पुकारा, वही उस प्राणी का नाम हो गया।"[3] इसके प्रतिकूल कुछ लोगों का विचार है कि हाथ, पाँव इत्यादि अंगों के साधारण संकेतों से काम न चलता देखकर, ध्वनि-संकेतों का निर्माण किया गया, सांकेतिक उत्पत्ति के इस सिद्धान्त का सार यही है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध लोकेच्छा का शासन मानता है। अनातोले फ्रान्स भाषा को एक प्रकार का जीव-स्वभावमात्र मानता है। ("..........merely a form of animal behaviour.) उसका कहना है कि "जंगल के पशुओं और पहाड़ों की आवाजों को विकृत और पेचदार करके आदिम पुरुषों ने उन्हीं के आधार पर भाषा बनाई हैं।"[4] इनके अतिरिक्त अनुकरण-मूलकतावाद

१. अ० हि०, भूमिका पृ०, ४-५।

२. (God given handmaid of Reason, languages are created ready made by God)

३. Origin of Language, P. 29-30.

४. L. R. P. 57.

(Bow-Vow-Theory) मनोभावाभिव्यंजना-वाद, 'यो-हे-हो'-वाद, डिंग-डैंग-वाद और प्रतीक-वाद (प्रतीकात्मक भाषा) इत्यादि और भी बहुत-से वाद भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रसिद्ध हैं। इन वादों पर पहिले ही काफी वाद-विवाद हो चुका है। दूसरे मुहावरों की दृष्टि से यहाँ इसका कोई विशेष महत्त्व भी नहीं है, अतएव अब हम इस चर्चा को यहीं छोड़कर 'भाषा क्या है', 'उसका विकास कैसे होता है' और 'समाज के लिए उसकी क्या उपयोगिता है' इत्यादि मुहावरों से सीधे सम्बन्ध रखनेवाले उनके अन्य पक्षों पर ही विचार करेंगे।

भाषा की परिभाषा भी अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग प्रकार से की है। एक विद्वान् कहते हैं, "भाषा उन स्पष्ट ध्वनियों का संग्रह है, जिन्हें मनुष्य अपनी अद्भुत वाक्-शक्ति की सहायता से, अपनी बुद्धि और विचार-शक्ति से ज्ञात होनेवाले समस्त बाह्य और आन्तरिक पदार्थों को संकेत रूप में व्यक्त और ग्रहण करता है।[1] एडवर्ड सेपर (Saper) का मत है कि, "कल्पना, मनोभाव और इच्छा को अपने-आप बनाये हुए संकेतों के द्वारा व्यक्त करने के उस ढंग को भाषा कहते हैं, जिसका मनुष्य की प्रकृति अथवा स्वभाव से कोई सम्बन्ध नहीं होता।"[2] हम बोल्ट की इसी से मिलती-जुलती बात कहते हैं। उनका कहना है, "स्पष्ट ध्वनियों के द्वारा अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए बुद्धि के निरन्तर परिश्रम का नाम ही भाषा है।"[3] इसी प्रकार और भी अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से भाषा की और बहुत-सी परिभाषाएँ की हैं।

भाषा की जितनी व्याख्याएँ अबतक विभिन्न विद्वानों ने की हैं, उनसे कोई सहमत हो या न हो, किन्तु यह बात तो सबको माननी ही पड़ेगी कि वह दो व्यक्तियों का पारस्परिक सार्थक संवाद अवश्य होती है। वास्तव में अपने मन के भावों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए दूसरों पर उन्हें प्रकट करने के साधन का नाम ही भाषा है। वे सब सार्थक शब्द और मुहावरे भी जो हमारे मुँह से निकलते हैं तथा वे सब क्रम भी, जिनमें उन शब्द और मुहावरों को हम बोलते हैं, भाषा के अन्तर्गत आ जाते हैं। हमारे मन में समय-समय पर विचार, भाव और इच्छाएँ इत्यादि उत्पन्न होती हैं, तरह-तरह के अनुभव हम करते हैं। उन्हीं सब को अपनी भाषा के द्वारा चाहे बोलकर और चाहे लिखकर और चाहे किसी शारीरिक चेष्टा अथवा संकेत के द्वारा हम दूसरों पर प्रकट करते हैं। कभी-कभी हम अपने मुख की कुछ विशेष प्रकार की आकृति बनाकर या संकेत आदि से भी अपने विचार और भाव किसी सीमा तक प्रकट करते हैं, पर भाव प्रकट करने के ये सब प्रकार विशुद्ध कला के क्षेत्र के बाहर उतने स्पष्ट नहीं होते। कारण यह है कि इन सब प्रकारों में समय तो बहुत अधिक लगता ही है, विचारों को एक क्रम से सम्बद्ध रूप में प्रकट करने में भी इनसे उतनी सहायता नहीं मिलती, जितनी भाषा से। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मानव-जीवन में इनकी कोई उपयोगिता ही नहीं, 'सिर हिलाना,' 'नाक-भौं चढ़ाना,' 'उँ आँ करना' तथा 'हैं हैं करना' इत्यादि इन्हीं के आधार पर बने हुए हमारी भाषा के अति ओजपूर्ण मुहावरे इस बात के साक्षी हैं कि कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ भी आ जाती हैं, जब मन के किसी विशेष भाव को किसी विशेष अवसर पर मूक रहकर इस प्रकार की कुछ विशिष्ट मुद्राओं और संकेतों के द्वारा व्यक्त करना ही अधिक उपयोगी और उपयुक्त होता है। हाँ, साधारणतया मन के भाव प्रकट करने का सबसे अच्छा और सुगम साधन व्यक्त भाषा ही है। डब्ल्यू० एम्० अरबन ने अपनी पुस्तक 'लैंग्वेज एण्ड रियलिटी' के पृष्ठ २२६ पर जो कुछ कहा है, उससे हमारी बात का

---

१. ओरिजिन ऑफ् लैंग्वेज, पृ० २।

२. एल्० आर०, पृ० ७१।

३. वही, पृ० ७१।

बहुत-कुछ समर्थन हो जाता है। वह लिखता है, "भाव-प्रकाशन, भाषा के अतिरिक्त अन्य साधनों और माध्यमों से भी होता है, किन्तु मैं मानता हूँ कि बोध-गम्य संवाद केवल भाषा के द्वारा ही सम्भव है।"

भाषा का विकास

कुछ लोगों का विचार है कि "बोलचाल और तर्क का मनुष्य ने बड़े स्वाभाविक ढंग से अपने आदिम पूर्वजों के आधार पर विकास किया है।"[1] प्रो० डी० लागुना (De Laguna) इत्यादि प्रायः कहा करते हैं कि इस ऐतिहासिक तथ्य पर, वे लोग भी, जिनकी हार्दिक सहानुभूतियाँ इस बात को स्वीकार करने के विरुद्ध हैं, गम्भीरता से वाद-विवाद नहीं करते। वास्तव में यहाँ प्रश्न 'ऐतिहासिक तथ्य' अथवा 'स्वाभाविक विकास' का नहीं है। हम नहीं कह सकते, प्रो० लागुना की इस बात में कहाँतक सचाई है कि इन दोनों बातों का भी किसी ने गम्भीरतापूर्वक विरोध नहीं किया। ये दोनों ही बातें इतनी अस्पष्ट हैं कि कोई यह नहीं कह सकता कि इन पर वाद-विवाद हुआ या नहीं। किन्तु हाँ, इतना विश्वास हमें अवश्य है कि भाषा की उत्पत्ति किसी प्रकार भी क्यों न मानी जाय, उसके विकास के सम्बन्ध में प्रो० लागुना के मत से किसी का विरोध नहीं हो सकता। शब्दार्थ और ध्वनि तथा वाक्य-रचना की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि भाषा का जो रूप आज है, वह आदिम जातियों की भाषा का नहीं था। मैलिनोवेस्की (Malinowoki) और लेवी ब्रूहल (Levy Bruhl) ने इन आदिम जाति के लोगों की भाषा के सम्बन्ध में जो खोजें की हैं, उनसे पता चलता है कि इनका शब्द-भाण्डार बहुत ही सीमित था। शब्दों के बजाय शारीरिक चेष्टाओं और इसी प्रकार के दूसरे संकेतों और हाव-भाव से ही, प्रायः अधिकांश, ये लोग अपना काम चलाते थे। वे एक दूसरे के मिलने पर 'राम राम', 'जैराम', 'सलाम' आदि असम्बद्ध और निरुद्देश्य स्वतन्त्र वाक्यों का प्रयोग करते थे अथवा कहानी, प्रार्थना, पूजा और जादू-टोना इत्यादि के प्रसंग में थोड़ा-बहुत भाषा का प्रयोग करते थे, इसमें भी प्रायः उन्हीं शब्दों का प्रयोग होता था, जो प्रायः सुननेवालों के अनुभव से सम्बन्ध रखते थे। वाक्य-रचना भी इनकी बड़ी विचित्र होती थी। 'मैलिनोवेस्की' ने इनके कुछ वाक्यों का ज्यों-का-त्यों अनुवाद करके दिखाया है। 'हम दौड़ते सामने जंगल अपने-आप' (We run front wood ourselves)[2] उसी का एक नमूना है। 'मैलिनोवेस्की' पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हुए श्री एच० पाल इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि "......इसमें महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भाषा की कुंजी मन में रहती है, वस्तुओं में नहीं।"[3]

यह मानना कि हमारी वर्त्तमान बुद्धि और भाषा हमें सृष्टि के आरम्भ से इन्हीं रूपों में मिली है और हम सदा से इसी प्रकार सोचते-विचारते और बोलते-चालते चले आये हैं, कोरा भ्रम है। संसार की कोई भी ऐसी चीज़ नहीं है, जो आज जिस रूप में है, आदि काल में भी उसका वही रूप रहा हो। एक छोटे-से बच्चे को देखिए, नित्य प्रति उसका कितना विकास होता है। उसकी भाषा को देखकर तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि हमारी बुद्धि और भाषा का भी उसी प्रकार धीरे-धीरे विकास हुआ है, जिस प्रकार इस संसार की अन्य सब चीज़ों का होता है। मानव-जीवन की आदिम अवस्था में जैसा विकासवाद के सिद्धान्त में विश्वास करनेवाले विद्वान् प्रायः कहा करते हैं 'मनुष्य बन्दर का विकसित रूप है', सचमुच उसकी बुद्धि और भाषा दोनों बहुत ही परिमित अथवा यों कहिए, नहीं के समान ही थी। यद्यपि एक और एक दो की तरह बिलकुल

१. एल्० आर०, पृ० ८१।

२. आदिम निवासियों के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए देखें, टिरेनी ऑफ् वर्ड्स, अध्याय ५।

३. एल्० आर०, पृ० ६१।

निश्चित रूप से यह नहीं बताया जा सकता कि अपनी आदिम अवस्था में मनुष्य भाषा और बुद्धि की दृष्टि से विकास के कौन-से स्तर पर था, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह स्तर बहुत ही निम्न कोटि का था। बहुत सम्भव है कि उस समय, जैसा 'डारविन' आदि विद्वान् मानते हैं, हम लोगों की अवस्था उस अवस्था से मिलती-जुलती रही हो, जिसमें आज हम गोरिल्ले और चिम्पैंजी आदि वानरों को पाते हैं।

कैसीरर (Cassirer) ने एक जगह इस सम्बन्ध में बड़े जोर के साथ सिद्धान्त-रूप में कहा है कि "प्रत्येक भाषा को अनुकरण, सादृश्य और सांकेतिक सम्बन्ध की अवस्था में होकर गुजरना पड़ता है, देश और काल का बन्धन भी सदैव उस पर रहता है।" कैसीरर के इस वाक्य की व्याख्या करते हुए श्री डब्ल्यू० एम्० अरबन अपनी पुस्तक 'लैंग्वेज् एण्ड रियलिटी' (पृ० १८२) में एक जगह लिखते हैं, "कैसीरर के मतानुसार किसी भाषा का विकास मुख्यतया तीन प्रकार की अवस्थाओं में होकर गुजरने पर होता है, १. अनुकरण की अवस्था, २. सादृश्य और ३. सांकेतिक अवस्था। पहली अवस्था की विशेषता यह है कि उसमें शब्द या क्रियापद से बना हुआ संकेत (Verbal sign) तथा जिसके लिए उसका प्रयोग हुआ है, उसमें कोई खास अन्तर नहीं रहता। शब्द ही वस्तु होता है। यह आरम्भिक अवस्था (अनुकरणावस्था) जैसे ही इन संकेतों का अदल-बदल कर प्रयोग होने लगता है (लाक्षणिक प्रयोग होने लगता है), समाप्त हो जाती है। यहाँ सादृश्य के आधार पर यह सम्बन्ध रहता है। किन्तु यह सम्बन्ध भी सांकेतिक में बदल जाता है। इस अवस्था की विशेषता यह है कि इसमें सादृश्य का गुण तो रहता है, किन्तु मूल वस्तु से उसका सम्बन्ध बहुत दूर हो जाता है। (जैसे 'आग होना' एक मुहावरा है, यहाँ आग का सांकेतिक अर्थ ही लिया जायगा, आग से अभिप्राय सचमुच आग से नहीं, बल्कि क्रोध से है।)

विकासवाद के इस सिद्धान्त का एक अति महत्त्वपूर्ण पक्ष, जिसपर हम आगे चलकर विचार करेंगे, यह है कि इससे शब्दों के अर्थ का विकास कैसे हुआ है और कैसे उनके अर्थों में परिवर्त्तन हुए हैं, इन सब बातों का पता चलने के साथ ही यह भी मालूम हो जाता है कि कैसे इनके साथ ही हमारा बौद्धिक विकास भी होता रहता है। रामचन्द्र वर्मा के इस वाक्य से हमारे कथन की विशेष पुष्टि हो जाती है कि "हमारे लिए यही समझ लेना यथेष्ट है कि बुद्धि और भाषा दोनों के विचार से हम बहुत ही नीचे स्तर से धीरे-धीरे उठते हुए हजारों-लाखों बरसों में इस अवस्था तक पहुँचे हैं।" भाषा का गुण, जैसा कि कैसीरर ने बड़े जोरों के साथ बार-बार कहा है, 'सत्य का अनुकरण करना नहीं, वरन् उसके साथ विशिष्ट समानता जोड़ना है।' संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भाषा के विकास का यह सिद्धान्त साकार से निराकार की ओर बढ़नेवाली उसकी प्रवृत्ति को स्पष्ट करके उसकी मुहावरा-प्रियता पर यथेष्ट प्रकाश डालता है। आशाओं का करवट बदलना, विचारों की आँधी, गृहस्थ की बेड़ियाँ, मन के लड्डू, मन की उड़ान इत्यादि मुहावरे भाषा की इसी बढ़ती हुई प्रवृत्ति के प्रतीक हैं।

भाषा के विकास की दृष्टि से जब हम शैशवावस्था से अबतक के अपने जीवन का सिंहावलोकन करते हैं, तब कैसीरर के कथन की सत्यता मूर्त्तिमान् होकर हमारे सामने खड़ी हो जाती है। एक छोटे-से बच्चे का किसी समाचार-पत्र में या कहीं और, किसी स्त्री या पुरुष का चित्र देखकर उन्हें अपनी माता या पिता बताना, किसी भी पक्षी को चिड़िया, किसी भी पशु को गाय तथा किसी भी जलाशय को गंगा इत्यादि कहकर पुकारना इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि ज्यों-ज्यों उसकी बुद्धि का विकास होता जाता है, उसकी भाषा भी अनुकरण की अवस्था को पार करती जाती है। वही माता और पिता इत्यादि शब्द व्यक्ति से जाति के बोधक हो जाते हैं। अपने माता-पिता और दूसरे स्त्री-पुरुषों के चित्रों में अब उसे अन्तर मालूम पड़ने लगता है, उसके शब्दों और शब्दार्थ

दोनों का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। सारांश यह कि ज्यों-ज्यों उसकी बुद्धि का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों शब्दों के अर्थ की व्यापकता का उसका ज्ञान भी बढ़ता जाता है, उसकी भाषा में मुहावरेदारी आती जाती है। वास्तव में किसी विकसित भाषा की कसौटी उसके मुहावरे ही होते हैं।

बुद्धि, सभ्यता और भाषा इन तीनों में एक प्रकार से पोषक और पोषित का सम्बन्ध है। बुद्धि से सभ्यता का पोषण और विकास होता है और सभ्यता से भाषा का। बुद्धि और सभ्यता के विकास की दृष्टि से जब हम भाषा का अध्ययन करते हैं, तब इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ज्यों-ज्यों मनुष्यों के बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आदि विकास होते गये, त्यों-त्यों हमारा शब्द-भांडार भी बढ़ता गया और भाव तथा विचार प्रकट करने के सुन्दर और सूक्ष्म भेद-प्रभेद और मुहावरेदार प्रयोग भी उत्पन्न होते गये। ज्यों-ज्यों हमारी आवश्यकताएँ बढ़ती गईं और नये-नये देशों तथा जातियों से हमारा सम्पर्क बढ़ता गया, त्यों-त्यों हमें नई-नई वस्तुओं का ज्ञान होता गया और हमारे भावव्यंजन के प्रकार (शब्द और मुहावरे) भी बढ़ते गये। नये-नये शिल्पों और ज्ञान-विज्ञानों के आविष्कार, नये-नये स्थानों और लोगों के साथ होनेवाले परिचय तथा इसी प्रकार की और सैकड़ों-हजारों बातें हमारी भाषा को शब्द, मुहावरों और भाव-व्यंजन की दृष्टि से उन्नत और विकसित करती गईं। संक्षेप में, यही वह क्रम है, जिससे बुद्धि के कारण सभ्यता का और सभ्यता के कारण भाषा का विकास होता है।

भाषा और समाज

किसी भाषा के मुहावरों की सृष्टि जैसा पीछे भी कई स्थलों पर संकेत कर चुके हैं, सर्वप्रथम अशिक्षित और अशिष्ट अथवा असंस्कृत वर्ग के लोगों में ही होती है। किन्तु बाद में धीरे-धीरे जब ये खूब लोकप्रिय और लोकव्यापक हो जाते हैं, तब बुद्धिमान् लोग (सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत) जैसे छलनी से सत्तू को परिष्कृत किया जाता है, वैसे ही अपनी बुद्धि से इनकी अश्लीलता और अशिष्टता इत्यादि को दूर करके परिष्कृत मुहावरेदार भाषा तैयार करते हैं। संक्षेप में, इसलिए हम कह सकते हैं कि मुहावरों का सम्बन्ध चूँकि समाज से पहिले होता है और भाषा से बाद में। अतएव, मुहावरों का विशेष अध्ययन करने के लिए भाषा और समाज के सम्बन्ध पर भी थोड़ा-बहुत प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

मानव-समाज को यदि मनुष्यों की एक सुबद्ध शृंखला मानें, तो कहेंगे, भाषा ही वह सूत्र है, जिसके द्वारा मनुष्य एक-दूसरे से बँधे हुए हैं। कोई भाषा जितनी ही सुसंस्कृत और मुहावरेदार होती है, उसे बोलनेवाले लोग (समाज) उतने ही सभ्य और उन्नत समझे जाते हैं। सचमुच यदि भाषा का यह सूत्र हमें एक दूसरे से न बाँधे होता अथवा हमें वाणी-जैसी यह अद्भुत शक्ति न प्राप्त हुई होती, तो जैसा उपनिषदकारों ने कहा है, "......धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयं चाहृदयं च यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति।"[1] अर्थात् सत्य और असत्य, धर्म और अधर्म साधु और असाधु, मित्र और अमित्र तथा सुखद और दुखद किसी भी बात का पता न चलता, इतना ही नहीं, बल्कि पिता और पुत्र, पति और पत्नी, तथा भाई और भाई में प्रेम का ऐसा दृढ़ सम्बन्ध ही न हो पाता। सब लोग जानवरों की तरह अपने ही तक अपना संसार सीमित करके रहा करते।

इन्दौर-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए अमर आत्मा महात्मा गांधी ने सन् १९१८ ई० में एक स्थल पर कहा था, "भाषा का मूल करोड़ों मनुष्य-रूपी हिमालय में मिलेगा, और उसमें ही

१. छान्दोग्योपनिषद्, अ० ७, खं० २-१।

रहेगा।"[1] मनुष्य-रूपी हिमालय से बापूजी का अभिप्राय मनुष्यों के हिमालय-जैसे बृहत् समाज को छोड़कर और क्या हो सकता है। बापू की कल्पना का समाज केवल कुछ पढ़े-लिखे लोगों का समाज नहीं है, उसमें तो देहात के वे किसान और मजदूर भी शामिल हैं, जिन्होंने कभी स्कूल का मुँह तक नहीं देखा। वास्तव में हिमालय से निकलती हुई गंगाजी के अनन्त प्रवाह के समान लोकव्यापक तथा लोकप्रिय और मुहावरेदार भाषा ऐसे ही समाज की भाषा हो सकती है। केवल कुछ पढ़े-लिखे लोगों के वर्ग से निकली हुई भाषा अधिक दिनों तक नहीं टिक सकती। गांधीजी के अगले वाक्य से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। वह कहते हैं, "हिमालय में से निकलती हुई गंगाजी अनन्त काल तक बहती रहेगी। ऐसा ही देहाती हिन्दी का गौरव रहेगा। और, जैसे छोटी-सी पहाड़ी से निकलता हुआ झरना सूख जाता है, वैसी ही संस्कृतमयी तथा फारसीमयी (बे-मुहावरा) हिन्दी की दशा होगी।"[2]

"*हम भाषा के द्वारा दूसरों पर अपनी इच्छाएँ या आवश्यकताएँ, दुःख या प्रसन्नता, क्रोध या* सन्तोष प्रकट करते हैं तथा इस प्रकार के और बहुत-से काम करते हैं। कभी हमें अपना काम निकालने के लिए दूसरों से अनुनय-विनय या प्रार्थना करनी पड़ती है, कभी उन्हें उत्साहित या उत्तेजित करना होता है, कभी उनसे आग्रह करना पड़ता है और कभी उन्हें अपने अनुकूल बनाना होता है। कभी हमें लोगों को शान्त करने के लिए समझाना-बुझाना पड़ता है और कभी कोई काम करने या किसी से लड़ने के लिए उत्साहित या उत्तेजित करना पड़ता है। कभी हमें लोगों को अपने वश में करना पड़ता है और कभी उन्हें किसी के प्रति विद्रोह करने के लिए भड़काना पड़ता है। भाषा से निकलनेवाले इसी प्रकार के और भी बहुत-से कार्य होते और हो सकते हैं।"[3] वर्माजी ने भाषा की उपयोगिता के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उससे महात्मा गांधी के इस मत का और भी समर्थन हो जाता है कि भाषा करोड़ों मनुष्यों के प्रयत्न का सामूहिक फल है। भाषा का विकास और बुद्धि समाज के विकास और बुद्धि पर निर्भर है। जितना ही कोई समाज विकसित होता जाता है, उसका आर्थिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक सम्बन्ध दूसरे देशों से बढ़ता जाता है, उतने ही भाव-व्यंजन के उसके प्रकार और लोकप्रिय प्रयोगों की वृद्धि उसकी भाषा में होती जाती है। एक के प्रयोग अनेक के मुहावरे हो जाते हैं।

बोली, विभाषा और भाषा

बोलचाल में ही सबसे पहिले किसी भाषा के मुहावरों का मुँह खुलता है। फिर धीरे-धीरे लोकप्रियता के आधार पर पुष्टता और प्रौढ़ता प्राप्त करते हुए अन्त में बोली से विभाषा और विभाषा से भाषा के क्षेत्र में पदार्पण करते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ये तीनों, मुहावरों के जीवन-काल की तीन अलग-अलग अवस्थाएँ हैं। बोली को यदि हम उसका प्रसूतिकागृह मानें, तो विभाषा उसका गार्हस्थ्य और भाषा संन्यासाश्रम है; जहाँ पहुँचकर अनासक्त और अलिप्त भाव से समाज की सेवा करने के अतिरिक्त उसके जीवन का और कोई अन्य उद्देश्य ही नहीं रह जाता। बोली, विभाषा और भाषा इन तीनों का चूँकि मुहावरों से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए अब हम अति संक्षेप में इन तीनों की-थोड़ी बहुत मीमांसा करेंगे।

बोली : बोली से अभिप्राय नित्य प्रति के जीवन में उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते समय की घरेलू बातचीत से है। इसका क्षेत्र अधिक विस्तृत नहीं होता, कभी-कभी तो एक ही गाँव

१. राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी (दो बोल) गांधीजी।
२. वही।
३. अ० हि०, पृ० ५।

में बोली जानेवाली भाषाओं में भी काफी अन्तर रहता है। इसमें साहित्य बिलकुल नहीं होता। बोलनेवालों के इच्छानुसार ही इसका जन्म और मरण होता है।

विभाषा : किसी एक प्रान्त अथवा उप-प्रान्त की बोलचाल तथा साहित्यिक रचनाओं की भाषा को ही विभाषा कहते हैं। बोली से इसका क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। हिन्दी के कितने ही लेखक इसे 'उपभाषा', 'बोली' अथवा 'प्रान्तीय भाषा' भी कहते हैं। वास्तव में बोली का ही कुछ परिष्कृत, परिवर्द्धित और व्याकरण-नियंत्रित रूप विभाषा है।

भाषा : कई प्रान्तों अथवा उप-प्रान्तों में व्यवहृत होनेवाली एक शिष्ट-परिगृहीत विभाषा ही भाषा कहलाती है। राष्ट्रभाषा अथवा टकसाली भाषा भी इसी के नाम हैं। यह भाषा, विभाषाओं पर भी अपना प्रभाव डालती रहती है, बहुत-से शब्द और मुहावरे उनसे लेती रहती है।

देश में जब कोई धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक अथवा साहित्यिक आन्दोलन उठ खड़ा होता है और राष्ट्रभाषा की एकरूपता कुछ भंग होने लगती है, तब ये विभाषाएँ अपने-अपने प्रान्त में स्वतन्त्र होकर राष्ट्रभाषा का पद लेने के लिए आगे बढ़ने लगती हैं। ठीक यही दशा बोलियों की भी होती है, वे विभाषाओं की कमी पूरी करने को आगे बढ़ती हैं। गरज़ यह कि यह चक्कर हमेशा चलता रहता है। हमेशा ही बोलियों के शब्द और मुहावरे विभाषाओं में और विभाषाओं के राष्ट्रभाषा में आते रहते हैं। दूसरी भाषाओं से ज्यों-के-त्यों अथवा अनुवाद-रूप में आये हुए कतिपय मुहावरों को छोड़कर प्रायः सभी मुहावरों को इस चक्कर में चक्कर लगाने पड़ते हैं।

भाषा में मुहावरों का स्थान

महात्मा गांधी ने एक जगह कहा है, "भाषा वही श्रेष्ठ है, जिसको जनसमूह सहज में समझ ले।" जनसमूह से गांधीजी का मतलब उन थोड़े-से पढ़े-लिखे लोगों से नहीं है, जो संस्कृत और हिन्दी अथवा उर्दू और फारसी इत्यादि के विद्वान् हैं। वास्तव में, उनका मतलब तो उन असंख्य अशिक्षित और अशिष्ट किसान और मजदूरों से है, जिनके लिए आज भी काला अक्षर भैंस बराबर ही बना हुआ है। सात लाख देहातों से बना हुआ हमारा देश, सचमुच, इन्हीं बे-पढ़े-लिखे लोगों का देश है, इसलिए इनकी उपेक्षा करके चलाई हुई कोई भी भाषा, चाहे वह हिन्दी हो या उर्दू, चलनेवाली नहीं है। हमारे यहाँ तो वही भाषा चल सकती है, जो हमारे किसान और मजदूरों को साथ लेकर चलेगी। ठीक भी है, जिस भाषा के द्वारा हम अपनी बात को पूरी तरह से उन्हें न समझा सकें अथवा उनकी बातें उसी तरह न समझ सकें, वह तो एक बे-मुहावरा पहेली-जैसी चीज हुई, सरल और सुबोध भाषा नहीं। कबीर का एक पद है—

ठगिनी क्या नयना झमकावै।
कबिरा तेरे हाथ न आवै॥

इसी प्रकार के और भी बहुत-से पद हैं, जिनका अर्थ करना अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे लोगों के लिए भी टेढ़ी खीर है। सोचने की बात है, जिस पद का अर्थ ही समझ में नहीं आता, उसे कौन सुन्दर और श्रेष्ठ कह सकता है। मिर्ज़ा गालिब भी इसी प्रकार की जटिल भाषा लिखा करते थे। एक दिन उनकी इस गूढ़ता से घबराकर उनके सामने ही हकीम आग़ा जान ने भरे मुशायरे में ये शेर पढ़े थे :—

मज़ा कहने का जब है यक कहे और दूसरा समझे।
अगर अपना कहा तुम आप ही समझे तो क्या समझे॥
कलामे मीर समझे औ ज़बाने मीरज़ा समझे।
मगर अपना कहा यह आप समझें या खुदा समझे॥

बे-मुहावरा भाषा लिखनेवालों को इसलिए एक दिन मिर्जा ग़ालिब की तरह लांछित होना पड़ेगा। उनकी भाषा उनके साथ ख़त्म हो जायगी।

पद्य में गद्य की अपेक्षा कुछ अधिक जटिलता रहती है। काव्य में कवि का क्षेत्र कुछ संकुचित होता है, इसलिए उसकी जटिलता पर लोगों का इतना ध्यान नहीं जाता। किन्तु, फिर भी महात्मा तुलसीदास जैसे जनसमूह के कवि उसकी निन्दा ही करते हैं। उन्होंने लिखा है—

सरल कवित कीरति विमल, तेहि आदरहिं सुजान।

एक दूसरे कवि ने कहा है—

जाके लागत ही तुरत, सिर ना डुलै सुजान।
ना वह है नीको कवित्त ना वह तान न बान॥

उर्दू में भी एक कवि ने लिखा है—

शेर दर असल है वही हसरत।
सुनते ही दिल में जो उतर जाये॥

इन पदों में रूपान्तर से यही कहा गया है कि कविता की भाषा ऐसी सरल, सुबोध और मुहावरेदार होनी चाहिए कि कान में पड़ते ही उसका अर्थ समझ में आ जाय। तुलसीदास इत्यादि के इन पदों को पढ़ने के बाद महात्मा गांधी की बात का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है। जब कविता की भाषा के लिए सरल, सुबोध और मुहावरेदार होना आवश्यक है, तब फिर साधारण जनता की भाषा का मुहावरेदार सरल और सुबोध होना तो और भी जरूरी है। इतने दिनों तक बराबर शब्द और मुहावरों पर ही विचार करते रहने के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि किसी भाषा के मुहावरे ही वे साधन हैं, जो व्यावहारिक दृष्टि से पूरे समाज को सदैव एक दूसरे से बाँधे रख सकते हैं। इसलिए जनसमूह की समझ में आनेवाली किसी भी भाषा का मुहावरेदार होना आवश्यक है। कदाचित् इसीलिए लेंडर (Lendor) ने कहा था, "प्रत्येक अच्छा लेखक मुहावरों का अधिक प्रयोग करता है, मुहावरे भाषा के जीवन और प्राण होते हैं।" लेंडर के इस वाक्य से 'भाषा में मुहावरों का क्या स्थान होना चाहिए' इस पर भी और अधिक प्रकाश पड़ जाता है।

हिन्दी-संसार से मुहावरों की उपयोगिता कुछ छिपी नहीं है, वह ऋग्वेद-काल से अबतक बराबर उनका प्रयोग करता आ रहा है। प्राचीन कवियों और अनेक आधुनिक गद्य-लेखकों के द्वारा उनका जी खोलकर प्रयोग हुआ है। "कविरनुहरतिच्छायां कुकविर्भावं पदानि चाप्यधमः···" इत्यादि के अनुसार दूसरे के पदों को चुराना नीचता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन मुहावरों का बहिष्कार करने में यह दलील काम नहीं कर सकती। दूसरों के पद और मुहावरों में वही अन्तर है, जो एक ही चाँदी के बने हुए आभूषणों और सिक्कों में होता है। मुहावरे तो किसी भाषा के चालू सिक्के होते हैं, उनका एक ही समय में एक ही साथ सबको उपयोग करने का अधिकार है। जिस प्रकार सिक्के कभी किसी के हाथ में रहते हैं और कभी किसी के, किन्तु काम उसी का करते हैं, जिसके हाथ में होते हैं। उसी प्रकार मुहावरे भी कभी किसी की जूठन नहीं होते, जो उनका उपयोग करता है, उसी के रहते हैं। मुहावरों के प्रयोग में इसलिए कभी किसी की चोरी नहीं होती।

'हरिऔध' जी लिखते हैं, "मुहावरे भाषा के शृंगार हैं, सुविधा एवं सौन्दर्य-सृष्टि अथवा भाव-विकास के लिए उनका सर्जन हुआ है। उनकी उपेक्षा उचित नहीं। वे उस आधार-स्तम्भ के समान हैं, जिनके अवलम्ब से अनेक सुविचार-मन्दिरों का निर्माण सुगमता से हो सकता है। भाव-साम्राज्य में उनके विशेष अधिकार है, उनको छोड़ हम अनेक उचित स्वत्वों से वंचित हो सकते हैं।" मुहावरों में

इतने गुणों के होते हुए भी, हम यह मानते हैं कि कभी-कभी मुहावरों के प्रयोग से भावों में जटिलता आ जाती है और वाक्य आसानी से समझ में नहीं आते। किन्तु ऐसा विशेष कर वहीं होता है, जहाँ मुहावरों का सुप्रयुक्त और समुचित व्यवहार नहीं होता अथवा जहाँ सुननेवाला अपने अज्ञान के कारण उसे समझने में असमर्थ रहता है। 'कान काटना' हिन्दी का एक मुहावरा है, जिसका प्रयोग प्रायः 'मात करना', 'बढ़कर होना', 'धोखा देना' तथा 'बड़ी चालाकी करना' इत्यादि अर्थों में होता है। यदि कोई कहे 'महात्मा गांधी जीव-दया में तो भगवान् बुद्ध के भी कान काटते थे', तो इससे कहनेवाले का भाव और भी जटिल हो जाता है। वास्तव में पूरा वाक्य ही महात्मा गांधी की प्रशंसा करने के बजाय निन्दा करनेवाला बन जाता है। किन्तु यहाँ मुहावरे का दोष नहीं है। मुहावरे के दुष्प्रयोग से ही यह जटिलता आई है। इसी प्रकार 'गोली मारना' मुहावरे का अर्थ न समझने के कारण यदि कोई 'मोहन को मारो गोली......' इत्यादि वाक्य सुनकर सचमुच मोहन को गोली मार देता है, तो इसमें मुहावरे का क्या दोष है। इसलिए मुहावरों का बिलकुल प्रयोग ही न करने के लिए यह कोई तर्क नहीं है। वैसे भी संसार में ऐसा कौन-सा पदार्थ है, जिसमें कुछ-न-कुछ दोष नहीं। कुनाइन कड़वी होती है, किन्तु फिर भी लोग माँग-माँग कर खाते हैं। केवल इसीलिए कि साधारण दोषों के कारण महान् गुणों का त्याग नहीं हो सकता। अठारवीं सदी में इंगलैंड में इसी प्रकार के कई एक दोष मुहावरों पर लगाकर डाक्टर जॉन्सन जैसे कुछ विद्वानों ने साहित्य से उनके बहिष्कार का आन्दोलन छेड़ा था। किन्तु मुहावरों की उपयोगिता के कारण उनका वह आन्दोलन विफल हुआ और भाषा में मुहावरों का ही स्थान बना रहा, जो पहिले था। स्मिथ लिखता है —

"अठारहवीं शताब्दी के लोगों की रुचि मुहावरों की ओर नहीं थी। उन्होंने मुहावरों को गँवारू तथा तर्क और मानव-स्वभाव के नियमों को भंग करनेवाला बताकर उनकी भर्त्सना की है। एडिसन ने अपने गद्य में मुहावरों का प्रयोग किया है, किन्तु इसपर भी उसने कवियों को उनके प्रयोग न करने के लिए सावधान किया है। डॉक्टर जॉन्सन ने अपने कोष में मुहावरों को व्याकरण-विरुद्ध और दूषित आदि विशेषणों से कलंकित कर उन्हें हमारी भाषा से दूर करने का भगीरथ-प्रयत्न किया है।"[1]

जॉन्सन के बाद लेंडर की यह घोषणा कि "मुहावरे भाषा के जीवन और प्राण होते हैं।" यह सिद्ध करती है कि जॉन्सन इत्यादि का प्रभाव अधिक दिनों तक नहीं रहा। मुहावरों के प्रति इनके इस घृणापूर्ण रुख में लोगों को कोई तथ्य न मालूम पड़ा। इनके तर्क उनकी दृष्टि में निराधार और लचर हो गये। और, इसलिए फिर से मुहावरों को भाषा में वही सम्मानित स्थान मिलने लगा। यह सब होते हुए भी जिस प्रकार किसी स्याही के धब्बे को बिलकुल धो डालने के बाद भी उसकी थोड़ी-बहुत झलक रह ही जाती है, इस आक्षेप के निस्सार और निराधार सिद्ध हो जाने पर भी उस विचार का थोड़ा-बहुत प्रभाव बाकी रह ही गया। व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों पर अब भी लोगों के कान खड़े हो जाते थे।

अँगरेजी के मुहावरों के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ कहा गया है, स्थान-भेद से वही हिन्दी तथा दूसरी भाषाओं के मुहावरों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। मुहावरों की विशेषताएँ बताते हुए छठे अध्याय में जैसा हमने बताया है कि भाषा, व्याकरण अथवा तर्क के नियमों का उल्लंघन करने पर भी मुहावरों में कोई दोष नहीं माना जाता, भावव्यंजन की उनकी शक्ति में कोई दोष नहीं आता। अब भी जैसा खड़ीबोली के कवियों और गद्य-काव्य इत्यादि लिखनेवाले ऊँचे दर्जे के साहित्यिकों को देखकर हमें लगता है कि वे मुहावरों का प्रयोग करते हुए बिना किसी कारण के

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० २६४।

कुछ हिचकिचाते हैं, हमारी इच्छा है कि हम पूरा जोर लगाकर यह सिद्ध कर दें कि कोई भी भाषा विना मुहावरों के एक कदम आगे नहीं रख सकती।

मुहावरों का विश्लेषण करते हुए हमने देखा है कि इधर या उधर, कील-काँटा करना, खील-खील करना, आर-पार हो जाना; आगा-पीछा सोचना इत्यादि जिन मुहावरों में एक ही शब्द साथ-साथ दो बार अथवा दो विभिन्न शब्द सदैव साथ-साथ प्रयुक्त होते हैं, साधारणतया सभी लोग विना किसी हिचकिचाहट के उनका प्रयोग करते हैं, इसलिए उनके पक्ष में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। देखना-भालना, उठना-बैठना, खाना-पीना, तथा खिलना (प्रसन्न होना), चटाना (घूस देना), पछाड़ना (पराजित करना) इत्यादि-इत्यादि क्रियाओं के मुहावरेदार प्रयोग भी सब लोग करते हैं; क्योंकि इनके विना कोई भी अच्छी हिन्दी नहीं लिख या बोल सकता। यही बात और भी बहुत सुन्दर और संक्षिप्त प्रयोगों की है। विना किसी संकोच के लोग उनका प्रयोग करते हैं।

इसके बाद हम उन मुहावरों पर आते हैं, जिनमें व्याकरण अथवा तर्क के नियमों का कोई बन्धन नहीं रहता। 'मुहावरों की विशेषता' वाले अध्याय में हम विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं कि व्याकरण के नियमों का उल्लंघन होने पर भी चूँकि बहुत दिनों से लोग इनका प्रयोग करते चले आये हैं और अर्थ-व्यक्ति में भी इनके कारण कोई अड़चन न पड़कर उल्टे सहायता ही मिलती है, इसलिए इन्हें भाषा का भूषण ही समझना चाहिए, कलंक नहीं। सत्रहवीं शताब्दी के एक फ्रेंच लेखक ने इसीलिए कहा है—"भाषा का सौन्दर्य वास्तव में इसी प्रकार के अतर्कपूर्ण प्रयोगों में है, बशर्ते कि मुहावरे की प्रमाणिकता उनमें हो।" आगे वह फिर लिखता है—"इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि बोलचाल में आनेवाले उन सब प्रयोगों को, जो व्यवहार के कारण व्याकरण के नियमों के विरुद्ध स्थापित हो चुके हैं, नियम-विरुद्ध अथवा दूषित समझकर बहिष्कार करने के बजाय, जैसा जीवित अथवा मृत सभी सुन्दर भाषाओं में होता है, भाषा के आभूषण की तरह पोषण होना चाहिए।"

अब अन्त में हम 'बीड़ा उठाना', 'आग उगलना', 'आसमान टूटना', 'तारे गिनना' इत्यादि उन लाक्षणिक प्रयोगों को लेते हैं, जिनका अर्थ उन शब्दों के अर्थ से भिन्न होता है जिनके योग से वे बने हैं या बनते हैं। पिछले अध्यायों में जैसा बड़े विस्तार के साथ बताया जा चुका है, इन मुहावरों में असंख्य लोगों की अनुभूतियाँ गुँथी हुई हैं। इनमें व्यावहारिक जीवन के ऐसे सत्य भरे पड़े हैं, जो कभी पुराने हो ही नहीं सकते। यही कारण है कि अच्छे-से-अच्छे कवि और लेखकों के सुन्दर-से-सुन्दर पद और वाक्यों के बार-बार कान में पड़ने से हम उकता जाते हैं, सुन्दर-से-सुन्दर उक्तियों का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, रोचक से रोचक कहानियों का आकर्षण जाता रहता है और अच्छे-से-अच्छे हँसी-मजाक का मजा जाता रहता है; किन्तु चूल्हा और चक्की, तवा और परात, गाड़ी से कटरा बाँधना, हजामत बनाना, गंगा नहा जाना, पिंड छोड़ना, ढोर चुगाना इत्यादि के लाक्षणिक प्रयोग कभी बन्द नहीं होते और न कभी इन अशिष्ट और अशिक्षित किसान और मजदूरों के इन कामों से कोई ऊवता ही है।

धर्म, सभ्यता, संस्कृति, वेद-शास्त्र, इतिहास-पुराण तथा बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, साधु सन्त और शहीदों के आधार पर जो बहुत-से मुहावरे हमारी भाषा में आ गये हैं अथवा खेती-बारी, उद्योग-धन्धों तथा कला-कौशल के अन्य व्यवसायों से जो असंख्य मुहावरे बन गये हैं, इन सब में भी अन्य लोकप्रिय मुहावरों की तरह बिजली के समान प्रभाव डालनेवाला गुण रहता है, ये भी उन्हीं की तरह सजीव और जीवन-युक्त होते हैं। मानव-शरीर के अंग-प्रत्यंगों और हाव-भाव के आधार पर बने हुए मुहावरे और भी कम जीर्ण-शीर्ण और नष्ट होनेवाले होते हैं।

काल्पनिक चित्रों, रूपकों और शारीरिक क्रियाओं से सम्बन्ध रखनेवाले मुहावरे भी कभी पुराने नहीं पड़ते।

विभिन्न प्रकार के मुहावरों की अबतक जो मीमांसा की गई है, उसके आधार पर इतना तो बड़े जोरों के साथ कहा ही जा सकता है कि किसी भी भाषा के अधिकांश मुहावरे सदैव समान रूप से रोचक और आकर्षक रहते हैं। बार-बार के प्रयोग से उनमें किसी प्रकार की जीर्णता अथवा जड़ता नहीं आती है। वे सदैव चालू सिक्कों के रूप में किसी भाषा की अक्षय निधि रहते हैं। उनका सबसे बड़ा गुण यह होता है कि वे सदैव सबके होते हैं और सबके लिए होते हैं। सब उनका अर्थ समझते हैं। मुहावरेदार भाषा को इसीलिए सर्वश्रेष्ठ भाषा कहा जाता है। संक्षेप में, मुहावरे ही किसी भाषा की उच्चता, व्यापकता और लोकप्रियता की कसौटी होते हैं।

भाषा में मुहावरों का महत्त्व

कहा जाता है कि एक बार किसी चतुर इंगलिश महिला ने किसी भी ऐसे दार्शनिक को एक हजार पौंड इनाम देने की घोषणा की थी, जो इस बात का लिखित सबूत दे कि वह—१. उसका जो आशय है, जानता है; २. किसी दूसरे का जो आशय है, जानता है; ३. किसी भी पदार्थ का आशय है, जानता है; ४. जानता है कि उसका वही आशय है, जो दूसरे सब लोगों का है; ५. जो अपना आशय प्रकट कर सकता है.........। कलाकारों की तरह, दार्शनिक भी, सब लोग जानते हैं, बड़े दरिद्र होते हैं, किन्तु अन्त में हुआ यही कि कोई भी वह इनाम न ले सका।[१]

इनाम की जो पाँच शर्त्तें उक्त महिला ने रखी हैं, वास्तव में किसी पूर्ण रूप से विकसित भाषा के वे ही पाँच आदर्श और उद्देश्य होने चाहिए। यही प्रश्न यदि किसी गणितज्ञ से किये गये होते, तो निश्चय ही वह इस इनाम को मार लेता; क्योंकि गणित की भाषा में वह पूर्णता है। अ ब स त्रिभुज का उनके यहाँ सब लोग एक ही अर्थ करेंगे। किन्तु साहित्य और दर्शन की भाषा तो सचमुच इतनी अपूर्ण और अस्थिर होती है कि इन पाँचों शर्त्तों में से एक शर्त्त भी कभी पूरी नहीं कर सकती। उसके द्वारा न तो हम अपना ही आशय पूरी तरह प्रकट कर सकते हैं और न दूसरों का आशय उसी रूप में समझ सकते हैं। फिर, चूँकि किसी का भी आशय इसके द्वारा पूरी तरह से प्रकट नहीं होता, इसलिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि अमुक व्यक्ति का वही आशय है, जो उसके किसी मित्र अथवा किसी अन्य व्यक्ति का है। इसीलिए कहा जाता है कि शब्दों का सच्चा और पूरा अर्थ तो मन में रहता है।

भाषा की इस कमी को यदि थोड़ा-बहुत पूरा किया जा सकता है, तो वह लोकप्रिय मुहावरों के द्वारा ही किया जा सकता है। मुहावरों में वस्तु-ज्ञान के साथ ही उसकी पूरी पृष्ठभूमि का भी ज्ञान कराने की शक्ति होती है। फिर, चूँकि प्रत्येक मुहावरा किसी एक विशिष्ट भाव या विचार को लेकर चलता है और उसी अर्थ में वह प्रायः सबको मालूम रहता है, इसलिए मुहावरेदार भाषा से एक-दूसरे के भावों को ठीक समझने में काफी सुगमता होती है। 'आँखों में धूल झोंकना' एक मुहावरा है, जो सरासर धोखा देने या भ्रम में डालने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। आँखों में धूल झोंकना और धोखा देना—इन दोनों में शब्दार्थ की दृष्टि से अधिक अन्तर न होते हुए भी तात्पर्यार्थ की दृष्टि से जमीन-आसमान का अन्तर है। 'आँखों में धूल झोंकना' मुहावरे के कान में पड़ते ही धोखा देने की उस सारी परिस्थिति का ज्ञान हो जाता है, जो वक्ता के सामने उस समय थी। हमारी आँखों देखी किसी घटना को जब कोई आदमी उलटकर कहता है, तब

१. टिरेनी ऑफ् वर्ड्स, पृ० १६।

हम इस मुहावरे का प्रयोग करते हैं। काले कौवे खाना, गूलर का कीड़ा होना, जमीन नापना, थाली का बैंगन होना, बे-पेंदी का लोटा होना इत्यादि मुहावरे भी इसी प्रकार एक-एक विशिष्ट भाव के मानचित्र जैसे हैं, जिनका प्रायः सभी लोग एक ही परिस्थिति में और लगभग एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं।

मुहावरों के सम्बन्ध में दूसरे विद्वानों ने जो कुछ लिखा है, उससे भी भाषा में उनका क्या महत्त्व है, इसपर काफी प्रकाश पड़ जाता है। मुहावरों की व्याख्या करते हुए उनकी विशेषताओं और उपयोगिताओं की मीमांसा करते हुए तथा और भी कितने ही प्रसंगों में हम यहाँ-वहाँ के अनेक विद्वानों का मत दे चुके हैं, इसलिए बहुत विस्तार से इसका विवेचन नहीं करेंगे। जो थोड़ा-बहुत लिखेंगे, सम्भव है, उनमें भी कहीं कोई पुनरावृत्ति हो जाय। स्मिथ लिखता है—"भाषा की सौन्दर्य-वृद्धि का एक और भी अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, यह तत्त्व मुहावरों के योग से बनता है।"[1]

एक दूसरे स्थल पर वह लिखता है—

"मुहावरे हमारी बोलचाल में जीवन और स्फूर्ति की चमकती हुई छोटी-छोटी चिंगारियाँ हैं। वे हमारे भोजन को पौष्टिक और स्वास्थ्यकर बनानेवाले उन तत्त्वों के समान हैं, जिन्हें हम जीवन-तत्त्व कहते हैं। मुहावरों से वंचित भाषा शीघ्र ही निस्तेज, नीरस और निष्प्राण हो जाती है। यही कारण है कि मुहावरों के बिलकुल न होने से विदेशी मुहावरों का मिश्रण ही अच्छा है।"[2]

"विज्ञानवेत्ता, स्कूल के अध्यापक और पुरानी चाल के वैयाकरण मुहावरों का कम आदर करते हैं, किन्तु अच्छे लेखक उनके लिए जी-जान देते हैं; क्योंकि वास्तव में वे भाषा के जीवन और प्राण होते हैं।"

"मुहावरों को हम काव्य के सहोदर के समान मान सकते हैं; क्योंकि वे काव्य के समान ही हमारे भावों को सजीव अनुभूतियों के रूप में पुनः प्रकाशित करते हैं।"[3]

श्रीब्रह्मस्वरूप दिनकर लिखते हैं—

"आज इनके (मुहावरों के) विना हमारा काम ही नहीं चल सकता। बोलचाल और साहित्य, दोनों के लिए ये अनिवार्य हैं। मुहावरों के प्रयोग से वाणी में हृदयग्राहिता और मार्मिकता की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। किसी छोटे-से मुहावरे में जो भाव निहित है, उसकी यथार्थ व्यंजना श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ शब्दावली में भी नहीं हो सकती। मुहावरों में थोड़े-से-थोड़े अक्षरों में बहुत-सा भाव भरने की शक्ति होती है।"

मौलाना हाली लिखते हैं—

"मुहावरा अगर उम्दा तौर से बाँधा जावे, तो बिला शुबहा पस्त शेर को बलंद और बलंद को बलंदतर कर देता है।"

ऊपर के अवतरणों को देखने से पता चलता है कि किसी भी भाषा के लिए मुहावरों का इतना महत्त्व है कि उनके विना हमारा काम ही नहीं चल सकता। लैंडर तो उन्हें भाषा का जीवन और प्राण ही मानता है। सचमुच बात भी यही है, किसी पद या वाक्य में प्रयुक्त मुहावरों को निकालकर यदि उनके स्थान पर दूसरे शब्द रख दिये जायँ, तो वह पद या वाक्य

---

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० १६७।

२. वही, पृ० २७६-७७

३. हिन्दी-मुहावरे, दो शब्द।

निस्सन्देह बिलकुल निर्जीव और निष्प्राण हो जायगा, उसका सारा लालित्य, सारा ओज और सारी रोचकता खत्म हो जायगी। आज हमारे यहाँ कवि-सम्मेलन और उर्दू-मुशायरे दोनों होते हैं, दोनों में अच्छे-अच्छे कवि भाग लेते हैं, किन्तु फिर भी क्यों उर्दू मुशायरों में इतनी अधिक चहल-पहल रहती है, क्यों वे हमेशा अधिक सफल रहते हैं, क्यों उर्दू के शेरों को सुनकर लोग उछल पड़ते हैं, क्या केवल इसीलिए नहीं कि "बोलचाल अथवा रोजमर्रा और मुहावरों पर जितना उर्दू-कवियों का अधिकार है, जिस सुन्दरता से वे इनका प्रयोग अपनी कविताओं में करते हैं, खड़ी बोली के कवियों को न वह अधिकार ही प्राप्त है, न वह योग्यता ही।"[1] नीचे के उर्दू-पद्यों को देखिए, रोजमर्रा के मुहावरों के कारण उनकी भाषा कितनी सुन्दर और हृदयग्राही हो गई है—

लिन उसका घटा था जो दिलेराना बढ़ा था।
मुँह की वही खाता था जो मुँह उसके चढ़ा था।
न पीना हराम है, न पिलाना हराम है।
पीने के बाद होश में आना हराम है।
ये हंगामे आराँ हैं सब बे-खबर।
वे चुप हैं जिन्हें कुछ खबर हो गई है।
मैं कशों में की कमी-बेशी पैनाहक़ जोश है।
यह तो साकी जानता है किसको कितना होश है।

भाषा में मुहावरों का इतना अधिक महत्त्व होने के और भी बहुत-से कारण हैं। हमारी बोल-चाल और खास तौर से लिखने की भाषा व्याकरण आदि के नियमों में कुछ ऐसी ढल गई है कि जब कभी कोई अशुद्ध उच्चारण, व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग अथवा अन्य किसी प्रकार का कोई असाधारण पद हमारे सुनने या देखने में आ जाता है, तुरन्त हमारे कान खड़े हो जाते हैं। आँखें ठहर जाती हैं। हम समझते हैं और भी लोगों का यह अनुभव होगा कि इस प्रकार के अव्यवस्थित और अनियन्त्रित प्रयोगों का साधारण प्रयोगों से कहीं अधिक प्रभाव पड़ता है, वे याद भी अधिक दिनों तक रहते हैं और अर्थ-व्यक्ति भी उनके द्वारा अधिक स्पष्ट रूप से होती है। फिर, चूँकि मुहावरों में भाषा, व्याकरण और तर्क-सम्बन्धी इस प्रकार के बहुत-से अव्यवस्थित प्रयोग चलते हैं, इसलिए किसी भी भाषा में उनका अपना महत्त्व रहता है। इसके अतिरिक्त चूँकि (१) मुहावरों के कारण भाषा में बहुत-से शब्दों की तो बचत हो ही जाती है, साधारण प्रयोगों की अपेक्षा उनका प्रभाव भी एक कुशल धनुर्धर के तीर की तरह सीधा और बड़ी तेजी के साथ अपने लक्ष्य-बिन्दु को बींधनेवाला होता है। (२) मानव-जीवन की बहुमुखी अनुभूतियों के सजीव चित्र होने के कारण वे मानव-कल्पना के बहुत ज्यादा उपयुक्त होते हैं। (३) मुहावरेदार प्रयोग आम तौर से सुन्दर, संक्षिप्त, स्पष्ट और ओजपूर्ण होते हैं, जिसके कारण किसी वक्तव्य का आकर्षण और सौन्दर्य बहुत अधिक बढ़ जाता है। (४) मुहावरों के कारण पुनरावृत्ति एक प्रकार से असम्भव हो जाती है, इसलिए यदि कोई व्यक्ति उन्हें भाषा का सार, भाषा की रूह अथवा भाषा की आत्मा कहता है, तो उसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं समझनी चाहिए। वास्तव में मुहावरे भाषा के बड़े-से-बड़े महत्त्व-पूर्ण अंग होते ही हैं। उनका बहिष्कार करके संसार की कोई भी भाषा अधिक दिनों तक नहीं टिक सकती।

मुहावरों का विषय इतना विशद और गम्भीर है कि कोई भी एक, दो, तीन, चार की तरह एक साँस में इनकी विशेषताओं को गिनकर नहीं रख सकता। जितनी ही गहराई से इनका अध्ययन

१. 'बोलचाल' की भूमिका, पृ० २११।

किया जाता है, उतनी ही नई-नई विशेषताएँ इनकी मालूम होती जाती हैं। किसी भाषा में इनके इतना महत्त्वशाली होने के कारण भी इसलिए एक, दो या चार नहीं हैं, बहुत-से हैं। सौ बातों की एक बात हम तो यह कहते हैं कि यदि इनका कोई महत्त्व न होता, तो डॉक्टर जॉन्सन-जैसे प्रख्यात विद्वानों के, गँवारू, अशिष्ट और अनियमित कहकर इनकी इतनी भर्त्सना और छीछालेदर करने पर ये कभी सिर नहीं उठा सकते थे। किन्तु इसके ठीक प्रतिकूल हम देखते हैं कि ये लोक-भाषा से आगे बढ़कर हमारे गद्य, पद्य और प्रामाणिक कोष और व्याकरणों तक पहुँच गये हैं। क्या इनका यह अद्भुत साहस और पराक्रम ही इनके महत्त्व का सबूत नहीं है।

मुहावरों के महत्त्व के सम्बन्ध में अबतक जो कुछ कहा गया है, उसका निचोड़ यदि कोई हमसे माँगे, तो हम यही कहेंगे कि भाषा यदि अच्छे-अच्छे पदार्थों से सम्पन्न एक सुसज्जित और सुव्यवस्थित घर है, तो मुहावरे उसका प्रकाश हैं। जिस प्रकार लाखों की सम्पत्ति से भरा हुआ घर भी प्रकाश के अभाव में अन्धकूप-सा ही लगता है, उसी प्रकार ऊँचे-से-ऊँचे भावों से युक्त शुद्ध संस्कृतमयी भाषा भी मुहावरेदारी के अभाव में बच्चों की अस्पष्टता, घें-घें-पें-पें जैसी ही लगती है। सुननेवाले को न तो उससे कोई सुख ही मिलता है और न उसका कुछ और लाभ ही होता है। यही कारण है कि प्रत्येक बोली और भाषा में मुहावरों का होना एक सबसे बड़ा गुण समझा जाता है।

साहित्यिक भाषा में मुहावरों का प्रयोग

हॉवेल (Howell) कहता है कि "हरेक भाषा में उसके अपने कुछ मुहावरे और प्रचलित पद होते हैं।" ड्राइडन भी इसी मत का समर्थन करते हुए लिखता है कि "प्रत्येक भाषा में विद्या के विभिन्न अंगों से सम्बन्धित पदों में उनके मुहावरे ही अधिक होते हैं।" हमारे रामदहिनजी इन दोनों के कथनों की कुछ और अधिक व्याख्या करके हिन्दी-मुहावरों के उदाहरण देते हुए इसी बात को इस प्रकार समझाते हैं—

"भाषा-मात्र में मुहावरे होते हैं, चाहे वे प्राचीन हों वा नवीन। हमारे प्राचीन गद्य-पद्य के ग्रन्थों में भी मुहावरों की बड़ी भरमार है। आदिगद्यकार लल्लूजी लाल के प्रेम-सागर में मुहावरे भरे हुए हैं। जैसे—'अवधि की आस किये प्राण मुट्ठी में लिये हैं', 'अपने मुँह अपनी बड़ाई मारता है', 'तू किस नींद सोता है', 'जहाँ तेरी सींग समाय तहाँ जा', 'नामलेवा पानीदेवा कोई न रहा', 'अपना-सा मुँह लिये लौट जा', 'हमारे जी में जी आया' आदि।"[१]

"प्राचीन पद्य-ग्रन्थों में भी मुहावरे पाये जाते हैं—जैसे 'अंग छुअत हौं तेरो'; 'जनि दिनकर कुल होसि कुठारी'; 'बाल न बाँका करि सकै जो जग बैरी होय'; 'देखि लट्टू ह्वै जाति' आदि। इसी को हमलोग शुद्ध हिन्दी में कहते हैं कि वह उसपर लट्टू हुआ जाता है। 'फूली आँगन में फिरै अंगना अंग न समात।' इसका गद्य में भी व्यवहार होता है।"

"मुहावरे जैसे सुलेखकों की शुद्ध हिन्दी में पाये जाते हैं, वैसे ही देश-देश की गँवारी बोली में भी पाये जाते हैं। मैं भोजपुरी बोली का एक गीत लिखता हूँ, देखिए उसमें कितने मुहावरे आये हैं—'भारत मा गरिआवत बा देख (हुइ) 'करिखहवा' मोहि मारत बा। 'आँगन कइलों' पानी भरि लइलों ताहु उपर ठुठुआवत बा। अस सौतिन के माने माई, हमरा 'बदई बनावत बा। ना हम चोरनी ना हम चटनी, झुठ अछरंग लगावत बा।' 'सात गदहा के मार मोहि मारे सुअर अस घिसिआवत बा।' देखइ रे मोरे पार परोसिन गाइ पर गदहा चढ़ावत बा।' पिअवा गँवार

१. हिन्दी-मुहावरे : भूमिका पृ० १२-१३।

कहल नहीं बूझत 'पनियां में आगि लगावत वा'। हे अम्बिका तुम बूझ करहु अब अचरा उठाई गोहरावत वा।"[1]

हॉविल और ड्राइडन जैसा कहते हैं, "संसार की कोई भी भाषा या बोली ऐसी नहीं है, जिसे मुहावरों की चाट न हो।" ड्राइडन के समय से, जैसा स्मिथ लिखता है, "अँगरेजी भाषा में मुहावरों की संख्या बहुत ज्यादा बढ़ गई है, खास तौर से उन्नीसवीं शताब्दी में हमारे शब्द-कोष के इस (मुहावरों के) क्षेत्र में बहुत अधिक वृद्धि हुई है।"

"शेक्सपीयर के प्रयोगों का एक बहुत बड़ा भाग अधिकांश इसी शताब्दी में हमारी भाषा का अंग बना है। स्कॉट के उपन्यासों को पढ़कर स्काच-भाषा के भी बहुत-से मुहावरे हम जान गये। अमरीका से, जबकि वहाँ परिस्थिति बदल रही थी और भाषा स्वातंत्र्य की धूम थी, कुछ नये और भड़कीले मुहावरे अटलांटिक पार करके आये। पिछली शताब्दी की कोष-रचना इसलिए भी प्रसिद्ध है कि उसमें क्रियाओं के वे मुहावरेदार प्रयोग भी बहुत बड़ी संख्या में शामिल हैं, जो उस समय बड़े जोरों के साथ प्रचलित थे।"[2]

अप्रचलित और लुप्तप्राय मुहावरों तक को फिर से अपनाने तथा देश-विदेश, जहाँ से भी मिलें, सब जगह के मुहावरों को अपनी रचनाओं और कोषों में सम्मिलित करने की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति का भी एक अर्थ है। हम समझते हैं, यह अठारहवीं शताब्दी में मुहावरों के विरुद्ध लगाये हुए बन्धनों की प्रतिक्रिया ही है। किसी आदमी को जबरदस्ती भूखा रखने पर जैसे मौका मिलते ही वह देशी-विदेशी अथवा ताजे-बासी की कुछ भी परवा न करते हुए जो कुछ भी उसके सामने आ जाता है, उसे ही दोनों हाथों से खाने को टूट पड़ता है, ठीक वैसे ही गिवन और डॉक्टर जॉन्सन इत्यादि के पंजे से मुक्त होते ही अँगरेजी भाषा-भाषी लोग मुहावरों पर टूट पड़े। वास्तव में यदि उन्हें मुहावरों की भूख न होती, तो वे इतनी जल्दी और भूखे बंगालियों की तरह इतनी तेजी से प्रचलित और अप्रचलित, देशी और विदेशी सब तरह के मुहावरों को अपनी भाषा में न भर लेते।

मुहावरों की जिस भूख का ऊपर जिक्र किया गया है, वह केवल अँगरेजी और अँगरेजों की ही भूख नहीं है। संसार की समस्त उन्नत और समृद्ध भाषाओं में से एक भी ऐसी नहीं है, जो आज मुहावरों के बिना जीवित रह सके। मुहावरों को भाषा के जीवन और प्राण कहने का अर्थ ही यह है कि उनके द्वारा उसका पोषण, विकास और वृद्धि होती है। भाषा के विकास पर विचार करते हुए हमने देखा है कि जिस भाषा में जितनी ही मनुष्य के सामान्य विचारों को अधिक-से-अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त करने की सामर्थ्य होती है, वह उतनी ही अधिक उन्नत और समृद्ध समझी जाती है। फिर आज तो संसार की प्रायः प्रत्येक उन्नत भाषा के सामने, मुख्य प्रश्न है, इन सामान्य विचारों को व्यक्त करने के लिए ऐसे उपयुक्त उपकरणों को ढूँढ़ निकालना, जो स्वच्छ काँच की तरह पारदर्शी हों। हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने छोटी-छोटी कहानी और कथानकों के द्वारा इस प्रकार के गूढ़ और तात्त्विक विचारों को व्यक्त करने का एक रास्ता निकाला था। वे लोग गल्पकार तो थे नहीं, जो केवल कहानी और कथानकों के लिए इतने कागज काले करते। उन्हें तो पूरे समाज की सेवा करनी थी, उसे दर्शनों का दर्शन कराना था, इसलिए अमूर्त्त को मूर्त्त के द्वारा सब पर समान रूप से व्यक्त करने के लिए ही उन्होंने इन लोक-प्रचलित कहानियों को अपने तात्त्विक विवेचन का माध्यम बनाया था। लोक-प्रचलित कहानियों अथवा

१. हिन्दी-मुहावरे : भूमिका, पृ० १२-१३।
२. डब्ल्यू० आई०, पृ० २७४-७५।

अन्य प्रयोगों को माध्यम बनाने में एक सबसे बड़ा लाभ यह है कि किसी बात के जितने मुँह उतने अर्थ होने का भय नहीं रहता। स्टुअर्ट चेज ने सन् १६३७ ई० में अँगरेजी का एक शब्द; फ़ासिज्म; लेकर लगभग सौ आदमियों से अलग-अलग पूछा कि वे इस शब्द से क्या समझते हैं। लोगों को आश्चर्य होगा कि सबने बिलकुल अलग-अलग उत्तर दिये। इसके प्रतिकूल यदि किसी मुहावरे को लेकर इस प्रकार प्रश्न किये जाते, तो हमें विश्वास है, सबका बिलकुल नहीं तो लगभग एक-सा ही उत्तर मिलता। कारण यह है कि मुहावरे किसी भाषा के ऐसे लोक-प्रचलित सिक्के होते हैं, जिनका मूल्य पहले से ही सबको मालूम रहता है। किसी भी उन्नत भाषा के साहित्य का अध्ययन करने से, इसलिए, पता चल सकता है कि किसी भी साहित्यिक भाषा में मुहावरों (सुप्रयुक्त मुहावरों) की कितनी आवश्यकता रहती है। आदिम जातियों से लेकर अबतक, भाषा की प्रवृत्ति में जितने और जिस प्रकार के परिवर्त्तन हुए हैं, उन्हें देखने से भी यही सिद्ध होता है कि ज्यों ज्यों भाषा का विकास होता है, वह व्यवस्थित होती जाती है, उसमें ज्ञात के द्वारा अज्ञात को व्यक्त करने की रुचि और शक्ति दोनों बढ़ती जाती हैं। फिर, चूँकि साहित्यिक भाषा तो किसी भाषा का सर्वोन्नत और सर्वोत्कृष्ट रूप होता है, इसलिए उसमें मुहावरों के प्रयोग विना कैसे काम चल सकता है।

खड़ीबोली में मुहावरों का प्रयोग

हिन्दी-संसार मुहावरों की उपयोगिता से अनभिज्ञ नहीं है। पीछे जैसा बताया गया है, चिरकाल से हमारे गद्य और पद्य दोनों में उनका प्रयोग होता आया है। यदि, जैसा हमारा विचार है, खुसरू को खड़ीबोली का पहिला कवि मानें, तो हम कह सकते हैं कि खुसरू ने कहीं भी मुहावरों की उपेक्षा नहीं की है। हाँ, 'हरिऔध' जी की तरह केवल मुहावरों के लिए ही उसने कोई चौपदे या दोपदे खड़े नहीं किये हैं। खुसरू को छोड़कर यदि हम लल्लूजी लाल, सदलमिश्र और इंशा अल्ला खाँ के समय से भी खड़ी बोली के साहित्य को उलटें, तो हमें पूर्ण विश्वास है, मुहावरों की उपेक्षा करने के खड़ी बोली पर लगाये हुए सब लांछन निराधार सिद्ध हो जायँ। खड़ी बोली के कवियों के सम्बन्ध में हम मान सकते हैं कि उनमें से अनेक की यथोचित दृष्टि अभी मुहावरों के प्रयोग पर नहीं पड़ी है। किन्तु हमें सिक्के के दूसरे पहलू को भी देखना चाहिए, जहाँ एक ओर 'पंत', 'प्रसाद' और 'निराला' हैं, जिनमें केवल कभी-कभी यहाँ-वहाँ मुहावरों के कुछ टिमटिममाते हुए दीपक लोगों को मिलते हैं 'वहाँ 'हरिऔध' जी तथा 'बालकृष्ण भट्ट,' 'प्रतापनरायण मिश्र' और 'प्रेमचन्द' जी भी हैं, जिन्होंने यत्र-तत्र प्रायः सर्वत्र मुहावरों की दीपावलियाँ ही सजा दी हैं। 'हरिऔध' जी के 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' और 'बोलचाल' आदि थोड़े-से ग्रन्थों में ही इतने मुहावरे आ गये हैं कि यदि एक बनिये की दृष्टि से हिसाब लगाया जाय, तो अमीर खुसरू से लेकर अबतक मय सूद के सारी कमी पूरी हो जाय। यही हाल गद्य का है। यदि प्रेमचन्दजी की 'आजाद कथा' को ही लें, तो अबतक की सारी कमी भी उसका पलड़ा बराबर न कर सकेगी। कहने का अभिप्राय यह है कि रोजमर्रा अथवा बोलचाल और मुहावरेदारी की इस सूक्ष्मता और गहनता को 'यह सम्भव है कि हिन्दी के लेखक और कवियों ने उतनी बारीकी से न समझा हो', जितना उर्दू या किसी अन्य भाषा के लेखक और कवियों ने समझा है। यह भी माना जा सकता है कि खड़ीबोली के कुछ कवि और लेखक इस विषय में निरपेक्ष और असावधान हैं, किन्तु यह कहना कि खड़ीबोली ने मुहावरों की उपेक्षा की है, धूल डालकर सूर्य को छिपाने-जैसा प्रयत्न है। नीचे मुहावरेदार भाषा के कुछ नमूने देते हैं, जिनसे मुहावरों के प्रति खड़ी बोली की रुचि का अच्छा पता चल जाता है। देखिए—

"किन्तु आज ही अभी लौटकर फिर हो आई।
कैसे यह साहस की मन में बात समाई।"
"जो मैं हूँ चाहता वही जब मिला नहीं है।
तब लौटा लो व्यर्थ बात जो अभी कही है।" —प्रसाद

रोटियों के हैं जिन्हें लाले पड़े,
सुध उन्हीं की चाहिए लेना हमें।
जो पराया माल चट करते नहीं.
चाहिए चुटकी उन्हें देना हमें। —हरिऔध

प्रेमी ही को प्रेम क्या, बनिये का व्यापार।
तराजू बाट से बंधा, रजत कनक का प्यार॥ —निशंक

"दफ्तर में काम करते हैं। लोग समझते होंगे, ये तो हेड क्लर्क या दूसरी ५० या ६० की बाबूगिरी की असामी पर है। इनकी बड़े आराम और चैन से कटती है। यहाँ बाबू साहेब को जो झौंझट है वह उनका जी ही जानता है। दफ्तर में १० से ४ तक काम की झौंझट, बात, बात में सर दफ्तर साहेब की झिड़की और फटकार का डर। घर में आये फिर भी वही पिसौनी। एरिअर ब्रॉट-अप करते-करते फुचड़ा निकल जाता है। पेनशन के दिन भी पूरे न हो पाये, बीच ही में हरये नमः बोल गये। न झौंझट से गला छुटा न एक घड़ी की स्वच्छन्दता मिली।"—पं० बालकृष्ण भट्ट, (हिन्दी-प्रदीप, १८८१)।

"अतः हम इस दंत-कथा को केवल इतने उपदेश पर समाप्त करते हैं कि आज हमारे देश के दिन गिरे हुए हैं। अतः हमें योग्य है कि जैसे बत्तीस दाँतों के बीच जीभ रहती है, वैसे रहें और अपने देश की भलाई के लिये किसी के आगे दाँतों में तिनका दबाने तक में लज्जित न हों, तथा यह भी ध्यान रखें कि हर दुनियादार की बातें विश्वास योग्य नहीं हैं। हाथी के दाँत खाने के और होते हैं, दिखाने के और।"—पं० प्रतापनारायण मिश्र।

"इस घटना को हुए एक महीना बीत गया। अलगू जब अपने बैल के दाम माँगते तब साहू और सहुआइन दोनों ही झल्लाये हुए कुत्तों की तरह चढ़ बैठते और अंड-बंड बकने लगते। वाह! यहाँ तो सारे जन्म की कमाई लुट गई, सत्यानाश हो गया, इन्हें दामों की पड़ी है। मुर्दा बैल दिया था, उसपर दाम माँगने चले हैं। आँखों में धूल झोंक दी, सत्यानाशी बैल गले बाँध दिया। हमें निरा पोंगा ही समझ लिया। हम भी बनिये के बच्चे हैं, ऐसेबुद्धू कहीं और होंगे। पहले जाकर किसी गढ़हे में मुँह धो आओ तब दाम लेना, न जी मानता हो तो हमारा बैल खोल ले जाओ। महीना भर के बदले दो महीना जोत लो। और क्या लोगे।—प्रेमचन्द।

खड़ी बोली के गद्य और पद्य के जितने नमूने ऊपर दिये गये हैं, उनके द्वारा हम केवल इतना ही सिद्ध करना चाहते हैं कि खड़ीबोली मुहावरों की उपेक्षा नहीं करती है, उसमें मुहावरों की जीवन-दायिनी वह चिनगारी मौजूद है, जिसे यदि सुलेखक और सुकवि चाहें, तो आज भी प्रज्वलित कर सकते हैं। हम आत्म-प्रशंसा से कहीं अधिक आत्म-दोष-दर्शन को पसन्द करते हैं। दादू का 'निन्दक मेरा पर उपकारी' यह अटल विश्वास ही 'कोटि कर्म के कल्मष काटै' की अनुभूति में व्यक्त होता है। इसलिए जीवन के किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो, हमें अपने आलोचकों का सदैव स्वागत ही करना चाहिए। अपने दोषों को सबके सामने खड़े होकर स्वीकार करने से उल्टे हमारी शक्ति बढ़ती है। अतएव अब हम मुहावरा-सम्बन्धी, खड़ीबोली के विरुद्ध की हुई समस्त आलोचनाओं का स्वागत करते हुए यह स्वीकार करते हैं कि खड़ी बोली के कवियों की (विशेष

रूप से यथोचित दृष्टि अभी मुहावरों के प्रयोग पर नहीं पड़ी है। 'हरिऔध' जी की कुछ रचनाओं को, जो लिखी ही मुहावरों के लिए गई हैं, छोड़कर मुहावरों का इतनी सावधानी और सतर्कता से और कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ है, जिसके आधार पर खम ठोककर यह कहा जा सके कि बोल-चाल अथवा रोजमर्रा और मुहावरों पर जितना उर्दू-कवियों का अधिकार है, जितनी बारीकी से उन्होंने इनपर विचार किया है अथवा जिस सुन्दरता से वे इनका प्रयोग अपनी कविताओं में करते हैं, खड़ी बोली के कवियों को भी इनपर उतना ही अधिकार है अथवा ये भी उतनी ही बारीकी और योग्यता से उनका प्रयोग करना जानते हैं। किन्तु आचार्य 'हरिऔध' जी के साथ ही हम भी विश्वास करते हैं और कहते हैं, "यह उपेक्षा बहुत दिन न रहेगी। यदि खड़ी बोली की कविता को मधुर बनाना हमें इष्ट है, यदि कर्कश शब्दावलि से उसको बचाना है, यदि बोलचाल के रंग में उसे रँगना है, यदि उसको प्रसादमयी, सम्पन्न, एवं हृदयहारिणी बनाने की इच्छा है, तो हमको मुहावरों का आदर करना होगा और उनके उचित प्रयोग से उसकी शोभा बढ़ानी होगी। साथ ही रोजमर्रा अथवा बोलचाल का भी पूर्ण ध्यान रखना होगा। मुहावरों के उपेक्षित होने पर भाषा में उतना विप्लव नहीं होता, जितना उस समय होता है, जब बोलचाल का प्रयोग करने में असावधानी की जाती है। मुहावरों का अशुद्ध प्रयोग भाषा को सदोष बनाता है, किन्तु रोजमर्रा अथवा बोलचाल का व्यवहार उसके मूल पर ही कुठाराघात करता है। वह भाषा का जीवन है, उसके नाश से भाषा स्वयं नष्ट हो जाती है। बोलचाल का ठीक प्रयोग न होना वाक्य को दुर्बोध बनाता है।"[१]

खड़ी बोली का गद्य, मुहावरेदारी में पद्य से थोड़ा आगे जरूर रहा है, किन्तु इधर कुछ दिनों से हम देखते हैं कि हमारे लेखकों की और खास तौर से पत्रकारों की प्रवृत्ति, नये मुहावरे गढ़ने अथवा अँगरेजी मुहावरों के अच्छे-बुरे सब तरह के अनुवाद अपनी रचनाओं भरने की ओर बढ़ रही है। ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ अच्छी नहीं हैं। दोनों ही के कारण साहित्य का प्रसाद गुण नष्ट हो रहा है और उसकी सरलता और सुबोधता, क्लिष्टता और गूढ़ता परिवर्त्तित होती जा रही है। नये मुहावरों के गढ़ने में भी चूँकि दूसरी भाषाओं के मुहावरों की थोड़ी-बहुत छाप रहती है, इसलिए पहिले हम अँगरेजी मुहावरों के अनुवाद की ही चर्चा करेंगे।

अनुवाद करना बुरा नहीं है। किसी भाषा और साहित्य के पूर्ण रूप से पुष्ट और उन्नत हो चुकने पर भी उसमें अनुवादों की आवश्यकता बनी रहती है, उनसे भी किसी भाषा के साहित्य की काफी श्री-वृद्धि होती है। आज अँगरेजी भाषा का साहित्य अपनी मौलिक रचनाओं के कारण तो इतना उन्नत और आदरणीय है ही, अपने अनुवादों के कारण भी वह कम विशाल और सम्मान्य नहीं है। यह बात जरूर है कि हरेक अनुवाद में ऐसी योग्यता नहीं होती। जिस अनुवाद को पढ़कर मूल का ठीक-ठीक आशय और भाव तो समझ में आ जाय, किन्तु यह पता न चले कि किस भाषा से अनुवाद किया गया है, वास्तव में वही सच्चा अनुवाद है। ऐसे अनुवाद के लिए दो बातों पर ध्यान देना बहुत आवश्यक है। एक तो मूल की सब बातें उसमें, ज्यों-की-त्यों आ जायें, न कोई छूटे और न कोई बिगड़े। दूसरे, वह कहीं से अनुवाद न जान पड़े। सब प्रकार से मूल का ही आनन्द दे। इन दोनों में से पहिला गुण तो जिस भाषा से अनुवाद किया जाता है, उसके ठीक-ठीक ज्ञान पर निर्भर है और दूसरा जिस भाषा में अनुवाद किया जाता है, उसकी प्रकृति या स्वरूप के उत्कृष्ट ज्ञान पर। जहाँ इन दोनों में किसी बात की कमी होती है, वही अनुवाद अशुद्ध अस्पष्ट या भद्दा होता है।

१. 'बोलचाल' की भूमिका, पृ० २१०।

अनुवाद की क्रिया का साधारण परिचय देने के बाद अब हम अँगरेजी मुहावरों के अनुवाद की बात लेते हैं। मुहावरों के अनुवाद के सम्बन्ध में हम पहिले ही दूसरे अध्याय में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं। अँगरेजी मुहावरों का जैसा स्मिथ स्वयं लिखता है, "यदि किसी विदेशी भाषा में अनुवाद किया जाय, तो वह उसी के समान किसी मुहावरे के रूप में होना चाहिए। अनुवाद करके देखना मुहावरे की अच्छी कसौटी है।[1]" भावानुवाद से भी कहीं-कहीं काम चल जाता है, किन्तु सर्वत्र नहीं। एक भाषा के मुहावरों का दूसरी भाषा में अनुवाद करना, इसलिए, हँसी-खेल नहीं है, उसके लिए साधारण अनुवादों से कहीं अधिक दोनों भाषाओं की प्रकृति और प्रवृत्ति के उत्कृष्ट ज्ञान की जरूरत है। अँगरेजी का एक मुहावरा है 'व्हाइट लाई' (white lie)। हिन्दी और उर्दू में बिलकुल इसी अर्थ में 'सफेद झूठ' चल पड़ा है। इन दोनों मुहावरों को देखकर यही कहना पड़ता है कि इस अनुवादक को न तो अँगरेजी भाषा का ही ज्ञान था और न अपनी का ही। सफेद झूठ तो खैर, चल गया, किन्तु उन असंख्य मुहावरों का क्या होगा, जो नये-नये भावों के भूखे आज के भावुक लेखक और पत्रकार नित्य-प्रति भुस की तरह अपनी रचनाओं में भरते चले जा रहे हैं। अभी कुछ दिन पहिले खाना खाते समय एक बाबू साहब ने बड़ी नम्रता दिखाते हुए कहा, "अब मेरे पेट में कोई कमरा नहीं है।" कमरा अँगरेजी के रूप का अनुवाद अवश्य है, किन्तु जिस मुहावरे में इसका प्रयोग होता है, वहाँ इसका अर्थ केवल 'जगह' से है। अँगरेजी के मुहावरों के जो अनुवाद आज निकल रहे हैं, वे इसलिए और भी भोंडे, भद्दे और कभी-कभी तो बिलकुल गलत ही होते हैं कि अनुवादकों को न तो अँगरेजी का अच्छा ज्ञान होता है और न अपनी भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति का ही। यही कारण है कि 'डेड लेटर ऑफिस' के लिए 'मुर्दा पत्रों का घर'; 'स्टिल चाइल्ड' के लिए 'शान्त बच्चा; 'हाऊस ब्रेकर' के लिए 'मकान तोड़नेवाला' तथा 'उंडेड वैनिटी' का 'आहत गर्व' इत्यादि इस प्रकार के अर्थहीन प्रयोगों की हमारे यहाँ धूम मची हुई है। अँगरेजी का एक मुहावरा है—to be patient with, जिसका अर्थ होता है, 'किसी के उद्धत या अनुचित व्यवहार पर भी शान्त रहना, गम खाना या तरह दे जाना आदि। अँगरेजी के एक वाक्य में इसका प्रयोग been patient with के रूप में हुआ था। हिन्दी के एक पत्रकार ने विना समझे-बूझे उस वाक्य का इस प्रकार अनुवाद करके रख दिया था। 'राष्ट्रपति रूजवेल्ट श्रीविन्स्टेन चर्चिल के मरीज़ हैं'। यहाँ Patient शब्द को देखकर ही पूरे पद का अनुवाद कर दिया गया है। इस प्रकार के अनुवादों से मूल का तो कोई सिर-पैर समझ में नहीं ही आता, अपनी भाषा की प्रकृति और प्रवृत्ति के भी सर्वथा विरुद्ध होने के कारण स्वयं हिन्दी या उर्दू जाननेवाले लोग भी इनसे झमेले में पड़ जाते हैं। इसलिए हमारी तो यही राय है कि जहाँ तक सम्भव हो, अँगरेजी मुहावरों का शाब्दिक अनुवाद बिलकुल किया ही न जाये। जहाँ आवश्यक ही हो जाय, वहाँ भावानुवाद से काम चलायें अथवा उसी अर्थ में अपने यहाँ चलनेवाला कोई मुहावरा खोज कर रखें। जैसे अँगरेजी का एक मुहावरा है—'Coal back to new castle' इसी अर्थ में हमारे यहाँ 'उल्टे बाँस बरेली को' मुहावरे का प्रयोग होता है। इस प्रकार के अनुवादों से मूल भाषा के भाव भी ठीक तरह से व्यक्त हो जाते हैं और अपनी भाषा की संस्कृति और सरणी का भी कहीं विरोध नहीं होता।

अपनी इच्छा के अनुसार नये-नये मुहावरे गढ़ने की प्रवृत्ति भी जैसा पीछे हमने संकेत किया है, खूब बढ़ रही है। पूछने पर प्रायः यह तर्क किया जाता है कि क्या रोजमर्रा या बोलचाल के शब्द परिमित होते हैं? क्या उनमें वृद्धि नहीं हो सकती? क्या नये मुहावरे नहीं बनते? यदि बनते हैं, तो फिर कोई किसी का विरोध क्यों करे? 'हरिऔध' जी इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए लिखते हैं—

---

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० २७६-७७।

"बोलचाल के शब्द परिमित नहीं होते, उनकी वृद्धि होती रहती है, किन्तु उनके वर्द्धन का अधिकार सर्वसाधारण को प्राप्त है, किसी कवि अथवा ग्रन्थकार को नहीं। जो कवि बोलचाल का अनुसरण करना चाहते हैं, वे जनता के वाग्विलास पर दृष्टि रखते हैं, उसीसे प्रचलित भाषा की शिक्षा पाते हैं। जनता की भाषा कवि की कविता की अनुगामिनी नहीं होती। कवि स्वतन्त्र भाषा का प्रयोग कर सकता है और अपनी रचना को मनोभिलषित शब्दमाला से सजा सकता है। किन्तु उसकी भाषा जितनी ही बोलचाल से दूर होगी, उतनी ही उसकी रचना दुर्बोध और जटिल हो जायगी और उतनी ही उसकी लोकप्रियता में न्यूनता होगी। कविता का उद्देश्य मनोविनोद ही नहीं है, समाज-उत्थान, देश-सेवा, लोकशिक्षण, परोपकार और सदाचार-शिक्षा आदि भी है। जिस कविता में प्रसाद गुण नहीं, उससे ठीक-ठीक मनोविनोद भी नहीं हो सकता, इसलिए यथार्थ कविता तभी होगी, जब उसमें बोलचाल का रंग होगा। जो स्वान्तःसुखाय का राग गाते हैं, उनसे मुझको इतना ही कहना है कि इस विचार में घोर स्वार्थपरता की बू आती है। किसी के विशेष विचार पर किसी को अधिकार नहीं, किन्तु कविता के उद्देश्यों पर दृष्टि रख कर ही कोई मीमांसा की जा सकती है। उक्त बातों के औचित्य का ध्यान करके मेरा विचार है कि कविता की भाषा को रोजमर्रा का त्याग न करना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर हम कुछ स्वतन्त्रता ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु बोलचाल की भाषा से बहुत दूर पड़ जाना अथवा उसका अधिकांश त्याग समुचित नहीं।"[1]

'हरिऔध' जी ने अपने इस वक्तव्य में कवि, कविता और कवि की भाषा पर ही विशेष जोर दिया है, इसमें कोई सन्देह नहीं; किन्तु फिर भी इसका यह अर्थ नहीं कि गद्य और गद्य की भाषा पर उनका ध्यान ही नहीं था। गद्य में पद्य की अपेक्षा भाषा-सम्बन्धी बहुत ही कम स्वतन्त्रता लेखक को रहती है। पद्य में तो वे शब्द, जैसा 'हरिऔध' जी ने कहा है, "आवश्यकता पड़ने पर हम कुछ स्वतन्त्रता ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु गद्य में तो हम बोलचाल से जौ भर भी इधर-उधर नहीं जा सकते। इसलिए जो बातें कविता या कवि की भाषा के सम्बन्ध में कही गई हैं, वे ही बातें गद्य की भाषा पर भी लागू होती हैं। गद्य के लिए रोजमर्रा या बोलचाल के सर्वथा अनुकूल होना और भी अधिक आवश्यक है। बोलचाल के बाद मुहावरों का नम्बर आता है। पीछे बोल-चाल के शब्दों के सम्बन्ध में कहा गया है कि उन्हें बढ़ाने का अधिकार केवल सर्व साधारण को ही होता है, किसी विशिष्ट व्यक्ति को नहीं। इससे स्पष्ट है कि मुहावरे तो कोई भी व्यक्ति कभी अपने-आप गढ़ ही नहीं सकता। नये मुहावरे भाषा में आते हैं, किन्तु लोकप्रियता की मुहर लग जाने के बाद। पहिले भी जैसा किसी स्थान पर हम लिख चुके हैं, मुहावरे पहिले सर्वसाधारण से ही भाषा में आते हैं, भाषा से सर्वसाधारण में नहीं जाते। कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के विशिष्ट पद अवश्य कभी-कभी अपनी लोकप्रियता के कारण मुहावरे बन जाते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मुझे, तुझे, सब किसी को मुहावरे गढ़ने का अधिकार है। 'हरिऔध' जी भी दूसरे शब्दों में यही बात कहते हैं—

"मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि नये मुहावरे बनते हैं और एक भाषा से अनूदित होकर दूसरी भाषा में भी आते हैं······तथापि इतना निवेदन करूँगा कि नियमित बातें ही ग्राह्य होती हैं, और उचित आविष्कार ही यथाकाल आदृत होते हैं। सबके स्वत्व समान नहीं होते, योग्यता भी सबकी एक-सी नहीं होती, सब आविष्कारक नहीं होते और न सभी के शिर पर महत्ता की पगड़ी बाँधी जाती है। सब कार्यों में अधिकारी भेद होता है, और जिस विषय में जिसका पूर्ण अधिकार स्वीकृत होता है, उस विषय में उसी की प्रणाली स्वीकृत और गृहीत होती है।"[2] स्मिथ लिखता है—

१. 'बोलचाल' की भूमिका, पृ० २१९-२०।

२. वही, पृ० २२०।

"किसी नये शब्द का आविष्कार करना सम्भव है, कविता में एक ऐसी पंक्ति लिख देना भी सम्भव है, जो सर्वसाधारण में प्रचलित हो जाय, किन्तु भाषा में एक नया मुहावरा जोड़ने के लिए ऐसी शक्ति की आवश्यकता पड़ती है, जो केवल शेक्सपीयर में ही थी अथवा जो शेक्सपीयर और उन सहस्रों निरक्षर स्त्री-पुरुषों में थी, जिनके नाम भी कभी किसी को मालूम न होंगे।"[1]

शेक्सपीयर के प्रयोगों के सम्बन्ध में वह आगे लिखता है—

"बाइबिल के बाद यदि सबसे अधिक अँगरेजी मुहावरे किसी साहित्य में मिल सकते हैं, तो वे शेक्सपीयर के नाटकों में ही।"[2] जैसा डाक्टर ब्रैंडले ने कहा है, यह गौरव शेक्सपीयर को ही प्राप्त है कि उसके शब्द तथा अन्य प्रयोग "हमारे साहित्य और बोलचाल दोनों की भाषा में आकर एकरूप हो गये हैं।"

स्मिथ ने यह भी लिखा है—

"शेक्सपीयर की रचनाओं से जितनी उक्तियाँ और मुहावरे हमें मिले हैं, उनसे यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि वे सब-के-सब शेक्सपीयर के ही बनाये हुए हैं। उसके नाटकों में बोलचाल की भाषा के कितने ही चिह्न मिलते हैं। 'Out of point' मुहावरा, जिसका 'हैमलेट' में शेक्सपीयर ने प्रयोग किया है, तीन सौ वर्ष पहिले भी प्रयुक्त हो चुका है।"[3]

ऊपर के अवतरणों से यही सिद्ध होता है कि शेक्सपीयर-जैसे महाकवि और विद्वान् लेखक की रचनाओं में जो मुहावरे मिलते हैं, उनके सम्बन्ध में भी यह नहीं कहा जा सकता कि उन सबका आविष्कार स्वयं उन्होंने ही किया है; क्योंकि उनमें कितने ही ऐसे हैं, जिनका प्रयोग उनसे सैकड़ों वर्ष पूर्व की पुस्तकों में हुआ है। इसका अर्थ है कि मान्य विद्वानों के नाम से जो मुहावरे प्रसिद्ध हो जाते हैं, उनमें से भी कितनों का आधार बोलचाल ही होती है। खोज करने पर उनमें से बहुतों का पता पहिले की रचनाओं में भी चल सकता है। वास्तव में मुहावरों का विषय भी बहुत जटिल है, आसानी से कोई उन्हें नहीं बना सकता, केवल कल्पना के आधार पर गढ़े हुए वाक्यों को आग्रहपूर्वक मुहावरा नहीं बनाया जा सकता। मुहावरों की सृष्टि इसलिए या तो बोलचाल के आधार पर हो सकती है और या शेक्सपीयर-जैसे प्रतिभाशाली कवि और लेखकों के द्वारा। सब लोग यह काम नहीं कर सकते। उर्दू में भी कुछ लोगों ने मनमाने मुहावरे गढ़कर चलाने का प्रयत्न किया, किन्तु उपयुक्त न होने के कारण थोड़े ही दिनों में उनका बिलकुल लोप हो गया। मौलाना आज़ाद 'आबे हयात' के पृष्ठ ४५ पर इस सम्बन्ध में लिखते हैं—

"बाज़ फ़ारसी के मुहावरे या उनके तरजुमे ऐसे थे कि मीर व मिरज़ा वगैरह उस्तादों ने उन्हें लिया मगर मुत आखिरीन ने छोड़ दिया।"

फारसी के जिन मुहावरों के विषय में आज़ाद साहब ने लिखा है, वे निरे कपोल-कल्पित नहीं थे, एक सम्पन्न भाषा के आधार पर उनकी सृष्टि हुई थी, फिर भी वे आगे न चल सके। तब जिनका आधार ही कोरी कल्पना है, उनकी क्या कहें। फारसी में 'बू करदन' एक मुहावरा है, जिसका प्रयोग सूँघने के अर्थ में होता है। सौदा लिखते हैं—

देखूँ न कभी गुल को तेरे मुँह के मैं होते।
संबुल के सिवा जुल्फ तेरी बू न करूँ मैं,
मीर साहब ने इसको यों बाँधा है:
गुल को महबूब हम कयास किया,
फर्क निकला बहुत जो बास किया।

---

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० २६१।

२. वही, पृ० २२७।

३. वही, पृ० २२६।

पहिले शेर में 'बू करना' और दूसरे में 'बास किया' से सूँघना अर्थ लिया गया है। दोनों ही प्रयोग भ्रामक हैं। यही कारण है कि फ़ारसी का आधार होते हुए भी इनका लोप हो गया। यही बात उन मुहावरों के सम्बन्ध में और भी जोर के साथ कही जा सकती है, जो निरे मनगढ़न्त होते हैं। जो मुहावरे किसी अत्यन्त प्रचलित अथवा बोलचाल की भाषा से मिलते-जुलते और उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं होते, वे क्षणिक होते हैं और बुलबुलों के समान बनते-बिगड़ते रहते हैं। किसी एक या दो लेखकों को छोड़कर सर्वसाधारण की दृष्टि उनपर नहीं जाती।

मुहावरे भाषा का शृंगार होते हैं। नये-नये मुहावरों से उसे और अधिक सुन्दर और सम्पन्न करना किसे अच्छा नहीं लगेगा। कौन नहीं चाहता कि उसकी भाषा सर्वोन्नत, सर्वोत्कृष्ट और सबसे सरल हो। किन्तु अहम्मन्यता और उच्छृंखलता का कोई भी समर्थन नहीं कर सकता। कोई भी साहित्य-मर्मज्ञ और भाषा का हित चाहनेवाला यह सहन न करेगा कि शृंगार के बहाने उसका अंग-प्रत्यंग ही छिन्न-भिन्न कर दिया जाय। अतएव मुहावरों का अंग-भंग करना अथवा उनको बिगाड़कर लिखना ठीक नहीं है। इससे उनके समझने में कठिनाई होती है और अर्थ-व्यक्ति भी ठीक नहीं होती। नये मुहावरों की कल्पना अथवा आविष्कार अनुचित नहीं है, पहिले से ही बराबर ऐसे उद्योग होते रहे हैं। किन्तु इसका अधिकार सबको नहीं। समस्त नियमों पर ध्यान रखकर ही ऐसा करना चाहिए। नहीं तो असफलता तो मिलती ही है, जग-हँसाई भी कम नहीं होती। अपना ज्ञान छाँटने अथवा पांडित्य दिखाने अथवा वाहवाही की कामना रखनेवाले अयोग्य पुरुषों द्वारा जो मुहावरों के निर्माण का उद्योग किया जाता है, न तो उसमें कृतकार्यता होती है और न कीर्त्ति ही मिलती है। इसलिए इस प्रकार के दुस्साहस से बचना चाहिए। ऐसे लोगों को कौन बुद्धिमान् कहेगा, जिनका परिश्रम तो व्यर्थ जाता ही है। साथ में बदनामी भी गले पड़ती है।

मुहावरे और लोकोक्तियाँ

भाषा की दृष्टि से मुहावरे और लोकोक्तियाँ दोनों ही बड़े महत्त्व की चीज हैं। दोनों से ही भाषा के सौन्दर्य में वृद्धि होती है। मौलाना हाली ने मुहावरा और बोलचाल का सम्बन्ध बताते हुए लिखा है—"मुहावरा को शेर में ऐसा समझना चाहिए जैसे कोई खूबसूरत अज़ो (सुन्दर अंग) बदन इन्सान में। और रोजमर्रा को ऐसा जानना चाहिए जैसे तनासुब आज़ा (अवयव संगठन) बदन इन्सान में।" हाली साहब के इस रूपक में यदि लोकोक्तियों को भी जोड़ लिया जाय, तो कहा जा सकता है कि लोकोक्तियों को ऐसा समझना चाहिए जैसे कोई खूबसूरत लिबास बदन इन्सान पर। वास्तव में सौन्दर्य के लिए अंग-सौन्दर्य और अवयव-संगठन की जितनी आवश्यकता है, उससे कम लिबास के सौन्दर्य की भी नहीं है। अतएव भाषा के सम्बन्ध में विचार करते हुए लोकोक्तियों पर विचार करना भी इतना ही आवश्यक है, जितना मुहावरों पर।

इस निबन्ध का मुख्य विषय अथवा प्रधान उद्देश्य चूँकि मुहावरों का अध्ययन करना है, इसलिए लोकोक्तियों पर स्वतन्त्र रूप से अधिक विचार न करके हम मुहावरे और लोकोक्ति में क्या सम्बन्ध है, उसी पर अधिक जोर देंगे। लोकोक्तियों का विषय बहुत बड़ा है, जिस पर कितनी ही दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। लोकोक्ति से क्या अभिप्राय है, क्यों और कैसे उसकी सृष्टि होती है ? लोकोक्तियों के प्रकार, ग्राम्य-गीत और लोकोक्तियाँ, लोकोक्तियों का तात्त्विक विवेचन इत्यादि-इत्यादि इसके अनेक पक्षों पर पाश्चात्य विद्वानों ने काफी विचार किया भी है। लोकोक्तियों का अध्ययन मुहावरों के अध्ययन से कम रुचिकर अथवा कम उपयोगी नहीं है। एक पूर्व-वैदिक-

कालीन सन्त, आधुनिक उपन्यासकार, एलिज़ाबेथ-काल का इतिहासकार और ऐजेंटों की एक फ़र्म सब की ही रुचि इनमें है।

आदिकाल में इस लोक-प्रसिद्ध ज्ञान की प्राप्ति के मुख्य दो ही साधन थे। एक वह अपढ़ और अशिष्ट किसान या मज़दूर, जिसकी उक्तियों में उसकी अनुभूतियों का निचोड़ भरा रहता है; जैसे 'धोबी का कुत्ता घर का रहा न घाट का', 'कमजोर की जोरू सबकी भाभी', 'जिसकी लाठी उसी की भैंस', 'जिस हँड़िया में खाना उसी में छेद करना', 'खेत खाय गदहा मार खाय जुलाहा' इत्यादि-इत्यादि। दूसरे, वह बुद्धिमान् अथवा प्रामाणिक पुरुष, जो गम्भीर चिन्तन के पश्चात् कुछ कहता था और जिसकी उक्तियों को साधारण जन-समूह, जिसके पास मौलिक सत्यों पर विचार करने के लिए न समय है और न बुद्धि, जीवनव्यापी सिद्धान्तों के रूप में ग्रहण करता था। 'नौ नकद न तेरह उधार' हिन्दी की एक कहावत है, जिसका अर्थ है उधार से नकद थोड़ा भी मिलना अच्छा है। एक साधारण व्यक्ति हाथ में आये हुए नौ रुपयों को ही अपना समझता था और उन्हें सुरक्षित रखने के उपाय सोचता रहता था। जब एक बार उसे यह अनुभव हो जाता था कि उधार के तेरह क्या तेरह सौ भी समय पड़ने पर उसकी उतनी सहायता नहीं कर सकते, जितनी अच्छी तरह से गठियाकर रखे हुए नकद के नौ करते हैं। वह अपने इस दृढ़ विश्वास को नित्य-प्रति के जीवन में काम आनेवाली सहज बुद्धि का एक अंग बना लेता था, जो बाप से बेटे के और बेटे से पोते के पास चलता हुआ पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता जाता था। सब लोग उसे याद रखना अच्छा समझते थे। समय पाकर उनकी यह उक्ति ही लोकप्रिय होकर लोकक्ति बन जाती थी। अच्छे-अच्छे लेखक भी उसी स्पष्ट अर्थ में अथवा किसी लाक्षणिक अर्थ में उसका प्रयोग करने लगते थे। इसी प्रकार जब शिक्षा का प्रचार बढ़ गया, बुद्धिमान् और प्रामाणिक पुरुषों की उक्तियों का पुस्तकों में व्यवहार होने लगा, जो धीरे-धीरे पुस्तकों से पत्रों में और पत्रों से लोगों की बोलचाल में आते-आते अन्त में कहावतों के रूप में जनता में चल पड़ी। दोनों तरह से बोलचाल की उक्तियों का नीचे से ऊपर की ओर अथवा ऊपर से नीचे की ओर समान क्रम से विकास होता है। साहित्य को यदि अनादिकाल से बराबर घूमता हुआ एक चक्र मानें, तो कहना होगा कि एक प्रकार की लोकोक्तियाँ उसके ऊपर क्रमशः चढ़ाई जाती हैं और दूसरी उसके ऊपर से उतारकर फेंक दी जाती हैं।

लोकोक्तियों के सम्बन्ध में दूसरी किसी बात की चर्चा न करके अब हम भिन्न-भिन्न विद्वानों ने उनकी जो व्याख्याएँ की हैं अथवा उनके सम्बन्ध में कुछ विशेषज्ञों की जो राय है, उनका थोड़ा-बहुत विवेचन करके अपने मूल विषय लोकोक्ति और मुहावरों के सम्बन्ध पर आ जायेंगे। हमें विश्वास है, हमारे इतना करने से लोकोक्ति के अन्य सब अंगों पर भी थोड़ा-बहुत प्रकाश अवश्य पड़ेगा। अलग-अलग विद्वान् लोकोक्तियों के सम्बन्ध में क्या कहते हैं, देखिए—

लोकोक्तियाँ, "संक्षिप्त और शुद्ध होने के कारण प्राचीन दर्शन के विध्वंस और विनाश से बचे हुए अवशेष हैं।" अस्तु; "वे संक्षिप्त वाक्य, जिनमें सत्रों की तरह आदि पुरुषों ने अपनी अनुभूतियों को भर दिया है।"—एग्रीकोला (Agricola)।

"वे लोक-प्रसिद्ध और लोक-प्रचलित उक्तियाँ, जिनकी एक विलक्षण ढंग से रचना हुई हो।"
—इरेसमस (Erasmus)।

"भाषा के वे तीव्र प्रयोग, जो व्यापार और व्यवहार की गुत्थियों को काटकर तह तक पहुँच जाते हैं।"—बेकन।

'बुद्धिमानों के कटाक्ष' ('facula prudentum')—हर्बर्ट।

'पांडित्य के चिह्न'—डिजरेली।

'वे छोटे वाक्य, जिनमें लम्बे अनुभव का सार हो।'—सरवेण्टस (Cervants)

'वे संक्षिप्त वाक्य, जिनको लोग प्रायः दोहराया करते हैं।'—डॉ० जॉन्सन।
'जनता की आवाज या जनवाणी।'—हॉवेल (Howell)।
'केन्द्रित विचारों की तीव्र अभिव्यक्ति।'—टुपर (Tupper)।
'एक की उक्ति अनेक का ज्ञान।' -अर्ल रसल (Earl Russel)।
'यथार्थ लोकोक्तियाँ कंघी के छोटे तेज और चमकदार दाँतों के समान होती हैं।'
आर्चबिशप ट्रेंच (Archbishop Trench) कहता है—

"लोकोक्ति बिना वक्ता की उक्ति है, संक्षिप्त, अर्थपूर्ण और रोचक होती है। यह थोड़े-से शब्दों में सजा हुआ बृहद् ज्ञान है (गागर में सागर है) इत्यादि-इत्यादि। किन्तु इन सबके अतिरिक्त यह सम्पन्नता और समृद्धि की द्योतक भी है।"

'कभी-कभी स्थानिक रीति-रिवाज़ और कहानियाँ भी लोकोक्तियाँ बन जाती हैं।'

'लोकोक्तियाँ जनता की यथार्थ भाषा में होती हैं, उनमें उसका प्रचलित और व्यावहारिक तत्त्वज्ञान रहता है।"—काश्मीरी लोकोक्ति और कहावत-कोष।

'लोकोक्तियों में किसी युग अथवा राष्ट्र का प्रचलित और व्यावहारिक ज्ञान रहता है।'
—फ्लेमिंग (Fleming)

"लोकोक्तियाँ यथार्थ लोक-भाषा सिखाती हैं और मूल-निवासियों के मन की, अबतक छिपी हुई, भावनाओं पर प्रकाश डालती हैं।"—जॉन बीम्स।

लोकोक्तियों के सम्बन्ध में ऊपर जितने विद्वानों के मत दिये गये हैं, एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी उनमें से कोई गलत नहीं है। वास्तव में लोकोक्तियों में यह सब गुण होते हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने डाक्टर जॉन्सन की व्याख्या को अधिक पसन्द किया है; क्योंकि ऊपर और जितनी भी व्याख्याएँ की गई हैं, उन सबमें डॉक्टर जॉन्सन की व्याख्या सत्य के अधिक निकट मालूम होती है; क्योंकि इसमें, जिसे हम लोकोक्ति की सर्वप्रधान विशेषता मानते हैं, उसी से उसका वर्णन किया गया है। हमारी समझ में लोकोक्ति को, जैसा हमारे शास्त्रकारों ने माना है, "लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते" भाषा का एक अलंकार मानना ही अधिक उपयुक्त है। ऊपर दी हुई किसी भी व्याख्या को लेकर भाषा की दृष्टि से जब हम विचार करते हैं, तब हमें लगता है कि लोकोक्तियों से भाषा अलंकृत अवश्य होती है। इसलिए यदि भाषा का एक अलंकार मानकर उनकी व्याख्या की जाय, तो उसमें उनकी और सब विशेषताएँ भी आ जायेंगी। लोकोक्तियों पर तो अभी हमारे यहाँ कुछ काम हुआ ही नहीं है, गोरखपुर के श्रीपोद्दारजी ने एक बार हमें लिखा था कि वह लोकोक्तियों पर कुछ लिख रहे हैं; बाद में लिखा या नहीं, हम नहीं जानते। हमारे यहाँ लोकोक्तियों का संग्रह तो कई लोगों ने किया है, किन्तु पाश्चात्य विद्वानों की तरह उनका विवेचनात्मक अध्ययन अभीतक किसी ने नहीं किया है। लोकोक्तियों के मूल इतिहास और उपयोगिता इत्यादि पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डालने के लिए, अतएव, अब हम कतिपय पाश्चात्य विद्वानों के मत नीचे देते हैं। देखिए—

डिजरेली कहता है—"लोकोक्तियाँ प्राचीनतम पुस्तकों से भी अधिक प्राचीन हैं। घर की बूढ़ी औरतें, बहुत पहिले जबकि उनकी भाषा में लेखन-कला का आरम्भ भी नहीं हुआ था, चूल्हे के सामने बैठकर जिन कहावतों का प्रयोग करती थीं, उनका अध्ययन करने से पता चलता है कि वे पुरानी कथाओं और भद्दे एवं अश्लील मुहावरों से भी पुरानी हैं। "इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन काल में आचार-विचार ही नहीं, बहुत-से उद्योग-धन्धों तक की शिक्षा लोकोक्तियों के द्वारा मिल जाती थी। हँसते ही घर बसता है, 'हँसे तो हँसिए अड़े तो अड़िए', 'सबके दाता राम', 'सात पाँच की लाठी एक का बोझ', 'सोना-चाँदी आग में ही परखे जाते हैं', 'सोने में सुहागा होना,'

'हर्रा या हींग लगा न फिटकरी रंग चोखा' इत्यादि इसी प्रकार के प्रयोग हैं। आर्य लोग प्रायः कंठस्थ करके परम्परा-प्राप्त ज्ञान की रक्षा किया करते थे। उसी के अनुसार लोकोक्तियाँ भी ओठों-ओठों पर ही इस ज्ञान को पीढ़ियों तक सुरक्षित रखती हैं। कालान्तर से इनके प्रथम रचयिता सन्त का नाम तो लोग भूल जाते हैं, किन्तु इनमें भरा हुआ जो ज्ञान और शिक्षा है, वह बराबर सुरक्षित रहती है। जिन लोकोक्तियों के द्वारा हमने विचार करना तथा विरोध में बोलना आदि सीखा है, एक समय, जबकि अनुमति की अपेक्षा प्रमाण को और नवीनता की अपेक्षा अनुभव को श्रेष्ठ मानते थे, ये मर्यादा और अनुशासन के ऐसे नियमों के समान समझी जाती थीं, जिनका कोई विरोध ही नहीं कर सकता था। पिता की कहावतें पुत्र की बपौती हो जाती थीं। घर की स्त्रियाँ घरेलू काम-धन्धों और किसान-मजदूर अपने-अपने कामों से प्राप्त अनुभूतियों को लोकोक्तियों के रूप में संक्षिप्त करके व्यक्त करते हैं। इस प्रकार बचपन से जिन सैकड़ों-हजारों कहावतों को हम सुनते और बोलते आ रहे हैं, पीढ़ियों से निरन्तर नीचे उतरती चली आ रही हैं। उनकी भाषा इतनी स्पष्ट होती है कि सदियों में भी उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

मुहावरों की तरह बहुत-सी लोकोक्तियाँ भी ऐसी हैं, जो एक ही साथ भिन्न-भिन्न देशों में चलती रहती हैं, समान विचार की अभिव्यक्ति के लिए समान कल्पना का उपयोग होता है। अँगरेजी में एक कहावत है—'To carry coal to new castle', दूसरी भाषाओं में भी इसी प्रकार की लोकोक्तियाँ हैं—जैसे, 'To send fine to norvey' या 'उल्टे बाँस बरेली को' या 'जीरा बकिरमान'। इन कहावतों को देखकर यह भी कहा जा सकता है कि किसी भी भाषा की क्यों न हो, उनका रचियता कौन था अथवा वे किसके मस्तिष्क की उपज हैं, इन सब बातों की कोई छाप, कोई चिह्न उनमें बाकी नहीं रहता। ऐसी परिस्थिति में बीसों देशों में एक साथ ही प्रचलित लोकोक्तियों के सम्बन्ध में यह निर्णय करना कि वे किस देश की हैं, किसकी नहीं, बहुत कठिन है।

हैण्डरसन की पुस्तक 'स्काटिश प्रोवर्ब्स' की भूमिका लिखते हुए सन् १८३२ में मदरवेल (Motherwell) ने लिखा है—

"शिक्षा के द्वारा जिस व्यक्ति की स्मरण-शक्ति खूब बढ़ गई है और जिसका अपनी भाषा के वैभव पर पूर्ण अधिकार है, वह अपने विचारों को अपने ही शब्दों में व्यक्त करता है। जब उसे किसी ऐसे पदार्थ का वर्णन करना होता है, जो उसकी दृष्टि में नहीं है, तब वह अमूर्त्त सिद्धान्त की ओर ताकता है। इसके विपरीत एक अभद्र व्यक्ति उन लोक-प्रचलित कहावतों का उपयोग करता है, जो नित्य-प्रति के प्रयोग और परम्परा से उसे मिली हैं, और जब उसे कोई ऐसी बात कहनी होती है जिसकी पुष्टि होनी चाहिए, तब वह उसे लोकोक्तियों से जकड़ देता है।"

मदरवेल के इन शब्दों में अठारहवीं शताब्दी के 'विशुद्धतावाद' की झलक है। गिबन और डॉक्टर जॉन्सन का प्रभाव उस समय इतना अधिक था कि सन् १९४१ ई० में लार्ड चेस्टरफील्ड अपने लड़के को समझाते हुए कहता है,—"शिष्ट व्यक्ति लोकोक्तियों और अश्लील कहावतों का सहारा कभी नहीं लेते। इनका प्रयोग बुरी और नीच संगति का द्योतक है।" मुहावरों की तरह इतना विरोध होते हुए भी लोकोक्तियों का प्रचार खत्म नहीं हुआ। 'फ्लोरियोज फर्स्ट एण्ड सेकेण्ड फ्रूट्स' में आया है, 'निस्सन्देह लोकोक्तियाँ अब भी चलती रहीं।' साहित्यिक और शिष्ट आचरणवाले व्यक्ति उनपर नाक-भौं सिकोड़ते रहे, किन्तु वे लोक-प्रसिद्ध बपौती के रूप में चल पड़ी थीं और साहित्य तथा परम्परागत बोलियों में घुल-मिल गई थीं। अबतक जो कुछ कहा गया है, उसका निचोड़ यही है कि लोकोक्तियों का जन्म मुहावरों की तरह अधिकांश किसान, मजदूर और दूसरे व्यवहार-कुशल व्यक्तियों के द्वारा ही हुआ है।

अपनी उपयोगिता और उपादेयता के कारण ही सब प्रकार के विरोधों को पार करते हुए वे आज संसार के कोने-कोने में सर्वसाधारण के बीच इतनी अधिक फैली हुई हैं। लार्ड चेस्टरटन जैसे अनेक विरोधियों के होते हुए भी यही कारण है कि ऊँचे से-ऊँचे पदवाले व्यक्तियों ने भी किसी युग में कभी उनके प्रयोग की निन्दा नहीं की।

वास्तव में जैसा पहिले ही हम संकेत कर चुके हैं, लोकोक्तियों का यह विषय बहुत बड़ा है, इसके लिए एक स्वतन्त्र निबन्ध की आवश्यकता है, अकेले पाश्चात्य विद्वानों ने इस सम्बन्ध में जितना लिख दिया है, उसका शतांश भी हम यहाँ नहीं दे सकते। मुहावरों के साथ इनका सम्बन्ध होने के कारण चूँकि इनके विषय में भी दो शब्द कहना आवश्यक था, इसलिए विषय की गम्भीरता को ध्यान में रखते हुए कहा जाय, तो वास्तव में दो ही शब्दों में हमें इनका परिचय देना पड़ा है। जो लोग इनका कुछ अधिक अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि कम-से-कम जितनी पुस्तकों के नाम हमने अपनी सहायक ग्रन्थों की सूची में दिये हैं, उन्हें तो पढ़ ही जायँ। उन्हें पढ़ने के बाद हमारा विश्वास है, हिन्दी-लोकोक्तियों का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करने में बड़ी सहायता मिलेगी।

लोकोक्ति और मुहावरों में अन्तर

मुहावरों और लोकोक्तियों का अन्तर समझने में लोग प्रायः भूल करते हैं। हमारे मित्रों ने कितनी ही बार हमारी बातों पर आश्चर्य प्रकट करते हुए प्रश्न किये हैं—तो क्या लोकोक्ति और मुहावरे दो चीज़ हैं? क्या वे एक ही चीज़ के दो नाम नहीं हैं? इत्यादि-इत्यादि। वास्तव में अधिकांश लोग यह नहीं जानते कि लोकोक्ति और मुहावरे एक नहीं हैं, दोनों में भेद है, और काफी भेद है। जनसाधारण की कौन कहे, जब रामदहिन मिश्र-जैसे पारखी भी कहावत को ही मुहावरा कहनेवालों की चुनौती का जवाब न देकर उसे भी मुहावरा-सम्बन्धी एक मत मानने लगे। आपने मुहावरों के जो बारह लक्षण लिखाये हैं, उनमें तीसरा इस प्रकार है: "कोई-कोई कहावत को ही मुहावरा कहते हैं; जैसे—'नौ नगद न तेरह उधार', 'नौ की लकड़ी नब्बे खर्च' आदि।"

यह ठीक है कि मिश्रजी ने केवल दूसरे लोगों के मतों का ही उल्लेख मुहावरे के इन बारह लक्षणों में किया है। यह भी सत्य है कि उन्होंने इन विभिन्न मतों के सम्बन्ध में अपनी कोई विशेष राय नहीं दी है, किन्तु फिर भी ऐसे मत की गणना मुहावरे के लक्षणों में करने के दोष से वह सर्वथा मुक्त नहीं हो सकते। यदि वह यह समझते अथवा उनका यह दृढ़ विश्वास होता कि लोकोक्ति और मुहावरे दोनों भिन्न हैं, और दोनों के नियम अलग-अलग हैं, तो वह पहिले ही इस मत को एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देते। मिश्रजी का दृष्टान्त हमने उनकी टीका करने के उद्देश्य से नहीं लिया है। मिश्रजी तो वास्तव में उस बृहद् जनसमूह-रूपी खिचड़ी के एक चावल हैं, जो यह समझता है कि लोकोक्ति और मुहावरे दोनों एक ही हैं, उनके द्वारा हमें तो पूरी खिचड़ी का हाल लोगों को बताना है। स्मिथ ने भी बहुत डरते-दुबकते हुए-से एक जगह कुछ ऐसी ही बात कह डाली है। मुहावरों की प्रकृति के सम्बन्ध में वह लिखता है—

"कुछ लोकोक्तियाँ और लोक-प्रसिद्ध पद हमारी बोलचाल की भाषा में इतने घुल-मिल गये हैं कि शायद वे भी, मुहावरे की परिभाषा को बिना अधिक खींचे-ताने, अँगरेजी मुहावरे समझे जा सकते हैं।"[1]

ऐसी लोकोक्तियों के उन्होंने कुछ उदाहरण भी दिये हैं। जैसे—

Two heads are better than one.

---

१. डब्ल्यू० आई०, पृ० १७६।

शब्दार्थ : एक सिर से दो सिर अच्छे होते हैं।
भावार्थ : एक से दो की राय अच्छी होती है।
Where there is a will there is a way.
भावार्थ : जहाँ इच्छा होती है, रास्ता निकल आता है।
Where there is life there is hope.
भावार्थ : जबतक साँसा तबतक आशा।

स्मिथ ने उदाहरण-स्वरूप इस वर्ग में जितने मुहावरे दिये हैं, उनमें मुहावरों के लक्षण नहीं पाये जाते। हिन्दी और अँगरेजीवाले दोनों ही लोकोक्ति को समान रूप से एक अलग चीज मानते हैं, मुहावरों से उनके नियम बिलकुल भिन्न होते हैं। जेम्स ऐलन मरे ने अपनी पुस्तक 'हैण्डबुक ऑफ् प्रावर्ब्स एण्ड फैमिली मोटोज़' में 'लोकोक्ति क्या है', शीर्षक के अन्तर्गत लोकोक्ति का विश्लेषण करते हुए लिखा है—"कभी-कभी किसी 'पूर्ण परिचित पदार्थ की व्याख्या करना बड़ा कठिन हो जाता है। जैसे—maxim (स्वयंसिद्धि) या aphorism (सूत्र) को ही लें। कॉलरिज कहता है—"स्वयंसिद्धि, अनुभव के आधार पर निकाला हुआ परिणाम होती है।" सूत्र या सूक्तियाँ, एक संक्षिप्त सारपूर्ण वाक्य अथवा थोड़े-से शब्दों में व्यक्त एक सिद्धान्त होता है। "लोकोक्ति दोनों का पालन करती है। स्वयंसिद्धि सूत्र या सूक्ति से एक ही बात में भिन्न है। इस शब्द की व्युत्पत्ति का अध्ययन करने से कदाचित् सबसे अच्छा उत्तर मिल सकता है। लैटिन शब्द है प्रोवर्बियम (Proverbium) प्रो अग्रिम और वरवम् शब्द अथवा वह शब्द या उक्ति, जो दूसरी उक्तियों की अपेक्षा अधिक तत्परता से आगे बढ़ती है। ग्रीक Paroimion का अर्थ है 'लोकप्रिय उक्ति'। कॉलरिज की परिभाषा को सुनने के उपरान्त हम समझते हैं, कोई भी व्यक्ति यह नहीं कहेगा कि मुहावरे और लोकोक्ति एक ही चीज़ हैं। फिर स्वयं स्मिथ भी तो निश्चित रूप में यह नहीं कहता कि लोकोक्ति भी मुहावरा होती है। उनका उद्धृत वाक्य ही सन्दिग्ध है। "शायद वे भी, मुहावरों की परिभाषा को अधिक खींचे-ताने बिना अँगरेजी मुहावरे समझे जा सकते हैं।" उनके इस वाक्य से इतना तो स्पष्ट है ही कि ऐसी लोकोक्तियों और लोक-प्रसिद्ध पदों को वह, मुहावरे की परिभाषा को खींचे-ताने बिना असन्दिग्ध रूप से मुहावरा मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। स्थान-संकोच के कारण यहाँ हम अँगरेजी सिद्धान्त के अनुसार लोकोक्तियों की मीमांसा नहीं कर सकते, किन्तु फिर भी स्मिथ के इस वाक्य के आधार पर ही इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि अँगरेजी भाषा में भी मुहावरे की परिभाषा को खींचे ताने-बिना असन्दिग्ध भाव से किसी लोकोक्ति को मुहावरा नहीं कह सकते। दोनों में भिन्नता रहती ही है।

लोकोक्ति और मुहावरे में सबसे बड़ा अन्तर तो उनके शाब्दिक कलेवर का है। अँगरेजी और हिन्दी में प्रायः सर्वत्र लोकोक्ति को वाक्य और मुहावरे को खंड-वाक्य अथवा पद माना गया है। इससे स्पष्ट है कि लोकोक्ति मुहावरों की अपेक्षा अधिक शब्दोंवाली होती है अथवा लोकोक्ति और मुहावरे में सबसे पहिला या बुनियादी भेद वही है, जो एक वाक्य और खंड-वाक्य में होता है। वाक्य के साथ, रूप की दृष्टि से, व्याकरण का जैसा निकट सम्बन्ध होता है, अर्थ के विचार से वैसा ही न्याय-शास्त्र का भी उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। लोकोक्ति और मुहावरे के अन्तर के इस प्रश्न पर इसलिए व्याकरण और न्यायशास्त्र दोनों की दृष्टि से विचार करने पर ही न्याय हो सकता है। व्याकरण का मुख्य विषय वाक्य है, इसलिए वाक्य की दृष्टि से जब हम अपने यहाँ की लोकोक्तियों और मुहावरों की मीमांसा करते हैं, तब हमें एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता, जहाँ किसी लोकोक्ति या मुहावरे में वाक्य के नियमों का उल्लंघन हुआ हो। व्याकरण का नियम है कि वाक्य के काल, पुरुष, वचन इत्यादि एक प्रकार से स्थिर रहते हैं, उनका प्रयोग भी

स्वतन्त्र रूप से ही होता है, यही कारण है कि लोकोक्तियों के वाक्यों में कोई परिवर्त्तन नहीं होता, 'धोबी का कुत्ता घर का न घाट का' कहीं भी इसका प्रयोग करें, इसका रूप स्थिर ही रहता है; किन्तु इसके विपरीत 'आँख आना', 'पत्तल लगाना', 'बेड़ी कटना' इत्यादि मुहावरों के रूप जिन वाक्यों में इनका प्रयोग होता है, उनके अनुसार बदलते रहते हैं। राम की आँख आई है या आ गई है, बरात के लिए पत्तलें लगा दी हैं, परीक्षा समाप्त होते ही रवि की बेड़ियाँ कट गई हैं इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त मुहावरों को देखने से पता चलता है कि मुहावरों के रूप काल, पुरुष, वचन और व्याकरण के अन्य अपेक्षित नियमों के अनुसार यथासम्भव बदलते रहते हैं। प्रयोग की दृष्टि से भी मुहावरों को जिस प्रकार साधारण वाक्यों में भी विना किसी संकोच के डाल देते हैं, लोकोक्तियों को नहीं, उनके लिए विशेष वाक्यों की आवश्यकता होती है। 'हरिऔध' जी ने इसी बात को उदाहरणों के द्वारा इस प्रकार समझाया है—

"एक हिन्दी-मुहावरा है, मुँह बनाना'; धातु के समान व्याकरण के नियमानुसार इसके अनेक रूप बन सकते हैं; यथा, 'मुँह बनाया, मुँह बनाते हैं, मुँह बनावेंगे, मैं मुँह बनाऊँगा, उन्होंने मुँह बनाना छोड़ दिया, उसका मुँह बनता ही रहा आदि। कहावतों में यह बात नहीं पाई जाती। एक कहावत है, 'अंधी पीसे कुत्ते खायँ' जब रहेगा तब इसका यही रूप रहेगा, अन्तर होने पर वह कहावत न रह जायगी, उसके अर्थ-बोध में भी व्याघात होगा। किसी से कहिए, 'अंधी पीसती है कुत्ते खाते हैं' या यों कहिये 'अंधी पीसेगी कुत्ते खायेंगे' तो पहिले तो वह समझ ही न सकेगा कि आप क्या कहते हैं। यदि समझ जायगा, तो नाक-भौं सिकोड़ेगा और आपके प्रयोग पर हँसेगा। कारण यह है कि कहावतों का रूप निश्चित है और उसके शब्द प्रायः निश्चित रूप ही में बोले जाते हैं।

'मुँह बनाना' के जैसे अनेक रूप बन सकते हैं, उसी प्रकार विविध वाक्यों में उसका प्रयोग भी हो सकता है। किन्तु एक स्थिर वाक्य, 'अंधी पीसे कुत्ते खायँ' का प्रयोग किसी विशेष प्रकार के वाक्य के साथ ही होगा। यही बात प्रायः अन्य मुहावरों और कहावतों के लिए भी कही जा सकती है।"[१]

रूप-विचार अथवा व्याकरण की दृष्टि से दोनों के अन्तर की मीमांसा कर लेने के उपरान्त अब हम अर्थ-विचार अथवा न्यायशास्त्र की दृष्टि से उसका विवेचन करेंगे। न्यायशास्त्र का मुख्य विषय वाक्य नहीं, किन्तु अनुमान है, जिसके पूर्व उसमें, अर्थ को दृष्टि से, पदों और वाक्यों का विचार किया जाता है, न्यायशास्त्र के अनुसार प्रत्येक वाक्य में तीन बातें होनी चाहिए। दो पद और एक विधान-चिह्न। दोनों पदों को, क्रमशः उद्देश्य और विधेय तथा विधान-चिह्न को संयोजक कहते हैं। किसी भी वाक्य में इसलिए अर्थ की दृष्टि से उद्देश्य और विधेय का होना आवश्यक है। 'खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग बदलता है', 'अन्धे को नौते न दो ज़ने आये', 'नाचना जाने नहीं आँगन टेढ़ा', 'न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी' इत्यादि लोकोक्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोकोक्तियों में उद्देश्य और विधेय दोनों का पूर्ण विधान रहता है, उनका अर्थ समझने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती। इनके प्रतिकूल मुहावरों में चूँकि उद्देश्य और विधेय का कोई विधान नहीं होता, इसलिए जबतक किसी वाक्य में उनका प्रयोग न किया जाय, उनका अर्थ ठीक तरह से समझ में नहीं आ सकता। दाल में काला होना, नमक-मिर्च लगाना, गठबन्धन होना, नाक रगड़ना, ठोड़ी में हाथ डालना इत्यादि मुहावरों का जबतक अलग-अलग वाक्यों में प्रयोग नहीं होता, उनके स्वतन्त्र रूपों से यह पता नहीं चल सकता कि किसके विषय में क्या कहा गया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अर्थ की दृष्टि से लोकोक्तियाँ अपने में पूर्ण होती हैं, किन्तु मुहावरे नहीं; उन्हें दूसरे माध्यम की आवश्यकता

१. बोलचाल की भूमिका, पृ० १६८।

होती है। [दार्शनिक पदावली में कहें, तो मुहावरे किसी वाक्य के वे सूक्ष्म शरीर हैं, स्थूल शरीर के बिना जिनकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती और लोकोक्तियाँ, वाक्य-समाज (भाषा) के वे प्रामाणिक व्यक्ति हैं, जिनका व्यक्तित्व ही उनकी प्रामाणिकता का प्रमाण होता है, जहाँ कहीं और जिस किसी के पास जा बठे, उनकी तूती बोलने लगे।]

उपयोगिता की दृष्टि से भी लोकोक्ति और मुहावरे में काफी अन्तर है। मुहावरों का प्रयोग, जैसा पिछले अध्यायों में मुहावरों की विशेषता और उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए भी हमने बताया है, वाक्य के अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करके उसे साधारण वाक्यों से अधिक प्रभावशाली, समृद्ध और उत्कृष्ट एवं ओजपूर्ण बनाने के लिए होता है जबकि लोकोक्ति का प्रयोग प्रायः किसी बात के समर्थन और पुष्टीकरण अथवा विरोध और खंडन के लिए होता है। 'देवता कूच कर जाना' घबराने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। शेर को देखते ही राम घबरा गया; शेर को देखते ही राम के देवता कूच कर गये—इन दो वाक्यों में अर्थ की दृष्टि से कोई फर्क नहीं है, किन्तु फिर भी दूसरे वाक्य का सुननेवालों पर अधिक प्रभाव पड़ता है, उसके अर्थ में मुहावरे के प्रयोग से एक विशेष चमत्कार पैदा हो गया है। उसी प्रकार 'न होगा बाँस न बजेगी बाँसुरी' एक लोकोक्ति है, जिसका प्रयोग प्रायः किसी ऐसी बात के समर्थन में होता है, जिसका आशय किसी कार्य के कारण को अलग करना होता है; जैसे मालिक से तंग आये हुए किसी नौकर को नौकरी छोड़ देने की सलाह देते हुए कोई कहे—'नौकरी छोड़-छाड़कर अलग हो जाओ, न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।' 'ऊँची दूकान फीका पकवान', 'नाम बड़े दर्शन थोड़े', 'जो गरजते हैं बरसते नहीं', इत्यादि लोकोक्तियों का प्रयोग प्रायः किसी बात का विरोध या खंडन करने के लिए भी होता है। जैसे, किसी अयोग्य व्यक्ति की तारीफ का खंडन करने के लिए प्रायः 'ऊँची दूकान फीका पकवान' अथवा 'नाम बड़े दर्शन थोड़े', का प्रयोग किया जाता है।

लोकोक्तियाँ, जैसा कॉलरिज ने कहा है, स्वयंसिद्ध होती हैं। उनमें भूतकाल की अनुभूतिय का परिणाम और सिद्धान्त दोनों रहते हैं। इन दोनों में यदि कोई समानता है, तो वह केवल इतनी कि दोनों के अर्थ विलक्षण होते हैं, दोनों में ही व्यंजना की प्रधानता रहती है, दोनों का ही मुख्य उद्देश्य प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की अभिव्यंजना कराना है। दोनों की उत्पत्ति और विकास का क्रम भी बहुत-कुछ समान होता है।

लोकोक्ति और मुहावरों की भिन्नता के प्रश्न पर सिद्धान्त-रूप से विचार कर लेने के उपरान्त अब हम अन्य भाषाओं के कुछ मुहावरों और लोकोक्तियों को लेकर अबतक इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उसकी परीक्षा और पुष्टि करेंगे। हिन्दी के प्रामाणिक कवियों के भी इस प्रकार के कुछ उदाहरण देंगे।

संस्कृत का एक मुहावरा है, 'मुखमवलोकनम्'—इसका हिन्दी-रूपान्तर 'मुँह देखना' है। इसके संस्कृत में ही दो विभिन्न प्रयोग देखिए—

'कव्यमुखः चतुरकमुखम् अवलोकयति।'
'पिशितं भक्षयित्वा अधुना मन्मुखमवलोकयसि।'

संस्कृत-मुहावरों के कुछ विभिन्न प्रयोग और देखिए—मुखदर्शनम्।

"कथं सापत्न्यामित्राणां च मुखं दर्शयिष्यामि
भोः कृतघ्न मा मे त्वं स्वमुखं दर्शय।"—पञ्चतन्त्र।

'अरण्यरुदनम्' के तीन विभिन्न प्रयोग मिलते हैं—

'अरण्यरुदितोपमम्।' —पञ्चतन्त्र, पृष्ठ १८
'अरण्ये मया रुदितमासीत्।' —शकुन्तला-नाटक, पृष्ठ ६१

'अरण्यरुदितं कृतम्।' —कुवलयानन्द

संस्कृत की दो लोकोक्तियों के उदाहरण भी लीजिए।

१. हस्तकङ्कणे किं दर्पणे प्रेक्ष्यसे : हाथ कंगन को आरसी क्या।

२. शीर्षे सर्पो देशान्तरे वैद्यः।

संस्कृत-मुहावरों और लोकोक्तियों के जो उदाहरण ऊपर दिये हैं, उनसे भी यही सिद्ध होता है कि इन दोनों की परिवर्त्तनशीलता और स्थिरता में बड़ा अन्तर है। मुहावरों की तरह पद्यों में कहीं-कहीं लोकोक्तियों में भी थोड़ा परिवर्त्तन दिखाई पड़ता है। किन्तु यह परिवर्त्तन बहुत साधारण होता है, इसमें उनकी विशेषता बराबर सुरक्षित रहती है।

'हाथ के कंगन को कहा आरसी।'
'ऊँची दूकान की फीकी मिठाई।'

इन दोनों पद्यों में से पहिले में क्या के स्थान पर 'कहा' हो गया है, दूसरे में 'ऊँची दूकान फीका पकवान' कहावत के 'पकवान' के स्थान पर 'मिठाई' अनुप्रास के चक्कर में पड़कर हो गई है, और उसी सूत्र से फीका, फीकी बन गया। किन्तु यह परिवर्त्तन बहुत साधारण है। लोकोक्ति की विशेषता पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।

उर्दू के भी कुछ प्रयोग देखिए—

'अज़सरे चीज़ गुजश्तन' फारसी का एक मुहावरा है, जिसका भावार्थ है किसी चीज़ से किनारा कर लेना, गुजर जाना। इसके कई प्रयोग मिलते हैं—

ख़ोदा के वास्ते गुजरा मैं ऐसे जीने से। —सय्यद इंशा
पहले जबतक न दो आलम से गुजर जायेंगे। —जौक़
तू अपने शेवये ज़ोरो जफा से मत गुज़रे। —जौक
आपसे है गुज़र गये कब के। —दर्द

'अज़जां गुजश्तन' जान से गुजर जाना, इसके विभिन्न प्रयोग देखिए—

ऐसा न हो दिल दादा कोई जाँ से गुजर जाये।
अब जी से गुजर जाना कुछ काम नहीं रखता। —शैर
वहाँ जावे वही जो जान से जाये गुजर पहले। —जफर

उर्दू-कविता में प्रयुक्त हिन्दी-मुहावरों को देखिए—

'कलेजा थामना' को उर्दू वाले दिल थामना भी लिखते हैं। सर झुकाना, मुँह फेरना, आँखें बिछाना इत्यादि हिन्दी-मुहावरों का उर्दू वालों ने विभिन्न रूपों में इस प्रकार प्रयोग किया है—

दिले सितम ज़दा को हमने थाम थाम लिया।
दाग़ दिल को थामा उनका दामन थाम के।
बात करता हूँ कलेजा थाम के।
खुदा के आगे ख़िज़ालत से सर झुका के चले। —अनीस
अदना से जो सर झुकाये आला है वह —दबीर

दुश्मन के आगे सर न झुकेगा किसी तरह —दाग़

कोई उनसे कहे मुँह फेर कर क्यों क़त्ल करते हो। —आतिश

न फेरो उनसे मुँह आतिश जो कुछ दर पेश आ जाये।

पड़ा तीर दिल पर जो मुँह तूने फेरा। —अमीर

हाय मुँह फेर के ज़ालिम ने किया काम तमाम। —आसी

निगाहों की तरह वह शोख़ फिरता है जो महफिल में
कफे पां के तले महवे जमाल आँखें बिछाते हैं। —अमीर

आँखें बिछाये हम तो उदू की भी राह में,
पर क्या करें कि तू है हमारी निगाह में। —दाग़

हिन्दी-कविता में आये हुए 'उर लाये', लेना अथवा उर लावना, गलानि गिरना, रुख लिये रहना, चबाव करना, गरे परना, मुँह चढ़ाना इत्यादि हिन्दी-मुहावरों के कुछ प्रयोग देखिए—

राम लखन उर लाय लये हैं।

सनेह सों सो उर लाव लयो है। —गीतावली

जब सिय सहित बिलोकि नयन भरि राम लखन उर लैहैं —तुलसी

अंब अनुज गति लखि पवन भरतादि गलानि गरे हैं। —गीतावली

सुकृत संकट पर्‌यो जात गलानिन गल्यो

गरत गलानि जानि सनमानी सिख देखि —गीतावली

सासु जेठानिन सों दबती रहै लीने रहै रुख त्यों ननदी को

हरिचन्द तो दास सदा बिन मोल को बोलै सदा रुख तेरो लिये। —हरिश्चन्द्र

अब तो बदनाम भई ब्रज में घरहाई बचाव करौ तो करो।
जो सपनेहू मिलै नंदलाल तो सौ सुख में ए चबाव करैं··· —हरिश्चन्द्र

या मैं न और को दीख कछु सखि चूक हमारी हमारे गरे परी।

देखिबो हमारो तो हमारे गरे परिगो··· —हरिश्चन्द्र

रहै गरे परि रखिये तऊ हीय पर हार। —बिहारी

मुँह लाये मूँड़हि चढ़ी अंतहु अहिरिनि तोहि सूधी करियाई··· —तुलसी

मूँड़ चढ़ाये हूँ, रहे परो पीठ कचभार। —बिहारी

संस्कृत, उर्दू और हिन्दी के जितने उदाहरण अबतक दिये हैं, उनसे यह बात और भी पुष्ट हो जाती है कि मुहावरों का रूप प्रयोग के अनुसार सदा बदलता रहता है। अधिकांश मुहावरों के अंत में क्रिया-पद धातु-चिह्न के साथ मिलता है, इस कारण व्याकरण के नियमों के अनुसार उनके रूप बदलते रहते हैं। कहावतों में भी ऐसा होता है, किन्तु बहुत कम। अनेक महाकवियों और देश-काल के जाननेवाले लोकप्रिय लेखकों की कविताएँ और रचनाएँ भी, जैसा स्वयं डॉक्टर ब्रेडले ने कहा है, इतनी लोकप्रिय हो जाती हैं कि लोग उनका लोकोक्तियों की तरह प्रयोग करने

लगते हैं। आज भी पढ़े और बे-पढ़े प्रायः सभी लोग अपनी बात को पुष्ट करने के लिए अच्छे-अच्छे कवियों अथवा लेखकों के उद्धरण देने का प्रयत्न करते हैं। यही कारण है कि लोकोक्तियों में नान्त क्रियापद बहुत कम हैं। अब कुछ कहावतों के उदाहरण लीजिए—

आँख का अंधा गाँठ का पूरा, आधा तीतर आधा बटेर, इन तिलों तेल नहीं, तवे की तेरी घई की मेरी, मीठा-मीठा गप-गप, खट्टा-खट्टा-थू-थू, आँख के अन्धे नाम नैनसुख इत्यादि लोकोक्तियों के अन्त में क्रिया-पद नहीं हैं। ऐसी लोकोक्तियाँ भी हैं, जिनके अन्त में क्रियापद हैं। जैसे, चमड़ी जाय दमड़ी न जाय, धेले की हँड़िया गई कुत्ते की जात तो पहिचानी गई, आधी को छोड़ सारी को धावे, आधी रहे न सारी पावे, पेट खाय आँख लजाय इत्यादि।

नान्त (जिनके अन्त में न है) क्रियापदवाली लोकोक्तियाँ भी मिलती हैं, जिनका स्वरूप व्याकरण के अनुसार कभी-कभी बदलता है। प्रायः ऐसी ही कहावतों में मुहावरों का धोखा लगता है। ऐसी लोकोक्तियों के उदाहरण देते हैं—थोड़ा खाना अंग लगाना, लौंडी बनकर कमाना, बीबी बनकर खाना, सींग कटाकर बछड़ों में मिलना, जिस पत्तल में खाना, उसी में छेद करना, आदि।

लोकोक्ति और मुहावरे में एक यह भी अन्तर की बात है कि लोकोक्तियाँ सब-की-सब लोकोक्ति-अलंकार के अन्तर्गत आ जाती हैं, किन्तु मुहावरों के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है, वे लक्षणा और व्यंजना पर अवलम्बित होने के कारण किसी एक अलंकार में ही सीमित नहीं रहते, स्वभावोक्ति, ललित, गूढ़ोक्ति इत्यादि अलंकारों के अतिरिक्त उपमा, उत्प्रेक्षा, स्मरण, अनुमान, आक्षेप, अतिशयोक्ति आदि की भी मुहावरों में खूब भरमार रहती है।

लोकोक्ति-अलंकार के कुछ नमूने देखिए—'एक जो होय तो ज्ञान सिखाइये कूप ही में यहाँ भांग परी है'। 'तेरी तो हाँसी उने नहीं धीरज नौघरि भद्रा घरी में जरै घर'; 'इहाँ कोहड़ बतिया कोउ नाहिं'; 'का बरखा जब कृषी सुखानी'; 'घर-घर नाचै मूसर चन्द'; 'घर की खाँड़ खुरखुरी लागै बाहर का गुड़ मीठा'; 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' इत्यादि।

लोकोक्तियों के जितने प्रयोग ऊपर दिये गये हैं, वे सब लोकोक्ति-अलंकार ही माने जायँगे। इस प्रकार के पद्यों में यदि कोई दूसरा अलंकार मिलेगा भी, तो वह गौण समझा जायगा।

अब कुछ ऐसे मुहावरे देते हैं, जो अलंकारों की दृष्टि से अलग-अलग कोटि में आते हैं—

अत्युक्ति : आसमान के तारे तोड़ना, आग बोना, आँख से चिंगारी निकालना, आग बबूला होना, उँगली पर नचाना, खड़े बाल निगलना।

पदार्थावृत्ति दीपकः आठ-आठ आँसू रोना, बाल-बाल बचना।

स्वभावोक्ति : बाल खिचड़ी होना, आँख लाल होना, होठ काँपना, कलेजा धड़कना, झुर-झुरी आना, गोल-गोल बातें कहना आदि।

लोकोक्ति और मुहावरों का अन्तर बताने के लिए अबतक जो कहा गया है अथवा जितने उदाहरण दिये गये हैं, हमें विश्वास है, इस विषय का विशेष अध्ययन करनेवालों को उनसे अधिक नहीं, तो कम-से-कम चौराहे के मार्ग-दर्शक स्तम्भ के जैसी सहायता तो अवश्य मिल ही जायगी। हमारे यहाँ 'निन्यानबे के फेर में पड़ना' एक मुहावरा है। कहते हैं एक बार किसी व्यक्ति ने ९९) रु० अपने पड़ोसी के घर में डाल दिये। वह बेचारा जो अबतक मस्त रहता था, उन्हें सौ करने के चक्कर में पड़ गया, इसी तरह से मुहावरों के इस अपूर्ण अध्ययन को बेफिक्री से चैन की बंसी बजानेवाले अपने बेखबर साहित्यिकों के घर में डालकर हम भी उन्हें निन्यानबे के चक्कर में डालना चाहते हैं। यदि ९९) रु० जैसे मुहावरों की इस अपूर्ण थैली को पाकर एक व्यक्ति भी उसे पूरा करने के चक्कर में पड़ गया, तो हम समझेंगे कि सचमुच पहिले कभी ऐसा हुआ होगा।

उपसंहार

मुहावरों की उत्पत्ति, विकास और वृद्धि के मूल सिद्धान्तों का विशेष विवरण समाप्त हो चुका। यहाँ पर यदि संक्षिप्त और सूक्ष्म रूप में इनका सार देकर यह भी बता दिया जाय कि इस प्रबन्ध के द्वारा मुहावरों के क्षेत्र में कौन-सी नई और उपयोगी खोज की गई है तथा तत्संबंधी कौन-से ऐसे प्रसंग हैं, जिनपर आवश्यक होते हुए भी अपने कार्य-क्षेत्र के बाहर होने के कारण, हमने पूर्णरूप से विचार नहीं किया है अथवा जिन्हें हम आनेवाले जिज्ञासु अन्वेषकों के सामने सुझाव के रूप में रख सकते हैं, तो हमारा विश्वास है, इससे पाठकों को अतिशय लाभ होगा।

१

'मुहावरा' अरबी भाषा का शब्द है। इसका शुद्ध उच्चारण 'मुहावरा' है; महावरा, मुहावरा, महाविरा या मुहाव्वरा इत्यादि, जैसा कुछ लोग अज्ञानवश करते हैं, नहीं। उच्चारण और वर्ण-विन्यास की तरह इसकी व्याख्या भी अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से की है। पाश्चात्य और प्राच्य विद्वानों ने, अलग-अलग, मुहावरों के जितने लक्षण गिनाये हैं, संक्षेप में उन्हें इस प्रकार रखा जा सकता है—

१. किसी भाषा में प्रयुक्त वाग्वैचित्र्य।
२. किसी भाषा-विशेष की विलक्षणता, विभाषा।
३. किसी देश अथवा राष्ट्र की विलक्षण वाक्-पद्धति।
४. किसी भाषा के विशेष ढाँचे में ढला वाक्य अथवा वह वाक्य, जिसकी व्याकरण-सम्बन्धी रचना उसी के लिए विशिष्ट हो और जिसका अर्थ उसकी साधारण शब्द-योजना से न निकल सके।
५. वे वाक्यांश, जिनपर किसी भाषा अथवा सुलेखक के सिद्ध प्रयोग होने की मुहर हो, और जिसका अर्थ-व्याकरण और तर्क की दृष्टि से भिन्न हो।
६. किसी एक लेखक की व्यंजन-शैली का विशेष रूप अथवा वाग्वैचित्र्य।
७. पुरुष-विशेष का स्वभाव-वैचित्र्य।
८. भंगी-पूर्वक अर्थ-प्रकाशन का ढंग।
९. आलंकारिक भाषा ही मुहावरा है।

हिन्दी-मुहावरों का आकार-प्रकार, उत्पत्ति और तात्पर्यार्थ की दृष्टि से विश्लेषण करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुहावरे की अबतक जितनी भी व्याख्याएँ हुई हैं, उनमें कोई भी अपने में पूर्ण नहीं है। मुहावरे की अधिक-से-अधिक सर्वांगीण परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—प्रायः शारीरिक चेष्टाओं, अस्पष्ट ध्वनियों, कहानी और कहावतों अथवा भाषा के कतिपय विलक्षण प्रयोगों के अनुकरण या आधार पर निर्मित और अभिधेयार्थ से भिन्न कोई विशेष अर्थ देनेवाले किसी भाषा के गठे हुए रूढ़ वाक्य, वाक्यांश अथवा शब्द इत्यादि को मुहावरा कहते हैं। जैसे, हाथ-पैर मारना, सिर धुनना, हीं-हीं करना, गटागट निगल जाना, टेढ़ी खीर होना, अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना, दूध के जले होना, नौ की लकड़ी पर नब्बे खर्च करना, अंगारों पर लोटना, आग से खेलना इत्यादि।

संस्कृत तथा हिन्दी में इस शब्द के यथार्थ अर्थ का बोधक कोई शब्द नहीं है। प्रयुक्तता, वाग्रीति, वाग्धारा, भाषा-सम्प्रदाय, वाग्योग, वाक्पद्धति, वाग्व्यवहार, वाक्सम्प्रदाय, विशिष्ट स्वरूप, वाकप्रचार, वाक्वैचित्र्य और इष्ट प्रयोग आदि शब्द लोगों ने अपनी रचनाओं में इधर-उधर दिये हैं। श्रीरामचन्द्र वर्मा ने इसके लिए 'रूढ़ि' शब्द पसन्द किया है। वास्तव में संस्कृत में 'मुहावरा' के लिए कोई विशिष्ट संज्ञा है ही नहीं। संस्कृत में इनका कोई स्वतन्त्र वर्ग नहीं माना गया है, भिन्न-भिन्न अलंकारों और शब्द-शक्तियों के अन्तर्गत ही प्रायः इनकी गणना हो जाती है। फिर, जबकि मुहावरा शब्द हमारे यहाँ इतना अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध हो गया है कि हल जोतनेवाला एक गरीब किसान और चौदहों विद्याओं में पारंगत एक विद्वान् नागरिक दोनों ही उसे एक साथ और एक ही अर्थ में समझते हैं, तो उसकी जगह किसी दूसरे शब्द को रखने की आवश्यकता ही क्या है। हमारी राय में, इसलिए उर्दू, और हिन्दी दोनों के लिए 'मुहावरा' शब्द ही सर्वोपयुक्त संज्ञा है।

"प्रायः मुहावरों का प्रयोग एक वाक्य के समान होता है, संस्कृत में ऐसे वाक्यों को लक्षणा के अन्तर्गत माना है" तथा "जितने मुहावरे होते हैं, वे प्रायः व्यंजना-प्रधान होते हैं।" हरिऔध जी के इन दोनों वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि मुहावरों में लक्षणा और व्यंजना दोनों रहती हैं। रामचन्द्र वर्मा और दूसरे लोगों ने भी अपने-अपने ढंग से इसी मत का प्रतिपादन किया है। मुहावरों की दृष्टि से विचार करने पर जहाँ हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि मुहावरों में रूढ़ि लक्षणा और व्यंजना दोनों रहते हैं, वहाँ हमने यह भी देखा है कि मुहावरों में लक्षणा और व्यंजना का दर्शन किसी शब्द-विशेष में नहीं होता, पूरे मुहावरे के तात्पयार्थ से ही उनका बोध होता है। इसलिए तात्पर्याख्यवृत्ति ही मुहावरों का मूलाधार है। मुँह की खाना, सिर पर चढ़ना, दाँत तले उँगली दबाना, परों तले की जमीन खिसक जाना इत्यादि मुहावरों से जो व्यंग्यार्थ निकलता है, वह किसी एक शब्द के कारण नहीं, वरन् शब्दों के शृंखलित अर्थों अथवा वाक्य, खंड-वाक्य या वाक्यांश रूप इकाई, अर्थात् पूरे मुहावरे के अर्थ में रहता है। 'स्वर' अथवा 'काकु' के प्रभाव से भी मुहावरों का तात्पर्यार्थ बदल जाता है। इसलिए लक्षणा और व्यंजना की तरह स्वर या काकु-स्वर का भी मुहावरों में एक विशेष स्थान होता है।

"मुहावरों में अलंकारों की भी बड़ी भरमार देखी जाती है। उनमें उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, लोकोक्ति आदि अलंकार प्रायः रहते हैं। जैसे—मानों धरती पर पैर ही नहीं रखता; बिच्छू-सा डँस गया; इस बात का झगड़ा उड़ाये फिरना, आकाश-पाताल बाँध दिया, हाथ को हाथ पहिचानता है इत्यादि। अर्थालंकार की भाँति शब्दालंकार भी मुहावरे में खूब ही मिलते हैं। जैसे—'तन छीन मन मलीन दीन हीन हो गया इत्यादि।

आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च।
मुखनेत्रविकारैश्च लक्ष्यते आन्तरं मनः॥

शास्त्रकारों ने हाव-भाव, संकेत, चेष्टा, भाषण और मुख एवं नेत्रों के विकार को मन के अन्दर की बात जानने का साधन माना है। मुहावरों के लम्बे अध्ययन, मनन और चिन्तन के आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि मुहावरों में जो ओज, शक्ति और भाव-प्रदर्शन की सामर्थ्य है, वह उन्हें बहुत-कुछ हाव-भाव, शारीरिक चेष्टाओं और अस्पष्ट ध्वनियों के कारण ही प्राप्त हुई है। उनमें अभिव्यक्ति का अनूठापन और प्रयोग की रूढ़ि तो है ही, मर्मस्पर्शी भी वे साधारण मुहावरों से कहीं अधिक होते हैं।

कुछ लोग मुहावरा और रोजमर्रा को एक ही चीज़ समझ बैठते हैं। वास्तव में हाली साहब ने जैसा लिखा है, ये दोनों अलग-अलग चीजें हैं। मुहावरा तो रोजमर्रा के अन्तर्गत आ सकता है,

किन्तु रोजमर्रा मुहावरे के अन्तर्गत नहीं। मुहावरे को रोजमर्रा की पाबन्दी करना लाज़मी है, किन्तु रोजमर्रा के लिए मुहावरे की पाबन्दी करना उतना आवश्यक नहीं है। रोजमर्रा का सम्बन्ध भावों के बाह्य परिधान, शब्दों के क्रम, सान्निध्य और इष्ट प्रयोग तक ही विशेष रूप से सीमित रहता है, आशय, तात्पर्य अथवा व्यंजना का उसपर कोई नियंत्रण नहीं रहता, जबकि मुहावरे के लिए भावों के बाह्य परिधान, शब्द-क्रम इत्यादि के साथ ही उनसे अभिव्यंजित तात्पर्यार्थ की रूढ़ियों का पालन करना भी अनिवार्य है।

२

प्रत्येक मुहावरा एक अभिन्न इकाई होता है। मुहावरेदारी अथवा भाषा की प्रयोग-विलक्षणता को सुरक्षित रखने के लिए अतएव, शब्द-संस्थान, शब्द-परिवर्त्तन, शाब्दिक न्यूनाधिक्य इत्यादि किसी प्रकार के शाब्दिक परिवर्त्तन तथा शब्दानुवाद या भावानुवाद को मुहावरों की दृष्टिसे नियम-विरुद्ध माना गया है।

मुहावरों में शब्द तथा देश-काल और परिस्थिति का सम्मिश्रण होता है, इसलिए किसी विदेशी भाषा में उनका अनुवाद करने से उनके मूल अर्थ का पूरा-पूरा व्यक्तीकरण नहीं हो सकता। 'काष्ठ प्रदान करना' एक प्राचीन मुहावरा है, जबतक देश, काल और स्थिति के अनुसार इस प्रसंग का पूरा-पूरा अध्ययन न कर लिया जाय, तबतक इसका ठीक-ठीक अर्थ समझ में नहीं आ सकता।

इसके अतिरिक्त खेल के मैदान, शिकार के स्थान और मल्लाहों इत्यादि के मुहावरों में व्यक्तिगत प्रयत्न बहुत अधिक रहता है, उनका अर्थ समझने में शब्दों से कहीं अधिक सहायता वक्ता की शारीरिक चेष्टाओं का अध्ययन करने से मिलती है।

इस प्रकार मुहावरों की प्रकृति और प्रवृत्ति का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी शब्द-योजना में किसी प्रकार का हेर-फेर करना अथवा एक भाषा से दूसरी भाषा में उनका भाषान्तर करना उचित नहीं है, ऐसा करने से उनकी मुहावरेदारी नष्ट हो जाती है।

३

मुहावरे, मनुष्य की अनुभूतियों, विचारों और कल्पनाओं के मूर्त्त शब्दाकार रूप होते हैं, उनके निर्माण में भाषा और मनुष्य दोनों का ही समान योग रहता है, उनकी उत्पत्ति का अध्ययन करने के लिए, अतएव, भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों की सहायता लेनी पड़ेगी।

प्रायः प्रत्येक भाषा के इतिहास में प्रगति के कुछ ऐसे साधारण नियम मिलते हैं, जिनका भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों से सम्बन्ध होता है, अथवा जो मानव-बुद्धि की प्रगति और प्रवृद्धि के अनुरूप और समानान्तर-से होते हैं। भाषा की प्रगति के जो नियम विद्वानों ने स्थिर किये हैं, उनको देखने से पता चलता है कि प्रत्येक भाषा की स्वाभाविक प्रगति मुहावरों की ओर होती है, मुहावरे उसपर लादे नहीं जाते, बल्कि उसकी प्रकृति, प्रवृत्ति और स्वाभाविक प्रगति के अनुसार उनका क्रमिक विकास होता है। प्रत्येक भाषा, १. आदिकाल में प्रयुक्त होनेवाले अपने अनावश्यक, व्यर्थ अथवा पुनरुक्त अंश को निकालकर अपनी एक परिधि बनाने के लिए आगे बढ़ती है, अपरिमित से परिमित होने का प्रयत्न करती है। २. आदिकालीन अव्यवस्था और अनियमितता की अवस्था से व्यवस्था और व्याकरण की ओर बढ़ती है। ३. अलग-अलग भावों को स्वतन्त्र वाक्यों में प्रकट करने का प्रयास करती है, व्यवच्छेदकता की ओर बढ़ती है। भाषा की यह व्यवच्छेदात्मक प्रवृत्ति ही अन्त में उसे मुहावरों की ओर ले जाती है।

भाषा के आदर्श की दृष्टि से किसी भी अच्छी और चलती हुई भाषा का मुख्य लक्षण उसकी अति व्यापक भाव-व्यंजकता है। उसमें ज्ञात से अज्ञात अथवा स्थूल से सूक्ष्म में पहुँचने की शक्ति होती है। उसके शब्द-संकेत परिमित होते हुए भी अपरिमित वस्तुओं और भावों का सफलतापूर्वक प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखते हैं। संक्षेप में प्रकरण-भेद से अर्थ-भेद हो जाना किसी भी उन्नत भाषा का सर्वप्रधान लक्षण है। मार्शल अरबन ने जैसा कहा है, भाषा अनुकरण से सादृश्य और सादृश्य से लाक्षणिक संकेतों की ओर बढ़ती है। अर्थ-परिवर्त्तन की दृष्टि से इसलिए भाषा की यही दोनों अन्तिम अवस्थाएँ मुहावरों के आविर्भाव का प्रधान कारण होती हैं।

ब्रेल का मत है कि 'शब्दों के अर्थ में परिवर्त्तन करने का काम मनुष्य का मन करता है।' अर्थापकर्ष, अर्थापदेश, अर्थोत्कर्ष, अर्थ का मूर्त्तीकरण तथा अमूर्त्तीकरण, अर्थ-संकोच और अर्थ-विस्तार इत्यादि भाषा के बौद्धिक नियमों का अध्ययन करने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। स्मिथ प्रभृति विद्वानों का भी यही कहना है कि प्रायः मनोवैज्ञानिक कारणों से ही ऐसे परिवर्त्तन हुआ करते हैं। मानव-बुद्धि का स्वभाव से ही मुहावरों की ओर झुकाव होता है।

मुहावरों की उत्पत्ति और विकास का अन्तिम कारण उनकी लोकप्रियता है। समाज के कार्य-क्षेत्र के विस्तार तथा साहित्य में आदर्शवाद के स्थान में यथार्थवाद की स्थापना के कारण भी हमारे मुहावरों में वृद्धि हुई है।

मुहावरों की उत्पत्ति और विकास के नियम और ढंग अलग-अलग होते हैं। मनुष्य के कार्य-क्षेत्र विस्तृत हैं। उन्हीं के अनुरूप उसके मानसिक भाव भी अनन्त हैं। घटना और कार्य-कारण-परम्परा से जैसे असंख्य वाक्यों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार मुहावरों की भी। प्राय. प्रत्येक मनुष्य के जीवन में कुछ ऐसे अवसर आते हैं, जब वह अपने मन के भावों, विचारों और कल्पनाओं को सीधे-सीधे व्यक्त न करके शारीरिक चेष्टाओं, अस्पष्ट ध्वनियों अथवा किन्हीं दूसरे संकेतों या व्यंग्यों के द्वारा प्रकट करता है।

घर में चूल्हे-चक्की का काम करनेवाली गृहिणी से लेकर व्यापार करनेवाले लाला साहब, वकील साहब, प्रोफेसर साहब, लुहार, बढ़ई, कुम्हार इत्यादि जितने भी व्यवसायी हैं, सब-के-सब अपने-अपने व्यवसाय-सम्बन्धी उपकरणों के द्वारा ही अपने भावों को व्यक्त करते हैं। चूल्हा झोंकना, पापड़ बेलना, डंडी मारना, डिग्री होना, फाँसी चढ़ना, पट्टी पढ़ाना, कील-काँटा अलग करना, मिट्टी के मटींगरे होना, गोता खा जाना इत्यादि मुहावरों की उत्पत्ति और विकास प्रायः लोक-प्रवृत्ति के आधार पर होता है। लोक-भाषा के प्रयोग, लोक-प्रवृत्ति के दर्पण-जैसे होते हैं, इसलिए फैलते-फैलते राष्ट्रभाषा पर भी ये अपना सिक्का जमा लेते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे मुहावरों की भी हमारे यहाँ कमी नहीं है, जिनकी उत्पत्ति और विकास के कारण मनोवैज्ञानिक हैं।

हिन्दी अथवा दूसरी चलती भाषाओं में जो बहुत-से ऐसे मुहावरे मिलते हैं, जो देखने में कहीं से आये हुए जान पड़ते हैं, वास्तव में वे सब अनेक रूपान्तरों के कारण ही ऐसे लगते हैं, उनका अस्तित्व संस्कृत या दूसरी जन्म-भाषाओं में अवश्य रहता है। किसी भाषा के मुहावरों के आविर्भाव का प्रथम और मुख्य क्षेत्र उसकी जन्म-भाषा ही होती है। हमारे अधिकांश मुहावरे संस्कृत से प्राकृत और प्राकृत से अपभ्रंश में घूमते-घामते हिन्दी में आये हैं अथवा सीधे संस्कृत से आकर कुछ रूपान्तरित हो गये हैं। तत्सम रूप में भी बहुत-से मुहावरे मिलते हैं।

किसी भाषा में दूसरी भाषाओं के मुहावरे प्रायः तीन प्रकार से आते हैं— १. दोनों जातियों के पारस्परिक व्यापारिक, बौद्धिक अथवा राजनीतिक सम्बन्ध के द्वारा; २. विजित और विजेताओं की भाषाओं के एक-दूसरे पर प्रभाव के कारण और ३. अपनी कमियों को पूरा करने के लिए

किसी असमृद्ध भाषा के किसी दूसरी समृद्ध भाषा की तरफ झुकने के कारण दूसरी भाषाओं के ये मुहावरे प्रायः अनुवादित, अर्द्धानुवादित या तत्सम रूपों में ही आते हैं।

इस्लामी प्रदेशों और भारतवर्ष का सम्बन्ध, महमूद गजनवी के ही पहिले नहीं, बल्कि इस्लाम-धर्म के प्रवर्त्तक मुहम्मद साहब के प्रादुर्भाव से भी कहीं पहिले, जबकि भारतवर्ष और फ़ारस में निरन्तर विद्या का आदान-प्रदान हुआ करता था तथा अरब और भारत का व्यापारिक सम्बन्ध चल रहा था, स्थापित हो चुका था। बाद में विजेताओं के रूप में भी ये लोग भारतवर्ष में आकर बस गये। अरबी, फारसी और तुर्की का इसलिए हमारे मुहावरों पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। फारसी और संस्कृत चूँकि एक ही परिवार की भाषाएँ हैं, इसलिए फारसी का ही प्रभाव हमारी भाषाओं पर अधिक पड़ा है।

मुसलमानों के उपरान्त अँगरेजों ने भारतवर्ष में अपने पैर जमाये। ये लोग मुसलमानों की तरह भारतीय बनकर भारत के लिए ही भारत में रहने नहीं आये थे। इसलिए इनकी भाषा का और खास तौर से इनके मुहावरों का हमारी भाषा और उसके मुहावरों पर इतना अधिक प्रभाव नहीं पड़ा, जितना फ़ारसी का।

हिन्दी में अरबी, फ़ारसी, तुर्की, अँगरेजी, फ्रेंच इत्यादि अन्य भाषाओं के मुहावरों की कमी नहीं है। कुछ कमी है, तो वह उनके तत्सम रूपों की कही जा सकती है। हिन्दी, अरबी और फारसी के मुहावरों के मुख्य रूप तो थोड़े-बहुत मिल भी जाते हैं, किन्तु अँगरेजी के नहीं। हाँ, पढ़े-लिखे आदमियों की बोलचाल में अरबी, फारसी और अँगरेजी तथा अँगरेजी के द्वारा फ्रेंच, लैटिन और ग्रीक तक के काफी मुहावरे रहते हैं।

एक हजार वर्ष से विदेशी शासन की जिन विध्वंसात्मक परिस्थितियों में होकर हमारे देश को गुजरना पड़ा है, यदि हमारा अपना साहित्य इतना समृद्ध, सुसंस्कृत और उत्कृष्ट न होता, तो कदाचित् मुहावरों का तो क्या, अपनी भाषा का भी मुहावरा लोगों को न रहता। ऐसी परिस्थिति में यदि हिन्दुस्तानी भाषाओं में यत्र-तत्र कुछ विदेशी मुहावरे फैले हुए मिलते हैं, तो उन्हें देखकर हमें यह नहीं समझ बैठना चाहिए कि हमारे यहाँ मुहावरे आये ही विदेशी भाषाओं के प्रताप से हैं। वास्तव में कौन प्रयोग किस भाषा का है और कब और कैसे किसी दूसरी भाषा में आया है, इसका पता चलाने के लिए एक विशेष प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता है। किसी मुहावरे में प्रयुक्त विदेशी शब्द या शब्दों को देखकर ही उसे विदेशी नहीं कह सकते; क्योंकि कितने ही ऐसे मुहावरे भी हमारे यहाँ प्रचलित हैं, जो अरबी, फारसी या अँगरेजी इत्यादि के न तत्सम रूप हैं और न अनुवाद ही, बल्कि हिन्दी के साथ इन भाषाओं के सहयोग से बिलकुल स्वतन्त्र रूप में उनकी उत्पत्ति हुई है। इसके अतिरिक्त समान भावों के द्योतक कुछ ऐसे प्रयोग भी होते हैं, जो प्रायः एक साथ संसार की बहुत-सी भाषाओं में चलते हुए भी एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं रखते।

अर्थ, भाव और ध्वनि तथा वाक्य-रचना-सम्बन्धी व्याकरण अथवा तर्क के सर्वथा अनुकूल तो मुहावरों की बहुत-सी विशेषताएँ हैं ही, इनके प्रतिकूल भी उनके कितने ही विशिष्ट प्रयोग जनता में खूब चलते हैं। दूसरी भाषाओं की तरह हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी में भी विभक्तियों और अव्ययों का प्रयोग खास तौर से विचित्र होता है। 'को' की जगह 'का' और 'का' की जगह 'को' कर देने मात्र से इसलिए कभी-कभी सारा वाक्य बे-मुहावरा हो जाता है। प्रयोग-सम्बन्धी इस प्रकार की और भी कितनी ही विशेषताएँ मुहावरों में होती हैं।

शब्द-योजना और शब्दार्थ की दृष्टि से अँगरेजी इत्यादि दूसरी भाषाओं की तरह हिन्दी मुहावरों में भी एक बहुत बड़ी संख्या ऐसे विशिष्ट प्रयोगों की है, जिनमें १. प्रायः स्वभाव से ही

एक शब्द साथ-साथ दो बार अथवा दो शब्द सदैव साथ-साथ आते हैं। २. रचना और अर्थ-पूर्ति के लिए जिन शब्दों का होना आवश्यक था, उनका अभाव या लोप रहता है अथवा जिनमें लाघव तत्त्व की प्रधानता रहती है। ३. प्रायः बहुत-से अप्रचलित शब्द तथा बहुत-से शब्दों के अप्रसिद्ध अर्थ भी सुरक्षित रहते हैं। ४. दो निरर्थक शब्द एक साथ मिलकर ऐसा अर्थ देने लगते हैं, जो सबके लिए सरल और बोधगम्य होता है। ५. प्रायः औपचारिक पद रहते हैं, जो बहुत-कुछ पारदर्शी होते हैं। ६. प्रायः प्रत्येक पद अपने से भिन्न किसी भी दूसरे पदजात के स्थान में प्रयुक्त होकर उसका काम कर लेता है। ७. व्याकरण और तर्क आदि के नियमों का सर्वथा पालन नहीं होता।

"भाषा संस्कृति की प्रत्यक्ष छाया है, उसमें सन्देह करना संस्कृति में सन्देह करना है।" हीगल के इस मत पर यदि थोड़ी और अधिक व्यापक दृष्टि से विचार करें, तो कह सकते हैं कि भाषा न केवल संस्कृति की, बल्कि किसी देश, जाति अथवा राष्ट्र के जीवन के सभी पक्षों की प्रत्यक्ष छाया अथवा दैनिक नोट-बही है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि भाषा यदि छाया है, तो उसके मुहावरे ही वे साधन हैं, जिनके द्वारा उनका प्रत्यक्षीकरण हो सकता है। वास्तव में उनकी योग्यता और उपयोगिता भी इसी में है।

मुहावरों के महत्त्व और उनकी उपयोगिता पर सूत्र-रूप में इतना ही कहा जा सकता है कि उनके द्वारा १. भाषा संक्षिप्त, सरल, स्पष्ट और सुन्दर एवं ओजपूर्ण हो जाती है; २. किसी बात को व्यक्त करने के लिए अधिक शब्दों की आवश्यकता नहीं होती और पुनरुक्ति के दोष से भी बच जाते हैं; ३. भाषण में आकर्षण और रोचकता बढ़ जाती है; ४. साधारण प्रयोगों की अपेक्षा कहीं शीघ्र और अधिक प्रभाव पड़ता है; ५. भाषा-मूलक पुरातत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने में भी बड़ी सहायता मिलती है; ६. प्राचीन ऋषि-मुनि, सन्त-महात्मा और देशभक्त शहीदों की स्मृतियाँ सुरक्षित रहती हैं; ७. विशेषतया किसी समाज के, किन्तु साधारणतया पूरे राष्ट्र के, सांस्कृतिक परिवर्त्तनों का थोड़ा-बहुत परिचय मिलता रहता है; ८. प्राचीन सभ्यता, संस्कृति और मत-मतान्तरों के भिन्न-भिन्न रूपों का ज्ञान आसानी से हो जाता है और ९. किसी राष्ट्र का अतीत निश्चित और स्पष्ट ढंग से सुरक्षित रहता है।

भाषा की उत्पत्ति और विकास का इतिहास बड़ा विचित्र है। अलग-अलग विद्वानों ने यद्यपि अलग-अलग ढंग से इस प्रश्न पर विचार किया है, तथापि यह बात सब लोग मानते हैं कि भाषा की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की ओर बढ़ती जा रही है। यह बात भी सब लोग मानते हैं कि भाषा का विकास और वृद्धि समाज के विकास और वृद्धि पर निर्भर है। जितना ही कोई समाज विकसित होता जाता है, उसका आर्थिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक सम्बन्ध दूसरे देशों से बढ़ता जाता है, उतने ही भाव-व्यंजन के उसके प्रकार और लोकप्रिय प्रयोगों की वृद्धि उसकी भाषा में होती जाती है। एक के प्रयोग अनेक के मुहावरे हो जाते हैं।

किसी भाषा के मुहावरे सबसे पहिले बोलचाल की भाषा में ही प्रयुक्त होते हैं। बाद में धीरे-धीरे लोकप्रियता के आधार पर पुष्टता और प्रौढ़ता प्राप्त करते हुए अन्त में बोली से विभाषा और विभाषा से भाषा या राष्ट्र-भाषा के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ये तीनों मुहावरों के जीवन-काल की तीन अलग-अलग अवस्थाएँ हैं।

किसी भी भाषा के मुहावरे प्रायः सदैव समान रूप से रोचक और आकर्षक रहते हैं। बार-बार के प्रयोग से उनमें किसी प्रकार की जीर्णता अथवा जड़ता नहीं आती है। वे सदैव चालू सिक्कों के रूप में किसी भाषा की अक्षय निधि रहते हैं। मुहावरेदार भाषा को इसीलिए सर्वश्रेष्ठ भाषा कहा जाता है।

भाषा की दृष्टि से मुहावरे और लोकोक्तियाँ दोनों ही बड़े महत्त्व की चीजें हैं। दोनों से ही भाषा के सौन्दर्य में वृद्धि होती है, किन्तु फिर भी दोनों एक चीज नहीं हैं, दोनों में भेद है और काफी भेद है। रूप-विचार अथवा व्याकरण की दृष्टि से तो दोनों में अन्तर है ही, अर्थ-विचार अथवा न्यायशास्त्र की दृष्टि से भी दोनों एक नहीं हैं। न्यायशास्त्र के अनुसार प्रत्येक वाक्य में दो पद, उद्देश्य और विधेय और एक विधान-चिह्नसंयोजक तीन बातें होनी चाहिए। लोकोक्ति में उद्देश्य और विधेय, इन दोनों का विधान रहने के कारण, उसका अर्थ समझने के लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती, जबकि मुहावरे का जबतक किसी वाक्य में प्रयोग न किया जाय, अर्थ ठीक तरह से समझ में नहीं आ सकता। अर्थ की दृष्टि से लोकोक्तियाँ अपने में पूर्ण होती हैं, किन्तु मुहावरे नहीं। लोकोक्तियाँ सब-की-सब लोकोक्ति-अलंकार के अन्तर्गत आ जाती हैं। किन्तु मुहावरों के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है, वे लक्षणा और व्यंजना पर अवलम्बित होने के कारण किसी एक ही अलंकार में सीमित नहीं रहते।

मुहावरों के इस अध्ययन और मनन से जो सबसे बड़ा लाभ हमें हुआ है, मुनिराज वसिष्ठ के शब्दों में उसे इस प्रकार रख सकते हैं—

> युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
> अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना॥
> योऽस्मात्तातस्य कूपोऽयमिति कौपं पिबत्यपः।
> त्यक्त्वा गाङ्गं पुरस्थं तं को नामास्त्यतिरागिणाम्॥
> अपि पौरुषमादेयं शास्त्रं चेद्युक्तिबाधकम्।
> अन्यत्त्वार्षमपि त्याज्यं भाव्यं न्याय्यैकसेविना॥ —२ : १२ : ३,४,२

युक्तियुक्त बात तो बालक की भी मान लेनी चाहिए, लेकिन युक्ति से च्युत बात को तृण के समान त्याग देना चाहिए, चाहे वह ब्रह्मा ने ही क्यों न कही हो। जो अतिरागवाला पुरुष अपने पास मौजूद रहते हुए गंगाजल को छोड़कर कुएँ का जल इसलिए पीता है कि यह कुँआ उसके पिता का है, वह सबका गुलाम है। जो न्याय के भक्त हैं, उनको चाहिए कि जो शास्त्र युक्तियुक्त और ज्ञान की वृद्धि करनेवाला है, उसको ही ग्रहण करें, चाहे वह किसी साधारण मनुष्य का ही बनाया हुआ क्यों न हो, और जो शास्त्र ऐसा नहीं है, उसको तृण के समान फेंक दें, चाहे वह किसी ऋषि का बनाया हुआ ही क्यों न हो।

मुहावरों के सम्बन्ध में अबतक जितने विद्वानों ने कलम उठाई है, प्रायः सबने रूढ़ि लक्षणा के अन्तर्गत ही उसे रखा है। 'हरिऔध' जी ने अवश्य अन्त में चलकर यह स्वीकार किया है कि 'जितने मुहावरे होते हैं, वे प्रायः व्यंजना-प्रधान होते हैं।" यों दबी हुई जबान से तो रामचन्द्र वर्मा आदि ने भी मुहावरों में व्यंजना के तत्त्व को माना है, किन्तु उस पर विचार करके यह किसी ने नहीं देखा है कि तात्पर्याख्यवृत्ति ही मुहावरों की मूल शक्ति होती है।

'मुहावरा' शब्द के उच्चारण और वर्ण-विन्यास पर भी अबतक किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया था। मुहाविरा, महावरा इत्यादि अनेक रूप इसीलिए अबतक चल रहे हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में हमने यह सिद्ध कर दिया है कि इस शब्द का शुद्ध उच्चारण 'मुहावरा' ही है, मुहाविरा, महावरा अथवा मुहाव्वरा इत्यादि नहीं।

अबतक बहुत-से लोगों का जो यह विचार था कि हिन्दी में मुहावरे आये हैं ही उर्दू और फारसी से हैं, ऋग्वेद से लेकर अबतक के मुहावरों की संक्षिप्त सूची और उनकी परम्परा का इतिहास देकर

हमने यह भी सिद्ध कर दिया है कि किसी भाषा पर संसर्ग-भाषाओं और उनके मुहावरों का प्रभाव तो पड़ता है, किन्तु वह उन्नत और समृद्ध अपनी जन्म-भाषा के कोष से ही होती है।

सबसे बड़ी चीज़ जो इस अध्ययन से हमें मिली है, वह तो मुहावरों के रूप में बिखरे हुए हमारी भाषा के वे असंख्य हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो हैं, जिनके आधार पर न केवल हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का ही इतिहास लिखा जा सकता है, बल्कि पूरी मानव-जाति की प्रकृति और प्रवृत्ति का पता चल सकता है।

मुहावरों पर चूँकि हमारे यहाँ मीमांसा की दृष्टि से अभी कुछ हुआ ही नहीं है, इसलिए जिन आठ दृष्टियों से विचार करके आठ विचार इस प्रबन्ध में हमने दिये हैं, उन सबको ही प्रस्तुत 'मुहावरा-मीमांसा' की देन समझना चाहिए।

इतिहास की दृष्टि से, किसी भाषा के मुहावरों के द्वारा उसे बोलनेवाली जाति, देश अथवा राष्ट्र के अतीत का चित्रण करना, एक बिलकुल नई ही पद्धति है। कौन मुहावरा किस क्षेत्र का है, इस दृष्टि से उनका वर्गीकरण करने की पद्धति भी पुरानी नहीं है। इनके अतिरिक्त मुहावरों के एकत्रीकरण इत्यादि की और भी कुछ नई पद्धतियाँ, जिनका इस ग्रन्थ में हमने उपयोग किया है, इसे पूरा पढ़ लेने पर आपको मिलेंगी।

इस प्रसंग में यह बता देना भी आवश्यक है कि प्रस्तुत प्रबन्ध में काफी चीजें ऐसी आई हैं, जिनका सबको नहीं तो कम-से-कम बहुतों को कुछ भी ज्ञान नहीं था। कितने लोग ऐसे हैं, जिन्होंने संस्कृत, हिन्दी और फारसी में चलनेवाले समानार्थक मुहावरों की ओर कभी ध्यान भी दिया था। वैदिक साहित्य के मुहावरे भी अधिकांश जनता के लिए सर्वथा नई चीज़ ही हैं। फ्रेंच, लैटिन-ग्रीक इत्यादि पाश्चात्य भाषाओं के मुहावरों का उनके हिन्दी समानार्थक प्रयोगों के साथ संकलन भी कोई पुरानी चीज नहीं है। 'बलि का बकरा होना' इत्यादि मुहावरों के आधार पर पशु-बलि और नर-बलि इत्यादि को वैदिक संस्कारों का ही एक अंग माननेवाले कितने लोगों ने कभी 'पशुबलि' के पशु का *यथार्थ अर्थ* (काम, क्रोध इत्यादि) पढ़ा और सुना है। प्रस्तावना में भी जैसा एक स्थल पर हमने संकेत किया है, हमारा यह प्रबन्ध इस प्रकार की कितनी ही अप्राप्य और दुष्प्राप्य वस्तुओं का संग्रहालय है, प्रत्येक वस्तु को देखने से ही उसकी नवीनता का ज्ञान हो सकता है।

मनुष्य का जीवन अल्प है, उसके कार्य-क्षेत्र सीमित होते हैं। इसलिए मुहावरों के सम्बन्ध में इस प्रबन्ध में हमने जो कुछ लिखा है, उसकी भी सीमाएँ हैं। मुहावरों की मीमांसा ही चूँकि इस लेख का मुख्य उद्देश्य था, इसलिए मुहावरों से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य प्रसंगों की ओर हमने केवल संकेत ही किया है। वास्तव में मुहावरों का क्षेत्र इतना विशद और विस्तीर्ण है कि एक प्रबन्ध में उसके सब अंगों पर ही पूरी तरह से विचार नहीं हो सकता, फिर उससे सम्बन्ध रखने-वाले अन्य विषयों की क्या कहें। सच्ची बात तो यह है कि हमारा यह पूरा प्रबन्ध ही एक प्रकार से मुहावरों के क्षेत्र में काम करने की इच्छा रखनेवाले लोगों के लिए एक प्रकार की सारावली है। इसी विषय पर अभी काफी काम करनेवालों की ज़रूरत है। अब अन्त में हम आनेवाले लोगों के लिए प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ सुझाव देकर अपने इस वक्तव्य को समाप्त करेंगे—

१. मुहावरों के क्षेत्र में जो सबसे पहिले और शायद सबसे बड़ा काम अभी करने को बाकी है, वह मुहावरों का एकत्रीकरण और उत्पत्ति तथा प्रसंग के आधार पर उनका वर्गीकरण है। अर्थ और प्रयोग की दृष्टि से भी हिन्दी-मुहावरों का अबतक कोई प्रामाणिक कोष हमारे पास नहीं है। छोटे-मोटे कोषकारों को जाने दीजिए, 'शब्द-सागर'-जैसे प्रामाणिक कोष

में भी कहीं-कहीं मुहावरों के अशुद्ध प्रयोग मिलते हैं। 'मुहावरा-कोष' बनाने के लिए जनता में घूम-घूमकर उनके प्रचलित अर्थ और प्रयोग का अध्ययन करने की आवश्यकता है। इसलिए दस-पाँच आदमियों को केवल इसी काम में लग जाना चाहिए।

२. संस्कृत के बहुत-से मुहावरे प्राकृत और प्राकृत से अपभ्रंश तथा अपभ्रंश से हिन्दी में आये हैं। हिन्दी में आये हुए ऐसे मुहावरों के संस्कृत प्राकृत, और अपभ्रंश रूपों का पता चलायें।

३. संस्कृत तथा तत्प्रसूत भारत की अन्य भाषाओं के मुहावरों का तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिए।

४. हिन्दी-मुहावरों पर अरबी, फारसी और अँगरेजी इत्यादि संसर्ग भाषाओं का क्या प्रभाव पड़ा है।

५. मुहावरों की उपयोगिता पर ही एक स्वतन्त्र प्रबन्ध लिखा जाना चाहिए।

६. हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और लेखकों ने हमारे मुहावरों की वृद्धि और विकास में क्या योग दिया है।

७ विशेषणों और क्रियाविशेषणों के मुहावरेदार प्रयोगों में भी आजकल खूब अन्धाधुन्धी चल रही है, जिसके जी में जो आता है, बोल और लिख देता है। इसपर भी विचार होना चाहिए।

८. लोकोक्ति और मुहावरे का तुलनात्मक अध्ययन भी बहुत आवश्यक और उपयोगी है।

प्रबन्ध लिखते समय भी बीच-बीच में कुछ सुझाव हमने रखे हैं, किन्तु सबसे बड़ा सुझाव जो इस प्रबन्ध के द्वारा किसी को मिल सकता है, वह तो इसे पढ़कर इसकी कमियों को दूर करना ही है। मुहावरों का विषय अगम है, उसकी थाह पाने के लिए कितने लोगों को और कितनी बार प्रयत्न करने पड़ेंगे, कौन जानता है। हमारा यह प्रयत्न आगे चलकर इसी क्षेत्र में काम करनेवालों का थोड़ा-बहुत मार्ग-दर्शन कर सका, तो बस है। किसी क्षेत्र में किये हुए प्रथम प्रयास की सफलता इसी में है कि वह जिज्ञासु अन्वेषकों को प्रेरणा और प्रोत्साहन दे सके।

इतनी विघ्न-बाधाओं और विषम परिस्थितियों के होते हुए भी उस परमपिता परमेश्वर की असीम अनुकम्पा और 'बापू' के आशीर्वाद से आज हमारा यह संकल्प पूरा हो रहा है, अतएव हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वस्सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वस्सर्वत्र नन्दतु॥
दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्॥

सब लोग कष्टों को पार करें, सब लोग भलाई ही देखें, सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो, सब सर्वत्र प्रसन्न रहें। दुर्जन सज्जन बन जायँ, सज्जन शान्ति प्राप्त करें, शान्त लोग बन्धनों से मुक्त हों, तथा मुक्त लोग औरों को मुक्त करें।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

परिशिष्ट—अ

बोलचाल की भाषा और मुहावरे

दुर्भाग्य से आज हमारी प्रवृत्ति बोलचाल की भाषा के चलते हुए सजीव मुहावरों को न लेकर उनके स्थान में संस्कृत के दुरूह और जटिल प्रयोगों से साहित्य-प्रदर्शनी सजाने की हो गई है। जिस बोलचाल की भाषा के बहिष्कार ने जनता में क्रान्ति उत्पन्न करके संस्कृत को राष्ट्रभाषा के ऊँचे सिंहासन से नीचे खींचकर प्राकृत अथवा बोलचाल की भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाया था, कौन कह सकता है कि हिन्दी-लेखकों की यह इंशापरदाजी फिर उर्दू या उससे मिलते-जुलते किसी दूसरे रूप को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए जनता को मजबूर नहीं कर देगी। साहित्य को जिस प्रकार समाज का मस्तिष्क कहा जा सकता है, बोलचाल की भाषा और उसके मुहावरों को समाज के हृदय का एक्स-रे अथवा उसके मनोभावों एवं अनुभूतियों का मानचित्र कह सकते हैं।

मुहावरों की दृष्टि से यदि आप बोलचाल की और साहित्यिक दोनों भाषाओं की तुलना करें तो निश्चय ही आप यह फैसला देंगे कि जितने स्वाभाविक, ओजपूर्ण और भाव-प्रकाशक मुहावरे बोलचाल की भाषा में मिलते हैं, उतने साहित्यिक भाषा में नहीं। 'प्रसाद', 'पन्त' और 'गुप्त' जी को छोड़ दीजिए, 'चोंच', 'बेढब' और 'बेधड़क' में भी तो कोई ऐसा नहीं है, जिसकी वर्णन-शैली उसकी कल्पना के ही अनुरूप कल्पित और कृत्रिम न हो। स्वर्गीय 'हरिऔध' जी के 'प्रियप्रवास' और 'बोलचाल' अथवा 'चोखे चौपदे'—इनको दाँये-बाँये साथ-साथ रखकर पढ़ने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी-काव्य में जितना कुछ संस्कृत-गर्भित अथवा संस्कृत आच्छादित नहीं है, उतना ही अधिक स्वाभाविक और सरल है।

उर्दू वालों ने रोजमर्रा की छानबीन करने में बाल की खाल निकाली है। क्या मजाल है कि 'ज़ौक'-जैसा बड़ा कवि भी बोलचाल के मुहावरे के विरुद्ध 'नर्रागस के फूल भेजे हैं बटवे में डालकर' यानी फूल बटवे में डालकर ऐसा लिखने पर अछूता छोड़ दिया जाय। हम उर्दू की बुराइयों से घृणा करते हैं, उर्दू से नहीं। इसलिए उसकी अच्छाइयों का हमें स्वागत करना चाहिए।

हिन्दी-कवियों ने यदि कुछ बोलचाल के मुहावरों को लिया भी है, तो वे छन्द और अनुप्रास एवं तुक के जाल में पड़कर इतने तुड़-मुड़ गये हैं कि उनकी स्वाभाविकता नष्ट हो गई है। उच्च कोटि के कवि और सुलेखकों की सुन्दर उक्तियों से लाभ तो बहुत होता है, किन्तु इस लाभ की प्राप्ति के लिए कितने ही अवसरों पर न केवल सरल और सुबोध मुहावरों का गला घोंटना पड़ता है, बल्कि मुहावरों को तोड़-मरोड़कर बोलने और लिखने की कुटेव का दुष्परिणाम भी भोगना पड़ता है। इसके साथ ही हम यह मानते हैं कि जिन सरल और सुबोध मुहावरों को हम जनता के सामने रखना चाहते हैं, वे अधिकांश बोलचाल की भाषा में ही मिल सकते हैं, और बोलचाल की भाषा में लोगों को वह गौरव और प्रभुत्व, जो लिखित साहित्यिक भाषा को प्राप्त है, नहीं मिल सकता। फिर आज रंगमंच पर चढ़कर कालिदास, भवभूति और माघ, सूर, तुलसी और मीरा अथवा मिल्टन और शेक्सपीयर के गाये हुए पुराने गीत गानेवालों का जो रंग जमता है, जो वाहवाही होती और दाद मिलती है, वह सीधी, सुबोध और अकृत्रिम बोलचाल की

भाषा में अपने हृदय का दर्शन करानेवाले को नहीं। ऐसी परिस्थिति में दोनों धाराओं में कोई समझौता हो या न हो, इतना कर लेना तो श्रेयस्कर होगा ही कि लिखित साहित्य के भ्रामक और अव्यापक उद्धरणों को छोड़कर उनकी जगह अधिक-से-अधिक उदाहरण बोलचाल के स्वाभाविक मुहावरों अथवा मुहावरेदार प्रयोगों से लिये जायँ। बोलचाल मुहावरों की ओर जनता की यह प्रगति आज भले ही लोगों को खटकती हो, किन्तु वह दिन दूर नहीं है जबकि इन मुट्ठी-भर पुराने किताबी कीड़ों की इस प्रवृत्ति के विरुद्ध क्रान्ति होगी और सर्वत्र जनमत का बोलबाला होगा। भाषा का जो रूप उस दिन हमारे सामने आयेगा, वही हमारी राष्ट्रभाषा बनेगी, फिर वह हिंन्दी हो, उर्दू हो और चाहे हिन्दुस्तानी, कोई उसकी गति को रोक नहीं सकेगा।

साहित्यिक भाषा अथवा संस्कृत गर्भित हिन्दी के समर्थक प्रायः उसके बड़े शब्द-भाण्डार की दुहाई दिया करते हैं। उन्हें जान लेना चाहिए कि यदि साहित्यिक भाषा में वैज्ञानिक और गूढ़ तात्त्विक विषयों का प्रतिपादन करने की शक्ति है, तो बोलचाल की भाषा में इन्द्रिय-गोचर घटनाओं और पदार्थों का अति सूक्ष्म, स्पष्ट और सुबोध चित्रण करने की सामर्थ्य है। एक साहित्यिक का ज्ञान, चिन्तन, तर्क और अनुमान, जो प्रायः गलत होते हैं, के आधार पर किताबों से लिया हुआ ज्ञान है, किन्तु एक अपढ़ का ज्ञान अपनी आँखों देखा और हाथों बरता व्यक्तिगत अनुभव होता है, वह झूठ नहीं हो सकता। उसके ज्ञान की तरह उसकी भाषा और मुहावरे भी अति सरल, सुबोध, स्पष्ट और ताजे होते हैं। वह, चूँकि स्वाभाविक भाषा बोलता है, इसलिए कभी गलत जगह पर गलत शब्द का प्रयोग नहीं करेगा। किन्तु एक साहित्यिक प्रायः गलत शब्द अथवा गलत जगह पर उसका प्रयोग करता है; क्योंकि उसकी भाषा कृत्रिम और माँगी हुई होती है।

वे अति उग्र, ओजस्वी और सारपूर्ण लोकोक्तियाँ—जिनमें मानव-अनुभूतियों की अक्षय निधि छिपी रहती है, इन अपढ़ व्यक्तियों के मुँह से निकले हुए वाक्य ही होते हैं, पढ़े-लिखे साहित्यिकों की गढ़ी हुई चातक और स्वाति की बूँद नहीं। बोलचाल की भाषा के मुहावरे, चूँकि, सर्व-साधारण जनता ने जिस चीज को दुसरा तिसरा कर बार-बार देखा और अनुभव किया है, उसे ही व्यक्त करते हैं, इसलिए अधिक स्वाभाविक और प्राकृतिक होते हैं। जो चीज स्वाभाविक है, वह अधिक स्पष्ट-सरल और सुबोध होगी ही।

हमारे इस स्पष्टीकरण के पश्चात् हमें आशा है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के इच्छुक सभी भाषाप्रेमी हमारे इस नम्र निवेदन को मानकर हिन्दी को बोलचाल की भाषा और मुहावरों के द्वारा इतनी शक्तिशाली बना देंगे कि सारी जनता उसका विरोध करने के बजाय उसका स्वागत करने के लिए दौड़े, किन्तु यह चमत्कार बोलचाल की भाषा और उसके लोक-प्रचलित प्रयोगों से अपने साहित्य को लबालब भर देने के बाद ही देखने को मिल सकता है, उर्दू और हिन्दुस्तानी का विरोध करने से नहीं। किसी का विरोध करना तो स्वयं अपने दिवालियेपन का ढोल पीटना है।

परिशिष्ट—आ

मूल अर्थ से सर्वथा भिन्न अर्थ में प्रयुक्त शब्द और मुहावरे

इधर बहुत दिनों से फारस, अरब और इंगलैंड इत्यादि देशों के निवासियों के साथ हमारा काफी सम्बन्ध रहा है। ये लोग व्यापारी अथवा विजेता बनकर किसी-न-किसी रूप में सारे देश में बढ़ और फैल गये। फल यह हुआ कि देश के प्रायः सभी भागों में इनकी भाषाओं के कुछ-न-कुछ शब्द प्रचलित हो गये। परन्तु सब प्रान्तीय भाषाओं ने न तो समान रूप में ही इन शब्दों को लिया और न समान अर्थ में ही, कितने ही शब्दों के अलग-अलग प्रान्तों में अलग-अलग रूप और अर्थ हो गये हैं। विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं ने अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार उन्हें ग्रहण करके उनके अर्थ रखे हैं अथवा उन्हें अपने में पचाया है। केवल अन्य भाषाओं के शब्दों के साथ ही ऐसा नहीं हुआ है, कितने ही हमारी अपनी भाषा के शब्द भी अलग-अलग प्रान्तों में उनकी भाषा की प्रकृति के अनुसार रूप धारण कर अलग-अलग अर्थ देने लगे हैं। अब ऐसे ही शब्दों के कुछ उदाहरण नीचे देते हैं —

'टके पैसे होना', 'टके लगना या खर्च होना', 'टके सेर होना', 'टका-सा जवाब देना', 'टके गज़ की चाल' तथा 'टका-सा मुँह लेकर रह जाना' इत्यादि मुहावरों में प्रयुक्त 'टका' शब्द स्वयं हमारे ही यहाँ के 'टके' शब्द से बना है। हमारे प्रान्त में जहाँ इसका अर्थ दो पैसे होता है, बंगाल में 'टाका' रूप में यही शब्द रुपये के अर्थ में चलता है। पंजाब में इसी टके का रूप 'टगा' हो जाता है और एक पैसे के अर्थ में बोला जाता है। 'भद्र' शब्द का संस्कृत में सभ्य अथवा सुशिक्षित अर्थ लिया जाता है, किन्तु इसीसे बने हुए 'भद्द' और 'भद्दा' शब्दों का इसके बिलकुल विपरीत कुरूप और अशिष्ट अर्थ हो जाता है, 'किसी का भद्द होना', 'भद्दा लगना' अथवा 'भद्दी बात होना' इत्यादि मुहावरे इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

'कुमार' शब्द से 'कुँवर' और 'कँवर' तो चल ही रहे थे, कँवर का अर्थ सबसे बड़ा लड़का करके राजपुतानेवालों ने उसके अनुज और अनुजानुज के लिए क्रमशः 'भँवर' और 'तँवर' शब्द भी गढ़ डाले। इसी प्रकार 'मध्य' से मज्झ और 'मझला' तो बने ही थे मझला के अनुकरण पर सँझला भी बनने लगा।[1]

"बँगलावाले बहुत बड़े पंडित को 'मस्त पंडित' कहते हैं तो हम बहुत बड़े मकान को 'दंगल मकान' कहते हैं। हमारे यहाँ का 'कंगाल' शब्द संस्कृत के 'कंगाल' से और अनाड़ शब्द 'अणाणी' (अज्ञानी) से निकलने पर भी मूल से बहुत दूर चला गया है, कि दोनों में कम-से-कम अर्थ का तो कोई संबंध नहीं रह गया।[2]

अब अरबी, फारसी और अँगरेजी इत्यादि अन्य भाषाओं के शब्दों के ऐसे ही कुछ प्रान्तीय प्रयोग देखिए। 'तमाशा' और 'सैर' अरबी में क्रमशः 'गति' और 'भ्रमण' के लिए आते थे, किन्तु हमारे यहाँ आजकल इनका प्रयोग 'तमाशे की बात होना', 'तमाशे करना', 'तमाशा दिखाना', 'सैर सपाटे करना', 'मेले की सैर करना' इत्यादि रूपों में अलग-अलग तो होता ही है, 'सैर तमाशा' के रूप में दोनों को मिलाकर आमोद-प्रमोद के अर्थ में भी होता है। इसी प्रकार

---

१. अ० हि०, पृष्ठ ३६। (इस सम्बन्ध की टिप्पणी आगे है।)

२. अ० हि०, पृष्ठ ३१ : राजपुताने में लड़के को कँवर, उसके लड़के को भँवर और उसके लड़के प्रपौत्र को तँवर कहते हैं। भाइयों में ही कँवर, भँवर और तँवर नहीं होते।

'खैरात', 'तकरार', 'तूफान', 'जुलूस' (जलस धातु से), 'खैर' और 'सलाह' इत्यादि शब्दों का भी अरबी में क्रमशः 'अच्छे काम', 'किसी काम को पुनः करना', 'आधिक्य', 'बैठना' तथा 'क्षेम-कुशल' और 'अनुमति' अर्थ होता है; किन्तु अपने यहाँ इसके सर्वथा विपरीत 'खैरात का माल होना' या 'खैरात करना', 'तकरार बढ़ाना', 'झगड़ा बढ़ाना,' 'तूफान मचाना' या 'तूफानी दौरा करना', 'जुलूस निकालना' तथा 'खैर सल्लाह से होना' अथवा 'अल्ला-अल्ला खैर सल्ला' इत्यादि रूपों में इनका प्रयोग होता है।

'मसाला' शब्द की व्युत्पत्ति 'मासलह' से हुई है, जिसका अर्थ पदार्थ होता है। किन्तु हमारे यहाँ 'मिर्च मसाला लगाकर कहना', 'चटपटे मसालेदार होना' इत्यादि रूपों में इसका व्यवहार होता है। 'खातिर' फारसी और अरबी दोनों में 'हृदय, इच्छा अथवा झुकाव' के लिए आता है, किन्तु हिन्दी में इसका 'खातिर करना', 'खातिर जमा रखना' विश्वास इत्यादि रूपों में प्रयोग होता है। 'रोजगार' का अर्थ फारसी में 'दुनिया' होता है, किन्तु हमारे यहाँ कहते हैं 'बिना रोजगार रोजगारी देत घर के लोग, जोरू का खसम मर्द और मर्द का खसम रोजगार।' रूमाल और दस्तूरी शब्द यहीं गढ़े गये हैं, फारसी में 'रूपाक' या 'दस्तपाक' आता है। 'रंज' का बिहारी लोग क्रोध के अर्थ में प्रयोग करते हैं। 'राजीनामा' का मराठी और गुजराती में इस्तीफा अर्थ किया जाता है। 'साल गुजिश्तः' के साल को हटाकर केवल 'गुजिश्ता' से गतवर्ष का अर्थ लेकर मराठीवालों ने 'गुजिश्ता' को 'गुदस्ता' बनाया और फिर 'त्यौरस' और 'चौरस' साल के अनुकरण पर उससे 'तिगस्ता' और 'चौगस्ता' शब्द भी गढ़ लिये हैं। फारसी के 'नर' और 'मादा' (जो वस्तुतः संस्कृत के ही शब्द हैं) शब्दों में से बँगलावालों ने केवल 'मादा' शब्द लिया है, और इसे भी 'माद्दा' की सूरत और नर के अर्थ में उन्होंने लिया है। मेद्दी के रूप में उसका स्त्री-लिंग भी बना डाला है। हमारे यहाँ के प्राचीन कवियों ने 'ताकीद' और 'तगैय्युर' दोनों से बने हुए 'तगीर' शब्द का तो व्यवहार किया ही है; माल-विभाग में 'मोहरिल' और 'मिनजालिक'-सरीखे कुछ ऐसे भी शब्द प्रचलित हो गये थे, जो संभवतः देशज ही थे और जिनका व्यवहार सूरदास जी तक ने किया है।

चीन से लीचू ने आकर लीची का और यूनान से ओपियम ने आकर अफीम का रूप धारण कर लिया। अँगरेजी का टेढ़ा-मेढ़ा 'लैंटर्न' शब्द हमारे यहाँ आकर 'लालटेन' बन गया और 'प्लटून' ने 'पलटन' रूप धारण कर लिया। मराठी में कैंडल (Candle) से 'कदील' और हिन्दी में 'कंडील' बना; पर लालटेन के अर्थ में, बत्ती के अर्थ में नहीं, जो उस शब्द का मूल अर्थ है। यही बात क्रियाओं और विशेषणों के सम्बन्ध में भी है। जब हम 'बहस' में ना[1] प्रत्यय लगाकर बहसना और लीग में ई (ी) जोड़कर 'लीगी' विशेषण बना लेते हैं, तब वे शब्द हमारे ही हो जाते हैं।

अब कुछ ऐसे शब्द भी लीजिए, जिनमें आंशिक परिवर्तन हुए हैं। 'पजावा' या 'पजाया' (भट्टा) फारसी के 'पजीदन' धातु से निकला है। 'बक-बक झक-झक' वास्तव में 'जक-जक बक-बक' का ही रूपान्तर है। 'गुदरी या गुदड़ी का मेला' में प्रयुक्त 'गुदरी' शब्द 'गुजरी' से बना है, जो केवल संध्याकाल के मेले के अर्थ में आता है। अफरा-तफरी इफरात (आधिक्य) और तकरीत से बना है, परन्तु हम 'घबराहट' अथवा 'उद्विग्नता' के अर्थ में इसका प्रयोग करते हैं। 'मुर्ग' से इसी प्रकार 'मुर्गी' और 'मुर्गे लड़ाना' रूप बना लिये गये हैं। 'कुलांच' या 'कुलाच' तुर्की शब्द है, जो एक प्रकार का गज है और दोनों हाथों के बीच की लम्बाई के बराबर होता है, किन्तु हम 'कुलांच मारना' का अर्थ 'छलाँग मारना' करते हैं। 'जौक' लिखता है—

१. 'रो' (Row) में भी 'ना' प्रत्यय लगाकर खेने के अर्थ में 'रोना' शब्द हमने सुना है।

"वहशी को हमने देखा उस आहू निगाह से।
जंगल में भर रहा था कुलांचे हिरन के साथ।"

"बिस बिसै ऊधौ बीर वामन कलांच ह्वै।" —रत्नाकर

'चिक' या 'चिग' तुर्की भाषा में बहुत ही पतले पर्दे को कहते थे। किन्तु हम बाँस की तीलियों से बने हुए पर्दे को 'चिक' कहते हैं। 'कट्टा' भी तुर्की शब्द है, जो बड़ा के अर्थ में आता है। हम संस्कृत के हृष्ट से निकले हुए 'हट्टा' शब्द के साथ इसे मिलाकर 'हट्टा-कट्टा' का अर्थ हृष्ट-पुष्ट करते हैं, व्यापारी लोग-बोरे के अर्थ में भी इसका व्यवहार करते हैं।

जबानी का अर्थ है मुख द्वारा। प्राचीनकाल में पत्र के साथ-ही-साथ बहुत-कुछ संदेश पत्र-वाहक अपने मुँह से सुना दिया करता था। इसलिए 'जबानी' से 'मुँहजबानी' बन गया। 'नवाजिश' फारसी में कृपा के लिए आता है और 'नेवाज' कृपालु के लिए। तुलसीदास ने गरीबनेवाज के साथ ही 'नेवाजना' क्रिया का भी 'मानस' में प्रयोग किया है। देखिये, 'राम अनेक गरीब नेवाजे'। कबीर ने भी इसका प्रयोग किया है—

"द्वार धनी के पड़ि रहै धका धनी के खाय।
कबहुँ धनी नेवाजहीं जो दर छाँड़ि न जाय॥"

'जाय जरूर' पेशाब-घर का जा जरूर तो हुआ ही, 'जरूर लगना' क्रिया-रूप भी उससे बना लिया गया। हिन्दी के कवि ने लिखा है—

"लागत जरूर तब जाजरूर जाइत है।"

गुजराती और मराठी का अध्ययन करते समय हम प्रायः खीझकर अपने गुरु प्रो० भंसाली से कहा करते थे—आपलोगों ने अरबी फारसी शब्दों के रूप और अर्थ दोनों को प्रायः सर्वथा बिगाड़कर उनकी खूब मिट्टी पलीद की है।

अरबी, फारसी, तुर्की और अँगरेजी इत्यादि अन्य भाषाओं के ऐसे ही एक नहीं, अनेक दृष्टान्त और दिये जा सकते हैं, जिनमें उनके विभिन्न शब्दों का हमारी भाषाओं में अलग-अलग प्रान्तों की प्रकृति के अनुसार अलग-अलग रूप और अर्थ में प्रयोग हुआ है। ऐसी स्थिति में ऐसे शब्दों अथवा ऐसे मुहावरों को, जिनमें ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ हो, ठेठ हिन्दी के शब्द और मुहावरे समझना चाहिए।

परिशिष्ट—इ

द्विरुक्तियाँ

हिन्दी में पुनरुक्त शब्दों का विवेचन बहुत ही कम हुआ है। मुहावरों पर तो खैर अभी कुछ लिखा ही नहीं गया है। प्रचलित व्याकरणों में भी बहुत कम लोगों ने इस ओर ध्यान दिया है। कामता प्रसाद गुरु ही पहिले हिन्दी-वैयाकरण हैं, जिन्होंने इसपर कुछ लिखा है। वैयाकरणों की इस उदासीनता का कारण सम्भवतः उनका यह भ्रम ही है कि पुनरुक्त शब्दों और यौगिक शब्दों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत-से यौगिक और सामासिक शब्दों में भी एक ही शब्द कभी-कभी दुबारा प्रयुक्त होता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सभी पुनरुक्त शब्द यौगिक अथवा सामासिक होते हैं। मुहावरों में भी शब्दों की पुनरुक्ति होती है। यहाँ इन शब्दों का संयोग विभक्ति अथवा सम्बन्धी शब्द का लोप करने से नहीं होता। बोलचाल में जरूर इनका प्रचार सामासिक शब्दों ही के लगभग है, किन्तु इनकी व्युत्पत्ति में सामासिक शब्दों से बहुत कुछ भिन्नता होती है। अतएव स्वतन्त्र रूप से इनका विवेचन करना आवश्यक है।

पुनरुक्त शब्दों के, पूर्ण पुनरुक्त, अपूर्ण पुनरुक्त और अनुकरण-वाचक—ये तीन भेद होते हैं। मुहावरों की दृष्टि से चूँकि हमारा संबंध अधिकांश शब्दों के तात्पर्यार्थ से है, इसलिए उनकी रचना-शैली पर विचार न करके प्रस्तुत प्रसंग में हम यही बताने का प्रयत्न करेंगे कि मुहावरों में शब्दों की पुनरुक्ति का मुख्य उद्देश्य क्या होता है। छठे अध्याय में यों तो रचना (शब्द-योजना) और तात्पर्यार्थ, दोनों ही दृष्टियों से गाड़ियों उदाहरण देकर इनकी मीमांसा कर चुके हैं, किन्तु फिर भी उपयोगिता की दृष्टि से सार-रूप में सब बातों को एक जगह रख देना अनुपयुक्त न होगा।

इन प्रयोगों में प्रायः संज्ञा, विशेषण, क्रिया, सहायक क्रियाओं का काम करनेवाले कृदंत, क्रिया-विशेषण, विस्मयादिबोधक अव्यय आदि शब्द-भेदों की ही पुनरुक्ति होती है। पुनरुक्त शब्दों के बीच में अतिशयता के अर्थ में कभी-कभी 'ही' आ जाता है; जैसे 'पानी-ही-पानी होना'। अवधारण के अर्थ में कभी-कभी निषेधवाचक क्रिया के साथ उसी क्रिया से बना हुआ भूतकालिक अथवा पूर्ण क्रियाद्योतक कृदंत आता है। जैसे—उठाये न उठना। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इन सब शब्द-भेदों की पुनरुक्ति के अपने-अपने उद्देश्य होते हैं। जैसे संज्ञा की पुनरुक्ति, संज्ञा से सूचित होनेवाली वस्तुओं का अलग-अलग निर्देश, अतिशयता, परस्पर सम्बन्ध एक जातीयता, भिन्नता और रीति तथा क्रम के अर्थों में होती है। इसी प्रकार सर्वनाम और विशेषणों की पुनरुक्ति भिन्न-भिन्न अर्थों में होती है। क्रिया और सहायक क्रियाओं की पुनरुक्ति प्रायः हठ, संशय, आदर, उतावली, आग्रह, अनादर, पौनः पुन्य, अतिशयता, निरंतरता, अवधि इत्यादि के अर्थों में होती है। उदाहरणों के लिए छठा अध्याय देखिए।

इस प्रकार के मुहावरों का प्रचार बोलचाल की भाषा में सबसे अधिक होता है। शिक्षित और अशिक्षित तथा शिष्ट और अशिष्ट प्रायः सभी लोग समान रूप से इनका प्रयोग करते हैं। उपन्यासों और नाटकों में होते हुए काव्य में भी इनकी पहुँच हो जाती है। इस प्रकार के प्रयोगों से भाषा में एक प्रकार की स्वाभाविकता और सुन्दरता आ जाती है।

अब अन्त में इन प्रयोगों की उपयोगिता पर कामता प्रसाद गुरु का मत देकर हम इस प्रसंग को खत्म करेंगे। गुरुजी लिखते हैं—"हिन्दी के प्रचलित व्याकरणों में पुनरुक्त शब्दों का विवेचन बहुत कम पाया जाता है। इस कमी का कारण यह जान पड़ता है कि लेखक लोग कदाचित् ऐसे शब्दों को निरे साधारण मानते हैं और इनके आधार पर व्याकरण के (उच्च) नियमों की रचना अनावश्यक समझते हैं। इस उदासीनता का एक कारण यह भी हो सकता है कि वे लेखक इन शब्दों को अपनी मातृभाषा के होने के कारण कदाचित् इतने कठिन न समझते हों कि इनके लिए नियम् बनाने की आवश्यकता हो। जो हो, ये शब्द इस प्रकार के नहीं हैं कि व्याकरण में इनका संग्रह और विचार न किया जाय। पुनरुक्त शब्द हिन्दी-भाषा की एक विशेषता है और यह विशेषता भारतखंड की दूसरी आर्य-भाषाओं में भी पाई जाती है।[१]"

---

१. हिन्दी व्याकरण (का० प्र० गु०), पृष्ठ ४७६

परिशिष्ट—ई

पारिभाषिक शब्द

पारिभाषिक शब्दों का कोई सर्वसम्मत प्रामाणिक कोष न मिलने के कारण हम नहीं जानते; इस प्रकार के जितने शब्दों का हमने प्रयोग किया है, वह ठीक है या नहीं। अपने भरसक हमने 'कोष्ठक' में मूल शब्द देने का प्रयत्न किया है। जैसे-जैसे प्रामाणिक शब्द मिलते गये हैं, उन्हें हमने लिया है। एक ही शब्द के लिए अतएव दो-दो पारिभाषिक शब्द भी हमारे प्रबन्ध में आ गये हैं। पार्ट्स ऑफ स्पीच के लिए हमने शब्द-भेद रखा था, किन्तु बाद में पंडित केशव प्रसाद जी मिश्र ने 'पद जात' शब्द दिया। 'पद जात' शब्द निस्सन्देह अधिक उपयुक्त है। इसी प्रकार और भी कई शब्द पंडित जी से हमें मिले हैं, जिन्हें संकेत के लिए एक-दो स्थलों पर बदलकर हमने रखा है। ऐसी परिस्थिति में प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की एक संक्षिप्त सूची देना आवश्यक मालूम होता है।

अवतरण-चिह्न	...	Quotation marks
अर्धविराम	...	Semi-colon
आदेशक	...	Dash
उद्गार-चिह्न	...	Mark of Exclamation
उपादान	...	Data
औपचारिक	...	Metaphorical
पद जात शब्द-भेद	...	Parts of speech
पाद-विराम	...	Comma
पूर्णविराम	...	Full stop
प्रश्नात्मक चिह्न	...	Mark of interrogation
प्रेषण, संवहन	...	Communication
बन्धनी या कोष्ठक	...	Brackets
योजक-चिह्न	...	Hyphen
यौक्तिक	...	Logical
लेख-चिह्न	...	Punctuation
वर्ण-विन्यास, अक्षर-विन्यास	...	Spelling
शब्दार्थ-विज्ञान	...	Sementics
संकेत	...	Symbol
स्वर	...	Accent
स्वर-विज्ञान-शास्त्र	...	Phonetics
स्मृति-अवशेष, काष्ठीभूत	...	Fossil

परिशिष्ट—उ

सहायक ग्रन्थों की सूची

प्रस्तुत प्रबन्ध में सहायक ग्रन्थों की सूची देने का हमारा मुख्य उद्देश्य आगे इसी क्षेत्र में काम करनेवालों का मार्ग-दर्शन करना है। इस प्रबन्ध के लिए आवश्यक और उद्दिष्ट सामग्री एकत्र करने में हमें जो अनुभव हुआ है तथा उसे प्राप्त करने के लिए जिस प्रणाली का हमने अनुसरण किया है, उसके आधार पर किसी प्रबन्ध-रचना के लिए आवश्यक उपकरणों को कैसे प्राप्त किया जाय, इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ सुझाव दे देना, हमें विश्वास है, इस दृष्टि से उपयुक्त और उपयोगी ही होगा—

१ अपनी निजी पुस्तक-सूची तैयार करें, जिसमें अपने विषय से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकों का (पुस्तक का नाम, लेखक का नाम, पुस्तकालय की पु० सं० इत्यादि) पूरा विवरण हो।

२. अपने गाइड, प्रस्तुत विषय के अन्य विशेषज्ञों और प्राध्यापकों तथा पुस्तकालयाध्यक्षों से विचार-विनिमय करें।

३. पुस्तकों और पत्रिकाओं में यत्र-तत्र उद्धृत पुस्तकों के साथ ही उनमें दी हुई सहायक ग्रन्थों की सूचियाँ देखें।

४. प्रामाणिक पत्र-पत्रिकाओं की विषय-सूची देखें।

५. पुस्तकालय के कार्ड-केटेलॉग और बुक-केटेलॉग देखें।

६. इस प्रकार उपलब्ध पुस्तकों का अध्ययन करते समय, प्रबन्ध की सारावली पर बराबर दृष्टि रहनी चाहिए। अच्छा हो कि सारावली की प्रति पर ही प्रसंगानुसार किस पुस्तक के किस पृष्ठ से कुछ लेना है, यह भी लिखते जायँ।

स्पष्ट है कि इस प्रकार अध्ययन करने से बहुत-सी ऐसी पुस्तकें भी मिलेंगी, जिनका हमारे विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। मुहावरे या लोकोक्ति पर काम करनेवालों को तो खास तौर से बहुत-सी ऐसी पुस्तकें पढ़नी पड़ेंगी, जो केवल उपादान-संग्रह में ही मदद करती हैं। सहायक ग्रन्थों की सूची में इसलिए, इन सबकी ओर संकेत भले ही कर दें, किन्तु इनका पूरा विवरण देना आवश्यक नहीं है। इसी विचार से, मुहावरों का संग्रह करने के लिए प्रेमचन्द, प्रसाद और हरिऔध प्रभृति विद्वानों के जिन-जिन ग्रन्थों को हमने पढ़ा है, उनकी कोई चर्चा न करके केवल उन्हीं ग्रन्थों के नाम हम इस सूची में देंगे, जिनसे प्रस्तुत विषय के प्रतिपादन और विशद विवेचन में हमें सहायता मिली है।

1. Research and thesis writing — by John. C. Almack.
2. How to write a Thesis — by Reeder W. G.
3. Words and Idioms — by Logan Pearsall Smith (2nd Edition.)
4. English Idioms — by James Main Dixon M A.
5. English Usages and Idioms — by Fowler.
6. English Idioms and How to use them, by Mec Mordie.
7. First steps in French Idiom — by Buf. H.
8. Idiomatic sentences in four Languages by Munshi B. D.
9. Anglo-Persian Idioms

10. Proverbs and the Folk-lore of Kumaun & Garhwal
... by Upreti G. D.
11. French Idioms and Proverbs by Dc. V. Payen-Payne.
12. The Proverbs of Alfred
13. Hindustani Proverbs by S. W. Fallen.
14. Proverbs and their Lessons by Trench.
15. The Book of Proverbs (1928).
16. Studies in life from Jewish Proverbs by Elmshine.
17. Proverbs of the Sages (1911).
18. The Oxford Dictionary of English Proverbs.
19. Handbook of Proverbs and Family Mottos by Mair J. A.
20. Andrew Henderson's Scottish Proverbs.
(with an introduction by Motherwell)
21. English Proverbs & Proverbial Phrases by G. L. Apperson
(Published in 1929)
22. Proverb-Literature by W. Bonser.
(Edited in 1930)
23. Dictionary of Kashmiri Proverbs and Sayings
by J. Hinton Knowles, F. R. G. S., M. R. A. S.
24. Agricultural Sayings by V. N. Mehta, I. C. S.
25. Scientific and Literary Treasury by Samuel Maunder.
26. Curiosities of Literature by Disraeli.
27. Glossary of Words and Phrases and Allusions by Robert Nares.
28. The Sources of English Words and Phrases by Peten Mark Roget.
29. Progress in Language by Jesperson.
30. Making of English by Bradley.
31. English Prose, its Elements, History and Usages by John Earle, M.A.
32. The Life of Words (Eng. Translation) by A. Darmesteter
33. Study of Language by Bloomfield L.
34. Introduction to the Study of Language by Delbruck.
35. An Essay on the Origin of Language by Farrer F. W.
36. Speech and Language by Gardner A. H.
37. The Origin of Hindi Language by Thakur, N. S.
38. English Composition and Rhetoric by Alexander Bain.
39. The Tyranny of Words. by Stuart Chase.
40 Language and Reality by W. M. Urban.
41. Words and Names by Ernest Weekly.
42 Mind and the World Order by C. I. Lewes.
43. Study of Words.
44. Golden Book of Tagore

45, Synonyms and Antonyms
46. Les Miserable by Victor Hugo
47. Traditions of Islam
48. Teachings of Islam by Mirza Gulam Ahmed.
49. Egyptian Myth and Legend by Donald A. Machanzie.
50. Wit and Humour of the Persians

५१. हिन्दी-मुहावरा-कोष ... सरहिन्दी, आर० जे०
५२. हिन्दी मुहावरे ... रामदहिन मिश्र
५३. हिन्दी लोकोक्ति-कोष ... विश्वम्भरनाथ खत्री
५४. हिन्दी व्याकरण ... कामता प्रसाद गुरु
५५. साहित्य-दर्पण ... पी. वी. काने का अनुवाद
५६. काव्य-प्रकाश
५७. लोकोक्ति-रस-कौमुदी
५८. भाषा-विज्ञान
५६. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता ... डा० बेनी प्रसाद
६०. अच्छी हिन्दी ... रामचन्द्र वर्मा
६१. बोलचाल ... हरिऔध जी
६२. दर्शन और जीवन
६३. भारतीय सृष्टि-क्रम-विचार
६४. मनुष्य-विकास
६५. अरब और भारत का सम्बन्ध
६६. हिन्दू-त्योहार
६७. हिन्दुत्व ... रामदास गौड़
६८. कौटिल्य-अर्थशास्त्र
६९. भारतीय दर्शन ... बलदेव उपाध्याय
७०. बाल-मनोविज्ञान
७१. हिन्दी और उर्दू का सम्बन्ध (हस्तलिखित) ... ओमप्रकाश
७२. कल्याण के निम्नलिखित विशेषांक—

    १. महाभारत
    २. शक्ति-अंक
    ३. श्रीमद्भागवत
    ४. योगांक

७३. राजपुताने का इतिहास (पहला भाग) जगदीश सिंह गहलोत
७४. गद्य-मंजरी विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
७५. मुकदमा शेरो शायरी हाली साहब
७६. सखुन दाने फारस मुहम्मद हुसेन आज़ाद
७७. आबे ह्यात
७८. इस्लाह जबान उर्दू
७९. बाज़ारी ज़बान

८०. उर्दू-ए-कदीम
८१. मुल्की ज़बान के मुहावरे
८२. फ़ारसी जदीद

इन पुस्तकों के अतिरिक्त वेद, उपनिषद्, मनुस्मृति, गीता, रामायण, कुरान और बाइबिल इत्यादि धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन से भी हमें इस प्रबन्ध के लिखने में बड़ी सहायता मिली है। स्थान-स्थान पर उदाहरण देने के लिए गद्य और पद्य की बहुत-सी अन्य हिन्दी और उर्दू पुस्तकों के भी काफी पन्ने हमें पलटने पड़े हैं। लोकोक्ति और मुहावरों की परिभाषा देखने के लिए, अँगरेजी, हिन्दी, उर्दू और संस्कृत के अनेक कोष भी हमने देखे हैं। उन सबके नाम चूँकि प्रसंगानुसार इस प्रबन्ध में आ चुके हैं, अतएव फिर से उनकी पुनरावृत्ति करके प्रस्तुत सूची का कलेवर बढ़ाना हमें अच्छा नहीं लगता। हिन्दुस्तानी और नागरी-प्रचारिणी पत्रिका इत्यादि प्रामाणिक पत्र-पत्रिकाओं से तो प्रायः प्रत्येक प्रबन्ध में ही कुछ-न-कुछ सहायता मिलती है, इसलिए किसी विशिष्ट प्रबन्ध के सहायक ग्रन्थों की सूची में उनकी गणना करना आवश्यक नहीं है।

عبارت	صفحہ	سطر	عبارت	صفحہ	سطر
کارِ خیر			اِنّ اللہ علیم بذات		
ختم اللہ علیٰ قلوبہم			الصدور ۔		
ردِ قلیل			غلط العوام فصیح		
انّی کنت من الظالمین			فی اذانہم وقرا	۲۵۴	۳
توکل علی اللہ			کلُ نفسٍ ذائقۃ الموت	۲۵۵ سے	پورے صفحے
			ہو بہو		
قرۃ العین ۔	۲۵۶	۵			

عبارت	صفحہ	سطر
نیلی نیلی		
سرزبانش داشت		
توگوشی گفتن		
گوشی گرفتن		
او باریک شدہ		
او از پوست واستخوانی بیش نماندہ -		
دم مرگ		
آبدیدہ شدن		
از اوّل تا آخر		
پیش چشمت		
میانہ بہم خوردن		
از کس رو گرداں شدن		
معاشرت باز گرفتن		
گاہ گاہی		
سنگ انداختن		
دست کشیدن		
گنج قارون		
گفتم سخت شکستہ		
دست پاک بودن		
موقع بدست آوردن		
افواہ بے سروپا		
نصیحت بجاہل کردن		
جنگ زرگری کردن		

عبارت	صفحہ	سطر
بخار دل در آوردن		
از سایہ خود ترسیدن		
روزش سر آمدہ		
عمر دوبارہ گرفتن		
نقش بر آب		
تکیہ بر اسم کسی بودن		
بروز دادن		
آب در دیدہ ندارد		
گوہر در گوش کشیدن		
روغن از سنگ میکشد		
دامن افشاندہ برخاستن		
دست دریں کاردارد		
آفتاب دادن		
بدنداں گرفتن		
برسر آمدن		

عربی محاورے

عبارت	صفحہ	سطر
بغیر حساب		
خلا ملا		
حکم شاہ		
مرادِ دل		
واقفِ راز		
گوشمالی		
موت و زیست		
یک قلم موقوف		

عبارت	صفحه سطر	عبارت	صفحه سطر
دست بیعت شدن		چہل قدمی کردن	
اجلاس فرمودن		دست و پایم سرد شد	
اینسر آنسر		چین به ابرو افگندن	
از چهار طرف		از خود در رفتن	
قلم کردن		انگشت نما کردن	
طالعش در ترقیست		دست پاچه کردن -	
شالده انداختن		دست نشاندادن	
بقالکه بستن .کت وپا بستن		گرو بستن	
گردن زدن		در ہوا زدن	
دہن لق		قادر انداز	
دماغ بالا رفتن		سوگند دادن	
بازار سرد است		شیرنی خوران فسخ کردن	
شراکت بہم خوردن		نبض دیدن	
تازه دستنا نخورده		صاحب فراش بودن	
گوش کس بریدن		از چنگ مرگ راه کردن	
سرخ مثل آتش		بخود آمدن	
شیریں مانند اصل		پس پا شدن	
دم پس کشیدن		پراگنده شدن	
در چنگ مرگ بودن		دم شمشیر نہادن	
خاک کردن		تیغ کشیدن	
شکم سیر خوردن		نوا زدن	
پاک خوردن		کناره گرفتن	
سرسینه کردن		مباد موافق رفتن	
ریاضت کردن		پنج کس یا زیاده	

اُردو - فارسی - اِنڈکس

शब्दानुक्रमणी

ई

उ

ऋ

ए

ऐ

ओ

औ

क

घ

च

छ

ज

ट

थ

द

ध

न

प

फ

भ

म

य

र

श

स

ह

शुद्धि-पत्र

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	४	यतः	यतस्तेन
२	६	भुग्नं	मग्नं
,,	७	आरभवाण	आरभमाणः
,,	१५	भावक	भावुक
,,	३३	हुक्त	हुक्म
,,	३४	मौजूदाद	मौजूदात
,,	३४	वाब	बाब
३	पेज-हेडिंग	विहार	विचार
४	,, ,,	मुहावारा	मुहावरा
,,	२६	मुहव्वरा	मुहावरा
५	६	कि	की
,,	११	है	हैं
,,	२१ का	(उ)	१६ में
,,	३६	इडियम	ईडियम
६	२	ईडियोसी	ईडियोमी
,,	,,	Idioci	Idiome
,,	१४	(अ)	(ऊ)
,,	१६	१.	(ए) १.
,,	३०	(ई)	(ऐ)
,,	,,	लैटिन	[लैटिन
,,	,,	विचित्र	विचित्र]
७	२६	Idoime	Idiome
,,	३६	piopriety	propriety
८	६	संकुचित	(ब) संकुचित
६	१२	(अ)	(अः)
,,	२८	अपने-अपने घर	अपने घर
,,	३३	पेरे	परै
,,	३४	पेरे	परै
१०	१३	किस	किसी
,,	२७	चपनी	अपनी पुस्तक
,,	२६	क्रिय-प्रयोगों	क्रिया-प्रयोगों
११	४	ईडियम्स	ईडियमस
,,	५	ईडियम्स	ईडियमस
११	१६	भाषा और	भाषा का

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	३३	ऋग्वेद-पर्यन्त,	ऋग्वेद से लेकर इतर पर्यन्त
१२	६	प्रताशित	प्रकाशित
,,	१५	बी० एस्० आप्टे	श्री बी० एस० आप्टे
,,	२६	शव का कोई	शव का यदि कोई
,,	,,	हो	है
,,	३१-३२	उनकी पूछ नहीं हो सकती।	उन्हें कौन पूछनेवाला है।
,,	३३	seen	seem
१३	१५	mood	mode
,,	३७	ideas के बाद—	;and how those which are made use of to stand for actions & notions quite removed from sense have their rise from theme, and from obvious sensible ideas
१५	८	पश्यस्तां	पश्यतस्तां
,,	२६	पुष्टाः	पृष्ठाः
१६	१४	क्या	क्यों
,,	३५	विष्तृत	विस्तृत
१७	२२	इससे भी	इससे भी अथवा
,,	२७	छाया	छायां
२२	२७	बनारस या गया	बनारस आ गया
,,	२७	सारा शहर छा गया	सारा शहर धा गया
,,	२८	प्रत्येक हैं ;	प्रत्येक है ;
,,	२६	प्रत्येक नहीं हैं।	प्रत्येक नहीं है।
,,	३३	छा गया	धा गया
,,	३८	लक्षया	लक्षणा
२३	११	'काव्यप्रभाकर' 'व्यंग्यार्थमजूषा'	'काव्यप्रभाकर' और व्यंग्यार्थमंजूषा
२३	३५	मिहितान्वय	भिहितान्वय
२५	२०	सकती है—	जायेगी—

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५	३७	लक्षणों की	लक्षणों का
२६	३	शब्द-समूह की	शब्द-समूह के
२७	१०	पर तक	तक पर
२७	१६	स्वरितोदात्तवीर	स्वरितोदात्तैर्वीर
,,	१७	कम्पितैवर्णै:	कम्पितैर्वर्णै:
,,	३८	अन्यन्य	अन्यस्य
२९	२	व्यासगद्दी	व्यास-पीठ
,,	१३	ये द्दग	येऽङ्ग
,,	१९	ही	की
,,	२५	बताने	बनाने
,,	२९	क्लाम	कलाम
,,	३५	भाषा क	भाषा की
३०	२	उरुफान	रुफान
,,	१७	अलंकार है—	अलंकार हैं—
,,	२८	वास्तविक	वास्तव में
३१	११	सीक सलाई होना	सींक सलाई होना
३२	३	ऽन्तर्गतं	ऽन्तरंग
३२	१८	बिल्गी, चिड़ियाँ	बिल्ली, चिड़ियों
,,	२२	देखा,	देखो,
,,	२२	सूचक है।)	सूचक हैं।)
,,	३८	बढ़ाता	बढ़ता
३३	३	मिच	भिच
,,	३६	आ जाती है।	आ जाती हैं।
३४	६	चेष्टाओं में	चेष्टाओं से
,,	१२	पढ़ा।	पढ़ा।
,,	३२	कनुकरण	अनुकरण
३५	१८	सहायता	सहायता
,,	२०	ध्वनि की	ध्वनि को
,,	२४	लगता है	लगती है
,,	३०	Cnomatopocil	Onomatopoeia
३६	६	घनघनाहट	धनधनाहट
,,	२०	बरें	बरं
,,	३०	परिस्थिति ही	परिस्थिति में ही
,,	३४	उफ़-आह	उफ़-ओह-आह
,,	३५	खाऊँ-फाँड़ू	खाऊँ-फाड़ू
३८	१०	ढब-ढव	ढब-ढब
,,	३७	लिहाज	पहले मानों के लिहाज

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३९	३	चीज	नीज
,,	६	जरूर है,	जरूर हैं,
,,	२६	वयान	बयान
,,	३०	पावन्दी	पाबन्दी
४०	४	कोई विशेष	कोई विशेष
,,	३३	और साहित्यिक जीनन	और क्या साहित्यिक जीवन
४२	१८	कास	क़यास
,,	१९	नवान	ज़वान
,,	२०	क्यास	क़यास
,,	३६	इसतियारी	इसतियारों
४३	१	ऐसे चीज से तश्वीह	उन चीजों से तश्बीह
,,	२	सुगकर	लगकर
,,	६	वगैर	बग़ैर
,,	७	फक्तन	वक्तन
,,	८	(बक्रोक्ति)	(वक्रोक्ति)
,,	११	को लक्षणों के	के लक्षणों को
४४	२	इस तियारों	इसतियारों
४५	१०	मिश्र जी कुछ के वाक्य	मिश्र जी के कुछ वाक्य
,,	२३	भिन्न है।"	भिन्न है और जिनका आधार वाक्यों का लाक्षणिक अथवा सांकेतिक अर्थ है।"
४६	१	वाग्वेचित्रय	...वाग्वैचित्र्य
,,	३	वाग्वैचित्रय	वाग्वैचित्र्य
४७	६-७	(के बीच में)	७. पुरुष-विशेष का स्वभाव-वैचित्र्य।
४८	२	वास्तव	वास्तव में
४८	४०	उसका	उनका
५१	२६	and 16	and 13
५२	१०	जवर	जबर
,,	१३	वगैर	बगैर
,,	१३	वलागत	बलागत
,,	२७	ताड़ जाना,	ताड़ जाना।
,,	२८	जाहिर है	जाहिर हैं।
,,	३२	कि पाय	कि वह पाय

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
५३	२६	समान	सामान
,,	३५	वह आज	वह ओज
५४	३४	होने लिए	होने के लिए
५६	२६	इसका कारण	इसके कारण
,,	३३	कहाँ	यहाँ
५७	१	जबतक तक हमारा	जबतक हमारा
,,	१९	करे	करैं
५७	२३	होशियार	हो होशियार
,,	२५	कबिरा	कबीरा
,,	२९	सीत	मीत
,,	३१	नचाई चलाई	नचाइ चलाइ
५८	१८	उसमें	उनमें
५९	१३	सदा दिखला गये	सबा दिखला गई
,,	१४	उब	उन
,,	२२	'दिखला गये'	'दिखला गई'
,,	२७	मारे	मारै
,,	,,	गढ़नि	डाढ़नि
,,	२८	बजावें	बजावैं
,,	२८ (के बाद)		गरैगी जीह जो कहौं और की हौं
,,	३४	तौ	तो
६०	३	हे	है
,,	४	के	कै
,,	११	पछते	पछतै
,,	१३	पलके	पलकैं
६२	३	रखनेवाले	रखनेवाली
,,	१४	नही है—	नहीं हैं—
,,	१५	रूपान्तर मात्र है।	रूपान्तर मात्र हैं।
६३	२०	मछली	मछरी
,,	२०	लगावल'	लॉगावल'
,,	२१	'मछली मरल।'	मछली मारल।'
,,	२१	पड़ते	पकड़ते
,,	२२	मनवे	मनूवे
,,	२४	बैठल'	बइठल'
६४	२	कढि	काढि
,,	२	परियाहूँ	परिपाहूँ
,,	६	है	हैं
,,	८	साचहूँ	साँचहूँ

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	१२	वरव्यो	वरज्यो
६५	६	लागी	लागो
,,	२२	पंख लागी	पंख लागो
६८	३८	'फसीद'	'फसीह'
६६	२२	खपाल	खयाल
,,	२७	नीच	बीच
,,	३०	में	मैं
७०	१४	के बोलचाल	की बोलचाल
,,	२४	'वजही'	वजदी
७१	२०	मुंड	मुड़
,,	२१	रहे	रहै
,,	२१	दिये	हिये
,,	२५	एता	एती
,,	२५	भूखी	भूँखी
,,	३३	मूड़	मूँड़
,,	३६	मूडहिं चढी	मूँड़हिं चढ़ि
७२	३	पँथ चितवत	पन्थ चितवत
,,	१५	मेठ	मेढ़
,,	२४	मूढ चढाये	मूँड़ चढ़ाये
७३	५	मुँड़हिं	मूँड़हिं
,,	७	'मारो मूँड़	'मारौं मूँड़
७४	१०	नीयत	नीयति
,,	११	डाँड़ पड़ल	डाँड़ि परल
,,	२१	मूँ फाडणा, मूं वाणा	मूँ फाड़ना, मूं बाणा
,,	२२	चक्कर हाना	चक्कर होना
,,	३७	आयु	आपु
७६	२	भाड़	भार
,,	१२	भंकन	भांकन
,,	२६	टूटे काम जुड़ जाना	टूटे कान जुड़ पाना
,,	२७	रखिबे	राखिबे
७७	६	फुरवत	फुरसत
७८	३४	वह	यह
,,	,,	'अवाज कसना'	'आवाज कसना'
,,	,,	'अवाजा-तवाजा	'आवाजा-तवाजी
,,	३९	सटकाना	सरकाना
८०	२	यथातथ	यथातथ्य
,,	२२	छावत	छूवत
,,	२६	काव्य को	काव्य की

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
८०	३७	होकर गाना	होकर जाना
८१	२०	बड़ गये'	पड़ गये'
,,	३३	Setup	Set up
,,	३८	शज्दों	शब्दों
८२	६	rain and hounds	rain hcunds
,,	६	hair	hare
,,	१४	विशेप	विशेष
८३	६	नमुने	नमूने
८६	२६	ईशोपनिषद्	ईशोपनिषद्
,,	२६	कस्यचिद्धनम्	कस्यस्विद्धनम्
८७	२०	रूप लेकर	रूपक लेकर
८८	टिप्पणी	पृष्ठ २४३	पृष्ठ २२३
८६	टिप्पणी की जगह—		"merely listening to and understanding the speech of any one is a translation of his meaning into mine."—From Language and Reality; पृ० २३५
६१	७	वाक्य को भाषा में 'को' के स्थान पर—	के भावानुवाद पर ही जोर देते हैं। सेपीर किसी वाक्य को
,,	अन्तिम पंक्ति	दूसरी ओर	दूसरी ओर
६२	२८	'सिन्दूर पुतना'	'सिन्दूर पुँछना'
६७	२३	यथातथ	यथातथ्य
६८	२१	रुबा ने	रुबा ने
६६	१४	'छाती कटूने'	'छाती कूटने'
१०२	८	इन्द्रियजनित ज्ञात	इन्द्रियजनित ज्ञान
,,	१२	प्रपुक्त	प्रयुक्त
,,	२१	आम बातें	आप बातें
१०३	३४	बहसी	वहसी
१०४	७	असरा तफरी=	अफरा तफरी=
१०४	८	घबराहट पर	घबराहट्या
११६	२४	मार्शल अखन	मार्शल अरबन
११८	१६	मार्शल अखन	मार्शल अरबन
१२१	२५	गडेरिया	गड़रिया
१२३	२६	देखकर के बाप	विराम
,,	३०	काय	कार्य

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२४	२२	यही सिद्ध	यहीं सिद्ध
१२६	३६	प्रयाग	प्रयोग
१२८	३३	सविस्तार	सविस्तर
१४३	१८	विक्ट ह्यूगो	विक्टर ह्यूगो
१४४	५	को	की
१५१	४	रमन के केविलेरो	रमन केबिलेरो
१५१	५	पुस्तकें	पुस्तक
१५३	२४	अभेद	प्रभेद
१५४	९	puss	pun
१५९	१०	पट-बीजों	वट-बीजों
१७१	२३	erestent	crescent
१७१	३२	म्लेच्छ हीं	कहीं का
१७६	१६	मास	मारु
१८३	२	कान काटन	कान कटाना
२१५	१७	स	सः
,,	२९	वस्तुः	वस्तः
[illegible]	२	रास्ता	रास्ते
,,	५	अ०	अ० १०
,,	११	मधुभषो	मधुभाषी
,,	२२	वाहिंः	वहिः
,,	३८	आयाहि-प्रायाहि	आयाहि प्रयाहि
२१७	२३	अन्धन्तमः	अन्धतमः
,,	२८	शरणो आ	शरणे आ
,,	३१	त्रिकट्ठकेषु	त्रिकद्रुकेषु
२१८	६	उमे	उधे
,,	१९	प्रातीतर	प्रातीतरः
,,	२१	कृथुकर्णी	कृधुकर्णी
२१८	३४	परिष्वजातौ	परिष्वजातै
२१९	७	हतश्च	इतश्च
,,	१६	धुनुते	धूनुते
,,	,,	अश्वा	अश्वाः
२२०	१८	नशोत्तरम	न शोत्तरम
,,	२२	यथापां	यथायां
,,	२८	दक्षिणतश्चोत्तरेण	दक्षिणातश्चोत्तरेण
२२१	४	हवस्तम्भादयो	इवस्तम्भादयो
,,	२०	गात्रणि	गात्राणि
२२३	३	संवध्वाभृकुटी	संवद्धाभृकुटी
,,	४	कर्यमस्ति	कार्यमस्ति

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	६	भर्तृ वचोरुक्ष	वचोरुक्षं
,,	३४	अवस्सं	अणाहा अवस्सं
२२८	३३	चतस्र	चतस्रः
२२९	४	वके वाप दीगरे	यके बाद दीगरे
,,	६	अधः पद	अधः पदं
,,	२५	की	को
२३०	४	माल	भाल
,,	२३	कापूर	काफ़ूर
२३१	३२	कद्द	कद्दू
२३२	५	आत	आता
,,	३७	वूते	बुते
२४५	१	शशिये	शीशये
,,	३	आताश	आतश
,,	२८	देत दादो	देत दाद
२४६	११	शारी	शीरीं
,,	१४	खु	खूँ
,,	२६	करके	अरके
२४९	८	stand	stands
२५२	६	गुस्स	गुस्सा
,,	२८	base	lease
२५३	६	अन्दखुतन	अन्दाख़तन
२५४	५	शीरनीं	शीरीं
,,	७	वूदन	बूदन
,,	१०	पस या शुदन	पस पा शुदन
,,	२२	ओ पोस्ता	ओ अज़ पोस्तो
,,	३३	गंज कारु	गंज क़ारूँ
२५५	१६	वखोस्तन	बर्खास्तन
,,	१७	दरी	दरीं
,,	१९	बदयां	बदंदाँ
,,	३८	जायकुलमौन	जायकुलमौत
२६४	३३	फिर फिर होना	फिट फिट
२७६	३४	हन	हम
२९७	१३	नोट बही	नोंद वही
३०४	१५	सञ्चारिणा	सञ्चारिणा
,,	२०	भूमिका	भूमिका का
३०८	२	दहक़ा	ढ़हक़ां
,,	४	ये	ऐ
३१८	३	वर्मच्छेदमुरोभेद	भेदं

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२०	१७	दिसनाह	दिसमाँह
,,	,,	उगे	ऊगे
,,	१८	के	कै
,,	१९	माहली	मांहली
३२०	२६	ऊने	ऊग
३२१	१२	वांसिया	बांसिया
,,	१५	गजा	गजाँ
,,	१७	जिका	जिकां
,,	२०	सा	साँ
,,	२१	सारा	साराँ
,,	,,	राणा	राणा
३२५	३५	श्रेष्ठ	श्रेष्ठं
३२७	१३	कम	कर्म
,,	३०	हवामह	हवामहे
,,	३३	जिजीविषेच्न्दत	जिजीविषेच्छतं
३२८	१८	चारवेद	चाखे दरस
३२९	६	सम्पूर्णमुदरम	सुपूर्णमुदरम्
३३०	६	उस	उन
३४१	१२	मन्द जिह्वा	मन्द जिह्वा
,,	,,	ब्रृहत	ब्रृहतीः
,,	१६	दूत	दूतः
३४२	१५	बॉकाट	बाई कॉट
३४४	२३	अन्नम्भट्ट	अन्नम भट्ट
३४५	१३	बोल्ट की	हमबोल्ट भी
३५०	३८	आम	आप
३५६	१६	मैं कशों में	मैकशों मैं
३६०	१६	हरये नमः	हरयेः नमः
३६१	१५	का व्यवहार	का अयथा व्यवहार
३६२	१६	भाँड़े	भोंडें
३७३	११	कह्य	कहाँ
,,	१६	चीज़	चीजें
,,	२१	है	हैं
३७४	१७	सिख देखि	देति
३८२	१७	नामास्त्यतिरागिणाम्	नाशास्त्यतिरागिणाम्
३८२	१८	पौरुषमादेयं	पौरुषमुपोदयं